UGC Care Listed
त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका
वर्ष 12,अंक-41,अप्रैल-जून 2022
ISSN-2321-1504 Nagfani RNI No. UTTHIN/2010/34408

आजादी का
अमृत महोत्सव

नागफनी

अस्मिता, चेतना और स्वाभिमान जगाने वाला साहित्य

भाग-1

मूल्य
₹150/-

आगामी अंक की सूचना

जुलाई से सितंबर 2022 के लिए 30 जून तक ही लेख स्वीकार किये जायेंगे। 30 जून के बाद मेल पर प्राप्त शोधालेखों पर आगामी अंक में प्रकाशित करने पर विचार किया जाएगा। व्यक्तिगत पंचवार्षिक सदस्यता लेने पर पांच साल तक पत्रिका मिलेगी। शोधालेख प्रकाशन की स्वीकृति/अस्वीकृति का जो भी निर्णय होगा वह आपको मेल से ही सूचित किया जाएगा इसको लेकर संपर्क करने की आवश्यकता नहीं हैं।

"नागफनी" अस्मिता, चेतना, और स्वाभिमान जगाने वाली त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका है। इस पत्रिका को यूजीसी केयर लिस्ट मे शामिल किया गया है। पत्रिका का ISSN&2321&1504 nagfani और RNI No-UTTHIN/2010/34408 नम्बर है। साथ ही यह Peer Reviewed Referred journal है। आलेख –nagfani81@gmail-com पर भेजने का कष्ट करें। व्यक्तिगत पंचवार्षिक सदस्यता लेने पर पांच साल तक पत्रिका मिलेगी।

आलेख भेजने संबंधी निर्देश–

- शोधालेख यूनिकोड kokila फॉन्ट 14 साइज में तथा एरियल युनिकोड में टाइप करके word और PDF दोनों में भेजना है।
- कलर पासपोर्ट फोटो।
- मौलिकता और प्लेगरिज्म संबंधी प्रमाण–पत्र।
- अन्य किसी टाइप फॉन्ट को स्वीकृत नहीं किया जाएगा।
- आलेख मेल पर भेजने के बाद आलेख स्वीकृति/अस्वीकृति की सूचना मेल पर ही दी जाएगी ।

धन्यवाद!

नागफनी

A Peer Reviewed Refereed Journal
(अस्मिता चेतना और स्वाभिमान जगाने वाला साहित्य)
UGC Care Listed त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका
ISSN-2321-1504NagfaniRNI No.UTTHIN/2010/34408

संपादक
सपना सोनकर

सह संपादक
रूपनारायण सोनकर

कार्यकारी संपादक
डॉ.एन.पी.प्रजापति
प्रोफेसर बलिराम धापसे

वर्ष-12 अंक 41,अप्रैल-जून -2022 भाग-1

सलाहकार मण्डल (Peer Review committee)

प्रोफेसर विष्णु सरवदे, हैदराबाद (तेलंगाना)
प्रोफेसर आर. जयचंद्रन तिरुअनंतपुरम (केरल)
प्रोफेसर दिनेश कुशवाह,रीवा (मध्य प्रदेश)
डॉ.एन. एस. परमार, बड़ौदा (गुजरात)
प्रो. दिलीप कुमार मेहरा, बी.बी.नगर (गुजरात)
डॉ.उमाकांत हजारिका, शिवसागर(असम)
डॉ. आर. कनागसेल्वम, इरोड (तमिलनाडु)
प्रोफेसर संजय एल. मादार,धारवाड़ (कर्नाटक)
प्रोफेसर गोबिन्द बुरसे, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
डॉ.दादा साहेब सालुनके, महाराष्ट्र (औरंगाबाद)
प्रोफेसर अलका गड़करी, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
डॉ. साहिरा बानो बी. बोरगल, हैदराबाद (तेलंगाना)
डॉ.बलबिंदर कौर, हैदराबाद (तेलंगाना)
डॉ.ओमप्रकाश सैनी,कैथल (हरियाना)

प्रकाशन/मुद्रण

प्रकाशक रूपनारायण सोनकर की अनुमति से डॉ.एन.पि.प्रजापति एवंम प्रोफेसर बलिराम धापसे द्वारा नमन प्रकाशन–423/Aअंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली 11002 में प्रकाशन एवं मुद्रण कार्य।

मुख पृष्ठ– डॉ.आजम शेख मैत्री ग्राफिक्स,सावंगी (ह) औरंगाबाद

संपादकीय/व्यवस्थापकीय कार्यालय

दून व्यू कॉटेज स्प्रिंग रोड, मंसूरी -248179, उत्तराखण्ड, दूरभाष : 0135-6457809 मो.0941077718

शाखा कार्यालय

पी.डब्ल्यू.डी.आर-62 ए,ब्लाक कालोनी बैढन,जिला-सिंगरौली म.प्र.486886 मो. 09752998467

सहयोग राशि -150/-रुपये, वार्षिक सदस्यता शुल्क (संस्था के लिए)-1000/-रुपये, पंच वार्षिक सदस्यता शुल्क (व्यक्ति के लिए)-2000/-रुपये, पंच वार्षिक संस्था और पुस्तकालयों के लिए –3000/-रुपये, विदेशों में$50 आजीवन व्यक्ति-6000/-रुपये,संस्था-10,000/-रुपये।

सदस्यता शुल्क एवं सहयोग राशि-इंडिया पोस्ट पेमेंट बैंक- **A/C** –8367100138282 **IFSC Code-IPOS**0000001

Branch-sidhi, NIRPAT PRASAD PRAJAPATI

नोट:-पत्रिका की किसी भी सामग्री का उपयोग करने से पहले संपादक की अनुमति आवश्यक है। संपादक-संचालक पूर्णतया अवैतनिक एवं अध्यवसायी हैं।**'नागफनी'**में प्रकाशित शोध-पत्र एवं लेख, लेखकों के विचार उनके स्वयं के हैं। जिनमेंसंपादक की सहमति अनिवार्य नहीं हैं।**'नागफनी'** से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल देहरादून न्यायालय के अधीन होंगे। अंक में प्रकाशित सामग्री के पुनर्प्रकाशन के लिए लिखित अनुमति अनिवार्य है। सारे भुगतान मनीऑर्डर, बैंक/चेक/बैंक ट्रांसफर/ई-पेमेंट आदि से किए जा सकते हैं। देहरादून से बाहर के चेक में बैंक कमीशन 50/-अतिरिक्त जोड़ें दें।

लेख भेजने के लिए –Mail-ID- nagfani81@gmail.com
पत्रिका के बारे मे विस्तार से जानने के लिए देखें Website:–http:naagfani.com

नागफनी
वर्ष-12 अंक41,अप्रैल-जून -2022 volume-I

अनुक्रम पृष्ठ क्रमांक

संपादकीय 3

साहित्यिक विमर्श

1)योग एवं भावातीत ध्यान के अभ्यास से मानवीय मूल्यों का संवर्धन -डॉ॰ सुनील कुमार मिश्र 4-8
2)श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित व्यावहारिक जीवन के सापेक्ष 'आत्म संयम योग' की भूमिका -रुखमणी साहू ,डॉ॰ सुनील कुमार मिश्र 9-11
3)वर्तमान परिप्रेक्ष्य में "कर्मयोग" की भूमिका: श्रीमद्भगवद्गीता के विशेष संदर्भ में -रुखमणी साहू ,डॉ॰ सुनील कुमार मिश्र 11-13
4)कृत्रिम बुद्धि बनाम मानवता-मनोजकुमार शर्मा 14-15
5)रूसी भविष्यवाद के घोषणापत्र का अनुवाद और टिप्पणी- डॉ संदीप यादव और डॉ सुदर्शन राजा 15-16
6)स्वतंत्रता के 76 साल और रंगभूमि का सूरदास-श्रद्धा सिंह 17-20
7)कप चाय और तुम : संवेदना और शिल्प -डॉ.राजकुमारी 21-24
8)हत्या कहानी में भारतीय किसान की दशा- डॉ. पुष्पा गोविंदराव गायकवाड 24-27
9)कीर्ति शर्मा की कहानियों में व्यक्त आधुनिक स्त्री जीवन और सामाजिक समस्याओं की विवेचना-सुनीता सेरावत 28-30
10)प्रवासी साहित्य की अवधारणा -डॉ. अन्सा ए 22-23
11)राष्ट्रीय एकीकरण: जनजातीय भाषा और संस्कृति के विशेष संदर्भ में-अजीत कुमार जोगी 30-31

आदिवासी विमर्श 32-35

1) समकालीन आदिवासी कविता(संदर्भः आंदोलन, इतिहास और पर्यावरणीय बोध)-एन.पी.प्रजापति 36-38

दलित विमर्श

1) सच का सामना' – दलित स्त्री आत्मकथा के विशेष संदर्भ में -डॉ. पार्वती गोसाई 39-40
2) सत्तरोत्तर हिंदी दलित कहानियां-डॉ.कुशावती आमनर 41-42

स्त्री विमर्श

1) इक्कीसवीं सदी के प्रमुख हिन्दी महिला रचनाकारों की आत्मकथा : एक विहंगम दृष्टि- सुमि शर्मा 43-46

साहित्य समीक्षा

1) डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा बुद्ध का महाआख्यान है-अनिल 47-50

English

1) A Theoretical Understanding of Community Organization: A Broader Perspective-Mr. MIGE KAMBU ,Dr. DAVID GAO 51-61
2)Enhancing Familiarity with The Phenomenon of 'Employee Skill Erosion': A Closer Examination of Various Dimensions and Perspectives-Benny Sebastian 62-66
3)Exploring the Visual and Psychological Depths of German Expressionist Film-Ashok Bairagi,Shri Prakash 67-71
4)The Effects Of Fitness Training On The Kinematical Variables Of Obese People During Running -Satish Kumar, Dr. Alok Kumar Singh 72-77
5)The return to fitness for athletes during COVID-19 pandemic-SEVEN DAS MANIKPURI 78-83
6)Effect of Yoga and Strength Training Intervention on body composition and physiological variable of sedentary population-Vidya Kumari1, Dr. Alok Kumar Singh 84-87
7)Opium addiction in Colonial Assam: A Preliminary Investigation-Kishor Goswami 88-91
8) C M OF THE VILLAGE-Sonkar 92-93
9) 75 Years of Independence: The Changing Landscape of India- Dr.Umadevi 94-97
10)Women Empowerment: Role of Government, Women Empowerment Schemes in India-Dr.Nanjundamurthy 97-100
11) The Influence of Patriarchal Society on the Reconstruction of Feminine Identity in the Selected Novels of R. K. Narayan and Mulk Raj Anand: A Comparative Study-Pradeep Kumar Singh , Dr. Anil Sirohi 101-105

Other

1) पौड़ी जनपद में माध्यमिक स्तर की शिक्षा के विकास का विश्लेषणात्मक अध्ययन जनपद पौड़ी के दुगड्डा, जयहरीखाल, नैनीडांडा विकास खण्ड क्षेत्र के माध्यमिक स्तर की शिक्षा के विकास में सरकार द्वारा उपलब्ध करायी जानेवाली विभिन्न पदों में धनराशि का वर्षवार अध्ययन- नीरज कुमार कमल, डॉ. अनूप कुमार पोखरियाल 106-119
2) बी.एड. प्रशिक्षणार्थियों की पर्यावरण शिक्षा में उपलब्धि पर अनुदेशनात्मक आव्यूह एवं निवास पृष्ठभूमि के प्रभाव अध्ययन-राजीव सांगवान,डॉ. लाजमीत कौर 120-126

नागफनी
वर्ष-12 अंक41,अप्रैल-जून -2022 volume-I

अनुक्रम पृष्ठ क्रमांक

3) एक दलित डिप्टी कलेक्टर नाटक मीडिया में छाया रहा - प्रोफेसर ओमराज 127-128
4) प्राचीन विदेह राष्ट्र की अवधारणा तथा बौद्ध दर्शन का प्रभाव- डॉ चन्द्रशेखर पासवान 129-133
5) वेदों में यान (ऋग्वेद के विशेष संदर्भ में)- डॉ शालिनी मिगलानी 134-138
6) स्त्री विमर्श : वैदिक चिन्तन के निहितार्थ-डॉ. कान्ता 139-142
7) आदिवासी समाज के अस्तित्व व अस्मिता का संघर्ष : 'ग्लोबल गांव के देवता '-डॉ. नमिता जैसल 143-144
8) वैदिक संस्कृति में प्रतिबिम्बित समाज--डॉ. देवेन्द्र नाथ ओझा 145-147
9) सिद्धहेमशब्दानुशासन में परिलक्षित संस्कृति- प्रभाकर सुयाल 148-150
10)अर्थ और स्त्री यात्रा : अंत:संबंध- रिज़वाना फ़ातिमा 151-153
11) उत्तरआधुनिकता के संदर्भ में 'कौन हूँ मैं'- -डा. एस. वी. शेण्वि, डा. एस. डी बुळळा 154-157
12) दलित आत्मकथाओं में दर्ज स्त्री श्रम का विश्लेषण-गीता रानी, प्रोफेसर प्रमोद कुमार 158-160
13) 21वीं सदी में बौद्ध दर्शन की प्रासंगिकता का विश्लेषण- विवेकानंद किशोर 161-163
14) प्रवासी कथा संसार में हिन्दी भाषा- डॉ. उपासना 164-168
15) "An Introduction": A Replica of Kamala Das' Poetic Tower-Dr. Dharmendra Kumar Singh 169-172
16) मानव समाज और राहुल सांकृत्यायन- योगेन्द्र कुमार मीना 173-175
17) हिन्दी महिला नाट्य लेखन-डॉ. राकेश डबरिया 176-177
18) वाणी 'गुरु ग्रंथ साहिब' : प्रकृति एवं पर्यावरण संबंधी दृष्टिकोण-डॉ. कमल जीत सिंह 178-179
19) षोडश संस्कारों में यज्ञोपवीत संस्कार की समसामयिक उपादेयता- आलोक कुमार झा 180-182
20) भारत और नेपाल के मध्य सामाजिक सम्बन्ध : अभिलेखों के सन्दर्भ में - डॉ.विक्रम सिंह चौधरी 183-187
21) Methodological Nationalism: A Critical Examination of the Underlying Assumptions of the Nation-State Paradigm in Social Sciences- Prof. Dheeraj Kumar Choudhary,Kuldeep Sharma 188-194
22) Exploring the Role of the State in Fostering Social Justice amidst Caste Inequality in India-Dr Pankaj Deep , Swarni 195-199
23) Mapping Case Study Method for Teaching Communicative English-Abnish Singh Chauhan 200-205
24) Christanity And Buddhism: The Champions Of Women Freedom-Dr .Chintala Venkata Sivasai 206-209
24) बुद्ध, अभिधम्म और कृत्रिम बुद्धिमत्ता (आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस)-डॉ चन्दन कुमार 210-218
25) संयुक्त राष्ट्र संघः विश्व शांति एवं भारत की भूमिका-गोविन्द सोनकर 219-222
26) बलबीर माधोपुरी द्वारा रचित आत्मकथा 'छांग्या रुख' का आलोचनात्मक अध्ययन-डॉ. कमल जीत सिंह 223-226
27) Investigating the Role of Psychological Well-Being and Job Satisfaction in Enhancing Patient Care Among Nursing Officers in Military Hospital, Pune.-Dr. Sunil Gupta 227-234
28) Dissimilarities in Concentration of Crops in Different Regions of Sikkim Himalayas-Pawan Kumar 235-240
29) बौद्ध दर्शन की वैभाषिक अवधारणा और धर्म : एक समाकलन दृष्टि—-अभिषेक प्रियदर्शी 241-249
30) दर्शनोपनिषदि प्रतिपादिताद्वैतवेदान्तविचारः-विभाकर कुमार दीक्षितः 250-253
31) Ambedkar's Liberal Attitude Towards Women : Hindu Scriptures A Special Reference-Dr. Naveen Kumar 254-258
32) जायसी के काव्य में चित्रित भारतीय संस्कृति- विष्णु 259-261
33) हिन्दी में आदिवासी विमर्श - डॉ.राज कुमार मीणा 262-264
34) जन आंदोलनकारी कविता- डॉ अर्चना त्रिपाठी 265-267
35) प्रेम और प्रतिशोध पर आधारित उपन्यास 'शिखण्डी'-कंचन चौहान 268-271
36) अमृतराय के उपन्यासों में हास्य और व्यंग्य : एक अध्ययन --डॉ.प्रीति राय 272-274
37) तिलक युग की महिला पत्रकारिता (1900-1920)- -डॉ. समर विजय 275-283
38) आदिवासी ट्रांसजेंडर जीवन ,मलयालम सिनेमा उडलाषम में- -जिष्णा राघव 284-285
39) ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताएँ आह से उपजा गान हैं- -प्रवीन वर्मा 286-289
40) The importance of the Upanishad in the teachings of the Bhagavat Gita- Prof. (Dr.) Deepika Dhand 290-292
41) Dr Ambedkar's Perspective of Social Exclusion and Distinction in Indian Society- Dr Archana 293-296
42) Poverty in India: Preventive, Curative and Collaborative Methods to Combat-Jyoti Rani 297-300
43) The Interplay of Surrealism and Magic Realism in Ruskin Bond's Fosterganj--Dr Neeta Lalwani 301-304
44) Dalits and bir Ambedkar role on dalits movement : an analysis- -Priyanka Gogoi 305-308
45) Birsa Munda: Today's Adivasi National Icon--Joseph Bara 309-311
46) Mapping Case Study Method for Teaching Communicative English-Dr Abnish Singh 312-317

नागफनी
वर्ष-12 अंक41,अप्रैल-जून -2022 volume-I

अनुक्रम पृष्ठ क्रमांक

47) Challenges To E-Governance In Rural India: Today-Dr. Seema Devi 318-324
48) उत्तराखण्ड की शाक्त परम्परा में महिषांकन प्रतिमाएँ-नेहा खोलिया 325-328
49) मैत्रेयी पुष्पा की कथा-प्रस्तुतिकरण की शैली--नीरज कुमार 329-333
50) गढ़ी.गढ़ी काढ़े खोट एक शिक्षक की आपबीती-डॉ.अमित कुमार पाण्डेय 334-337
51) हिन्दी समकालीन साहित्यिक विमर्श और वृद्ध: एक संबंधात्मक विश्लेषण--प्रीतिका. एन. 338-341
52) अवधी के पुरिखा : संत तुलसीदास--डॉ.बालेन्द्र सिंह यादव 342-348
53) अंचल में नारी विमर्श --डॉ.विनीता उपवंशी लोधी 349-353
54) हिंदी नवजागरण के विकास में अनुवाद की भूमिका- कविता 354-357
55) सौन्दर्य तत्व की कलात्मक आनन्दानुभूति--डॉ.सुनीता मीना 358-362
56) हिन्दी साहित्य के आदिकाल में राष्ट्रीयता की अवधारणा-रेखा राठौड 363-365
57) औपनिवेशिक काल में प्रतिबन्धित हिंदुस्तानी साहित्य-डॉ. निधि वर्मा 366-368
58) भूमंडलीकरण और किसान : फाँस उपन्यास -अनामिका 369-371
59) कुडमालि भाषा क्षेत्र में हिन्दी का प्रवेश एवं प्रभाव--पाण्डव महतो 372-378
60) मरंगगोड़ा नीलकंठ हुआ उपन्यास का विश्लेषण-दीपक ठाकुर 379-381
61) स्त्री अस्मिता के प्रश्न और हिंदी नाटक - डॉ. अशोक कुमार मीणा , डॉ. कंचन 382-384
62) उत्तर आधुनिक विमर्श और हिन्दी कविता -डॉ. नीतू शर्मा 385-388
63)अशोक के फूल के आधार पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की सांस्कृतिक दृष्टि-राहुल कुमार 389-391
64) ज्ञानरंजन की कहानियों (पिता, शेष होते हुए, संबंध) में संबंधों की जटिलता- आस्था प्रियदर्शिनी 392-393
65) भारतेंदु द्वारा अनूदित हिन्दी नाटकों की रंग मंचीयता-डॉ. अभिषेक कुमार पटेल 394-396
66) अरुण प्रकाश की कहानियों में ग्रामीण और नगरीय चेतना का यथार्थ--मैना 397-399
67) मोहन राकेश कृत 'आधे अधूरे' नाटक में चित्रित मध्यवर्गीय परिवार की समस्याओं का विश्लेषण--भारती 400-402
68) राजेन्द्र यादव का आलोचना-कर्म--ज्ञान प्रकाश यादव 403-406
69) गीता में कर्म योग की वर्तमान समय में प्रासंगिकता-डॉ दीपक सिंह, डॉ सीमा गौतम 407-409
70) A Comparative Study of Marathi and English Languages-Dr. Shehjad Sidiquii 410-412
71) Folklore and Oral Traditions of Kampil: Bridging the Gap Between Myth and History -Shaleen Kumar Singh, Dr. Deepak Singh 413-416
72) Strategic Activities for the Development of Fluency in ESL Learners - Bisnu Charan Mahato 417-421
73) हिन्दी साहित्य में आधुनिक भावबोध, आधुनिक शब्द का अर्थ और आधुनिकता की परिभषा--शिला कुमारी 422-424
74) प्राचीन महाकाव्य एवं आधुनिक महाकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन-सुषमा 425-430
75) राधाकृष्णन के शैक्षिक दर्शन में नैतिकता और आध्यात्मिकता का वर्तमान शिक्षा प्रणाली के परिपेक्ष्य में प्रासंगिकता का अध्ययन-धीरज कुमार रस्तोगी, नीतू कश्यप 431-435
76) 'उधर के लोग' उपन्यास में चित्रित यथार्थवाद--डॉ. अबू होरैरा 436-438
77) भारत में बौद्ध धर्म के पतन का अवलोकन : सामाजिक परिप्रेक्ष्य में-डॉ. कामाख्या नारायण तिवारी 439-440
78) रीतिकालीन शृंगारिक साहित्य में अभिव्यक्त लोक संस्कृति: प्रासंगिकता के संदर्भ में पुनर्विचार-रीना 440-446
79) 'रत्ना की बात' उपन्यास का विश्लेषणात्मक अध्ययन-दिवेश कुमार चंद्रा 447-448
80) काला पादरी उपन्यास का विश्लेषणात्मक अध्ययन-एकता 449-451
81) Applications Of Inorganic Nanoparticles In Drug Delivery Systems: A Comprehensive Study-Pooja S Pawar 452-459
82) Tara: A Victim of Gender Discrimination in Mahesh Dattani's Tara-Dr Shrishialya Tukaram Todkar 460-463
83) हिंदी उपन्यासों में स्त्री उपन्यासकारों की भाषा का स्वरूप-डॉ. अंकित अभिषेक 464-467
84) The Role of Autobiographical Writing as a means of Empowerment and Activism for Transgender Communities-Anam Rafiq, Anil Sehrawat 468-473
85) The Evolution of Education Policy in India: A Comprehensive Historical Analysis- Ms. Asha Yadav,Prof. Pushpraj Singh, Prof. Gyanendra Nath Tiwari 474-484
86) Online In-Service Teacher Training as a Strategy for Continuous Professional Development of School Teachers in India: A Comparative Analysis with Offline Mode-Ms. Pratibha Gulati1 ,Prof. (Dr.) Harish Kumar Tyagi ,Prof. (Dr.) Rajendra Pal 485-488

संपादकीय .....

भारत देश मे कई तरह के आदमी निवास करते हैं । धनवान, मध्यम वर्ग, गरीब और अति गरीब । मालदार आदमी महलों मे रहता है । उसका खान पान, पहनावा, ओढ़ावा सभी उच्च क्लास का होता है । वह एक स्थान से दूसरे स्थान आने जाने के लिये लक्ज़री कार और एयरोप्लेन का प्रयोग करता है.. उसके बच्चे देश विदेश के बड़े बड़े स्कूल, कॉलेज और यूनिवर्सिटी मे पढ़ते हैं. राजनीती मे भाग लेते है । M LA और एमपी बनते है । मिनिस्टर बनना उनका जन्म सिद्ध अधिकार है । आईएएस बनना उनके लिये आसान होता है.. अब तो सरकार बिना आईएएस परीक्षा लिये कलेक्टर और सचिव बना रही है ।

माध्यम वर्ग के लोग पक्के मकानों मे रहते हैं। किसानी,छोटे छोटे व्यवसाय, सरकारी और प्राइवेट नौकरी करते हैं । इनके बच्चे सरकारी, प्राइवेट कॉलेज, विश्वविद्यालयों मे पढ़ने जाते हैं । इनका खान पान, रहन सहन समान्य होता है । इस वर्ग के कुच्छ ही बच्चे विश्वविद्यालयों तक पंहुच पाते हैं वही लोग छोटी बड़ी नौकारीयों मे आ पाते है । ऐसे लोग अपने बच्चों को शिक्षित कर लेते हैँ.. मध्यम वर्ग के बहुत सारे बच्चे हाई स्कूल पास या फैल होने के बाद पढ़ाई छोड़ देते हैँ. ड्राइवर, मोटर मैकेनिक, बिजली से संवाधित छोटे छोटे कार्य करने लगते है । इनका जीवन किसी तरह गुजरने लगता है.ऐसे लोगों की शादी हो जाती है ।

तीसरा वर्ग मजदूर वर्ग की श्रेणी मे आता है. इनका जीवन बहुत ही कठिनाइयों से गुजरता है । इस वर्ग के बच्चे अधिकतर प्राइमरी व मिडिल क्लास तक शिक्षा पाने के बाद पैसे के आभाव मे पढना छोड़ देते है । ये बच्चे दलित वर्ग से आते हैँ. ये लोग खेतोँ मे मजदूरी करते है । बड़ी मुश्किल से मनरेगा ग्रामीण योजना मे काम मिल जाता है। लेकिन अब मनरेगा समाप्ति की ओर अग्रसर है । ये बेचारे मिट्टी के मकानों में रहते है । बहुत कम लोगों को सरकारी मकान बड़ी जद्दोजहद के बाद मिल पाते है । इन लोहों को साग सब्जी नहीं मिलती है तब ये लोग नमक रोटी खाकर जिन्दा रहते है । ये लोग शहरों में जाकर गगनचुम्बी इसरतों में लेबर का कार्य करते हैँ. इनका जीवन खतरे से भरा होता हैं गरीबों में भी एक बहुत गरीब वर्ग है । ये लोग झुग्गी झोपड़ी आदि में रहते है । जब इन लोगों के पास रहने के लिये कुछ नहीं होता है तब ऐसे लोग फुटपाथ पर रहने के लिये आ जाते है । पुलिस की मार सहते हुए भी किसी तरह वहीं टिके रहते हैं । ऐसे लोग अच्छा जीवन नहीं जी पाते है । ऐसे लोगों की तादात नब्बे करोड़ के लगभग है । सरकार द्वारा दिए जा रहे पांच किलो राशन पर जिन्दा रहते है । कुंढा से ग्रस्त होने के बाद इनमे से कुछ लोगों में आपराधिक कार्य करने की इच्छा पैदा हो जाती है. सरकार इनको राशन न देकर इनको कोई नौकरी देना चाहिए । ऐसा करने से इनमे अपने उत्तरदायित्व का बौद्ध होगा । ये देश के सक्षम नागरिक बनेगे..

ऐसे लोगों के बच्चों को सरकार अपने खर्चे पर शिक्षा अनिवार्य कर दे । उनके रहने के लिये हॉस्टल बनवाये । उनको कपडे और खाना उपलब्ध कराये । खेल कूद की व्यवस्था करवाये । तभी ऐसे लोग देश की मुख्य धारा में आ सकते है ।

ऐसे असहाय लोगों की जिंदगी के सम्बन्ध में मेरे उपन्यास डंक में चित्रित कविता सही तस्वीर प्रस्तुत करती है ।

मध्य प्रदेश के एक आदिवासी दसलित गाँव है
जहाँ दो औरतों के बीच एक साड़ी होती है
जब सास घर से बाहर जाती है
तब बहू हर में नंगी रहती है
ये! मेरे देश के महान कर्णधारों
इन अभागी माताओं बहिनों पर
तरस खाओ
इन्हें सजीव चलती फिरती
खजुराहो की मूर्तियां
मत बनाओ

रूप नारायण सोनकर
सह संपादक

योग एवं भावातीत ध्यान के अभ्यास से मानवीय मूल्यों का संवर्धन''

डॉ॰ सुनील कुमार मिश्र
सहायक प्राध्यापक
शारीरिक शिक्षा व योग विभाग
मैट्स विश्वविध्यालयए रायपुरए छ॰ ग॰

प्रस्तावना -

'योगं शरणं गच्छामि'

हम या मनुष्य योग की शरण क्यूँ ले? योग और भावातीत ध्यान के माध्यम से मानवीय मूल्यों को कैसे लाभ होगा? हम सभी मनुष्यों को पता है कि शारीरिक शांति, मानसिक शांति, सामाजिक शांति एवं आध्यात्मिक शांति इत्यादि मनुष्य के भीतर से मिलता है अर्थात् वर्तमान परिपे क्ष्य में मानव जाति भिन्न–भिन्न समस्याओं से ग्रसित है, जिसमें दैहिक समस्या एवं मानसिक समस्या सबसे ज्यादा है। यदि मनुष्य योग (आसन, प्राणायाम, मुद्रा एवं बंध) की प्रक्रिया को अपनाता है तो वह उपरोक्त समस्याओं से हद तक मुक्ति पा सकता है। मानसिक शांति या तनाव खत्म हो सकते है, शारीरिक समस्याएं खत्म हो सकती है तथा जब मनुष्य शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ्य रहेगा तभी आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर हो सकता है।

मानव का कल्याण उसके भीतर है और उन्ही भीतरी पहलुओं को संभालने और सुधारने की तकनीक है योग एवं भावातीत ध्यान।

योग एवं भावातीत ध्यान यही सिखाता है कि किसी इसांन की सेहत एवं कल्याण उस इसांन के ही हाथ में है, मनुष्य के स्वास्थ्य की देखभाल कोई अध्यात्मिक शक्ति, बाहरी दुनिया या अन्य ताकत आकर नहीं करेगी मनुष्य स्वयं करेगा। मानवीय जीवन का अनुभव मनुष्य के स्वयं के भीतर से उत्पन्न होता है, मनुष्य के जीवन की बागडोर स्वयं के हाथों में होती है, आपके जीवन का अनुभव किस तरह से हो और किस स्तर के हो, मनुष्य योग एवं भावातीत ध्यान के माध्यम से खुद तय कर सकता है।

कुंजी शब्द– योग, भावातीत ध्यान, आध्यात्मिक, मानवीय मूल्य।

भूमिका .

आजकल तनाव और तनाव से पैदा होने वाले रोगों की भरमार है, 60 या 70 की दशक से या इससे पहले के समय से तुलना करें तो हम पायेंगे कि आज हम पहले से कहीं ज्यादा सुख सुविधाओं से घिरे हुए है, तमाम सुख सुविधाओं के साथ अपना जीवन यापन कर रहे हैं, लेकिन फिर भी हम आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक समस्याओं से घिरे है, इन तमाम समस्याओं से छुटकारा पाने के लिए हमें आपको एवं मानव समाज को अपने भीतर काम करना पड़ेगा, तभी मानव समाज अपने जीवन में मानवीय मूल्यों का लाभ प्राप्त कर सकता है एवं दूसरों को लाभ पहुंचा सकता है।

योग और भावातीत ध्यान -

भावातीत ध्यान -

भावातीत ध्यान की मन की ही एक अनुभूति है, विशेष रूप से ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा मन और शरीर के बीच गहरा सह–सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जो कि हमें उस स्तर तक ले जाता है, जहाँ पर हमारे मन का सीधा सम्पर्क विचारों के स्त्रोत से हो जाता है।

विचारों का स्त्रोत ही शुद्ध बुद्धि का क्षेत्र है, जिसे दूसरे शब्दों में भावातीत चेतना या तुरीय चेतना भी कहते हैं। हम सैकड़ों विचारों का अनुभव प्रतिदिन करते हैं। लेकिन ये विचार कहां से उत्पन्न होते है? ये हमारे अन्दर ही कहीं से उत्पन्न होते है। यह क्षेत्र या स्त्रोत हमारे अन्दर हैं जो इस सभी विचारों और उनकी क्रियाओं के लिये उत्तरदायी हैं। चूंकि हमारे सारे विचार बुद्धि, सृजनात्मकता और शक्ति के कुछ अंष से पोषित हैं, इसलिए अनंत बुद्धि, सृजनात्मकता और शक्ति विचारों के स्त्रोत में ही है। यही विचारों के स्त्रोत या भावातीत चेतना के विशिाष्ट गुण हैं।

हम कह सकते है कि भावातीत ध्यान एक मानसिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम भावातीत चेतना के उस स्तर तक पहुंचते हैं, जहां पर हम अनंत क्रिया शक्ति, बुद्धि और सृजनात्मकता के स्त्रोत का अनुभव करते हैं। इस अनुभव के फलस्वरूप हम शक्ति, सृजनात्मकता और बुद्धिमत्ता के इस क्षेत्र को अपने अंदर पाने के योग्य हो जाते हैं। परिणाम स्वरूप हम अपने दैनिक जीवन में अधिक बुद्धि मान, सृजनात्मक और शक्तिवान बन जाते हैं।

भावातीत ध्यान का अर्थ है परे जाना। यथार्थ में हम ध्यान में क्या करते हैं, हम एक विचार का अनुभव करते हैं। जैसे हम सब जानते हैं कि सोचना एक प्रयासहीन प्रक्रिया हैं। बचपन से ही हम विचारों को

सोचना आरम्भ करते हैं। मानवीय मस्तिष्क एक ऐसी अद्भुत स्वचालित मशीन है जिसे किसी ऊर्जा की आवश्यकता नहीं पड़ती और न ही विचार सोचने के लिए इसे किसी शक्ति की आवश्यकता पड़ती है।

योग -

योगस्यचित्तवृत्तिनिरोधः ।। 1/2।।

व्याख्या– चित्त की वृत्तियों के निरोध को ही 'योग' नाम से कहा गया है।

तदा द्रश्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।।1/3।।

व्याख्या– जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है, उस समय द्रष्टा (आत्मा) की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है, अर्थात् वह कैवल्य–अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

वृशयः पश्चतय्यः किश्टाकिश्टाः।। 1/5।।

व्याख्या– ये चित्त की वृत्तियां आगे वर्णन किये जाने वाले लक्षणों के अनुसार पांच प्रकार की होती है। तथा हर प्रकार की वृत्ति के दो भेद होते है। एक तो क्लिष्ट यानी अविद्यादि के''ों को पुष्ट करने वाली और योगसाधन में विघ्नरूप होती है। तथा दूसरी अक्लिष्ट यानी के''ों को क्षय करने वाली और योगसाधन में सहायक होती है। साधन को चाहिए कि इस रहस्यों को भलीभांति समझकार पहले अक्लिष्ट वृत्तियों से क्लिष्ट वृत्तियों को हटावे, फिर उन अक्लिष्ट वृत्तियों का भी निरोध करके योग सिद्ध करें।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ।। 1/6 ।।

व्याख्या– इन पांचों के स्परूप का वर्णन स्वयं सूत्रकार ने अगले सूत्रों में किया है, अतः यहां उनकी व्याख्या नहीं की गयी है।

प्रत्याक्षानुमानागमाः प्रमाणनि।। 1/7।।

व्याख्या– प्रमाणवृत्ति तीन प्रकार की होती है, उसको इस प्रकार समझना चाहिए।

प्रत्यक्ष–प्रमाण – बुद्धि, मन और इन्द्रियों के जानने में आने वाले जितने भी पदार्थ है, उनका अन्तःकरण और इन्द्रियों के साथ बिना किसी व्यावधान के सम्बन्ध होने से जो भ्रान्ति तथा सं''ाय रहित ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष अनुभव से होनेवाली प्रमाणवृत्ति है। जिन प्रत्यक्ष दर्शनों से संसार के पदार्थों की क्षणभंगुरता का नि''चय होकर या सब प्रकार से उनमें दुःख की प्रतीति होकर मनुष्य का सांसारिक पदार्थों में वैराग्य हो जाता है, जो चित्त की वृत्तियों को रोकने में सहायक हैं, जिसे मनुष्य की योगसाधन में श्रद्धा और उत्साह बढ़ते हैं, उनसे होनेवाली प्रमाणवृत्ति तो अक्लिष्ट है तथा जिन प्रत्यक्ष दर्शनों से मुनष्य को सांसारिक पदार्थ नित्य और सुखरूप होते हैं, भोगों में आसक्ति हो जाती है, जो वैराग्य के विरोधी भावों को बढ़ाने वाले हैं, उनसे होने वाली प्रमाणवृत्ति क्लिष्ट है।

अनुमान–प्रमाण– किसी प्रत्यक्ष दर्शन के सहारे युक्तियों द्वारा जो अप्रत्यक्ष पदार्थ के रूपरूप का ज्ञान होता है, वह अनुमान से होनेवाली प्रमाणवृत्ति है। जैसे धूम को देखकर अग्निकी विद्यमानता का ज्ञान होना, नदी में बाढ़ आया देखकर दूर–देश में वृष्टि होने का ज्ञान होना–इत्यादि। इनमें भी जिन अनुमानों से मनुष्य को संसार के पदार्थों की अनित्यता, दुःखरूपता आदि दोषों का ज्ञान होकर उनमें वैराग्य होता है और योग के साधनों में श्रद्धा बढ़ती है, जो आत्मज्ञान में सहायक हैं, वे सब वृत्तियां तो अक्लिष्ट हैं और उनके विपरीत वृत्तियां क्लिष्ट हैं।

आगम–प्रमाण– वेद, शास्त्र और आप्त (यथार्थ वक्ता) पुरूषों के वचन को 'आगम' कहते हैं। जो पदार्थ मुनष्य के अन्तः करण और इन्द्रियों के प्रयत्क्ष नहीं है एवं जहां अनुमान की भी पहुंच नहीं है, उसके स्परूप का ज्ञान वेद, शास्त्र और महापुरूषों के वचनों से होता है, वह आगम से होने वाली प्रमाणवृत्ति है। जिस आगम–प्रमाण से भोगों में प्रवृत्ति और योग–साधनों में अरूचि हो, जैसे स्वर्गलोक के भोगों की बड़ाई सुनकर उनमें और उनके साधनरूप सकाम कर्मों में आसक्ति ओर प्रवृत्ति होती है, वह क्लिष्ट है।। 7।।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिश्ठम् ।। 1/8।।

व्याख्या– किसी भी वस्तु के असली स्वरूप को न समझकर उसे दूसरी ही वस्तु समझ लेना–यह विपरीत ज्ञान ही विपर्यवृत्तिा है– जैसे सीपमें चांदी की प्रतीति। यह वृति भी यदि भोगों में वैराग्य उत्पन्न करने वाली और योग मार्ग में श्रद्धा–उत्साह बढ़ाने वाली हो तो अक्लिष्ट है, अन्यथा क्लिष्ट है।

जिन इन्द्रिया आदि के द्वारा वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान होता है, उन्हीं से विपरीत ज्ञान भी होता है। यह मिथ्या ज्ञान भी कभी–कभी भोगों में वैराग्य करने वाला हो जाता है। जैसे भोग्य पदार्थों की क्षणभंगुरता को देखकर अनुमान करके या सुनकर उनको सर्वथा मिथ्या मान लेना योग–सिद्धान्त के अनुसार विपरीत वृत्ति है, क्योंकि वे परिवर्तनशील होने पर भी मिथ्या नहीं हैं तथापि यह मान्यता भोगी में वैराग्य उत्पन्न करने वाली होने से अक्लिष्ट है।

कुछ महानुभावों के मतानुसार विपर्ययवृत्ति और अविद्या–दोनों एक ही है, परंतु यह युक्तिसंगत नहीं मालूम होता क्योंकि अविद्या का नाश तो केवल असम्प्रज्ञातयोग से ही होता है जहां प्रमाणवृत्ति भी नहीं रहती। किंतु विपर्ययवृत्ति का नाश तो प्रमाण वृत्ति से ही हो जाता है। इसके सिवा योगशास्त्र के मतानुसार विपर्यय ज्ञान चित्त की वृत्ति है, किंतु अविद्या चित्तवृत्ति नहीं मानी गयी है, क्योंकि वह द्रष्टा और दृश्य के स्परूप की उपलब्धि में हेतुभूत संयोग की भी कारण है तथा अस्मिता और राग आदि केंशों की भी कारण है इसके अतिरिक्त प्रमाणवृत्ति में विपर्यवृत्ति और अविद्या की एकता नहीं हो सकती क्योंकि विपर्ययवृत्ति तो कभी होती है और कभी नहीं होती, किंतु अविद्या तो कैवल्य–अवस्था की प्राप्ति तक निरंतर विद्यमान रहती है। उसका नाश होने पर तो सभी वृत्तायों का धर्मी स्वयं चित्त भी अपने कारण में विलीन हो जाता है। परंतु प्रमाणवृत्ति के

समय विपर्यवृत्ति अभाव हो जाने पर भी न तो राग–द्वेषों का नाश होता है तथा न द्रष्टा और दृश्य के संयोग का ही इसके सिवा प्रमाणवृत्ति क्लिष्ट भी होती है, परंतु जिस यथार्थ ज्ञान से अविद्या का नाश होता है, वह क्लिष्ट नहीं होता। अतः यह मानना है ठीक है कि चित्त का धर्मरूप विपर्ययवृत्ति अन्य पदार्थ है तथा पुरूष और प्रकृति के संयोग की कारणरूपा अविद्या उससे सर्वथा भिन्न है। **शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।। 1/9।।**

व्याख्या– केवल शब्दों के आधार पर बिना हुए पदार्थ की कल्पना करने वाली जो चित्त की वृत्ति है, वह विकल्पवृत्ति हैं यह भी यदि वैराग्य की वृद्धि हेतु, योग साधनों में श्रद्धा ओर उत्साह बढ़ाने वाली तथा आत्मज्ञान में सहयाक हो तो अक्लिष्ट है, अन्यथा क्लिष्ट है।

आगम–प्रमाणजनित वृत्ति होने वाले विशुद्ध संकल्पों के सिवा सुनी–सुनायी बातों के आधार पर मनुष्य जो नाना प्रकार के व्यर्थ संकल्प करता रहता है, उन सबको विकल्प वृत्ति के ही अन्तर्गत समझना चाहिए।

विपर्ययवृत्ति में तो विद्यमान वस्तु के स्वरूप का विपरीत ज्ञान होता है और विकल्पवृत्ति में विद्यमान वस्तु की शब्द ज्ञान के आधार पर कल्पना होती है, यही विपर्यय और विकल्प का भेद है।

जैसे कोई मुनष्य सुनी–सुनायी बातों के आधार पर अपनी मान्यता के अनुसार भगवान् के रूप की कल्पना करके भगवान् का ध्यान करता है, पर जिस स्परूप का वह ध्यान करता है उसे न तो उसके देखा है, न वेद–शास्त्रसम्मत है और न वैसा कोई भगवान् का स्वरूप वास्तव में है ही, केवल कल्पना मात्र ही है। यह विकल्पवृत्ति मनुष्य को भगवान् के चिन्तन में लगाने वाली होने से अक्लिष्ट है, दूसरी जो भोगों में प्रवृत्त करने वाली विकल्पवृत्तियाँ है, वे क्लिष्ट हैं। इसी प्रकार सभी वृतियों में क्लिष्ट और अक्लिष्ट का भेद समझ लेना चाहिए।

अभावप्रत्ययालम्बना वृतिर्निद्रा ।। 1/10 ।।

व्याख्या– जिस समय मनुष्य को किसी भी विषय का ज्ञान नहीं रहता, केवल मात्र ज्ञान के अभाव की ही प्रतीत रहती है, वह ज्ञान के अभाव का ज्ञान जिस चित्तवृत्ति के आश्रित रहता है, वह निद्रा वृत्ति है। निद्रा भी चित्त की वृत्ति वि"ोष है, तभी तो मनुष्य गाढ़ निद्रा से उठकर कहता है कि मुझे आज ऐसी गाढ़ निद्रा आयी जिसमें किसी बात की कोई खबर नहीं रही। इस स्मृति वृŸिा से ही यह सिद्ध होता है कि निद्रा भी एक वृŸिा है, नही तो जगने पर उसकी स्मृति कैसी होती। निद्रा भी क्लिष्ट ओर अक्लिष्ट दो प्रकार की होती है। जिस निद्रा से जगने पर साधक के मन और इन्द्रियों में सात्विक भार जाता है, आलस्य का नाम–नि"ोान नहीं रहता तथा जो योगसाधन में उपयोगी और आव"यक मानी गयी है। वह अक्लिष्ट है, दूसरे प्रकार की निद्रा उस अवस्था में परिश्रम के अभाव का बोध कराकर विश्राम जनित सुख में आसक्ति उत्पन्न करने वाली होने से क्लिष्ट है।। 10।।

अनुभूतविशयासम्प्रमोशः स्मृतिः ।। 1/11 ।।

व्याख्या– प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और निद्रा– इन चार प्रकार की वृत्तियों द्वारा अनुभव में आये हुए विषयों के जो संस्कार चित्त में पड़े हैं, उनका पुनः किसी निमित्त को पाकर स्फुरित हो जाना ही स्मृति है। उपर्युक्त चार प्रकार की वृत्तियों के सिवा इस स्मृति वृत्ति से जो संस्कार चित्त पर पड़ते हैं उनमें भी पुनः स्मृति वृत्ति उत्पन्न होती है। स्मृतिवृत्ति भी क्लिष्ट और अक्लिष्ट दोनों ही प्रकार की होती है। जिस स्मरण से मनुष्य का भोगों में वैराग्य होता है तथा जो योग साधनों में श्रद्ध और उत्साह बढ़ाने वाला एवं आत्मज्ञान में सहायक है, वह तो अक्लिष्ट है और जिससे भोगों में राग–द्वेष बढ़ता है, वह क्लिष्ट है। स्वप्नको कोई–कोई स्मृति वृत्ति मानते हैं, परंतु स्वप्न में जाग्रत् की भांति सभी वृत्तियों का अविर्भाव देखा जाता है, अतः उसका किसी एक वृत्ति में अन्तर्भाव मानना उचित प्रतीत नहीं होता ।। 11 ।।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।। 1/12 ।।

व्याख्या– चित्त की वृत्तियों का सर्वथा निरोध करने के लिये अभ्यास और वैराग्य– ये दो उपाय हैं। चित्त वृत्तियों का प्रवाह परम्परागत संस्कारों के बल से सांसारिक भोगों की ओर चल रहा है। उस प्रवाह को रोकने का उपाय वैराग्य है और उसे कल्याण मार्ग में ले जाने का उपाय अभ्यास है।। 12 ।।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ।। 1/13 ।।

व्याख्या– चित्त की वृत्तियों का सर्वथा निरोध करने के लिए अभ्यास और वैराग्य–ये दो उपाय हैं। चित्त वृत्तियों का प्रवाह परम्परागत संस्कारों के बल से सांसारिक भोगों की ओर चल रहा है। उस प्रवाह को रोकने का उपाय वैराग्य है और उसे कल्याण मार्ग में ले जाने का उपाय अभ्यास है।। 13।।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।। 1/30

व्याख्या– योगसाधन में लगे हुए साधक के चित्त में विक्षेप उत्पन्न करके उसको साधन से विचलित करने वाले ये नौ योगमार्ग के विघ्न माने गये है।

शरीर, इन्द्रियसमुदाय और चित्त मे किसी प्रकार का रोग उत्पन्न हो जाना 'व्याधि' है।

अकर्मण्यता अर्थात् साधनों में प्रवृत्ति न होने का कारण स्वभाव 'स्त्यान' है।

अपनी शक्ति में या योग के फ लमे संदेह हो जाने का नाम 'संशय' है।

योगसाधनों के अनुष्ठान की अवहेलना (बे–परवाही) करते

रहना 'प्रमाद' है।

तमोगुण की अधिकता से चित्त और शरीर में भारीपन हो जाना और उसके कारण साधन में प्रवृत्तिका न होना 'आलस्य' है।

विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग होने से उनमें आसक्ति हो जाने के कारण जो चित्त मे वैराग्य का अभाव हो जाता है, उसे 'अविरति' कहते हैं।

योग के साधनों को किसी कारण से विपरीत समझना अर्थात् यह साधन ठीक नहीं, ऐसा मिथ्या ज्ञान हो जाना 'भ्रान्तिदर्शन' है।

साधन करने पर भी योग की भूमिकाओं का अर्थात् साधन की स्थिति का प्राप्त न होना–यह 'अलब्धभूमिकत्व' है, इससे साधक का उत्साह कम हो जाता है।

योग साधन से किसी भूमि में चित्त की स्थिति होने पर भी उसका न ठहरना 'अनवस्थितत्व' है।

इन नौ प्रकार के चित्त विक्षेपों को ही अन्तराय, विघ्न और योग के प्रतिपक्षी आदि नामों से कहा जाता है।

दुःखदौर्मनस्याCमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।।1/31।।

व्याख्या– उपर्युक्त चित्त विक्षेपों के साथ–साथ होने वाले दूसरे पांच विघ्न इस प्रकार है।

दुःख–आध्यात्मिक, आधिभौतिक ओर आधिदैविक– इस तरह दुःख के प्रधानतया तीन भेद माने गये हैं। काम–क्रोधादि के कारण व्याधि आदि के कारण या इन्द्रियों में किसी प्रकार की विकलता होने के कारण जो मन, इन्द्रिय या शरीर ताप या पीड़ा होती है, उसको 'आध्यात्मिक दुःख कहते है। मनुष्य, पशु, पक्षी, सिंह, व्याघ्र मच्छर और अन्यान्य जीवों के कारण होने वाली पीड़ा का नाम 'आधिभौतिक दुख' है तथा सर्दी, गर्मी, वर्षा, भूकम्प आदि दैवी घटना से होने वाली पीड़ा का नाम 'आधिदैविक दुःख है।

अंग–मेजयत्व – शरीर के अंगों में कम्प होना, अंग–मेजयत्व' है।

श्वास– बिना इच्छा के बाहर की वायु भीतर प्रवेश कर जाना अर्थात् बाहरी कुम्भक में विघ्न हो जाना श्वास है।

प्रश्वास– बिना इच्छा के ही भीतर की वायु का बाहर निकल जाना अर्थात् भीतरी कुम्भक में विघ्न हो जाना 'प्रश्वास' है।

ये पांचों विक्षिप्त चित्त में ही होते हैं, समाहित चित्त में नहीं, इसलिये इनको विक्षेपसहभू कहते हैं।

तत्प्रतिशेधार्थमेकतत्वाभ्यासः।। 1/32 ।।

व्याख्या– उपर्युक्त दोनों प्रकार के विघ्नों का नाश ईश्वर–प्रणिधान से तो होता ही है, उसके सिवा यह दूसरा उपाय बतलाया गया है भाव यह कि किसी एक वस्तु में चित को स्थित करने का बार–बार प्रयत्न करने से भी एकाग्रता उत्पन्न होकर विघ्नों का नाश हो जाता है, अतः यह साधन भी किया जा सकता है।

मैत्रीकरूणामुदितोपेक्षाणां सुखदुः खपुण्यापुण्यविशयाणांभावनातश्त्तप्रसादनम्।। 1/33 ।।

व्याख्या– सुखी मनुष्यों में मित्रता की भावना करने से, दु खीः मनुष्यों में दया की भावना करने से, पुण्यात्मा पुरूषों में प्रसन्नता की भावना करने से और पापियों में उपेक्षा की भावना करने से चित के राग, द्वेष, घृणा, ईर्ष्या और क्रोध आदि मलों का नाश होकर चित शुद्ध–निर्मल हो जाता है। अतः साधक को इसका अभ्यास करना चाहिये।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगाऽनिर्विण्णचेतसा।। BH.G. 6/23।।

व्याख्या– अर्थात् उस योग का अभ्यास बिना उकताये हुए चित्त से निष्ठापूर्वक करते रहना चाहिये।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। BH.G. 6/35।।

व्याख्या– हे कुन्ती पुत्र अर्जुन अभ्यास अर्थात् स्थिति के लिये बारम्बार प्रयत्न करने से और वैराग्य से मन वश में होता है, इसलिये इसको आवश्य वश में करना चाहिये।।

अविद्यास्मितारागद्वेशाीिनिवेशाः क्लेशः।। 2/3।।

व्याख्या– ये अविद्यादि पांचो ही जीवनमात्र को संसार चक्र में घुमाने वाले महादुःखदायक हैं। इस कारण सूत्रकार ने इनका नाम 'क्लेश' रखा है।

कितने ही टीकाकरों का तो कहना है कि ये पांचों क्लेश ही पांच प्रकार का विपर्ययज्ञान है। कुछ इनमें से केवल अविद्या और विपर्ययवृति की ही एकता करते हैं, किंतु ये दोनों ही बातें युक्तिसंगत नहीं मालूम होती, क्योंकि प्रमाणवृति का अभाव है, पर अविद्यादि पांचों क्लेश वहां भी विद्यमान रहते हैं। ऋतम्भरा प्रज्ञा में विपर्ययका लेश भी नहीं स्वीकार किया जा सकता, परंतु जिस अविद्यारूप क्लेश को द्रष्टा और दृश्य के संयोगका हेतु माना गया है, वह तो वहां भी रहता ही है, अन्यथा संयोग के अभाव से हेय का नाश होकर साधक को उसी क्षण कैवल्य–अवस्था की प्राप्ति हो जानी चाहिये थी। इसके सिवा एक बात और भी है। इस ग्रन्थ में कैवल्य–स्थिति को प्राप्त सिद्ध योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण अर्थात् पुण्य–पाप के संस्कारों से रहित माने गये हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि जीवन्मुक्त योगी द्वारा भी कर्म अव"य किये जाते हैं। तब यह भी मानना पड़ेगा कि व्युत्थान–अवस्था में जब वह कर्म करता है तो विपर्यय–वृति का प्रादुर्भाव भी स्वाभाविक होता है, क्योंकि पांचों ही वृत्तियां चित्त का धर्म हैं और व्युत्थान–अवस्था में चित्त विद्यमान रहता है, यह स्वीकार करना ही पड़ेगा। किंतु जीवन्मुक्त योग में अविद्या भी रहती

है, यह नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि अविद्या वर्तमान है तो वह जीवन्मुक्त ही कैसा, इसी तरह और भी बहुत–से कारण हैं जिनसे विपर्यय और अविद्या की एकता मानने में सिद्धांत हानि होती है। अतः विद्वान् सज्जनों को इस पर विचार करना चाहिये।

निष्कर्ष – निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि योग व भावातीत ध्यान के अभ्यास से मानवीय मूल्यों का उत्थान संभव हो सकता है, जिस प्रकार से महर्षि महेश योगी ने भावातीत ध्यान के बारे में बताया है कि भावातीत ध्यान के माध्यम से मनुष्य अपने चित्त को संयमित कर सकता है और यदि मनुष्य का चित्त संयमित हो जाता है तो वह अपने मानव होने के लक्ष्य कि प्राप्ति कर सकता है | अर्थात व संयमित रहते हुये मानवता की प्राप्ति कर सकता है क्योंकि जब मनुष्य शारीरिक, मानसिक रूप से संयमित रहेगा तभी वह किसी प्रकार का गलत कार्य नहीं करेगा |

इसी प्रकार महर्षि पतंजलि ने भी योग दर्शन में चित्त पर नियंत्रण पाने की बात कही है, जब मनुष्य अपने चित्त पर नियंत्रण प जाता है तो वो सभी प्रकार के विघ्नों पर जीत हासिल कर लेता है | तब मनुष्य से मनुष्यता की ओर अग्रसर होने लगता है | उपरोक्त सूत्रों में महर्षि पतंजलि ने मनुष्य के जीवन को सुखमय कैसे बनाया जाय, उन पर चर्चा किया है | महर्षि पतंजलि ने चित्त को शुद्ध व निर्मल करने के लिए अभ्यास वैराग्य, अंतराय, यम-नियम इत्यादि के माध्यम से चित्त को शुद्ध व निर्मल बनाया जा सकता है तथा समाधि की ओर अग्रसर हो सकते है |

संदर्भ ग्रंथ सूची -

1. बर्ग, डब्ल्यू.पी. वैन डेन, और मुल्डर, बी. 1973. कई व्यक्तित्व चरों पर ट्रान्सेंडैंटल मेडिटेशन तकनीक के प्रभावों पर मनोवैज्ञानिक शोध। ट्रान्सेंडैंटल मेडिटेशन प्रोग्राम पर साइंटिफिक रिसर्च में: कलेक्टेड पेपर्स, वॉल्यूम। मैं, एड. डी. डब्ल्यू. ओरेम-जॉनसन और जे. टी. फैरो, पीपी. 428-433। राइनवीलर, डब्ल्यू. जर्मनी: मेरु प्रेस. (इसके बाद एकत्रित कागजात के रूप में उद्धृत किया गया।)
2. डेविस, जे। 1974। ट्रान्सेंडैंटल मेडिटेशन प्रोग्राम और प्रगतिशील विश्राम: विशेषता चिंता और आत्म-बोध पर तुलनात्मक प्रभाव। कलेक्टेड पेपर्स में, वॉल्यूम। 1, पीपी। 449-452।
3. फैरो, जे.टी. 1975. अनुवांशिक चेतना से जुड़े शारीरिक परिवर्तन। कलेक्टेड पेपर्स में, वॉल्यूम। 1, पीपी। 108-133।
4. एफईएचआर, टी.; नेरस्टीमर, यू.; और TÖRBER, एस। 1972। ट्रान्सेंडैंटल मेडिटेशन प्रोग्राम के परिणामस्वरूप व्यक्तित्व परिवर्तन का अध्ययन: फ्रीबर्ग पर्सनैलिटी इन्वेंटरी। कलेक्टेड पेपर्स में, वॉल्यूम। 1, पीपी। 420-424।
5. फर्ग्यूसन, पी.सी., और गोवन, जे.सी. 1976. टीएम कुछ प्रारंभिक मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष। जर्नल ऑफ ह्यूमनिस्टिक साइकोलॉजी 16: 51-60। (इसके अलावा कलेक्टेड पेपर्स में, वॉल्यूम 1, पीपी। 484-488, "ट्रांसेंडैंटल मेडिटेशन पर मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष" शीर्षक के तहत।)
6. HJELLE, L. A. 1974. TM और मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य। अवधारणात्मक और मोटर कौशल 39: 623-628। (एकत्रित कागजात में भी, खंड 1, पीपी। 437-441।)
7. मैक्कलम, एम.जे. 1974. द ट्रान्सेंडैंटल मेडिटेशन प्रोग्राम एंड क्रिएटिविटी। कलेक्टेड पेपर्स में, वॉल्यूम। 1, पीपी। 410-414।
8. निडिच, एस.; सीमैन, डब्ल्यू.; और ड्रेस्किन, टी। 1973। टीएम का प्रभाव: एक प्रतिकृति। जर्नल ऑफ काउंसलिंग साइकोलॉजी 20: 565-566। (एकत्रित कागजात में भी, खंड 1, पीपी। 442-443।)
9. निडिच, एस.; सीमैन, डब्ल्यू.; और SEIBERT, एम। 1973। राज्य की चिंता पर अनुवांशिक ध्यान कार्यक्रम का प्रभाव। कलेक्टेड पेपर्स में, वॉल्यूम। 1, पीपी. 434-436।
10. शिलिंग, पी. 1974. व्यवहार और व्यक्तित्व पर ट्रान्सेंडैंटल मेडिटेशन तकनीक के नियमित अभ्यास का प्रभाव। कलेक्टेड पेपर्स में, वॉल्यूम। 1, पीपी। 453 -461।
11. जायसवाल, सीताराम (1987), भारतीय मनोविज्ञान, आर्य बूक डिपो, नयी दिल्ली।
12. भारद्वाज ईश्वर, मानव चेतना- सत्यम प्रकाषनहाउस दिल्ली 2011
13. शास्त्री गिरीजाशंकर - वषिष्ट संहिता, चौखंभा प्रकाशन वाराणसी
14. गीता प्रेस, गोरखपुर योग वाशिष्ट, गीता प्रेस, गोरखपुर 2016

★★★

'श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित व्यावहारिक जीवन के सापेक्ष 'आत्म संयम योग' की भूमिका'

डॉ. सुनील कुमार मिश्र,
सहायक प्राध्यापक, शारीरिक शिक्षा व योग विभाग, मैट्स यूनिवर्सिटी, रायपुर

रुखमणी साहू,
शोधार्थी, शारीरिक शिक्षा व योग विभाग, मैट्स यूनिवर्सिटी, रायपुर

सारांश – श्रीमदभगवद्गीता हमारे धर्मग्रंथों का एक अत्यंत तेजस्वी और निर्मल हीरा है। श्रीमदभगवद्गीता मानव को द्वंद से समाधान की ओर यात्रा कराता है। द्वंद ही संसार है और संसार ही द्वंद है। द्वंद मानव मन के संवेगात्मक पक्ष की सबसे बड़ी समस्या है। द्वंद मानव मन में उपजी वह व्याधि है जो उसे जीवन पथ में न आगे बढ़ने देती है, और न ही पीछे की समस्याओं से बाहर निकलने देती है। इस द्वंद से बाहर निकलने के लिए संतुलन की महती आवश्यकता है। भगवान श्री कृष्ण ने आत्म संतुलन जीवन में कितना जरूरी है, श्रीमदभगवद्गीता के छठे अध्याय "आत्म संयम योग" के माध्यम से बताया है। आत्म का अर्थ है "स्व" और संयम का अर्थ है "संतुलन"। स्व (अपने) के भीतर संतुलन ही जीवन की सुंदरता है और इसी के आधार पर जीवन टीका हुआ है। शरीर, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का संतुलन ही आत्म संयम है। संतुलन सर्व प्रथम शरीर के धरातल पर होता है, उसके पश्चात ही मन, बद्धि, चित्त, अहंकार,तक पहुंचा जाता है। श्रीमदभगवद्गीता में भगवान श्री कृष्ण ने संतुलन अर्थात समत्व को ही जीवन का सार बताया है, इसलिए सबसे पहले मनुष्य को तन का संतुलन भोजन के माध्यम से , मन का संतुलन अच्छे और सकारात्मक विचारो से करना चाहिए।

मूल शब्द –व्यवहारिक जीवन , श्रीमदभगवद्गीता, आत्म संयम योग

प्रस्तावना – वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मानव जिस परिवेश में जीवन यापन कर रहे है, उस परिवेश को आधुनिकता कहा जाता है। अत्याधुनिकता की होड़ में मानव ने अपनी सुख सुविधाओं के लिए प्रकृति के साथ छेड़ खानी कर अनेको आविष्कार किया। माना आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है परंतु इन्ही आविष्कार किए वस्तुओं का उपयोग मनमाने ढंग से अर्थात आवश्यकता से अधिक करने लगे तो मनुष्य की समस्त इंद्रियां वस्तुओं पर आसक्त होने लगती है। आसक्ति का अर्थ "किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति विशेष रुचि होना या मोह होना। यदि मनुष्य की इंद्रियों को किसी भी व्यक्ति, वस्तु विशेष पर आसक्ति हो जाती है और वह वस्तु या व्यक्ति को अपने अनुकूल, सही समय पर नहीं पाने की स्थिति में उनका मन विचलित होने लगता है। आसक्ति मनुष्य के मन की शांति को छिन लेती है। मन को चंचल बना देती है। आसक्ति से प्रमाद की उत्पत्ति होती है, प्रमाद मद होता है , और मद अहंकार का स्रोत होता है, और अहंकार पूर्णतः क्षुब्धता में परिवर्ती हो जाता है। अर्थात मनुष्य की समस्त इंद्रियाँ बेलगाम घोड़े की भांति इधर-उधर भागने लगती है। अथवा मन इंद्रियों का दास बन जाता है। आज के मानव समाज में प्रत्येक व्यक्ति इसी आसक्ति से जकड़ा हुआ है, किसी को व्यक्ति विशेष से आसक्ति है, तो किसी को वस्तु विशेष से। और यही आसक्ति मनुष्य के दु:ख का मुख्य कारण है। जैसे द्वापर युग में अर्जुन को अपने अधर्मी भ्राताओं, गुरुओं और परिवार जनो से हो गया था। आसक्ति में डूबे हुए व्यक्ति का विवेक क्षीण हो जाता है, उसे सही-गलत, उचित-अनुचित, का ज्ञान नहीं रहता। उनकी इंद्रियाँ, मन, बुद्धि चित्त, अहंकार, असंयमित हो जाता है। आसक्ति में पड़ा मनुष्य न तो स्वयं का कुछ कर पता है और न ही समाज का। आसक्ति एक ऐसा दीमक है जो व्यक्ति को अंदर ही अंदर कब खोखला कर देता है पता ही नहीं चलता। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मनुष्य को सबसे अधिक आसक्ति धन संपत्ति से है। आज भाई-भाई एक-दूसरे के दुश्मन इसीलिए बन गए है, एक ही आँगन में दीवार खड़ी होने लगी है। भाई, भाई के खून के प्यासे बन चुके है। धन की आसक्ति में चूर मनुष्य जघन्य अपराध करने लगे है। वर्तमान में कई ऐसे खबर अखबार में पढ़ने को मिलता है कि स्त्री की आसक्ति में डूबे व्यक्ति ने संशय वश अपनी पत्नी, अपनी प्रियसी कि हत्या कर दी। केवल आज का मनुष्य ही आसक्ति में चूर नहीं है, बल्कि मन कि इस विकृति का शिकार हर युग में देवताओं के साथ मनुष्य भी हुए है। और अंत में उनका परिणाम भी दु:ख के रूप में मिला है।

श्रीमद्भगवदगीता का परिचय – श्रीमदभगवद्गीता की स्तुति करते हुए भगवान श्री कृष्ण द्वैपायन व्यास जी कहते है- **गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।**
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

गीता एक ऐसा महाकाव्य है जिसका गायन श्रीभगवान ने स्वयं अपने मुखारविंद से गाया है। इस गीता का स्वाध्याय और मनन करने के बाद अन्य कोई और ग्रंथ या शास्त्र को पढ़ने कि जरूरत नहीं होती है। श्रीकृष्ण द्वैपयान व्यास जी स्वयं भगवान के 24 अवतारों मे से एक अवतार है, उन्होने ही महाभारत जैसे महाकाव्य कि रचना की है। महाकाव्य महाभारत में कुल 18 पर्व है जिसमें छटा पर्व भीष्म पर्व है, श्रीमदभगवद्गीता भीष्म पर्व का ही अंग है। महाभारत की तरह श्रीमदभगवद्गीता में भी 18 अध्याय और 700 श्लोक है। परंपरा से यह ज्ञान सबसे पहले सूर्य को मिला था, जिनके पुत्र वैवस्वत मनु थे। गीता की गणना उपनिषदों में की जाती है, इसलिए इसे गीतोपनिषद भी कहा जाता है। श्री वेदव्यास जी ने श्रीमदभगवद्गीता माहात्म्य में कहा है-

सर्वोपनिषदों गावो दोग्धा गोपालनंदन:।
पार्थो वत्स: सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत॥

अर्थात सभी उपनिषद गौ माता के समान है, उन गायों को दुहने वाले भगवान श्री कृष्ण गोपालनंदन है। भगवान के परम सखा पार्थ अर्जुन गीता के ज्ञानरूपी अमृत को पीने वाले है।

व्यवहारिक जीवन में "आत्मसंयमयोग" की भूमिका – इस पूरे ब्रह्मांड में अगर कोई श्रेष्ठ योनि है तो वो मानव योनि है। मानव ही एक ऐसा प्राणी है जिसके अंदर विवेक है। विवेक के माध्यम से मानव इतनी तरक्की के सीढ़िया चढ़ चुके है कि अब वह अपने स्वयं के द्वारा बनाए हुए वस्तु विशेष और संबंध में आसक्त हो गए है। आसक्ति ही समस्त दु:खो का कारण है, जिससे हमारी भावनाएं भी दूषित हो जाती है। भावना के विषय में वेद मूर्ति श्री राम शर्मा आचार्य कहते है – भावना जब उत्कृष्ट होती है तो भक्ति बनती है। श्रद्धा, प्रेम, उदारता, प्रफुल्लता, साहस, उत्साह, आशा आदि के रूप में यह उत्कृष्ट भावना ही दिखाई देती है। जब यह गिरती है तो वासना बनती है। भगवान कहते है-

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृत चेतसाम।
व्यवसायात्मीका बुद्धि: समाधौ न विधीयते॥ 2.44॥

भोग और एश्वर्य में आसक्त रहने वाले लोगो की बुद्धि मारी जाती है, उन्हे सही और गलत का भान नहीं होता, आसक्ति के कारण वह न करने योग्य कर्म भी कर डालते है। इनकी बुद्धि न तो निश्चय वाली होती है और न वह समाधि में स्थिर हो सकती है। आसक्ति के कारण मनुष्य किसी भी हद तक जा सकते है। आसक्ति के कारण तन और मन दोनों असंतुलित हो जाता है। असंयमित मन मनुष्य को काम, क्रोध, लोभ, मोह, जैसे बुरी भावनाओं में फसा देती है जिसके कारण मन में पवित्र भावों का उद्भव नहीं हो पाता और निकृष्ट, नकारात्मक विचारो को जन्म देता है, बुद्धि भी ठीक से निर्णय नहीं ले पाती है। इसी प्रकार असंयमित तन से अनेकानेक रोग उत्पन्न होते है इसलिए भगवान श्री कृष्ण ने आसक्ति से छुटकारा पाने और जीवन में संतुलन, संयम बनाय रखने के लिए अर्जुन के माध्यम से सम्पूर्ण मानव समाज को आत्मसंयम योग का मार्ग बताया है। एक आदर्श परिवार और समाज की स्थापना के लिए प्रत्येक मनुष्य के व्यावहारिक जीवन मे संतुलन अति आवश्यक है। संतुलन ही जीवन की सुंदरता है। संतुलन का अर्थ संयम से है। व्यावहारिक जीवन मे संतुलन हेतु सबसे पहले मनुष्य को आसक्ति का त्याग करते हुए शरीर के अंग विशेष को संयमित करना चाहिए। जिव्हा स्वाद वश किसी भी विशेष प्रकार के भोजन में आसक्त होने के कारण अधिक मात्र में ग्रहण कर लेता है जिसके कारण शरीर में वात, पित्त, कफ का संतुलन बिगड़ जाता है और अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते है । इसलिए शरीर को संतुलित करने हेतु जिव्हा पर संयम अति आवश्यक है। सही समय में, शुद्ध सात्विक तथा पौष्टिक आहार से शरीर में संतुलन बना रहता है। इसी प्रकार मन के असंयमित होने से विचारो का संक्रमण हो जाता है, बुरे विचार मन में लगातार उठते रहते है जिसकी वजह से मन में द्वेष, ईर्ष्या जैसे भाव उत्पन्न होने लगता है। मन कुंठित हो जाता है, आत्म विश्वास की कमी होने लगती। मन निरंतर चिंता, अवसाद जैसे विकारो से ग्रसित हो जाता है। तन और मन का संयम व्यावहारिक जीवन में अति आवश्यक है। मन में बीते हुए कल का शोक और आने वाले कल की चिंता इसी द्वंद से मुक्ति के लिए भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमदभगवद्गीता के छठे अध्याय आत्म संयम योग का मार्ग बताया है। आत्म संयम का अर्थ अपने आत्म अर्थात स्वयं का संतुलन है। अपनी चेतना को इंद्रियों से अलग करके ही आत्म संतुलन किया जा सकता है। आत्म संतुलन हेतु भगवान श्री कृष्ण ने सबसे पहले उपाय निष्काम कर्म योग बताया है, फल की इक्षा का त्याग करके ही व्यक्ति योग की ओर आगे बढ़ सकता है। भगवान कहते है कि-

आरूरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढ़स्य तस्यैव शम: कारणमुच्यते॥ 6.3॥

निष्काम कर्म योग से मन के अनावश्यक संकल्प समाप्त हो जाता है। इसलिए योग में आरूढ़ होने वाले व्यक्तियों के लिए संकल्पों का अभाव होना अति आवश्यक है। जब मनुष्य इंद्रियों के विषयों में या कर्म में आसक्त न हो और मन की सारी तरंगो को छोड़ दे, तब कहना चाहिए कि उसने योग साधा है । मनुष्य अपने जीवन में कर्म करने के लिए स्वतंत्र है ,वो जो चाहे जैसा चाहे कर सकता है और उसी के अनुरूप वह कर्म फल भी भोगता है। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। भगवान भी उन्हे कर्म करने के लिए बाध्य नहीं करते है। लेकिन फिर भी मनुष्य अज्ञानता वश भगवान को ही दोष देते है,कि भगवाने तूने मेरे साथ गलत कर दिया, जबकि वह कर्म करने के लिए स्वतंत्र है। लेकिन तन और मन में संयम न होने के कारण वह न करने योग्य कार्य भी कर देता है जिसके कारण वह व्यथित हो जाता है। इसलिए भगवान ने कहा है कि मनुष्य स्वयं अपना मित्र और शत्रु दोनों है। भगवान कहते है-

उद्धरेदात्मनात्मानं
नात्मानमवसादयेत ।
आत्मैव ह्यात्मनों बंधुरात्मैव रिपुरात्मन:॥ 6.5॥

यदि मनुष्य अपने जीवन का उद्धार स्वयं कर लेता है तो वह अपना ही मित्र बन जाता है और कर्तव्य कर्म को छोडकर न करने योग्य कर्म करता है तो वह स्वयं का शत्रु बन जाता है। मन की गति वायु से भी तेज है, पल-पल में स्थान परिवर्तित करने वाला तथा सकारात्मक एवं नकारात्मक विचारों का सृजन करने वाला मन ही स्वयं आत्मा का उद्धार कर सकता है। यदि मन ईश्वर के चरणों का ध्यान करने लगे और स्वार्थ, आसक्ति का त्याग कर दे तो वह स्वयं का मित्र बन जाएगा और जीवन को उत्कृष्ट मार्ग पर ले चलेगा लेकिन यदि यही मन नकारात्मक भावनाओं के संपर्क में आ करके निकृष्ट कार्य करने लगे तो वह स्वयं का शत्रु भी बन जाता है और जीवन को अधोगति प्रदान कर देता है इसलिए मन को संयमित कर जीवन को संयमित किया जा सकता है। मन ही हमारे मित्र है और मन ही हमारी शत्रु है। वर्तमान मानव समाज में इसी असंयमित मन के कारण परिवार में क्लेश, कलह, द्वंद जैसी घटनाएँ प्रतिदिन घट रही है। घर में नकारात्मक व्यवहार के कारण वातावरण में भी नकारात्मक ऊर्जा का संचार होने लगा है। प्रत्येक मनुष्य स्वयं का शत्रु बन गया है यही कारण है कि आज हमारे समाज में आत्महत्या का मामला बहुत अधिक बढ़ गया है। इस असंयमित मन को विषयों से दूर आसक्ति से मुक्त करने के लिए भगवान् ने प्राणायाम का मार्ग बताया है। जिससे चित्त और इंद्रियाँ संयमित रहेंगी।

स्पर्शांकृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रूवों:।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यंतरचारिणौ॥5.27॥

भगवान अर्जुन को निमित्त बनाकर समस्त मानव को प्राणायाम की यह विधि बताते जिससे मन संयमित, विषयों से मुक्त और नकारात्मक भावनाओं, क्रियाओं से दूर रहकर अंतर्मुखी हो जाते है। अपनी दृष्टि को दोनों भवों के मध्य भृकुटी में स्थिर रख कर अपनी चेतना स्वास-प्रस्वास पर रखे और धीरे-धीरे अपने स्वास की गति में चल रहे सोहम की ध्वनि में ध्यान केन्द्रित करे। ऐसा करने से मन की चंचलता स्थिर हो जाती है, इंद्रियाँ संयमित हो जाती है और बहिर्मुख मन अंतर्मुखी हो जाती है।

निष्कर्ष- इस अस्थायी जगत में हम अपनी यात्रा के दौरान हमारे अन्त: करण का स्वर सदैव हमारे साथ होता है। हम सभी ने अनुभव किया है कि हमारे अंदर सकारात्मक और नकारात्मक विचार सदैव उठते रहते है और यह सब अन्त:करण से होता है। अन्त: करण अर्थात मन। मन ही यादों और अनुभवो का गोदाम है। जो व्यक्ति को विभिन्न विकल्प देते रहता है। अनियंत्रित मन इस संसार में उद्विग्न, भ्रमित, बांधता है एवं हमे काम, क्रोध लोभ रूपी निम्न प्रवृतियों के सामने झुकने के लिए मजबूर करता है। दूसरी ओर नियंत्रित मन हमारी आध्यात्मिक यात्रा पर एक मित्र का कार्य करती है। वह उन्नतिशील एवं सकारात्मक विकल्प चुनने में साहयता करता है

जो हमें भगवान के निकट ले आते है। मन पर नियंत्रित करके तथा उसके साथ मित्रता करके व्यक्ति शांति तथा सुख- दःख के द्वंद से मुक्ति का अनुभव करता है। हम श्रीमदभगवद्गीता के छठे अध्याय आत्मसंयम योग के माध्यम से अपने व्यावहारिक जीवन में मन को संयमित और नियंत्रित करने का गुर सीखते है जिससे हमारे अंदर भावनाएं पवित्र और विचार सकारात्मक बने और जीवन में क्लेश, द्वंद जैसे निकृष्ट भावनाओं से निजात पाते है।

संदर्भ सूची-

1.महर्षि वेदव्यास, 2017, महाभारत, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ 36

2. महर्षि वेदव्यास, 2015, श्रीमद्भगवद्गीता महात्म्य सहित, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ 8

3. डॉ प्रणव पण्ड्या, 2016, योग के वैज्ञानिक प्रयोग, श्री वेद माता गायत्री ट्रस्ट, पृ.53

4.जयदयाल गोयंदका, 55 वां संस्करण, श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस गोरखपुर, पृष्ठ 85

5. श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्द , 2022, यथार्थ गीता, जॅक प्रिंटर्स, पृष्ठ 145

6. महात्मा गांधी, 2020, गीता माता, प्रभात पेपरबैक्स, पृष्ठ 38

7. जयदयाल गोयंदका, 55 वां संस्करण, श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस गोरखपुर, पृष्ठ 246

8. श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्द , 2022, यथार्थ गीता, जॅक प्रिंटर्स, पृष्ठ 140

☆☆☆

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में "कर्मयोग" की भूमिका: श्रीमद्भगवद्गीता के विशेष संदर्भ में

रुखमणी साहू,
शोधार्थी, शारीरिक शिक्षा व योग विभाग, मैट्स यूनिवर्सिटी, रायपुर
डॉ॰ सुनील कुमार मिश्र,
सहायक प्राध्यापक, शारीरिक शिक्षा व योग विभाग, मैट्स यूनिवर्सिटी, रायपुर

सारांश- एक लाख श्लोको से सुसज्जित महाकाव्य महाभारत जिसकी रचना अक्षय तृतीया के दिन महर्षि वेदव्यास के निर्देशन में भगवान श्री गणेश जी के द्वारा की गयी थी, के भीष्म पर्व से विश्वविख्यात ग्रंथराज श्रीमदभगवद्गीता का उद्भव हुआ है। श्रीमदभगवद्गीता हमारे धर्मग्रंथों का एक अत्यंत तेजस्वी और निर्मल हीरा है। पिंड-ब्रह्मांड-ज्ञानसहित आत्मविद्या के गूढ और पवित्र तत्वों को थोड़े में और स्पष्ट रीति से समझा देने वाला, उन्ही तत्वों के आधार पर मनुष्य मात्र के पुरुषार्थ की, अर्थात आध्यात्मिक पूर्णावस्था की पहचान करा देनेवाला, भक्ति और ज्ञान का मेल करा करके इन दोनों को शास्त्रोक्त व्यवहार के साथ संयोग करा देने वाला तथा इसके द्वारा संसार से त्रस्त मनुष्य को शांति देकर उसे निष्काम कर्तव्य के आचरण में लगाने वाला गीता के समान बालबोध ग्रंथ कोई दूजा हो ही नहीं सकता। किंकर्तव्यविमूढ़ अर्जुन को भगवान श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र के मैदान में महाभारत युद्ध के पहले मार्गशीर्ष महीने के एकादशी तिथि, दिन रविवार को 18 अध्याय और 700 श्लोको के रूप में ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग का उपदेश दिया। योग के विविध आयाम ज्ञानयोग जिसे संख्यायोग भी कहा जाता है, में विवेक की प्रधानता होती है, भक्तियोग में श्रद्धा की प्रधानता होती है, और कर्मयोग में निश्चयात्मक बुद्धि की प्रधानता होती है, का विस्तृत वर्णन है, इसलिए इस ग्रंथ को योगशास्त्र भी कहा जाता है। योग स्व में स्थित होने का ज्ञान-विज्ञान है, इसलिए भगवान श्रीकृष्ण को योगेश्वर कहा जाता है। श्रीभगवान के मुखारविंद से गाया हुआ यह गीत उपनिषदों के अंतिम सार होने के कारण इसे "गीतोपनिषद" भी कहा जाता है। श्रीमदभगवद्गीता कोई साधारण किताब या ग्रंथ मात्र नहीं है अपितु यह मानव जीवन को कुपथ से सुपथ का मार्गदर्शन कराने वाली भारतीय संस्कृति की आधारशीला है। वर्तमान परिवेश को देखते हुए मैंने प्रस्तुत शोध-पत्र में फल आशा त्याग कर निष्काम कर्म को अपने व्यावहारिक जीवन में आत्मसात करने के उद्देश्य से श्रीमदभगवद्गीता में वर्णित कर्मयोग का समावेश किया है। अनासक्त कर्मयोग को अपने व्यावहारिक जीवन में उतार कर निश्चित रूप से कर्मबंधन(दु:ख) से छुटकारा पाया जा सकता है।

मूलशब्द – श्रीमदभगवद्गीता, कर्मयोग, व्यवहारिक जीवन में कर्मयोग की भूमिका

प्रस्तावना – धर्म और अधर्म की लड़ाई केवल आज का प्रसंग नहीं है, अपितु यह सनातन परंपरा है। भारत के इतिहास में कई ऐसे युद्ध हुए है जिसमें जीत हमेशा धर्म की ही हुई है। प्रकृती त्रिगुणात्मक है और उसी के अनुरूप प्रत्येक जीव अपने-अपने कर्म में प्रवृत रहते है। जब-जब मन में तमोगुण और रजोगुण की अधिकता हुई है तब-तब निषिद्ध कर्म का जन्म हुआ है और अधर्म की उत्पत्ति हुई है। निषिद्ध कर्म का मूल अज्ञान है। हमें किस प्रकार का कर्म करना चाहिए इस बात का विवेक अगर हो तो किसी भी प्रकार के कर्मबंधन(क्लेश,कलह) की उत्पत्ति नहीं होगी। हम पौराणिक युद्ध महाभारत की ओर दृष्टिपात करे तो पता चलता है कि दुर्योधन के निषिद्ध कर्म, काम्यकर्म के कारण ही समस्त कौरवों का नाश हुआ है। किसी भी कर्म को करने में कुशलता तभी संभव जब कर्मफल में आसक्ति न हो और वह कर्म ईश्वर के प्रति समर्पण भाव से किया गया हो। अर्जुन ईश्वर के भक्त होने के साथ-साथ उनके परम मित्र तथा विवेकी भी थे, इसलिए उन्होने श्री भगवान से पूछा कि मुझे किस प्रकार का कर्म करना चाहिए? श्री भगवान

ने अर्जुन को निष्काम कर्मयोग का उपदेश दिया और अर्जुन ने उसका अनुसरण किया तथा युद्ध में विजयी हुए। आज हम जिस युग में जीवन यापन कर रहे है, उस युग को आधुनिकयुग कहा जाता है। आधुनिकयुग का तात्पर्य संसाधनो का भरपूर उपयोग, नए-नए तकनिकों का निर्माण, आधुनिक जीवन शैली, चारो तरफ भागम-भाग, ऐसा ही परिलक्षित हो रहा है। हर मनुष्य नए-नए संसाधनो का सुख भोगना चाहता है, अनेकों कामनायेँ मन में लिए घूम रहा है। किन्तु कामनाओं की पूर्ति तभी संभव है जब मनुष्य कर्म करे, बिना कर्म किए तो भोजन भी मुख तक नहीं पहुँच सकता। व्यवहारिक जीवन में सुख सुविधाओ की पूर्ति के लिए मनुष्य को कर्म करने की नितांत आवश्यकता है। परंतु किस प्रकार का कर्म करना चाहिए, का ज्ञान नहीं होने के कारण कर्मबंधन में फंस रहते है। वर्तमान परिपेक्ष्य कि ओर दृष्टि कि जाए तो प्रत्येक मनुष्य कर्मबंधन में फसकर दु:ख रूपी परिणाम को भोग रहे है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य कर्मफल की आशा से कार्य करते है, जिसे सकाम कर्मयोग कहा जाता है। वास्तव में मनुष्य को कर्म नहीं बांधता कर्म से जुड़ी आशाए उसे बांधती है। जब तक आशाओ की पूर्ति नहीं होती जीव जन्म-मृत्यु के बंधन में बंधे रहते है। हमें अपने व्यवहारिक जीवन में किस प्रकार के कर्म करना चाहिए, इस बात का ज्ञान आज से 5500 वर्ष पहले भगवान श्री कृष्ण ने श्रीमदभगवद्गीता के तीसरे अध्याय कर्मयोग में अर्जुन को बता चुके है, इसका अनुसरण करना अर्जुन की भांति हमारे लिए भी अत्यंत आवश्यक है। श्रीमदभगवद्गीता, ज्ञान का विशाल समुद्र है जितना गोता लगाएंगे उतना ही नित-नवीन ज्ञान की मोती प्राप्त करेंगे।

श्रीमदभगवद्गीता का परिचय - श्रीमदभगवद्गीता की महिमा अपार है यह किसी प्रकार के परिचय का मोहताज नहीं है या यूं कहे कि हममें इतना सामर्थ्य नहीं है कि हम इनका परिचय या बखान कर सके। श्रीमदभगवद्गीता भगवान श्रीकृष्ण के मुख से गाया हुआ वह गीत है जो आज भी उतनी ही प्रासंगिक और उपयोगी है जितना पौराणिक काल में था। यह ग्रंथ वैदिक धर्म के भिन्न-भिन्न संप्रदायों में वेद के समान करीब ढाई हजार वर्षो से सर्वमान्य तथा प्रमाणस्वरुप हो गया है, इसका कारण भी उक्त ग्रंथ का महत्व ही है। इसलिए गीता-ध्यान में इस स्मृतिकालीन ग्रंथ का अलंकारयुक्त, परंतु यथार्थ वर्णन इस प्रकार किया गया है-

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनंदन:।
पार्थो वत्स: सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत।।

अर्थात जितने उपनिषद है, वे मानो गौएं है, श्रीकृष्ण स्वयं दूध दुहने वाले ग्वाला है, बुद्धिमान अर्जुन उन गौओ को पंहानेवाला, भोक्ता बछड़ा(वत्स) है और जो दूध दुहा गया, वही मधुर "**गीतामृत**" है। महाकाव्य महाभारत के भीष्म पर्व का हिस्सा श्रीमदभगवद्गीता 18 अध्याय और 700 श्लोको से सुसज्जित है। महाभारत युद्ध के पहले किंकर्तव्यविमूढ़ अर्जुन को सही दिशा दिखाने के लिए श्री भगवान ने मार्गशीर्ष महीने के एकादशी तिथि, दिन रविवार को कुरुक्षेत्र के मैदान में कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग का उपदेश दिया। श्रीमदभगवद्गीता का इतिहास बहुत ही मार्मिक है। इस ग्रंथ में सब उपनिषदों का सार है, इसलिए इसे "**गीतोपनिषद**" भी कहा जाता है। अर्जुन से पहले गीता का उपदेश भगवान श्रीकृष्ण ने सूर्यदेव विवस्वान को दिया और विवस्वान ने मनुष्यों के पिता मनु को उपदेश दिया और मनु ने इसका उपदेश इक्ष्वाकु को दिया। श्रीभगवानुवाच-

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययं।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेब्रवीत।।4.1।।

महाभारत में (शांतिपर्व ३४८.५१-५२) हमें गीता का इतिहास इस रूप में प्राप्त होता है-

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान्मनवे ददौ।
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाक्वे ददौ।
इक्ष्वकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थित:।।

त्रेतायुग के आदि में विवस्वान ने परमेश्वर संबंधी इस विज्ञान का उपदेश मनु को दिया और मनुष्यों के जनक मनु ने इसे अपने पुत्र इक्ष्वाकु को दिया। इक्ष्वाकु इस पृथ्वी के शासक थे और उस रघुकुल के पूर्वज थे, जिसमें भगवान श्री राम ने अवतार लिया। इससे प्रमाणित होता है कि मानव समाज में महाराज इक्ष्वाकु के काल से ही भगवद्गीता विद्यमान थी।

कर्मयोग – श्रीमदभगवद्गीता के तीसरे अध्याय में कर्मयोग कि व्याख्या की गयी है। कर्म शब्द 'कृ' धातु में 'अन' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है क्रिया, व्यापार, हलचल, प्रारब्ध, तथा भाग्य आदि। महर्षि जैमिनी के मतानुसार अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म होता है। जिस कर्म में कर्ता की क्रिया का फल समाहित होता है, वही कर्म कहलाता है। दूसरे शब्दो में जिस क्रिया का अनुष्ठान सम्पन्न किया जाता है, वही कर्म है। सभी क्रियायेँ कर्म नहीं कहलाती है, जिसके साथ हमारा भाव और संकल्प, इच्छाएं और भवनाएं जुड़े हुये होते है, वे ही कर्म कहलाते है। श्रीमदभगवद्गीता के अनुसार कर्म के तीन प्रकार होते है – कर्म, अकर्म, विकर्म

कर्म – शास्त्रो में बताए गए कर्मो का अनुसरण कर योग मार्ग में आगे बढ़ना कर्म कहलाता है।

अकर्म- अनासक्त भाव से किए जाने वाले कर्मो को अकर्म कहते है।

विकर्म- गलत भाव से किया गया कर्म विकर्म कहलाता है।

चूंकि श्रीमदभगवद्गीता उपनिषदों का सार है इसलिए इसे गीतोपनिषद कहते है। उपनिषद में कर्म के तीन प्रकार बताए गए है- संचित कर्म, क्रियामाण कर्म, प्रारब्ध कर्म।

संचित कर्म- पूर्व जन्म में किए गए कर्मो का एकसाथ संचित रहना संचित कर्म कहलाता है।

क्रियामाण कर्म- वह कर्म जिसके द्वारा हम अपने जीवन क्रम को चलते रहते है।

प्रारब्ध कर्म – संचित कर्म का परिणाम प्रारब्ध कर्म है, प्रारब्ध यानि पिछले जन्म का संस्कार जो बलवान बन कर सामने आते है।

व्यवहारिक जीवन में कर्मयोग की भूमिका - सृष्टि के सृजन से लेकर अब तक जीतने भी प्राणियों का जन्म हुआ है, का जीवन क्रम कर्मो के माध्यम से चलता आ रहा है। पृथ्वी पर जन्मे कोई भी व्यक्ति क्षण मात्र के लिए भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता उन्हे व्यावहारिक जीवन में कुछ न कुछ कर्म करना ही पड़ता है। यदि कोई शरीर से कुछ भी नहीं करता तो उन्हे अकर्मण्य नहीं कह सकते क्योंकि उनके मन में निरंतर कुछ न कुछ चलते रहता है अत: मन, वचन, कर्म से व्यक्ति निवृत नहीं हो सकता, उन्हें किसी न किसी रूप में कर्म करना ही पड़ता है। श्रीमदभगवद्गीता के तीसरे अध्याय के पांचवे श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण कहते है-

न हि कश्चित क्षणमपि जातु निष्ठत्य कर्म कृत।
कार्यते हावश: कर्म सर्व: प्रकृतिजैर्गुण: ।।3.5।।

कोई भी मनुष्य किसी भी काल में एक क्षण मात्र के लिए भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता। प्रत्येक मानव समुदाय को प्रकृति जनित गुणो के कारण कर्म करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। अर्थात कर्म करना प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक नियम है। जिस क्रिया में हमारा संकल्प और भाव जुड़े होंगे वही 'कर्म' है। मनुष्य का जीवन कर्म प्रधान है। श्रीरामचरित मानस में गोस्वामी तुलसी दास जी कहते है

कर्म प्रधान विश्व रची राखा।
जो जस करही सो तस फल चाखा।।

सम्पूर्ण विश्व प्रकृती के तीन गुणो के कारण कर्म करने के लिए बाध्य होता है। हालांकि उन्हे कौन-सा कर्म करना चाहिए? इस बात का ज्ञान मनुष्य को भी अर्जुन की तरह पता नहीं है। और इसी अनभिज्ञता के कारण मनुष्य प्रत्येक कर्म को आसक्त भाव से, विषयों में लिप्त होकर करता है। किन्तु वह भूल जाता है आसक्ति का परिणाम कर्मबंधन (दु:ख) है। वर्तमान परिवेश में कुछ ऐसा ही दृश्य परिलक्षित हो रहा है। आज के परिदृश्य में प्रत्येक मनुष्य आसक्त भाव से कर्म कर रहा है, समस्त ज्ञानेन्द्रियां और

कर्मेन्द्रियां मोह और विषयों में लिप्त है। हमारा जीवन सेवा के लिए है भोग के लिए नहीं है। अतः इस जीवन को यज्ञमय बना डालना उचित है, पर इतना जान लेने भर से वैसा हो जाना संभव नहीं हो जाता। जानकार आचरण करने पर हम उत्तरोत्तर शुद्ध होते जाएंगे। पर सच्ची सेवा क्या है, यह जानने को इंद्रिय दमन आवश्यक है। जब तक इंद्रियों में संयम और राग-द्वेष से निवृत नहीं होगी कर्मों में आसक्ति बना रहेगा, आज हमारी दशा भी कुछ अर्जुन की तरह है। भगवान ने अर्जुन को निमित्त बनाकर कलयुग के प्रत्येक मनुष्यों के लिए गीता के तीसरे अध्याय के 8वें श्लोक कहते है-

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेर्जुन
कर्मेन्द्रियै: कर्मयोगमसक्त: स विशिष्यते॥3.8॥

मन को अपने वश में करके कर्मेन्द्रियों द्वारा किए जाने वाले कर्म किसी भी प्रकार के कर्म बंधन में नहीं पड़ते। जिस मनुष्य का मन उसके वश में है और इंद्रिय संयमित है उसके द्वारा अच्छा ही कर्म किया जाएगा, वह कर्म बंधन से मुक्त हो जाएगा। इसलिए मनुष्य को प्रत्येक कर्म अनासक्त भाव से, इंद्रियों को विषय भोगो से हटाकर राग द्वेष से रहित होकर करना चाहिए तभी कर्मो में कुशलता आएगी। किन्तु वर्तमान समय में इस प्रकार के कर्म सिर्फ कल्पना मात्र रह गया है क्योंकि आज परमार्थ का भाव मनुष्य में नहीं रह गया सिर्फ स्वार्थ मूलक कर्म ही शेष रह गया है। स्वार्थ भाव से किए गए कर्म को गीता में भगवान ने पापकर्म कहा है, इसलिए प्रत्येक कर्म ईश्वर को समर्पित करते हुए लोकहित में करना चाहिए तब वह कर्म यज्ञ के समान होगा और उसका परिणाम भी सकारात्मक होगा। गीता में श्री कृष्ण अर्जुन के माध्यम से कलयुग के मनुष्य को बता रहे है, परिणाम की चिंता किए बिना प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्तव्य कर्म का निर्वहन अवश्य करना चाहिए क्योंकि मनुष्य का अधिकार केवल कर्म करने में है उसके परिणाम में नहीं। इसीलिए श्रीमदभगवद्गीता के दूसरे अध्याय के 47 श्लोक में भगवान कहते है-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
माकर्मफल हेतुर्भुर्मा त संगोस्त्वकर्मणि॥2.47॥

अर्थात मनुष्य का अधिकार सिर्फ उसके कर्म करने में है, उसके फलो में कभी नहीं। इसलिए मनुष्य को कर्मो के फल का हेतू नहीं होना चाहिए। मनुष्य को कर्म करने की इच्छा का नहीं बल्कि आसक्ति का त्याग करना चाहिये। परिणाम की इच्छा के बिना तो कोई भी कार्य नहीं जा सकता। इसलिए स्वाभाविक इच्छा अवश्य संभावी और आवश्यक भी है। निषेध उस आसक्ति का है जिसके लोभ से कार्य प्रणाली के गुण-दोषो की ओर से आंखे बंद हो जाती है। कर्मो के परिणाम में आसक्ति रखने पर मन, बुद्धि, इंद्रिय विषयो के अधीन होकर कर्मबंधन में फंस जाते है। राग द्वेष में लिप्त, विषयों के वशीभूत मनुष्य को सकारात्मक परिणाम नहीं मिलने पर उनके मन में उद्विग्नता पैदा हो जाती। क्योंकि कोई भी कर्म कामना के निमित्त किए जाने पर मन में क्रोध, लोभ, मोह का जन्म होता है जो कि मनुष्य के सर्वनाश का कारण है।

प्रकृति जन्य रजोगुण के कारण ही मनुष्य कामना का त्याग नहीं कर पाता और विषयो के दलदल में फँसते जाता है जिसका परिणाम केवल दुख ही होता है इसलिए मनुष्य को कामनाओ का त्याग कर कर्तव्य कर्म करना चाहिए। कर्तव्य कर्म करने के पश्चात परिणाम जो भी हो सफलता-निष्फलता दोनों स्थिति में मनुष्य को समभाव रखना चाहिए। तभी वह योगी पुरुष कहलाएगा।

योगस्थ: कुरु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयो: समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥2.48॥

निष्काम कर्म करते हुए ही मनुष्य अपने जीवन में संतुलन(समभाव) ला सकता है। इसलिए गीता हमें यज्ञ कर्म अर्थात सुकृत कर्म करने को प्रेरित करती है। दुसकृत कर्म अर्थात न करने योग्य कर्म हमें बंधन में बांधती है, जिसका परिणाम केवल दु:ख (कर्मबंधन) ही होता है।

निष्कर्ष – श्रीमदभगवदगीता हमें कर्म करना सिखाती। जीवन में संघर्ष करना सिखाती है, कायरों की तरह कर्मो से भागना नहीं। गीता में भगवान ने अर्जुन को निमित्त बनाकर समस्त सांसारिक मनुष्य को अनासक्तकर्म अर्थात न कर्मो में आसक्ति और न ही विरक्ति, करने के लिए प्रेरित करती है। अपने व्यावहारिक जीवन से कामनाओ का त्याग करके निष्काम कर्म करते हुए जीवन मुक्ति की प्राप्ति करना चाहिए। और यह तभी संभव है जब हम अपने धर्म में रहकर कर्तव्य कर्म का पालन करे। हमें जीवन मुक्ति के लिए निष्काम कर्म अवश्य करना चाहिए पर किसी ज्ञानी व्यक्ति के सानिध्य में रहकर, गीता के ज्ञानकर्मसन्यास योग से हमें यही प्रेरणा मिलती है। मनसा, वाचा, कर्मणा तीनों प्रकार के कर्म ईश्वर को समर्पित करने से वह कर्म नहीं अपितु यज्ञ बन जाता है, जिसका परिणाम निश्चित रूप से सकारात्मक और पुण्य होगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची –

1. महर्षि वेदव्यास, 2015, श्रीमदभगवद्गीता महात्म्य .सहित, गीता प्रेस गोरखपुर पृ 8

2.जयदयाल गोयंदका, 55 वां संस्करण, श्रीमदभगवद्गीता, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ 95

3.श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ा नन्द , 2022, यथार्थ गीता, जॅक प्रिंटेर्स, पृ 69

4.जयदयाल गोयंदका, 55 वां संस्करण, श्रीमदभगवद्गीता, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ 23

5.जयदयाल गोयंदका, 55 वां संस्करण, श्रीमदभगवद्गीता, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ 70

6.जयदयाल गोयंदका, 55 वां संस्करण, श्रीमदभगवद्गीता, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ 88

7.जयदयाल गोयंदका, 55 वां संस्करण, श्रीमदभगवद्गीता, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ 90

★★★

"कृत्रिम बुद्धि बनाम मानवता"

मनोजकुमार शर्मा
सहायक प्राध्यापक,
हिंदी विभाग
श्री एम. डी. शाह महिला महाविद्यालय,
मालाड, मुंबई
संपर्क : 9769068306/ smanoj475@gmail.com

मनुष्य ने अपनी बौद्धिक क्षमता के बल पर अपना सर्वांगीण विकास किया है। इसी विकास और परिवर्तन के कारण समाज में सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांप्रदायिक, तकनीकी आदि विभिन्न प्रकार के तत्वों का जन्म देखा गया है। मनुष्य की इच्छा शक्ति इतनी विशाल और तीव्र है कि वह उसे नये खोज और अन्वेषण के लिए सदैव लालाहित करती है। ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि इसी इच्छाशक्ति की वजह से वह स्वयं को भाग्यविधाता घोषित करने में लग गया है। जिसका जीवंत उदाहरण है ;' रोबोटिक वर्ल्ड' यानी 'रोबोट की दुनिया' और इसी विषय से जुड़ा हुआ विषय है - कृत्रिम बुद्धि।

'आर्टिफ़िशियल इन्टेलिजन्स' यानी कृत्रिम बुद्धि का आरंभ 1950 के दौरान ही चर्चा में आ गया था लेकिन 1981 में जापान में 'फिफ्थ जनरेशन' नामक योजना के तहत इस पर पहल की गयी। Artificial Intelligence के जनक 'जॉन मैकार्थी' के अनुसार यह बुद्धिमान मशीनों एवं विशेष रूप से कंप्यूटर प्रोग्राम को बनाने का विज्ञान है। इसका उद्देश्य ही मनुष्य की बुद्धि की तरह कृत्रिम बुद्धि तैयार करना है। अलबत्ता जिस तरह हमारा मानव मस्तिष्क काम करता है हूबहू ठीक उसकी तरह का कार्य अब Artificial Intelligence द्वारा सम्भव हो सकेगा। यद्यपि आज के समय में Artificial Intelligence विषय बहुत ही जीवंत है। इस कारण हम इस आलेख में उसके कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों पर वैचारिक प्रकाश डालेंगे।

विश्व प्रसिद्ध सर्च इंजन गूगल जैसी कम्पनी ने भी इसकी महत्ता को समझा है इसलिए उसने चीन में अपना 'अनुसंधान कार्यालय' खोला, जिसमें उद्देश्य Artificial Intelligence की उपयोगिता को बढ़ावा देना और उसकी महत्ता को दुनिया तक पहुँचाना है। Artificial Intelligence का उपयोग व्यवसाय, शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, बैंक, यातायात आदि क्षेत्रों में महत्वपूर्ण रूप से देखा जा सकता है। विश्व के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने के लिए हमारे भारत देश ने भी कृत्रिम बुद्धि का लोहा माना है। Artificial Intelligence की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए नीति आयोग के उपाध्यक्ष राजीव कुमार ने अपनी अध्यक्षता में 480 मिलियन डॉलर सहयोग राशि दी। ताकि भारत भी Artificial Intelligence जैसे मुद्दों पर अपना शोध कार्य प्रस्तुत करते हुए। विश्व में अपने अस्तित्व की पहचान कायम करें। कृत्रिम बुद्धि पर हो रहे कार्य को देखकर ऐसा कहा जा रहा है कि 2045तक मशीनें स्वयं ही सीखकर स्वयं कार्य करने में सक्षम हो जाएगी।

मानव जीवन के काल चक्र का निर्धारण या मापन करने का पैमाना अतीत, वर्तमान और भविष्य को माना जाता है। 'कृत्रिम बुद्धि मानवीय मस्तिष्क का हूबहू कॉपी है।' ऐसा कहा जाना गलत नहीं होगा किन्तु वहीं अगर उसके प्रभाव एवं परिणाम की बात करें तो हम पायेंगे कि कृत्रिम बुद्धि के कारण मनुष्यता, मानवीय मूल्य और मानवीय गुणों का पतन होना सुनिश्चित है। इस बात की पुष्टि हम हालही में घटी घटना के आधार पर कर सकते हैं। नवंबर, 2023में प्रसिद्ध भारतीय अभिनेत्री रश्मिका मंदाना की कृत्रिम अश्लील तस्वीर जगभर चर्चा का विषय बनी हुई थी। बहुत खोज-बीन करने के बाद पता चला कि वह अश्लील तस्वीर Artificial Intelligence टूल की सहायता से तैयार किया गया था। इस बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसके प्रयोग से निस्संदेह ही मानवीय मूल्य और मानवीय अधिकारों का भकक्षण होगा। आधुनिक परिवेश में वैज्ञानिक, बुद्धिजीवी भले ही Artificial Intelligence की उपयोगिता सिद्ध करने में अपनी पूरी ताकत झोंक दें किन्तु वास्तविकता को झुठलाया नहीं जा सकता।

'Chatgpt' Artificial Intelligence का बहुत ही उपयोगी एवं उपलब्धिसंपन्न टूल है। उदाहरण स्वरूप अगर हम सिर्फ इसी टूल पर विचार कर लें, तो Artificial Intelligence के विषय पर आधिकारिक तौर विचार प्रस्तुत करने में सहायता प्राप्त होगी। हम Chatgpt को देखें तो पाएंगे कि वह एक ऐसा माध्यम है, जहाँ पलक झपकते ही हर तरह के विषय पर एक 'नया कंटेन्ट' तैयार होकर हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। उसके दुष्परिणाम की अगर हम बात करें तो हम देखने की उसकी उपयोगिता मनुष्य के वैचारिक, बौद्धिक एवं स्मरण कौशल को क्षति पहुँचा रही है। इस तरह कहा जा सकता है कि Artificial Intelligence के कारण मानवीय मस्तिष्क के साथ-साथ स्मरण शक्ति भी प्रभावित हुई है।

भारत में यहाँ एक समय 'श्रुति-श्रवण' पद्धति से शिक्षा दी जाती थी। और इसी वजह से भारत को विश्व गुरु का खिताब प्राप्त था। किंतु आज वह भी पाश्चात्य देशों का पिछलग्गू करते हुए AI टूल को सार्थक और महत्त्वपूर्ण समझने लगा है। विचार करने वाली बात यह है कि 'क्या सच में मनुष्यों को AI टूल और रोबोट यंत्र की आवश्यकता हैं?' कृत्रिम बुद्धि और रोबोट की उपयोगिता जाने और समझने के लिए हम सुपरस्टार राजनीकांत की फिल्म 'रोबोट' का उदाहरण ले सकते हैं। वह पूरी फ़िल्म इस मुद्दों को प्रस्तुत करने के लिए कारगर है। उस फिल्म के अंत में रोबोट द्वारा हुए क्षति को प्रकट किया गया है। फ़िल्म में हम देखते हैं कि रोबोट का बौद्धिक संतुलन खराब होने के कारण ही संपूर्ण मानव-जाति अतएव उसके सभी अधिकारी और मूल्य संकट के घेरे में खड़े हो जाते हैं। उसी फिल्म का दूसरा भाग 'रोबोट 0 '2.भी हमें रोबोट द्वारा निर्मित समस्या से अवगत कराता है। फ़िल्म का उद्देश्य यह बताना है कि हमें यानी मनुष्यों को रोबोट की आवश्यकता अनिवार्य रूप से नहीं हैं। जिस देश, समाज, धरातल पर मनुष्य बेरोजगारी जैसी समस्या से जूझ रहा है, उसी समाज में Artificial Intelligence जैसे यंत्र ने उसके दु:ख

को बढ़ाते हुए, आगे में घी जैसा काम किया है। Artificial Intelligence टूल के कारण अनुवाद, लेखक, संवाद लेखक, प्रेस विज्ञप्ति आदि जैसे नौकरीपेशा लोगों की नौकरियां खतरे में महसूस की जाने लगी हैं।

निष्कर्षत: वैज्ञानिकों का मानना है कि Artificial Intelligence टूल और रोबोट जैसे तंत्र मानव रक्षा एवं मानवता की भलाई के लिए है। जिसमें अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए वैज्ञानिक सेना के सिपाही के संरक्षण का हवाला देते हुए नजर आते हैं। लेकिन विचार करनेवाली बात यह भी है कि रोबोट जैसा यंत्र अपना मानसिक संतुलन खो बैठने के कारण दुनिया को अकल्पनीय क्षति पहुँचा सकता है। न्यूकिलर बम आविष्कार से मनुष्य ने जो सीख ली थी ; शायद वह उसे भूल गया। सन् 19339 से 1943 के द्वितीय विश्व युद्ध में न्यूकिलर बम ने अपनी सार्थकता का प्रदर्शन दे दिया था। और जब मनुष्य इस बात की सच्चाई से अवगत हुआ तब उसने उसपर रोक लगा दी। अतः उसे इस बात को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि गलत चीजों का आविष्करण कर उस पर रोक लगाने से अच्छा है कि उसका आविष्कार ही न किया जाए। मनुष्य की रक्षा के लिए सर्वश्रेष्ठ मंत्र है ; 'अहिंसा परमो धर्म'। इसके उद्देश्य को भूलकर किये गये सभी अन्वेषण मनुष्यता को नष्ट कर सकते हैं ,ऐसा कहना गलत नहीं होगा। इसलिए 'अहिंसा परमों धर्म ':का मंत्र ध्यान में रख कर ही वैज्ञानिकों , शोधकर्त्ता, बुद्धजीवियों, शिक्षाविदों आदि सभी को खोज करनी चाहिए तभी मनुष्य ,मनुष्यता एवं उसके अधिकार सुरक्षित रह सकें।

☆☆☆

रूसी भविष्यवाद के घोषणापत्र का अनुवाद और टिप्पणी

डॉ. संदीप यादव
अतिथि शिक्षक,
स्लावोनिक और फिन्नो-उग्रियन अध्ययन केंद्र, कला संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।
संपर्क – 8130848333,
sandeepchittorian@gmail.com

डॉ सुदर्शन राजा
सहायक क्षेत्रीय निदेशक,
क्षेत्रीय केंद्र, पोर्ट ब्लेयर, इग्नू, अंडमान और निकोबार द्वीप समूह।
संपर्क- 9999411839
sudarshanraja@gmail.com

रूसी आधुनिकतावाद में भविष्यवाद एक प्रमुख साहित्य की धारा रही है। हालाँकि इसकी शुरुवात इटली में 1909 ईस्वी में हुई थी जब इटली के साहित्यकार फ़िलिप मैरिनेटी (1876-1944) के द्वारा लिखी गई अभिव्यक्ति भविष्यवाद का साहित्यिक तकनीकी घोषणापत्र प्रकाश में आयी। इटली में भविष्यवाद की शुरुआत विश्व के अन्य स्थानों पर भविष्यवाद का उद्गम बिंदु कहा जा सकता है। भविष्यवादी आंदोलन की यह लहर इटली से यूरोप के विभिन्न देशों ख़ास कर रुस में *avant-grade* के रूप में आयी। भविष्यवाद शब्द की उत्पति इटालियन शब्द *futuro* से हुई, जिसका अर्थ होता है "भविष्य"। फ़िलिप मारीनेटी ने अपने घोषणापत्र में साहित्य के लेखन के लिये क्रांतिकारी बदलाव लाने का पैग़ाम दिया। जैसे की- वाक्यविज्ञान का विनाश, विशेषण और अव्यय का लेखनी में विनाश, कवि को साहित्य रचना में नये शब्द ईजाद करने की आज़ादी इत्यादि। भविष्यवाद का उद्देश्य समाज में हो रहे त्वरित बदलाव को कला के विभिन्न आयाम मुख्यतः पेंटिंग और साहित्य में उसके प्रभाव को दर्शाना था । जैसा की कि यू व रिचकोव कहते हैं भविष्यवादियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से तीव्र परिवर्तन को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया।

19 वीं शताब्दी के उतरार्द्ध में विज्ञान, स्वास्थ्य, तकनीक इत्यादि में आमूल और त्वरित परिवर्तन हुए, जिसका प्रभाव लोगों के रहन सहन और जीवन पर पड़ा। शहरीकरण प्रगति का प्रतीक बन गया था और शहरीकरण के साथ चौड़ी सड़कें, बड़ी इमारतें, आधुनिक मशीनें, गाड़ी और ट्राम, और चिकित्सा के झेत्र में बदलाव इत्यादि का आगमन हुआ। भविष्यवाद के प्रवर्तक इस विकास की गति से काफ़ी प्रभावित थे और उनका

मानना था कि अन्य साहित्यिक धाराएँ इस नये विकास को समझ नहीं पा रही हैं या इनको नज़रअंदाज़ कर रही हैं।20 वीं शताब्दी की शुरुआत को रूसी साहित्य में कविताओं का रजत युग माना जाता है। इस समय साहित्यिक धाराएँ जैसे की प्रतीकवाद और अक्मेज़्म भी फल फूल रहे थे और इनमें कई उत्कृष्ट रचनाएँ लिखी जा रही थी। इसी के साथ भविष्यवाद भी रूसी कविता साहित्य में अपने पैर जमाने का प्रयास कर रहा था। भविष्यवाद इन साहित्यिक विधाओं और इनके सौंदर्य को पूरी तरह नकारते हुए, साहित्य और समाज के प्रति एक नये सोच को पैदा करने की कोशिश करती है। जहां साहित्य में ख़ास कर कविताएँ प्रकृति, नायक-नायिकाओं की भावनाओं, कवि के अंतर्मन आदि पर केंद्रित होती थी, वहीं दूसरी तरफ़ भविष्यवाद में मशीन, गगनचुंबी इमारतें, विज्ञान और प्रोद्योगिकी में अभूतपूर्व सफलता के सौंदर्य पर ज़ोर दिया जाता है। सिर्फ़ यही नहीं, बल्कि भविष्यवाद का उद्देश्य समाज में व्याप्त किसी भी पारंपरिक व्यवस्था या मानक के ख़िलाफ़ अपना विरोध दर्ज कराना भी था। उदाहरण के लिए- वे रंगे हुए चेहरों के साथ या अजीब कपड़े पहने हुए (व. मायाकोवस्की - प्रसिद्ध पीली जैकेट में) मंच पर या किसी कार्यक्रम में सम्मिलित होते थे।

हालाँकि भविष्यवाद की शुरुवात इटली में हुई, लेकिन रुस में भविष्यवाद के प्रारूप और संरचना में काफ़ी बदलाव आ गया था। रुस में क्यूबो-भविष्यवाद या क्यूबो-फ्यूचरिज्म की उत्पति हुई, जो की क्यूबिस्म और फ्यूचरिज्म के परस्पर सहयोग से बना। मूलतः रुस में भविष्यवाद रूसी प्रतीकवाद के विरोध में आया था। प्रतीकवाद में शब्दों के अर्थों को प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया जाता था। प्रतिकवादियों की रचनाओं में शब्दों का अर्थ एक रहस्य और अस्पष्टता का भाव प्रकट करता था। भविष्यवाद के आगमन और विकास को 20वीं शताब्दी के शुरुआत में हो रहे तकनीकी और तीव्र शहरीकरण के सापेक्ष्य में देखा जा सकता है। मायकोवस्की को क्रांति से, आधुनिक और विशालकार निर्मितयों से मशीनरी और वास्तु निर्माणों से बहुत प्यार था। अधिकांश रूसी कवियों के विपरीत उनमें प्रकृति के प्रति कोई संवेदना नहीं थी। उनकी कविताओं में एक विशाल महानगर में विरचित हो रहे बृहदाकार अमूर्त विचार, बृहदाकार प्रत्येक और बृहदाकार आकृतियाँ मिलती हैं।

इसी राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक प्रपेक्ष्य में रूसी भविष्यवाद के विचारक दिमित्री बुरल्यूक, अलेक्सांद्र क्रुचेनिख, व्लादिमीर मायकोवस्की, विक्तर ख्लेबनिकफ के द्वारा घोषणापत्र 'जनरूची पर तमाचा' 1912 ईस्वी में लिखी गई। जिसका हिन्दी अनुवाद नीचे संकलित है।

जनरुचि पर तमाचा

पाठकों के लिए हमारा नवीन और प्रथम विस्मय।

सिर्फ *हम ही*, हमारे समय की *पहचान* हैं। विश्व साहित्य में समय का बिगुल हमारे द्वारा बजाया जा रहा है।

अतीत जटिल है। साहित्य अकादमी और पुश्किन चित्रलेखों से भी कम समझ में आते हैं।

उतार फेंको पुश्किन, दॉस्तोएव्स्की, तलस्तोय और वगेरा-वगेरा को इस आधुनिक युग रूपी जहाज़ से।

जो अपने *प्रथम* प्रेम को नहीं बिसरेगा, वह अंतिम के बोध से वंचित रह जाएगा।

अपने अंतिम प्रेम को बालमोंत के सुवासित व्यभिचार को कौन ही नादान समर्पित करेगा? क्या उसमें नवयुग के ऊर्जावान रूह का प्रतिबिम्ब है?

कौन ही कायर ब्र्यूसोव के कृतियों को निरर्थक करार देने में डरेगा? या क्या उन पर अज्ञात सौंदर्य के सुनहरे किरण की झलक है?

धो लीजिये अपने हाथों को जिन्होंने इन अनगिनत ल्योनीद अंद्रयेवों की लिखी मैली कृतियों को छुआ था।

इन सभी मक्सीम गोर्कियों , कुप्रीनों, ब्लोकों, सोलोगुबों, रेमीजोवों, अविरचिंकों, च्योरनियों, कुज़्मीनों, बूनिनों और वगेरा-वगेरा को सिर्फ नदी के किनारे दाचा चाहिए। ऐसा पुरस्कार नियति सिर्फ दर्ज़ियों को देती है।

इन गगनचुम्बी इमारतों की उंचाई से हम देख रहे हैं इनकी तुच्छता !

हमारा *आदेश*, कवियों के अधिकारों का सम्मान करना है।

(1) मनचाहे और व्युत्पृत शब्दों (शब्द- नवाचार) से शब्दकोष के पैमाने में वृद्धि करना।

(2) उनसे पहले तक की प्रचलित भाषा के प्रति प्रबल घृणा होना।

(3) आपके द्वारा स्नानघर की झाड़ू से बनाये गए छुद्र गौरव रूपी मुकुट को अपने गौरवान्वित शरीर से झुंझला कर फेकना।

(4) चीख और आक्रोश से भरे समुन्द्र के बीच में 'हम' रूपी शब्द के लट्टे पर खड़ा होना।

और अगर फिर भी आपकी सुन्दर सोच और उच्च विचार के मैले धब्बे हमारी पंक्तियों में रह गए हो, तो उनपर नवनिर्मित भविष्य के अनमोल शब्दों की खूबसूरती की सुनहरी चमक सबसे पहले पड़ेगी।

द. बुरल्यूक, अलेक्सांद्र क्रुचोनिख, व. मायकोवस्की, विक्तर ख्लेबनिकोव। मोस्को, 1912 दिसंबर।

स्वतंत्रता के 76 साल और 'रंगभूमि' का सूरदास

-श्रद्धा सिंह
शोध छात्रा , हिन्दी विभाग, प्रेसीडेंसी विश्वविद्यालय,
86/1 कॉलेज स्ट्रीट, कोलकाता-700073
मो. : 8130732179

भारत को स्वतंत्र हुए आज 76 साल हो गए और इस मौके को जगह-जगह पर बड़ी धूम-धाम से मनाया भी गया। लेकिन सोचने वाली बात यह है कि आजादी के इतने वर्षों के बाद भी किसानों की स्थिति में कितने सुखद परिवर्तन आए ? 1951 में सकल घरेलू उत्पादन में कृषि क्षेत्र का कुल योगदान 55.4 प्रतिशत था जो कि 2021 में 16.8 प्रतिशत हो गया। लेकिन विचारणीय बात यह है कि अभी कृषि पर 49 प्रतिशत आबादी निर्भर है। यानि 49 प्रतिशत आबादी 16.8 प्रतिशत आय पर ही निर्भर है। सरकार की ओर से पंचवर्षीय योजनाएँ, भूमि अधिग्रहण बिल, नयी आर्थिक नीति आदि कई योजनाएँ वर्षों से चलती आ रही है पर किसान कल जहां था आज उससे बदत्तर स्थिति में हैं। आवास, औद्योगिकरण और कई परियोजनाओं के लिए भूमि अधिग्रहण की मांग बढ़ती जा रही है। देश की उन्नति के नाम पर किसानों का खेत कारखानों के लिए हड़पकर उन्हें अपने ही घर व खेती से निकालने की योजनाएँ बनाई जा रही है। एक प्रश्न मन में उठता है कि क्या यही था प्रेमचंद के सपनों का भारत ? क्या हम आज विस्थापित किसानों को 'रंगभूमि' के सूरदास के वंशज के रूप में नहीं देख रहे है ?

अंधा भिखारी सूरदास अपने और अपने गांव की जमीन के लिए अंत तक लड़ता है। लेकिन जॉनसेवक अपनी कुटिल नीति से राजा महेंद्र सिंह , कुँवर भरत सिंह, अंग्रेज जिलाधीश मिस्टर क्लार्क आदि के साथ मिलकर सभी मुहल्ले वालों को जैसे- नायकराम, जगधर, ठाकुरदीन, बजरंगी, भैरो आदि को बेहतरीन का स्वप्न दिखाकर अपने पक्ष में करके सूरदास को अकेला कर देता है तथा इस तरह उसकी जमीन हड़प ली जाती है। जिस प्रावधान से सूरदास की जमीन हथिया ली गई, ठीक उसी प्रावधान से पांडेपुर की बस्ती को जब्त करने की सहमति ले ली गई। उपन्यास से उदाहरण द्रष्टव्य है –"एक दिन प्रातः काल राजा महेंद्र कुमार, मि० जॉनसेवक , जायदाद के तखमीने का अफसर, पुलिस के कुछ सिपाही और एक दरोगा पांडेपुर आ पहुँचे। राजा साहब ने निवासियों को जमा करके समझाया – सरकार को एक खास सरकारी काम के लिये इस मुहल्ले की जरूरत है। उसने फैसला किया है कि तुम लोगों को उचित दाम देकर यह जमीन ले ली जाए, लाट साहब का हुक्म आ गया है...आप सब मकानों की कीमत का तखमीना करेंगे और उसी के मुताबिक तुम्हें मुआवजा मिल जाएगा।...तुम्हें जो कुछ अर्ज-मारूज करना हो, आप ही से करना। आज से तीन महीने के अंदर तुम्हें अपने-अपने मकान खाली कर देने पड़ेंगे, मुआवजा पीछे मिलता रहेगा। जो आदमी इतने दिन के अंदर खाली नहीं करेगा, उसके मुआवजे के रुपये जब्त कर लिये जायेंगे और वह जबरदस्ती घर से निकाल दिया जाएगा । अगर कोई रोक-टोक करेगा, तो पुलिस उसका चालान करेगी, उसको सजा हो जाएगी।"

आज भी बहुत से किसान अपनी जमीन बेचने के लिए तैयार नहीं है लेकिन सरकार और कॉरपोरेट घरानों द्वारा झूठे आश्वासन देकर उनकी जमीन हथिया ली जा रही है बिलकुल वैसे ही जैसे सूरदास की जमीन जॉनसेवक द्वारा हड़प ली जाती है वो भी औद्योगिक विकास के नाम पर। लेकिन प्रेमचंद उद्योगीकरण को कृषि और साधारण जनता के हितों से जोड़ने के पक्ष में थे। उन्हें पता था कि जॉनसेवक की औद्योगिक क्रांति से केवल किसानों को नुकसान होगा। यहाँ मैनेजर पांडेय का विचार सार्थक प्रतीत होता है उनका कहना है कि "पूंजीवाद अपने आरम्भिक दौर से ही कृषि और किसानों का दुश्मन रहा है। वह किसानों को भाग्यवादी, काहिल, अज्ञानी, आरामपसंद और आत्मतुष्ट मानता है। वह किसानों की इन बुराइयों को दूर करने के लिए किसानों को मिटाना जरूरी समझता है । वह अपने विकास के लिए किसानों का विनाश करता है । इंग्लैंड में जब पूंजीवाद आया तब उसने एक लम्बी और खूँखार प्रक्रिया से किसानों को जमीन से बेदखल किया। आज भारत में जो पूँजीवादी विकास की प्रक्रिया चल रही है वह दुनिया भर के पूँजीवादी एवं साम्राज्यवादी देशों के आग्रहों और दबावों के कारण लगभग उन्माद की मनोदशा में आगे बढ़ रही है, इसलिए भारत के किसानों के लिए विनाशकारी साबित हो रही है।"

प्रेमचंद नहीं चाहते थे कि खेती उजड़े और किसान केवल अमीरों की जरूरतें पूरी करने के लिए काम करें। वे ऐसे उद्योगों के विरोधी थे जो अन्न का उत्पादन रोककर तम्बाकू जैसी नशीली चीजों का उत्पादन करते हैं। तंबाकू जैसे मादक पदार्थ के उत्पादन से देश का

क्या भला होगा ? उल्टे यह स्वास्थ्य के लिए नुकसानदायक है । साथ ही इससे खाद्य पदार्थ महँगा हो जाएगा क्योंकि किसान अनाज के बदले इस नशीले पदार्थ का उत्पादन करने लगेंगे। जॉनसेवक बुरी आधुनिकता का वाहक था । आज जॉनसेवक की अगली पीढ़ी के रूप में टाटा, बिरला,अम्बानी जिंदल, मित्तल आदि को देखा जा सकता है। हर क्षेत्र में निजीकरण की प्रवृति बढ़ाने की कोशिश की जा रही है । ग्रामीण लोगों द्वारा नगदी फसल का उत्पादन करवाया जा रहा है जबकि उन्हें जरूरत की चीजें स्वयं खरीदनी पड़ रही है । अब जो लोग पहले घर के ताजा चावल का भात और गेहूं, महुवें की रोटी खाते थे, वे पालिश किए हुए चावल तथा तीन-चार श्रेणियों में विभक्त आटा खा रहे हैं। इस संदर्भ में किशन पटनायक का कहना है कि "खाद्य आपूर्ति एवं खाद्य स्वावलम्बन के श्रोत के बजाय अब खेती को तेजी से पूँजीवादी बाजार तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों की मुनाफे की न मिटने वाली भूख कि रणनीति का एक पुरजा बनाया जा रहा है । भारत जैसे तमाम देशों को यह सिखाया जा रहा है कि उन्हें अपने जरूरत का अनाज दालें व खाद्य तेल पैदा करने की जरूरत नहीं है ; दुनिया में जहाँ सस्ता मिलता है वहाँ से ले लें।"

ऐसा नहीं है कि हमें दुनिया से अलग रहना है कला, साहित्य, संस्कृति, ज्ञान, चिकित्सा तथा सुरक्षा के क्षेत्र में दुनिया में जो कुछ भी आधुनिकतम है, वह प्रत्येक देश को किसी भी क़ीमत पर प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। यदि किसी असाध्य बीमारी का कोई नया उपचार अमेरिका के पास है तो महँगा होने पर भी उसे खरीदना चाहिए । लेकिन उपभोग के मामले में सत्तर प्रतिशत आबादी का पिछड़ी से पिछड़ी स्थितियों में मरने के लिए छोड़कर तीस प्रतिशत आबादी की खुशहाली के बारे में सोचकर विश्ववादी होना कहीं से उचित नहीं है । प्रेमचंद इस बात को भलीभाँति जानते थे इसलिए भारतीय जनता को आगाह किया कि यदि सचेत नहीं हुए तो भविष्य में आर्थिक तंगी के पाट में किसान पिस कर एक दिन खत्म हो जाएगा और बचेगा तो केवल उपभोक्ता वर्ग ।

प्रेमचंद जानते थे कि अंग्रेजों के चले जाने से औद्योगीकरण की समस्या स्वयं समाप्त हो जाएगी, ऐसा नहीं है बल्कि औद्योगीकरण की समस्या भविष्य में भी बनी रहेगी , जिसका संकेत उपन्यास में बार – बार किया गया है –"देश में गली -गली, दुकान-दुकान इस कारख़ाने के सिगार और सिगरेट की रेल-पेल है। वह अब पटने में एक तंबाकू की मिल खोलने का आयोजन कर रहे हैं, क्योंकि बिहार-प्रांत में तंबाकू कसरत से पैदा होती है।"

वर्तमान में देखा जा सकता है कि देश की उन्नति के नाम पर किसानों को, मजदूरों को, आदिवासियो को बेघर कर , उन्हें उनके अधिकारों से वंचित रखा जा रहा है, उनकी खेती कारखानों के लिए हथिया ली जा रही है तथा उन्हें नारकीय जीवन जीने के लिए छोड़ दिया जा रहा है। यह हमारे देश की किस प्रकार की प्रगति है ? यह विचारणीय प्रश्न है । कहा जा सकता है कि भारतीय लोकतंत्र एक मजाक बन गया है। जय श्री शिंदे "भारतीय समाज व्यवस्था की जड़ गाँव है लेकिन वहाँ भी धनाढ्य उच्चवर्गीय निम्नजाति में जन्मे लोगों का आसानी से शोषण करते हैं, पूरी समाज व्यवस्था सामंत, जमींदार और प्रजातंत्र का बुना हुआ साम्राज्य है । जब चाहे, जैसा चाहे लोग भूमिहीन, आदिवासियों, सपेरों, गरीबों की जिंदगी को रौंदते चले जाते हैं। भारतीय समाज में अभी भी सामन्तवादी प्रवृति का अस्तित्व मौजूद है , इस प्रवृति वाले अपने फायदे के लिए योजनाएँ भी बनाते हैं और लाभ भी उठाते हैं।" हमारे देश का यह समकालीन यथार्थ नेताओं, मंत्रियों, सेठों, पूँजीपतियों, अफसरों, आदि के मिलीभगत का ही परिणाम है जिसके चलते आमजनता पीड़ादायी जीवन व्यतीत कर रही हैं । ऐसा कहना उचित होगा कि 'आधा पेट अन्न खाने वाले कृषकों की भूख पर ही पूँजीपति, नेता आदि अपना आलीशान महल खड़ा करते है।'

सरकार एवं कॉरपोरेट घरानों द्वारा नित नयी-नयी परियोजनाओं तथा बांध बनाने की वजह से किसानों को अपनी जमीन से विस्थापित होने का दंश भोगना पड़ रहा है। इसलिये भूमि सुधार आज पहले से और अधिक प्रासंगिक हो गया है । कृषि के तबाही के बावजूद जमीन की क़ीमत बढ़ती जा रही है। निर्माण, उद्योग अथाह कमाई का जरिया बनता जा रहा है। राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन (एन.एन.एस.ओ.) के आँकड़े (2003-2004) के अनुसार लगभग 41.63 % परिवारों के पास वास के अलावा और कोई भूमि नहीं है । अगले 20 % परिवारों के पास एक हेक्टेयर से कम भूमि है। दूसरे शब्दों में देश की 60 % आबादी का देश की भूमि के केवल 5 % पर अधिकार है जबकि 10 % जनसंख्या का 55 % ज़मीन पर नियंत्रण है । पी. साई नाथ अपनी डॉक्यूमेंटरी 'नीरोज गेस्ट' में किसान और किसानी पर बात करते हुए मुख्य तीन बिंदुओं पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं -" .1कृषि संकट क्या है ? - कारपोरेट खेती की तरफ झुकाव | . 2 कृषि संकट कैसे कार्यान्वित होता है? - गाँव का

व्यावसायीकरण करने से | . 3 कृषि संकट से क्या मिलता है ? – भारतीय इतिहास को सबसे बड़ा विस्थापन | "

भारतीय किसानों के लिए खेती शुरू से ही केवल व्यवसाय नहीं, बल्कि जीने का तरीक़ा भी रही है। खेती उनकी जीविका का प्रमुख साधन होने के बावजूद उनके लिए उद्योग नहीं हैं। उद्योग की प्रेरणा और उद्देश्य केवल पैसा कमाना है। भारतीय किसानों में इस औद्योगिक दृष्टि का अभाव है । इसलिए सूरदास का संघर्ष केवल जमीन बचाने तक सीमित न था बल्कि पर्यावरण और सांस्कृतिक विरासत को बचाने के लिए भी था ।

जो भारत सांस्कृतिक मूल्यों का देश रहा है, आज मुनाफ़ाखोर व्यवस्था में सारे मूल्य खंडित हो चुके है। अन्नदाता रहे किसानों को परजीवियों ने लगातार लूटा है। स्वतंत्र भारत से पूर्व इनका शोषण गोरे करते थे अब आज़ाद भारत में काले कर रहे हैं। काले कितने खूँखार है इसको मैनेजर पांडेय ने इन शब्दों में व्यक्त किया है –"अंग्रेजी राज के जमाने की महाजनी सभ्यता से आज की महाजनी सभ्यता अधिक चालाक और अधिक खूँखार है। इसलिए आज की महाजनी सभ्यता के शिकंजे में फँसे जितने किसानों ने आत्महत्या की हैं, उतने किसानों ने अंग्रेजी राज के समय भी आत्महत्या नहीं की थी।"

हमारे देश की जो कृषि नीति है उस पर एक नजर डाला जाए तो लगाता है कि किसानों को केंद्र में रखकर उसकी भलाई बुराई को समझते हुए बनाया गया है कृषि नीति के शुरुआती पैराग्राफ में अंकित है कि 'कृषि ऐसी जीवन पद्धति और परंपरा है जिसने भारत के लोगों के विचार, दृष्टिकोण ,संस्कृति तथा आर्थिक जीवन को सदियों से सवारा है इसलिए कृषि देश के नियोजित सामाजिक आर्थिक विकास की सभी कार्यनीतियों का मूल हैं' लेकिन सच्चाई इसके विपरीत है हमारी कृषि-नीति, किसानों के बजाय बड़े घरानों या अमेरिकी कंपनियों के हितों का पोषण करती है, उद्योगपतियों की सुख-सुविधाओं का ध्यान रखती है लेकिन किसानों के लिए सुख-सुविधा तो दूर की बात है अगर प्राकृतिक आपदा में फसल मारी भी जाए तो भी कोई रियायत नहीं है। किशन पटनायक का कहना है -"जब कारखानेदार हल्ला करता है कि वह कष्ट में हैं, घाटा हो रहा है तो सरकार दौड़ कर उसकी मदद करने जाती है । कारखानेदार और उद्योगपतियों के यहाँ करोड़ों रुपये टैक्स बकाया है, लेकिन उन पर कोई कार्यवाई नहीं होती । इस तरह टैक्स के मामले में, कर्ज के मामले में और अन्य मामलों में सरकार उनकी बड़ी मददगार है । यही नहीं किसी औद्योगिक इलाके में सड़क, डाकघर, स्कूल आदि नहीं है तो सरकार तुरंत इन सबका इंतजाम करती है । खेती के बारे में सरकार की नीति उल्टी है। सूखा या बाढ़ से फसल मारी जाए तो किसानों को कोई रियायत नहीं मिलती, टैक्स में छूट नहीं मिलती, कर्ज में माफी नहीं मिलती।''

वर्तमान में गोरे अंग्रेजों की जगह अब काले अंग्रेज राज कर रहे है जबकि प्रेमचंद ने कहा था कि 'कम से कम मेरे लिए तो स्वराज का यह अर्थ नहीं है कि 'जान' की जगह 'गोविंद' बैठ जाए ।' आज गोरों की तरह बैंकों के माध्यम से लुटेरे हमारे देश को लूटकर विदेश में जाकर मौज-मस्ती कर रहे हैं । यही नहीं देश के दरवाजे आज पहले की तरह ही विदेशी और विदेशी कम्पनियों के लिए खुले हुए है । इक्कीसवीं सदी में प्रेमचंद द्वारा उपस्थित चुनौतियाँ अपना भेष बदलकर और अधिक चुनौतियों के साथ हमसे मुख़ातिब हो रही है। यहाँ मैं अली सरदार जाफरी की एक पंक्ति कोट करना चाहूँगी –

कौन आजाद हुआ ?
किस के माथे से गुलामी की सियाही छूटी ?
मेरे सीने में अभी दर्द है महकूमी का
मदर-ए - हिंद के चेहरे पे उदासी है वही
कौन आजाद हुआ ?

रंगभूमि (1925) के सूरदास के माध्यम से प्रेमचंद एक तरफ ब्रिटिश सरकार, सामंत और पूँजीपतियों के वापसी सम्बन्ध को उजागर करते है तो दूसरी तरफ इनके द्वारा साधारण जनता के साथ किए जा रहे अन्याय के विरुद्ध उसके संघर्ष को उद्घाटित करते है। उसका संघर्ष आम जनता को हताशा और निराशा से उबारता है । आज किसान अन्याय का विरोध कर अपनी मांग को लेकर आंदोलन कर रहे हैं तो रंगभूमि के ब्राउन की तरह किसानों पर गोलियाँ बरसाई जा रही है, गाड़ी से रौंदा जा रहा है । किसानों को दिल्ली बार्डर की ओर बढ़ने से रोकने के लिए पुलिस द्वारा वॉटर कैनन और आंसू गैस छोड़े जा रहे है।

1922 में चौरीचौरा घटना के बाद जब गांधीजी ने सत्याग्रह वापस ले लिया तब चारो तरफ हताशा की स्थिति बनी हुई थी। ऐसी स्थिति में सूरदास ने जनता में पुनः आशा का संचार किया । तत्कालीन समय में कारावास में बंद स्वतंत्रता सेनानी बड़े लगन से रंगभूमि पढ़ा करते थे। यदि व्यक्ति में संघर्ष क्षमता है तो हारकर

भी वह अपने लक्ष्य से विमुख नहीं हो सकता । इसीलिए इस संघर्ष में सूरदास पराजित होकर भी जीतता है –"हम हारे, तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोये तो नहीं, धांधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम तो ले लेने दो। हार-हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक न एक दिन हमारी जीत होगी, जरूर होगी।" और कही न कही सूरदास की यह भविष्यवाणी आज सच साबित हो रही है । वर्तमान किसानों पर गोलियाँ बरसाई गई, आंसू गैस छोड़े गए लेकिन ये पीछे नहीं हटे और अपनी माँगों पर अडिग रहे । अंततः किसान अपनी बात मनवा के रहे तथा सरकार को पीछे हटना पड़ा ।

प्रेमचंद सूरदास के माध्यम से यह भी इंगित किया है कि मनुष्य का कितना भी समूल नष्ट हो गया हो, उसके बाद भी उसमें पुनःनिर्माण की शक्ति बनी रहती है । भैरो द्वारा सूरदास की झोपड़ी जला दी जाती है जिससे वह शुरू में हताश तो होता है लेकिन पुनः अपनी शक्ति को एकजुट कर संभल जाता है । सूरदास का आत्मविश्वास मिठुआ से उसकी बातचीत में स्पष्ट झलकता है –

"मिठुआ ने पूछा – दादा, अब हम रहेंगे कहाँ ?

सूरदास – दूसरा घर बनाएंगे ।

मिठुआ – और जो कोई फिर आग लगा दे ?

सूरदास – तो फिर बनाएंगे।

मिठुआ – और फिर आग लगा दे ?

सूरदास – तो हम भी फिर बनाएंगे ।

मिठुआ – और जो कोई हजार बार आग लगा दे ?

सूरदास – तो हम हजार बार बनाएंगे ।

बालकों को संख्याओं से विशेष रुचि होती है। मिठुआ ने फिर पूछा-और जो कोई सौ लाख बार लगा दे?

सूरदास ने उसी बालोचित सरलता से उत्तर दिया – तो हम भी सौ लाख बार बनाएंगे।"

इस संदर्भ में रामविलास शर्मा का कहना है कि "मिठुआ बच्चों की तरह सवाल करता है और सूरदास बच्चों की ही तरह जवाब देता है ; उसके जवाब में चरित्र की दृढ़ता छिपी है। सूरदास हिंदुस्तान के उन किसानों में है जिनमें रचने की, निर्माण करने की तीव्र आकांक्षा है । उनकी बनाई हुई चीजों को लाख बार बर्बाद कर दो, नये निर्माण के लिए वे फिर कमर कसकर तैयार हो जाते हैं।"

निष्कर्षतः हम कह सकते है कि स्वतंत्रता के 76 साल बाद भी सूरदास का संघर्ष आज भी जारी है । भारत में कृषि की कीमत पर औद्योगिक विकास को तरजीह दिया जा रहा है। लेकिन अब देश के नीति निर्मताओं को यह समझना होगा कि औद्योगीकरण से देश का पेट नहीं भरने वाला। प्रेमचंद आधुनिक विकास के दुश्मन नहीं थे, मगर वे ऐसा औद्योगिक विकास भी नहीं चाहते थे, जिससे किसानों के जीवन का अधिकार ही छिन जाएँ क्योंकि हम चाहे कितनी भी तरक्की कर लें परंतु किसानों की तरक्की किए वगैर सही मायने में देश खुशहाल नहीं हो सकता। खेती जो किसी भी देश के जिंदा रहने की बुनियाद होती है, जब बुनियाद ही नहीं बचेगी तो ढाँचा बिखर जाएगा।

संदर्भ सूची

1 प्रेमचंद, रंगभूमि (भाग : दो), भारतीय भाषा प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण : 1996, पृष्ठ संख्या -161–162

2. पांडेय, मैनेजर, 'भारत में किसान की आत्महत्याएँ', संपादक-हरिनारायण, 'कथादेश' सहयात्रा प्रकाशन, दिल्ली, अंक : 3, मई -2012, पृष्ठ संख्या -35

3.पटनायक, किशन, 'किसान आंदोलन दशा और दिशा', राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006, पृष्ठ संख्या -6, भूमिका से उद्धृत

4.प्रेमचंद, रंगभूमि (भाग : दो), भारतीय भाषा प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण : 1996, पृष्ठ संख्या-226

5.शिंदे, डॉ जयश्री, 'टीस आदिवासी सपेरों का चिरता सच', संपादक-काशिद , डॉ गिरीश, शिंदे, डॉ जयश्री, 'संजीव जनधर्मी कथाशिल्पी',डिस्ट्रीब्यूशन प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण : 2011, पृष्ठ संख्या-77

6.पी.साईनाथ, नीरोज गेस्ट, ऑनलाइन ऑडियो, समय- 25:48

7.पांडेय, मैनेजर, 'भारत में किसान की आत्महत्याएँ', संपादक-हरिनारायण, 'कथादेश' सहयात्रा प्रकाशन, दिल्ली, अंक : 3, मई -2012, पृष्ठ संख्या -34

8.पटनायक, किशन, 'किसान आंदोलन दशा और दिशा',

कप चाय और तुम: संवेदना और शिल्प

डॉ. राजकुमारी
एसिटेंट प्रोफ़ेसर

हिंदी साहित्य में कथा कहने सुनने की परंपरा काफ़ी पुरानी रही है। सर्वप्रथम यह प्रचलन हमें संस्कृत भाषा के साहित्य में देखने को मिलता है किंतु हिंदी में इसका आगाज़ 19वीं शताब्दी की देन रही है। बहुत से विद्वानों ने लिखित रूप में 1903 में प्रकाशित कहानी रानी केतकी की कहानी को पहली कहानी का दर्ज़ा दिया है, कुछ विद्वान 1903 में ही प्रकाशित कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय ' को हिंदी की मौलिक कहानी स्वीकारते हैं। कहानी कहते किसे हैं? इसका स्वरूप कैसे होता है, इस संदर्भ में डॉ. धीरेंद्र वर्मा का कथन उल्लेखनीय है - "कहानी गद्य साहित्य का एक छोटा, अत्यंत सुसंघटित और अपने में पूर्ण कथा रूप है।"1

समकालीन समय में बहुत से कहानीकार अपनी अपनी क्षमताओं के अनुकूल कहानियां रच रहे हैं उन्हीं में से एक युवा कथाकार सुनील पंवार हैं, जिनका कहानी संग्रह ' है ' एक कप चाय और तुम' जो वर्ष 2020 में बहुचर्चित रहा और आज भी पाठकों में अपनी स्थान बनाए है। राजस्थान का हनुमानगढ़ जिला जिसकी खासियत ये कि यहां प्राचीन सरस्वती नाम से प्रचलित नदी वर्तमान समय में घाघर नाम से प्रवाहित हो रही है।पश्चिम में कालीबंगा सभ्यता का विकास एवम् राजस्थान हरियाणा पंजाब की सीमा से सटा क्षेत्र है। राजस्थान की सबसे बडी नहर परियोजना इंदिरा गाँधी नहर परियोजना,भाखड़ा नहर भी इसी मरुभूमि पर स्थित है। जिला हनुमानगढ़ के अंचल रावतसर में 14 अगस्त 1986 में कथाकार सुनील पंवार जी का जन्म हुआ। निजी जीवन में आर्थिक, सामाजिक विषम परिस्थितियों में जीवनयापन करते हुए अपनी साहित्यिक रुचि को कभी कम नहीं होने दिया,उसी के परिणामस्वरूप उनकी गद्य विधा के रूप में 'एक कप चाय और तुम" उनका प्रथम कथा - संग्रह पाठकों के समक्ष है। वो लेखन के क्षेत्र में पत्र-पत्रिकाओं में समकालीन गम्भीर विषयों पर लेखन कर एवम् अपनी लघु आकार कथाओं के रोचक संवादों के प्रभावशाली लेखन से साहित्य क्षेत्र में शनै:- शनै: अपनी पहचान बना रहें हैं।कोविड 19 के इस दौर में जहां, मानसिक तनाव,बेरोज़गारी,भूखमरी, नीरसता जैसी समस्याओं से मनुष्य जूझ रहा था उन्होंने लेखन के क्षेत्र में लेखन, पाठन के प्रति आकर्षण पैदा किया।अपनी विवेकी क्षमताओं के बल पर समकालीन मुद्दों पर तथ्यपरक विश्लेषण से लोकप्रियता हासिल करते गए।लेखकीय विवेचन,विश्लेषण,विषयोंन्मुखता व्यक्तित्व का निर्माण करती है। वास्तविक घटनाओं,स्मृति आधारित दृश्यों को बड़ी आत्मीयता के साथ कथा रूप में का प्रणयन किया गया।1 रचनाकार का तटस्थता से पर्यवेक्षण, दुर्बलताओं की स्वीकृति निजी विशिष्टताएं बताती हैं। आंचलिक परिवेश में लिखी कथाएं भावोद्रेक लिए हैं, जीवन के आरम्भिक दौर से उनका सामना विकट,विषम परिस्थितियों से जीवन के कटु अनुभवों रहा। इसी अकुलाहट,सामाजिक,आर्थिक,राजनैतिक,अनसुलझे प्रश्नों का प्रतिरूप उनकी कहानियों में विद्यमान है।

कथा संग्रह की प्रथम कहानी "आख़िरी कॉल"की कथावस्तु फ्लैश बैक शैली में चलती है।रोचकता,रोमांच विवरणात्मकता, कथानक का सघन संगठन कहानी की विशिष्टता है।मुख्य पात्र सन्नी काल्पनिक आवाज़, एकाकीपन,कथा के काल्पनिक धरातल में नायिका को साकार रूप देते हुए एक ही कमरे के वर्तुल घेरे से संदर्भित घटनाओं में दम तोड़ देता है।कहानी इतनी रहस्यमयता,गूढता के आवरण में लिपटी है कि अंत तक पाठक के समक्ष भेद नहीं खुल पाता कि प्रस्तुत घटनाक्रम का काल्पनिक रूप में चित्राकंन हो रहा है।समुचित दृश्य, वातावरण सजीव,यथार्थ चित्र प्रत्यांकित किया गया है। कथा का केन्द्र बिंदु या उसकी रीढ़ प्रमुख रूप इस वाक्य पर आधारित हैं-"आधी रात गुजर चुकी थी और वो फोन के पास बैठा इंतजार कर रहा था,उस कॉल जो हर शाम आता था,पर आज इतनी देर कैसे हो गई? सब ठीक तो है? हज़ारों सवालों ने उसे घेर लिया था। न जाने कितनी ही बार वो अपना फोन चैक कर चुका था कि कहीं फोन तो खराब नहीं हो गया।ज्यों- ज्यों वक़्त बीत रहा था उसका सब्र भी टूटता जा रहा था।रात भर जागने से उसकी आंखें लाल हो चुकी, सिर चकराने लगा था और आंखों से अनवरत आंसू बहने लगे थे। उसने डायरी को अपनी ओर खिसकाया और आखिरी कहानी पढ़ने लगा। उसे लग रहा था जैसे वाणी उसके सामने बैठी है वो अपनी कल्पना शक्ति से उसकी मानवीय छवि बुन चुका था। वो पढ़ता गया और सिर्फ पढ़ता गया। उसकी आंखें बंद होने लगी थी सब कुछ धुंधला नजर आने लगा था,फिर भी उसने अपने आप को रुकने

नहीं दिया। वो नहीं चाहता था उसकी आख़िरी कहानी पन्नों में दब कर रह जाये, उसे अपना वादा पूरा करना था जिसके लिए वह पढ़ता रहा। आख़िरकार वह कहानी की अंतिम पंक्ति में पहुंच ही गया। उसने अपना चेहरा उठा वाणी की तरफ देखा और फिर अंतिम पंक्ति को पढ़ने लगा,

"हो सके तो कभी मिलने आना वाणी! फ़िलहाल के लिए अलविदा!"वो मुस्कुराया और कुर्सी से गिर पड़ा।" 1

कहानी यहां अपने उद्देश्य तक पहुंचने के पश्चात चर्मोत्कर्ष तक पहुंचती है।नायिका वाणी नायक सन्नी की परिकल्पना होने के बावजूद उसे अद्भुत आकर्षण दिया गया।प्रत्यक्ष रूप में पाने का जुनून नायक,अकेलेपन में कथाओं के प्रति अदम्य लगाव को दर्शाता है।'भीगी मुस्कान' प्रेम सम्बन्धों में स्त्री की पुरुष से अधिक उम्र की अवधारणा को खंडित करती, विधवा स्त्री के शुष्क जीवन तट,स्त्री जिंदगी की विडम्बनाओं,प्रेम में उम्र की पाबन्दियों को अस्वीकृति, स्त्री जीवन में चरित्रहीनता के टेग से भयभीत स्त्री के अंतर्मन के द्वंद्व को दर्शाया है 'एक नदी का फासला' कथा की मूल संवेदना चित्रकार के रंगीन चित्रों में जीवन प्रकृति को आलंबन,उद्दीपन रूप दे,जलप्लावित क्षेत्र की त्रासदी,जानमाल की हानि, भूखमरी,अभाव एवम् लघु रूप में प्रेम प्रसंग, नायिका के नायक के मध्य नदी,पहाड़ के उस पार जा चुके नायक के लंबे इंतजार,नदी की प्रेम बाध्यता, चित्रकार का पुल केनवस पर पुल बना नायिका को आशान्वित करना।

"नदी के दोनों पाटों को एक ही पुल से मिलाना सिर्फ़ मेरी कल्पना थी, जो शायद मैंने एक नदी के फासले को पाटने के लिए की थी। मैं तो एक कलाकार हूं इससे ज्यादा कुछ कर भी नहीं सकता था। मेरी इस कल्पना ने उसके मन की बंजर ज़मीन में अधूरी ख्वाहिशों की उम्मीदों की कोंपले अंकुरित कर दी थी।"2

सम्पूर्ण कथा नदी किनारे एक ही स्थल पर घटती है।कथा कलेवर लघुता लिए है,कुछ अधूरेपन का अहसास कराता है।चौथी कहानी 'इश्क ऑनलाइन' जिसके मूल पात्र आंनद और अनन्या हैं।आधुनिक परिप्रेक्ष्य में ऑफिशियल व्यस्तता,नायिका के एकांकीपन,अन्य राज्य में अपनों से दूरी के कारण सोशल मीडिया,ऑनलाइन गेम के अत्यधिक एडिक्शन मानवीय जीवन को अपनी गिरफ्त इस प्रकार लेता है कि समयावधि का आभास भी नहीं होने देता। पात्र वीडियो गेम को इतना आत्मसात कर लेती कि काल्पनिक पारावार में गोता लगा,प्रत्यक्ष,साकारात्मक होने की संकल्पनाएं लिए यथार्थ से पृथक भावनात्मक जंगल में भटकने लगती है। वास्तविक जीवन में अरुचि उसका परिवारिक मोहभंग,इंटरनेट के मोह में यकायक स्वाभाविक परिवर्तन,आंनद,बच्चों से विरक्ति भाव,मस्तिष्क में राजकुमार सैमुअल के प्रति आकर्षण, उसे प्राप्त करने की प्रबल महत्वकांक्षा,वाक्यावली वाली चैटिंग उसके पारिवारिक विखंडन का मुख्य कारण बन जाती है।विडियो कॉल्स से अतिउत्साहित हो उसे देखने की इच्छा,सैमुअल का महज़ लिखित सन्देश पर ही बात करना,संदेहास्पद स्थिति को जन्म देता है। चिड़चिड़ापन,कुंठा,मोबाइल टच पर भययुक्त भाव,बच्चों को पीटना,दुर्व्यवहार, रात्रि के अंतिम पहर तक ऑनलाइन,आवाज़ श्रवण की बेताबी, काल का डिस्कनेक्ट होना,उसका अनदेखे शख्स के पीछे का पागलपन की हदों तक पहुंचना कहानी को सार्थकता, रोमांचकारी बनता है।

"उस रात भी वो देर तक चैट करती रही। अनन्या ने उसे अपने बारे में सब कुछ बताया। वो उसकी आवाज़ सुनने को बेताब थी, वो उसे बार- बार कॉल करने का प्रयास करती रही, और वो था कि डिस्कनेक्ट करता रहा। उसने साफ़ कर दिया था कि वो किसी शादीशुदा महिला को अपनी ज़िंदगी में जगह नहीं दे सकता।"3

ऑफलाइन मेरी दृष्टि में यथार्थ एवम् ऑनलाइन कृत्रिम जीवन का प्रतीक रूप में ठोस उदाहरण कहा जा सकता है।सैमुअल का शर्तिया तौर पर मिलना प्रमाणित करता है कि वह निसंदेह भ्रम,फरेब है।फटा पोस्टर निकली हीरोइन सी फिलिंग एवं सोशल मीडिया की तस्वीर प्रस्तुत कर छल कपट की भावना के सच को कहानीकार दर्शाता है। कहानी जिंदगी को धूर्वीकरण की ओर ले जाती है। समलैंगिक छवि दृष्टव्य करने के बाद पटल एकदम साफ़ दिखने लगता है। पति से तलाक के और बच्चों से विरक्ति ने उसके जीवन के समूल को नष्ट कर डाला। 'इंतहा' पति वियोगिनी स्त्री मनोदशा,हृदय व्याकुलता,स्त्री मन के अनगिनत सवाल,शंकाएं, बुलबुलों भांति विचारों का उठना, विलीन हो जाना,विदेश में बसे पति मिलने की प्रबल इच्छा, अंतहीन प्रतीक्षा को सुगमतापूर्वक लेखक ने चित्रित किया है। प्रमुख कहानी जिसके शीर्षक से पुस्तक का नामकरण हुआ 'एक कप चाय और तुम' नायक सन्नी और नायिका वाणी है। प्रस्तुत कथा का देशकाल वातावरण क्रिसमस की शाम जिसे नायक अपने जीवन की चिरस्मृत शाम रूप में देखना चाहता है।वर्षों उसे इस शाम का इंतजार था।चाय पर मुलाकात,सेंता से विश में वाणी के सानिध्य

की मुराद मांगना, रजमंदी रूप में उसका मौन हो पलकें झपका अमीन,स्वीकृत देना,भावाभिव्यक्ति की उच्छश्रृंखलता, एक कप चाय की आरजू। भाषा शब्दचयन पियरी कार्डिन का पेन, विश, विंड चाइम्स बेल, रिसीवर जैसे अंग्रेज़ी शब्दों का सार्थक प्रयोग है।जहां 'बंद कॉटेज' में स्टेटस, सोसायटी,रुतबा बरकरार रखने की कुंठाग्रस्त मन स्थिति,बुज़ुर्ग पीढ़ी की दुर्दशा को प्रकाश में लाने का प्रयास किया गया है। 'सुखिया ' कथा के चारों भाग बाल मनोविज्ञान,जिज्ञासु बाल मन,नृत्य में रुचि, बाल मन की प्रश्नात्मक गूढ़ ज्ञान बातें तथा भारतीय समाज में अंधविश्वास,जातिवाद,शिक्षा ग्रहण करने पर भी सामाजिक रूढ़ियों में परिवर्तन न कर पाना आदि विषयों पर ये कहानियां कठोर प्रहार करती हैं। सुखिया के माध्यम से कई महत्वपूर्ण प्रश्नों को पाठकों के चिंतन कहानीकार छोड़ देते हैं,जो अध्ययनरत रहते वक़्त मस्तिष्क में चपला भांति कौंधते हुए विचारात्मक शक्ति संचारित करते हैं।जीवन की जटिलताओं,प्रवनचनाओं को कथाकार साहस के साथ कहते हैं साथ ही विभिन्न मतवाद परीक्षण, निरीक्षण, जातीय संकीर्णता,जटिलता,बर्बरतापूर्ण प्रवृतियों त्रासदी को रेखांकित करती हैं। इन कहानियों को पढ़ते हुए स्मित मुस्कान भी चेहरे पर स्वत ही आ जाती है।लेखक भावावादी दृष्टिकोण को अपनाते हुए जीवन के जीवंत रूप की संवाहक कहानियां लिखते हैं। 'खनकती आवाज़ 'राजस्थानी भाषा शैली में अनजाने ही बने आत्मीय संबंध को उकेरने वाली साधारण कहानी है।'बिन पते की चिट्ठियां', संदेशवाहक के बिन मां की बच्ची को चिट्ठियों के माध्यम से ममत्व, मधुर रिश्तों में संवेदनशीलता,मानवीय रिश्तों के जीवित रहने का प्रमाण देती है।'छंटता कोहरा', 'रत्ती भर धूप' प्राकृतिक सौंदर्य की अनुपम छटा बिखेरती, भौतिक वस्तओं के प्रति अपेक्षा भाव, प्रेम का गला घोंट, वैवाहिक संबंध को निभाते हुए भारतीय समाज में महिलाओं की अनमेल विवाह की समस्या, समर्पण के बाद भी वर्षों तक पुराने प्रेम की जहर बुझे तीर से कटाक्ष, अमृता प्रीतम की भांति विचारों में उत्कृष्टता, दृसंकल्पिता, पितृसत्तात्मक की परिधि से मुक्ति की छटपटाहट, पुरुष सम्पत्ति मां- बाप फिर भाइयों की नियमावली के मुताबिक़ चलना,अंत में पति का उसकी देह पर एकाधिकार हो जाना, कहीं ना कहीं स्त्री स्वयं की देह,अपने अस्तित्व की खोज में संलग्न प्रतिरोध क्षमता, दृढ़ निश्चयी, नजरअंदाजी, मर्यादित खींज,सामाजिक निर्धारित नियमावली को चुनौती देने लगती है। अपनी भावी पीढ़ी को सशक्त रूप में निर्मित देखने की अभिलाषा रखती है। अपने ऊपर थोप दिए गए पुरुष वर्चस्व की अपेक्षा कृत स्वयं की देह स्वामिनी बनना चाहती है। स्त्री तथ्यात्मक रंगो से अनुस्यूत कहानी है। पुरुष स्त्री प्रेम की गहराई को समझने में नाकामयाब ही होते-

"हर किसी की जिंदगी में इमरोज़ नहीं होता। उसने हल्की सी मुस्कुराहट के साथ टेबल पर रखी अमृता प्रीतम की किताब पर हाथ फेरते हुए कहा।" 4

ये संवाद स्त्री मन की बहुत सी परतों को खोलता है।

मेरे दिल के करीब 'आखिरी कॉल','रत्ती भर घूप' , तीसरी कहानी इश्क़ ऑनलाइन रही है। मेरी दृष्टि में कहानी संग्रह में कोई कथा मील का पत्थर साबित हो सकती है तो वो आख़िरी कॉल। और विमर्श की बात करूं तो सुखिया दलित विमर्श की कहानियां हैं। ' रत्ती भर धूप' 'अथवा इश्क ऑनलाइन, बेहद रोचक कथाएं हैं। 'सुखिया' में क्यों कि आत्मानुभूति से प्रसूत घटना है। 'चुनावी मुद्दा', शीर्षक से ही मूल कथा , आंचलिक परिवेश की दलित समाज की दयनीय दशा, आर्थिक रूप से कमज़ोर, नशे की लत के शिकार लोग, अशिक्षित, महिलाएं, गरीबी और वोट का शराब की बोतल, दो जून खाने, एक जोड़ी कपड़ों में सौदा तय होना, झूठी चुनावी घोषणाएं, लघु कथा की मूल संवेदना को व्यक्त करती है।'चौकीदार', आर्थिक स्थिति, बच्चों के अपहरण, बाल मन के अनजाने किये गए प्रश्नों को दर्शाती है। 'वो रात', लावारिस नवजात शिशुओं के प्रतिलापरवाही, पुलिस जांच में पूछे गए मददगार इंसान से पेंचदा सवालात जिससे वो अपराधबोध महसूस करता है। मानवीय मूल्यों , नैतिकता, मानवीय धर्म जैसे भावात्मक पहलुओं का अवलोकन करती कहानी।' डायरी 2011' एक तरफ़ के प्रेम प्रसंग, सामान्यत किसी ओर से विवाह, शादी का कार्ड देख नायक की मनस्थिति को उजागर करती है। 'सच का आइना'लाचार, गरीब, दयनीय दशा,करुणवरुणापूर्ण भावों ,जीवन की सत्य घटनाओं को ढालकर भयानक स्वप्न संसृत परिणति की गई है।

" एक कप चाय और तुम" (कथा-संग्रह) के भाव पक्ष में लेखक ने यथार्थवादी दृष्टिकोण,कल्पना का समावेश कर सशक्तता प्रकट की है। कथाएं लघु आकार,रोचकता, प्रभाविंति आदि विशेषताएं लिए है।पात्रों की भाव- भंगिमाओं को बहुविध प्रकृति के अनुरूप परिवर्तित किया गया है। कथाएं द्वंद्वग्रस्त,

चेतनाओं,विचाराभिव्यक्ति, अभिधा शब्द शक्ति, सपाटबयानी में होने के बावजूद भी घटनाओं के गुंफन में कुतूहल,रहस्यमयता, विस्मयता धारण किए हैं। कथा प्रवाह में रसमयता अनवरत बनी रही है। सामाजिक जीवन की जटिलताओं,स्त्री मन की पैठ, प्रेमतत्व की महत्ता,तथ्यपरकता,अंतर्मन की व्याकुलता संत्रास के प्रति कहानीकार सुनील पंवार का परिपक्वतापूर्ण दृष्टिकोण देखने को मिलता है। भाषा सौष्ठव में काव्य शास्त्रीय सिद्धान्त की दृष्टि से थोड़ा बहुत दोष है किन्तु नवोदित लेखन एवं साहित्य विषय विशेष का ना होने के कारण सामान्य सी बात है।भाषा बिना अवरूद्ध हुए पाठक मन को सरसता तक ले जाती हैं।सरल,उर्दू फ़ारसी के शब्दों से जैसे-मशिवरा,अमीन,एतराज़,शब्बा खैर आदि। कहानियों में अंग्रेजी,राजस्थानी,खड़ी बोली के शब्दों का भी चयन किया गया साथ ही भाषा में नुकीलापन मधुर स्मृतियों का प्रत्यांकन है।साहित्यिक रुचि विशेषत:कथाओं के प्रति अदम्य लगाव,आत्मनिष्ठता के साथ श्रृंखलाबद्ध रूप में कालक्रम,देशकाल,वातावरण,स्थिति का पर्यवेक्षण करते हुए,सजीव दृश्यों,चित्रों का प्रत्यांकन है।भाषा शैली अभिधा,सहजता और तथ्यात्मकता है। शिल्प की दृष्टि से भी उत्तम कहानी संग्रह है।

संद

1. हिंदी साहित्य कोश भाग (1)डॉ.धीरेंद्र वर्मा- 121
2.एक कप चाय और तुम - पृष्ठ - 26
3. वही - पृष्ठ -35
4. वही -पृष्ठ- 38
5.वही - पृष्ठ - 80

☆☆☆

भारतीय किसान विश्व का अन्नदाता खेती का रखवाला,

हत्या कहानी में भारतीय किसान की दशा

डॉ. पुष्पा गोविंदराव गायकवाड

वै. धुंडा महाराज देगलूरकर,

महाविद्यालय, देगलूर

ई-मेल- pushpag720@gmail.com

भ्रमणध्वणी : 9423437565

खेती का मालिक धरती पूत्र अपनी मेहनत से खेत में सोना उगाता है । उसके सोने जैसे अनाज को सस्ते दाम मिलते है। किसान दिन रात मेहनत करता है फिर भी उसके अच्छे दिन नही आते। कर्ज के तले वह अपनी धरती माता को गिरवी रखता है। और एक दिन वह समाप्त होता है। यह भारतीय किसान की संघर्ष मय गाथा है।

भारतीय किसान बिना लोभ के वह आपना शरीर जलाकर सूरज की तपती धूप में अपना पसीना बहाकर मेहनत करता है। बारिश में बिना किसी चाहत के खेतो में बिना किसी के सहारे भीगते हुये गरजते बादलो के बीच खुले आसमान में रहता है। अपने खेत की फसलो की रखवाली करता है। किन्तु सरकार किसान के अनाज को ज्यादा रुपये नही देती। शाहूकार महाजन ये किसान के अनाज को सस्ते दामो में खरीदते है और गोदामों में सारा माल भर के रखते। वही अनाज किसान आम लोगो को महंगे दामो में बेचते है। किसान की मेहनत का कोई मोल नही ।किसान के अनाज को सारकार ज्यादा दामों में खरिदने का ऐलान करती तो शायद भारतीय किसान के जीवन में अच्छे दिन अवश्य आते। और न ही वह आत्महत्या करता विश्व का अन्नदाता यदी आत्महत्या करने लगे तो भारत को अनाज कहा से मिलेगा।

यदि किसान ही न रहा तो विश्व में अनाज कहा से आयेगा। यह एक चिंता का विषय है। इस पर विचार विमर्श होना बेहद आवश्यक है।

हत्या कहानी में भारतीय किसान की दयनिय अवस्था का यथार्थ चित्रण दिखाई देता है। भारतीय किसान खेती में दिन रात मेहनत करता पर उसके अनाज को सही दाम नही मिलते।

हत्या बरखा शर्मा की किसान आत्महत्या को लेकर लिखी मौलिक और प्रासंगिक कहानी है।

भारतीय किसानो की जीवन गाथा का यथार्थ चित्रण हिन्दी साहित्य में किया है। हिन्दी साहित्य कारो नं अपनी रचनाओं के

माध्यम से किसानो की समस्याओं को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है।

प्रेमचंद ने भारतीय किसान की दयनीय स्थिति के प्रति अपनी गहरी सहानूभूति बेचैनी और चिंता भी व्यक्त की है उनका स्पष्ट मत था कि किसान की आर्थिक मुक्ति के बिना पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य को प्राप्त नही किया जा सकता। वे किसानो के महत्व व उनकी दयनीय दशा के सम्बन्ध में लिखते है। भारत के अस्सी फीसदी आदमी खेती करते है। कई फीसदी वह है जो अपनी जिविका के लिए किसानो के मोहताज है जैसे गाँव के बढई लुहार कुम्हार धोबी कोली आदि राष्ट्र के हाथो में जो कुछ विभूति है वह इन्ही किसानों और मजदूरी की मेहनत का सदका है। हमारे स्कूल विद्यालय पुलिस और फौज हमारी अदालत और कचहरिया सब उन्ही के कमायी के बलपर चलती है। लेकिन वही जो राष्ट्र के अन्न और बस्त्रदाता है। भरपेट अन्न के लिए तरसते जाडे पाले में ठिठूरते है और मकिखयो की तरह मरते है।"

हत्या बरखा शर्मा की किसान आत्महत्या को लेकर लिखी मौलिक और प्रासंगिक कहानी है। किसान आत्महत्या की समस्या आज गम्भीर बनी जा रही है। देश में सबसे अधिक किसान आत्महत्या महाराष्ट्र में हुई है। महाराष्ट्र विदर्भ तथा मराठवाडा जैसे सूखाग्रस्त एंव पिछडे समभाग में अधिकांश किसानो ने आत्महत्याएँ की है। यह कहानी प्रेमचंद्र के गोदान उपन्यास की याद दिलाती है। कहानी एकनाथ नामक किसान के आत्महत्या की है। कृषी प्रधान देश भारत का किसान आज अनेक समस्यांओ से घिरा हुआ है। यह समस्याएँ असमानी कम और सुल्तानी अधिक है।

साहुकारों द्वारा किसानों को कर्ज देकर उनकी खेती हडपना आम बात बन चुकी है। जो अवस्था गोदान में होरी की है वही यहॉ एकनाथ की है। मराठी में (अन्नदाता बळी राजा जगाचा पोशिंदा)

जैसे बडे बडे विशेषण धाणर वाला किसान क्यों फास को नजदीक कर रहा है? यह हमारी वर्तमान व्यवस्था पर प्रश्नचिन्ह निर्माण करता है। वर्तमान समय में आवश्यकता है काशी जैसे संघर्ष कर अपने परिवार और खेती को संभालेनेवाली स्त्री की। यह जहाँ शोषक बने साहुकारों को लताडती है वही कर्मकाण्ड के माध्यम से गरीब किसानो का निमर्म शोषण करनेवाले धर्म के ठेकेदारों को भी बक्सना नही चाहती।

महाराष्ट्र के मराठवाडा जैसे पिछडे तथा मराठी भाक्षी क्षेत्र से श्रीमती बरखा शर्मा जैसी युवा कहानीकार आज की हमारी वर्तमान स्थिति का लेखा-जोखा अपनी कहानियों तथा कविताओं के माध्यम से व्यक्त कर रही है। यह उनकी हिन्दी साहित्य में बहुत बडी उपलब्धि है।

हत्या कहानी का नायक एकनाथ कर्ज के कारण आत्महत्या करता है। एकनाथ की पत्नी काशी संघर्ष कर अपने परिवार और खेती को संभालनेवाली साहससील हिम्मतवाली स्त्री है।

एक किसान की आत्महत्या पर पूरा परिवार बिखरता है। एकनाथ के माँ बापने जवान बेटे को खो दि या था। काशी ने अपने पति को नारायण ने अपने बडे भाई को बच्चों ने अपने पिता को खोया था।

काशी को गहरा सदमा लगा था वह बार-बार बेहोश हो रही थी चीख रही थी उसने अपना पति खोया था। बच्चो के असू देखकर काशी सोचती है उसी का कथन दृष्टव्य है।

"धनी आपने यह क्या कर लिया? क्योंकि ऐसा ? मुसीबतो से डरकर पलायन कर गए ? आपने यह क्यों नही सोचा कि आपके बाद आपके परिवार के ७ सदस्यो का क्या होगा ? आप मुझ पर कितनी बडी जिम्मेदारी डालकर चले गए? क्या आपको विश्वास था कि मैं अपनी कसौटी पर खरी उरूंगी।

काशी मन ही मन फिर एकनाथ से बाते करने लगी -

धनी कल रात से एक इच्छा मन में आ रही है- आई बाबा नारु और बच्चो के खाने में जहर मिला दें और खुद भी जहर खाकर सो जाऊं से जाऊं सोचती हूँ ऐसा करने से सभी समस्याओं से एक साथ सभी को छूटकारा मिल जायेगा ? लेकिन कुछ पल में ही विचार बदल जाता है। जीवन मिला है तो मृत्यू भी अटल है, क्यों न संघर्ष किया जाएँ ? हा धनी मैं संघर्ष करुंगी।

काशी संघर्ष से डरती नही और नही एकनाथ की तहर मुसिबतो से पलायन करती।

भारतीय किसान की पत्नी उतनी ही सक्षम होती है। हालातो से जिना सिख लेती है। अपने परिवार का भरण पोषण अपने मेहनत से करना जानती है।

एकनाथ का छोटा भाई नारायण की मानसिक हालत बडे भाई की मृत्यू से खराब हो गई थी। गाँव के सावकारों की शर्ट की कालर पकडकर वह चीख रहा था मेरे दादा ने आत्महत्या नही की है आप लोगो ने मारा है उसे आप के सूद ब्याज आपकी

खेली गई चाले हमारी खेती हथियाने के लिए की गई आपकी कोशिंशो ने मेरे दादा को मारा है। मेरे दादा ने आत्महत्या नही की उनकी हत्या हुई है।

किसान की हत्या पर पूरा परिवार बिखरता है टूटता है। शाहूकार जिवीत किसान को मदत करते तो शायद एकनाथ जैसे हजारो किसानो की जान बचती उनका परिवार नही बिखरता।

किसान की मृत्यू पर आँसू बहाने राजनैतिक और सरकारी लोग आते है परिवार से मिलने यही मददत यदि किसानो को पहले मिलती तो आज विश्व का अन्नदाता खूश रहता। अपनी धरती माँ की तन मन से सेवा करता और हम सभी को खाने को मेवा मिलता। राजनैतिक सरकारी लोग मगरमच्छ के आँसू बहाने आ जाते है कुछ तस्वीर लेते है सहानुभूति दिखावे का नाटक करते है।

बरखा शर्मा ने नारायण के द्वारा यह सत्य उदघाटित किया है उसी के शब्दो में

"अरे इतने वर्षो में अब तक आप मेरे किसी एक ने भी मेरे दादा का साथ दिया क्या ? नही दिया मेरे दादा के मरने के बाद आ रहे हो, अगर मेरे दादा को जीवित रहते तुम्हारे कंधे पर सिर रखकर रोने दते उसका थोडा सुन लेते तो उसे कंधो पर श्मशान पहूँचाने की नौबत नही आती। लेकिन आप लोगों को कोई फर्क नही पडता। एक और किसान ने आत्महत्या की बस अखबार में यह खबर छप जायेगी आप लोग सफेद कपडे पहनकर मृतक के परिवार को साँत्वना देने आए, आप लोगों के दु:ख भरे चेहरे अखबार में छप जायेंगे टी.व्ही. चैनलपर एक -दो दिन यही खबर बार-बार दिखायी जायेगी। एक ही दृश्य को बार-बार दोहराया जायेगा बस हो गया फर्ज पूरा। दो-चार दिन में सब ठंडा हो जायेगा दादा की चिता की राख भी और आपके सहानुभूति का आडम्बर भी ढोंगी हो आप मक्कार हो। आप फिर किसी नयी खबर में चमकने को व्यस्थ हो जाओगे आपने कुछ सोचा है? क्या होगा हमारा ? मेरे छोटे छोटे भतीजे - भतीजी मेरे बूढे माँ - बाप का क्या होगा इनका ? कैसे जियेंगे यह सब ? क्या मेरे माँ पिताजी ने कभी ऐसा बुरा स्वप्न भी देखा होगा कि उनका जवान बेटा उनके सामने इस दुनियासे चला जायेगा ? मृत्यू के बाद अग्नि देनेवाला बडा बेटा इन बूढी आँखो के सामने चिता में जल रहा है।"

किसान को कर्ज से मुक्ति चाहिए थी। पर कृषी प्रधान देश में किसान को जीवन से ही मुक्ति मिल गई थी।

भारतीय किसान की दयनिय अवस्थाका चित्रण इस कहानी में लेखिकार ने किया है।

किसान से ही अनाज मिलता है यह हम सब भूल रहे है।

भारतीय किसान की मृत्यू पर नारायण का कथन उध्दृत करना आवश्यक लगता है। उसी के शब्दों में

"अपना देश कृषिप्रधान है ना ?
क्या यही है हम किसानों की तकदीर ?
बलीराजा कहते हो ना और बलीराजा की ऐसी मौत ?

नारायण के रिश्तेदार उसे पागल कह रहे थे। भाई की मृत्यू के शोक में नारायण पागल हो गया था। नारायण जमीन पर बैठकर अपना सिर पीट रहा था उसी का कथन दृष्टव्य है।

अरे मैं तो अपना दादा अपना बडाभाई खोया है, लेकिन आप लोग भी तो खो रहे हो .... अनाज पैदा करनेवाले को ... आपका पेट भरनेवाले को।

किसी एक किसान की हत्या याने भारत के बलिराजा की हत्या आये दिन हो रही है। किसान ही न रहा तो क्या होगा? "

एकनाथ की तेरहवी का कार्यक्रम करने के लिए बिरादरी के लोग आँगन में बैठे थे पंडितजी ने बताया था मृतक को परलोक सुधारने के लिए दान धर्म में कौन कौनसी चीजो का दान करने से मृतक की आत्मा को शांती मिलती है/ इस पर काशी पंडीत से किसान की दशा का वर्णन इस तरह करती है। उसी का कथन दृष्टव्य है।

पंडित काका घर में सौ ग्राम चाँदी भी नही बची ४ साल से खेत में फसल नही आ रही है। सात एकड खेत में से पाँच टुकडे तीन अलग अलग सावकारों के पास गिरबी पडे है। फसल हो या ना हो सूद (ब्याज) तो देना पडता है, फिर से बीज के लिए लेना पडता है, दिन प्रतिदिन बढती ब्याज पर ब्याज की चकरी से हम आधी से ज्यादा जमीन खो चुके है। हम खुद फटे कपडे पहनते है, सुखी रोटी पानी के साथ खाकर आधा पेट भरते है, लेकिन हम सावकारों को रुपये देते हैं ताकि वे रेशम के वस्त्र पहन सकें और हलवा-पुरी खा सकें। थोडी बहुत सरकारी मदद कभी मिल भी जाती है, तो वह मदद ऊँट के मूँह में जीरे के समान है। मेरे धनीने बहुत जगह मदद की गुहार लगायी रोज फटे जूते पहनकर फिरते थे। तालुके के बडे-बडे नेता के पास अलग-अलग कार्येलयों में जाकर मदद की भीख माँगी आखिर कोई उम्मीद ना बची और गाँव में रहना दुश्वार हो गया क्योंकि हमारी जमीन के बचे हुए दो

टुकडे भी कुछ लोगों की आँखो की किर किरी बन गए थे। कोई हल नहीं बचा तब परेशान और हताश होकर मेरे धनी एकनाथ ने आत्महत्या कर ली।

काशी को कोई सुध नही थी, वह झरते आँसुओं के साथ कहते जा रही थी पंडित काका अभी आस-पडोस के लोग मदद कर रहे है, थोडा बहुत सामान लेकर हम तेरहवी तक घर चला रहे है। धनी की तेरहवी के लिए मैं और एक कर्ज किसी से ले लूँ, औरदान धर्म करूँ बिरादरी में गाँव में मृत्यू भोज करूँ तो क्या मेरे पति की आत्मा को शान्ति होगी ? नही ना ? पंडित काका उनकी आत्मा को तो तभी शान्ति होगी जब नारु पढ-लिख लेगा, हम फिर से सात एकड के खेत में अपना खेत बनाकर बीज बोयेंगे। उनकी आत्मा को शान्ति तब मिलेगी, जब बच्चे दिवाली को दूसरे बच्चों के पटाखे देखने के बजाय नये कपडे पहनकर खुद पटाखे चलायेंगे। मेरे धनी की आत्मा तो तब खुश होगी जब आई-बाबा सब चिन्ता छोडकर कीर्तन करेंगे, पंढरपूर के मन्दिर में विठ्ठल का नाम लेंगे।

फिर से कर्ज लेकर दान धर्म करने पुण्य कमाने का नया मार्ग पंडित जी काशी को बता रहे थे। काशी अपने संयम और विवेक से पंडित की बात को खारीज करती है।

काशी का संयम विवेक संघर्ष जिम्मेदारियाँ आज किसानों मे आशा की ज्योति जगाने का काम करती है। यह कहानी आज किसानों के लिए एक मौलिक सन्देश देने में सफल हुई है।

काशी का यह कथन सभी किसानों के लिए जीवन जीने का नया संदेश देता है।

जीवन मिला है तो मृत्यू भी अटल है क्यों ना संघर्ष किया जाए ? हाँ धनी ... मैं संघर्ष करुँगी मै अपने नारु और बच्चो को शिक्षित बनाऊँगी। आपका सपना जरुर पूरा करूंगी। लेकीन मेरा भी एक सपना है मै चाहती हूँ कि मेरे बच्चे और नारु पढे लिखे प्रगति करे साथ ही वह खेती भी करे हम किसान है भूमिपूत्र है यह ना भूले पृथ्वी पर बलीराजा अन्नदाता का रुप है वह अपनी गरिमा संभाले।

भारतीय किसान जीवन के यथार्थ स्थिति को कवि मैथलीशरण गुप्त ने इन पंक्तियों मे प्रस्तुत किया है।

जैसे :- हो जाय अच्छी भी फसल
पर लाभ कृषको को कहाँ

किसान दिनरात मेहनत करता है पर सभी सुविधाओसे वंचित रहता है। उसे भी सारी सुविधा मिलने लगी तो किसान का जीवन भी परीपूर्ण होगा / और नही वह आत्महत्या करेगा।

शाहुकार राजनैतिक लोग और सरकार किसान के रक्षक बने न की भक्षक किसान की मेहनत से ही हमे अनाज मिलता है यह भूलना नही चाहिए। इस देश के किसान को हर हाल में सुरक्षित रखना आवश्यक है।

विश्व का अन्नदाता सुरक्षित तो हमारा जीवन भी सुरक्षीत रहेगा।

मेदी दृष्टि से किसान की दयनिय दशा को इस प्रकार से देख सकते है।

भारतीय किसान
सूरज में तपता है
बारिश में भिगता है
बादलो के बीच रहता है
जीवन मरण की न चिंता
विश्व का अन्नदाता
कैसे ऋतुओं की मार खाता
कर्ज से छटपटाता
फिर भी हार नही मानता
कर्ज के कारण आत्महत्या करता
दिन रात मेहनत करता
सभ्यता की पोषाखे आती है
किसानो के परिश्रम से
भारतीय सभ्यता संस्कृति के प्रवचन दिये जाते है
किसान के अनाज पर
धर्म गरु मुल्ला मौलवी पादरियों,
हमसब का अन्नदाता किसान
भारत का बलिराजा महान

संदर्भ ग्रंथ

1) किसान - मैथिलिशरण गुप्त
2)साहित्य सौर : डॉ. सुजित सिंह परिहार
3)हत्या :- बरखा शर्मा ११६
4)हत्या :- वही पृ .सं. ११७
5)वही पृ .सं. १२०, १२१
6)वही पृ .सं. १२२
7)वही पृ .सं. १२३,१२४
8) गुगल प्रेमचंद साहित्य में भारतीय किसान - डॉ. गीता कपल

कीर्ति शर्मा की कहानियों में व्यक्त आधुनिक स्त्री जीवन और सामाजिक समस्याओं की विवेचना

-सुनीता सेरावत
शोधार्थीहिं
दी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
Gmail : sunitaserawat85@gmail.com

कीर्ति शर्मा की कहानियाँ भावनात्मकता के उच्च शिखर को तो छूती ही है साथ ही पारिवारिक यथार्थ और सामाजिक जीवन में तालमेल भी बिठाती है।उनके पहले कहानी संग्रह 'पिघलते लम्हों की ओट से' प्राचीन और आधुनिक जीवन के द्वन्द्वों को उकेरने वाली कहानियाँ है।स्त्रियों की आधुनिक सोच समाज के पिछड़ेपन के बीच के जीवन के अकेलेपन की समस्या तथा इसी के बीच रास्ता बनाती स्त्री की यथार्थ जिंदगी को दिखाती ये कहानियाँ आधुनिक हिंदी कहानी में अपना स्थान तय करती हैं। इनका दूसरा कहानी संग्रह 'बूँद भर सावन' में सामाजिक समस्याओं के उन तमाम रूपों को छू लेती हैं जो आधुनिक समाज में आज अनिवार्य सी हो गई है।इसमें प्रेम, बेरोजगारी, महँगाई, रोजमर्रा का संघर्ष, बाल श्रम, वृद्धावस्था की समस्या, बाल श्रम, खोखले रिश्ते जैसे अनेक पहलूओं को एक सशक्त कथ्य के माध्यम से दिखाया गया है।

पहले कहानी संग्रह की एक मजबूत कहानी है – जोहरा आपा। एक मुस्लिम पात्र जोहरा तमाम सामाजिक दबावों को झेलकर भी अपने दारूबाज पति का अहसान न लेकर सब्जी बेचकर अपना जीवन यापन करती है और अपने स्वाभिमान के साथ किसी को खेलने नहीं देती। जोहरा का चरित्र इस कहानी मेश्रम और संघर्ष की भूमि में तपकर इतना निखर आया है कि जोहरा जैसी स्त्रियों पर कोई भी समाज गर्व ही करेगा।इसी प्रकार एक कहानी 'विरासत' है जिसमें नई पीढ़ी की पुरानी पीढ़ी की सकारात्मक भावना और उनके स्वाभिमान के सम्मान में खड़ी आधुनिक लड़की की कहानी को दिखाया गया है।मीना नामक लड़की अपने पिता को विश्वास दिलाती है कि वह उनकी विरासत की किसी भी हालत में रक्षा करेगी क्योंकि यह उसका न केवल दायित्य है बल्कि उसके साथ पुरखों का स्वाभिमान जुदा हुआ है और वह किसी भी कीमत पर मकान तो क्या कुछ भी नहीं बेचेगी।उसके उसी आत्मविश्वास को देखकर उसे पिता बोलते हैं – "मीना यह घर नहीं यह मेरे दादाजी का सपना है जो तुम्हारे दादाजी ने पूरा किया है, मैंने भी निभाया है।

इस विरासत में पुरखों की आत्मा बसती है।यह ईट गारे से बने

महज इमारत नहीं
बल्कि जीता

जागता वह अहसास है जिसने इतने बड़े परिवार को अपने आंचल में पाला है।इसे हरा – भरा फलता फूलता देखकर पूरखों की आत्मा को शांति मिलती है।यह हमारे अतीत की जीती जागती निशानी है।अब सब अपनी – अपनी राह हो लिए पर मैं मीना इसे खंडहर होते, बिकते नहीं देख सकता बेटा तू इसे संभालना, आबाद रखना |" यह कहानी युवा पीढ़ी को एक सबक तो देती ही है साथ ही हमें हमारी परम्परा और संस्कृति के महत्व की भी सीख देती है। अगर मीना जैसी सब बेटियाँ हो तो किसी बुजुर्ग को बुढ़ापे में जाकर आत्मपीडा की घुटन महसूस न हो और वे अकेलापन व परायापन महसूस न करें।

'पिघलते लम्हों की ओट से' कहानी में प्रेम के उस पवित्र और शारीरिक रूप को दिखाया गया है जो दैहिक और भौगोलिकता से दूर एक आत्मिक आनंद का स्रोत है।जूनुन और जज्बें के साथ जब संघर्ष भी हो तो प्रेम की सामाजिक स्वीकार्यता अपने आप मिलती जाती है। "प्रेम के जुनून भरे जज्बें में मैंने तुम्हें पा लिया है। तुम मुझसे दूर कहाँ हो।साथ रहने से क्या दूरियाँ मिटती है ? जहाँ प्रेम है वहाँ दूरियाँ कोई मायने नहीं रखती। मन का एकत्व इन्हें भौगोलिक, शारीरिक दूरियों से परे एक करता है। इसी अहसास का नाम प्रेम है |" यह कहानी शिल्प की दृष्टि से भी काफी आगे बढ़ी हुई नजर आती है लेकिन इसका कथ्य रोमानी और मांसल प्रेम से आगे मानसिक प्रेम की उन अवस्थाओं का दर्शन करवाता है जो जिसको मनुष्य जीना चाहकर भी जी नहीं पाता और जिंदगी भर इसी घुटन के साथ बीता कुढ़ता रहता है कि काश मैंने सही समय पर अपने साथी के अहसासों के साथ अपने अहसास मिला लिए होते ?

'फैसला' कहानी भी दो पीढ़ियों में प्रेम सम्बन्धों की समझ के द्वद्व को दिखाती है। एक जिद्दी बाप के अहंकार के चलते पुत्र का निश्छल प्रेम बहुत पीड़ित होता है लेकिन अंत में पुत्र की जीत होती है। कहानी में प्रेम के संघर्षमय रूप और अंत में उसकी जीत की संवेदनशील ऊर्जा की विवेचना है।इसी तरह एक बालिका जगनी के

छोटी उम्र के संघर्ष को 'कचरा बीनने वाली लड़की' के माध्यम से दिखाया गया है | चाहे जगनी को स्वयंसेवी संस्था की सहायता मिल गई हो लेकिन उससे उसके जीवन का व्यक्तिगत संघर्ष कम नहीं हो जाता और बचपन की कटु यादें भी नहीं मिट जाती है। "बारह तेरह साल की लडकी कचरा बीन रही थी।यूँ तो कोई विशेष बात नहीं थी कि मेरी नजर उस पर ठहरे लेकिन वह नाली के एक और फँसे प्लास्टिक निकाल रही थी।साथ ही उन्हें उस बहते पानी से धोकर अपने थैले में डाल रही थी |" कहानी में जगनी जागरूक, संघर्षरत, दृढ निश्चयी, साहसी, पितृसत्तात्मक समाज को मुँहतोड़ जबाव देनी वाली तथा आत्मरक्षा के प्रति अत्यंत जागरूक दिखाया गया है।गजनी जब अपनी स्वयंसेवी संस्था में उन लोगों का प्रवेश देखती है जो स्वयं महिलाओं के शोषण में शामिल है तो भड़क जाती है।कहती है – " इसका संचालन उन लोगों के हाथ में थोड़े हैं जो एयरकंडिशनर कमरों में बैठकर बिना किसी अनुभव के बड़ी – बड़ी बातें करते हैं, उनके पास न था।जो महिला उत्पीडन के कई दिन बाद हवाई यात्रा करके पहुँचते हैं। और हँस – हँसकर काला चश्मा लगाये फोटो खिंचवाते हैं। यह जताते हुए कि हम पीड़ित महिला को इंसाफ दिलाने आये हैं। उन्हें कहाँ पता होता है मिट्टी से जुड़ा हुआ दर्द, उत्पीडित महिला की दर्द भरी सिसकियों का सबब। उस संस्था का संचालन तो एक जांबाज कचरा बीनने वाली लड़की के हाथों में था जिसने हर दरद को जिया झेला |" हालाँकि स्वयसेवी संस्था के कहानी में घुसेड देने से जगनी के संघर्ष की चमक थोड़ी फीकी पड़ती नजर आती है लेकिन फिर भी वह कहानी में जगनी का स्वाभिमान उससे मजबूत बनाये रखता है। 'मौन' कहानी भागदौड़ भरी जिंदगी में समय के अभाव और उससे उत्पन्न समस्याओं को अचला और विनय नामक पात्रों के माध्यम से दिखाती है। 'स्वीकार' कहानी यौन हिंसा की शिकार हुई किशोरी के जीवन की उन कठिन स्थितियों को हमारे सामने रखती है जिसके कारण उसके व्यक्तित्व में कुंठा, डर, अकेलपान, चिडचिडापन और अंत में निराशा के गर्त में चली जाती है। उसके व्यक्तित्व का चित्रण कहानी में बड़ा ही दुखद बन पड़ा है – "तुम खफा सी क्यों रहती थी पता नहीं। तुम्हारा मन भी पढ़ाई में नहीं लगता था। जो कुछ क्लास में पढ़ाया जाता उसे भी शायद ही ध्यान से सुनती थी। क्लास रूम में भी तुम खोई- खोई सी लगती। किसी अनंत गहराई की ख़ामोश उदासी में डूब तुम बाहर निकलना नहीं चाहती |" यह यौन शोषण उस बच्ची के साथ किसी पारिवारिक रिश्तेदार द्वारा ही किया गया था। इस वजह से न तो वह अपनी पीड़ा किसी से कह पाती है और न ही उस अवसाद से निकल ही पाती है। इसी प्रकार कहानी 'रौशनी', 'गुरु दक्षिणा' और 'भूख' में क्रमश: युवा पीढ़ी का गलत संगत में पड़ते जाना, गुरु शिष्यों के सकारात्मक रिश्तों और माँ विहीन बच्चें के बचपन के मार्मिक उद्धरणों को उकेरा गया है |

कीर्ति शर्मा का दूसरा कहानी संग्रह 'बूँद भर सावन' की पहली कहानी अत्यंत मार्मिक बन पड़ी है क्योंकि वह आधुनिकता बोध की कारण संवेदन हीन होते जा रहे समाज में माँ के असम्मान और उपयोगितावादी दृष्टिकोण से रिश्तों के आकलन को मजबूत तरीके से उठाती है। सामाजिक जीवन में माँ के प्रति दायित्व को बोध समझना और संस्कारों को बाजारी वस्तु बना देना ही इस कहानी की मूल संवेदना है।'आकाश और पतंग कहानी' पुरूष के शारीरिक आकर्षण से रहित प्रेम के रोमानी सौन्दर्य और अपनत्व के सकारात्मक जीवन शैली के उदाहरणों से भरी पड़ी है।'रिक्शावाला' कहानी उन पढ़े लिखे युवाओं की कहानी है जो अपनी नौकरी से छुटकारा मिलने पर "रात में केवल इसलिए रिक्शा चलाते हैं ताकि महिलाओं को असमाजिक तत्वों से बचाया जा सके और उनकी सुरक्षित घर वापसी हो जाए।कहानी का एक पात्र कहता है कि "जॉब के बाद रोज दो ढाई घंटे रिक्शा चलाएंगे। रिक्शा चलाने का मकसद सिर्फ और सिर्फ महिलाओं या लडकियों को सुरक्षित उनके घर पहुंचाना, उनकी हिफाजत करना है |"

'बूँद भर सावन' कहानी बचपन के अपने प्रेमी साथी को खो देने की पीड़ा और उससे उपजे अवसाद से निकलने की कहानी है। कीर्ति शर्मा की कहानियों की स्त्री पात्र हमेशा पाठक के सामने एक मजबूत लक्ष्य छोड़कर जाती है।कलाएँ किस तरह इंसान के भीतर के अवसाद का विरेचन करती है और पुन: व्यक्ति के जीवन को सही ढर्रे पर ले आती है, उसी की अभिव्यक्ति इस कहानी में हुई है। नैना नामक पात्र जब अपने प्रेमी को खो देती है और जीवन को एक लाश की तरह ढो रही होती है उन्हीं क्षणों में एक चित्रकार एक नई उर्जा और उत्साह के साथ उसके जीवन में प्रवेश करता है और अपनी कला से उसको ऐसा मोहित कर लेता है। जो नैना अपने प्रेमी की मृत्यु के बाद गूँगी- बाहरी हो गई थी, परिवेश जिसके लिए एक मुर्दा शांति के समान था, वही नैना एक कलाकर के प्रयासों से फिर से हरी भरी हो जाती है और जीवन को पुन: उल्लास के साथ जीने लगती है |

'गंगाजल' कहानी मित्रता की पवित्र आस्था को समेटे हुए हिन्दू – मुस्लिक द्वंदों को अभिव्यक्त करती है। यासमीन और खूशबू नामक पात्र इस कहानी में न केवल साम्प्रदायिक द्वेष को परे धकेल देते

अपितु स्त्री जीवन की आत्मनिर्भरता और स्वतंत्र विचार शैली के साथ स्त्रियों को किसी भी कट्टर समाज में जीने की आस्था देते हैं । यासमीन कहती है कि जो चीज बेकार हो जाए उसको बहार कर देना चाहिए वरना सड़ने लगती है । धार्मिक रूढ़ियाँ चाहे वे कितनी ही प्यारी हो आगे वे समाज के लिए किसी काम की नहीं है तो उनको धर्म से बाहर कर देना चाहिए । वह अपनी मित्र खुशबु से कहती है कि मेरा पुराणी रूढ़ियों का विरोध करना धर्म के खिलाफ कैसे हो गया – "खूशबू क्या मैं विद्रोही हूँ, क्या मैं खुले विचारों की हूँ, खुले विचार के क्या मायने हैं ? घर की लड़कियों, औरतों को तालीम देना, उन्हें जीवन जीने का सलीका बताना, अपना अस्तित्व पहचनाना क्या यह विद्रोह की निशानी है?" कीर्ति शर्मा की कहानियों का फलक अत्यंत विस्तृत तो है ही साथ ही अत्यंत मार्मिक और गहरा भी हैं । वे अनेक विषयों को एक साथ लेकर चलती है और कहानी के शिल्प में उन्हें बाँधते चलती है |

निष्कर्षत: कीर्ति शर्मा की कहानियों के पात्र हमारे आसपास के परिवेश से जुड़े हुए हैं और वे हमें बार – बार इधर – उधर भटकते नजर भी आ जाते हैं । कीर्ति शर्मा के कहानी लेखन की एक ख़ास बात यह है कि वे कहानी को एक आदर्श स्थिति पर ले जाकर छोडती हैं और समाधान की ओर अग्रसर करती दिखती है । इनकी कहानियों की भाषा बेहद ही सहज और सरल नजर आती है।साथ ही कई कहानियाँ तो काव्यात्मक शैली में लिखी गई है जो पढने का एक अलग ही आनंद देती है ।

संदर्भ सूची

कीर्ति शर्मा, पिघलते लम्हों की ओट से, बोधि प्रकाशन, 2013, पृष्ठ 42
वही, पृष्ठ 52
वही पृष्ठ 62
वही पृष्ठ 70
वही पृष्ठ 91
कीर्ति शर्मा, बूँद भर सावन, बोधि प्रकाशन, 2017, पृष्ठ 56
वही, पृष्ठ 124

प्रवासी साहित्य की अवधारणा

-डॉ. अन्सा ए
सहायक आचार्य
हिन्दी विभाग
सरकारी ब्रेण्णन कॉलेज
तलश्शेरी, कण्णूर
केरल ६७० १०६
मोब: 9995083552
ईमेल:anzaali2012@gmail.com

बीसवीं सदी के अंतिम चरण में साहित्य को समझने की दृष्टि में गुणात्मक बदलाव व परिवर्धन आया है| ऐसे माहौल में हिन्दी साहित्य जगत में नए प्रयोग, नए विमर्श, नई परिकल्पनाओं और नई विधाओं का प्रादुर्भाव व अचिंतनीय विकास हुआ| इस तरह पल्लवित होने वाले साहित्य विधाओं में प्रवासी साहित्य की अपनी अलग पहचान है|

'प्र' उपसर्ग के बाद 'वास 'शब्द लगाने से 'प्रवास' शब्द बनता है| 'प्र' संस्कृत उपसर्ग है जिसका अर्थ होता है- उत्कर्ष, अधिक, उत्पत्ति आदि| 'वास' शब्द का अर्थ है- आवास, निवास, वासगृह आदि| इस तरह 'प्रवास' का शब्दार्थ होते हैं- देशान्तरगमन, परदेशगमन, विदेशवास , विदेशगमन आदि| 'प्रवास' शब्द में 'ई' प्रत्यय लगाकर 'प्रवासी' शब्द बनता है| इस तरह देखें तो 'प्रवासी' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ प्रवासक, परदेशी, विदेश में रहने वाला या निवास करने वाला है| अर्थात प्रवासी वे जनता हैं जो अपना वतन छोड़कर कोई अन्य देश अनिश्चित समय के लिए जाते हैं और वहाँ बसने का फैसला कर लेते हैं| प्रवासी की स्थिति सदा अनिश्चित होती है| वे परदेशगमन के बाद वापस स्वदेश में लौटने का निर्णय भी कर सकता है|

भारतीय मूल के परदेश में रहने वालों के सृजनात्मक लेखन को प्रवासी साहित्य की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है| प्रवासी साहित्य को परिभाषित करते हुए डॉ. रेखा गौतम का कहना है- "प्रवासी लेखक का संवेदन संस्कार के रूप में अपने नए परिवेश को ग्रहण करता है, परिवेश बदल जाने से प्रवासी के जीवन में विशेषताएँ और जटिलताएँ आती हैं| जिस कारण उसके नए संस्कार, नया दृष्टिकोण, नए विचार, नई सोच और नई मान्यताएँ बनने लगती हैं| इन परिवेशों और परिस्थितियों को वे अपनी रचना

का विषय बनाते हैं| इनके द्वारा रचित साहित्य प्रवासी साहित्य कहलाता है|"१ अतः अपना परिवार, अपना परिवेश, अपनी परंपरा, अपनी सोच व मान्यताएँ, अपनी भाषा, अपनी सभ्यता व संस्कृति तथा अपना देश से विलग रह कर प्रवास के कारण उत्पन्न अपनी गहन संवेदनाओं, अंतरद्वंदवों एवं अपने जीवन संघर्षों की उदात्त अभिव्यक्ति करने वाला साहित्य प्रवासी साहित्य है|

प्रवासी साहित्य अलग-अलग देशों में सृजनरत होने के कारण प्रत्येक प्रवासी रचनाकार की अपनी-अपनी विलग पहचान व अभिव्यक्ति रही है| इनमें परदेश की नवीनता, परंपरा व मान्यताओं की स्वीकृति का सम्मिश्रण पाए जाते हैं| प्रवासी हिन्दी साहित्य का मूल केंद्र अधिकांशतः मॉरिशस, फिजी, अमेरिका, ब्रिटेन, सूरीनाम जैसे देश हैं और यहाँ कार्यरत रचनाकारों द्वारा अनगिनत कृतियों की सर्जना हुई हैं, जो हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए उपयुक्त भी हैं| डॉ. कमल किशोर गोयनका का कथन है कि- "अमेरिका, इंग्लैंड, आदि देशों के भारतवंशी हिन्दी लेखक स्वयं को भारतीय लेखक मानते हैं और अपनी हिन्दी रचनाओं में देशी पहचान और भारतीय संस्कृति को मज़बूत आधार देते हैं|२ इस तरह भारत वंश के प्रवास में रहकर भारत की गरिमा बढ़ाने वाले सर्जकों में उल्लेखनीय चेहरे हैं- मॉरिशस के अभिमन्यु अनत, राज हीरामन, वेणी माधव, ब्रिटेन से तेजेंद्र शर्मा, उषा राजे सक्सेना, नेदरलैंड से पुष्पिता अवस्थी, अमेरिका से उषा प्रियंवदा, सुषमा बेदी, सुधा ओम ढींगरा, डेन्मार्ग से अर्चना पैनयूली, नॉर्वे से सुरेश चंद्र शुक्ल, शारजाह से पूर्णिमा बर्मन, अबूदाबी से कृष्ण बिहारी आदि| ये सभी प्रवासी साहित्य के फलक को सुविस्तृत बनाने में सदा कर्मरत होते दिखाई पड़ते हैं|

प्रवासी साहित्य के कुछ मूल भूत तत्व निर्धारित हैं- भारतीय मूल के विदेशों में सर्जन, विश्व भाषा हिन्दी साहित्य लेखन, कथा-वस्तु व चरित्र-चित्रण, देशकाल या वातावरण, भाषा-शैली और उद्देश्य| इन्हीं पहलुओं के आधार पर ही प्रवासी साहित्य लेखन हुए हैं| इन के अंतर्गत कविता, लघु कहानी, कहानी, उपन्यास, एकांकी, यात्रा वृत्त, समीक्षा, अनूदित लेखन आदि साहित्य विधाओं का सर्जन हुए हैं| प्रवासी रचनाकारों ने अपने लेखन में सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना को उजागर करने का प्रयास किया है| यह पाठकों के लिए नए जीवन मूल्य, नए जीवन संघर्ष, नए परिवेश तथा नए अनुभव का एहसास करता है| भारत से सुदूर रहकर भी वे भारत के नैतिक मूल्यों, मर्यादाओं एवं संस्कारों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए संघर्षरत भी हैं| अपनी निजी वैशिष्ट्य के कारण आज प्रवासी साहित्य व साहित्यकार हिन्दी साहित्य जगत में प्रतिष्ठा पाई है| अतएव प्रवासी साहित्य विधा का स्वरूप इतना विस्तृत है कि सभी विषयों की परिधि से होकर ही देशकाल की सीमा को पार करते हुए अनेकानेक मनोवृत्तियों को अभिव्यंजित कर आगे बढ़ रहे हैं|

प्रवासी रचनाकारों की भाषा अनुपम व अनूठा है| इनमें तत्सम, तद्भव, अरबी, फारसी, उर्दू, मराठी, पंजाबी, भोजपुरी, गुजराती तथा अंग्रेजी शब्दों व वाक्यांशों का यथेष्ट प्रयोग प्राप्य हैं| सहज- स्वाभाविकता, संक्षिप्तता, चित्रात्मकता, ध्वन्यात्मकता, सशक्त बिम्ब व प्रतीकात्मकता, आलंकारिकता, वाक्य विन्यास तथा सुसज्जित व सुस्पष्ट भाषा शैली आदि से वे अपने परिवेश से पाठकों से सीधा साक्षात्कार करती है| यह उनकी भाषा की जीवंतता तथा प्रौढ़ता को दर्शाती है|

यह तथ्य अत्यंत श्लाघनीय है कि हिन्दी का प्रचार-प्रसार करने हेतु हिन्दी विद्वजनों, हिन्दी संगठनों तथा हिन्दी प्रेमियों के संयुक्त तत्वावधान में विगत कई वर्षों से विश्व हिन्दी सम्मेलन सम्पन्न हो रहे हैं| इन विश्व हिन्दी सम्मेलनों के पीछे यह अवधारणा रही कि प्रवासी साहित्य को ही बढ़ावा मिलेगा| इन सम्मेलनों के आयोजन व सहभागिता से विदेश में बसे जो प्रवासी रचनाकार हैं, उनको हिन्दी भाषा के प्रति अटूट आत्मविश्वास, लगाव व आवेग बढ़ने का सुअवसर भी प्राप्त हुए| अतएव हिन्दी सम्मेलनों के माध्यम से अब विश्व भाषा हिन्दी विकसित हो रही है, जिनमें प्रवासी साहित्यकारों के साहित्य का भी योगदान विलक्षण रहे हैं|

स्पष्टतः प्रवासी हिन्दी साहित्य अत्यंत सम्पन्न व विका सोन्मुख है| इनमें भारतीयता की महक साफ परिलक्षित हैं| ये साहित्य निर्मिती से हम परदेश रचनाकार के अनुभवों, संवेदनाओं एवं सोच- विचारों से तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं और उनकी अपनी मातृभूमि व बंधु जन से विलग होने के विरहजन्य पीड़ा, नए परिवेश, नए समाज तथा नए संघर्ष पूरित स्थितिगतियों से खुद को ढालने के अनुभव का भी स्पष्टीकरण मिलते हैं| देशकाल सीमा को लाँगकर आज प्रवासी हिन्दी साहित्य विविध विषय व शैली को अपनाते हुए नई दिशा एवं दशा की ओर अग्रसर होते दिखाई पड़ते हैं| आशा है कि प्रवासी साहित्य का भविष्य मंगलमय हो|

संदर्भ संकेत

संपा. डॉ. कल्पना गवली, हिन्दी प्रवासी कथा साहित्य, डॉ. रेखा गौतम, प्रवासी साहित्य में मॉरिशस का योगदान, पृ. सं. ६९
डॉ. कमल किशोर गोयनका, हिन्दी का प्रवासी साहित्य, पृ. सं. ४७

राष्ट्रीय एकीकरण: जनजातीय भाषा और संस्कृति के विशेष संदर्भ में

-अजीत कुमार जोगी

सारांश: भारत सांस्कृतिक विविधता से भरा देश हैं, जहां कई जनजातीय समूह, वर्ग, जाति, धर्म और पंथ के लोग साथ-साथ रहते हैं. यह सांस्कृतिक विविधता जाति धर्म, लिंग, उम्र, भाषा और संस्कृति को प्रकट करती है. आदिवासी समुदायों में भी अलग-अलग भाषा और संस्कृति पायी जाती है. आदिवासी समाज के अस्तित्व में संस्कृति और भाषा महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है. भाषा तथा संस्कृति के कारण ही आदिवासी अन्य समाज से अपनी एक अलग पहचान स्थापित करते हैं तथा विपरीत परिस्थितियों में यही भाषा और संस्कृति ही उन्हें तेजी से एकजुट करती है.

समाज के कमजोर वर्ग की भाषा और संस्कृति के अध्ययन के साथ ही साथ उसको राष्ट्रीय महत्व के अवयव माने. बिना हम राष्ट्रीय एकता को चित्रित नहीं कर सकते हैं. अतः यह शोध पत्र राष्ट्रीय एकता की प्रक्रियाओं में आदिवासी समाज की भूमिका तथा उनकी भाषा और संस्कृति की गहन पड़ताल की गयी है.

[संकेत शब्द: आदिवासी संस्कृति, जनजातीय समुदाय, विकास, राष्ट्रीय विकास]

प्रस्तावना

आदिवासी समाज एक तथाकथित मुख्यधारा के समाज से अलग समाज है, जो मुख्य रूप से दुर्गम जंगल और पहाड़ में निवास करते है. आदिवासी समाज प्रकृति के अत्यंत ही निकट होते हैं तथा इनका जीवन प्रकृति की गोंद में फलता फूलता है. भरत की जनगणना 2011 के अनुसार, आदिवासियों की कुल जनसंक्या 8.6 प्रतिशत है. प्रजातीय दृष्टि से इन समूहों में नीग्रिटो, प्रोटो-आस्ट्रेलायड और मंगोलायड तत्व मुख्यत: पाए जाते हैं. यद्यपि नृतत्ववेत्ताओं ने नीग्रिटो तत्व के संबंध में शंकाएँ भी हैं. भाषाशास्त्र की दृष्टि से उन्हें आस्ट्रो-एशियाई, द्रविड़ और तिब्बती-चीनी-परिवारों की भाषाएँ बोलने वाले समूहों में विभाजित किया जा सकता है. भौगोलिक दृष्टि से आदिवासी भारत का विभाजन चार प्रमुख क्षेत्रों में किया जा सकता है : उत्तरपूर्वीय क्षेत्र, मध्य क्षेत्र, पश्चिमी क्षेत्र और दक्षिणी क्षेत्र. भाषा और संस्कृति अपने आप में अद्विए है. जनजाति भाषा और संस्कृति जनजातियों के लिए महत्वपूर्ण होने के साथ ही साथ देश के एकता और विकास में भी सहायक है. जनजाति भाषा और संस्कृति का महत्त्व और जरुरत जितनी आदिवासियों के लिए है, उतनी अन्य वर्ग समूहों के लिए नही है. अगर जनजाति संस्कृति की बात किया जाये तो इसका महत्व और जरुरत जनजाति समाज के लिए आत्मा की तरह है. जनजातिये समूहों में भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषा, बोली और संस्कृति पाई जाती है.

भारत की 705 जनजातियां कुल 7 छेत्रों में विभाजित है. जो कि अलग-अलग भाषा समूह के है, ये लोग मुख्य रूप से चीनी-तिब्बती भाषा, आस्ट्रो-एशियाटिक, द्रविड़ भाषा परिवार, प्रोटो-अस्ट्रेलयड इत्यादी समूह से आते है (जनजाति कार्य मंत्रालय, भारत सरकार). ऐतिहासिक रूप से जनजाति किसी भी भाषा परिवार से आते हों, परन्तु सब का अपना- अपना महत्त्व है. जनजाति भाषा और संस्कृति को राष्ट्रीय विकास के लिए समझाना और जानना जरुरी है. जनजाति भाषा और संस्कृति का ज्ञान योजना निर्माण के लिए भी आवश्यक है.

शिक्षा के क्षेत्र में जनजाति भाषाओं का उपयोग नही के बराबर हो रहा है, जिससे आदिवासी भाषा लुप्त होने के कगार में है. साहित्य सम्मलेन में आदिवासी भाषा और बोली की कमियां दिख रही हैं. अब तक नव आदिवासी सम्मलेन हुए है, परन्तु इस सम्मलेनों में जनजाति भाषा और बोलियों का उपयोग कम ही किया गया. देश के बड़े-बड़े जिसमे केन्द्रीय आदिवासी विश्वविद्यालय भी आदिवासी बच्चों को तो पढ़ाते हैं, परन्तु आदिवासी भाषा और बोली का उपयोग नही करते है (तलवार, 2016).

जनजातियो में राष्ट्रीयता

जनजाति समाज में राष्ट्रीयता तथा राष्ट्रीय भावना को समझाना जरुरी है. वो क्या कारक व तत्व हैं, जिससे जनजातियों में राष्ट्रीय एकता फलती-फूलती है. किन-किन चीजों से जनजातियों में राष्ट्रीय एकता प्रभावित होती है. इस चीज़ का चिन्हांकन करना आवश्यक है. कैसे राष्ट्रीय एकता आदिवासी समाज में उत्पन होती है और वे किन परिस्थितियों में इसमें सहयोग प्रदान करते है ? इन सब चीजों को जाने बिना जनजातियो में राष्ट्रीय एकता को निर्धारित करना उचित नही होगा. जिस तरह तथाकथित मुख्यधारा के लोगों में राष्ट्रीयता को देखा और समझा जाता है, बिलकुल उसी प्रकार आदिवासी समाज को नही देखा जा सकता. क्योंकि जनजातियो में राष्ट्रिय एकता की भावना के उत्पन होने अथवा इसके विघटित होने

के भिन्न-भिन्न कारण और शर्ते हैं. हमें यह भी देखने की जरूरत है कि जनजाति विकास और कल्याण के लिए बनाई गई नीति और योजनाओ से क्या वे खुश और संतुष्ट हैं या शासन के प्रति किसी भी प्रकार की नाराजगी जनजातियो में तो नही है. यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि जनजातियों से सम्बंधित बनने वाली नीतियां और योजनाएँ उनकी भाषा और संस्कृति, पहचान, सम्मान और महत्व के संदर्भ में होनी चाहिए.

सरकार जनजाति भाषा और संस्कृति को राष्ट्रीय पटल पर कैसे देखती है और उन्हें कैसा दर्जा देती है. इन सब बातों का स्पष्टीकरण होना भी आवश्यक है. तभी हम जनजातियो के मध्य राष्ट्रीयता की भावनाओं को अच्छे से समझ सकते हैं.

आदिवासी विद्रोह और आन्दोलन

जनजाति विद्रोह और आन्दोलन के अनेक निश्चित कारण हैं. ज्यादातर विद्रोह और आन्दोलन जनजातियों में विकास, अधिकार और शोषण तथा असंतुष्टि से शुरू हुआ है. जनजाति असंतुष्टि को हम स्वतंत्रता के पूर्व, स्वतंत्रता के बाद तथा वर्त्तमान समय में देख सकते है. तीनों ही कालों में जनजाति आन्दोलन और विद्रोह देखने को मिलता है. जनजाति विद्रोह और आन्दोलन के इतिहास में ब्रिटिश शासन तथा भारतीय शासन काल में बहुत सारे विद्रोह और आन्दोलन हुए. ज्यादातर जनजाति विद्रोह जमींदार, साहुकार एवं सरकारी ऑफिसर्स के खिलाप हुए, जो की वास्तव में जनजातियो के शोषणकर्ता थे.

आदिवासी भाषा और उनकी संस्कृति की अवहेलना करना राष्ट्रीय एकता के लिए बड़ा बाधक है. शासन के विरुद्ध विभिन्न आदिवासी आन्दोलन, क्रांति तथा विद्रोह औपनवेशिक काल में देखने को मिला. ब्रिटिश शासन के दौरान आदिवासी लोग विभिन्न प्रकार के भाषाई, सामाजिक, संस्कृति तथा राजनितिक समस्यायों का सामना कर रहे थे. इस समय ब्रिटिश साशन के द्वारा आदिवासियों का तथा आदिवासी संसाधनों जैसे – जल, जंगल और जमींन का असीमित शोषण हुआ. आदिवासी समूह जमींन, जंगल, जल, संस्कृति, भाषा, आर्थिक, तथा आत्मसम्मान की लड़ाई लड़ रहे थे. आदिवासी तथा आदिवासी संसाधनों का शोषण के देश के कई हिस्सों में देखने को मिला. जिसके परिणामस्वरूप, आदिवासी समुदाय में ब्रिटिश शासन के नीति और योजनाओ का विरोध किया.

उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान कई आदिवासी विद्रोह हुए, उनमें से मिजो (1890), कोल (1794), मुंडा (1889), दफ़ला (1874), खासी और गारो (1829), कचारी (1839), संथाल (1843), मुरिया गोंड (1886), नागा (1844), भुइया (1868), और कोंध (1817) मुख्य हैं (ममता अग्रवाल, 2010). जिसमे संथाल विद्रोह किधू और कानू के नेत्रित्व में भूमिकर अधिकारियो के हाथो दुर्व्यवहार, पुलिस के दमन एवं जमींदार व् साहूकार की मसूलियो की विरोध में हुआ और कंपनी का शासन ख़त्म करने की बात कही तथा अपने आप को स्वतंत्र घोषित किया.

मध्य भारत में ज्यादातर जनजाति विद्रोह शोषण के विरोध हुआ है, जिसमें जनजातियो की जमीन पर शोषणकर्ता का अधिकार और आर्थिक तथा सांस्कृतिक रूप से शोषण मुख्य (पूजा मंडल 2010) हैं. इसी क्रम में 1828 से 1830 तक असम के अहोम वर्ग के लोगो ने कंपनी का विरोध किया, क्योकि अहोम प्रदेश को कंपनी अपने अधिनस्थ करना चाहते थे. परिणाम स्वरूप, अहोम लोग अपना राज्य घोषित कर कंपनी के खिलाफ विरोध व विद्रोह किया. खासी विद्रोह 1833 में हुआ, जिसमें ब्रह्मपुत्र घाटी और सिलहट को गारो पहाडियों में जोड़ने के विरोध में नक्सली नेता तीर्थ सिंह के नेत्रित्व में अंग्रेजो के विरुद्ध मुहीम चलाया. 1830 के भील विद्रोह, कृषि सम्बन्धी समस्यायों को लेकर हुआ, जिसमें अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ भीलों के आदिम जातियों के द्वारा किया गया. कोल विद्रोह अंग्रेजी शासन से उत्पन्न बेरोजगारी के विरुद्ध में 1829, 1839, 1844, 1849 में हुआ.

इसी प्रकार मुण्डा विद्रोह 1899—1900 में हुआ, जिसका प्रमुख कारण मुण्डा जनजाति के सामूहिक खेती में जागीरदारों और ठेकेदारों का हस्तछेप था. इन जागीरदारों और ठेकेदारों को अंग्रेजो का संरक्षण प्राप्त था. इस विद्रोह में विरसा मुण्डा के नेतृत्व में 6000 मुंडाओ ने तीर, तलवार, और कुल्हाडियो से लैस होकर इस विद्रोह में भाग लिया. इस प्रकार ब्रिटिश शासन काल में भारत के विभिन्न भागो में बहुत सारे विद्रोह और आन्दोलन हुए.

विद्रोह और आंदोलनों के कारण

समस्त जनजाति विद्रोह और आन्दोलनों का मूल अधार जनजातियो से उनके जल, जंगल, जमीन और सम्मान को लेकर असंतुष्टि थी. फिर भी जो मुद्दे आदिवासियों के प्रतिरोध के केंद्र में रहे, उनका संबंध मुख्यत: उनकी परम्परागत जीवन पद्धति पर होने वाले हमलों से था. उन्होंने जंगल के इस्तेमाल संबंधी अपने परंपरागत अधिकारों में कटौती करने या भारी कर लगाने के सरकारी प्रयासों का विरोध किया. गैर-आदिवासियों का हस्तछेप, अपनी ही जमीन पर पूर्ण अधिकार ना होना बिद्रोह का कारण बना. ब्रिटिश काल में निर्मित नए जंगल कानूनों को आदिवासी समाज ने

अपने स्वाभाविक अधिकारों पर अतिक्रमण के रूप में रेखा. इन कानूनों ने भारतीय जंगलों पर पूरी तरह से सरकार का अधिकार स्थापित कर दिया. दूसरे शब्दों में, ब्रिटिश राज की बढ़ोतरी ने उनकी शक्ति, स्वतंत्रता और संस्कृति के स्वायत्त क्षेत्रों को मिटा डाला. इसने आदिवासियों और ब्रिटिश राज को एक दूसरे के विरोध खड़ा कर दिया, जिसने टकराव व हिंसक प्रतिरोधों को जन्म दिया. जंगलों पर राज्य के एकाधिकार और उनके व्यापारिक दोहन व उनके प्रयोग पर कर लगाने के कारण, एवं आदिवासी क्षेत्रों में बाहरी लोगों के आगमन तथा उनके द्वारा आदिवासी किसानों के शोषण ने भी आदिवासी विद्रोहों को उत्पन्न किया.

आदिवासियों में नक्सली आन्दोलन बिहार, पश्चिम बंगाल, आँध्र प्रदेश, छत्तीसगढ़ और मध्यप्रदेश में हुआ. इसका मुख्य कारण उदारीकरण की नीति भी थी. आदिवासियों का शोषण होता रहा तथा जिसके कारण उनमें गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, और सांस्कृतिक ह्रास देखने को मिला (पूजा मंडल 2010).

वर्तमान समय में जनजातियाँ और राष्ट्रीय एकता

वर्त्तमान में आदिवासी समाज के कल्याण और उसके विकास की स्थिति क्या है? क्यो हमें आदिवासियों की स्थिति का अवलोकन तथा मूल्यांकन करने की भी जरूरत है. आदिवासी भाषा और संस्कृति का राष्ट्रीय पटल पर क्या स्थिति है, और राष्ट्रीय एकता के क्रम में उन्हें कहाँ पर स्थान देती है? वर्तमान समय में, जहां सरकारी योजनाएँ, नीतियाँ और विकास किसी समुदाय विशेष की भाषा और संस्कृति को अधार मान कर नियोजित और निर्धारित किए जा रहे हैं। शिक्षा को मातृभाषा मे पठन-पाठन की बात कही जा रही है. वैश्विक और राष्ट्रीय अनुदान और बजट किसी जाति, समुदाय की संख्या, भाषा और संस्कृति आधारित निर्धारण किया जा रहा है। आज जहां लोग संस्कृति और भाषा को अपने समाज की प्रतिष्ठा और सम्मान के रूप में, इसके प्रचार-प्रसार और स्थापित करने के होढ़ में हैं. ऐसी परिस्थिति में स्थानीय, राजकीय, और राष्ट्रीय स्तर पर जनजाति संस्कृति और भाषाओं को राष्ट्रीय महत्व के अवयव ना समझते हुए, इसकी अवहेलना करना निश्चित रूप से जनजाति समूहों में असंतुष्टि का सृजन करता है. परिणामतः राष्ट्रीय एकता बाधित होना स्वाभाविक है.

जनजाति समाज और राष्ट्रीय एकता

आदिवासी समाज के विकास, कल्याण और उनकी भाषा, संस्कृति की अवहेलना भी किया जा रहा है. इसलिए आदिवासी समाज को देश हित के लिए एक मंच पर लाना चाहिए. निश्चित रूप से, आदिवासी समाज शासन के द्वारा राष्ट्रीय हित या राष्ट्रीय एकता के लिए प्रायोजित किसी भी प्रकार के प्रयास में भाग नही लेना चाहेंगे. क्योंकि आदिवासी शासन के विकास नीतियों और योजनाओ से हताश तथा निराश है. भारतीय प्रशासन आदिवासी कल्याणकारी तथा विकास मूलक नीतियों और योजनाओ के आभाव में पूर्ण शासन करने में असमर्थ रहे. यह एक बड़ा प्रश्न है. इस परिस्थितियों में राष्ट्रीय एकता की क्या स्थिति थी, क्या आदिवासी राष्ट्रीय एकता के अनुक्रम में कोई सहयोग करते थे या किस ढंग से करते थे? क्या राष्ट्रीय एकता आदिवासियों के सहयोग के बिना बाधित हो रही थी? क्या आदिवासी शासन को सहयोग करने के बजाय इसके विरोध में कार्य करते थे? ये सब एक बहुत बड़ा प्रश्न है (मेहर, 2016).

स्वतंत्र भारत में आदिवासियों के लिए कुछ योजना बनाई गई, परन्तु वे नीतियाँ आदिवासी समाज का कल्याण और विकास करने में विफल रहीं या योजनाओं का क्रियान्वयन जमीनी स्तर पर नही हुआ. जिससे आदिवासी समूह इन योजनाओ से लाभ प्राप्त नहीं कर सके, जिससे उनका मुख्यधारा में नहीं आ सके. अंततः, आदिवासी समाज शासन की कार्यप्रणाली से संतुष्ट नही थे.

अतः हम कह सकते है कि भरतीय प्रशासन का रवैया आदिवासी नियम कानून के विरोधी था. इस प्रकार विभीन सरकारें आदिवासी समाज की आवश्यकताओं की अवहेलना करते आया है, जिससे आदिवासी समाज प्रभावित हुआ है. ब्रिटिश और भारतीय शासन के दौरान आदिवासियों के आत्मसम्मान तथा स्वाभिमान की भी अवेलाना की गई. इसी क्रम में आदिवासी भाषा और संस्कृतियों की भी अवहेलना की गई. शासन के द्वारा आदिवासी धर्म, परम्परा, संस्कृति, रीति-रिवाज और उनके स्तानीय नियम-कानूनों की भी अवहेलना की गई. इस प्रकार ब्रिटिश और भारतीय शासन के द्वारा देश के विभिन्न लोगो को अथवा प्रत्येक वर्ग के लोगो को देश हित, विकास अथवा राष्ट्रीय एकता के लिए एक सामान मंच पर लाने में असमर्थ रहे.

आदिवासी समाज को आधुनिक समाज के साथ एक मंच पर लाने में सरकार असमर्थ रही है. आदिवासी समाज भौगोलिक, शारीरिक, सांस्कृतिक विसमनाओं के अधार पर भी विभिन्न वर्गों और समूहों से भिन्न है. यह समाज भाषाई विविधता के आधार पर भी विभिन्न समूहों में बंटे हुआ है. जिससे इस समाज को एक मंच पर किसी विशेष उद्देश्य के लिए शासन असमर्थ रहा. आदिवासी सामान में विविधाताओ के अलावा उसकी विभिन्न प्रकार की मांगे जैसे

सामाजिक-सांस्कृतिक तथा आर्थिक मानकों का भी उसके संतुष्टि के स्तर तक पूर्ण नहीं होना भी उन लोगो के बीच में असंतुष्टि का एक बड़ा कारण रहा है.

भारतीय संविधान में 22 भाषाओँ को मान्यता दी गई है, पर इसमें से कितनी भाषाएँ जनजाति की भाषा है, यह एक यथोचित प्रश्न है. जनजातिओं की भाषाओँ को बोलने, लिखने और पढ़ने में उपयोग में नही लाया जा रहा है. जनजाति भाषाओ को नज़रअंदाज किया जा रहा है. भारत में विभिन्नता पायी जाती है, लेकिन अनेकता में एकता भी पाई जाती है. परन्तु सांस्कृतिक और भाषाई दृष्टि से विभेद भी है, एकता से सम्बंधित भावना समाप्त होते जा रही है. परिणामस्वरूप, अब एक राज्य के निवासी दूसरे राज्य की भाषा तथा रीति-रिवाज एवं परम्परा को भी सहन नही कर रहे है. संस्कृति की संकीर्णता के साथ-साथ जब देश में और ऐसी विघटनकारी प्रवित्तियां विकसित हो गई है. जिनके कारण राष्ट्रीय एकता एक जटिल समस्या बन गई है. जनजाति भाषा और संस्कृति तो औरों से परे है ही तथा साथ ही गैर-आदिवासियों की भाषा और संस्कृतियों से भी कोशों दूर है.

निष्कर्ष

शासन के द्वारा जहां एक तरफ आदिवासी जनसँख्या, संस्कृति, भाषा और इससे सम्बंधित विकास की नीतियों और योजनाओं को राष्ट्रीय पटल पर दिखाया और भुनाया जा रहा है. हमारे देश में आदिवासी कल्याण और विकास की ढेरों सम्भावनायें हैं. आम आदिवासी भाषा और संस्कृति का पूरा सम्मान करते हैं. वहीं दूसरी तरफ, आधुनिक जिंदगी की चकाचौंध में आदिवासी भाषा और संस्कृतियों को राष्ट्रीय स्तर पर पहचान नही मिल पा रही है. जिससे आदिवासी और जनजाति समाज में असंतुष्टि का माहौल है. जिसके कारण आज विभिन्न प्रकार के आदिवासी विद्रोह और आन्दोलन को जन्म दिया है. आदिवासी भाषा व संस्कृति को महत्व नही दिये जाने से पहचान संकट की स्थिति उत्पन्न हो गई है. पहचान और सम्मान के आभाव में राष्ट्रीय एकता प्रभावित हो रही है. क्योंकि आदिवासी समाज शासन द्वारा निर्धारित राष्ट्रीय एकता के मंच पर सहभागी नही होता. पारस्परिक असहभागिता देश के विकाश के साथ ही राष्ट्रीय एकता में भी बाधक है.

अंत में यह कहा जा सकता है कि आदिवासी भाषा और संस्कृति शासन के द्वारा राष्ट्रीय महत्व के संपत्ति के रूप में पहचाना और समझा जाना चाहिए. इसके साथ-साथ आदिवासी भाषा और संस्कृति को राष्ट्रीय स्तर पर सम्मान और महत्त्व दिया जाना चाहिए. शासन की आदिवासी नीति और विकास की योजनायें आदिवासियों के लिए लाभकारी और हितकर होनी चाहिए.

सन्दर्भ सूची

भारत सरकार, भारत की जनगणना 2011, कार्यालय महापंजीयक एवं जनगणना आयुक्त, भारत,नई दिल्ली।

सरिता, महार (2016). राष्ट्रीय एकता पर निबंध, https://www.hindivarta.com/essay-national-unity-hindi-rashtriya-ekata/ से प्राप्त किया गया.

ममता, अग्रवाल (2010). भारत में आदिवासी आन्दोलन, http://www.historydiscussion.net/essay/tribal-movements-in-india/1797

मंडल, पूजा (2010). भारत में स्वतंत्रता के पहले और बाद में आदिवासी आन्दोलन, http://ww.yourarticlelibrary.com/india-2/tribal-movement-in-india-before-and-after-independence-2796-words/6141

तलवार, वीर भारत (2013). आदिवासी विमर्श: धर्म, संस्कृति, और भाषा का सवाल कहाँ है? https://tirchhispelling.wordpress.com/2013/04/29/%E0%A4%86%E0%A4%A6%E0%A4%BF%E0%A4%B5%E0%A4%BE%E0%A4%B8%E0%A5%80-%E0%A4%B5%E0%A4%BF%E0%A4%AE%E0%A4%B0%E0%A5%8D%E0%A4%B6-%E0%A4%A7%E0%A4%B0%E0%A5%8D%E0%A4%AE-%E0%A4%B8%E0%A4%82%E0%A4%B8%E0%A5%8D/, से उद्धरित.

☆☆☆

समकालीन आदिवासी कविता
(संदर्भ: आंदोलन, इतिहास और पर्यावरणीय बोध)

-डॉ.सी.सुरेश
हिंदी विभाग
श्री कृष्णदेवराय विश्वविद्यालय
हैदराबाद-515003
मोबइल-9441000396
इमेल-sureshchikkappa@gmail.com

वर्तमान में आदिवासी को मूलवासी, वनवासी, प्राचीनवासी, अनुसूचित जनजाति के रुप में जाना जाता है। इन नामकरणों से ही पता चलता है कि आदिवासी के प्रति भारतीय जन सामन्य की क्या दृष्टि रही है ? भारत के प्राचीनतम मूल निवासी वैसे आदिवासी ही हैं। प्राचीन काल से देखा जाये तो आदिवासी को अनार्य के रुप में चित्रित किया गया है। भारत में आर्यों के प्रवेश के बाद आर्य-अनार्य के बीच युद्ध हुआ। इस युद्ध में आर्यों ने प्रशिक्षित कौशल, कुटिल नीति एवं षड़यंत्र अपना के अनार्यों को हराया। उनके स्थानों को अस्त-व्यस्त करके उनको भगा दिया। आदिवासी आखिर जंगल को आधार मानकर वहाँ अपना जीवन मैत्रीपूर्ण चलाने लगे। प्राचीन काल से आज तक आदिवासी जंगल को ही अपना आधार मानकर जीवन को चला रहे हैं लेकिन जब अंग्रेजों ने भारत में प्रवेश किया तब से आदिवासियों को विभिन्न समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। अंग्रेजों ने व्यापार की वृद्धि के लिए जंगलों को हस्तगत करके जंगल में भरी हुई खनिज संपदा को लूटने के कार्य को तीव्रता प्रदान की। अंग्रेजों ने आदिवासियों से बेगार करा के उनका शोषण किया। अंग्रेजों के भारत छोड़ने के बाद भी भारत सरकार ने अंग्रेजों की नीति को अपनाकर आदिवासियों को उनकी जमीन से बेदखल करने के कार्य को बढ़ाया। इसके साथ-साथ उनके अस्तित्व को भी संकट में डाल दिया।

आदिवासी साहित्य का प्रधान रूप मौखिक या वाचिक रूप में उपलब्ध है। आदिवासियों की कामना, आकांक्षा कहावत, लोक कथा, लोकगीत आदि मौखिक रुप में छुपा हुआ है। समकालीन आदिवासी कविता वर्तमान में नयी पीढ़ी के रचनाकारों द्वारा सामने आ रही है। इन कविताओं में आदिवासियों की वेदना, संघर्ष, अकांक्षा और कामना व्यक्त हो रही है। समकालीन कविताओं में नया भाव-बोध, यथार्थ एवं आँचलिक भाषाएँ उभर कर सामने आ रही हैं। आदिवासी कविता किसी भी तरीके के अन्याय का विरोध करती है। इस रूप में यह समकालीन विमर्शों के साथ जुड़ जाती है। दलित कविता भी किसी भी तरीके के मानवीय अन्याय, अत्याचार और शोषण का विरोध करती है। इस रूप में विरोध, प्रतिरोध का स्वर दलित एवं आदिवासी कविता को एक मंच पर लाता है।

आदिवासी कविता जनता में चेतना के साथ-साथ आंदोलन को आगे बढ़ाने में भूमिका भी निभा रही है। समकालीन आदिवासी कविता जनता में जागरण के विचार को फैलाती है। अर्थात् आदिवासी कविताएँ खुद गरजती हैं और गरजने को प्रेरित करती भी है। जैसे-

"एक बूंद पानी के लिए
तड़प-तड़प
जाएंगी
हमारी पीढ़ियां
.....
क्या कभी सुना है
एक पर्वत के बदले
उगाओ दूसरा पर्वत"

उपरोक्त कविता के माध्यम से ग्रेस कुजूर भविष्यवाणी करती हैं कि वर्तमान समय का मध्यवर्ग वृक्षारोपण के कार्य को हजारों और लाखों में लगाकर अपने दायित्वबोध से मुक्त हो जाता है। वही मध्यवर्ग विकास की गति को तीव्र करने के लिए बहुराष्ट्रीय कंपनियों और कार्पोरेट समर्थित राज्य या राष्ट्रों का समर्थक, अनुचर बनकर पहाड़ों को बारूदों से नष्ट करने पर तनिक भी नहीं सोचता। इस तरह मध्यवर्ग का अवसरवादी, दोहरे मानदंड वाला चरित्र उभरकर सामने आता है। कवयित्री की चिंता है कि वनस्पति जगत एवं पहाड़ की विनाश लीला को रोका जाय। दिकू लोग अपने व्यापार को केंद्र में रखकर पहाड़ों को तोड़ रहे हैं, साथ-साथ जंगल को मिटा रहे हैं धरती को बंजर बना रहे हैं इसीलिए हे आदिवासी एवं गैर-आदिवासी सभी नींद से जागो। एक बार हमारे भविष्य के बारे में समझो। प्राचीन काल से लेकर अब तक प्रकृति की सुविधायें घटती जा रही हैं। वातावरण में परिवर्तन दिखाई दे रहा है। एक वृक्ष की जगह दूसरा वृक्ष लगा

सकते हैं लेकिन एक पहाड़ की जगह क्या दूसरा पहाड़ तुम रोप सकते हो ?

"इसलिए फिर कहती हूँ
न छेड़ो प्रकृति को
.....
न तुम होगे
न हम होंगे!"

उपरोक्त कविता में हमें प्रकृति को न छेड़ने की चेतावनी मिलती है। धरती पर समस्त जीवों की प्रकृति में परिवर्तन हो रहा है। इसका प्रभाव जनता के उपर प्रत्यक्ष और परोक्ष रुप से पड़ता है। वर्तमान में देखा जाये तो प्राकृतिक ध्वंस न रुकेगा तो मानव एव मानवेत्तर जीवों को नुकसान पहुँचेगा। अगर भविष्य में जीवों की पहचान इस धरती पर देखनी है तो प्रकृति को न छेड़ना व न प्रदूषित करना चाहिए।

प्रकृति की रक्षा में ही मनुष्य की रक्षा संभव है।

"वे भागती हैं
वे भागती हैं
बेतहाशा पश्चिम की ओर.....!
बचाओ अपनी बहनों को
.....
और देर रात गए लौटती है
खुद को बेचकर बाजार के हाथों"

उपरोक्त कविता में आदिवासी स्त्रियों की दयनीय स्थिति का चित्रण दिखाई देता है। आदिवासी स्त्रियाँ श्रमिक एवं शारीरिक शोषण में पिस रही हैं। कुछ स्त्रियाँ जंगल में बलात्कार की वेदना झेल रही हैं। उस के साथ-साथ कुछ आदिवासी स्त्रियाँ अपनी गरीबी के कारण अपना शरीर बेच रही हैं। इस तरह के शोषण से आदिवासी स्त्रियों को मुक्ति कब मिलेगी ? मिलेगी भी या नहीं ! आदिवासी पुरुष एवं स्त्री दोनों ने इस वस्तु स्थिति से निकलने का प्रयास तो किया है लेकिन उन्हें कामयाबी नहीं मिल पाई है।

"इन खतरनाक शहरी जानवरों को
पहचानो चुड़का सोरेन
पहचानो!!
.....
इस पेचदार दुनिया में रहते
तुम इतने सीधे क्यों हो चुड़का सोरेन??"

उपरोक्त कविता के माध्यम से निर्मला पुतुल चुड़का सोरेन पात्र के माध्यम से जनता में चेतना का प्रसार करती है। वे कहती हैं कि- शहरी लोगों के षड्यंत्र एवं कुटिल नीति को पहचानो, जब तक तुम शांत एवं सीधी रहोगी तब तक ये लोग तुम्हें लुटते ही रहेंगे। तुम्हारी जमीन एवं घर में प्रवेश करके तुम्हारे उपर ही जंगल में प्रवेश पर पाबंदी ये ही लोग लगायेंगे। इस तरह का अन्याय एवं शोषण का विरोध तुम्हें करना होगा चुड़का सोरेन और तुम चुप रहना छोड़ दो। सीधापन को त्याग के अन्यय के विरुद्ध संघर्ष करो।

"बिरसा तुम्हें कहीं से भी
आना होगा
घास काटती दराती हो
लकड़ी काटती कुल्हाड़ी
खेत-खलिहान से मजदूरी से
.....
खेतों की बयार बन कर
लोग तेरी वाट जोहते !"

बिरसा मुंडा को आदिवासी अपना नायक मानते हैं। बिरसा मुंडा ने मुंडा जाति के लोगों और अन्य आदिवासी जन-समुदायों को संगठित करके झारखंड में अंग्रेजों एवं दिकू लोगों के खिलाफ आंदोलन किया था। बच्चे से लेकर वृद्धों तक बिरसा मुंडा का प्रभाव प्रत्येक्ष या परोक्ष रुप से वहाँ के जन-समुदायों पर देखा जा सकता है। आदिवासी बिरसा को भगवान का प्रतिरुप मानते हैं। रांची जेल में धोखेबाजी से बिरसा की हत्या की गयी। आदिवासी आज भी बिरसा के उपर लोकगीत गाते हैं। संकट के समय उन्हें स्मरण करते हैं। रचनाकार इस कविता में यह कहता है कि- वर्तमान में आदिवासियों की समस्याओं को दूर करने के लिए बिरसा को पुनः आना होगा।

यहाँ बिरसा के माध्यम से रचनाकार आम जनता को बिरसा बनके आगे बढ़ने को कहता है। हर एक आदिवासी को बिरसा की तरह अपने हक के लिए और अधिकारों के

लिए संघर्ष की राह पर चलना होगा।

"मेरे पूर्वजों व मेरी स्मृतियों का
अभिन्न हिस्सा है-बबूल
प्रकृति की गोद में मानव का
पोषक रहा है-बबूल
.....
पर,
जानना, मानना, चाहता नहीं
महत्व उसका"

उपरोक्त कविता में रचनाकार ने बबूल वृक्ष के महत्व को हमारे सामने रखा है। सही रुप में देखा जाय तो वृक्षों से मानव और मानवेतर प्राणि-समूह बहुत सारे लाभ उठा रहे हैं। उपयोगी पेड़ से कई प्रकार के प्रयोजन सिद्ध होते हैं- जैसे लकडी देना, फल देना, थकावट दूर करने के लिए छाया देना, प्राण वायु देना इत्यादि। मानव वृक्ष से सहायता तो प्राप्त करता है लेकिन उसके महत्व को आज वह भूलता चला जा रहा है इसलिए वह उनके उपर ही कुल्हाड़ी से प्रहार करने लगा है। इससे पता चलता है कि अपना अवसर पूर्ण होने के बाद आनेवाली पीढ़ियों के बारे में बिना सोचे वृक्षो को काटना अमानवीयता का सूचक है। वृक्ष प्रकृति का नैसर्गिक हिस्सा है।

"उस बबूल को छांगा, नंगा
किया जा रहा है
उसके मूल में ही मेरा अस्तित्व
पर,
अब गाँव नंगा, बेढ़ंगा, उमंगहीन,
रूपविहीन लगता है-बबूल के
समूल खात्मे के बाद"

इस कविता में अस्तित्व का सवाल उठता है आदिवासी का नाम सुनते ही जंगल का बिम्ब अपने आप दिमाग में आ जाता है। आदिवासी जंगल को आधार मानकर रहते हैं। उनका आस्तित्व वृक्षों से जुड़ा हुआ है। इसलिए इस कविता में कवि कुछ सवाल उठाता है कि वृक्ष मिटेगा तो मनुष्य का अस्तित्व भी खतरे में पड़ेगा। मनुष्य एवं वृक्ष का एक-दूसरे से नाभिनालबद्ध रिश्ता है।

समकालीन हिंदी कविता में आदिवासी काव्य का स्वरूप कुछ भिन्नताओं और मनुष्य की शाश्वतता को लेकर आया है। इसमें आंदोलनधर्मी चेतना और गहरा इतिहास-बोध समया हुआ है। मनुष्य की वैश्विक चिंताओं में शामिल पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी का संकट आदिवासी काव्य का बुनियादी विशेषता है। इस रूप में देखें तो आदिवासी काव्य में मनुष्य जीवन की समकालीन समस्याओं का समावेशन इसे वास्तविक एवं यथार्थ चेतना संपन्न करता है। आदिवासी-काव्य में मनुष्य और प्रकृति के अभिन्न रूप की संवेदना की ईमानदारीपूर्वक अभिव्यक्ति हुई है।

1. समकालीन आदिवासी कविता-सं.हरिराम मीणा, पृ.सं-25
2. समकालीन आदिवासी कविता-सं.हरिराम मीणा, पृ.सं-25-26
3. समकालीन आदिवासी कविता-सं.हरिराम मीणा, पृ.सं-29
4. समकालीन आदिवासी कविता-सं.हरिराम मीणा, पृ.सं-29
5. समकालीन आदिवासी कविता-सं.हरिराम मीणा, पृ.सं-34
6. समकालीन आदिवासी कविता-सं.हरिराम मीणा, पृ.सं-73
7. समकालीन आदिवासी कविता-सं.हरिराम मीणा, पृ.सं-74

★ ★ ★

'सच का सामना' – दलित स्त्री आत्मकथा के विशेष संदर्भ में

डॉ. पार्वती गोसाई
आसि. प्रोफेसर,
स्नातकोत्तर हिंदी विभाग,सरदार पटेल विश्वविद्यालय,
वल्लभ विद्यानगर, आणंद, गुजरात
चलभाष : 9773230579
अणुडाक : parvgosai23@gmail.com

" निजी जागीर नहीं होती आत्मकथाएँ
इसीलिए मुमकिन नहीं हो सका
लिखना उन्हें
सामन्तीय समयों में
आत्मकथाओं के मुक्त संसार में
नीज का तर्पण जरूरी है
आत्मा की तरह
नया जन्म पाने के लिए
सृजन की बेशुमार हलचल का
हमारे जीवन की हदों में कैद होना
हमारे आत्मा की कथा की तरह
हमारे जीवन की शक्ल में बँधे
इतिहास के विस्तार को
क्योंकि लिखे बिना आत्मकथा अपनी
चुकता नहीं होगी इतिहास के प्रति कर्जदारी अपनी
नहीं मिलेगी मुक्ति
नहीं आजादी
लिखने से ।।"१

समाज में सच कहना खुलकर बोलना, उनको सुनना सबके बस की बात नहीं । और उनके लिए तो और ज्यादा मुश्किल है जो समाज में दमित स्थिति में है । जैसे कि दलित, आदिवासी, स्त्री आदि । स्त्री का तो बोलना ही मना है । अगर कोई कुछ साहस भी कर तो उसे उच्छशृंखल, कुलटा, बेहया तंज कस कर चुप कर दिया जाता है । अगर स्त्री दलित है तब तो उसके लिए जी लेना ही सबसे बड़ा वरदान है । उसके विचारों की अभिव्यक्ति को तो दरकिनार ही कर दिया जाता है । पर कहते हैं कि जिसे आप जितना डराओगे, धमकाओगे, दबाओगे वह उतना ही बलवत्तर होकर अपने को खड़ा करता है । दलित स्त्री का भी ऐसा ही है । भारतीय समाज में स्त्री होना ही असुरक्षित होना है । सिर्फ स्त्री होने के कारण ही आपकी हत्या हो सकती है । जन्म लेने से पहले भी और जन्म लेने के बाद भी । पर्स में एक भी रुपया न हो लेकिन राह चलते स्त्री होने के कारण अपहरण हो सकता है । उम्र चाहे कोई भी हो हवस की नजरे शीकार करना नहीं भूलते । हालात ऐसे हैं कि पालतू या घरेलू ही क्यों न हो, कभी भी कोई पुरुष रूपी कुत्ता पागल हो सकता है । सिर्फ स्त्रियाँ अपराध कारित करने के अनुकूल सृजित होना ही पर्याप्त होता है । हमारे समाज की यह ऐसी भयावह सच्चाई है कि हम सब मनोरोगी हो गए हैं । ऐसे मनोरोगी समाज में एक और पुरुष से दूसरी और अपनी ही स्त्री बिरादरी से तो तीसरी और खुद से भी लड़ना पड़ता है । बहुत कम स्त्री इन सब में सफल हो पाती है ।

साहित्य इन सबके लिए एक माध्यम है अभिव्यक्ति का । किसी कविता के जरिए दो आंसू बहा लेना, कहानी के जरिए भड़ास निकाल लेना, स्त्री के लिए एक मात्र झरिया है । साहित्य के माध्यम से खासकर आत्मकथा के माध्यम से स्त्री लेखिकाओं ने उन्मुक्त होकर अपने यथार्थ की अभिव्यक्ति की है । भारतीय नारीवाद साहित्य के आत्मकथा स्वरूप में सबसे ज्यादा सशक्त होकर मुखर हुआ है । आत्मकथा सिर्फ निज की अभिव्यक्ति नहीं है । इसमें लेखक खुद के अनुभव का पुनर्चक्रण भी करता है । इसमें कथ्यों को तथ्य बनाकर खुद को नई दृष्टि से पुनः देखने की प्रक्रिया होती है । हिंदी में आत्मकथा के विकास की गति शुरू में धीमी रही । पर जब से हाशिये के समुदायों की रचनात्मकता का विस्फोट हुआ तो उसमें भी गति आ गई । हिंदी में सबसे ज्यादा दलित लेखकों का सबसे ज्यादा जोर आत्मकथा लेखन पर ही रहा है । क्योंकि इसी माध्यम से उन्होंने जैसा भुगता, उसे वह कह सकते थे । आत्मकथाओं में खासकर दलित स्त्री स्वर गायब ही था । पर पिछले दो दशकों में जी नारीवादी दृष्टि का उदय हुआ है, वह लिंगभेद की राजनीति के इर्द-गिर्द घूमती रही है । जातिवादी दृष्टिकोण से ग्रस्त दलित स्त्री को सबसे ज्यादा प्रताड़ित किया है ।

दलित समुदाय की उन्नति व विकास को उनके समुदाय की स्त्रियों की सामाजिक स्थिति के माध्यम से मापा जा सकता है । अंबेडकर ने दलित महिला फेडरेशन में 1945 में कहा था – "औरतों को अपने जाति के साथ उनके बराबर खड़ा होना चाहिए, दास - दासी की तरह नहीं, बल्कि मित्र की तरह । हाशिये के लेखन में भारतीय समाज के हर पिछड़े वर्ग का समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जा रहा है, जहाँ समाज में प्रत्येक वर्ग स्त्री तरह दलित है, वहां निम्न वर्ग व वर्णन की स्त्री को दोहरा और तीहरा दलित माना गया है । साहित्य में उनकी आवाज अब तक दर्ज नहीं हुई थी । क्योंकि उनके संघर्ष व आंदोलन का एक अहम मुद्दा शिक्षा भी रहा है । लेखन में प्रचलित विधाओं और मानव डंडों को छोड़कर आत्मकथा विधा का चुनाव क्यों किया गया । यह सिर्फ शिल्प - संरचना या रचनात्मकता से जुड़ा साहित्यिक सवाल नहीं है । आत्मकथा को खासकर स्त्री लेखिकाओं द्वारा रचनात्मकता स्तर पर विद्या के रूप में चुना । दलित विमर्श वह लेखन के विकास की धारणा से जुड़ा सवाल है

। क्योंकि दलित महिलाओं में भी जो थोड़ा ज्यादा पढ़े-लिखी महिलाएँ थी वह रसोई घर में छिप-छिप कर अपने जीवनानुभव को दर्ज करना, नाम बदलकर या कभी-कभी पुरुष के नाम से भी लिखा करती थी। अपने लेखन को छुपवाना, छपी हुई पटरी को घरवालों से छिपाना, अपने पांडुलिपियों को चीनी के डिब्बे में, चावल के साथ सुरक्षित रूप से छुपाना आदि भी होता था। इसके पीछे का कारण सिर्फ यही था कि स्त्रियां पढ़ी- लिख लेगी तो घर परिवार के प्रति लापरवाह, गैर जिम्मेदार हो जाएगी। यह बात कई सारी दलित स्त्रियों द्वारा लिखी गई आत्मकथा में स्पष्ट की गई है ।जब वह अपनी बात आत्मकथा के माध्यम से कहती है तो पुराने सारे मिथक भी टूट गए। जीवन को यथा कथा में लिखना उनका साहस नहीं, बल्कि समाज को परिवर्तन करने का अंतिम झरिया भी था, जिसमें वह कामयाब हुई। सामान्य स्त्री से दलित स्त्री की आत्मकथा कई मायनों में भिन्न एवं पठनीय है।

दलित स्त्रियों द्वारा सबसे पहले तो मराठी भाषा में आत्मकथा लिखना शुरू हुआ, जिससे प्रेरित होकर अन्य भाषा में भी दलित स्त्रियों ने लिखना शुरू किया। शांतिबाई काम्बले की आत्मकथा 'माझी जन्माची चित्रकथा' लिखी गई थी जो बाद में अनेकों भाषाओं में प्रकाशित भी हुई । बेबी काम्बले की आत्मकथा 'आमच्या जीवन', कुमुद पावड़े की आत्मकथा 'अतः स्फोट', उर्मिला पवार की 'आयदान' आदि आत्मकथाएँ आजादी से पूर्व ही दलित स्त्रियों द्वारा लिखी जा चुकी थी । इन्होंने ब्राह्मणवाद व जातीय भेदभाव जैसी दमन और दलन करनेवाली सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों की व्याख्या करते हुए स्त्री पुरुष की स्थितियों को एक दूसरे के समक्ष रखा है। इसके अलावा संतान उत्पत्ति का मात्र माध्यम होना, कानूनी हक अधिकारों से वंचित होना, शिक्षा से दूर होना आदि दंस उनकी अभिव्यक्ति में प्रकट हुए हैं। 2009 में कौशल्या बैसन्त्री की आत्मकथा 'दोहरा अभीश्राप' और 2011 में सुशील टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द' दोनों काफी चर्चा में रहे । 'शिकंजे का दर्द' पर मैंने एक लेख विस्तार से लिखा था, जो एक पुस्तक में प्रकाशित हुआ था। इसे पढ़ते हुए मेरा भ्रम टूट गया कि मैं स्त्रियों की पीड़ाओं के बारे में सब कुछ जानती हूँ। दरअसल आज भी हम दलित स्त्रियों की पीड़ाओं को महसूस करने में, समझने में चूक गए हैं। दलित पुरुषों की आत्मकथाओं से भी ज्यादा दलित महिलाओं की आत्मकथाएँ हमें एक पल के लिए तो इस समाज के प्रति विद्रोही, कुंचित बना देती है । पर दूसरे ही पल हुए हमें आशावान, ऊर्जावान एवं प्रेरणा स्रोत बने की सकारात्मक संदेश भी देती है।

दलित महिलाओं की आत्मकथा सामाजिक यथार्थ के उन पहलुओं व पक्षों की व्याख्या प्रस्तुत करती है। जिनके बारे में लंबी खामोशी के बाद कुछ कहा गया। यह सब भविष्य के लिए नैतिक वैचारिक स्रोत थी। पीड़ा, उत्पीड़न, वेदना कष्ट और वितुश्ना से भरी उनकी जिंदगी को व्यक्त करने में शब्द भी अपने को दुखी महसूस करते होंगे। 'दोहरा अभीश्राप' को हिंदी की पहली दलित महिला द्वारा लिखी आत्मकथा माना जाता है। लेखिका ने इसमें अपनी नानी के संघर्ष से शुरू करके अपने और अपने समाज की अन्य भविष्यगामी दलित महिलाओं के चित्र को हमारे सामने रखा है। इन सब में समय बदलता है यातनाएँ, पीड़ाएँ वही रहती है।

दलित स्त्री आत्मकथाएँ एक तरह से वर्चस्ववादी अस्मिताओं पर कड़े सवाल करती है और शोषण करनेवाली व्यवस्थाओं को चुनौती भी देती है । इन दलित महिलाओं की आत्मकथाओं में मानसिक आगत पीड़ा प्रतिशोध गरीबी तिरस्कार व अपमान घृणा और क्रूरता को सहन करनेवाले अनेक रोजमर्रा में घटित होनेवाली घटनाओं का दर्दनाक वर्णन है। मगर इन सब के बावजूद निराश नहीं, परिवर्तन की आशा के स्वर ऊपर कर आते हैं। व्यक्ति के जीवन की यात्रा की अभिव्यक्ति होकर भी ये रचनाएँ स्वतंत्र व्यक्तिगत विषयों का प्रतिनिधित्व नहीं करती । यह सामूहिक चेतना और सामुदायिक स्थिति को प्रस्तुत करने वाली आत्मकथाएँ है जिन्हें सामूहिक यातना के ऐतिहासिक दस्तावेज के आधार पर पूरे इतिहास के पुनःव्याख्या की जा सकती है। सामाजिक आचार - व्यवहार के साथ-साथ यह दस्तावेज अकादमी का ज्ञान की व्यवस्था को भी बदलने का काम करते हैं । इन्हें किसी तथाकथित अनुशासन के आधार पर विश्लेषित नहीं किया जा सकता। यह हमारे बस की बात नहीं है कि उनकी समीक्षा कर सके या उनके भुगते यथार्थ को चुनौती दे सके। आत्मकथा में सब कुछ सत्य नहीं होता, कल्पना भी होती है। पर इन दलित महिलाओं की आत्मकथा की तो कल्पना भी हमें द्रवित कर जाती है। हर मामले में यह किसी दर्दनाक त्रासदी से गुजरने जैसा है। अगर दलित महिलाओं की आत्मकथा की समीक्षा, चर्चा, मंचों से निष्पक्ष होकर की जाएगी तो कहीं सामाजिक मुखोटे उतर जाएंगे। जो साहित्य के नाम पर, परिवर्तन के नाम पर, महिला सशक्तिकरण के नाम पर अपने राग अलापते रहते हैं। मेरी दृष्टि से दलित महिला का दर्द अभी भी उनकी आत्मकथाओं में जस का तर्ज तो अभिव्यक्त हुआ ही नहीं है, जिस दिन होगा उसे दिन हमें स्वयं से शर्म आने लगेगी।

संदर्भ

1. 'संवेद' पत्रिका, सं – किशन कालजयी, अंक – 54, जुलाई – 2012 में से विनोद शाही की कविता सादर समादृत, पृ – 06

☆ ☆ ☆

सत्तरोत्तर हिंदी दलित कहानियाँ

डॉ.कुशावती आमनर
डॉ बाबासाहेब आंबेडकर मराठवाडा विश्वविद्यालय,
औरंगाबाद (महाराष्ट्र)431004
मो:-8329835774
E-mail:–kushawatiamnar21@gmail.com

ऐसा माना जाता है कि सन 1970 के बाद हिंदी कहानी साहित्य में विविध कहानी आंदोलन सामने आये इन्ही आंदोलनों में दलित और आदिवासी कहानी साहित्य ने अपनी अलग पहचान बनायी है। मोहनदास नैमिशराय कहते है." हम हिन्दी दलित साहित्य को हिन्दी साहित्य के समान्तर एक आंदोलन मानते है। दलित साहित्य हिंदी साहित्य का अंग नहीं है। अगर यह हिंदी साहित्य का अंग होता तो हिंदी दलित साहित्य का स्वरूप हिंदी साहित्य के समान होता।"[1] दलित कहानी वह कहानी है जो दलितों ने अपने अनुभव को अपनी अनुभूति के घरातल पर व्यक्त किया है। या फिर वह कहानी अपने जाति-समूह की कठिनाइयों और भोगी हुई पीडा के आधार पर लिखी हो। दलितेत्तरों ने भी अपनी रचनाओं में दलितों की वास्तविक यातनाओं, आकांक्षाओं और आवश्यकताओं को भी अभिव्यक्त किया है, पर उन्होंने मात्र दलित पीडित शोषित समाज की पीडा का ही चित्रण किया, उसका कोई समाधान नहीं ढूँढा। अखिलेश जी लिखते है,“ सवर्ण यदि दलित जीवन पर लिखते है तो इसके पहले क्यों नहीं लिखा? सवर्णों ने कितने पृष्ठ रंगे होगे, पर उसमें कितना हिस्सा दलितों के जीवन पर लिखा होगा। प्रेमचंद ने तीन सौ कहानियों लिखी जिसमें इक्का-दुक्का में दलित स्वर है। नई कहानी आंदोलन जो हिंदी कहानी का स्वर्णकाल है, उसमें दलित जीवन पर कितनी कहानियाँ है?"[3] महात्मा ज्योतिबा फुले लिखते है, "गुलामी की यातना को जो सहता है, वही उसे जानता है और भोगता है वहीं पुरा सच कह सकता है। सचमुच राख ही जानती है, जलने का अनुभव कोई और नहीं।"[3] दलित कहानियों में दलित-शोषित जीवन उभरकर आने लगा। ये कहानियाँ शासक और शोषक वर्ग को शर्मनाक करने लगी। यह कहानियाँ कहीं पीडा कहीं प्रतिकार तो कहीं आक्रोश और कही परिवर्तन बनकर परिवर्तन का आव्हान करने लगी। रमणिका गुप्ता लिखती है, इन कहानियों में दलित जीवन के कई कोण है- जीवन से जुझने के जिन्दा रहने के, पीडा सहने के और उससे उबरने के। समाज के लंबे अंतराल को छूती है ये कहानियाँ इसलिए दलित चेतना के उदय से लेकर संकल्प बनने तक का विकास उसमें उजागर होता है।"

मोहनदास नैमिशराय तथा ओमप्रकाश वाल्मीकि हिन्दी दलित कहानीकार माने जाते है। इन कहानीकारों ने तत्कालिन समय के समग्र दलित शोषित तथा पीडित समाज के दुःख, दर्द, पीडा, शोषण को अपनी कहानियों के माध्यम से विश्व के सम्मुख रखा है। सन् 1980 के बाद हिन्दी दलित-आदिवासी कहानीकार कहानी लेखन के प्रति अधिक जागृत दिखायी देते हैं। आठवें दशक में अनेक कहानीकार प्रभावी कहानियाँ लिखने लगे। उनके अनेक कहानी संग्रह प्रकाशित होने लगे, जिसमें मोहनदास नैमिशराय की 'आवाजें, ओमप्रकाश वाल्मीकि जी की 'सलाम' डॉ. दयानंद बटोही का 'सुरंग' कावेरी की 'द्रोणाचार्य एक नहीं डॉ. ठाकूर प्रसाद शाही की 'राग', सत्य प्रकाश की 'चंद्र' मौलिका का 'रक्ताबीज' सुरजपाल चौहान की 'होरी कब आयेगा कुसुम वियोगी की 'चार इंच कलम', स्वरूप चंद की 'उसके हिस्से की रोटी', 'बुद्ध शरण की 'तीन महारानी', 'सुशीला टाकभौरे की 'टूटती बहस' और 'अनुभूति के घेरे, 'विपीन बिहारी की 'अपना मुकाम, पुनर्वास और 'आधे पर अंत, रत्नकुमार सांभरिया की दलित समाज की कहानियाँ जैसे अनेक दलित कहानी संग्रह प्रकाशित हो गये, जिसने हिंदी कहानी का भाण्डार ही नहीं भरा उसे विश्व के कोने कोने तक पहुँचाया भी है।

हिंदी दलित कहानीकारों ने अपनी कहानियों में समाज में स्थित अच्छाइयों और बुराईयों का चित्रण किया है। इन कहानियों में वाह का ही नहीं, आह का भी चित्रण प्रमुख रूप से किया गया है। इन कहानियों में दलित शोषित, पीडितों के दुख, दर्द, पीडा और शोषन को प्रमुख स्थान दिया गया है और इससे उभरणे का मार्ग भी दिखाया है। बनिये तथा शाहुकारों के शोषक का चित्रण ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'पच्चीस चौका डेढ सौं कहानी में यथार्थ रूप से किया गया है। सवर्ण बैंक मनेजर की सड़ी गली मानसिकता को 'साजिश कहानी में सुरजपाल चौहान

ने चित्रित किया है। 'मैं शहर और वे' इस कहानी में मोहनदास नैमिशराय ने एक ऐसे शिक्षिन युवक का चित्रण किया है जो उच्चशिक्षित है फिर भी नौकरी के लिए दर-दर की ठोकरे खा रहा है। संविधान कर्ता ने कानून संविधान में दलित अदिवासियों को नौकरी में 13 और 7.5 प्रतिशन आरक्षण रखा है। फिर भी नायक को नौकरी नहीं मिलती। दलित आदिवासियों को नौकरी ही न मिले सवर्णों के इस षडयंत्र को कहानीकार उजागर करतें हैं। अपनी दूसरी कहानी 'नया गांव' में कहानीकार दलित श्री शोषण का विदारक चित्र प्रस्तुत करते हुए इन सबसे मुक्ति के लिए दलितों द्वारा 'नया गांव बसाने का निर्णय भी जाहिर करते है। एक ऐसा गाँव जहाँ न जातियता होगी, न वर्णव्यवस्था होगी, न उचनिचता होगी।

दलित ब्राम्हण कहानीकार की मानसिकता को भी उजागर करते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ने अपने 'शवयात्रा' इस कहानी में दलित जातियों में घर कर रहे ब्राम्हणवाद पर करारा व्यंग्य किया है। मुद्राराक्षस की 'पैशाचिक कहानी जाति के पिशाच से पीडित पिछडे वर्ग की करूण कहानी है। रत्नकुमा सांभरिया ने 'बकरी के दो बच्चे' इस कहानी में दलित आदिवासियों के संघटित संघर्ष पर बल दिया है। डॉ. बाबासाहेब आम्बेडकर जी ने तमाम शोषितों को यह संदेश दिया था कि 'पढो संघटित हो जाओ और संघर्ष करो।' अम्बेडकर जी सबसे पहले पढ़ने की बात करते है, फिर संघटित होने की बात करते है और फिर अन्याय के विरोध में संघर्ष करने का आव्हान करते हैं। सांभरिया जी ने अपनी इस कहानी में सभी दलितों को बाबासाहेब आम्बेडकर जी के मार्ग पर चलने का आव्हान किया है। जो बाबासाहेब ने बतलाई हुई राह पर चला वह बलवान बन गया, पर जो वर्ग बाबासाहेब ने बतलाई राह पर नहीं चला, आज भी वह वर्ग कमजोर है। अन्याय हमेशा कमजोर पर किया गाया है, बलवान पर नहीं। बुद्धशरणं हंस जी ने अपनी 'अस्मिता तहू-लुहान इस कहानी में धर्माधता पर करारा व्यंग्य किया है। कालीचरण प्रेमी ने फैसला इस कहानी में दलित स्त्री के दोहरे शोषण का विदारक चित्र प्रस्तुत किया है। राम निहार विमल की 'अब नहीं नाचब कहानी दलित संवेदना का चित्रण करने वाली सशक्त कहानी है। कर्मशील भारती ने 'और रास्ता खुल गया इस कहानी में तमाम दलितों-शोषितों के शोषण का कारण उनका विविध जातियों उपजातियों, में विभाजन होना और अपने आप को दलित न मानना इस मानसिकता को उजार करते है। देश के सभी शोषितों की सख्या अस्सी प्रतिशत के आसपास है। पर यह सभी विविध जाति, उपजातियों, विविध वर्गों में विभाजित होने के कारण और अपने आप को दलित-पीडित न समझने के ने कारण संघटित नहीं हो पा रहें हैं। असंघटित होकर शोषकों के प्रति संघर्ष करने के कारण इनको न्याय नहीं मिल पा रहा है। यह तमाम शोषित वर्ग जब संघाटित होकर संघर्ष करेगा तब देश की सत्ता इनके हाथ में होगी। पर सवर्ण शोषक समाज षड़यंत्र से इन शोषितों को संघटित ही नहीं होने देता। यह शोषित समाज सवर्णों के षडयंत्र का हिस्सा बन जाता है। सुरजपाल चौहन ने 'बदबू' इस कहानी में दलित पीडितों के सड़ी-गली परंपराओं से चीपके रहने से अपना जीवन बर्बाद करने की बात कही है। प्रेम कापडिया ने 'हरिजन' कहानी में देवदासी प्रथा पर करारा व्यंग्य किया है। संजीव ने अपनी माँ इस कहानी में एक आदर्श 'माँ' को उभारा है। साथ-साथ आदिवासी जीवन की पीड़ा को भी वाणी दी है। संजीव अपनी दूसरी कहानी 'मदद' में आजादी के पचास साल बाद के गाँव का चित्र सामने लाते हैं। आज गाँव उपेक्षित ही रहे हैं। आजादी के बाद शहर महानगर बन गये पर गाँव -टुटते चले गये। सरकार ने शहरों के विकास को ही देश का विकास माना। पर वे भूल गये कि भारत गाँवों का देश है। जब तक गाँवों का विकास नहीं होगा देश का विकास हो ही नहीं सकता। आजादी के तिरसठ साल बाद भी भारत विकसनशील देश नहीं है। इसका यही कारण है कि देश विकास की गलत नीति। इसी गलत नीति पर करारा व्यंग्य संजीव ने किया है।

अतः दलित-आदिवासी कहानी केवल दलित आदिवासियों के विकास की ही बात नहीं करती। मनुष्य के मनुष्य की ओर देखने के नजरियें को बदलने की बात करती है। कमलेश्वर 'दूसरी दुनिया का ययार्थ की भूमिका में लिखते है, दलित साहित्य की कहानियाँ हमारे मानस संसार को बदल रही है और जड़ संस्कृति तथा न्याय-अन्याय की परिभाषा को भी बदल रही है।" इस प्रकार सत्तरोत्तर हिंदी कहानियों में दलितों के जीवन संघर्ष तथा अस्मिता को महत्व दिया गया है।

सदर्भ:

1. मोहनदास नैमिशराय, कल के लिए
2. डॉ. विरेंद्रसिंह यादव, दलित विमर्श के विविध आयाम
3. वहीं
4. रमणिका गुप्ता संपा, दलित कहानी संचयन

☆☆☆

इक्कीसवीं सदी के प्रमुख हिन्दी महिला रचनाकारों की आत्मकथा : एक विहंगम दृष्टि

सुमि शर्मा,
हिन्दी विभाग,
शोधार्थी
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग ,793022
फोन नंबर - 8876133001
ईमेल- sumisarmah1993@gmail.com

प्राचीन काल से ही कथा साहित्य का विकास पद्य के रूप में होते हुए आधुनिक काल में उसने गद्य का रूप लिया। किसी भी साहित्य का आधार यानी नींव उसकी इतिहास-परंपरा ही होती है, जो परिवर्तन के शाश्वत नियम से बंधी हुई होती है। समाज में बदलती परिस्थितियों के कारण लेखक की लेखनी में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। प्राचीन काल में वर्णित राजा-महाराजाओं की वीरता, प्रशस्ति गीत, साहस, कल्पना,भगवद् प्रीति की उत्कट परंपरा, प्रेमगाथा, प्रकृति-प्रेम जैसे अनेक विषयों के स्थान पर मनुष्य के व्यक्तिगत सुख, दु:ख, अनुभव, यथार्थता, अस्मिता जैसे अनेक मानवीय पहलुओं को कथाकारों ने अपने विषय में महत्त्व दिया। जिससे गद्य अन्य विधाएँ जैसे- आत्मकथा, जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र, डायरी, पत्र और रिपोर्ताज आदि अस्तित्व में आयीं। वर्तमान समय में 'आत्मकथा' एक लोकप्रिय एवं सशक्त लघु गद्य विधा के रूप में दिखायी देती है। प्राचीनकाल या मध्यकाल में आत्मकथा की समृद्ध लेखन परंपरा नहीं मिलती। क्योंकि भारतीय परम्पराओं में 'स्व' के ऊपर बात कहना या लिखना अहंकार माना जाता था। आत्मकथा आधुनिक युग की उपज है।

'आत्मकथा' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। 'आत्म' यानी 'स्वयं' और 'कथा' यानी 'बात'। अर्थात् जहाँ खुद की बात कही या लिखी गयी हो उसे आत्मकथा कहते हैं। मनुष्य स्वयं के व्यक्तित्व को अनुभवी दस्तावेज़ में एकाग्रचित्त होकर क्रमानुसार घटनाओं को ईमानदारी, निरपेक्षता से जीवन के हर पहलुओं को पाठक के सामने रखते हैं, उसे ही 'आत्मकथा' कहते हैं। संस्कृत में आत्मकथा के लिए 'आत्मवृत्त कथनम्' और 'आत्मचरितम' शब्दों का प्रयोग किया जाता है तथा अंग्रेजी में 'आटोबायोग्राफी' शब्द प्रचलित है। आत्मकथा कथात्मक शैली में लिखी जाती है। 'आत्मकथा' को परिभाषित करते हुए डॉ. नगेंद्र कहते हैं कि – "आत्मकथाकार अपने संबंध में किसी मिथ की रचना नहीं करता। कोई स्वप्न सृष्टि नहीं रचता वरन् अपने गत जीवन खट्टे-मीठे, उजले-अंधेरे, प्रसन्न-विषण्ण, साधारण-असाधाण संरचना पर मुड़कर एक दृष्टि डालता है, अतीत को पुन: कुछ क्षणों के लिए स्मृति में जी लेना है और अपने वर्तमान तथा अतीत के मध्य संबंध सूत्रों का अन्वेषन करना है।"

आत्मकथा में एक व्यक्ति की समग्र व्यक्तित्व का उद्घाटन होता है; क्योंकि लेखक अपनी सत्यता की नींव पर खरे उतरते हुए जीवन की हर घटना तथा अपने गुण-दोषों को समाज के सामने रखता है। एक श्रेष्ठ आत्मकथा में प्रभावोत्पादकता, रोचकता, यथार्थता, संक्षिप्तता, सत्यता, स्पष्टता, आत्मलोचन, आत्मविश्लेषण, सुविचार, सरलता, सहजता, निरपेक्ष, बोधगम्य, वैधता, विश्वसनीयता, ईमानदारी, तटस्थता, एकाग्रता, साहस, आत्मविश्वास जैसे अनेक गुण अनिवार्यत: निहित हैं।

आत्मकथा में लेखक सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों पहलुओं को पाठक के सामने रखता है। समाज हमेशा ऐसे महान व्यक्तियों के आत्मचरित को पढ़ना चाहता है जिन्होंने

अनेक संघर्षों एवं कठिनाईयों का सामना करते हुए लक्ष्य को प्राप्त किया हो। ऐसी आत्मकथाओं से समाज को एक नई दिशा मिलती है। यह उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करने हेतु एक उत्तम प्रेरणास्रोत है।

आत्मकथा जीवन का वर्णनात्मक वर्णन प्रस्तुत करती है जिसमें संवाद, भावनाएँ, पात्र वास्तविक जीवन से संबन्धित होते हैं जिनका प्रभाव लेखक पर पड़ा हुआ होता है। आत्मकथा में सबसे महत्त्वपूर्ण चरित्र तथा पात्र स्वयं लेखक ही होता है जो स्वयं का ही आंकलन प्रस्तुत करता है। आत्मकथा काल्पनिक पात्रों या कहानियों पर आधारित न होकर यथार्थ तथा वास्तविक जीवन पर आधारित होती हैं जिसमें व्यक्ति स्वयं अपना परिचय, संवेदनाओं, भावनाओं, सम्बन्धों का प्रस्तुतीकरण करता है जिसका संबंध उसके स्वयं के जीवन से होता है।

प्रारम्भिक दौर में हिन्दी साहित्य के कथा साहित्य में स्त्री लेखिकाओं का योगदान नहीं के बराबर था। इसका प्रमुख कारण है- स्त्री शिक्षा का अभाव, घरेलू उत्तरदायित्व, सामाजिक-पारिवारिक दबाव आदि। स्वतत्रंता के बाद स्त्री शिक्षा का प्रचार बढ़ने लगा। जिससे स्त्री अस्मिता, स्त्री जागरुकता जैसे प्रश्नों का समाज-शिक्षा व्यवस्था में उठने लगे। शिक्षित स्त्री खुद कलम चलाने लगी। एक स्त्री का संघर्ष, शोषण, कुंठा आदि विषयों को महिला आत्मकथाकारों ने अपनी लेखन शैली में अधिक मनोग्राही बनाया। ईमानदारी, तटस्थता से परिपुष्ट होकर खुद के गुण-अवगुणों को सबके सामने प्रस्तुत करके महिला लेखिकाओं ने अदम्य साहस का परिचय दिया। भारतीय समाज व्यवस्था में नारी की त्याग, अन्याय, विषमता आदि मुद्दों पर जागरूकता का संदेश देने में ये आत्मकथाएँ एक उपयोगी माध्यम बनी हैं।

महिला आत्मकथाएँ पितृसत्तात्मक समाज के सामने अपने समान अधिकार के लिए आवाज उठाने वाला एक सामाजिक आन्दोलन है। स्त्री हो या पुरुष दोनों को अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता है। अपनी इसी अभिव्यक्ति को संप्रेषित करने की कला को महिला लेखिकाओं ने आत्मकथा का नाम दिया। महिलाओं ने 'स्व' की अस्मिता खोजने के प्रयास से आत्मकथा लेखन में रुचि ली। स्त्री-लेखन के संबंध में बच्चन सिंह का कहना है कि – "स्त्री लेखन की अपनी दुनिया है, जो पुरुष-लेखन की दुनिया के समानान्तर चलती रहती है-इतनी समानान्तर भी नहीं कि कहीं उसका स्पर्श भी न करे, उसे काटे भी नहीं। स्त्री से सर्वथा अलग न पुरुष की दुनिया हो सकती है और न पुरुष से सर्वथा अलग स्त्री की दुनिया। फिर भी ऐतिहासिक, राजनैतिक, प्राणीशास्त्रीय कारणों से उनमें अलगाव दिखाई देता है। इसी अंतर या पार्थक्य से स्त्री-लेखन की पहचान बनती है।"

समाज में कई महिलाओं द्वारा समाज में संघर्ष कर अपने को समाज में प्रतिष्ठित किया है। इस प्रकार से संघर्षपूर्ण जीवन जीने वाली कई महिलाओं ने इसे प्रेरणा स्रोत के रूप में, जागृति के लिए आत्मकथा के रूप में लिखा, जिससे समाज में अत्याचारों, रीति-रिवाजों, आड़म्बरों से ग्रसित महिलाओं में जागरूकता की एक नयी लहर का उदय हो सके। वह अपनी क्षमता, सोच आदि को एक नयी दिशा प्रदान कर सके।

19 वीं. सदी से पहले भारतीय भाषाओं में कोई सम्पूर्ण आत्मकथा नहीं मिलती। लेकिन पाश्चात्य साहित्य से प्रेरणा पाकर पूंजीवाद के प्रभाव से आधुनिक काल में प्राय: सभी भारतीय भाषाओं में आत्मकथा लेखन की परंपरा तेजी से बढ़ निकली। साहित्य की विधा आत्मकथा को समृद्ध करने में स्त्री आत्मकथाओं और दलित-आत्मकथाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आत्मकथा लेखन के स्वर्णिम युग स्वातंत्र्योत्तर काल को ही माना जा सकता है। इस काल में

साहित्यकारों के आत्मकथा लेखन में नवीन रूपों का संयोजन होने लगा। इस संदर्भ में इक्कीसवीं सदी के महिला लेखिकाओं की अग्रणी भूमिका रही है, जिसमें दलित महिला आत्मकथाकारों के भोगे हुए यथार्थ की परिपक्व अभिव्यक्ति मिलती है। उदाहरणस्वरूप – अनीता राकेश की 'संतरे और संतरे'(2002), कृष्णा अग्निहोत्री की 'लगता नहीं है दिल मेरा'(2010), ममता कालिया की 'कितनी शहरों में कितनी बार'(2010),कृष्णा अग्निहोत्री की 'और...और... औरत' (2011), सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द'(2011), मन्नू भण्डारी की 'एक कहानी यह भी'(2011), मैत्रेयी पुष्पा की 'गुड़िया भीतर गुड़िया'(2014), निर्मला जैन की 'जमाने में हम'(2015), सुषम वेदी की 'आरोह-अवरोह'(2017),रमणिका गुप्ता की 'आपहुदरी'(2019), सुनीता जैन की 'शब्दकाया'(2019) आदि हैं।

इक्कीसवीं सदी की स्त्री लेखिकाओं में अन्यतम मैत्रेयी पुष्पा द्वारा विरचित आत्मकथा 'कस्तूरी कुण्डल बसै' नाम से 2002 ई. में प्रकाशित हुई। यह आत्मकथा माँ-बेटी के जीवन-संघर्ष की कथा है। इस आत्मकथा में लेखिका की माता कस्तूरी जो अपनी मेहनत से अपनी जीवन-वृत्ति को खुद के भरोसे चलाने में कामयाब होती है। लेखिका ने स्वयं अपने जीवन कहानी को बचपन से लेकर संतान प्राप्ति तक की समस्त घटनाओं को नारी संवेदना से जोड़कर वास्तविक रूप में चित्रित किया है। इस आत्मकथा में अनमेल विवाह की समस्या, लिंगभेद की समस्या, माँ-बेटी के पारस्परिक मतभेद की समस्या, तत्कालीन परिवेश के अँग्रेजीराज तथा जमींदारी प्रथा जैसी भयानक समस्या दिखाई पड़ती है। इस आत्मकथा में जीवन और आत्मकथा दोनों का यथार्थ रूप मिलता है। लिंगभेद की समस्या स्त्री-जीवन के लिए एक चुनौती भरा एहसास है, जिसके परिप्रेक्ष्य में स्वयं लेखिका कहती है– "मनुष्य के रूप में अगर सबसे कठिन, चुनौती भरी जिंदगी को पाया है तो स्त्री ने। या कुदरत को ही उससे बैर था? या कि सृष्टि के कर्ता-धर्ता को ही कोई साजिश....मादा बनाने के बाद, मादा होने की सजा का नाम औरत धर दिया। क्योंकि साथ में दिमाग-दिल और विवेक भी दे दिया।"

सामंतवादी व्यवस्था के खिलाफ आवाज उठानेवाली रमणिका गुप्ता की आत्मकथा 'हादसे' 2005 ई. में प्रकाशित हुई। विद्रोही स्वभाव से ओतप्रोत रमणिका गुप्ता ने अपने जीवन में अपराजेय संघर्ष की सच्ची घटना को प्रस्तुत किया है। इस आत्मकथा में राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याओं के साथ-साथ भोगे हुए यथार्थ की भी सुंदर अभिव्यक्ति मिलती है। इनमें सामंती शोषण, नारी जीवन की समस्या, पितृसत्तामक समाज का कट्टरपन, कोयला खदानों में काम करनेवाले मज़दूरों का दैहिक तथा आर्थिक शोषण, विधान सभा में होनेवाले तर्क-वितर्क की समस्या जैसी अनेक समस्याओं का उल्लेख मिलता है। आत्मकथाकार लेखिका प्रारम्भ में मजदूरों की समस्या को दर्शाते हुए कहती है- "मैं अपना दु:ख-सुख मजदूरों के दु:ख-सुख में महसूस करती थी इसलिए उनकी तकलीफ को देखकर मेरा गुस्सा बढ़ता था। मैं गुस्से में रोने लगती हूँ और फिर संघर्ष शुरू कर देती हूँ और कड़े-से-कड़े मुकाबले के लिए पूरी तरह तैयार हो जाती हूँ। मुकाबले होते भी थे बहुत तगड़े।"

प्रभा खेतान की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' 2007 ई. में प्रकाशित हुआ। यह आत्मकथा पितृसत्तात्मक संस्कृति को चुनौती देने वाली एक उत्कृष्ट आत्मकथा है। इसमें लेखिका ने स्त्री के भोगे हुए यथार्थ को दिखाते हुए उस समय के बंगाल की आर्थिक, राजनीतिक स्थिति को भी दिखाने का प्रयास किया है। इस आत्मकथा में परिवार, प्रेम, विवाह, परंपरा, एक स्त्री की शारीरिक, मानसिक तथा भावात्मक समस्या (अकेलापन, तनाव, कुंठा, संघर्ष आदि) के साथ-साथ राजनीतिक समस्या (भारत पर

चीनी आक्रमण की समस्या), कलकत्ता की तत्कालीन परिवेश -परिस्थिति के विविध पहलुओं को उजागर किया है। लेखिका एक अकेली नारी की मानसिक संवेदनाओं को व्यक्त करते हुए कहती है – "मेरा तो इहलोक-परलोक में कोई नहीं। हमेशा-हमेशा से अकेली हूँ। नि: संग रही हूँ। किसी को मुझसे प्यार नहीं, किसी को मुझ पर ममता नहीं, किसी ने क्षण भर को नहीं सोचा कि मेरी यह अकेली जिंदगी कैसे चलेगी? स्नेह? प्यारविहीन....थार का रेगिस्तान जैसा मेरा जीवन रहा है, जहाँ केवल अकेले चलती रही हूँ।"

चंद्रकिरण सौनरेक्सा द्वारा विरचित 'पिंजरे की मैना' का प्रकाशन 2008 ई. में हुआ था। लेखिका ने इस आत्मकथा के जरिए स्त्री जीवन की कटु सत्य को एक-एक करके यथार्थ से परिचय कराया। इस आत्मकथा की मुख्य समस्या यह है कि– सामंती व्यवहार, दाम्पत्य जीवन की समस्या, प्रतिभा विकास में अनेक बाधक तत्वों की समस्या, पति द्वारा बार-बार प्रताड़ित अपमानित होने की समस्या, स्त्री अधिकार की समस्या, ससुराल की समस्या, पितृसत्ता की समस्या आदि दिखाई पड़ती है। लेखिका ने अपने जीवन के हर संघर्ष को पार करते हुए भी अपने प्रतिभा को विलुप्त न होने दिया। उनका कहना है कि – "घर में तो सब कुछ इसी तरह चलता रहता था, पर मेरी सृजनात्मक प्रक्रिया हर चट्टान से टकराती हुई, निर्बंध चलती रहती थी। उसकी ऊर्जा का तेज कभी कम नहीं हुआ। कम से कम समय में बिना किसी अतिरिक्त सुविधा के मेरी लेखनी, कोई कागज पर, कहानियों को आकार देती थी।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि इक्कीसवीं सदी की महिला आत्मकथाओं में नारी जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति के साथ तत्कालीन समस्याओं के विविध आयामों को भी दिखाया गया है। स्त्री महिला लेखिकाओं ने अपनी आत्मकथाओं में पितृसत्तात्मक समाज में एक नारी की सत्ता, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, अस्मिता, अधिकार, जीवन के अहम मूल्यों को समान रूप में पाने की अभिलाषा व्यक्त की है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में आत्मकथा लेखन गद्य साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा के रूप में स्थापित है। इस युग में पुरुष आत्मकथा के साथ साथ महिला आत्मकथाकारों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। स्वातंत्र्योत्तर काल से ही आत्मकथा लेखन शैली में एक नवीन रूप का संयोजन हुआ है। एक आत्मकथाकार अपने जीवन के सभी दस्तावेजों को अर्थात जीवन की सकरात्मक-नकरात्मक दोनों पहलुओं को क्रमानुसार ईमानदारी से पाठक के समक्ष रखते हैं, जिनके माध्यम से पाठकवर्ग लाभान्वित होता है। आत्मकथाकारों के यथार्थ संघर्ष के फलस्वरूप पाठकवर्ग में प्रोत्साहन एवं प्रेरणा की एक नई उमंग दिखने लगती है। प्रस्तुत अध्ययन में स्त्री आत्मकथा के माध्यम से भारतीय साहित्य एवं समाज-व्यवस्था में स्त्री की अस्मिता, मर्यादा तथा मूल्यों के विविध पक्ष को दर्शाया गया है।

सहायक ग्रंथ सूची

1) पुष्पा, मैत्रेयी. कस्तूरी कुण्डल बसै, नई दिल्ली : राजकमल पेपरबैक्स, 2011 पृ. सं. 309.

2) गुप्ता,रमणिका. हादसे, दिल्ली: राधाकृष्ण पेपरबैक्स, 2005.नगेंद्र, डॉ., आस्था के चरण, पृ. सं. 132.

3) खेतान, प्रभा. अन्या से अनन्या, नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2008.पृ. सं. 264

4) सौनरेक्सा, चंद्रकिरण. पिंजरे की मैना, नयी दिल्ली : पूर्वोदय प्रकाशन, 2008.पृ. सं. 219.

☆☆☆

डॉ. तुलसीराम की आत्मकथा बुद्ध का महाआख्यान है

-अनिल
पीएचडी. हिन्दी
हिन्दी विभाग, यूनिवर्सिटी
ऑफ दिल्ली, नॉर्थ कैम्पस
फोन नंबर: 9958495780

प्रस्तावना:- हिन्दी आत्मकथा लेखन की परंपरा में हिन्दी दलित आत्मकथाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान है। यह आत्मकथाएँ दलित जीवन के यथार्थ को प्रस्तुत करते हुए, दलितों के मूल सवालों को रेखांकित करती हैं। हिन्दी में कई दलित लेखकों ने आत्मकथाएँ लिखी हैं। जिसमें डॉ. तुलसीराम का नाम विशेष उल्लेखनीय माना जा सकता है। जिसका प्रमाण उनकी आत्मकथा 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका' है। 'मुर्दहिया' में तुलसीराम भारतीय समाज में व्याप्त दलित समाज के विभिन्न परिदृश्य को प्रस्तुत करते हैं, वहीं 'मणिकर्णिका' आत्मकथा में बुद्ध के विचार एवं राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक पक्षों पर अपने वैचारिक दृष्टिकोण का व्यापक परिचय प्रस्तुत करते हैं। लेखक वैदिक संस्कृति में व्याप्त वर्ण-व्यवस्था के साँचे को तोड़ने के लिए बुद्ध की वैचारिक शिक्षा को आवश्यक बताते हैं। ऐसे ही कई मूलभूत वैचारिक बिंदुओं को तुलसीराम ने अपनी आत्मकथा के माध्यम से समझाने का प्रयास किया है। समाज की जड़ पड़ी मान्यताओं को समाप्त करने की ऊर्जा लेखक के विचार से बुद्ध के वैचारिक शक्तियों में है जो दलित समाज को बेहतर कल दे सकता है। लेखक का मानना है कि जिस बौद्ध सिद्धांत की नींव भारत में पड़ी थी वह अब भारत के इतिहास से ही धूमिल हो रही है। बौद्ध सिद्धांत की धूमिलता को लेकर तुलसीराम के विचारों में एक विचित्र चिंता रही है। जिसको लेखक ने आत्मकथा में इंगित किया है। लेखक के विचारओं में बुद्ध और अंबेडकर का प्रभाव था जो इनके लेखन में परिलक्षित होता है। इस वजह से लेखक जीवन भर जाति व्यवस्था के प्रतिरोध में लेखन कार्य करते रहे। लेखक के विचार और व्यवहार में बुद्ध प्रमुख रहे हैं। राजनीतिक लेखन के क्षेत्र में डॉ. अंबेडकर के विचारों ने लेखक को वैचारिक परिपक्वता तथा नई ऊर्जा प्रदान की है। वहीं विचारों ने अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक समस्या पर लेखन एवं चिंतन किया। लेखक के वैचारिक चिंतन में बुद्ध-अंबेडकर आदि के विचारों का सामंजस्य है। लेखक ने भारतीय राजनीति के साथ-साथ अंतरराष्ट्रीय राजनीति पर भी दृष्टि केंद्रित की है। तुलसीराम अपने वैचारिक संदर्भों के आधार पर समाज के हर तबके का बारीकी से अध्ययन किया है जो आत्मकथा में स्पष्ट है। भारतीय समाज की पृष्ठभूमि को गहराई से समझाने लिए बुद्ध की रचनाओं ने प्रो. तुलसीराम को बेहतर जमीन प्रदान की है जो मुर्दहिया से लेकर मणिकर्णिका के एक-एक पृष्ठों में दिखाई देता है। 'मुर्दहिया' की सामाजिक व्यवस्था की पीड़ा अथवा 'मणिकर्णिका' बनारस शहर का शहरी दुर्व्यवहार लेखक को बुद्ध की तरफ प्रेरित करता जाता है। जिसको लेखक की आत्मकथा के प्रसंगों के माध्यम से समीक्षात्मक लेख तैयार किया है।

बीज शब्द :- समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व, शिक्षा, नई चेतना, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, उपेक्षा, जातिवाद, बौद्ध धम्म।

बुद्ध का प्रभाव

तुलसीराम बुद्ध के विचारों से बहुत प्रभावित हुए है। तुलसीराम पर बुद्ध के विचारों का प्रभाव 'मुर्दहिया' आत्मकथा के छठे अध्याय के शीर्षक 'चले बुद्ध की राह' से देख सकते हैं। नौवीं कक्षा की पढ़ाई के दौरान चल रहे बुद्ध के प्रसंग से प्रभावित होकर तुलसीराम अपने जीवन को नई राह पर खड़ा पाते हैं। अध्यापकों द्वारा पढ़ाए बुद्ध के विचार और राहुल सांकृत्यायन की कृति 'वोल्गा से गंगा' ने बुद्ध के प्रति एक अलग भाव उत्पन्न कर दिया था। अध्यापक सूर्यभान सिंह द्वारा पढ़ाए गौतम बुद्ध की कहानी में बुद्ध का मध्य मार्ग पर चलने के महाज्ञान ने लेखक के अंदर आगे की शिक्षा प्राप्ति की ईच्छा को और कई गुण बढ़ा दिया। दसवें दर्जे की पढ़ाई के बाद गाँव में कोई इंटर स्कूल नहीं था। लेखक को आगे की पढ़ाई के लिए घर से बाहर जाना जरूरी था। इस दौरान उन्हें बुद्ध अत्यधिक प्रभावित करने लगे थे। इस संदर्भ में लेखक आत्मकथा 'मुर्दहिया' में लिखते हैं, "रात में पढ़ाते समय सबसे रोचक बात यह होती थी कि बगल में बँधा चिन्तामणि का घोड़ा बीच-बीच में हिनहिना उठता था, जिसे सुनकर मेरा पूरा

ध्यान घुड़सवार होकर घर से भागते हुए गौतम बुद्ध की तरफ चला जाता था तथा कुछ समय के लिए मैं एक गंभीर दार्शनिक सोच में तल्लीन हो जाता था।.....मैं एकदम गंभीर हो जाता था। ऐसा देखकर चिन्तामणि सिंह बार-बार गंभीरता का कारण पूछते। मैं उन्हें हर बार बहका देता और कहता कि कोई कारण नहीं है।"1 लेखक बुद्ध के विचार को आत्मसात करने की ओर बढ़ने लगे। जिस तरह बुद्ध ज्ञान की तलाश में धन ऐश्वर्य से विमुख होकर गृह त्याग कर दिया था। ठीक उसी प्रकार लेखक ग्रामीण परिवेश के वातावरण से विमुख होकर बेहतर शिक्षा का दामन पकड़ना चाहते हैं। इसलिए घर से जाना ही उचित समझा। वहीं दलित के प्रति लगे पूर्वाग्रह को तुलसीराम शिक्षा के माध्यम से तोड़ना जरूरी समझते हैं क्योंकि तथाकथित ब्राह्मणों का मानना था कि दलित जाति का लड़का यदि अधिक शिक्षित हो जाता है तो वह मानसिक संतुलन खो-बैठता है। ब्राह्मण द्वारा कहे वाक्य घर वालो को चिंता में डाल देता है इसलिए घर वाले तुलसीराम की पढ़ाई को बंद करवाने की प्रक्रिया में एकजुट हो जाते हैं। इस वजह से लेखक को बुद्ध का रास्ता ही अख्तियार करना सही लगता है।

लेखक का बुद्ध के प्रति आकर्षण शुरू से रहा है। लेखक अपने ही शब्दों को दोहराते हुए कहते हैं, "मैं सारनाथ के उस प्रमुख बौद्धमठ में पहुँच गया, जिसकी दीवारों पर बुद्ध का जीवन चित्रित था। लुम्बिनी में जन्म से लेकर गृहत्याग तथा अंत में निर्वाण यानी मृत्यु तक का चित्रण था। निर्वाण की मुद्रा में बुद्ध को लेटे देखकर मैं अत्यंत भावुक हो उठा था इसलिए रो पड़ा। मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो मैं सदियों पूर्व बुद्ध के निर्वाण के समय वहाँ उपस्थित था।.....मृगदाव में घूमते हुए मैं कई बार बुद्ध के प्रथम उपदेश की अनेक बातों को दोहराता रहा।"2 लेखक बुद्ध के जीवन दर्शन में व्याप्त विचारों का स्मरण करते हुए सत्य और असत्य की खोह में जा के जीवन में चल रहे ऊहापोह की पड़ताल करते हुए दिखाई देते हैं। लेखक के विचार में बुद्ध सदा ही विचरण करते हैं क्योंकि लेखक के साथ घटित घटनाओं का एक-एक शब्द बुद्ध के उपदेशों में निहित सत्य की परिभाषा को प्रस्तुत करता हुआ दृष्टिगत होता है। संसार दुख का असीम सागर है। इस सागर में वही पार पा सकता है जो कदम-कदम पर दुखों को आत्मसात करते हुए दुखों पर विजय प्राप्त कर ले। लेखक के विचार में शिक्षा ज्ञान का सबल माध्यम है जो समाज के सभी तबकों के लोगों को एक बेहतर भविष्य दे सकता है। दलित समुदाय को विभिन्न समस्याओं तथा बाधाओं से मुक्त करवा सकता है। लेकिन दुख से विमुख नहीं हुआ जा सकता। दुख मानव स्वभाव का अंग है जो मनुष्य को पल-पल निखारता है।

बुद्ध के विचार लेखक को इतना प्रभावित करते हैं कि आत्महत्या जैसा कृत्य करने से रुक जाते हैं। तुलसीराम लिखते हैं, "भविष्य की अनिश्चयता से ऊबकर कई बार क्रेन से कूदकर ट्रेन के नीचे आ जाने का मन करता था, किन्तु बुद्ध सामने आ जाते और मैं आत्महत्या को पाप समझने लगता था।"3 सामाजिक यथार्थ तकलीफ देह होता है। समाज की शून्यता व्यक्ति के अंदर अपराध भाव को जन्म देती है जिसके कारण व्यक्ति थक हार कर अपराध का रास्ता अपनाने लग जाता है और आत्महत्या तक कर बैठता है।

लेखक आत्मकथा में बुद्ध के विचारों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं, "बौद्ध संग्रह 'विनय पिटक' की शुरुआत में ही बुद्ध ने तीसरा कानून आत्महत्या के विरोध में बनाया था। उन्होंने साफ़तौर पर कहा जो भिक्षु मानव हत्या करे या आत्महत्या के लिए हथियार लावे या मरने की तारीफ करे या मरने के लिए प्रेरित करे या कहे कि जीने से मारना अच्छा है, वह पाराजिक होता है।"4 प्रस्तुत विचारों में लेखक बौद्ध धर्म के धर्मग्रंथों में उल्लेखित कानून प्रक्रिया में व्याप्त दंड विधान की शक्ति का वर्णन करते हुए, भिक्षु व्यक्ति का अनाचार में लिप्त पाए जाने पर कड़ी सजा का प्रावधान सुनाया जाता है। लेकिन वहीं हिन्दू धर्मशास्त्रों में अनाचार के लिए कोई सख्त दंडविधान प्रक्रिया धूमिल दिखाई पड़ती है। हिन्दू व्यवस्था के पुरोहित कितना भी अनाचारी, बलात्कारी, धर्म के विरुद्ध जनता को उकसाएं, हत्या करवाएं, दूसरों की संपत्ति पर घाघ की तरह निगाहें जमाने वाला एवं शोषण करने वाला क्यों न हो लेकिन व्यवस्था के नुमाइंदे इनके लिए कोई कड़ा दंड नहीं देने देते हैं। हिन्दू वर्ग कानून व्यवस्था के आधार पर सजा के प्रावधानों को महत्त्व देता है क्योंकि देश लोकतंत्र प्रक्रिया से चलता है। यहाँ दंड के विधान में थोड़ा समय लगता है। लेकिन सजा हर एक अनाचारी के लिए तय है।

तुलसीराम आत्मकथा में उल्लेखित करते हैं, "गांधी जी के अहिंसावादी सिद्धांत पर भी खूब चर्चा होती। मैं छात्रों से कक्षा के

बाहर बहस करते हुए अकसर कहता कि 'अहिंसा' तो गौतम बुद्ध का सिद्धांत था, किन्तु गांधी ने उसे हड़पकर अपना बना लिया और उनके मुंह से कभी बुद्ध का नाम नहीं निकला। यह एक वैचारिक बेईमानी थी।.....मेरे इस तर्क से अधिकतर छात्र अचंभित होते, किन्तु अनेक लोग मेरे बुद्धिसंगत विचार से सहमत भी होते।"5 लेखक के विचारों में निर्भीकता के स्वर को देखा जा सकता है। यह निर्भीकता और प्रखरता बुद्ध के प्रभाव से आई। बुद्ध के विचारों से प्रभावित होकर ही तुलसीराम में बे-बाक बोलने की प्रतिभा उत्पन्न हुई।

लेखक में पश्चयताप उत्पन्न हो जाता। इसको आत्मकथा में इस प्रकार उल्लेखित किया है, "बुद्ध ने चोरी को 'पाचित्तीय दोष' यानी ऐसा कर्म जिसे करने के बाद पश्चाताप करना पड़े, बताया था।.....यद्यपि मैंने 40 पैसे की उस चोरी की घटना के ठीक 22 साल बाद एक श्रीलंकाई भिक्षु से बौद्ध दीक्षा 21 मार्च 1988 को ली थी। किन्तु उस अपराध-बोध से कभी मुक्त नहीं हो पाया। फिर भी मुझे संतुष्टि इस बात पर है कि मैं फिर कभी चोरी नहीं करूंगा के प्रण पर जिंदगी भर कायम रहा। संतुष्टि इसलिए भी थी कि यदि 999 व्यक्तियों का हत्यारा डाकू अंगुलिमाल बौद्ध बन सकता था, तो मैं तो एक साधारण चोर था।"6 लेखक के विचारों में मनुष्य की इच्छा शक्ति एवं दृढ़ संकल्प पर कायम रहने की ओर व्यक्ति को विशेष ध्यान देने की बात कही है। व्यक्ति जन्म से अच्छा या बुरा नहीं होता बल्कि उसका परिवेश व वातावरण की परिस्थितियाँ उसको सही व गलत राह पर चलने के लिए प्रभावित करती हैं। इस संदर्भ चतुरसेन शास्त्री लिखते हैं, "मैं तो उसे ही महान कहता हूँ जो महात्मा है और पूर्ण जागृत है, न नंगा रहने से, न जटा बढ़ाने से, न विभूति लगाने से और न मौन साधने से कोई मनुष्य अपने को पवित्र बना सकता है। जबतक कि वह अपनी कामनाओं को जीत नहीं लेता है। पवित्र और शांत जीवन आत्म-निरोध से पैदा होता है, उसी को बुद्ध लोगों में निर्वाह मानते हैं, यह गुण इसी संसार में पैदा हो सकता है। इन तमाम बातों से सिद्ध होता है कि बौद्ध-धम्म परलोक के लिए कोई उज्ज्वल पुरस्कार नहीं देता। भलाई ही उसका पुरस्कार है।"7 इसी दृष्टिकोण पर डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर अपनी पुस्तक (बुद्धा एण्ड हीस धम्मा) में लिखते हैं, "युद्ध की समस्या अनिवार्य तौर पर विरोध की समस्या है। यह एक बड़ी समस्या का एक अंग मात्र है। यहाँ विरोध न केवल जातियों और राजाओं में ही विद्यमान है, यह विरोध यह संघर्ष विद्यमान है क्षत्रियों में, ब्राह्मण में, गृहस्थों में माता और पुत्र में, पुत्र और पिता में तथा साथी और साथी में। लेकिन वर्गों के बीच में जो संघर्ष होता है वह स्थायी है और लगातार जारी है। संसार के कष्टों और दुख के मूल में यह वर्ग-संघर्ष ही है। यह सत्य है कि मैंने (बुद्ध) युद्ध के कारण ही गृहत्याग किया था। लेकिन शाक्यो और कोलियों का युद्ध समाप्त हो जाने पर भी मैं घर वापस नहीं लौट सकता। मैं देखाता हूँ कि मेरी समस्या ने व्यापक रूप धारण कर लिया है। मुझे उस सामाजिक-संघर्ष की समस्या का हल खोज निकलना है।"8

कथनों से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि बुद्ध भारतीय समाज की समस्याओं को हल करने के प्रति अग्रसर हैं। विचारों से समस्यों की जड़ तक जाने के लिए बुद्ध आस्था का रास्ता छोड़ वैज्ञानिक पद्धति की ओर मुखर होकर भारतीय जन-मानस में व्याप्त समस्या अथवा जड़ परंपरा को स्वस्थ करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति का वैचारिक आवाहन करते हुए स्वयं से विचार-विनिमय कर रहे हैं। बुद्ध समता, बंधुत्वता के बल पर वर्ण-भेद का मसला खत्म करना चाहते हैं। जो ऊपर की पंक्तियों में दिखाई देता है। भारतीय समाज पर बौद्ध धम्म का जो प्रभाव दिखाई देता है। उस पर काकासाहब कालेलकर लिखते हैं, "सनातन धर्म और बौद्ध धर्म में एक बड़ा फर्क यह है कि सनातन धर्म में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास का सिलसिला क्रमशः रखा गया है। एक आश्रम से आगे बढ़कर दूसरे आश्रम में जाया जाता है। वापस लौटने की इजाजत नहीं है। यही कारण है कि गुरु किसी को संन्यास की दीक्षा, जहाँ तक हो सके, आसानी से नहीं देते। लेकिन बौद्ध धर्म की दृष्टि अलग है। वहाँ माता-पिता मानते हैं कि पुत्र के सयाने होते ही उसे सर्वश्रेष्ठ भिक्षु से बौद्ध धम्म की दीक्षा देना उनका कर्तव्य है। बाद में अगर पुत्र को अनुभव हो कि यह ऊँची दीक्षा उसके लिए अनुकूल नहीं है तो वह स्वेच्छा से नीचे उतर सकता है। बौद्ध धम्म का रिवाज है कि भिक्षु-व्रत ग्रहण करने के बाद अगर किसी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की इच्छा हो तो वह अपने धम्म गुरु की अनुज्ञा लेकर वैसा कर सकता है। धर्मानन्द जी ने वैसा ही किया।"9

धर्मानन्द कोसम्बी अपनी पुस्तक में लिखते हैं, "बुद्ध द्वारा दिए गए

अनेक उपदेश 'सुत्तपिटक' में संग्रहीत किए गए हैं। परंतु उनके धर्म का आधारभूत उपदेश यही है। अकेले 'सच्चसंयुक्त' में चार आर्यसत्यों के संबंध में कुल 131 सुत्त हैं। इसके अतिरिक्त अन्य निकायों में उनका उल्लेख बार-बार होता है। बुद्ध के अन्य सब उपदेश मानव कल्याण के हित समाहित हैं जो भविष्य की परिकल्पना को अभिव्यक्त करते हैं।"10 तमाम ऐसे तथ्य मिलते हैं कि बौद्ध साहित्य दलित का प्रस्थान है। संत साहित्य पर भी बुद्ध का प्रभाव रहा है लेकिन संतों की वाणी में बुद्ध के वचनों का सीधा अनुसरण दिखाई नहीं देता है। मनुष्यों में कालान्तर से बुद्ध का व्यापक प्रभाव जहाँ-तहां परिलक्षित होता रहा है और होता है।

अंतः लेखक पर बुद्ध के विचारों का प्रभाव ही उनकी वाणी की प्रखरता को समृद्ध करता है। दलित समाज में जड़ पड़ी मान्यताओं को खारिज करने की शक्ति लेखक के विचार से बुद्ध के वैचारिक तर्कों में है। बौद्ध धर्म समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्वता की बात करता है। इन बिंदुओं से ही लेखक के विचारों में बुद्ध सदैव विचरण करते हुए दिखाई देते हैं। लेखक को बुद्ध का प्रभाव नए आयाम की तरफ प्रेरित करता है। हर चीज को तर्क के आधार पर प्रमुखता देने के लिए स्वतंत्र करता है, काल ही जाल फेंके तो फँसे मनुष्य वरना इन्हें फँसाने वाला कोई नहीं सिवाए मनुष्य के। विचारों से पूर्ण व्यक्ति को न वर्तमान की चिंता होती है न भविष्य की व्याकुलता। लेखक के विचार में बुद्ध का सिद्धांत मानव जीवन को व्यापक परिदृश्य पर अग्रसर करना है। बाह्य अंधविश्वास, पाखंड से विमुख कर नए मार्ग पर जीवन को जानने अथवा सही अर्थों में ज्ञान प्राप्ति की नई चेतना का विकास करता है।

संदर्भ सूची :-

1) डॉ. तुलसीराम, मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2010, पृष्ठ सं. -152

2) डॉ. तुलसीराम, मणिकर्णिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला सं. 2013, पृष्ठ सं. -15

3) वही, पृष्ठ सं. -34

4) वही, पृष्ठ सं. -82

5) वही, पृष्ठ सं. -92

6) वही, पृष्ठ सं. -21

7) आचार्य चतुरसेन शास्त्री, 'बुद्ध और बौद्ध-धर्म', हिन्दी साहित्य मंडल प्रकाशन, देहली, पहला संस्करण 1940, पृष्ठ सं. 39-40

8) डॉ. बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर, 'दा बुद्धा एण्ड हीस धम्मा', ससोफ्ट ग्रुप प्रकाशन, इंडिया, दसवां संस्करण 2014, पृष्ठ सं. 34-35

9) धर्मानन्द कोसम्बी, (अनु.) श्रोपाद जोशी, 'भगवान बुद्ध', राजकमल प्रकाशन, मुंबई, पहला संस्करण 1956, पृष्ठ सं. 'ग' (भूमिका) से

10) वही पृष्ठ सं. 139-140

☆☆☆

A Theoretical Understanding of Community Organization: A Broader Perspective.

-Mr. MIGE KAMBU,
Ph.D. Scholar,
Department of Political Science,
Rajiv Gandhi University, Rono Hills,
Doimukh, Arunachal Pradesh.

-Dr. DAVID GAO,
Assistant Professor, Department of Political Science,
Rajiv Gandhi University, Rono Hills, Doimukh ,
Arunachal Pradesh

Abstract

Community Organization is a form of civil society organization (CSO) formed by a group of people having similar interests, attributes, and most importantly a common objective to promote and protect the interests pertaining to their community. It is basically a non-profit organization made up of some representatives of the community and which operates through voluntary efforts of individuals. Some of the important attributes of community organization are social welfare, inclusive participation, specific objectives etc. Being a form of civil society organization, community organization aids government in framing policies and schemes as they work with the communities and in process they accumulate information on various issues faced by communities. CBOs plays crucial roles in the field of education, health, environmental protection, sustainable development and in other spheres of the community as it is a means to promote and achieve desired objectives of the Community. Community organization is apparently an institution for social welfare activities which adheres to certain principles, methods of functioning and various models associated with it. Over the past decades the community based organizations have drastically changed the overall outlook of the community and with the respective governments delegating responsibilities has made these CBOs more participate in the policy decisions and the executions part as well. The present study attempts to analyze in detail the theoretical aspects of community organization in a broader perspective. It is pertinent for the community organizers and representatives to have knowledge about the actual meaning of community organization, its associated functions, principles, and models, in order to function as an efficient community Organization.

Key words: *Community organization, Civil Society Organizations, social welfare, inclusive participation*.

INTRODUCTION

The formation of any organization is the result of people living together, to meet the collective and individual needs. They act as a means to achieve the common goals for common good. Community organization having understood as a form of civil society organization is a non-profit body which exclusively exists and operates through voluntary efforts and cooperation by individuals, called community organizers. The formations of community organization are on the basis of locality, interest, caste, identity, function, culture etc. Murray George Ross a Canadian Sociologist define community organization as a "process by which community identifies its needs or objectives, give priority to them, develops confidence and will to carry out

work accordingly, fund resources (internal and external) to deal with, and in doing, so extends and develop cooperative and collaborative attitudes and practices in the community". Agnes Karuwesan (2005) defines community organization as an individual group trying to address various issues affecting the communities at large. He further observes that community organization activity involves community initiatives through which community organizers grasp the existing problems and needs of the community, and it ensures increase in equity, empowerment, environmental protection, and other fundamental social services. Likewise Sanjay Bhattacharya understands community organization as a body which is formed upholding the community's solidarity, solidarity, interactions, and social relationships among the members of the community. He asserts that the main aim of community organization is to assist the communities in developing social interaction among people, to make community members aware and better use available resources to fulfill their needs and mitigation. According to him one of the central aspects of a community is 'cooperative', and 'collaborative living'. Thus, it is a mechanism to promote and achieve desired objectives of the community. In the similar footing, Joseph and Das (2013) observe that community organization covers a series of activities at the community level aimed at bringing about desired improvement in the social well-being of individuals, groups and neighborhood. It is mainly concerned with bringing positive social changes in the society through analyzing the social conditions and initiating actions for the same. Hence, community organization must involve the community people democratically, in planning, execution and decision making to ensure that people's views are also taken into account.

The idea of community work and community organization emerged in England as charity organizations such as the London Society of Charitable Relief and settlement house movement. These organizations helped the poor people through fundraising and Welfare activities in the 1870s. In the United Kingdom community work was a method of social work. Gradually, community organizations in the 1920s started working closely with the Central and State government in urban development plans. With its close association with government; community work was seen as professional social work (Joseph and dash, 2013, p.25). The emergence of organization influenced the people of the United States of America to form such organizations. Consequently, organizations such as Citywide Charity organization at Buffalo USA was formed for the same cause. Charity organization was mainly concerned with providing personal services to families and individuals who were living under poverty, besides, this organization initiated collaborative work with other welfare agencies (Banasode, 2021, P. 20). In the history of community organization, it was the Lane Report (1939) that for the first time discussed the nature and attributes of community organization. This report was presented at the National Conference of Social Work New York. This report was a remarkable report as it clearly elaborated the objectives, roles, activities and methods of community organization. Recognition of community

organization as a method of social work was adopted in this report (Patil, 2013, 4). Today, community organization is widely accepted as a method and process which is of continuous nature. Adequate conceptual basis of community organization have been developed and sound theoretical foundation with the introduction of different books, authors, social workers. Some of the notable personalities who contributed to the growth of conceptual basis of community organization are Wayne Mcmilen, Murray G. Ross, Rothman, Arthur Dunham, Saul Alinsky.

Pankaj Tyagi, *How NGO and CBO differs from each other, 2020*, in his article makes a clear distinctions between CBOs and NGO on the basis of their working process, Organizational structure, legal prospects, work criteria and funding. NGOs have a broader spectrum which CBOs does not. However, in conclusion remarks author asserts that despite the differences between the two entities they have a common purpose that is to help underprivileged groups and individuals in society through various social measures. Further, Owolabi and Babantunde in their research work titled as *Assessment of Community Organization Activities towards Economic Development in Ondo State*, Nigeria, 2018, has revealed that community organization plays a crucial role in economic development. CBOs involves in providing social facilities such as schools, community halls, roads, post office etc. the study recommends that CBOs must promote organizational capacity building such as flexibility in planning, collaboration with other bodies , evaluation mechanism, funding etc. one of the significant contribution of this study is the constraints faced by CBOs such as fund, man power etc. Jesse Abrams, Autumn Ellison, Emily Jane Davis Cassandar, Mosele, and Branda Nowell, 2016, Community-Based Organization in the US West: Status, Structure and Activities. The article examines the important role played CBOs in social services, environmental issues etc. significant contribution of this study is the examination of current status of CBOs, their activities, their operation, finance, how they assist other organization. The paper concludes with major findings such as engagement of CBOs in economic development activities, natural conservation and drawbacks such as small budgets, less workers etc.

In the light of above discussion, we can conclude that community organization is an entity which is formed basically to address the socio-economic and political issues of community to enhance the quality of life and to bring social changes. In addition, it has widely become as a method of social work to carry out welfare activities; mostly beneficial to the marginalized sections of the society. So McNeil (1954) has defined it as a process by which people of communities as individuals, citizens, or as a representative of groups join together to determine social welfare need, plan ways of meeting them and mobilize the necessary actions.

Nature of community organization

Community organization is basically a method of social work through which the problems and

issues of the community are identified and subsequently a solution for the same is sought. Initiation of welfare measures hence becomes the priority of community organization. It functions as an agent to bring progressive and positive growth to the community. Hence, it involves deliberative and conscious collective efforts of the social workers and community organizers. Another striking feature of community organization is non-profit entity. Community organization being a form of civil society is a non-profit body existing solely through voluntary efforts, donation, fund raising activities and cooperation. It doesn't operate to make profit. However, grants-in-aid from the government are accepted by the community organization. The main sources of income for community organization are donation drive, membership fee, voluntary contribution etc.

Third Significant nature of Community organization is the adoption of participatory method along with democratic principles. Hence, Inclusive participation of people in decision making and problem solving becomes the true essence of community organization. Being an organization following democratic principles it must always reflect the wishes of the community people to ensure that their voices are heard to add collective strength to deal with any issues. In addition to above nature, having specific goals and objectives is very nature of community organization as every organization has goals and objectives to be achieved. Likewise community organization also has specific common goals for common good. Their nature of operation and work are determined by the way the organization sets its goals and objectives. Further, Community organization helps communities to identify their needs and problems. Once the identification of problems are done; community organizers or workers prioritize the needs accordingly and initiate action plans. In the due course of time community workers assist the community to mobilize resources through which identified problems could be solved.

Further, community organization for its existence needs to build up collaborative and cooperative attitudes. It must ensure that it collaborates and cooperates with other organizations such as NGOs, voluntary organizations, village organizations. In the society to function efficiently, without which community organization will not be able to create a positive impact on the community and its people.

Principles of Community organization

Dunham (1958) has presented 28 principles of community organization which he has further grouped into seven headings.

1. Democratic and social welfare
2. Community roots and for community pro-

grams

3. Citizen understanding, support and participation and professional services
4. Cooperation.
5. Social Welfare programs
6. Adequacy, distribution, and organization of social welfare activities.

Prevention.

Models of community organization

Models of community organization comprise of various techniques and strategies used for the accomplishments of targeted objectives. In context of model of community organization, Jack Rothman, an American Sociologist is well recognized. He has propounded three models of community organization namely; Locality Development, Social Planning, and Social Action.

Locality development is basically a model designed to work with community masses. The crux of this model is about community building. It focuses on whole community or small part of community. Further, in locality development model; leadership and education of participants are essential component. The fundamental principle of this model is that every communities has their common goal, needs and interests, which can achieved through the realization of people working in solidarity and initiate necessary steps. In this model, community organization workers must ensure people's participation and assist community to set plans to find solution to their problems. In addition, cooperation and coordination among different social agencies to ensure efficiency in providing services is an integral part of locality development (Stockdale, 1976, pp 541-542)

Social planning model is principally used to mitigate certain social issues of community. Community workers in this model, assess the welfare needs and services which are currently in operation in any particular part or area. After the evaluation, the workers put forward with certain suggestions for effective execution of services; such as education, health, women welfare, housing etc. The main goal of social planning method is to touch large population. Further, community worker represents community's needs and problems to the government. This is one of the most commonly used models by the community organization (Sharma, 2022, p.12). Social action is the third model of community organization; social action is the process through which individual in the society come together to work towards bringing improvement and to alleviate the problems being faced by the community. Social action can be any act, such as voluntary donation, physical work, community action etc. thus, it becomes sole responsibility of community organization to bring people together and to initiate social action in order to achieve the

desired goals of the community.

Steps or stages of community organizations

Besides models, there are various steps or stages community organization has to follow in order to function effectively. It requires inclusive participation as community organization is a method of solving problems of community through participatory method. According to Asha Ramagonda Patil, community organization must follow seven steps to function effectively; they are;

i. Assessing the community

ii. Formation of active functional team

ii. Initiating plan of action

iv. Mobilization of actions

v. Implementation of various programs

vi. Evaluation of executed programs

Assessing community is the first stage in community organization. It is imperative for the community organization leaders to know the status of community before initiating the process of community work. Further, gathering information about the issues community is facing is another important task of community workers. To gather accurate information it becomes essential for the workers to come in contact with the people get familiarity. In this initial stage, it is pertinent to collect information related to history, demography, social, economic and political aspects of the community, the community organization is assessing. Hence, accumulating comprehensive information before the actual work becomes a pivotal role of community organization.

After assessment of the community, subsequently leaders of community organization must form a functional team to carry out the process of addressing the issue which has been has identified after the assessment. It is encouraged to select members of all strata of the community who could represent society as a whole. While forming the functional team, community leaders must select those members who have positive and dedicated outlook, who would devote his/her time and energy. The proper execution of qualitative action in community organization solely depends upon the zest and commitment of the functional team. Thereby, forming an active functional team becomes crucial.

Developing a plan for the action is the third crucial step in which community organizers design or make a blueprint of the actions, policies to address the assessed problems of the community. Preparing a plan of action required involvement of people whose lives will be affected by the policies or actions. Consequently taking the consensus of assigning with some duties and responsibilities to those affected becomes indispensable part in this stage. Asha Ramagonda Patil in his work Community organization and Development an Indian Perspectives observes that plan of action must be flexible, feasible and realistic, with-

out which no plan of action can be implemented effectively.

Fourth significant step is Mobilization of action. Mobilization of action requires the active participation of people. People's participation is an important essence of community organization. Hence, community organization leaders must garner support and cooperation from people by the means of presentations, appeals, campaigns and meetings. For the mobilization of the action, community organization may seek assistance from the elected representatives, which will help the community organization to get support from the government in implementing the programs (Patil, 2013, p. 24). This step is followed by execution of plan. Execution simply means bringing the plan into action. Effective implementation of program is largely determined by the plan. Hence, having clarity in the plan is essential attributes in community organization. In addition, participation of people becomes integral part of the execution of the plan. Effectiveness of the plan can be examined by the outcome of the implementation.

Evaluation is the last stage of community organization, yet crucial. Its significance lies in the fact that effectiveness of any executed plan or action is ascertained by the process of evaluation. Therefore, evaluating an implemented program helps the community organizations to understand the impact a plan had on the affected people. It provides a way for the organizers to learn lessons for the future as evaluation brings out the drawbacks or positive implications in the community.

Functions of Community Organization

Further, Asha Ramagonda Patil in his work Community Organization and Development has given six major functions of community organization which they have to perform as a social welfare organization namely.

Planning is an integral part of any organization and institution. It is through planning, works are properly executed. Planning involves framing layout and outlines the activities that need to be carried out and the methods to be applied for the accomplishment of the targeted goals. Planning is the soul of community organization as it provides proper direction to start any course of action. It helps to utilize the available resources and time meticulously. In community organization planning involves the activities and programs for the specific targeted group. The effectiveness of community organization solely depends upon sound planning.

Fact finding is usually an activity of discovering a fact or discovering information. It is through fact finding and research in grassroots level community organization identifies the actual needs and problems of the community. Fact finding and research helps the community organization leaders to initiate the future course of action. It is therefore important for community organization to as-

sess the grievances and problems being faced by the community through a fact finding committee.

Maintenance of Public relations is the third important function of community organization Public relation is the dissemination of information from organization to the public domain through various means such as mass media. It is a communication process between the organization and public. Public relation in community organization also plays a very crucial role in integrating the community and its organization. It is through public relations that community organizations can be transparent and accountable. Moreover, Community organization being representative of the community has the responsibility of making its members aware about the works and activities that have been carried out or the activities that have been proposed. Public relations include interpreting social welfare needs, programs, services, developing and marinating public relations etc. (patil, 2013, p. 22)

Another significant function is fundraising and allocation; community organizations are basically a non-profit organization, which usually depend upon voluntary contribution. Raising funds and utilizing them in the right way therefore becomes an important function of community organization. Further, funds are raised through individual efforts and by donation drives among the members of the community. Subsequently, after collecting funds, budgeting and allocating them for various purposes become a crucial step in community organization.

Community development always remain an integral function of community organization working towards bringing community development is the most important function of community organization. Being a social welfare organization the main objective of community organization is to bring progress and development in the field of education, health, economy, standard of life etc. Community development is a method and a process through which actions, activities and programs are initiated to bring socio-economic changes. Therefore, community development becomes a mechanism for community organization to solve the problems of community at grassroots level. It focuses on the entire community rather than any particular area or group of people. The targeted group in community development is the community itself. In addition to that, the ultimate aim of community development is to let everyone in the community avail basic amenities to live like a dignified human being. (Patil, 2013, p.29). Hence, community organization is the means to achieve community development

Social action is always a part and parcel of community organization and it is a crucial

function of the same. Social action is the process through which individuals in the society come together to work towards bringing improvement and to alleviate the problems being faced by the community. Social action can be any act, such as voluntary donation, physical work, community action etc. thus, it becomes the sole responsibility of community organization to bring people together and to initiate social action in order to achieve the desired goals of the community.

CURRENT CHALLENGES OF COMMUNITY ORGANIZATION

However, in current scenario of community organizations, there are certain challenges that community organizations face. The emergence of dirty politics into community life have divided people into factions, communal disharmony, gender inequality, factionalism, protection of rights of marginalized groups are certain hindrances faced by community organization in their process of working (Joseph and Dash 2013. P. 81). Besides, ethical aspects of community organization remain a concern today. Besides, absence of clear vision obstruct the community organizers to perceive the totality of any situation; further absence of definite and systematic vison causes dilemmas in their working; consequently leading to instability in their working. Nevertheless these dilemmas can be minimized up to certain level through definite views and vison of long term purpose. Another significant concern of today's community organization is leadership; there are certain problems posed by the leadership, some leaders might use their power and position for vested interest in the new found status; keeping the people isolated in the state of dependence. Lack of clear identity causes CBOs predisposed to various manipulations and distortions; posing a great threat to the continuity and sustainability of CBOs (Mihanjo, 2005, p. 19). This situation is detrimental and frustrating for the aspirations of the community from the organizers. Moreover, poor resource base and financial instability causes ineffective working of CBOs; as CBOs rely mostly on free will donations, membership's fees, voluntary donations etc.Further, this situation retards the entire working process of community organization; nevertheless such challenges could be avoided if community organizers or community organizations have larger and clear visons for the community. (David, 1982 p.191). Besides, organizers purpose also serves as a way to minimize the contradictions and hindrances of their working; which can be achieved through the inculcation of ethical values or behaviors of community organizers, which could a better alternative to avoid inefficiency. In addition, constant touch and assessment of community and its people can be a reliable method for the successful operation of community organization. Relevant approaches and models could be also be applied by the community organization and organizers to find a resolute solutions for the problems faced by the community. However, lack of financial support and interference from political offices often act as an obstacle in their working; nevertheless adherence to the continual participatory evaluation and identification, mobilization and utilization of available resources of community hence, become integral part of the process of community organization (Banasode C. 11, 2021). Community organization solves the community problems and fulfills the needs of the community such as social injustice, poverty, poor nutrition, lack of health facilities, pollution, Environment, women, drug trafficking etc. These problems can be also be studied by applying medical model; study the problem first; diagnosis or findings; and treatment.

CONCLUSION

Community organization is today widely ac-

cepted as a method of social work. It is a means to achieve a progressive society and a method to achieve and promote community development as they are instrumental in dealing and addressing with various social, political and economic issues. Further, to enhance their working it is crucial for the organizers to adopt participatory method, community mobilization, awareness program and capacity building, which are essential for their effective functioning or else community organization may lost its relevance and essence. Besides, community organizers must acquire distinct attributes as the entire working of organization is largely depending upon them. Moreover, they act as a link between government and community; it is through them plights, and other socio-economic problems are brought before the government using different methods and approaches; consequently affecting the decision making of the government. In context of India, CBOs use different social action method to make their voice heard to the government such as demonstrations, non-cooperation, writing representation and memorandum; consequently affecting the decision making of the government. In order to be an effective community organization, the organizers must understand and have knowledge about the theoretical aspect of community organization such as principles, functions, models, approaches and stages, without which community organization will not be able to bring positive social changes for community. Moreover, CBOs must develop collaborative spirit to work with other agencies such as grassroots government, NGOs, and other agencies. At the heart of community organization, there must be inclusion, ownership, relationship building and leadership development (Patil 2013). In conclusion, we can assert that community organization is process that is continuous in nature, in which changes are made and remade on the basis of circumstances, situations and time. Hence, it must be an organization with flexibility, to adapt to any situation in order to eradicate all the obstacles that hinder the growth, development, utilization of resources and capacity building of community.

References

1)Andharia Janki (2009) Critical exploration of community organization in India. Oxford Journals, Oxford University Press. Vol 44, pp276-290. https://www.jstor.org/stable/44258144

2)Augusty Karimundakkal Marykutty, Dizon T josefina (2020). The role of community-based organization in addressing social equity among deprived section in the conflict vulnerable areas in Karnataka India, *Asian research journal for Arts and*

social sciences. Article number AR-JASS.56850

3)Banasode, Chandrashekar, C. (2021). *Community Organization in India*. Current Publication, Agra.

4)Eswarappa, kasi (2021). Community-based organizations (CBOs) and their role in development of women, a case study from Andhra Pradesh. Sage publication.

5)Karina, Constantino David. (1982). *'Issues in Community Organization'*. Oxford Journals. Oxford University Press, Vol.17, No.3. https://www.jstor.org/stable/44258468

6)Korten, C. David (1980) Community organization and rural development: a learning process approach Vol.40.Blackwell Publishing Vol.40, pp.480 -511. https://www.jstor.org/stable/3110204

7)Mihanjo, Karuwesa Agnes. (2005). The significance of Community Based Organization in Supporting Rural Development: A case Study in Morogoro Rural District, Matombo Divison, Tawa Ward. (Master Dissertation). Open University of Tanzania.

8)Monterio, A Alcides (2014) The active role of Community-based organization in the local redefinition of national policies. expert Project Publishing vol.46 https://www.researchgate.net/publication/286761166

9)Patil, Asha Ramagonda, (2013). *Community Organization and Development, An Indian Perspective*. PHI Learning, Delhi.

10)Sheeba, Joseph and Dash, Bishnu Mohan. (2013). *Community Organization in Social Work*. Discovery Publishing House, New Delhi.

11)Stockdale , Jerry D.. (1976). 'Community Organization Practice: An Elaboration on Rothman's Typology'. *The Journal of Sociology and Social Welfare*, Vol. 3,

12) Sharma, Shasi. (2022).*Community Organization and Social Action*. ABD Publishers, New Delhi.

⋆⋆⋆

Enhancing Familiarity with The Phenomenon of 'Employee Skill Erosion': A Closer Examination of Various Dimensions and Perspectives

-Benny Sebastian

Ph.D. Scholar,

Dept of Management, Rajiv Gandhi Central University, Doimukh-791112

Arunachal Pradesh; Email id: benny.seba123@gmail.com

Abstract

The phenomenon of 'Employee Skill Erosion' (ESE) has been a scarcely discussed concept in the labour market. Of late, the term has garnered much significance in the context of declining proficiency among employees due to both external and internal forces of the job environment. The author is evoked by the reality of soil erosion which is a geological spectacle affecting the natural environment to conclude that such a process could also be perceived in an employee subjected to the impact of various forces affecting the labour market. Every business enterprise irrespective of its size or market share cannot be immune to the changes prompted by the ever-evolving business landscape. Similarly, the employee of a firm whose specific employability skills that might have been cutting-edge for a decade or more, could gradually become irrelevant, leading to what we understand as 'skill erosion'. This could, in turn, impact the entire business in many ways. The purpose of the paper is to examine the various dimensions of the phenomenon of 'skill erosion' and to enable readers to enhance familiarity with this concept. A conceptual analysis of the term is followed by a discussion on the agents causing skill erosion as well as its impact on the employee and the business organization. Mitigation strategies proposed are proactive measures that can be adopted by companies to safeguard their existence and progress.

Keywords: *Labor skills, Skill erosion, Up-skilling. Labor market.*

Introduction

Cambridge Dictionary defines *EROSION* as "the fact of soil, stone, etc. being gradually damaged and removed by the waves, rain, or wind." What people, as common folk, understand is that erosion is the geological process in which earthen materials are altered, worn away, transported, or vanished when exposed to the cumulative battering forces of nature. Agents of erosion or factors impacting such changes can be several like winds, rain, flood, heat, cold waves, etc. If this could be a reality that affects nature and its existence the author is forced to assume that such a process can occur to the skills either inborn or attained by training, that any individual possesses.

Every business enterprise, whether big or small, cannot claim complete immunity from the transformation triggered by the ever-evolving business landscape. Employability skills possessed by the employee of a firm, which might have been cutting-edge for a decade or more, could gradually become irrelevant, leading to what we understand as 'skill erosion'. This could, in turn, affect the entire business in many ways. Though the impact of this phenomenon is widely witnessed, the reasons behind such occurrences are yet to be ascertained. For anyone in any way associated with business, a comprehensive understanding of the various nuances of the concept might benefit much. The current study is a genuine effort to enhance the familiarity of the read-

ers with the rarely discussed phenomenon of 'Employee Skill Erosion'.

Employee Skill Erosion: A Conceptual Analysis

Though the notion of 'Employee Skill Erosion' (ESE), is conceptually rather abstract, a deeper understanding of it is possible at the cost of a little effort. It is being observed that when exposed to external forces, an object could undergo alteration. Similarly, when working among people of a different language, an individual might lose proficiency in one's language, or an individual closely associated with a different culture can gradually compromise on one's own cultural identity. If this principle could be applied to one's labor skills, an employee exposed to various external or internal forces of the job environment could experience steady deterioration in acquired employability skill proficiency over a period of time. In the business scenario, it could be termed 'skill erosion' and would constitute a loss of expertise that is essential to success in business. Such a situation arises generally when technology undertakes those activities that were until now performed by human beings. As a result, people become unable to carry out tasks with the same effectiveness and precision as earlier.

The author would like to refer to employee skill erosion as a *phenomenon* rather than a *problem* in the current paper. It is affiliated with technological progress in most cases. It is only understandable that certain skills that were thought to be very essential for certain jobs are no longer required in the path of one's career progress. Some authors refer to it as 'skill obsolescence' or 'skill mismatch'. (Cedefop, 2010)

Agents of Skill Erosion

When the presence of skill erosion is acknowledged among the employees, the immediate question that arises would be 'What causes it?'. In the business context, we might identify a few reasons for this. It may be very apt to take a glance at a few agents of skill erosion in employees.

Technological Changes

Novel tools and enhanced techniques rule human existence. One innovation after another occurs at an unimaginable speed constantly challenging global businesses and markets. What was considered best practice in an industry a couple of years ago can no longer claim to be enjoying the same status. Complex works, either mental or physical, once performed by human beings are replaced by machines mostly automated, reducing their burdens to a great extent. Gradually, as automated machines execute the same functions that had been performed by humans more efficiently and productively, the skills employees had acquired for the same functions get eroded over time. The employment sector is awestruck at the so-called 'technological alarmism' (Autor, 2015), (Mokyr, 2015), the rapidity at which technology in the form of robotics and artificial intelligence (AI) is replacing human labor with increased efficiency.

In a case study conducted on an accounting firm that had experienced skill erosion among its employees over several years, it was found to have resulted from undue reliance on automation which gradually fostered complacency at the individual as well as organizational level finally weakening employees' activity awareness, competence, and output valuation. Such skill erosion may not be easily understood at the early stage either by employees or management (Rinta, 2023). Adopting and adapting to the changes

require re-skilling and up-skilling of employees to cater to the constantly changing demands of the industry. Only this can ensure an efficiency advantage that positively contributes to the growth of any organization or business.

Market Environmental Changes

Constantly evolving market trends, unpredictable consumer behavior, preferences, and business regulations that undergo periodic revisions are just a few instances that point to market changes that are witnessed currently. Decisions related to market operations, practices, and business strategies are either directly or indirectly influenced by internal or external factors.

Volatile market trends emerge due to the impact of globalization on business patterns. These business environmental changes also function as mediators contributing to skill erosion in employees. In a market scenario in which e-commerce and digital strategic operations have gained momentum unless the workforce of an enterprise is trained to adapt to these changes, the result would lead to an unimaginable decline in business.

Lack of up-skilling or re-skilling

No company would want its employees to be functioning with incompatible skills which would affect the overall performance of the organization. Upskilling employees would mean keeping pace with the signs of the times that call for the provision of ongoing skill-enhancement opportunities to the workforce (Sahana, 2023). The paper has made mention of the inevitable changes occurring in every field, particularly in the business market. In the context of the unprecedented changes in the labor environment that leave the employee with mismatched skills irrelevant to the productive process involved, employees in an industry need to be offered opportunities to enrich themselves with employability skills that would always make them relevant to the market. In short, priority should be given to up-skilling or re-skilling of employees.

Impact of Skill Erosion on Employees

Over a period of time workers realize their inability to handle certain physical, or in some cases, knowledge-related aspects of their work in the way they had performed a few years ago. This is indicative of the impact of skill erosion on the employee. As far as the employee is concerned, recognizing one's inability to perform the expected responsibility becomes disheartening and depressing. Those employees who lack the opportunity to upgrade their job skills become apprehensive of losing jobs ultimately creating a sense of job insecurity in them (McGuinness, 2019). When the various forces of change make an employee irrelevant in the particular skill that had guaranteed a space in the company, it is more than one can tolerate. Besides, constantly employing the job-specific skill that might have been in use for a longer period, numerous other complementary skills might have already vanished. As a result, the employee's service becomes irrelevant to the company which may gradually have recourse to alternatives. Thus, the employees become innocent victims of skill erosion.

Impact of Skill Erosion on Business Enterprises

Skill erosion in employees can directly affect the organization in multiple ways. The inefficiency of the employees in operating the latest machinery can lead decline in output. Those who cannot keep pace with the new digital market trends and online

business strategies can miss out on market advantage for the company. Suppose the employees are directly connected with clients as in the customer service team. In that case, their inability to adeptly and effectively handle client grievances can create a bunch of dissatisfied customers who may turn to rival companies for quicker solutions to their problems. Risks involved include loss of business, market presence, customer retention, revenue opportunities, brand image, etc. One could employ terms like revenue erosion, asset erosion, and profit erosion to mean the same. However, the ultimate impact is related to the stability of the firm.

Prevention and Mitigation Strategies

The oft-repeated idiom 'prevention is better than cure', appears to be of extreme significance at this juncture. When faced with unanticipated occurrences, proactive measures adopted by companies can go a long way to safeguard its existence and progress.

Periodic Skill Assessment

One of the primary responsibilities of the company would be to periodically evaluate the performance of the employees and to identify those areas in which they need assistance. Such a practice, on the one hand, would encourage the employees to scale up their skills periodically, and on the other, enable the organization to detect any signs of skill erosion in the employees and initiate steps to mitigate them.

On-going skill development opportunities

As mentioned elsewhere in the article, unprecedented technological growth and the latest market trends demand that companies invest largely in employee upskilling programs to keep their workforce up-to-date. This presupposes that the top team stays well-informed about the numerous changes happening in the concerned industry. Simultaneously, it would be advantageous to the company to foster cross-training in different roles so that the staff can quickly adapt to the evolving job requirements more efficiently.

Create a Culture of Learning

The initial step to create a culture of learning in the organization would be to dedicate a certain number of days or hours periodically for the employees to explore new skills or to update the old in a pattern similar to remedial sessions at educational institutions. Some authors (Pollack, 2019) suggest that improved access to skills training and developing a culture of lifelong learning will be critical to providing workers with the education and training they will need to transition and adapt effectively to new realities. This implies that companies place priority on good job openings, accessibility to skill training, and new economic opportunities. Certain private sector organizations term this process as the 'on-going formation' of the personnel. Simultaneous with lifelong learning among the employees can be placed peer mentoring that encourages knowledge sharing and mutual learning (Cedefop, 2012).

Create a Culture of Employee Recognition

It might be beneficial to the company to acknowledge and reward either in the form of bonuses or promotions, those who positively pursue skill enhancement opportunities It is to be noted that rewarding employees for their effort to skill themselves

results in a positive response on their part. Employees feel wanted and valued and this motivates them to engage productively in the functioning of the company. Such acts ensure a sense of security among the employees. (Aruna, 2018)

Invest in Technology

Any organization needs to be open to new technologies and market trends. Investing in new technology that can enhance the skills of the workforce is never to be considered an additional expenditure. Similarly, by capitalizing on emerging development opportunities offered by technology, the efficiency of the entire operational system, products, and services of the company, are guaranteed a competitive edge over other market players. (Berger, 2016) makes a comprehensive study of the impact of computer technology in labor market since the '80s. To capture the opportunities and address the challenges created by technological advancement, the authors suggest investing in training and reskilling for the workforce to help boost fluctuating productivity growth and reduce undesirable rises in inequality.

Conclusion

A company, to stay on the vanguard of progress in the current dynamic business landscape, needs to ensure that its workforce is skilled enough to handle the changes that arise from time to time. Employee skill erosion is a perilous threat that can silently creep into and impact the company's well-being and competitiveness. Early detection is only the first step to counter the problem. Inventing proper strategies to address the problem is crucial to the company's growth and existence. Spare no efforts to fortify the abilities of the company's workforce and allocate time, energy, expertise, and finance to enhance their skill and secure the future of the company.

References

Aruna, G. (2018). Impact of Rewards and Recognition on Employees. *International Journal of Creative Research Thoughts, Vol.6*(Is.1).

Autor, D. (2015). Why are there still so many jobs? The history and future of workplace automation. *The Journal of Economic Perspectives, 29*(3).

Berger, T. &. (2016). Structural transformation in the OECD: Digitalisation, deindustrialization and the future of work. Paris, France: OECD Publishing.

Cedefop. (2010). The skill mismatch challenge: Analyzing skill mismatch and policy implications.

Cedefop. (2012). Briefing note: Preventing skill obsolescence.

McGuinness, S. P. (2019). Skills-Displacing Technological Change and Its Impact on Jobs: Challenging Technological Alarmism. *Discussion Paper Series*. IZA Institute of Labour Economics.

Mokyr, M. V. (2015). The History of Technological Anxiety and the Future of Economic Growth: Is This Time Different? *Journal of Economic Perspectives, 29*.

Pollack, E. F. (2019). *Automation and a Changing Economy-part 2: Policies for Shared Prosperity.* Washington DC: The Aspen Institute's Future of Work Initiative.

Rinta, T. P. (2023). The Vicious Circles of Skill Erosion: A Case Study of Cognitive Automation. *Journal of the Association for Information Systems, 24*(5).

Sahana, G. &. (2023). A Study on the Impact of Reskilling and Upskilling for the Promotion of Employees in the Organization. *Journal of Emerging Technologies and Innovative Research, 10*(5).

☆☆☆

Exploring the Visual and Psychological Depths of German Expressionist Film

-Ashok Bairagi

Assistant Professor, School of Cinema

AAFT University of Media and Arts, Raipur, Chhattisgarh, India – 493225

-Shriprakash Pal,
Ph.D. Scholar,
Dept. of Mass Communication, Rajiv Gandhi University, Arunachal Pradesh
Email: shriprakash.pal@rgu.ac.in

Abstract

German Expressionist film, a movement that flourished in the early 20th century, represents a unique and influential period in cinematic history. This research article delves into the origins, characteristics, and impact of German Expressionism on filmmaking. Through an analysis of key films and critical perspectives, we explore how German Expressionist filmmakers used innovative visual techniques and thematic depth to create a distinct cinematic language. Additionally, we examine the movement's influence on subsequent filmmakers and its lasting legacy in the realms of horror, thriller, and psychological cinema.

Keywords: *German Expressionism, film, visual style, psychological depth, cinematic language, influence*

Introduction

German Expressionist film emerged in the aftermath of World War I, reflecting the social, political, and psychological upheaval of the era. Characterized by its striking visual style and exploration of existential themes, German Expressionism offered filmmakers a means to convey inner emotional states and societal anxieties through cinematic language. This research article aims to provide a comprehensive overview of German Expressionist cinema, analysing its origins, key characteristics, notable films, and enduring influence on the art of filmmaking. German Expressionist filmmakers of the early 20th century crafted a cinematic language that was revolutionary, responding to the societal upheaval following World War I with boldness and innovation. Spearheaded by directors like Robert Wiene, Fritz Lang, and F.W. Murnau, this movement departed from realism to embrace heightened emotion and psychological depth. Their distinctive visual style, characterized by exaggerated mise-en-scène and chiaroscuro lighting, created an otherworldly atmosphere, intensifying the emotional impact of their narratives. Dynamic camera angles and unconventional framing further heightened the sense of disorientation, allowing for a deeper exploration of themes such as madness, alienation, and existential angst. Films like "The Cabinet of Dr. Caligari" and "Nosferatu" presented nightmarish visions, serving as allegories for the anxieties of a post-war society. The innovative techniques of German Expressionist filmmakers influenced later movements like film noir and horror, leaving an enduring legacy in the medium of film. Their daring approach to storytelling continues to inspire filmmakers today, cementing the profound and lasting impact of German Expressionism on cinema.

Expressionism arose in Germany around the turn of the twentieth century, profoundly influencing poetry and painting by drawing on Baroque vigour, Gothic distortion, and modernist ideals. It avoids realistic depictions in favor of subjective, abstract imagery that portray the artist's inner conflicts. Despite post-war challenges, it flourished throughout the Weimar era, with a boom of creative activity. Faced with Hollywood's technological dominance, German filmmakers adopted expressionism, using symbolic imagery to convey personal realities. "Dr. Caligari" is a great example, using exaggerated acting, complex makeup, and unique set design to immerse spectators in the protagonist's mind. Expressionism manipulates reality through lighting, shadows, and cinematography, transporting viewers to a subjective realm where truth becomes malleable.

German Expressionism in filmmaking emerged in the early 20th century, primarily during the Weimar Republic era (1919-1933). It was a movement that sought to explore the inner psyche and emotions of characters through exaggerated visuals and distorted storytelling techniques. **Origin:** German Expressionism stemmed from the broader Expressionist movement in art, which originated in Germany before World War I. Artists like Edvard Munch, Wassily Kandinsky, and Ernst Ludwig Kirchner were prominent figures in this movement. The trauma of World War I and the subsequent socio-political upheavals in Germany contributed to a sense of disillusionment and despair, which found expression in the arts. Expressionist filmmakers sought to break away from the realism of mainstream cinema and instead embraced symbolic storytelling and stylized visuals to convey emotional and psychological truths.

Characteristics

Visual Distortion: Expressionist films employed distorted sets, exaggerated angles, and stark contrasts between light and shadow to create a sense of unease and psychological tension. These techniques were

often used to reflect the inner turmoil of the characters.

Symbolism: Symbolism played a crucial role in Expressionist films, with objects, settings, and characters often representing abstract ideas or emotions rather than being depicted realistically.

Subject Matter: Expressionist films frequently explored themes of madness, alienation, and the dark side of human nature. Stories often revolved around characters struggling with moral dilemmas or existential crises.

Theatrical Performances: Actors in Expressionist films often delivered highly stylized and exaggerated performances, emphasizing emotional intensity over naturalism.

Influence of German Romanticism: German Expressionism drew inspiration from the Romantic movement of the 19th century, particularly in its exploration of the sublime, the supernatural, and the irrational.

Impact: Influence on Filmmaking: German Expressionism had a profound impact on the development of cinema, both in Germany and internationally. Filmmakers like Fritz Lang, F.W. Murnau, and Robert Wiene created ground-breaking works that pushed the boundaries of cinematic storytelling.

Influence on Genres: The visual style and thematic preoccupations of German Expressionism influenced a wide range of genres, including horror, film noir, and science fiction. Elements of Expressionist aesthetics can be seen in films such as "Nosferatu" (1922), "The Cabinet of Dr. Caligari" (1920), and "Metropolis" (1927).

Legacy: The legacy of German Expressionism can still be felt in contemporary cinema, with filmmakers continuing to draw inspiration from its visual language and thematic concerns. Its influence can be seen in the works of directors like Tim Burton, David Lynch, and Guillermo Del Toro. German Expressionism in filmmaking was a ground-breaking movement that used distorted visuals, symbolic storytelling, and psychological themes to explore the human condition. Its impact on cinema continues to be felt to this day, influencing filmmakers around the world and shaping the development of various film genres.

Origins and Characteristics of German Expressionism

German Expressionism in film was influenced by the broader artistic movement of Expressionism, which originated in Germany in the early 20th century. Expressionist artists sought to convey subjective emotions and inner experiences through distorted forms, bold colors, and exaggerated imagery. In cinema, this translated into a visually stylized approach characterized by angular set designs, chiaroscuro lighting, and symbolic use of space.

Influence and Legacy

German Expressionist cinema had a profound impact on the evolution of film as an art form. Its innovative visual techniques and psychological depth inspired filmmakers around the world, particularly in the genres of horror, thriller, and psychological drama. The legacy of German Expressionism can be seen in the works of directors such as Alfred Hitchcock, Tim Burton, and David Lynch, who have drawn upon its themes and aesthetics to create enduring cinematic masterpieces.

Key Films of German Expressionism

Several seminal films exemplify the aesthetic and thematic qualities of German Expressionist cinema. "The Cabinet of Dr. Caligari" (1920), directed by Robert Wiene, is often regarded as a quintessential example. Its distorted sets and twisted narrative underscore themes of madness and manipulation. "Nosferatu" (1922) by F.W. Murnau, a haunting adaptation of "Dracula," explores themes of death and decay through its atmospheric visuals and portrayal of the vampire Count Orlok. Fritz Lang's "Metropolis" (1927) offers a critique of industrialization and class disparity through its grandiose sets and dystopian narrative. German Expressionist cinema stands as a hallmark of innovation and artistic experimentation in the history of film. Among its seminal works, "The Cabinet of Dr. Caligari" (1920), directed by Robert Wiene, emerges as a quintessential example of the movement's creative brilliance. Through an analysis of its innovative visual techniques and thematic depth, this essay delves into how "The Cabinet of Dr. Caligari" crafted a distinctive cinematic language that continues to captivate audiences and influence filmmakers to this day.

Contextualizing German Expressionism

Before delving into the intricacies of "The Cabinet of Dr. Caligari," it is imperative to understand the cultural and historical milieu that birthed German Expressionist cinema. Emerging in the aftermath of World War I, Germany was grappling with a profound sense of disillusionment and societal upheaval. This tumultuous backdrop laid the groundwork for artistic movements that sought to express the inner turmoil and existential angst of the era. German Expressionism, both in visual arts and cinema, emerged as a response to this societal unrest, characterized by its rejection of naturalistic representation in favor of distorted, exaggerated forms that mirrored the frac-

tured psyche of post-war Germany.

Visual Techniques:

A cornerstone of German Expressionist filmmaking, the visual techniques employed in "The Cabinet of Dr. Caligari" exemplify the movement's commitment to pushing the boundaries of cinematic expression. At the forefront is the film's iconic set design, characterized by angular, distorted architecture that defies conventional spatial logic. Designed by Hermann Warm, Walter Reimann, and Walter Röhrig, the expressionistic sets of "The Cabinet of Dr. Caligari" serve as physical manifestations of the characters' inner turmoil and psychological disarray. The jagged, twisted buildings and streetscapes evoke a sense of unease and disorientation, immersing the audience in a nightmarish realm where reality blurs with hallucination. The film's use of chiaroscuro lighting further accentuates its surreal atmosphere. Deep shadows and stark contrasts between light and dark amplify the sense of psychological tension, heightening the audience's emotional engagement with the narrative. The interplay of light and shadow not only serves as a stylistic flourish but also underscores the thematic underpinnings of the film, exploring the duality of human nature and the blurred boundaries between sanity and madness. Beneath its visually arresting façade, "The Cabinet of Dr. Caligari" delves into profound thematic territory, offering a critique of authoritarianism, societal conformity, and the fragility of human identity. At its core is the character of Dr. Caligari himself, a sinister figure who represents the oppressive forces of authority and control. Through his manipulation of the sleepwalker Cesare, Caligari exerts dominance over the townspeople, perpetuating a cycle of fear and submission.

"The Cabinet of Dr. Caligari," "Nosferatu," and "Metropolis" stand as monumental pillars of German Expressionist cinema, collectively embodying the movement's distinctive blend of visual innovation and psychological depth. Robert Wiene's "The Cabinet of Dr. Caligari" immerses viewers in a surreal world of twisted sets and haunting imagery, where reality merges with madness to explore themes of authority and human identity. F.W. Murnau's "Nosferatu" transports audiences to a plague-ridden town, enveloping them in an atmosphere of eerie dread through its innovative use of light and shadow, while challenging them to confront primal fears embodied by the enigmatic Count Orlok. Fritz Lang's "Metropolis" transcends mere dystopian storytelling, offering a mesmerizing exploration of societal division and individual rebellion within a futuristic cityscape, symbolizing the dehumanizing effects of industrialization. Together, these films invite viewers on a journey into the depths of the human psyche, captivating them with their visionary techniques and timeless themes.

As towering achievements of cinematic artistry, "The Cabinet of Dr. Caligari," "Nosferatu," and "Metropolis" continue to resonate with audiences, inviting them to delve into the visual and psychological complexities of the human experience. Each film stands as a testament to the enduring power of German Expressionist cinema, inspiring generations of filmmakers and challenging viewers to confront the darkest corners of the human psyche. Through their innovative techniques and profound thematic resonance, these masterpieces invite audiences to explore the complexities of the modern world, encouraging reflection on the enduring relevance of their messages in today's society.

However, the film's narrative takes a twist with its revelatory ending, where the true nature of reality is called into question. The revelation that Francis, the protagonist, is a patient in an asylum subverts audience expectations and challenges the notion of objective truth. This narrative ambiguity reflects the existential uncertainty of the post-war era, where reality itself seemed to be in flux.

"The Cabinet of Dr. Caligari" stands as a seminal work not only within the realm of German Expressionist cinema but also in the broader landscape of film history. Its innovative visual techniques and thematic depth have left an indelible mark on subsequent generations of filmmakers, inspiring countless homages, adaptations, and reinterpretations. From the expressionistic horror of films like "Nosferatu" to the psychological complexities of works like "Inception," the influence of "The Cabinet of Dr. Caligari" reverberates throughout cinematic history. Moreover, the film's exploration of themes such as the nature of reality and the fragility of human sanity continues to resonate with contemporary audiences, offering a timeless commentary on the human condition. In an age marked by political upheaval and social discord, the allegorical power of "The Cabinet of Dr. Caligari" remains as potent as ever, reminding us of the enduring relevance of German Expressionist cinema.

"The Cabinet of Dr. Caligari" stands as a masterpiece of German Expressionist cinema, showcasing the movement's penchant for innovative visual techniques and thematic depth. Through its surreal set design, chiaroscuro lighting, and thought-provoking narrative, the film crafts a distinctive cinematic lan-

guage that continues to fascinate and inspire audiences nearly a century after its release. As a testament to the enduring power of artistic expression, "The Cabinet of Dr. Caligari" remains a timeless classic, inviting viewers to explore the depths of the human psyche and confront the complexities of the modern world.

German Expressionist cinema stands as a testament to artistic innovation and experimentation, and among its most iconic works is "Nosferatu" (1922), directed by F.W. Murnau. Through an exploration of its innovative visual techniques and thematic depth, this essay seeks to unravel how "Nosferatu" crafted a cinematic language that remains influential and captivating over a century after its release. To comprehend the significance of "Nosferatu," it is vital to contextualize it within the broader landscape of German Expressionist cinema. Emerging in the aftermath of World War I, German society was steeped in disillusionment and societal unrest. This tumultuous backdrop provided fertile ground for artistic movements seeking to express the inner turmoil of the era. German Expressionism rejected conventional realism, favoring distorted forms and exaggerated visuals to mirror the fractured psyche of post-war Germany.

At the core of "Nosferatu" lies its groundbreaking visual techniques, emblematic of German Expressionist filmmaking. The film's iconic imagery, from the eerie landscapes to the haunting portrayal of the vampire Count Orlok, exemplifies the movement's commitment to pushing the boundaries of cinematic expression. Murnau's use of light and shadow creates a sense of foreboding, immersing the audience in a world of darkness and dread. The film's stark contrasts and angular compositions evoke a sense of unease, heightening the atmosphere of terror and suspense. Moreover, "Nosferatu" employs innovative production design to evoke a sense of otherworldly horror. The expressionistic sets, with their twisted architecture and distorted perspectives, serve as physical manifestations of the characters' psychological turmoil. From the ominous castle of Count Orlok to the desolate streets of Wisborg, each setting contributes to the film's eerie ambiance, enveloping viewers in a realm of gothic horror and macabre beauty.

Beneath its chilling exterior, "Nosferatu" delves into profound thematic territory, exploring themes of fear, desire, and the human condition. At its core is the enigmatic figure of Count Orlok, a symbol of primal terror and forbidden desire. Through his nocturnal prowling and insatiable thirst for blood, Orlok embodies humanity's darkest impulses, confronting viewers with the primal fears that lurk within us all. Moreover, "Nosferatu" offers a poignant commentary on the clash between modernity and tradition, as represented by the character of Thomas Hutter and his wife Ellen. Hutter's journey to the remote castle of Count Orlok mirrors the encroachment of modernity upon the ancient traditions of the past. As Hutter grapples with the horrors he encounters, the film explores the fragility of civilization in the face of primal instinct and supernatural evil.

"Nosferatu" stands as a landmark achievement not only within the realm of German Expressionist cinema but also in the broader history of film. Its innovative visual techniques and thematic depth have left an indelible mark on subsequent generations of filmmakers, inspiring countless adaptations, homages, and reinterpretations. From the atmospheric horror of "Dracula" to the psychological depths of "Let the Right One In," the influence of "Nosferatu" reverberates throughout cinematic history. Furthermore, the film's enduring resonance with audiences speaks to its timeless appeal. As society grapples with its own fears and uncertainties, the allegorical power of "Nosferatu" continues to captivate viewers, offering a chilling reminder of the darkness that resides within us all. "Nosferatu" stands as a testament to the creative genius of German Expressionist cinema, showcasing its innovative visual techniques and thematic depth. Through its haunting imagery and profound exploration of fear and desire, the film crafts a distinctive cinematic language that continues to captivate and inspire audiences. As a timeless masterpiece of horror cinema, "Nosferatu" invites viewers to confront the primal terrors that lurk in the shadows, reminding us of the enduring power of artistic expression to illuminate the darkest corners of the human psyche.

"Metropolis" (1927), directed by Fritz Lang, stands as a towering achievement of German Expressionist cinema, renowned for its innovative visual techniques and thematic depth. This essay endeavors to dissect how Lang's masterpiece crafted a cinematic language that remains influential and mesmerizing nearly a century after its release. To grasp the significance of "Metropolis," it's essential to contextualize it within the tumultuous post-World War I era. Germany was grappling with social and economic upheaval, providing fertile ground for artistic movements like German Expressionism. Rejecting realism, Expressionist artists sought to convey the inner turmoil of the era through distorted forms and exaggerated visuals, a backdrop against which "Metropolis" emerged. At the heart of "Metropolis"

lies its ground-breaking visual techniques, which redefine the possibilities of cinematic expression. Lang's meticulous attention to detail is evident in every frame, from the towering skyscrapers of the futuristic city to the labyrinthine depths of its underground catacombs. The film's use of light and shadow creates a stark contrast between the gleaming surfaces of the upper city and the oppressive darkness below, symbolizing the stark divide between the privileged elite and the oppressed masses. "Metropolis" showcases Lang's mastery of scale and composition, with sweeping camera movements and elaborate set designs that transport viewers into a world of staggering grandeur and opulence. The film's iconic imagery, from the Moloch machine to the robot Maria, epitomizes the Expressionist aesthetic, blending futuristic visions with timeless archetypes to create a visually stunning and thematically rich cinematic experience. Beneath its dazzling exterior, "Metropolis" delves into profound thematic territory, exploring themes of class struggle, technological progress, and the human condition. At its core is the conflict between the ruling elite, represented by the city's mastermind, Joh Fredersen, and the oppressed workers who toil beneath the surface. Lang's critique of capitalism and industrialization is palpable, as he exposes the dehumanizing effects of unchecked power and exploitation. "Metropolis" offers a nuanced exploration of the nature of humanity itself, as seen through the character of the robot Maria. Created in the image of the virtuous Maria, the robot becomes a symbol of both humanity's potential for greatness and its capacity for destruction. Through the robot's manipulation by the villainous Rotwang, Lang probes the depths of human desire and the consequences of playing god with technology.

"Metropolis" stands as a landmark achievement not only within German Expressionist cinema but also in the broader history of film. Its innovative visual techniques and thematic depth have left an indelible mark on subsequent generations of filmmakers, inspiring countless homages, adaptations, and reinterpretations. From the dystopian landscapes of "Blade Runner" to the futuristic cityscapes of "The Matrix," the influence of "Metropolis" reverberates throughout cinematic history. Furthermore, the film's enduring relevance speaks to its timeless appeal. As society grapples with issues of inequality, technological progress, and the human cost of industrialization, "Metropolis" remains a powerful reminder of the dangers of unchecked power and the importance of compassion and empathy in shaping a better future. "Metropolis" stands as a testament to the creative genius of Fritz Lang and the enduring power of German Expressionist cinema. Through its innovative visual techniques and thematic depth, the film crafts a distinctive cinematic language that continues to captivate and inspire audiences. As a timeless masterpiece of science fiction and social commentary, "Metropolis" invites viewers to contemplate the complexities of the human condition and the moral dilemmas of progress, reminding us of the enduring relevance of artistic expression in illuminating the darkest corners of the human psyche.

Conclusion

German Expressionist film remains a vital and influential chapter in the history of cinema. Its exploration of visual and psychological depths continues to captivate audiences and inspire filmmakers to push the boundaries of storytelling and expression. By understanding the origins, characteristics, and impact of German Expressionism, we gain insight into the power of cinema as a medium for exploring the complexities of the human experience. This research article provides a comprehensive overview of German Expressionist cinema, analysing its origins, key characteristics, notable films, and enduring influence on the art of filmmaking. Through an exploration of its visual and thematic elements, we gain insight into the movement's significance and legacy in the history of cinema.

References

Eisner, L. (2008). The haunted screen: Expressionism in the German cinema and the influence of Max Reinhardt. University of California Press.

Elsaesser, T. (2000). Weimar cinema and after: Germany's historical imaginary. Routledge.

Kracauer, S. (2002). From Caligari to Hitler: A psychological history of the German film. Princeton University Press.

Naremore, J. (2000). Film noir and American society. In R. Maltby, G. Leggott, & S. Palmer (Eds.), The British film industry in the 1970s: Capital, culture, and creativity (pp. 247-261). Edinburgh University Press.

Ott, F. (2007). The Cabinet of Dr. Caligari. British Film Institute.

Elsaesser, T. (2019). Weimar cinema and after: Germany's historical imaginary. Routledge.

Parkinson, D. (1997). History of film. Thames & Hudson.

Prawer, S. S. (1996). Nosferatu: Phantom der Nacht. British Film Institute.

Rentschler, E. (1996). The ministry of illusion: Nazi cinema and its afterlife. Harvard University Press.

Rotha, P. (2010). The Film Till Now: A Survey of World Cinema. Dover Publications.

Sabine, H. (2012). Metropolis. British Film Institute.

***

THE EFFECTS OF FITNESS TRAINING ON THE KINEMATICAL VARIABLES OF OBESE PEOPLE DURING RUNNING

-Satish Kumar
Research Scholar,
MATS School of Physical Education,
MATS University, Raipur,
Chhattisgarh, India.

-Dr. Alok Kumar Singh,
Assistant Professor,
MATS School of Physical Education,
MATS University, Raipur,
Chhattisgarh, India.

Abstract

The purpose of the study was to examine the effects of fitness training on the kinematical variables of obese people during running. For the purpose of this study, (N=200) male and female obese from Chhattisgarh state were selected on purposive basis as subjects for this study. The age of the subjects was 35 to 45 years. Random Sampling design was used to select the subjects of this study. Selected subjects were underwent for six week fitness training (Endurance training, strength training, circuit training, plyometric training and speed training) by taking into the consideration of the subjects. In this study the investigator analysed the sagittal plane movement, selected variables were stride length during running, Hip Joint Angle during running, all these two variables were tested during running between pretest and posttest, through Kinovea software. The obtained data were subjected to statistical treatment using Descriptive (Mean ± SE) and inferential (ANOVA) statistics was employed to analyse the data obtained from the subjects. For this the research scholar used the Micro-Soft Excel and SPSS statistical tool to analyze the data. In all cases 0.05 level of significance was fixed to test the hypothesis of this study. Result indicates that the effect of treatment (comparison between pre and post data) on stride length of the both the groups significant (p<0.01) difference was seen, The stride length during running after training was found to be significantly longer than that of before training for pooled subjects, The hip Joint angle during running after training was found to be significantly greater than that of before training for pooled subjects.

Key words: Fitness training, Biomechanical analysis, sagittal plane, joint angle, Kinematical variables, 2D Analysis, Kinovea.

Introduction

Obesity is a medical condition in which excess body fat has accumulated to an extent that it may have a negative effect on health. People are generally considered obese when their body mass index (BMI), a measurement obtained by dividing a person's weight by the square of the person's height, is over 30 kg/m2; the range 25–30 kg/m2 is defined as overweight.

Obesity is most commonly caused by a combination of excessive food intake, lack of physical activity, and genetic susceptibility. A few cases are caused primarily by genes, endocrine disorders, medications, or mental disorder. The view that obese people eat little yet gain weight due to a slow metabolism is not medically supported. On average, obese people have a greater energy expenditure than their normal counterparts due to the energy required to maintain an increased body mass. Obesity, which is defined as the excessive accumulation of adipose tissue in the body, has become a significant public health concern in the 21st century. The World Health Organization (WHO) reports a significant increase in obesity rates, which have nearly quadrupled since 1975. This phenomenon has impacted individuals across many age groups and social strata. The ongoing global pandemic not only gives rise to a multitude of detrimental health consequences but also imposes a significant strain on healthcare systems across the globe (Haslam and James, 2005; Peeters et.al., 2003; Whitelock et.al., 2009).

Several open-source platforms for markerless motion capture offer the capacity to monitor 2-dimensional (2D) kinematics using inexpensive digital video cameras, derived from an Open-Source Markerless Motion Capture Platform and Manual Digitization. We wanted to see how well one of these platforms, DeepLabCut, performed. The researchers looked at 84 runners who had sagittal plane recordings of their left lower leg taken. A deep neural network was trained for 2D pose estimation of the foot and tibia segments using data from 50 people. For continuous 2D coordinate data, the trained model was employed to analyse novel films from 34 people. The train/test errors were used to assess the overall network accuracy. Manual digitization and markerless methods were used to compute foot and tibia angles for 7 strides. Mean absolute differences and intraclass correlation coefficients were used to determine agreement. To examine systematic bias, Bland–Altman plots and paired t tests were performed. The trained network's train/test errors were 2.87/7.79 pixels (0.5/1.2 cm), respectively. The markerless method

was found to overestimate foot angles and underestimate tibial angles (P<.01, d = 0.06–0.26) when compared to manual digitization. However, the segment computation methods had excellent agreement, with mean differences of ≤1° and intraclass correlation values of ≥.90. Overall, these findings show that markerless, open-source approaches are a viable new tool for assessing human mobility. **Caleb D. Johnson et al. (2022)**

The impact of a commercially available variable stiffness shoe (VSS) on 3-dimensional ankle, knee, and hip mechanics as well as predicted knee contact forces when compared to a control shoe. After providing informed consent, fourteen subjects (10 females) with knee osteoarthritis underwent gait analysis. Control shoe (New Balance MW411v2) and VSS were the shoe conditions tested (Abeo SMART3400). To calculate knee contact forces, an OpenSim musculoskeletal model with static optimization was employed. No variations in joint kinematics or knee adduction or flexion moments were found (P =.06; P =.2). For VSS versus control, there were increases in knee internal and external rotation (P =.02; P =.03), as well as hip adduction and internal rotation moments (P =.03; P =.02). Although the calculated contact forces did not differ across shoes (total P =.3, medial P =.1, and lateral P =.8), contact force changes were linked with changes in the knee adduction moment (medial r2 =.61; P<.007). Estimated contact forces did not decrease due to high variability in knee flexion moment changes and increases in the internal rotation moment mixed with minor decreases in the knee adduction moment. These findings show that assessing VSS only based on the knee adduction moment may be insufficient in capturing its impact on osteoarthritis. **Ethan Steiner et al. (2022)**

Methodology

The purpose of this study is to find out the effects of fitness training on the kinematical variables of obese people during running. The research scholar reviewed the available scientific literature pertaining to biomechanics, kinetics and kinematics of obese consulted with experts and faculty members regarding the selection of variables for the present study

To achieve the purpose of these study (N=200) male and female obese people from Chhattisgarh state were selected on purposive basis as subjects for this study. The age of the subjects was 35 to 45 years. Selected subjects were underwent for six-week fitness training (Endurance training, strength training, circuit training, plyometric training and speed training) by taking into the consideration of the subjects, Static group design was adopted by the research scholar. In this study KINOVEA software (Version 0.9.5) were used to measure all the kinematical variables such as stride length of the obese during running, angle of stride length from hip joint of the obese during running, all these two variables were tested during running between pretest and posttest.

Analytical Procedure

The data were analyzed by using Descriptive (Mean ± SE) and inferential (ANOVA) statistics was employed to analyse the data obtained from the subjects. For this the research scholar used the Micro-Soft Excel and SPSS statistical tool to analyze the data.To test the hypothesis the level of significance was set at 0.05 level of significance, which was considered adequate for the purpose of this study.

Results

Table 1: Showing the comparison of Stride Length during Running between pre and post test

Gender	Pre Test		Post Test		ANOVA	
	Mean ± SE	SD	Mean ± SE	SD	F-value	P-value
Male	61.40 ± 0.46	4.67	77.74 ± 0.34	3.4	797.383	p<0.01
Female	49.60 ± 0.28	2.89	59.60 ± 0.50	5.07	292.899	p<0.01

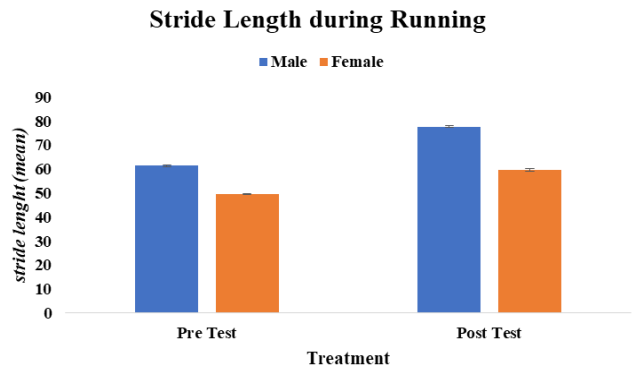

Figure 1: Showing the comparison of Stride Length during Running before and after training of obese male and female subjects

The table 1 and figure 1 demonstrated the comparison of stride length during running before training and after training for obese male and female subjects. The mean value for stride length before training was found to be (61.40 ± 0.46) and after training was found to be (77.74 ± 0.34) for male subjects. The standard deviation was found 4.67 and 3.4 for before training and after training respectively. The inferential analysis (ANOVA) revealed statistically (p <0.01) significant difference amongst the studied groups i.e. before training and after training for male subjects (table 1 and figure 1). The stride length during running after training was found to be significantly longer than that of before training for male subjects (table 1 and figure 1). Similarly, for female subjects The mean value for stride length before training was found to be (49.60 ± 0.28) and after training was found to be (59.60 ± 0.50) for female subjects. The standard deviation was found 2.89 and 5.07 for before training and after training respectively. The inferential analysis (ANOVA) revealed statistically (p <0.01) significant difference amongst the studied groups i.e. before training and after training for female subjects (table 1 and figure 1). The stride length during running after training was found to be significantly longer than that of before training for female subjects (table 1 and figure 1).

Table 2: Showing the comparison of Hip Joint Angle during Running between pre and post test

Gender	Pre Test		Post Test		ANOVA	
	Mean ± SE	SD	Mean ± SE	SD	F-value	P-value
Male	37.96 ± 0.23	2.31	39.33 ± 0.33	3.32	11.38	p<0.01
Female	37.03 ± 0.20	2.02	39.30 ± 0.30	3.03	38.613	p<0.01

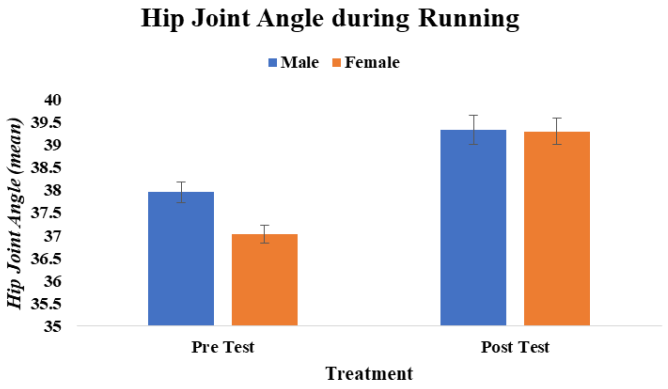

Figure 2: Showing the comparison of Hip Joint Angle during Running before and after training of obese male and female subjects.

The table 2 and figure 2 demonstrated the comparison of Hip Joint Angle during Running before training and after training for obese male and female subjects. The mean value for Hip Joint Angle before training was found to be (37.96 ± 0.23) and after training was found to be (39.33 ± 0.33) for male subjects. The standard deviation was found 2.31 and 3.32 for before training and after training respectively. The inferential analysis (ANOVA) revealed statistically (p<0.01) significant difference amongst the studied groups i.e. before training and after training for male subjects (table 2 and figure 2). The Hip Joint Angle during Running after training was found to be significantly greater than that of before training for male subjects (table 2 and figure 2). Similarly, for female subjects The mean value for Hip Joint Angle before training was found to be (37.03 ± 0.20) and after training was found to be (39.30 ± 0.30) for female subjects. The standard deviation was found 2.02

and 3.03 for before training and after training respectively. The inferential analysis (ANOVA) revealed statistically (p<0.01) significant difference amongst the studied groups i.e. before training and after training for female subjects (table 2 and figure 2). The Hip Joint Angle during Running after training was found to be significantly longer than that of before training for female subjects (table 2 and figure 2).

Discussion

The study's results demonstrate statistically significant The inferential analysis (ANOVA) revealed statistically (p <0.01) significant difference before training and after training. The stride length during running after training was found to be significantly longer than that of before training for pooled subjects. Similar result was seen in male group. Statistically (p <0.01) significant difference between pre training and post training was found in male subjects. The stride length during running after training was found to be significantly longer than that of before training for male subjects. For female subjects the inferential analysis (ANOVA) revealed statistically (p <0.01) significant difference in between before training and after training for female subjects. The stride length during running after training was found to be significantly longer than that of before training for female subjects.

The inferential analysis (ANOVA) revealed statistically (p <0.01) significant difference before training and after training. The hip joint angle during running after training was found to be significantly longer than that of before training for pooled subjects. Similar result was seen in male group. Statistically (p <0.01) significant difference between pre training and post training was found in male subjects. The hip joint angle during running after training was found to be significantly longer than that of before training for male subjects. For female subjects the inferential analysis (ANOVA) revealed statistically (p <0.01) significant difference in between before training and after training for female subjects. The hip joint angle during running after training was found to be significantly longer than that of before training for female subjects. Following are the some of the studies in which a significant results was found with related to the running style.

The effects of wobbling mass components on Joint Dynamics was the subject of a study. During movement, soft tissue moves in relation to the underlying bone. Soft tissue motion has been proven to affect parts of running dynamics; however, little is known about the impact of soft tissue motion on joint kinetics. Soft tissue motion was modelled utilising wobbling components in an inverse dynamics analysis for a single individual in the current study to explore the impacts of the soft tissue on joint kinetics at the knee and hip. The additional wobbling components had a minor impact on knee joint kinetics but a significant impact on hip joint dynamics. When the model without wobbling components was compared to the model with wobbling components, the hip joint power and net negative and net positive mechanical effort at the hip were considerably overestimated. For low-frequency wobbling situations, the amplitude of peak hip joint moments was 50 percent greater when computed using the wobbling masses compared to a rigid body model, but the peaks were within 15% for high-frequency wobbling conditions. Soft tissue motion should not be overlooked in inverse dynamics assessments of running, according to this study. **Samuel E. Masters et al. (2022)**

The Use of the Hip and Knee Extensors During Athletic Movements Using 2D Video. There is a need for a practical approach to define movement behaviour indicative of how individuals use the hip and knee extensors during dynamic tasks, given that higher usage of the knee extensors relative to the hip extensors may contribute to various knee ailments. The goal of this research was to see if the difference in sagittal plane trunk and tibia orientations from 2D video (2D trunk–tibia) could be utilised to predict the average hip/knee extensor moment ratio during athletic motions. Six tasks were completed by 39 healthy athletes (15 males and 24 females) (step down, drop jump, lateral shuffle, deceleration, triple hop, and side-step-cut). Simultaneously, lower-extremity kinetics (3D) and sagittal plane video (2D) were captured. To see if the 2D trunk–tibia angle at peak knee flexion predicted the average hip/knee extensor moment ratio during the deceleration phase of each task, researchers used linear regression analysis. When body mass was controlled for, an increase in the 2D trunk–tibia angle predicted an increase in the average hip/knee extensor moment ratio (all P<.013, R2 =.17–.77). The 2D trunk–tibia angle is a realistic way to assess movement behaviour that reflects how people use their hip and knee extensors during dynamic tasks. **Rachel K. Straub et al. (2021)**

The 2D Kinematical analysis of upper extremity of obese during walking with implementation of fitness training, In this study the researcher found that Result indicates that the effect of treatment (comparison

Figure 2: Showing the comparison of Hip Joint Angle during Running before and after training of obese male and female subjects.

The table 2 and figure 2 demonstrated the comparison of Hip Joint Angle during Running before training and after training for obese male and female subjects. The mean value for Hip Joint Angle before training was found to be (37.96 ± 0.23) and after training was found to be (39.33 ± 0.33) for male subjects. The standard deviation was found 2.31 and 3.32 for before training and after training respectively. The inferential analysis (ANOVA) revealed statistically (p<0.01) significant difference amongst the studied groups i.e. before training and after training for male subjects (table 2 and figure 2). The Hip Joint Angle during Running after training was found to be significantly greater than that of before training for male subjects (table 2 and figure 2). Similarly, for female subjects The mean value for Hip Joint Angle before training was found to be (37.03 ± 0.20) and after training was found to be (39.30 ± 0.30) for female subjects. The standard deviation was found 2.02 and 3.03 for before training and after training respectively. The inferential analysis (ANOVA) revealed statistically (p<0.01) significant difference amongst the studied groups i.e. before training and after training for female subjects (table 2 and figure 2). The Hip Joint Angle during Running after training was found to be significantly longer than that of before training for female subjects (table 2 and figure 2).

Discussion

The study's results demonstrate statistically significant The inferential analysis (ANOVA) revealed statistically (p <0.01) significant difference before training and after training. The stride length during running after training was found to be significantly longer than that of before training for pooled subjects. Similar result was seen in male group. Statistically (p <0.01) significant difference between pre training and post training was found in male subjects. The stride length during running after training was found to be significantly longer than that of before training for male subjects. For female subjects the inferential analysis (ANOVA) revealed statistically (p <0.01) significant difference in between before training and after training for female subjects. The stride length during running after training was found to be significantly longer than that of before training for female subjects.

The inferential analysis (ANOVA) revealed statistically (p <0.01) significant difference before training and after training. The hip joint angle during running after training was found to be significantly longer than that of before training for pooled subjects. Similar result was seen in male group. Statistically (p <0.01) significant difference between pre training and post training was found in male subjects. The hip joint angle during running after training was found to be significantly longer than that of before training for male subjects. For female subjects the inferential analysis (ANOVA) revealed statistically (p <0.01) significant difference in between before training and after training for female subjects. The hip joint angle during running after training was found to be significantly longer than that of before training for female subjects. Following are the some of the studies in which a significant results was found with related to the running style.

The effects of wobbling mass components on Joint Dynamics was the subject of a study. During movement, soft tissue moves in relation to the underlying bone. Soft tissue motion has been proven to affect parts of running dynamics; however, little is known about the impact of soft tissue motion on joint kinetics. Soft tissue motion was modelled utilising wobbling components in an inverse dynamics analysis for a single individual in the current study to explore the impacts of the soft tissue on joint kinetics at the knee and hip. The additional wobbling components had a minor impact on knee joint kinetics but a significant impact on hip joint dynamics. When the model without wobbling components was compared to the model with wobbling components, the hip joint power and net negative and net positive mechanical effort at the hip were considerably overestimated. For low-frequency wobbling situations, the amplitude of peak hip joint moments was 50 percent greater when computed using the wobbling masses compared to a rigid body model, but the peaks were within 15% for high-frequency wobbling conditions. Soft tissue motion should not be overlooked in inverse dynamics assessments of running, according to this study. **Samuel E. Masters et al. (2022)**

The Use of the Hip and Knee Extensors During Athletic Movements Using 2D Video. There is a need for a practical approach to define movement behaviour indicative of how individuals use the hip and knee extensors during dynamic tasks, given that higher usage of the knee extensors relative to the hip extensors may contribute to various knee ailments. The goal of this research was to see if the difference in sagittal plane trunk and tibia orientations from 2D video (2D trunk–tibia) could be utilised to predict the average hip/knee extensor moment ratio during athletic motions. Six tasks were completed by 39 healthy athletes (15 males and 24 females) (step down, drop jump, lateral shuffle, deceleration, triple

hop, and side-step-cut). Simultaneously, lower-extremity kinetics (3D) and sagittal plane video (2D) were captured. To see if the 2D trunk–tibia angle at peak knee flexion predicted the average hip/knee extensor moment ratio during the deceleration phase of each task, researchers used linear regression analysis. When body mass was controlled for, an increase in the 2D trunk–tibia angle predicted an increase in the average hip/knee extensor moment ratio (all P<.013, R2 =.17–.77). The 2D trunk–tibia angle is a realistic way to assess movement behaviour that reflects how people use their hip and knee extensors during dynamic tasks. **Rachel K. Straub et al. (2021)**

The 2D Kinematical analysis of upper extremity of obese during walking with implementation of fitness training, In this study the researcher found that Result indicates that the effect of treatment (comparison between pre and post data) left hand backward swing shoulder joint angle of the both the groups significant (p0.05) difference was seen, The Right Hand Forward Swing Shoulder Joint Angle during walking after training was found to be significantly greater than that of before training for pooled subjects. **S Kumar et al. (2023)**

Biomechanical analysis of walking style of obese with implementation of fitness training. In this study the researcher found that Result indicates that the effect of treatment (comparison between pre and post data) on stride length of the both the groups significant (p0.05) difference was seen, The stride length during walking after training was found to be significantly longer than that of before training for pooled subjects, The hip Joint angle during walking after training was found to be significantly greater than that of before training for pooled subjects, shoulder height during walking of the both the groups significant (p0.05) difference was seen. **S Kumar et al. (2023)**

In summary, this study provides insights into the possible efficacy of Fitness training as an intervention approach to improve the kinematical variables of running style of obese men and women. The findings of this study have significant difference in running style of obese in terms of stride length, angle of the stride length. However, it is necessary to conduct additional research with bigger sample sizes and longer intervention durations in order to validate and build upon these encouraging findings.

Reference:

Caleb D. Johnson., Jereme Outerleys., and Irene S. Davis. (2022) Agreement Between Sagittal Foot and Tibia Angles During Running Derived from an Open-Source Markerless Motion Capture Platform and Manual Digitization. Journal of Applied Biomechanics, 38(2), pp. 111–116.

Ethan Steiner., and Katherine A. Boyer. (2022) Variable Stiffness Shoes for Knee Osteoarthritis: An Evaluation of 3-Dimensional Gait Mechanics and Medial Joint Contact Forces. Journal of Applied Biomechanics, 38(2), pp. 117–125

Samuel E. Masters., and John H. Challis. (2022) The Effects of Wobbling Mass Components on Joint Dynamics During Running. Journal of Applied Biomechanics, 38(2), pp. 69-77.

Satish Kumar and Dr. Alok Kumar Singh. (2023) 2D Kinematical analysis of upper extremity of obese during walking with implementation of fitness training. Journal of Clinical Otorhinolaryngology, Head, and Neck Surgery, 27(2), pp. 2287-2293.

Satish Kumar and Dr. Alok Kumar Singh. (2023) Biomechanical analysis of walking style of obese with implementation of fitness training. Journal of Clinical Otorhinolaryngology, Head, and Neck Surgery, 27(2), pp. 2279-2286.

Rachel K. Straub., Alex Horgan., and Christopher M. Powers. (2021) Clinical Estimation of the Use of the Hip and Knee Extensors During Athletic Movements Using 2D Video. Journal of Applied Biomechanics, 37 (5) pp. 458–462.

Ahalee C. Farrow., and Ty B. Palmer. (2021) Age-Related Differences in Hip Flexion Maximal and Rapid Strength and Rectus Femoris Muscle Size and Composition. Journal of Applied Biomechanics, 37 (4) pp. 311–319.

Kevin Alan Valenzuela., Songning Zhang., Lauren Elizabeth Schroeder., Joshua Trueblood Weinhandl., Jeffrey Reinbolt., Rebecca Zakrajsek., and Harold Earl Cates. (2021) Overground Walking Biomechanics of Dissatisfied Persons With Total Knee Replacements. Journal of Applied Biomechanics, 37 (4) pp. 365–372.

Peeters A, Barendregt JJ, Willekens F, Mackenbach JP, Al Mamun A, Bonneux L (January 2003). "Obesity in adulthood and its consequences for life expectancy: a life-table analysis" (PDF). Annals of Internal Medicine. 138 (1): 24–32.

Whitlock G, Lewington S, Sherliker P, Clarke R, Emberson J, Halsey J, Qizilbash N, Collins R, Peto R (2009). "Body-mass index and cause-specific mortality in 900 000 adults: collaborative analyses of 57 prospective studies". Lancet. 373 (9669): 1083–96.

The return to fitness for athletes during COVID-19 pandemic

-Dr.ALOK KUMAR SINGH
Assistant Professor,
Deptt. of Physical Education,
MATS University Raipur

-SEVEN DAS MANIKPURI
Scholar, Deptt. of Physical Education
MATS University, Raipur

Abstract: The sports community suffered significant obstacles due to COVID-19. The athletes who were COVID-19 positive displayed a significant amount of varying clinical features developing mild to severe symptoms which could lead to intensive care and hospitalization. The immune system is negatively affected by lack of exercising thus increasing the chances of body getting affected by comorbidities and infections. Sports medical professionals found that it is extremely difficult to make a safe return in physical activities. If the athlete really wants to get their former fitness before COVID back for sports it's crucial that they are under the supervision of a trained sports medical professional. Low intensity should be the start of an individual training program would be increased slowly in accordance to the metabolic equivalent. Thus, it's clear that one should take opinions of medical professionals' prior of returning to training post infection.

Keywords: COVID-19; Coronavirus; Exercise; Athletes; Return to Sports.

1. INTRODUCTION:

On December of 2019, the WHO (World Health Organization) noticed that the city of Wuhan in china had a rise in pneumonia cases. The Chinese government in the first week January of 2020 officially acknowledged the existence of a new virus which we know as COVID-19. Approximately around March 10, 2020 the WHO announced that COVID-19 outbreak is considered a global pandemic.[1]Within a few months, the COVID-19 virus become a global wide issue that has more than 153,517 cases recorded and nearly 10,000 global mortality rate.[2]As the war against the virus raged on, the world of sports faced the greatest health warfare that was waged in recent times. In spite of the athletes who satisfied the following conditions:

(i) Eager to train,

(ii) Participation in sporting events, and

(iii) Being a member in a sporting association,

Being not highly susceptible to COVID-19, they still have a chance of getting infected by COVID-19 ,3,4As hypnotized, a majority sportsmen was infected with the COVID-19 virus or were close to someone who turned out to be positive with COVID-19.[5,6] Athletes have to follow the suggested strategies of infection prevention for general public, that includes self-isolation throughout symptomatic periods, for limiting the spread of corona virus and keeping yourself safe along with your family and neighbourhood.[6]

The public health advices were significantly important, as an example the world wide lockdown of health clubs, gyms and stadiums along with the rule of being quarantined or athletes self-isolating themselves for 2 weeks after discovering that they were positive from the tests. [6,7] The intention of the suggestions was limiting the spread of the virus along

with ensuring the safety of individuals and their communities. Even though as a result various daily life activities being interrupted including physical activity in general along with sports. These sudden changes to the style of living caused by self isolation and inactivity led to the increased danger of negative, acute and potentially long term health issues for the sportsmen. .[7,8] There was the issue of grave implications for athlete's Immunity system along with their mental and physical health which was a result of lacking in fitness routines and participation in sporting activities, this also led to provocation of pre-existing pathologies or them developing newer pathologies.[7]

2. THE PROBLEM

A way to explain physical inactivity is having an increased susceptibility to infections due to disrupting your exercise regimen and insufficient daily activity; it does not matter if you are an athlete or not because dysfunction and harm to the components of your immunity system and increase in your susceptibility will over time cause you to develop additional comorbidities.[7] additionally. The physical activities being limited can still negatively affect the physical performance of an athlete due to loosing the skeletal muscle mass along with decline in the strength of associated muscle.[9,10]We have already described how metabolic pathways were negatively affected by physical inactivity. [7,9]as an example, for two weeks low walking activity (reducing 10,000 steps per day to 1,000) may cause or assist in causing metabolic changes, including decreasing the peripheral sensitivity for insulin, lipid profile being altered, and higher fat deposition.[8,11] they documented the reduced physical activity of athlete infected with COVID-19 during the self-isolation. The reaction and recovery of every athlete was different and some might have difficulty trying to return to the documented activities[7]. Thus it's very important that COVID-19 positive athletes are safely instructed back to training.

3. GENERAL RECOMMENDATIONS FOR ATHLETES WITH COVID-19

Consequently, a global panel of classified professional athletes where diagnosed COVID-19 positive were separated into five distinct groups which are as follows:

(i) Asymptomatic;

(ii) People who showed mild symptoms;

(iii) People who showed moderate symptoms;

(iv) People who showed severe symptoms without mechanical ventilation; and

(v) Individuals with extreme symptoms who require mechanical ventilation and/or suffer with myocardial injury.[5,6,8]

Furthermore They provided suggestions explicit to groups for returning safely to exercising.[5,6,8] whilst most COVID-19 positive athletes remained asymptomatic or if they showed mild symptoms, they are recommended a full medical evaluation before resuming exercising. In particular, for patients who are asymptomatic and have been confirmed to be positive of COVID were provided two weeks of self-isolation post workout combined with rest, leading to a steady comeback to physical activity while acting according to the medical team directions.

Sportsmen who displayed mild signs but doesn't re-

quire hospitalization were recommended another two weeks of social distancing, followed by tests on their condition by sampling their blood (brain natriuretic peptide, troponin and C-reactive protein) and a 12-lead Echocardiography and if its medically suggested a electrocardiogram. A steady comeback to physical activities according to the medical team directions was also suggested for this group.

A more complex test protocol recommends that athletes who display moderate to severe indications need to be hospitalized. A multidisciplinary evaluation that is comprehensive is recommended to athletes who were hospitalized with respiratory issues and myocardial damage prior to resume their exercise.

Ideally, a team which consists of a sports medicine physician, a sports cardiologist, a pulmonologist, and a professional athletic coach have to carry out the individual assessment.[5,6] Barker-Davies *et al*. recommended an extended duration of three-six months abstinence of exercise in athletes who were confirmed to have myocarditis along with the adjustment of rest period should be based on the clinical severity and duration of the underlying illness.[13]Verwoert*et al*. Suggested a wide-ranging plan for rehabilitation of athletes, including a comprehensive cardiovascular evaluation before returning to fitness and sport, additionally cardiac complications will also be intensively monitored.[6]carefully observing patients under hospitalization due to COVID-19-related respiratory symptoms is generally warranted. Moreover it's recommended that people suffering from critical levels of respiratory problems are seen by a pulmonologist in spite of it steadily making a return to exercising while they are recovering.[8]

4. EXERCISE AND VIRAL INFECTIONS

A majority of viral infections results in the inflammatory cells being employed and activated for example macrophages and neutrophils, which release an array of molecules (cytokines, metalloproteinase, and oxygen burst apparatus) which were in relation to tissue damage and dysfunction[11]. The protective immunity and inflammatory response having a great balance leads to both infection resolution and virus elimination.

Exercising acts as the modulator of immune system, both decreasing the danger of developing an systemic inflammatory processes and increasing the cell-mediated immunity.[15] it was suggested by many researchers that there is a direct relation between exercise and reduction of death toll resulted by pneumonia and influenza along with bettering the effects on cardio respiratory function and metabolic profile, including faster blood pressure, blood glucose, cholesterol, triglycerides in addition to the waist circumference[7,9–11,16]. Among the various other advantages of physical activity mainly at low to moderate intensity, involves a reduced recovery rate from viral infection.[16]

On top of its useful impact on the metabolic and cardiovascular function overall, exercising has also showcased decrease in various problems related to mention health mainly decreasing anxiety and depression due to it better self-esteem and cognition.[16]its also showcased by previous research that exercise can lower symptoms such as lower self-esteem in addition to reduction of harmful effects from self-isolation in quarantine.[15,16]

Endogenous opioids for example a significant role is

played by endorphins when it comes to hormonal and metabolical changes with exercising meanwhile being associated to euphoria, which showcased important growth after running/exercising.[7] better overall health in COVID-19 victims (physiological and psychological) could assist them in completing the daily activities required which enabling them to return back to working.[16]

After the pandemic is over and athletes of all skill levels return to training, special attention should be given to the intensity and volume of the training. The act of getting back to the training can prove to be difficult for people who are recovering from the COVID-19 virus. Regarding this, clinical diagnosed symptoms should be the basis for coming back to exercise and patients showcasing symptoms should be encouraged to follow a training program of low-intensity while being self-isolated for the duration 72 hours after recovering from the symptoms.

This regime can be customized to the equipment available such as an treadmill and/or ergo meter, and might also include resistance exercises.[8,13]They must also keep away from High-intensity training because of it being associated with a greater threat of getting infected in upper respiratory tract and further issues, including unexpected cardiac arrest.[7,10,11]Past research has also showcased that exercises of low- to moderate-intensity makes the immunity system stronger, meanwhile high-intensity training makes the immunity system weaker in addition to growing vulnerable to getting sick.[7,10]

It should also be taken into consideration that a combination of high- and low-intensity training is a important factor in allowing the advance sportsmen to improve their aerobic ability and achieving a higher score in performance during training.[19]its also significant for sportsmen to conclude the perfect timing before you could start exercising again with/or high-intensity exercise after getting infected. Returning to the intense training while the athlete is still suffering from a systemic infection that is commonly associated persistent high fever and coughing in addition to breath shortness is significantly linked to a grave danger of critical complications such as myocarditis.[20]

Sportsmen diagnosed with COVID-19 should choose for gradual return to the physical activity once symptoms were resolve so they can gain their former fitness levels before the pandemic.[7,8] even though information on coming back to physical activity post COVID-19 is restricted, individuals should at least perform a week of low-intensity exercise prior to doing more intense and/or more straining training. Due to long-lasting periods physical inactivity (atleast a two weeks of rest with exercising), athlete performing a recuperation from the symptoms may be at greater risk of getting injured.[8]To avoid these injuries, Three metabolic equivalents (METs) were suggested by Barker-Davies et al. For the duration of two-three weeks.[13] for Physical activity there are 3 classification which are as follows low-intensity (<3 METs), moderate-intensity (3–6 METs) and high-intensity (>6 METs).[17,18] exercising on a treadmill (walking speed 3.2 km/h) with the ergometer (and lt;50W) in addition to/or instead do resistance training using light weights corresponding to the three METs and thus are the potential options for starting a exercising program [18]. Low intensity training program should be the starting point which can be steadily increased.[17, 18]

Additionally, a healthy COVID-19 positive athlete after seven days of being symptom-free could continue their training at half the intensity and volume of a standard training.[8]It's significant to consider the current suggestions for various athletes reporting COVID-19 related symptoms after recovering from the disease, in particular through the high-intensity training.[7,16]They might involve runners who suffer from persisting fatigue and swimmers who also show persistent symptoms If symptoms such as shortness of breath, cough, extreme tiredness, fever and tachycardia arise[8].the training must be discontinued along with talking to a sports medical professional, as these symptoms can be associated with a recurrence or reactivation of the COVID-19 virus. It is also significant to consider that starting the training at a normal intensity and volume before making full recovery can increase the risk of getting a severe injury along with otherwise / illness.[7] The risk persists during moments of high intensity. Primarily this is a problem issue for sporting athletes and non-professional.[11]Most can make a complete recovery with a individualized, progressive training program.[6,7]

5. CONCLUSION

COVID-19 is a global pandemic that affected everyone to varying degrees and ranges from mild symptoms which last only a few days due to myocardial damage, fatality and respiratory failure; Even athletes were not safe from the danger of getting COVID-19. Unprecedented challenges were faced by healthcare workers in relation to the COVID-19 virus and its complications. Thus, it's very significant to follow and consider the rapid changing scientific scene of who are coming back to sport in one piece after being COVID-19 positive. It's understandable why developing these basic recommendations is important the securing the return of sportsmen to training.

References

Cucinotta D, Vanelli M. WHO declares COVID-19 a pandemic. Acta Biomed 2020; 91:157–60. https://doi.org/10.23750/abm.v91i1.9397.

Araújo CG, Scharhag J. Athlete: A working definition for medical and health sciences research. Scand J Med Sci Sports 2016; 26:4–7. https://doi.org/10.1111/sms.12632.

Löllgen H, Bachl N, Papadopouloou T, Shafik A, Holloway G, Vonbank K, et al. Infographic. Clinical recommendations for return to play during the COVID-19 pandemic. Br J Sports Med 2020; 55:344–5. https://doi.org/10.1136/bjsports-2020-102985.

Verwoert GC, de Vries ST, Bijsterveld N, Willems AR, vdBorgh R, Jongman JK, et al. Return to sports after COVID-19: A position paper from the Dutch Sports Cardiology Section of the Netherlands Society of Cardiology. Neth Heart J 2020; 28:391–5. https://doi.org/10.1007/s12471-020-01469-z.

Metzl JD, McElheny K, Robinson JN, Scott DA, Sutton KM, Toresdahl BG. Considerations for return to exercise following mild-to-moderate

COVID-19 in the recreational athlete. HSS J 2020; 16:1–6. https://doi.org/10.1007/s11420-020-09777-1.

Booth FW, Roberts CK, Laye MJ. Lack of exercise is a major cause of chronic diseases. ComprPhysiol 2012; 2:1143–211. https://doi.org/10.1002/cphy.c110025.

Gentil P, de Lira CAB, Souza D, Jimenez A, Mayo X, de Fátima PinhoLinsGryschek AL, et al. Resistance training safety during and after the SARS-Cov-2 outbreak: Practical recommendations. Biomed Res Int 2020; 2020:3292916. https://doi.org/10.1155/2020/3292916.

Krogh-Madsen R, Thyfault JP, Broholm C, Hartvig Mortensen O, Olsen RH, Mounier R, et al. A 2-wk reduction of ambulatory activity attenuates peripheral insulin sensitivity. J ApplPhysiol (1985) 2010; 108:1034–40. https://doi.org/10.1152/japplphysiol.00977.2009.

Phelan D, Kim JH, Chung EH. A game plan for the resumption of sport and exercise after Coronavirus Disease 2019 (COVID-19) infection. JAMA Cardiol 2020; 5:1085–6. https://doi.org/10.1001/jamacardio.2020.2136.

Barker-Davies RM, O'Sullivan O, Senaratne KPP, Baker P, Cranley M, Dharm-Datta S, et al. The Stanford Hall consensus statement for post-COVID-19 rehabilitation. Br J Sports Med 2020; 54:949–59. https://doi.org/10.1136/bjsports-2020-102596.

Rouse BT, Sehrawat S. Immunity and immunopathology to viruses: What decides the outcome? Nat Rev Immunol 2010; 10:514–26. https://doi.org/10.1038/nri2802.

Lega S, Naviglio S, Volpi S, Tommasini A. Recent insight into SARS-CoV2 immunopathology and rationale for potential treatment and preventive strategies in COVID-19. Vaccines (Basel) 2020; 8:224. https://doi.org/10.3390/vaccines8020224.

Toresdahl BG, Asif IM. Coronavirus Disease 2019 (COVID-19): Considerations for the competitive athlete. Sports Health 2020; 12:221–4. https://doi.org/10.1177/1941738120918876.

Baggish AL, Levine BD. Icarus and sports after COVID 19: Too close to the sun? Circulation 2020; 142:615–17. https://doi. org/10.1161/CIRCULATIONAHA.120.048335.

Hull JH, Loosemore M, Schwellnus M. Respiratory health in athletes: Facing the COVID-19 challenge. Lancet Respir Med 2020; 8:557–8. https://doi.org/10.1016/S2213-2600(20)30175-2.

Wilson MG, Hull JH, Rogers J, Pollock N, Dodd M, Haines J, et al. Cardiorespiratory considerations for return-to-play in elite athletes after COVID-19 infection: A practical guide for sport and exercise medicine physicians. Br J Sports Med 2020; 54:1157–61. https://doi.org/10.1136/bjsports-2020-102710.

González K, Fuentes J, Márquez JL. Physical inactivity, sedentary behavior and chronic diseases. Korean J Fam Med 2017; 38:111–15. https://doi.org/10.4082/kjfm.2017.38.3.111.

Pate RR, Pratt M, Blair SN, Haskell WL, Macera CA, Bouchard C, et al. Physical activity and public health. A recommendation from the Centers for Disease Control and Prevention and the American College of Sports Medicine. JAMA 1995; 273:402–7. https://doi.org/10.1001/jama.273.5.402.

****

Effect of Yoga and Strength Training Intervention on body composition and physiological variable of sedentary population

-Vidya Kumari
Research Scholar,
MATS School of Physical Education,
MATS University, Raipur, Chhattisgarh,
India

-Dr. Alok Kumar Singh
AssistantProfessor, MATS
School of Physical Education,
MATS University,Raipur,
Chhattisgarh, India.

Abstract

Present study aimed to see the effects of a Yoga and Strength training on various body composition and physiological parameters namely body weight (W), body fat (F), body impedance (I), body mass index (BMI), basal metabolic rate (BMR), lean body mass (LBM), heart rate (HR), systolic blood pressure (SBP), diastolic blood pressure (DBP), double product (DP), and pulse pressure (PP) of obese sedentary population. Total 400 subjects were chosen after their informed consent from Raipur. Out of 400 subject all were categorized as 100 were yoga experimental group, 100 were yoga control group, 100 were strength training experimental group, and 100 were strength training control. Descriptive and comparative analysis were performed to see the effect of training intervention. Result of the present study demonstrated significant changes in weight ($p<0.05$), fat mass ($p<0.05$), impedance ($p<0.05$), BMI ($p<0.05$), BMR ($p<0.05$), and LBM ($p<0.05$) following the intervention. In conclusion, the findings of this study underscore the effectiveness of the intervention in inducing significant changes in various physiological parameters related to health and fitness. These results contribute to our understanding of the effects of targeted interventions on overall well-being and highlight avenues for further research in this area.

Key words: yoga, strength training, BMI, BMR, LBM, SBP, DBP, PP,

Introduction

In recent years, there has been a growing recognition of the significance of maintaining optimal health and fitness. Interventions focused on improving physiological parameters have become essential for establishing successful strategies to promote health and prevent disease (Qiu et.al., 2023). These physiological indicators, such as body composition, metabolic rate, cardiovascular function, and muscular strength, are examined in this study to assess the effects of a particular intervention. The objective of this study is to provide a comprehensive understanding of the efficacy of the intervention in enhancing overall health outcomes.

Effective weight control is essential for promoting good health, since an excessive amount of body weight raises the likelihood of developing chronic ailments such as cardiovascular disease, diabetes, and specific types of cancer. The distribution of body composition, encompassing both fat and lean mass, exerts a substantial influence on the general state of health (Lin and Li, 2021; Kim, 2021). Alterations in body composition can have significant consequences for metabolic well-being, physical prowess, and susceptibility to diseases. The basal metabolic rate (BMR) is a crucial component of physiological functioning, serving as an indicator of metabolic rate (Farhana and Rehman, 2023; Vybornaya et.al., 2017).

The implementation of interventions targeting the enhancement of cardiovascular parameters has the potential to mitigate the likelihood of cardiovascular disease and augment overall cardiovascular fitness. Muscle strength, endurance, and general physical performance can be strengthened by the use of strength training programs, hence leading to improved health and well-being. The results can guide the creation of evidence-based approaches to enhance health, avoid illness, and optimize overall welfare (Khadanga et.al., 2019; Franklin et.al., 2022).

Methodology

In the present study four hundred obese subjects were selected. Mainly all subjects were classified into four groups namely yoga experimental group, Yoga control subject, strength training experimental group, and strength training control groups. Out of two hundred obese subjects each group consist of hundred subjects namely yoga experimental group (hundred subjects), yoga control subjects (hundred subjects), strength training experimental group (hundred subjects), strength training control subjects (hundred subjects). All the subjects for this study were selected after their inform consent from Raipur, Chhattisgarh, India. All the experimental subjects were regularly participated in the training given by the research scholar. The concept of fitness is different from the participating in the sports. Sports participation required combination of magnitude of factors. The study was taken on the basis analysis of scientific literature available on body composition and Cardiovascular profile such as body weight (W), body fat (F), body impedance (I), body mass index (BMI), basal metabolic rate (BMR), lean body mass (LBM), heart rate (HR), systolic blood pressure (SBP), diastolic blood pressure (DBP), double product (DP), and pulse pressure (PP) of obese sedentary population as well as on the basis of tests findings of the related research studies. Purposive Sampling method was adopted for the present study. Weighing machine is used measured body weight, and body composition analyzer is used to measure the other variables of body composition. Systolic Blood Pressure (mmHg), Diastolic Blood Pressure (mmHg) and Heart Rate (beats/minute) monitored with the help of digital Blood Pressure Monitor in the present study.

Analytical Procedure

All statistical analysis was performed in computer in MS Excel and SPSS-27. Analysis of data was done by using descriptive method where mean, standard error, and standard deviation (SD) for each group was calculated. The inferential analysis or Comparative analysis (one way ANOVA) was applied to observe differences between pre-test and post-test data for all studied variables in both experimental namely yoga and strength training groups. The level of significance was set at 0.05 to validate the difference, if any.

Result

Table 1: Showing the characteristic of body weight (kg), fat (kg), impedance, BMI (kg), BMR (Kcal), LBM (kg), HR, SBP, DBP, DP, and PP of obese subjects between pre and post yogic training intervention.

Variable	Pre Test		Post Test		ANOVA	
	Mean ± SE	SD	Mean ± SE	SD	F-value	P-value
Weight	62.24 ± 0.72	7.29	58.32 ± 0.59	5.98	17.30	$p<0.01$
Fat (kg)	13.21 ± 0.35	3.59	11.76 ± 0.35	3.61	8.32	$p<0.004$
Impedance	628.34 ± 7.11	71.10	699.33 ± 9.02	90.28	38.15	p<0.001
BMI	24.69 ± 0.31	3.14	23.15 ± 0.25	2.59	14.41	$p<0.001$
BMR	1423.97 ± 9.22	92.24	1600.36 ± 21.40	214.02	57.28	$p<0.001$
LBM	49.02 ± 0.68	6.76	46.55 ± 0.54	5.44	8.12	$p<0.001$
HR	75.51± 0.20	2.06	75.22 ± 0.19	1.83	1.104	*NS*
SBP	114.4± 0.54	5.47	115.79 ± 0.45	4.57	3.807	*NS*
DBP	72.41± 0.29	2.97	73.11 ± 0.23	2.37	3.383	*NS*
DP	86.39± 0.49	4.92	87.13 ± 0.47	4.70	1.175	*NS*
PP	41.99± 0.35	3.50	42.68 ± 0.29	2.98	2.246	*NS*

Table 1 depicted the result the study. significant changes were observed in weight, fat mass, impedance, BMI, BMR, and LBM from pre-test to post-test, while no significant changes were found in heart rate (HR), systolic blood pressure (SBP), diastolic blood pressure (DBP), mean arterial pressure (DP), and pulse pressure (PP). It is observed from the table that there was a significant ($p<0.05$) difference in body weight from pre-test (62.24 ± 0.72) to post-test (58.32 ± 0.59). Similar result has been found in body fat of the subjects. A significant ($p<0.05$) dicrease (11.76 ± 0.35) in body fat was found in fat mass from pre-test (13.21 ± 0.35). Body impedance remarkly ($p<0.05$) increased from pre test (628.34 ± 7.11) to post-test (699.33 ± 9.02). A significant difference was observed in BMI from pre-test (24.69 ± 0.31) to post-test (23.15 ± 0.25). There was a significant difference in basal metabolic rate (BMR) from pre-test (1423.97 ± 9.22) to post-test (1600.36 ± 21.40). in contrast to BMR the lean body mass (LBM), a significantly lowere mass is observed in post test (46.55 ± 0.54) body mass. Rest of the physiological variable did not reveal significant difference in the study.

Table 2: Showing the characteristic of body weight (kg), fat (kg), impedance, BMI (kg), BMR (Kcal), LBM (kg), HR, SBP, DBP, DP, and PP of obese subjects between pre and post strength training intervention.

Variable	Pre Test		Post Test		ANOVA	
	Mean ± SE	SD	Mean ± SE	SD	F-value	P-value
Weight	60.68± 0.64	6.47	59.52 ± 0.49	4.88	2.068	*NS*
Fat	15.52 ± 0.34	3.39	12.32 ± 0.31	3.03	49.58	$p<0.01$
Imped-ance	621.6 ± 7.86	78.61	642.69 ± 6.67	66.70	4.184	$p<0.05$
BMI	24.66 ± 0.39	3.83	21.93 ± 0.30	3.06	31.37	$p<0.01$
BMR	1414.31 ± 8.68	86.75	1460.36 ± 12.24	122.38	9.425	$p<0.01$
LBM	45.18 ± 0.67	6.66	47.20 ± 0.43	4.27	6.66	$p<0.05$
HR	72.93± 0.38	3.72	75.24 ± 0.19	1.85	30.95	$p<0.001$
SBP	117.17± 1.02	10.19	117.52 ± 0.97	9.70	0.062	*NS*
DBP	74.93± 0.65	6.59	75.34 ± 0.65	6.44	0.198	*NS*
DP	85.39± 0.79	7.89	88.42 ± 0.75	7.55	7.657	$p<0.01$
PP	42.24± 0.87	8.64	42.18 ± 1.10	11.02	0.002	*NS*

Table 2 depicted the result the study. significant changes were observed in fat mass, impedance, BMI, BMR, LBM, HR, and DP from pre-test to post-test, while no significant changes were found in body fat, systolic blood pressure (SBP), diastolic blood pressure (DBP), mean arterial pressure (DP), and pulse pressure (PP). It is observed from the table that there was a significant ($p<0.05$) difference in body fat from pre-test (15.52 ± 0.34) to post-test (12.32 ± 0.31). Body impedance remarkly ($p<0.05$) increased from pre test (621.60 ± 7.86 to post-test (642.69 ± 6.67). A significant difference was observed in BMI from pre-test (24.66 ± 0.39) to post-test (21.93 ± 0.30). There was a significant difference in basal metabolic rate (BMR) from pre-test (1414.31 ± 8.68) to post-test (1460.36 ± 12.24). The lean body mass (LBM), a significantly increased in post test (47.20 ± 0.43) body mass from (45.18 ± 0.67) . Heart rate of post test (75.24 ± 0.19) was found to be higher as compared to that of pre test (72.93± 0.38). similarly, the post strength training double product (88.42 ± 0.75) significantly ($p<0.05$) increased from pre training intervention double product (85.39± 0.79). rest of the variable did not show significant difference in the study.

Discussion

The research revealed notable alterations in multiple physiological markers subsequent to an intervention, so offering valuable insights into the impact of the program on the health and physical fitness of the participants. The program's effective contribution to weight loss and fat reduction is indicated by the decrease in weight and fat mass observed after the intervention. The observed rise in impedance and decline in BMI could potentially indicate modifications in body composition, encompassing shifts in muscle mass and distribution of fat. The observed substantial rise in basal metabolic rate (BMR) indicates the possibility of metabolic adjustments triggered by the program, which could have consequences for the participants' long-term weight control and energy usage. The interpretation of the decrease in lean body mass (LBM) following the intervention is of utmost importance; however, more study is required to ascertain whether this decrease is indicative of genuine muscle loss or if it is influenced by other variables. The study additionally observed no statistically significant alterations in cardiovascular indicators, indicating that the intervention may not have exerted a substantial influence on cardiovascular well-being within the designated period of the study. Subsequent studies should examine the enduring consequences, identify possible factors that influence the response to treatment, and evaluate the durability of reported alterations over an extended period.

Reference:

1)Farhana A, Rehman A. Metabolic Consequences of Weight Reduction. [Updated 2023 Jul 10]. In: StatPearls [Internet]. Treasure Island (FL): StatPearls Publishing; 2024 Jan-. Available from: https://www.ncbi.nlm.nih.gov/books/NBK572145/

2)Franklin BA, Eijsvogels TMH, Pandey A, Quindry J, Toth PP. Physical activity, cardiorespiratory fitness, and cardiovascular health: A clinical practice statement of the ASPC Part I: Bioenergetics, contemporary physical activity recommendations, benefits, risks, extreme exercise regimens, potential maladaptations. Am J Prev Cardiol. 2022 Oct 13;12:100424. doi: 10.1016/j.ajpc.2022.100424.

3)Khadanga S, Savage PD, Ades PA. Resistance Training for Older Adults in Cardiac Rehabilitation. Clin Geriatr Med. 2019 Nov;35(4):459-468. doi: 10.1016/j.cger.2019.07.005.

4)Kim JY. Optimal Diet Strategies for Weight Loss and Weight Loss Maintenance. J Obes Metab Syndr. 2021 Mar 30;30(1):20-31. doi: 10.7570/jomes20065.

5)Lin X, Li H. Obesity: Epidemiology, Pathophysiology, and Therapeutics. Front Endocrinol (Lausanne). 2021 Sep 6;12:706978. doi: 10.3389/fendo.2021.706978.

6)Qiu Y, Fernández-García B, Lehmann HI, Li G, Kroemer G, López-Otín C, Xiao J. Exercise sustains the hallmarks of health. J Sport Health Sci. 2023 Jan;12(1):8-35. doi: 10.1016/j.jshs.2022.10.003.

7)Vybornaya KV, Sokolov AI, Kobelkova IV, Lavrinenko SV, Klochkova SV, Nikityuk DB. [Basal metabolic rate as an integral indicator of metabolism intensity]. Vopr Pitan. 2017;86(5):5-10. Russian. doi: 10.24411/0042-8833-2017-00069.

Opium addiction in Colonial Assam: A Preliminary Investigation

-Kishor Goswami
Assistant Professor
Department of History
Jagannath Barooah College
Jorhat:Assam
Email id: goswami.du@gmail.com

Introduction:

The paper intends to study Assam's history through the prism of opium, particularly the interplay between state and society during the 19th and early 20th century. The paper also highlights the spread of opium production and consumption in colonial Assam. As a social biography of opium in colonial Assam, the study addresses deficiencies in our understanding of opium in interpreting Assam's unique encounter with colonialism.

During the period 1860s–1920s opium contributed more than a fifth of the total provincial revenue in Assam. Interestingly, in spite of the wide consumption of opium historical scholarship on it in Assam is virtually absent.1 Historians of Assam while dealing with the question of opium often face two challenges, first, of opium being regarded within the pathways of Indian history as an export commodity yoked to the China trade and the Chinese experience of addiction, and, second, opium's understanding in terms of the Benares–Bihar belt as a production hub, with Calcutta acting as the auctioning centre. The lack in the historical understanding of domestic consumption in India has meant that despite pervasive opium addiction in Assam as well as the region's experience with opium possessing considerable economic, social and political significance, scholarship has been negligible. The existing literature completely overlooks the impact on British India's opium exports from the 1870s onwards which prompted the need for alternate markets leading to the evolution of a more aggressive domestic policy, especially in provinces like Assam where opium use was virtually universal.

There are contradictory theories on the roots of opium eating in Assam. The origins of the practice has been traced to Assam's historic trading links with China as well as the province's contact with the Mughal army among whom opium use was common during the incursions into western Assam in the mid-seventeenth century.2 Local histories suggest that opium was known to the Assamese and used primarily in rituals and quasi-religious rites as well as for its medicinal properties during the Ahom period, but use was limited to the upper classes.3 Evidence from the buranjis (official chronicles) which are rich in historical information and present an accurate account of social life in the province during the medieval period suggest that Ahom ruler Gadadhar Singha (r.1681–1696) stigmatised and penalised opium users but during the reign of Gaurinath Singha (r.1780–1795), an opium addict himself, the social stigma of opium use faded and Gaurinath is credited with popularising opium smoking as a leisure and social activity.4 Despite evidence of use by the late eighteenth century, nationalist historians have underplayed the existence of opium use in pre-colonial Assam and have posited that opium use was negligible and confined only to the royal court and the nobility.5 These accounts

maintain that widespread opium addiction was the consequence of the colonial state's calculated policy to inflict the 'vice' on the general population as an important device of colonial rule which suggest that a conspiracy to drug the masses in order to make them willing participants of rule was at play.6 This narrative also connected opium addiction neatly with the argument about the loss of "self-respect and self-realisation" amongst the Assamese which was resolved by the intervention of Gandhi and the Congress during the nationalist struggle.

The narrative of addict as a victim of colonial polity flattens the richness of the opium discourse in nineteenth century Assam that was defined by "complex connections between the conditions of pleasure, labor and fatigue".7 It is therefore crucial to focus on the 'interplay' between these features and recognize that the evolution of the opium question involved the redrawing and readjustment of the boundaries between these facets of opium use by different players at different times. Kaushik Ghosh's critique of colonial capitalism's stake on the civilisational principle highlights that "the rationality of opium and the opium of rationality interplayed ceaselessly to define the wildness and indolence of the Assamese" and this offers an effective paradigm to approach the issue of opium addiction in Assam.8

The colonial archive, on the other hand, is also guilty of fostering an exaggerated version of dependence on opium as well as encouraging the narrative of 'improvement' till the mid nineteenth century. It needs to be highlighted that the narrative changed dramatically in the late nineteenth century and the official position upheld the view that abuse of opium was virtually absent in the province (as well as the rest of India) as the British government faced pressure from the local and transnational anti-opium lobby to impose prohibition. In the 1840s and 1850s, however, accounts of colonial administrators, planters, missionaries as well as doctors routinely attributed the lassitude and indifference to work on the part of the local people to opium and the memoir of Major John Butler typified the British view about opium addiction in Assam.9

Butler also highlighted that "two-thirds of the population are addicted" and addiction was also associated with "nine out of ten crimes", especially "larceny and burglary".10 We need to exercise caution in accepting the 'authenticity' of these accounts given that they were produced at a time when efforts to encourage tea plantations in the region were at their peak. Although the official position on the origins of opium cultivation and consumption posited that opium was originally cultivated at Beltola, near Guwahati, and was believed to have been used as a medicinal drug, by the time the annexation in 1826, opium cultivation and consumption was widespread.11 The view that opium was grown in the province was corroborated in late-eighteenth and early-nineteenth century accounts like Captain Thomas Welsh's 1794 report which indicated that poppy grew "in luxuriance" in most of western Assam.12 However, Welsh's report also highlighted that although opium was consumed by the natives, they were "as yet unacquainted with the manufacture of merchantable opium, which might be procured in considerable quantity" indicating that use might not have been as pervasive in the late eighteenth century.13

There is, however, greater agreement about the fact that opium use in the province spread and grew in the

aftermath of the British annexation in 1826. Widespread addiction in the region was corroborated in official documents and the general impoverishment of the indigenous population was widely consigned to the pervasive use of the drug.14 The abolition of the EIC's commercial monopoly in 1833 opened up prospects for private capital and the tea plantation enterprise resulted in the transition from a traditional rice growing, sustenance economy to a cash economy which induced peasants to cultivate cash crops such as mustard, jute and opium.15 Links between the growth of a cash economy and opium addiction has been suggested by Jayeeta Sharma who has argued that the "absence of a rice market" limited the cash-earning potential of the peasants and opium emerged as the viable option due to "a readily expanding demand" and high profitability triggering opium use.16 Another factor that promoted opium use in the province in the 1840s onwards was the introduction of cheap Company opium (or excise opium) in 1843 which was sold through licensed shops, which made the drug available in standardised ball form that could be readily made into a smoking preparation.

The Journal of the Asiatic Society of Bengal (JASB) published some of the earliest essays or articles on Assam and these pieces provide insights into opium use in Assam during formative years of British rule in Assam and William Griffith's article published in 1836 established that the opium poppy grew extensively in the Assam valley (also Brahmaputra valley).17 The first record of opium consumption in Assam in the pages of the JASB dated back to 7 August 1844 when J. Owen, tea planter and resident of Assam, presented the Society with a gift of "two balls of the opium-rags as prepared by the ryots of Assam [for] sale and common consumption", or kanee in the vernacular.18 Although the report highlighted that opium was the most profitable crop for farmers and was widely available and sold in all the markets, no reference was made to the addiction aspect, especially the pervasive depravity of the kania that populated the colonial documents in the period beginning with the late 1850s.19 Another contemporary journal, The Calcutta Review, also published observations of military men and administrators who visited the region, but they were mostly mundane administrative reports. An article written by William Robinson, an English missionary working in upper Assam, stood out as it provided a historical narrative of the province that drew attention to the social life of the people for the first time.20 Despite multiple references to the depravity of Assamese ways and the profligacy of its society that emphasised the need for the spread of Christianity, the account was oddly silent on the issue of opium use among the Assamese. These articles suggest that the process of creating 'difference' had not solidified in the mid-nineteenth century and the colonial project of 'knowing' the kania (opium addict) was still in process as the economic potential of the tea industry developed.

Reference:

1) Amalendu Guha, "Colonisation of Assam: Second Phase 1840–1859", *Indian Economic and Social History Review* (hereafter, *IESHR*), Vol. 4, No. 1 (1967), pp. 289–317; John F. Richards, "Opium and the British Indian Empire: The Royal Commission of 1895", *Modern Asian Studies*, Vol. 36, No. 2 (May 2002), pp. 412.
2) The Mughals were known to have used opium for "recreational purposes" and "narcotics in the Mughal state induced acculturation, negotiations, social interactions and entertainment". Meena Bhargava, "Narcotics and Drugs: Pleasure, Intoxication or Simply Therapeutic—North India, Sixteenth–Seventeenth Centuries", The Medieval

History Journal, Vol. 15, No. 1 (2012), p. 104.
3) H.K. Barpujari, Assam in the Days of the Company, 1826–1858 (Guwahati, 1980 [1963]), pp. 42–65.
4) Benudhar Kalita, The Uprising of Phulaguri (Nagaon, 2006), pp. 48–50.
5) Shrutidev Goswami, "The Opium Evil in Nineteenth Century Assam", Indian Economic and Social History Review (hereafter, IESHR), Vol. 19, No. 1 (January 1982), p. 366.
6) Amalendu Guha's ecumenical From Planter Raj to Swaraj: Freedom Struggle and Electoral Reform in Assam (New Delhi, 1977), also exhibits this predilection.
7) Bodhisatva Kar, "Energizing Tea, Enervating Opium: Culture of Commodities", in Manas Ray (ed.), Space, Sexuality and Postcolonial Cultures (Calcutta, 2002), p. 356.
8) Kaushik Ghosh, "A Market for Aboriginality: Primitivism and Race Classification in the Indentured Labour Market of Colonial India", in Gautam Bhadra, Gyan Prakash and Susie Tharu (eds), Subaltern Studies X: Writings on South Asian History and Society (Delhi, 1999), p. 15.
9) John Butler, Travels and Adventures in the Province of Assam, During a Residence of Fourteen Years (London, 1855), p. 244.
10) John Butler, Travels and Adventures in the Province of Assam, During a Residence of Fourteen Years (London, 1855), p. 244.
11) B.C. Allen, Assam District Gazetteers: Vol. VI, Nowgong (Calcutta, 1905), p. 196.
12) "Welsh's Report on Assam, 1794", in A. Mackenzie, History of the Relations of the Government with the Hill Tribes of North-East Frontier of Bengal (Calcutta, 1884), p. 388.
13) "Welsh's Report on Assam, 1794", in A. Mackenzie, History of Hill-Tribes, p. 388.
14) "[O]pium eaters spend nearly one half or even as much as two-third of his earning upon opium. They often went without a meal to supply themselves with opium". C. J. Simons, Notes on the Baneful Effects on the Natives of Assam, from the Excessive Use of Opium (Calcutta, 1860), p. 3.
15) The debate among political economists on the development of capitalism in India does not affect this discussion on opium's impact in Assam; for, whatever their analysis of the impact of colonialism on India's transition from feudalism to capitalism, there is wide agreement that colonialism held the promise of modernity and inspired a critical self-examination of indigenous society and culture. See A.K. Bagchi, "De-industrialization in India in the Nineteenth Century: Some Theoretical Implications", Journal of Development Studies, Vol. 12 (1975–76), pp. 135–64.
16) Jayeeta Sharma, "'Lazy' Natives, Coolie Labour, and the Assam Tea Industry", Modern Asian Studies (hereafter, MAS), Vol. 43, No. 6 (November, 2009), p. 1295.
17) William Griffith, "Remarks on a Collection of Plants Made at Sadiya, Upper Assam", Journal of the Asiatic Society of Bengal (hereafter, JASB), Vol. 5 (1836), pp. 806–13.
18) "Proceedings of the Asiatic Society", JASB, Vol. 13 (August 1844), p. lxxxi.
19) "Proceedings of the Asiatic Society", JASB, Vol. 13 (August 1844) pp. lxxxi–lxxxii.
20) "Assamese Matters, Past and Present: Article II—Robinson's History of Assam", Calcutta Review (hereafter, CR), Vol. 23, No. 45 (July–December 1854), pp. 38–65.

☆☆☆

C M OF THE VILLAGE

CHARACTERS
Saty Narayan Tripathi
Dr.Joravar Singh
Jitendra Yadav
Sunayana
Sankata Prasad Khatik
SDM
Kala Bachcha
And
Others

(Scene -1)

(There is a big farmhouse of Satynarayan Tripathi.Inside the big room there is a mattress of carpet . Satynarayan Tripathi the Village Head ,Dr.Joravar Singh of the Primary Health Centre and Mr Jitendra Yadav the Head Master of the Junior High School are eating roasted chickens and fried fished in their big plates.Their's pegs are full of alcohol of Mahua.The atmosphere of laughter continued.)

Satynarayan Tripathi - Doctor, tell the news of your Primary Health Centre.

Dr. JoravarSingh- (Moving the glass of wine in the fingers of his hand of his hand)

From your blessings the medicines of the Primary Health Centre are being dissolved in our glasses of alcohol.If we have good health then the people of the Village will have also good health.

Satynarayan Tripathi - No other Doctor can run this Health Primary Centre better than. you.

Jitendra Yadav -Hey! Tripathi Sir ,you should praise my work which I am performing in Junior High School.Please mark me with full points (All laugh loudly).

Satynarayan Tripathi - I'll get asleep after drinking the tonic of medicines.You arranged the furnitures in our houses from the money which was allotted to the Junior High School for purchasing it.I grant you full credit to be a successful Head Master of the School

(All guys laugh bitterly.The same movement Satynarayan Tripathi called on a Dalit girl whom he had made captive in his house. Sunayana comes out of the room)

Sunayana-(Gesturing her hand .She has tears in her eyes)

Part 2

Sunayana - Let me go to my parent's house.

Satynarayan Tripathi - Hey! foolish girl, you like to live in cottage but you won't prefer to live in the palace.What facilities will be provided by your poor parents to you in that cottage ?

Sunayana -I'll not live in your hostage.The cottage of my poor parents is better than this place.

Satynarayan Tripathi -(With full proud)- I am providing you delicious dishes here.You were eating bread with salt only there.

Sunayana- You rape with me every day.You are always injuring my honour and prestige.My parents are helpless.After threatening us you made me your kept.

Satynarayan Tripathi -(After putting figures on his moustaches)

The man who is powerful that enjoys all the Worldly things.It has happened in all the times.You are a most beautiful.I am a king of this Village.I have right to use everything.

Sunayana- (Having with courage)- There are so many beautiful girls amongst the Backwards and upper castes communities.You have no courage to watch towards those girls.They are powerful than you. If you do such activities with them.You will be assassinated.

Satynarayan Tripathi - I have hanged to death fifteen men who were against me in my fifteen years of Village Headship.The whole Village can't face me.I am the emperor of this Village.

Sunayana-(Being angry)- I'll certainly go .Who dares to stop me,? (She moves fastly towards the door).Dalit girls are not weak.We are the generations of the martyred of Jhalkari Bai.

Satynarayan Tripathi (To doctor and Head Master)-Hold the bitch! Don't allow her to march outside from the house.(They held Sunayana firmly with their hands.Satynarayan Tripathi puts many slaps on her cheeks.In this struggle Sunayana became half naked.They all watched her with defective eyes.

(The same time a retired soldier named Kala Bachcha from the army came there.His long hairs are open.He jumps on the ground.His hairs are flying in the air)

Kala Bachcha (He utters in anger)- Bastards! All of you teasing the girl.The master is educating the girl at night.Wicked Master does you teach your daughter in the night in such manners?you don't teach the students of the Village.Hey! ediot doctor,you are injecting Sunayana.Do you inject your sisters.

Satynarayan Tripathi (To doctor and Master)- From where this mad man has come?This Bastard! has disturbed us our enjoyment.

Dr . Joravar Singh ((To Master)- Hold this crazy.I'll inject him.

Kala Bachcha (He runs around the house) - Tripathi, you have killed my father and brother.You will die with Doctor and Master.

(They held Sunayana and Kala Bachcha.Thry beat both)

Maina (The sister of Sunayana entered into the house with holding Sickle in her hands)

Let free my sister and this army man Kaka Bachcha now.If all of you fail to do so then I'll attack over all of you with this pointed sharp sickle.

Satynarayan Tripathi -Don't attack on us.We let free

Sunayana and Kala Bachcha.(All three wicked men are full of fear .They freed Sunayana and Kala Bachcha)

PART 3

SCENE 2

(Mr.Sankta Prasad Khatik has topped in MA Sociology from the University of Allahabad.He has come to his village Vikatpuri.He goes to the office of Village Head Satynarayan Tripathi with some people of the Village)

Sanktaprasad Khatik - Good morning Village Head Sir.

Saty Narayan Tripathi - Hey! Sankta Prasad Khatik,good morning.When did you come from Allahabad? Have you completed your education.?

Sankta Prasad Khatik -A week back I came from Allahabad to here Sir.I want to put some grievances of the villagers before you .The medicines about the cost of rupees ten lakhs have been sent to this Primary Health Centre by the Government of the State.Dr. Joravar Singh is denying it.

A Villager- The Villagers are bound to purchase the medicines from the city.

Second Villager- The Malaria is spreading among the people.There are no tablets of kunine.The dogs are biting the Villagers but there are no anti-rabies medicines in the Primary Health Centre.

Sankta Prasad Khatik -The numbers of Villagers are dying due to not availability of medicines.

Satynarayan Tripathi -There are no medicines in the stock then how the Doctor will supply the patients? Don't make false illegations to a noble and honest Doctor.Sanktaprasad Khatik you have come here with highest degrees of the University.You don't get involved in these useless things.

Sanktaprasad Khatik - These are not false things.I am coming from the Ministry of the Health.Medicines were sent to this Primary Health Centre two months back.Dr. Joravar Singh recieved those medicines.

Satynarayan Tripathi - You have come here now from the city I suggest you to mind your business.

Sanktaprasad Khatik -Village Head sir,follow me ,there is a Primary Health Centre ten yards distance from here..

(Both of them go to the Primary Health Centre with Villagers.Dr. Joravar Singh is sitting in the chair without dress.He is treating the patients carelessly.He is not supplying the medicines to the patients from the stock of the Primary Health Centre.He writes down the prescriptions on papers and direct them to purchase it from the Chemical Stores from the city.All the patients are crying of pains.

Dr.Joravar Singh- (To Sanktaprasad Khatik)-

After having some education from the city,you are tracing out the faults in our superb functioning.

Sanktaprasad Khatik -Doctor Sir,I am not counting any defect in your working.The patients are sighing due to not getting the medicines from here.I am requesting you to distribute the medicines to the sick people.

Dr. Joravar Singh- Are you my CMO? Who has authorised you for inspecting our Primary Health Centre.

Sanktaprasad Khatik -As a citizen of India,I have right to know all these things.I can get all the details of medicines through the right of information act. In the huge quantity of medicines have been supplied by the Health Department to this Primary Health Centre Where these medicines disappeared.This Doctor sales out those medicines in the medical store of the city.

Part 4

Satynarayan Tripathi - It is a false.You labelled the rootless allegations against this honest Doctor.

Sanktaprasad Khatik - It is a one hundred percent true.The Villagers have sent the complaint letters to the CMO and DM about this corruption.The District Magistrate has conducted a raid against that medical store.The medicines of this Primary Health Centre are being recovered from there.The owner of the medical store has accepted that Dr.Joravar Singh,Jitendra Yadav and you have been selling the medicines of this Primary Health Centre to his private medical store.All of you been digesting the money for almost many years.

Satynarayan Tripathi (Showing off)- Speak consciously otherwise the result will be bad.

Sanktaprasad Khatik -You will not be absolved of the crimes after abusing me.You have to answer District Magistrate.You watch carefully this Junior High School (Indicating towards the school).The children are studying on the ground.There are no tables and chairs for them .Remember after independence the children were studying in the same manners.you didn't allow any development in the field of education for seventy five years.The rupees six lakhs were allotted to this school for purchasing the furnitures.All of you have shared it amongst themselves.The Government has set -up an inquiry against all of you.

Satynarayan Tripathi (Showing off) Don't let me fear.We'll see.Whoever Bastard!has come in our way.We have put him to death. So far I have killed fifteen of my opponents.I'll have to kill one more.

Sanktaprasad Khatik -An atmosphere of terror and fear have been created by all of you.Now It's about to end .You people have disturbed this peaceful Village .All of you torn apart the culture and civilization of this Village.All the bad things have started happening here.You have put the Villagers into drugs addiction.

Satynarayan Tripathi (To Dr.JoravarSingh and Master Jitendra Yadav)-Write down the name of Sanktaprasad Khatik in the list of martyred

(They started beating to him . Sanktaprasad Khatik faced lonely to them.The Villagers interfere in this struggle)

*****

75 Years of Independence: The Changing Landscape of India

Dr.Umadevi
Associate Professor & H.O.D
Department of Political Science
Govt.First Grade College, Vijayanagar
Bangalore -104

There is an old saying that India is a new country but an ancient civilization, and this civilization has seen tremendous changes throughout its history.

From being an education hub of the world in ancient times to becoming the IT hub of the world today, the Indian landscape has come a long way. Taking 15th August 1947 as our frame of reference, we find that there are several fields like Science and Technology, economy, and human development where India has shown remarkable progress. However, some fields like health and education still seem to be taken care of. Let us look at these aspects of Indian development individually.

The Landscape of Science and Technology

When the Britishers left India, they left behind a broken, needy, underdeveloped, and economically unstable country. After independence, India prioritized scientific research in its first five-year plan. It paved the way for prestigious scientific institutes like IITs and IISC. After just three years of independence, the Indian Institute of Technology has established in 1950. These institutions promoted research in India with the aid of foreign institutions. From launching its first satellite Aryabhatta in 1975 to being the first country to reach the orbit of Mars, India has taken confident strides in the field of space research technology, thanks to the Indian Space Research Organisation (ISRO). We can proudly state that India is standing at par with countries like USA and China, same goes with the field of biotechnology also where India is producing vaccines for the entire world. The success of UPI is also a case study for the world with 9.36 billion transactions worth Rs. 10.2 trillion in Q1 of 2022 only.

Economic Landscape

India faced several issues following its independence, including illiteracy, corruption, poverty, gender discrimination, untouchability, regionalism, and communalism. Numerous issues have acted as major roadblocks to India's economic development. When India declared its independence in 1947, its GDP was mere 2.7 lakh crore accounting for 3% of the world GDP. In 1965, the Green Revolution was started in India by M. S. Swaminathan, the father of the Green Revolution. During the Green Revolution, there was a significant increase in the crop area planted with high-yielding wheat and rice types. From 1978–1979, the Green Revolution led to a record grain output of 131 million tonnes. India was then recognized as one of the top agricultural producers in the world. With the construction of linked facilities like factories and hydroelectric power plants, a large number of jobs for industrial workers were also generated in addition to agricultural workers.

Today India is the 5th largest economy in the world with 147 lakh crore GDP, accounting for 8% of global GDP. In recent years, India has seen a whopping rise of 15,400% in the number of startups, which rose from 471 in 2016 to 72,993 as of June 2022. This phenomenal rise in startups has also produced millions of new jobs in the country.

Infrastructure

The India of today is different from India at the time of freedom. In the 75 years of independence, Indian Infrastructure has improved drastically. The overall length of the Indian road network has grown from

0.399 million km in 1951 to 4.70 million km as of 2015, which makes it the third largest roadway network in the world. Additionally, India's national highway system now spans 1, 37, 625 kilometres in 2021, up from 24,000 km (1947–1969).

After over 70 years of independence, India has risen to become Asia's third-largest electricity generator. It increased its ability to produce energy from 1,362 MW in 1947 to 3, 95, 600 MW. In India, the total amount of power produced increased from 301 billion units in 1992–1993 to 400990.23 MW in 2022. The Indian government has succeeded in lighting up all 18,452 villages by April 28, 2018, as opposed to just 3061 in 1950, when it comes to rural electrification.

The Landscape of Human Development

In 1947 India had a population of 340 million with a literacy rate of just 12%, today it has a population of nearly 1.4 billion and a literacy rate of 74.04%. The average life expectancy has also risen from 32 years to 70 years in 2022.

The Landscape of Education and Health

In 1947, India had a population of 340 million with a literacy rate of just 12%, today it has a population of nearly 1.4 billion and a literacy rate of 74.04%. The average life expectancy has also risen from 32 years to 70 years in 2022. Though India has shown remarkable progress In terms of literacy rate, the quality of higher education is still a cause of major concern. There is not a single Indian University or Institute in the top 100 QS World University Ranking. With the largest youth population in the world, India can achieve wonders if its youth get equipped with proper skills and education. The health, sector is also worrisome. The doctor-to-patient ratio is merely 0.7 doctors per 1000 people as compared to the WHO average of 2.5 doctors per 1000 people. A recent study shows that 65% of medical expenses in India are paid out of pocket by patients and the reason is that they are left with no alternative but to access private healthcare because of poor facilities in public hospitals.

The Political Landscape

Jawaharlal Nehru was appointed as India's first prime minister in 1947, following the end of British rule. He promoted a socialist-economic system for India, including five-year plans and the nationalization of large sectors of the economy like mining, steel, aviation, and other heavy industries. Village common areas were taken, and a massive public works and industrialization drive led to the building of important dams, roads, irrigation canals, thermal and hydroelectric power plants, and many other things. India's population surpassed 500 million in the early 1970s, but the "Green Revolution" significantly increased agricultural productivity, which helped to end the country's long-standing food problem.

From 1991 to 1996, India's economy grew quickly as a result of the policies implemented by the late Prime Minister P. V. Narasimha Rao and his Finance Minister at the time, Dr Manmohan Singh. Poverty had decreased to about 22%, while unemployment has been continuously reducing. Growth in the gross domestic product exceeded 7%.

India's first female Prime Minister, Indira Gandhi, held office from 1966 until 1977 for three consecutive terms before serving a fourth term (1980–84). India elected PratibhaPatil as its first female president in 2007.

India's economy has expanded significantly in the twenty-first century. Under the Prime ministership of Narendra Modi (BJP), many significant changes have taken place like the scraping of Section 370, strengthening the Defence systems, creating a startup -friendly environment and much more. To expand infrastructure and manufacturing, the Modi administration launched several programs and campaigns, including "Make in India", "Digital India", and the

"Swachh Bharat project."

The Legal Landscape

Before independence, the Privy Council was the highest appellate authority in India. This Council was abolished as the first action following independence. The abolition of the Privy Council Jurisdiction Act was passed by the Indian Constituent Assembly in 1949 to eliminate the Privy Council's authority over appeals from India and to make provisions for outstanding appeals. It was B. R. Ambedkar's sharp legal intellect to draft a constitution for the newly sovereign country. In all executive, legislative, and judicial matters in the nation, the Constitution of India serves as the supreme law. The Indian legal system has developed into a key component of the largest democracy in the world and a pivotal front in the fight to protect constitutional rights for all citizens. Since it was first adopted in 1950, the Indian Constitution has had 105 modifications as of October 2021. The Indian Constitution is divided into 22 parts with 395 articles. Later, through various changes, further articles were added and amendments were made. According to the online repository maintained by the Legislative Department of the Ministry of Law and Justice of India as of July 2022, there are around 839 Central laws. The Indian legal system has a promising and forward-thinking future, and in the twenty-first century, young, first-generation lawyers are entering the field after graduating from the best law schools.

The Landscape of the Defence Sector

The Indian military ranked 4 of 142 out of the countries considered for the annual GFP review. From being defeated by the Chinese army in 1962 to becoming one of the largest defence systems in the world, India has surely learnt from its past errors. One of the reasons the Indian defence system has been able to attain its present reputation is the Defence Research and Development Organization (DRDO) which was established in 1958. Since its founding, it has created many significant programs and critical technologies, including missile systems, small and big armaments, artillery systems, electronic warfare (EW) systems, tanks, and armoured vehicles. India began working on nuclear energy in the late 1950s and had indigenous nuclear power stations by the 1970s. India had also begun developing nuclear weapons and producing fissile material concurrently, which allowed for the purportedly harmless nuclear explosion in Pokhran in 1971. The Integrated Guided Missile Development Program (IGMDP), under the direction of APJ Abdul Kalam and with the support of the Ordnance Factories, was established in 1983. In 1989, the longer-range Agni was independently designed and tested. Later, India and Russia collaborated to design and produce the Brahmos supersonic cruise missile. India currently leads several other nations in the production of defences. India is one of about a dozen nations that have built and produced their fighter jets, helicopters, submarines, missiles, and aircraft carriers.

Analyzing the different landscapes of India we find that we have come a long way in our journey but still, there is a lot to be done if we want to make India a 'super power'. A lot will depend on our people's willingness to change, ensuring the equal participation of women in the workforce, including marginalized communities in our economic growth, and last but not least is having a liberal and progressive and unbiased mindset.As we are celebrating "AzaadikaAmritMahotsav", the completion of 75 years of independence can be taken as a new opportunity to build an India of our aspirations and make positive contributions to the changing landscape of India.

References:

-Chandra, Bipan, et al. India since Independence. New Delhi, Penguin Books, 2008.
-mookherji, kalyani .India at 75. Rupa Publications India (June 5, 2022).
-Ray, Sibnarayan. "India: After Independence." Journal of Contemporary History, vol. 2, no. 1, 1967, pp. 125–41. JSTOR, http://www.jstor.org/stable/259721. Accessed 12 Apr. 2023.
-Kochhar, Rajesh. "Science and Domination: India before and after Independence." Current Science, vol. 76, no. 4, 1999, pp. 596–601. JSTOR, http://www.jstor.org/stable/24100769. Accessed 10 Dec. 2023.
-Spry, Graham. "The Independence of India." International Journal, vol. 1, no. 4, 1946, pp. 288–301. JSTOR, https://doi.org/10.2307/40194242. Accessed 02 Jan. 2024.
-Prasad, Pradhan H. "India after Four Decades of Independence." Economic and Political Weekly, vol. 23, no. 14/15, 1988, pp. 693–94. JSTOR, http://www.jstor.org/stable/4378331. Accessed 12 Apr. 2024.
-SINGH, YOGENDRA. "Modernization and Its Contradictions: Contemporary Social Changes in India." Polish Sociological Review, no. 178, 2012, pp. 151–66. JSTOR, http://www.jstor.org/stable/41969438. Accessed 12 Feb. 2024.
-Jones, John P. "The Present Situation in India." The Journal of Race Development, vol. 1, no. 1, 1910, pp. 86–109. JSTOR, https://doi.org/10.2307/29737849. Accessed 01 Mar. 2024.

Women Empowerment: Role of Government, Women Empowerment Schemes in India:

Dr.Nanjundamurthy
Associate Professor & H.o.D
Govt.First Grade College
Jayanagar-560070

The term **Women Empowerment** is concerned with giving equal rights to women for their growth and development in society as given to men. In other words, it means giving women equality on all grounds of society. From decision-making processes to contribute to society's growth and development, women should be given equal and fair chances to prove their efficiencies. Article 15(3) of the constitution of India talks about the Welfare of women and children. Over the years, the ***central and state governments have launched many women empowerment schemes in India***, which are listed below in this article.

This issue has not just been confined to the boundaries of the country or traditional powers; it has also held its speed in the digital world. In November 2019, the Ministry for women and child development tied up with Facebook to promote the concept of digital literacy and women's safety in India in the spirit of Women Empowerment.

What is Women Empowerment?

The freedom or the liberty to make decisions about themselves, their health, career, education, and, more importantly, their life and choice is known as **Women Empowerment**. It means that women should be treated equally to men in social, economic, and political fields. It is essential for the overall development of a country. Empowering women also helps them to feel more confident, as it enhances their decision-making power.

Women Empowerment Schemes in India

Name of the Scheme	Launch Year	Objectives
SWADHAR Greh	2018	– Provide legal aid and guidance to women. – Cater to the primary need for food, shelter, clothing, and health of women.
Mahila Shakti Kendras (MSK)	2017	– Create a positive environment for women with access to basic healthcare, education, employment, etc. – Provide these opportunities at the block and district level in the country.
Women Helpline Scheme	2016	– Provide 24-hour telecom service to women suffering from violence and assault. – Facilitate appropriate and required intervention from agencies such as Hospitals/police/District Legal Service Authority (DLSA)/Protection Officer (PO)/OSC. – Spread information about the necessary support services, government schemes, and programs available for women affected by violence.
Ujjawala Scheme	2016	– Prevent women and children trafficking. – Rescue victims and put them in safe custody. – Provide rehabilitation services to the victims
Mahila Police Volunteers	2016	– To fight crime against women. – Report incidents of violence against women, such as child marriage, dowry harassment, and domestic violence, faced by women in public spaces.
Nari Shakti Puraskar	2016	– Strengthen the place of women in society. – Create and assist institutions that work toward women empowerment in society.
Mahila E-Haat	2016	– Providing online entrepreneurship opportunities for women. – Educate women on various aspects of online business
BetiBachaoBetiPadhao Scheme	2015	– Ensure survival and protection of the girl child – Ensure quality education for the girl child
One-Stop Centre Scheme	2015	– Provide assistance to women affected by violence. – To facilitate them in filing FIR against crime – Provide psycho-social support and counselling to them
NIRBHAYA	2012	– Ensure safety and security for women. – Ensure confidentiality of women's identity.

The following table presents various women empowerment schemes in India initiated by the Government in the past decade:

Women Empowerment Issues in India

Demographic Imbalance

Female Foeticide – Though abortion is legal still, this legality is widely used for sex-selective abortions.

Female Infanticide.

Maternal Mortality Rate – This is the result of absolute neglect on our part with reference to health and lack of health education.

Infant Mortality Rate – This is due to neglect of girl children; from every 15 infant deaths, 14 are girls.

Death because of Dowry issues and domestic violence.

Teenage pregnancy.

Skewed sex ratio.

Health Problems

India has issues related to basic health amenities because the resources and infrastructure are limited, and within that, the situation is worse for marginalized people, including women. Health problems remain a very important issue for India as a whole, and when it comes to women, in particular, the situation is even more difficult. For example, even if a woman is killed, it is not taken seriously. Because of a certain kind of conditioning, the culture of silence predominates among women, which serves as an obstacle to promoting women empowerment.

Neglect of Female Education

It is not only related to enrollment but also to the way female education is perceived. Women are not enrolled equally as men. Even when they are enrolled, there is a very high dropout rate because even if there is a certain kind of problem at home, it is a girl child that has to stay back. There is also a lack of infrastructure supporting girls' needs in schools, causing dropout rates, like no separate toilets for girls.

Insufficient economic and political partnership

While there is a lot of emphasis on education these days, it is still a matter of concern due to the lower participation of women in the workforce. For example, if one has to quit the job in a couple, it is invariably the woman who has to quit because it is considered unmanly for a man to stay at home. In any case, if the man stays back, it is considered as going against Indian culture. The same is the case with political participation, where we see very few women. People are still not willing to concede to the reservation that has taken place at the panchayat level.

Violence

It includes not only physical violence but also emotional and psychological violence. The understanding of violence is changing, and it is now more comprehensive. Example: At present, verbal abuse is also violence. Various acts of violence include harassment, dowry death, rape, murder, wife battering, infanticide, eve teasing, forced prostitution, trafficking, stalking, acid attacks, etc. Reducing the rate of crime against women also comes under Women empowerment in India.

Women Empowerment – Latest Updates

The world is not on track to achieving gender equality by 2030. The Human Development Reports Gender Inequality Index shows that overall progress in gender inequality has declined in recent years. For instance, it would take about 250 years to close the gender gap in economic opportunity based on current trends.

India has fallen to 28th position in the World Economic Forum's global gender gap report 2021 and is now one of the worst performers in South Asia, trailing behind neighbours Bangladesh, Nepal, Bhutan, Sri Lanka, and Myanmar; it is now ranked 140th among 156 countries.

The report estimates it will take South Asia 195.4 years to close the gender gap, while Western Europe will take 52.1 years.

Challenges and Prospects to Women Empowerment

The challenges to women empowerment are as follows:

Due to the patriarchy in the later Vedic period, the status of women started to decline due to the emergence of a new socio-cultural system.

According to the World Economic Forum, the Global Gender Gap Report 2021, India has declined on the political empowerment index by 13.5% points, and there has been a decline in the number of women ministers, from 23.1% in 2019 to 9.1% in 2021.

According to the National Family Health Survey 5, 23.3% of girls were married before the legal age.

Women's safety (increasing rape cases) and issues of marital rape.

Prospects:

The change of legislation in isolation will never be able to stop child marriage unless there is a socio-behavioural change among the parents and community. There is also a need to strengthen families by providing appropriate livelihood opportunities.

The Delhi government argued in favour of retaining the marital rape exception.

The constitutional rights provided under articles 15, 16, 23, 39, 42, and 51(A)e also help in women empowerment.

Women empowerment programs in india:
BetiBachaoBetiPadhao – A campaign to generate awareness and improve the efficiency of welfare services intended for girls in India. It aims to address the issues of decline in child sex ratio image.
Janani Suraksha Yojana – It was launched to reduce maternal and neonatal mortality.
AnemiaMukt Bharat – It aims to make an anaemia-free India.
PoshanAbhiyan – It is a Government of India flagship program to improve nutritional outcomes for children, pregnant women, and lactating mothers.
Mahila E Haat – It is a direct online marketing platform to support women entrepreneurs, self-help groups (SHG), and non-government organizations (NGO) to showcase products made and services rendered by them.
The Swadhar scheme- Was launched by the Ministry of Women and Child Development in 2002 to rehabilitate women in difficult circumstances.
Women Empowerment in Panchayati Raj Institutions
With the enactment of the 73rd Constitutional Amendment Act 1992, there were steps taken for women empowerment to strengthen their position in local governance. Women will be given one-third of the total number of seats to be filled by direct election in each panchayat. In addition, one-third of the number of chairperson seats must be reserved for women. The economic survey for 2017-18 states that there is 13.72 lakh elected women representatives in Panchayati Raj Institutions. This constitutes about 44.2% of the total number of elected representatives.
Women Empowerment and Gender Equality
Due to gender inequality, reverse migration, and job loss for men, rural jobs have shifted from women to men, as men are given higher priority for work in our society. Gender roles dictate a position of submission to women. Hence, power gaps still exist between men and women in our economic, political, and corporate systems.
The SDG gender index says that despite the higher number of women in Parliament, their influence is limited.
Types of Women Empowerment
Women Empowerment can be understood in different spheres, such as social, economic, and political.
The types of women empowerment in India are as follows:

There is social inequality in which the resources in a given society are distributed unevenly, typically through the norms of allocation. It is needed to remove the social inequality as it is against the idea of meritocracy to empower women.
It is seen that some jobs, like the beauty industry, air hostesses, nursing, teaching, etc., have been meant for women. As they are female-dominated, they are paid less as they have less bargaining power. To change this mindset in society, women have to be empowered economically.
Although there are provisions for women empowerment in the political sphere, they are unable to achieve the purpose.
Self-Help Groups and Women Empowerment
Self Help Groups (SHGs) are small groups of people facing similar problems, and the members of a group help each other to solve their problems. Self Help groups play a major role in empowering women as these are important for the following reasons:
To promote income-generating activities.
For removal of poverty.
To generate employment.
To raise the status of women in society.

Reference:

Duflo, Esther. "Women Empowerment and Economic Development." Journal of Economic Literature, vol. 50, no. 4, 2012, pp. 1051–79. JSTOR, http://www.jstor.org/stable/23644911. Accessed 12 Jan. 2024.
Mehra, Rekha. "Women, Empowerment, and Economic Development." The Annals of the American Academy of Political and Social Science, vol. 554, 1997, pp. 136–49. JSTOR, http://www.jstor.org/stable/1049571. Accessed 10Jan. 2024.
Misra, Jugal Kishore. "EMPOWERMENT OF WOMEN IN INDIA." The Indian Journal of Political Science, vol. 67, no. 4, 2006, pp. 867–78. JSTOR, http://www.jstor.org/stable/41856270. Accessed 12 Feb. 2024.
MISHRA, NRIPENDRA KISHORE, and TULIKA TRIPATHI. "Conceptualising Women's Agency, Autonomy and Empowerment." Economic and Political Weekly, vol. 46, no. 11, 2011, pp. 58–65. JSTOR, http://www.jstor.org/stable/41151972. Accessed 11Jan. 2024.
Natasha Primo. "Women's Emancipation: Resistance and Empowerment." Agenda: Empowering Women for Gender Equity, no. 34, 1997, pp. 31–44. JSTOR, https://doi.org/10.2307/4066241. Accessed 02 Jan. 2024.
https://wcd.nic.in/
https://www.un.org/sustainabledevelopment/gender-equality/

The Influence of Patriarchal Society on the Reconstruction of Feminine Identity in the Selected Novels of R. K. Narayan and Mulk Raj Anand: A Comparative Study

PRADEEP KUMAR SINGH
Research Scholar, Deptt. Of English Shri Venkateshwara University, Gajraula, Amroha, UP
Dr. ANIL SIROHI
SUPERVISOR
Deptt. Of English Shri Venkateshwara University, Gajraula, Amroha, UP

Abstract—The study compares how patriarchal culture affects the reconstruction of the feminine self in several novels by top Indian authors R.K. Narayan and Mulk Raj Anand. The writers examine social dynamics and cultural influences to highlight the difficulties women face when redefining themselves in patriarchal societies. In The Guide and The Dark Room, R.K. Narayan portrays women within Indian culture. Rosie and Savitri show how women struggle to escape cultural norms. Rosie breaks patriarchal norms by becoming a dancer, and Savitri's journey from modest housewife to confident woman illustrates women's challenges. Mulk Raj Anand's Untouchable and Two Leaves and a Bud graphically show how patriarchy affects women. Female tea plantation workers, Bakha's sister, and other Anand characters represent women's oppression and exploitation due to class hierarchies and societal norms. The characters' fight for equality and dignity is shaped by class and gender relations. The study uses secondary and qualitative research methods and pragmatism to understand the reconstruction of the feminine character in these two authors' novels. As the discussion and analysis section shows, both authors wanted to show women's efforts to escape their misery by empowering them because they could not make independent decisions. Both authors discuss how patriarchal ideas and social norms shape feminine identity and women's struggles for self-discovery, independence, and empowerment. Narayan and Anand's female protagonists challenge social norms and fight for equality.

Index Terms—feminine identity, patriarchy, feminism, pragmatism

I. INTRODUCTION

Famous Indian authors R.K. Narayan and Mulk Raj Anand both frequently explore the societal dynamics and cultural influences of respective eras in their writing. Both authors have highlighted the impact of patriarchal culture on the rebuilding of feminine identity in their novels, which is a prominent literary issue. While the present study has been aimed at the determination of the influence of the patriarchal society on the feminine identity, the use of comparison is done in the present case where some selected novels of the two authors are compared to determine the main aspect of the novel. In the Literature review section, a comparative evaluation of the different themes arising from the selected novels of the two authors and the main influence of the patriarchal society on the reconstruction of the feminine identity within the novel are described through the same. A. Character Portraying of the Two Authors In the novels of the author R.K. Narayan, the women characters are portrayed as typical conservative Indian women where the presence of a head character in the family in the form of male has been evident. In his fictitious hamlet of Malgudi, R.K. Narayan frequently depicts the archaic and conservative social conventions that influence women's life. One of his well-known works, "The Guide," sheds light on Rosie's hardships as a gifted actor and dancer. A patriarchal culture rejects Rosie's efforts to defy norms and follow her passion and judges her for doing so. Her journey serves as a metaphor for the difficulties women have while attempting to reimagine their feminine selves outside of the traditional roles (Akhter & Devi, 2022). Savitri, a character in "The Dark Room," is a lady stuck in an unpleasant marriage. Narayan emphasised how Savitri's attemptd to show her uniqueness are impeded by society conventions and how her identity is defined by her roles as a wife and mother. The novel has illustrated how patriarchy affects women's decisions and agency, which results in a struggle for self-awareness and empowerment.

B. Comparison of Similarity and Differences Between the Two

In general, R.K. Narayan and Mulk Raj Anand use their works to highlight how patriarchal ideals and societal conventions define and limit feminine identity. They show how women must

overcome obstacles and exercise their agency in order to reimagine who they are in the face of these limitations. These authors provide insights into the continuous battle for gender equality and empowerment through their writing, which also illuminates the complexity of the female experience in a patriarchal culture.

C. Main Revelations in the Study

The present study is developed based on the comparative analysis of the impact of the patriarchal society on the women in their novels. The literature review section aims to determine the aspect of reconstruction of the feminine identity and in the Indian context. As indicated in the present section, it can be described that there has been an impregnable impact of the patriarchal society on women and their freedom. The methodology section describes the process of the secondary data collection and comparative analysis where the research objectives are stated before that. From the understanding of the different aspects of the selected novels of the two writers, the description of the results based on the discussion is presented in the results and discussions.

II.REVIEW OF LITERATURE

A. Definition of Reconstruction of Feminine Identity

The term "reconstruction of feminine identity" refers to the process of redefining and remaking women's roles, representations, and societal perceptions during a certain historical period or cultural setting. The "Reconstruction of Feminine Identity" refers to the changes and developments in how women were regarded and presented in society, particularly in theatre and public life. Women's responsibilities and visibility changed during this time period. Following a period of Puritan rule in which women's engagement in theatre and public life was restricted, the Restoration ushered in a period in which women began to participate more actively in the theatrical scene, serving as actresses and playwrights (Meena, 2023).

B. The Concept of Reconstruction Feminine Identity in the Context of India

The concept of reconstruction of feminine identity in the particular context of India has always been perceived in the social, political and economic context in which the particular piece of literature is written. For example, the concept of reconstructing feminine identity especially those relating to the restoration of women's rights, representation, emancipation and social outlook have always been challenged by both male and female writers (Kumar, 2022).

Indian literature has definitely played its due importance in reflecting how some cultural norms and dynamics about the role and responsibility of a woman in regards to her social identity have faced barriers and oppression through the ages. The limitations of social and political rights, orthodox social constraints have been reflected mostly in stories dealing with rustic Indian life (John, 2023). The requirement for recreating feminine identity in the light of that of western philosophy was the common practice among various Indian English authors. However, in the works of both R K Narayan and Mulk Raj Anand the characters always borrow from the mythological archetypes from that of Indian epics like Ramayana and Mahabharata.

C. The Influence of Patriarchal Society on Feminine Identity

The majority of the Indian novelists and authors had very diverse views on the subject of representation of female identity and the "restoration" on the different levels of social hierarchies. R. K. Narayanan and Mulk Raj Anand are among the most notable authors in Indian English literature who have actively sought out interesting and insightful female characters in their works time and time again. The influencer of social perception of patriarchy is in full exposure in both of their work with an undertone that delves into character study. R. K. Narayan's writings, notably his handling of female characters and their changing positions, can be called feminist in nature (Garg, 2023). Despite openly labelling himself as a feminist, his paintings show female characters gradually evolving from traditional, submissive positions to more aggressive and autonomous ones, often questioning societal conventions and expectations. In Narayan's novels, two generations of women are depicted: the elder generation, which adheres to conventional values, conventions, and taboos, and the newer generation, which breaks free from these limitations.

D. Reconstruction of Feminine Identity in Indian Literature

The reconstruction of feminine identity in Anand's work comes in multiple ways. For example, the struggle against patriarchy, superstition and oppression, gender double standards and resistance and self-affirmation. Feminism is a driving force in literary criticism, bringing insights on society standards and women's rights. Women's struggles for identification and uniqueness are portrayed in

Indian English literature, frequently through the portrayal of oppressed female characters.

The main objectives of the research are:

· to understand the basic commonalities of feminine identity with a comparative evaluation of both RK Narayanan and Mulk Raj Anand.

· to identify possible areas of differences between the two authors when dealing with the subject of Patriarchal Society and its variable impact on feminine identity.

III.METHODS

The present study is conducted based on the novels of Mulk Raj Anand and R.K. Narayan where the women characters are portrayed through the discussion of the patriarchy in Indian society. As discussed in the earlier section, both the authors have given subtle explanations of how patriarchal standards mould and deform feminine identity. In their writing, women frequently try to overcome cultural restrictions in search of self-discovery, independence, and autonomy. While criticising the effects of patriarchal society on women's life, Narayan and Anand also show moments of empowerment, resiliency, and resistance.

A. Research Philosophy

The process of pragmatism research philosophy is chosen here in the present research as it enables the researcher to choose the philosophy as per the research problem (Kothari, 2004). The same allows the researcher to understand the aspect of feminine character reconstruction from different angles and the influence of patriarchal society on it.

B. Research Approach

The study employs a qualitative approach. The collection of the data from the different novels like the dark room, the old woman and the cow, guide, and others are described qualitatively in order to portray the typical influence of patriarchal society on the women and their liberty.

C. Sources of Data

The data are collected from both primary and secondary sources. The collection of the different novels in the present study is done based on the central characters of the same where it has been a woman. As an example, the character of Savitri in the dark room has been the central character of the novel who has faced the dominant maltreatment by her husband. The same has been followed in the selection of novels of both the authors.

D. Data Analysis Method

The study is done based on the portrait of the female characters in these novels and the influence of the patriarchal society on their reconstruction. The analysis is employed through the qualitative descriptive method.

IV.RESULTS AND DISCUSSIONS

A. Perspective on Patriarchal Society and Feminism in Novels by Two Writers

Colonial power and the rise of the capitalist economy were mainly led by males in ancient India, as portrayed in "The Guide" by R. K. Narayanan, which had a tremendous impact on the lives of women. In the pre-colonial era, indigenous males and females had different roles in society but those roles were valuable. A patriarchal society is a society where the supreme authority lies at the hand of males in a family or society (Saikia, 2020). A hierarchical and hegemonic relationship is built between males and females over time. Women in a patriarchal family and society are observed as sexual objects their desire, feelings, and wishes are not valued significantly. In "The Guide", it is found that women characters are submissive and they give themselves away to be a mere puppet at the hand of males who hold the authority. The submission of women is the act responsible for empowering the existing system of patriarchal dominance: "My daughter is married to my own sister's son, and so there is no problem. I often visit my sister and also my daughter, and so no one minds it".

B. The Writing Style Used by Anand and Narayan

Anand's writing style is committed to exposing injustice and justice in contemporary Indian society. His writing has touched on several crucial themes such as the distress of suppressed lower casts, economic exploitation, and the plight of women. Photographic description and presentation of his writing style make his themes universally appealing. His "Two Leaves and a Bud" and "Untouchable" are not merely Indian literary pieces, but rather have become universal for their character portrayal. The writer has dealt with the loss of identity for his characters and shown how the characters thrive to regain their existence through prolonged struggle.

"Two Leaves and a Bud" is written on the ground of contemporary social realism which enlightens the inhuman behaviour committed to the labour class and women. The plantation workers expose psychological stigma for surviving over-exploitation. Anand's writing also touches on nature and scenic descriptions of the tea garden at Assam (Khasa, 2023).

C. Feminine Character Development by Two Writers

"The dark room" is a special novel because it deals with women's worries and domestic violence in Indian marital institutions. Narayan has made Savitri, the main female protagonist struggling, who tries hard to gain her own freedom and identity (Madhavaiah, 2022). In Savitri's words, "Men are impetuous. One moment they are all in temper and the next all kindness. Men have to bear many worries and burdens, and you must overlook it if they are sometimes unreasonable."

These lines show the perspective of men at that time. The character development of Savitri raises respect for the character in the mind of the audience. Savitri chastises her husband Ramani for committing an extra-marital affair by calling him impure and dirty. Another work of Narayan, "the guide" is also a masterpiece from the point of view of female characterisation. In this novel, the main character Raju finds comfort in the presence of his mother. Raju's mother, as a typical Indian woman, is careful of daily expenses and rebukes her husband for wasting money on horses (Eve, 2021). Another female character is Rosie who is full of aesthetic traits and loves dancing. Both the characters continue their journey simultaneously with the male characters. Though they are shadowed by their husbands and sons, these female characters contribute to the plot development of the writing of Narayan.

V.CONCLUSION

The study here has effectively highlighted the nature of the patriarchal society in India. The works of the authors who are being considered here for the study shed light on the fact that Indian society is strongly patriarchal in nature. Women in the society have been represented as inferior and largely subjugate its community. This is the core manner in which women characters of the novels of these writers have been portrayed initially. Largely owing to the patriarchal nature of the society, it has been highlighted and underpinned in the study here that women have to suffer immensely and the men and have to face daily torments and issues. Men on the other hand, have the upper hand in the day to day lives, and largely impact the lives of women. It has been shown that initially, women were largely subjugated and controlled by men. Nevertheless, the evolution of women and their journey from being subjugated to being free have been portrayed effectively in the stories of both the authors.

Besides, both these authors have been effectively portraying the plight of women in the society of India. The kind of torture that individual women have had to face from there and sympathetic husbands and her in-laws has been effectively portrayed in the works of Mulk Raj Anand. Further, the works of R. K. Narayan has highlighted the issues that women have to face as a result of them being completely controlled by their male counterparts. The quotations that have been placed above have highlighted the fact that the women had no decision-making powers of their own and had to follow the orders of their male counterparts. In this regard, the authors have highlighted that despite such atrocities and subjugation, the women are able to break through the shackles and succeed in their lives. This is a portrayal of the grit and strength of womankind, which shows that the mean tone of the stories is largely feminist in nature. They completely portray the feminist nature and the feminist notion of freedom of women.

Finally, one of the main themes that have been understood from the narration above is the fact that a juxtaposition of male perspectives and feminine identities are a crucial part of the overall stories of both these authors. These authors make use of male narrators to identify and highlight the plight of women and the issues that are being faced by the feminine gender. Therefore, an appropriate phone is set, which aligns with the requirements of the leaders. This creates a greater impact as well, which is largely a necessity in the storyline. Therefore, through their works, the feminist ideals, and effectively portrayed, as women are shown as representatives of strength and validity, who have the ability to stand against all kinds of cruelty and yet evolve.

REFERENCES

[1]Adhikary, R. P. (2020). Existential Maturity of Savitri in the Dark Room by RK Narayan. UJAH: Unizik. Journal of Arts and Humanities, 21(1), 138-155.

[2]Akhter, T., & Devi, S. (2022). A Perspective of Indian Culture. Culture and Literature, 4(2), 142-160.

[3]Alam, M. N. (2021). Unfold Diary of Downtrodden. Shree Vinayak Publication.

[4]Anand, M. R. (1935). Untouchable. Penguin India; New edition.

[5] Eve, K. R. J. (2021). A Study of Women in RK Narayan's 'The Guide'andChinua Achebe's 'Things Fall Apart'. Turkish Journal of Computer and Mathematics Education, 12(7), 2628-2631.

[6] Garg, S. (2023). Redemption 'As the Main Theme of the Novel the Guide by RK Narayan'. So-

cial Sciences, 1(1), 1002-1004.
[7] Goel, A. (2023). Existential Crisis in RK Narayan's The Dark Room and Mulk Raj Anand's Untouchable. Centre for Language Studies, 4(7), 52-67.
[8] Jarin, T., & Zahin, A. U. R. (2023). Gender Performativity in Inter-Caste Relationship in the Indian Hindu Culture: A Postcolonial Gender Study in Mulk Raj Anand's Untouchable and Arundhati Roy's the God of Small Things. Journal of Women Empowerment and Studies, 3 (2), 23-32.
[9] Jarin, T., & Zahin, A. U. R. (2023). Inter-Caste Gender Performativity in Indian Hindu Culture: A Postcolonial Gender Study in Mulk Raj Anand's Untouchable and Arundhati Roy's The God of Small Things. Zakariya Journal of Social Science, 2(1), 11-22.
[10] John, M. E. (2023). Discrepant dislocations: Feminism, theory, and postcolonial histories. Univ of California Press.

पौड़ी जनपद में माध्यमिक स्तर की शिक्षा के विकास का विश्लेषणात्मक अध्ययन जनपद पौड़ी के दुगड्डा, जयहरीखाल, नैनीडांडा विकास खण्ड क्षेत्र के माध्यमिक स्तर की शिक्षा के विकास में सरकार द्वारा उपलब्ध करायी जानेवाली विभिन्न पदों में धनराशि का वर्षवार अध्ययन''

-नीरज कुमार कमल
शोधकर्ता, शिक्षा विभाग,
हिमगिरी जी विश्वविद्यालय देरहादून उत्तराखण्ड।

-डॉ.अनूप कुमार पोखरियाल,
शोध निर्देशक, सहायक प्रोफेसर
शिक्षा विभाग, हिमगिरी जी
विश्वविद्यालय देहरादून, उत्तराखण्ड।

शोध का उद्देश्य

सारांश- शोधार्थी द्वारा जनपद पौड़ी के दुगड्डा विकास खण्ड क्षेत्र में सरकार द्वारा उपलब्ध करायी जाने वाली विभिन्न योजनान्तर्गत धनराशियों का वर्षवार अध्ययन करने की दिशा में एक सार्थक कदम उठाने का प्रयास किया गया है। शोध अध्ययन में शोधार्थी द्वारा सन् 2010-11 से 2019-2020 तक राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान के अन्तर्गत सरकार द्वारा पौड़ी जनपद के माध्यमिक स्तर की शिक्षा के विकास हेतु दुगड्डा विकास खण्ड क्षेत्र के समस्त माध्यमिक विद्यालयों को विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत धनराशियों का अध्ययन किया गया है। न्यायदर्श के रूप में शोधार्थी द्वारा छः विकास खण्ड क्षेत्र (दुगड्डा, जयहरीखाल, नैनीडांडा, बीरोंखाल, द्वारीखाल, रिखणीखाल) के समस्त माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में 100 अध्यापकों तथा 100 अभिभावकों का चयन उपलब्धता के आधार पर किया गया है। शोधार्थी द्वारा अध्ययन का परिसीमन उत्तराखण्ड राज्य के जनपद पौड़ी के माध्यमिक स्तर विद्यालयों तक ही किया है। जनपद पौड़ी के अन्तर्गत तीन विकास खण्ड क्षेत्रों (दुगड्डा, जयहरीखाल, नैनीडांडा) के माध्यमिक स्तर के चार विद्यालयों में 100 अध्यापकों तथा 100 अभिभावकों के विश्लेषणात्मक अध्ययन करने से निष्कर्षों के अधार पर यह कहा जा सकता है कि तीनों विकास खण्ड क्षेत्रों में दुगड्डा विकास खण्ड क्षेत्र के माध्यमिक स्तर की शिक्षा के विकास के लिए सरकार द्वारा उपलब्ध कराई जा रही राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान के अन्तर्गत वर्षवार धनराशि सार्थक रूप से अधिक है।

मूल शब्द-

1.जनपद पौड़ी के (दुगड्डा, जयहरीखाल, नैनीडांडा) विकास खण्ड क्षेत्रों के माध्यमिक स्तर के विद्यालयों की शिक्षा व्यवस्था के विकास का राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान के अन्तर्गत विश्लेषणात्मक अध्ययन।

2.जनपद पौड़ी मंे माध्यमिक स्तर की शिक्षा के तीन विकास खण्ड क्षेत्रों (दुगड्डा, जयहरीखाल, नैनीडांडा) में अध्यापकों तथा अभिभावकों द्वारा बुनियादी सुविधाओं की उपलब्धताओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन।

प्रस्तावना- शिशु जन्म से ही हर वस्तु से अनजान होता है। वह हर वस्तु को स्पर्श करके उसकी पहचान करना सीखता है। जन्म के दौरान ही उसकी शिक्षा की शुरूआत उसके परिवार से होती है। परिवार में उसके माता-पिता ही उसके प्रथम शिक्षक होते हैं जिनकी सहायता से वह स्वयं को समाज व वातावरण के अनुसार अपने को ढ़ालना अर्थात अपने व्यवहार में परिवर्तन तथा समायोजन करना सीखता है जिसे औपचारिक शिक्षा कहते है। सीखने की इस प्रक्रिया को ही शिक्षा कहा जाता है। मनुष्य के जीवन में यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

शिक्षा के माध्यम से ही मनुष्य का सर्वांगींण विकास सम्भव हो सकता है क्योंकि बिना शिक्षा के मनुष्य का जीवन निराधार होता है। शिक्षा को ही मनुष्य जीवन की आधारशिला माना गया है। शिक्षा से ही मनुष्य की आदतों, सीखने के कौशलों, शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक तथा व्यक्तित्व विकास किया जाता है।

प्राचीन काल में विद्वानों द्वारा मनुष्य के विकास के लिए शिक्षा को अनिवार्य माना गया है। मनुष्य को ही समाज का निर्माणकर्ता स्वीकारा गया है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते है कि मनुष्य और समाज दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू होते हैं, जो एक दूसरे के बिना अधूरे माने जाते हैं। इन दोनों के सहयोग से ही समाज एवं सुयोग्य राष्ट्र की कल्पना की जा सकती है। यही शिक्षा का एक मूल उदाहरण है। मनुष्य शिक्षा ग्रहण करके समाज में रहकर अपने व्यवहारों में परिवर्तन लाकर ही सुयोग्य समाज एवं कुशल राष्ट्र का निर्माण करने में अपनी अहम भूमिका निभा सकता है।

मनुष्य सुख और शान्ति के लिए जन्म से ही प्रयास करता आया है। अपनी उन्नति के लिए सृष्टि की शुरूआत से ही वह प्रत्यन्तशील है। उसे पूर्ण मानसिक संतुष्टि शिक्षा द्वारा ही प्राप्त हुई

है। शिक्षा के अभाव में मनुष्य का जीवन पशु के समान है। सचमुच शिक्षा से ही मनुष्य को अपने कर्तव्यों का ज्ञान होता है। बिना शिक्षा के वह अपनी अन्तः एवं बाह्य शक्तियों का विकास नहीं कर सकता है। शिक्षा से ही उसे सत् और असत् का ज्ञान होता है। शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य मनुष्य के व्यवहार में परिवर्तन करके उसे अज्ञान से ज्ञान, अंधेरे से रोशनी की ओर अग्रसर करना था।

इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए राज्य सरकारों द्वारा विभिन्न योजनाओं को गति प्रदान की जा रही है जिसमें राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान, मध्याह्न भोजन योजना, विज्ञान सामग्री, विद्यालय की व्यवस्था को चुस्त दुरूस्त बनाए रखने के लिए विद्यालय अनुदान, शैक्षिक भ्रमण, एस0एम0डी0सी0 प्रशिक्षण, गणित किट, अध्यापक प्रशिक्षण, बालिका अभिप्रेरणा, खेलकूद, मार्शल आर्ट, शालासिद्धि, ईको क्लब, एस्ट्रोनॉमी क्लब, एन0एस0एस0, भारतीय रेडक्रॉस समिति आदि प्रमुख हैं।

इतिहास इस बात का गवाह है कि आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक मनुष्य विकास के मार्ग पर लगातार अग्रसर हो रहा है। उसकी प्रगति का आधार शिक्षा को माना गया है। शिक्षा का अधिकार 1 अप्रैल 2010 से भारत में लागू हुआ, जिसमें कक्षा 1 से कक्षा 8 तक (6 वर्ष से 14 वर्ष) की आयु के सभी छात्र-छात्राओं को निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान किया गया है अर्थात् जिसका उद्देश्य सभी छात्रों को प्राथमिक शिक्षा का ज्ञान कराना है।

शोध अध्ययन में शोधार्थी के द्वारा यह जानने का प्रयास किया गया है कि माध्यमिक स्तर पर जनपद पौड़ी के विद्यालयों में ऐसे कौन से तत्व हैं जो शिक्षा के विकास को प्रभावित कर सकते हैं तथा किस प्रकार उनसे निजात पायी जा सकती है। उन सभी कारकों की पूर्ति करके ही शिक्षा के विकास में वृद्धि सम्भव की जा सकेगी।

डॉ0 आर0के0 मुखर्जी- शिक्षा पूर्णतया सैद्धान्तिक और साहित्यक नहीं थी, वरन किसी न किसी कला से सम्बद्ध थी।

मानव को ईश्वर की सर्वोत्तम छवि माना गया है। आज के युग को विज्ञान का युग कहा जाय तो यह अतिश्योक्ति नहीं होगी।

शोध अध्ययन में प्रयुक्त तकनीकी शब्दों का स्पष्टीकरण-

1. तकनीकी शब्दों का प्रयोग किया जाना आवश्यक होता है क्योंकि एक ही शब्द भिन्न-2 अर्थों में प्रयोग किया जाता है।

2. माध्यमिक स्तर- माध्यमिक स्तर पर शिक्षा का अर्थ है विश्वविद्यालयी शिक्षा की तैयारी करना। माध्यमिक स्तर की शिक्षा को 14 वर्ष से 18 वर्ष तक की आयु के छात्र-छात्राओं द्वारा ग्रहण करने का एक मात्र साधन है।

माध्यमिक स्तर की शिक्षा को दो स्तरों में वर्गीकृत किया जाता है। प्रथम स्तर में कक्षा 9 से 10 तक की शिक्षा (उच्च माध्यमिक) तथा द्वितीय स्तर में, कक्षा 11 से कक्षा 12 तक की शिक्षा को (उच्चतर माध्यमिक) कहा जाता है।

क) राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के अनुसार-

कक्षा 9 से कक्षा 12 तक अर्थात् 14 वर्ष से 18 वर्ष तक की आयु वाले छात्र-छात्राओं को शिक्षा प्रदान करने वाले विद्यालयों को उच्चतर माध्यमिक विद्यालय का दर्जा प्रदान किया गया है।

ख) माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952-53)-

23 सितम्बर 1952 को मद्रास विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ0 लक्ष्मण स्वामी मुदालियर की अध्यक्षता में माध्यमिक शिक्षा आयोग का गठन किया था। माध्यमिक शिक्षा, प्राथमिक शिक्षा एवं उच्च प्राथमिक शिक्षा के बाद विश्वविद्यालय में प्रवेश लेने से पूर्व की शिक्षा है।

11 वर्ष से 17 वर्ष तक की आयु के समस्त छात्र-छात्राओं द्वारा माध्यमिक स्तर की शिक्षा ग्रहण की जाती है।

ग) भारतीय शिक्षा आयोग (1964-66)-

सन् 1964 में डॉ0 दौलत सिंह कोठारी की अध्यक्षता में भारत सरकार द्वारा भारतीय शिक्षा आयोग का गठन किया था जिसने अपने प्रतिवेदन को 1966 में जमा किया था। इसमें मानव संसाधनों के विकास, परिवारों की उन्नति, छात्र-छात्राओं के चरित्र निर्माण तथा विशेषकर बालिकाओं की शिक्षा पर अधिक बल दिया गया था।

घ) नई शिक्षा नीति 2020 के अनुसार-

इस नीति के अन्तर्गत मानव संसाधन मंत्रालय का नाम बदलकर शिक्षा मंत्रालय कर दिया गया है। इस नीति का उद्देश्य 2030 तक स्कूली शिक्षा में पूर्व विद्यालय से माध्यमिक स्तर की शिक्षा के सार्वभौमिकरण का लक्ष्य रखा गया है। इस नीति के तहत 5 $ 3 $ 3 $ 4 डिजाइन वाले शैक्षणिक संरचना का प्रस्ताव किया गया है जिसमें 3 वर्ष से 18 वर्ष की आयु वाले बच्चों को शामिल किया गया है। 4 वर्ष का उच्च चरण (या माध्यमिक) ग्रेड 9, 10, 11, 12 की कक्षाओं में शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्रों को

शामिल किया गया है।

3. अध्ययन का महत्व- एक लम्बे वर्षों के संघर्ष व बलिदानों के बाद 15 अगस्त 1947 को भारत विदेशी हुकुमत से आजाद हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त भारत ने विभिन्न क्षेत्रों में विकास के प्रयास किये जिनका परिणाम सार्थक सिद्ध हुआ। जैसे-

विज्ञान के क्षेत्र में उच्च तकनीकी विकास, ज्ञान के क्षेत्र में नवीन योजनाओं का विकास, उत्तम शिक्षा हेतु सरकार द्वारा संचालित की जा रही विभिन्न योजनाओं का विकास आदि इस बात का संकेत देती है कि भारत ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में दिन-रात प्रतिदिन चौगुनी प्रगति करता जा रहा है।

इसी क्रम में हमारे उत्तराखण्ड राज्य ने माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व विकास किया है। इसलिए शोधार्थी ने जनपद पौड़ी के दुगड्डा विकास खण्ड क्षेत्र के माध्यमिक स्तर की शिक्षा के विकास हेतु राज्य सरकार द्वारा राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान के तहत उपलब्ध कराई गई विभिन्न मदों में धनराशियों का वर्षवार विवरण क्या है, को जानने के लिए यह अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

☐शोध समस्या कथन-

''पौड़ी जनपद के माध्यमिक स्तर की शिक्षा के विकास का विश्लेषणात्मक अध्ययन।''

☐शोध अध्ययन के उद्देश्य-

1.माध्यमिक विद्यालयों की बुनियादी सुविधाओं की वर्तमान स्थिति का अध्ययन।

2.माध्यमिक विद्यालयों में सरकार द्वारा उपलब्ध कराई जाने वाली रमसा व समग्र की विभिन्न योजनान्तर्गत धनराशि का वर्षवार अध्ययन करना।

सम्बन्धित साहित्य का अवलोकन-

मनुष्य की दिन प्रतिदिन नवीन ज्ञान की खोज लगातार उपयोगी व सार्थक सिद्ध हुई है। उसको प्राप्त करना कोई सरल कार्य नहीं ह, कड़ी मेहनत की आवश्यकता होती है। सम्बन्धित साहित्यों का अध्ययन परिकल्पनाओं व उपकल्पनाओं के निर्माण में सहायक सिद्ध होता है। इससे शोधकर्ता को शोधकार्य की भूमिका बनाने में मदद मिलती है। शोधकर्ता को सही दिशा में क्रमबद्ध कार्य करने में सम्बन्धित साहित्य सहायक एवं सार्थक सिद्ध होता है।

☐दास, 1971-

माध्यमिक स्तर की शिक्षा के विकास का अध्ययन किया उनके द्वारा अपने अध्ययन का मुख्य उद्देश्य माध्यमिक शिक्षा के विकास में बाधाओं का अध्ययन जानना था। उन्होंने निष्कर्ष में पाया कि माध्यमिक विद्यालयों के शैक्षिक विकास में सरकार कहीं हद तक संचालित योजनाओं का अभाव था।

☐भार्गव, 1981-

माध्यमिक स्तर की शिक्षा के विकास का अध्ययन किया गया इनके द्वारा निष्कर्ष में पाया गया है कि माध्यमिक विद्यालयों में सरकार द्वारा विभिन्न प्रकार की सरकारी योजनाएं कार्यरत तो हैं लेकिन उन योजनाओं का सफल संचालन नहीं हो पा रहा है। जिस कारण माध्यमिक विद्यालयों की स्थिति दयनीय है।

☐डॉ0 रमन के अनुसार-

कोई भी शोधकार्य का लिखित विवरण नियमानुसार तक तक उपयुक्त नहीं माना जाता है जब तक उस शोध से सम्बन्धित साहित्य को आधार उस लिखित विवरण मं न हो।''

☐डब्ल्यू आरबर्न के अनुसार-

किसी भी क्षेत्र का साहित्य उस आधारशिला के सम्मान ही जिस पर सारा भावी शोध कार्यक्रम आधारित रहता है क्योंकि बिना सम्बन्धित साहित्य के सर्वेक्षण द्वारा नींव मजबूत नहीं हो सकती है। शोधकार्य के प्रभावित होगे की सम्मानता बढ़ सकती है।

☐राठौर अनीता (2004)-

माध्यमिक स्तिर के विद्यार्थियों के समन्वय व शैक्षिक उपलब्धि का विद्यार्थियों के समायोजन पर प्रभाव का अध्ययन किया गया। निष्कर्ष ने पाया गया कि माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के समन्वय व शैक्षिक उपलब्धि का विद्यार्थियों के समायोजन पर प्रभाव पड़ता है। जिन विद्यार्थियों के समन्वय क्षमता अधिक थी उनमें शैक्षिक उपलब्धि अधिक पाई गई तथा जिनकी समन्वय समता कम थी उनकी शैक्षिक उपलब्धि पर समायोजन का आंशिक प्रभाव पाया गया अर्थात् माध्यमिक स्तर की शिक्षा की विकास पर आंशिक प्रभाव देखने का मिला।

☐एन0सी0ई0आर0टी0 (2006)

माध्यमिक स्तर की शिक्षा को विकास का अध्ययन करने पर पाया कि विद्यार्थियों का मूल्यांकन न केवल उच्च शिक्षा में प्रवेश कराने वाला घेरा चाहिए बल्कि उन्हें जीवन के हर क्षेत्र में सफलता प्रदान कराने वाला होना चाहिए।

☐अर्जुन लाल (2015)-

अपने शोध अध्ययन ''इफेक्टिव सी0सी0ई0 इन गर्वनमेंट स्कूल्स

ऑफ उत्तराखण्ड के आधार पर निष्कर्ष निकाला कि शिक्षा माध्यमिक स्तर पर शिक्षण अधिगम शिक्षा के विकास हेतु प्रक्रिया के लिए सतत् व व्यापक मूल्यांकन अत्यधिक प्रभावशाली है।

4. अध्ययन की अवधारणाएं-

1.दुगड्डा विकास खण्ड क्षेत्र के माध्यमिक स्तर की शिक्षा के विकास हेतु सरकार द्वारा संचालित राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान के तहत विभिन्न योजनान्तर्गत धनराशियों का वर्षवार अध्ययन करना।

2.दुगड्डा विकास खण्ड क्षेत्र के अन्तर्गत माध्यमिक स्तर की शिक्षा के विकास हेतु अध्यापकों एवं अभिभावकों की सहभागिता का सरकार द्वारा संचालित योजनाओं में सक्रियता का अध्ययन करना।

5. शोध उपकरण-

शोधार्थी द्वारा आंकड़ों को संकलित करने हेतु स्वनिर्मित प्रश्नावलियों का निर्माण किया गया है, जिसमें सरकार द्वारा संचालित राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान के तहत विभिन्न योजनाओं की धनराशियों का वर्षवार अध्ययन किया गया है। शोधार्थी द्वारा प्रदत्तों का संकलन करने हेतु आवश्यक मानवीयकृत अथवा स्वनिर्मित उपकरणों का किया जायेगा।

6. शोध अध्ययन विधि-

प्रस्तुत शोध अध्ययन में सर्वेक्षण विधि का उपयोग किया गया है।

7. समष्टि-

शोध अध्ययन की समष्टि के अन्तर्गत जनपद पौड़ी के दुगड्डा विकास खण्ड क्षेत्र के माध्यमिक विद्यालयों का अध्ययन किया गया है जिनकी कुल सं0 34 है।

8. अध्ययन के चर-

प्रस्तुत शोध में चर के रूप में केवल सरकार द्वारा संचालित विभिन्न योजनान्तर्गत धनराशियों का वर्षवार विवरण ही लिया गया है।

9. न्यायदर्श-

शोधकार्य में न्यायदर्श का चयन उद्देश्यपरक न्यायदर्श विधि से किया गया है जिसमें पौड़ी जनपद के दुगड्डा विकास खण्ड क्षेत्र के 34 राजकीय विद्यालयों में से चार विद्यालयों का चयन किया गया है। चयनित विद्यालयों में विभिन्न योजनाओं का चयन न्यायदर्श के रूप में किया गया है।

10. साख्यिकीय प्रविधियाँ-

शोधार्थी द्वारा प्रस्तुत अध्ययन मंे सांख्यिकीय के अन्तर्गत विश्वसनीय परिणाम निश्चित करने हेतु मध्यमान, प्रतिशत या आवश्यकतानुसार अन्य सांख्यिकीय प्रविधियों का प्रयोग किया गया है।

11. शोध परिसीमन-

प्रस्तुत शोध अध्ययन उत्तराखण्ड राज्य के जनपद पौड़ी के अन्तर्गत दुगड्डा विकास खण्ड क्षेत्र के कुल 4 विद्यालयों में 100 अध्यापकों व 100 अभिभावकों का चयन सर्वेक्षण विधि द्वारा किया गया है।

12. शोध सीमाकंन-

☐प्रस्तुत शोध उत्तराखण्ड राज्य तक ही सीमित किया जाएगा।

☐प्रस्तुत शोध उत्तराखण्ड राज्य में स्थिति पौड़ी जिले के माध्यमिक विद्यालयों तक ही सीमित किया जाएगा।

☐प्रस्तुत शोध पौड़ी जनपद के 6 विकास खण्डों तक ही सीमित किया जाएगा।

13. आंकडों का सारणीयन एवं विशलेषण-

विकास खण्ड क्षेत्र-दुगड्डा

	GIC Kumbhichaur	GIC Sigaddi	GGIC Ghamdan-pur	GIC Kanvghati	GIC Jhandi-chaur
	(Amount in %)	Amount in %)	Amount in %)	Amount in %)	Amount in %)
2010-11	16.2			25.8	
2011-12	26.3		8.5	87.9	
2012-13	92.5		59.3	45.9	
2013-14	93.8	18.0	61.8	33.1	
2014-15	18.8	17.7	31.0	33.9	35.0
2015-16	6.25	38.2	24.3	10.0	55.8
2016-17	17.6	69.8	16.7	32.1	44.1
2017-18	22.8	2.8	23.1	45.6	25.0
2018-19	25.6	67.8	81.0	41.0	69.8
2019-20	44.7	77.00	63.8	40.4	76.9
2020-21	50.9	67.4	67.6	50.4	97.5
2021-22	26.3	67.8	67.9	50.8	72.2

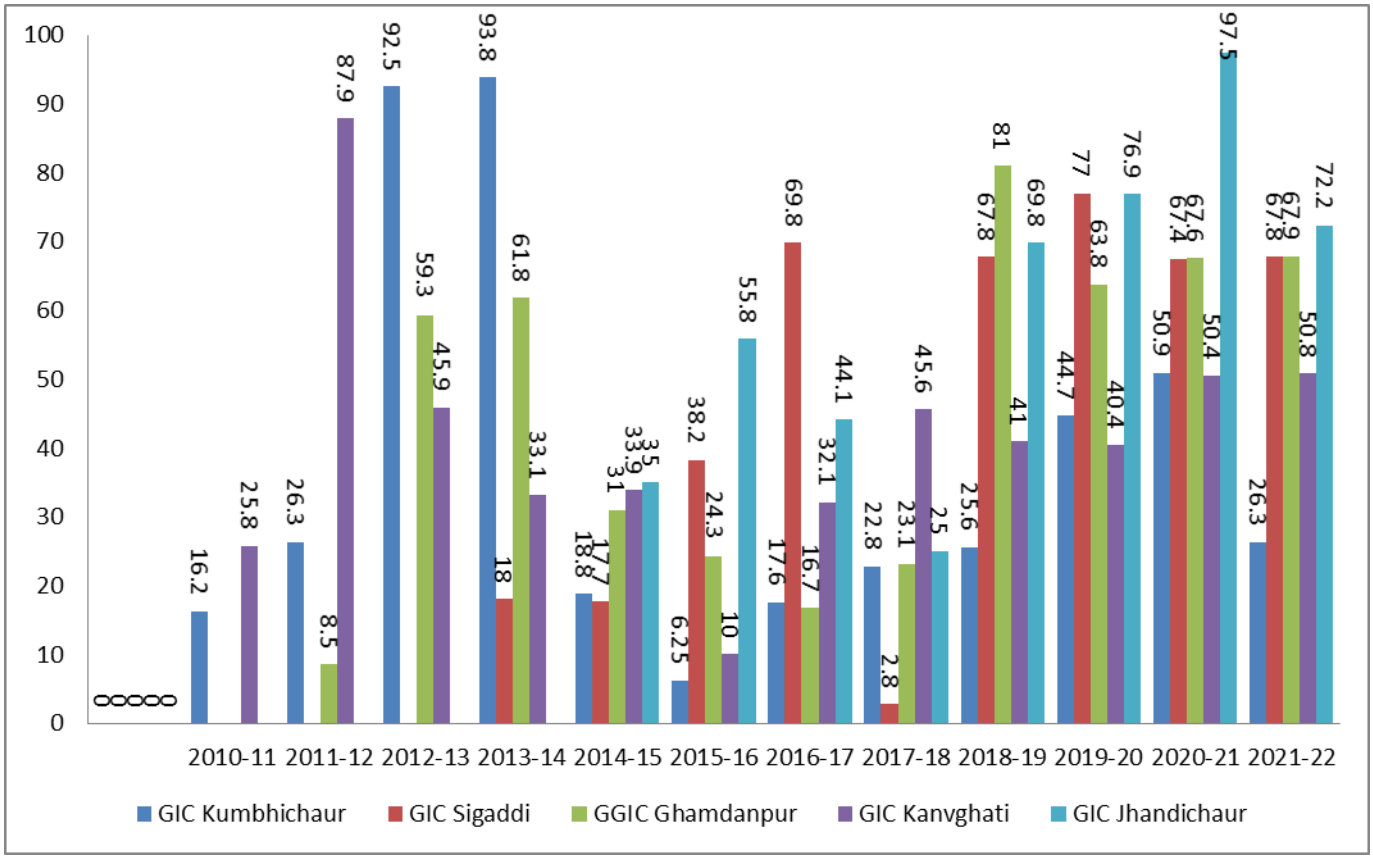

राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान के अन्तर्गत विद्यालयों को प्राप्त धनराशियों का वर्षवार विवरण (प्रतिशत में)

विकास खण्ड क्षेत्र–जहयरीखाल

राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान के अन्तर्गत विद्यालयों को प्राप्त धनराशियों का वर्षवार विवरण (प्रतिशत में)

Year	GIC Thalda	GIC Sauli	GIC Jaiharikhal	GGIC Lalnsdowne	GIC Sumari
	(Amount in %)	Amount in %)	Amount in %)	Amount in %)	Amount in %)
2010-11	14.2			35.8	
2011-12	24.3		9.5	89.9	
2012-13	72.5		49.3	47.9	
2013-14	83.8	15.0	62.8	37.1	
2014-15	18.8	14.7	34.0	43.9	25.0
2015-16	8.25	28.2	27.3	20.0	50.8
2016-17	16.6	79.8	20.7	42.1	45.1
2017-18	20.8	5.8	25.1	47.6	30.0
2018-19	27.6	77.8	85.0	45.0	79.8
2019-20	45.7	79.00	60.8	43.4	89.9
2020-21	49.9	70.4	77.6	55.4	90.5
2021-22	25.3	78.8	87.9	60.8	80.2

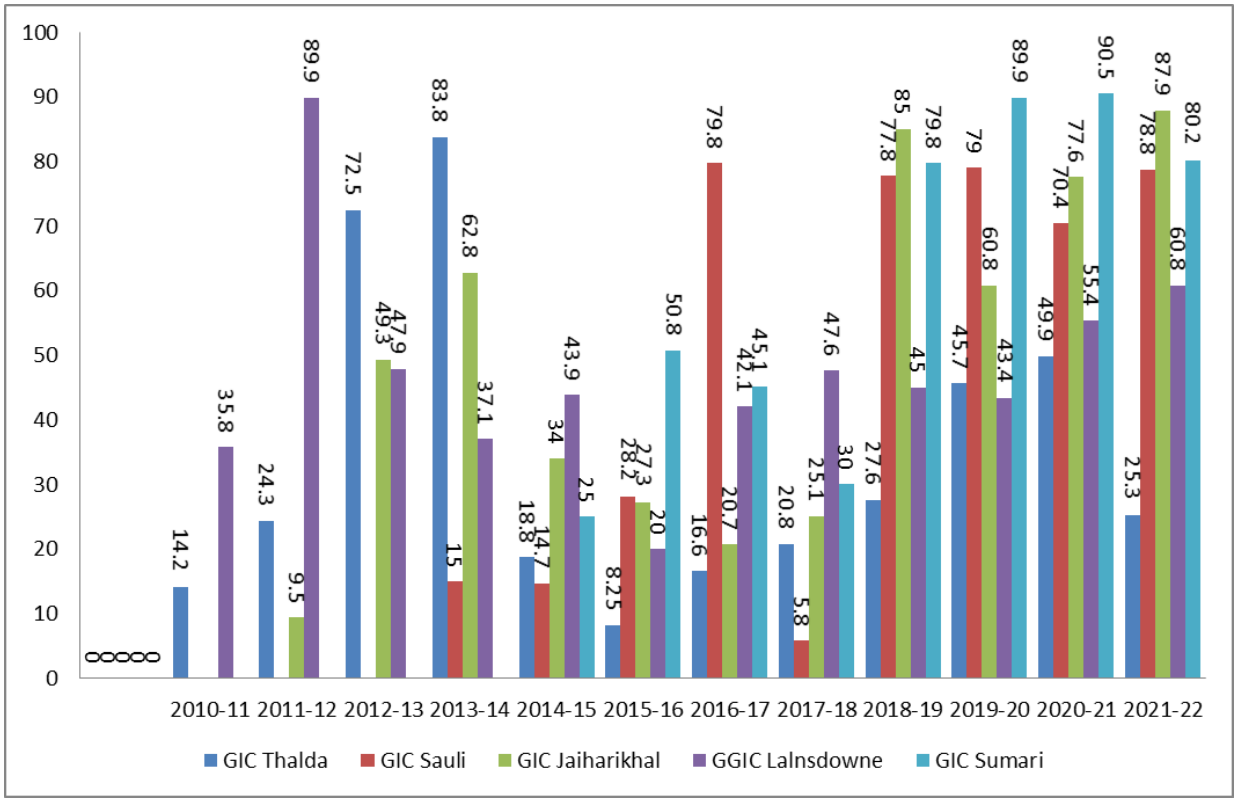

विकास खण्ड क्षेत्र-नैनीडाण्डा

राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान के अन्तर्गत विद्यालयों को प्राप्त धनराशियों का वर्षवार विवरण (प्रतिशत में)

Year	GIC Kahli-yonkhet	GIC Dhumakot	GIC Haldukhal	GHSS Mok-shan	JIC Androli
	(Amount in %)	Amount in %)	Amount in %)	Amount in %)	Amount in %)
2010-11	14.2	20.0			
2011-12	20.3	25.0			
2012-13	82.5	30.0	49.3		
2013-14	80.8	34.0	51.8		
2014-15	20.8	37.7	41.0	23.9	25.0
2015-16	8.25	38.2	34.3	12.0	45.8
2016-17	21.6	69.8	26.7	32.1	34.1
2017-18	25.8	12.8	33.1	35.6	15.0
2018-19	30.6	57.8	71.0	40.0	59.8
2019-20	44.7	67.00	53.8	42.4	66.9
2020-21	50.9	77.4	57.6	48.4	87.5
2021-22	56.3	87.8	66.9	50.8	62.2

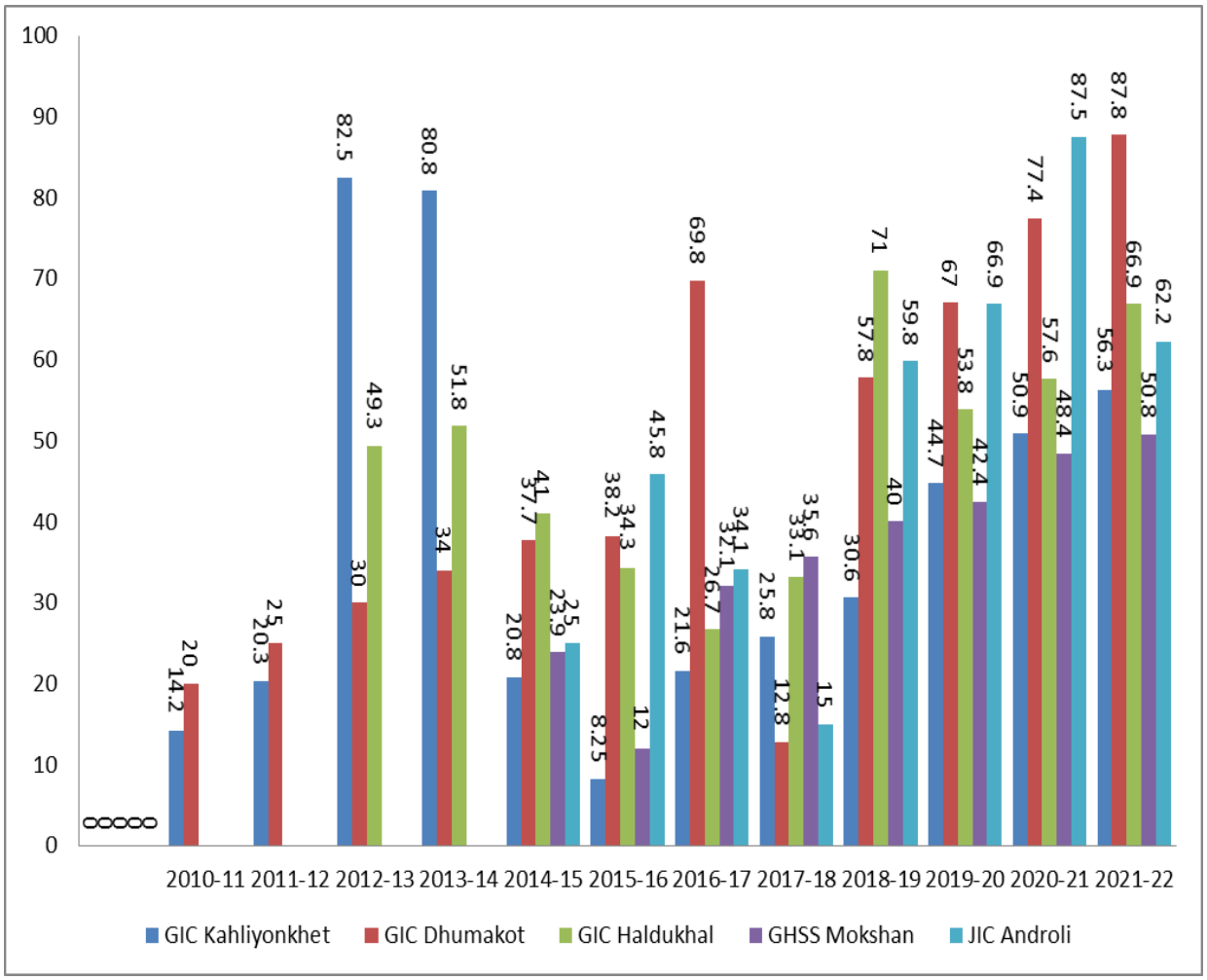

विकास खण्ड क्षेत्र-दुगड्डा

100 अध्यापकों के सर्वेक्षण द्वारा शिक्षा अभियान के अन्तर्गत विद्यालयों को प्राप्त बुनियादी सुविधाओं की वर्तमान स्थिति (प्रतिशत में)

प्र0–1 विद्यालय की वर्तमान स्थिति?

विकल्प	दुगड्डा	
	अध्यापकों की राय	
	संख्या	प्रतिशत
बहुत अच्छी	85	85%
अच्छी	10	10%
दयनीय	5	5%

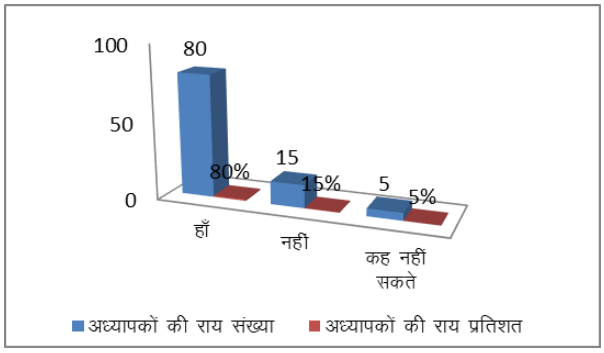

प्र0–2 विद्यालय में पर्याप्त कमरे हैं?

विकल्प	दुगड्डा	
	अध्यापकों की राय	
	संख्या	प्रतिशत
हाँ	80	80%
नहीं	15	15%
कह नहीं सकते	5	5%

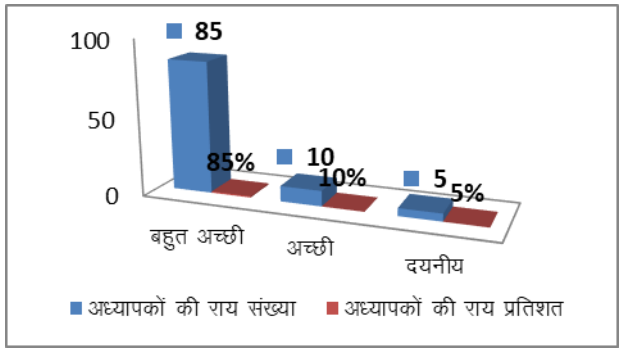

प्र0–3 विद्यालय में कम्प्यूटर की व्यवस्था है?

विकल्प	दुगड्डा	
	अध्यापकों की राय	
	संख्या	प्रतिशत
हाँ	85	85%
नहीं	10	10%
कह नहीं सकते	5	5%

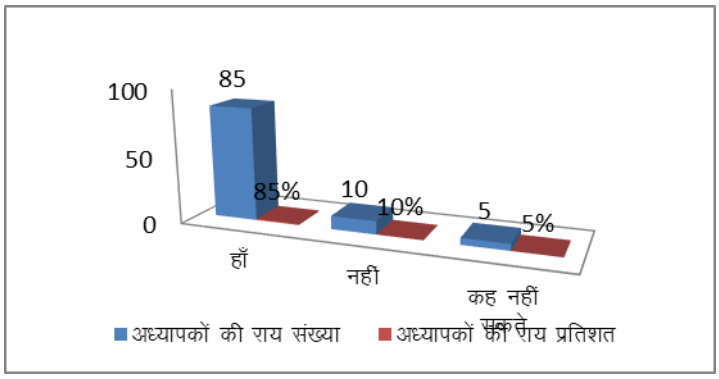

विकास खण्ड क्षेत्र–दुगड्डा

अभिभावकों के सर्वेक्षण द्वारा शिक्षा अभियान के अन्तर्गत विद्यालयों को प्राप्त बुनियादी

सुविधाओं की वर्तमान स्थिति

प्र01–विद्यालय में शिक्षक अभिभावक संघ की बैठक होती है।

विकल्प	दुगड्डा	
	अभिभावकों की राय	
	संख्या	प्रतिशत
नियमित	75	75%
कभी–कभी	20	20%
कभी नहीं	5	5%

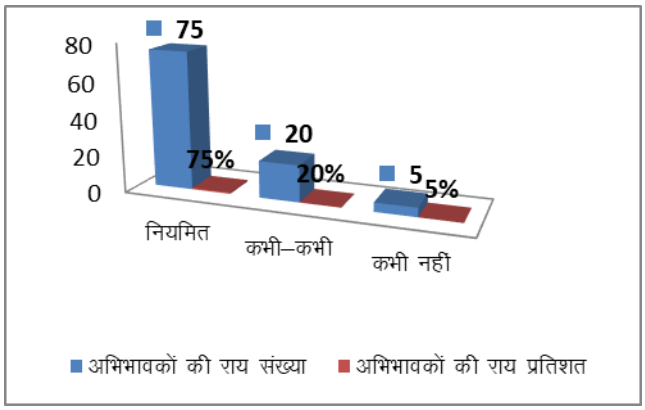

प्र02– क्या आप विद्यालय में अपने बालक बालिकाओं की उपलब्धि से सन्तुष्ट हैं।

विकल्प	दुगड्डा	
	अभिभावकों की राय	
	संख्या	प्रतिशत
हाँ	85	85%
नहीं	10	10%
कह नहीं सकते	5	5%

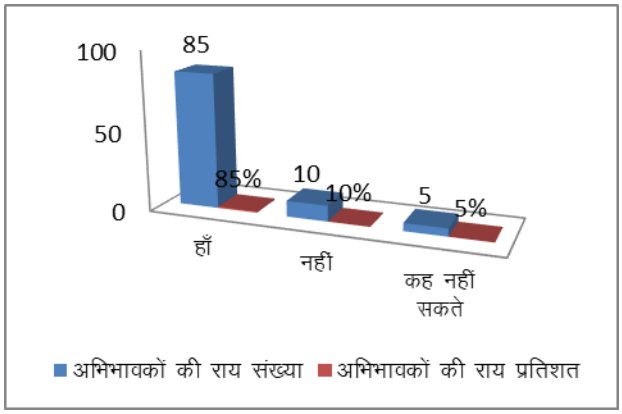

प्र03– क्या विद्यालय में बालक–बालिकाओं की समस्या का समाधान होता है।

विकल्प	दुगड्डा	
	अभिभावकों की राय	
	संख्या	प्रतिशत
हाँ	85	85%
नहीं	10	10%
कह नहीं सकते	5	5%

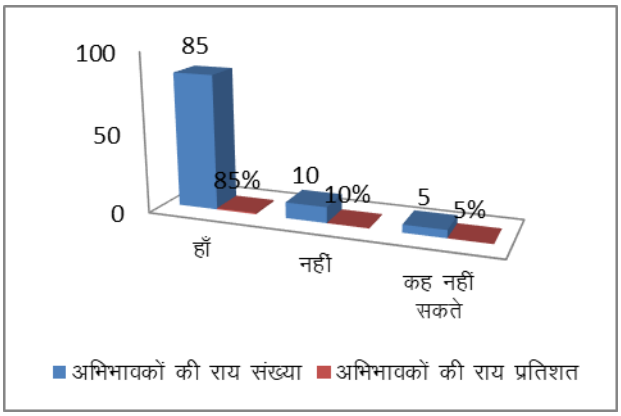

विकास खण्ड क्षेत्र–जयहरीखाल

अध्यापकों के सर्वेक्षण द्वारा शिक्षा अभियान के अन्तर्गत विद्यालयों को प्राप्त बुनियादी सुविधाओं की वर्तमान स्थिति

प्र0–4 विद्यालय में छात्र–छात्राओं के लिए इन्टरनेट की व्यवस्था है?

	दुगड्डा	
विकल्प	अध्यापकों की राय	
	संख्या	प्रतिशत
हाँ	50	50%
नहीं	45	45%
कह नहीं सकते	5	5%

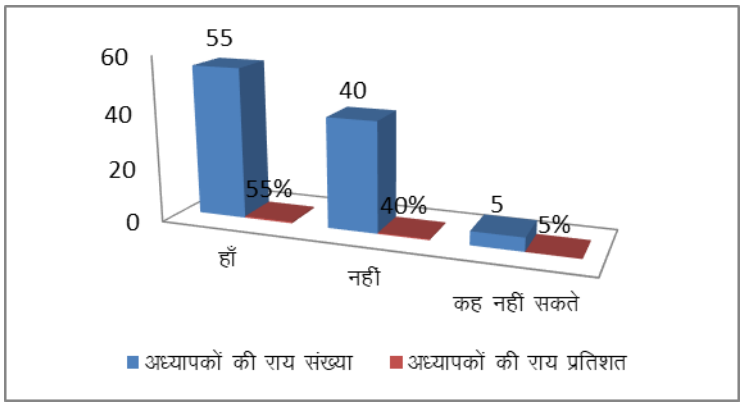

प्र05 विद्यालय में छात्रों के लिए पुस्तकालय की व्यवस्था है?

	दुगड्डा	
विकल्प	अध्यापकों की राय	
	संख्या	प्रतिशत
हाँ	60	60%
नहीं	35	35%
कह नहीं सकते	5	5%

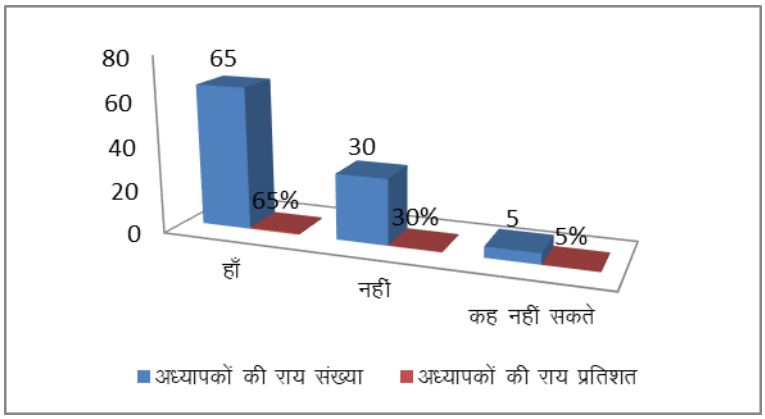

प्र06 सर्वशिक्षा अभियान के द्वारा नामांकन स्तर में सुधार है?

	दुगड्डा	
विकल्प	अध्यापकों की राय	
	संख्या	प्रतिशत
हाँ	80	80%
नहीं	15	15%
कह नहीं सकते	5	5%

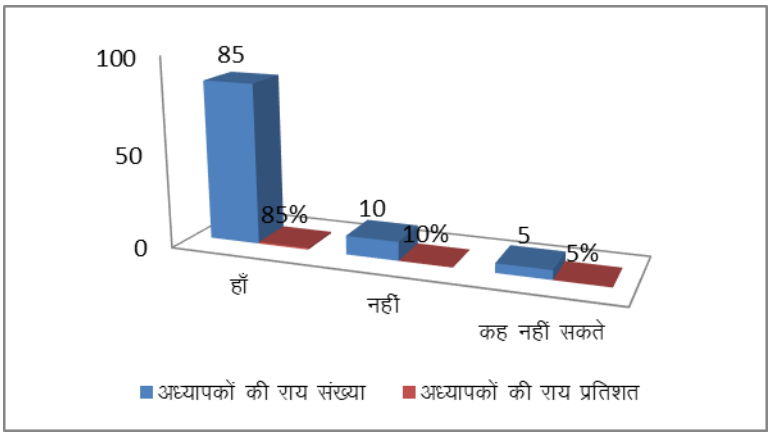

विकास खण्ड क्षेत्र–जयहरीखाल

अभिभावकों के सर्वेक्षण द्वारा शिक्षा अभियान के अन्तर्गत विद्यालयों को प्राप्त बुनियादी सुविधाओं की वर्तमान स्थिति

प्र04– सर्वशिक्षा अभियान के अन्तर्गत किताबें वेशभूषा प्राप्त होती है?

	दुगड्डा	
विकल्प	अभिभावकों की राय	
	संख्या	प्रतिशत
हाँ	85	85%
नहीं	10	10%
कह नहीं सकते	5	5%

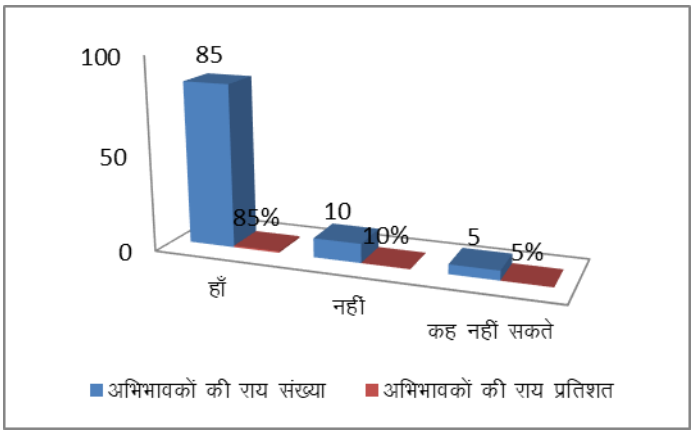

प्र05 वर्तमान में अध्यापकों की संख्या पर्याप्त है।

	दुगड्डा	
विकल्प	अभिभावकों की राय	
	संख्या	प्रतिशत
हाँ	90	90%
नहीं	10	10%
कह नहीं सकते	0	0%

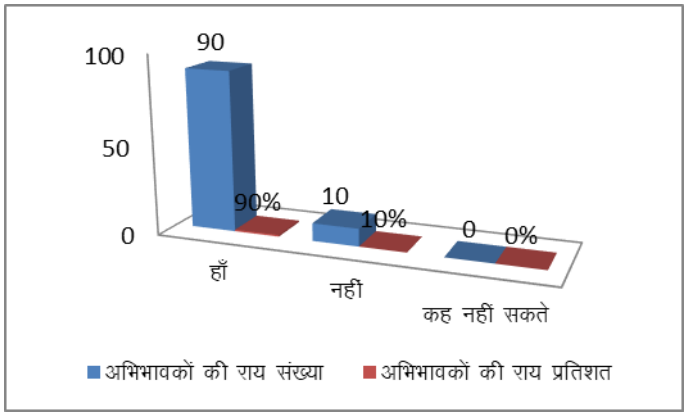

प्र06–विद्यालय में अधिकारियों का निरीक्षण होता है।

	दुगड्डा	
विकल्प	अभिभावकों की राय	
	संख्या	प्रतिशत
हाँ	40	40%
नहीं	55	55%
कह नहीं सकते	5	5%

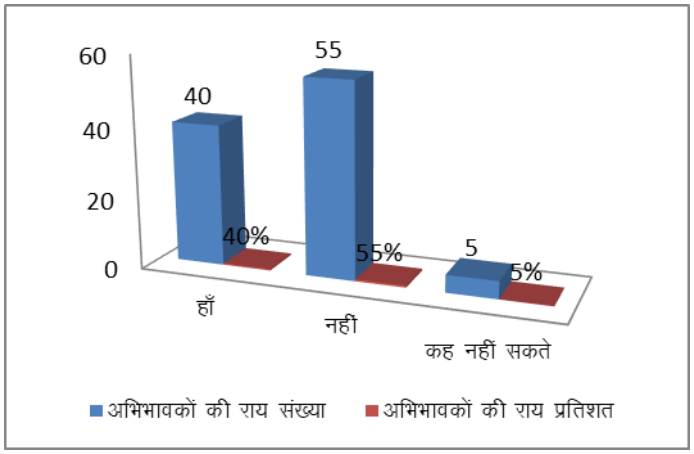

विकास खण्ड क्षेत्र–नैनीडाण्डा

अध्यापकों के सर्वेक्षण द्वारा शिक्षा अभियान के अन्तर्गत विद्यालयों को प्राप्त बुनियादी सुविधाओं की वर्तमान स्थिति

प्र07. विद्यालय में अधिकारियों का निरीक्षण होता है।

विकल्प	दुगड्डा	
	अध्यापकों की राय	
	संख्या	प्रतिशत
नियमित	75	75%
कभी–कभी	20	20%
कभी नहीं	5	5%

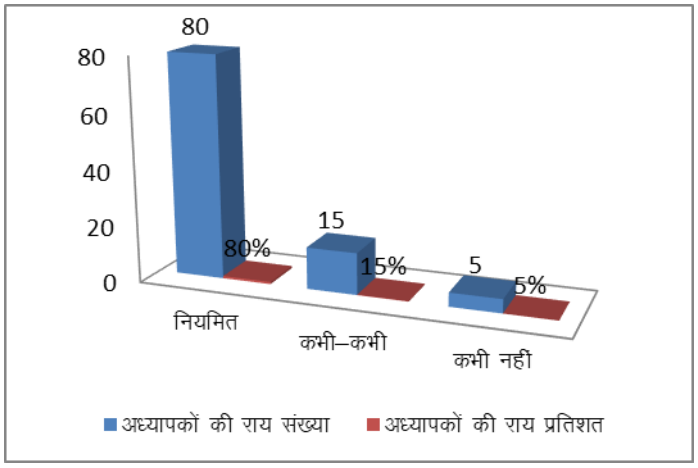

प्र08. विद्यालय में पाठय सहगामी क्रियायें होती है?

विकल्प	दुगड्डा	
	अध्यापकों की राय	
	संख्या	प्रतिशत
नियमित	55	55%
कभी–कभी	40	40%
कभी नहीं	5	5%

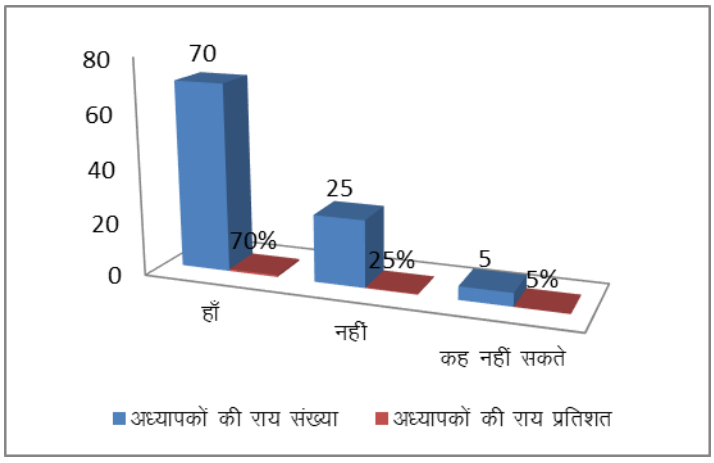

प्र9. विद्यालय में स्थानीय जनता का सहयोग प्राप्त होता है?

विकल्प	दुगड्डा	
	अध्यापकों की राय	
	संख्या	प्रतिशत
हाँ	65	65%
नहीं	30	30%
कह नहीं सकते	5	5%

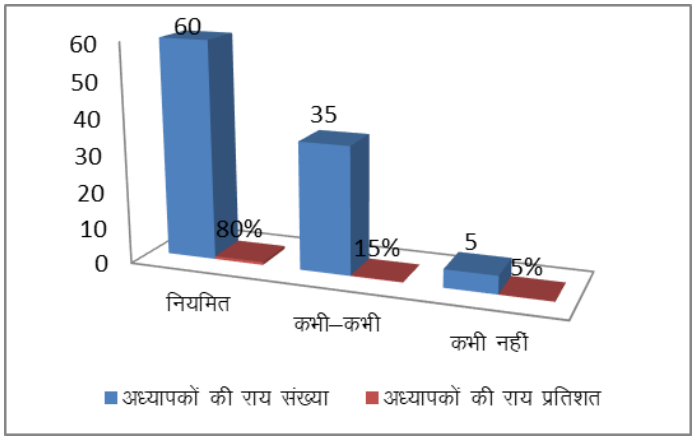

विकास खण्ड क्षेत्र–नैनीडाण्डा

अभिभावकों के सर्वेक्षण द्वारा शिक्षा अभियान के अन्तर्गत विद्यालयों को प्राप्त बुनियादी सुविधाओं की वर्तमान स्थिति

प्र07. विद्यालय में पाठ्य सहगामी क्रियाये होती हैं

विकल्प	दुगड्डा	
	अभिभावकों की राय	
	संख्या	प्रतिशत
नियमित	65	65%
कभी–कभी	30	30%
कभी नहीं	5	5%

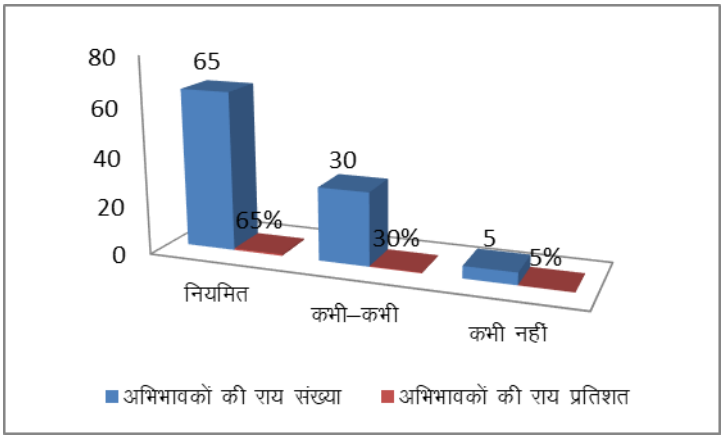

प्र8. विद्यालय में अध्यापकों का सहयोग प्राप्त होता है?

विकल्प	दुगड्डा	
	अभिभावकों की राय	
	संख्या	प्रतिशत
हाँ	70	70%
नहीं	25	25%
कह नहीं सकते	5	5%

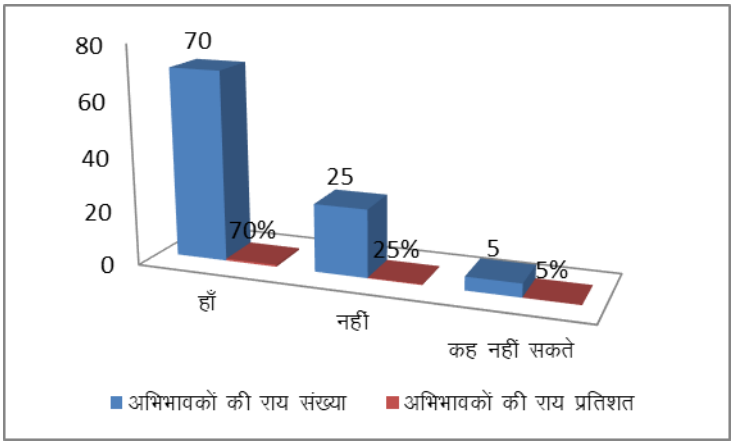

प्र9. विद्यालय में आपके बालक–बालिकायें सुरक्षित महसूस करते हैं।

विकल्प	दुगड्डा	
	अभिभावकों की राय	
	संख्या	प्रतिशत
हाँ	90	90%
नहीं	5	5%
कह नहीं सकते	5	5%

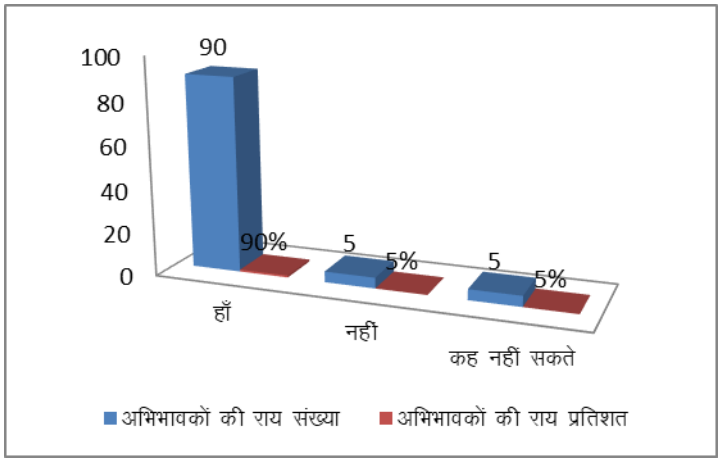

14. निष्कर्ष.

प्रस्तुत शोध अध्ययन में जनपद पौड़ी के अन्तर्गत दुगड्डा विकास खण्ड क्षेत्र में राज्य सरकार द्वारा संचालित विभिन्न योजनान्तर्गत धनरायिों का वर्षवार वितरण से माध्यमिक विद्यालयों की स्थिति का अन्य विकास खण्ड क्षेत्रों की स्थिति में सार्थक अन्तर पाया गया है।

प्रस्तुत शोध अध्ययन में जनपद पौड़ी के अन्तर्गत दुगड्डा विकास खण्ड क्षेत्र में अध्यापकों एवं अभिभावकों के सर्वेक्षण में पाया गया है कि दुगड्डा विकास खण्ड क्षेत्रों के विद्यालयों की स्थिति अन्य विकास खण्ड क्षेत्रों से प्राप्त विद्यालयों में बुनियादी सुविधाओं की स्थिति संतोषजनक एवं अच्छी है।

15. सुझाव.

प्रस्तुत शोध अध्ययन से प्राप्त परिणामों के आधार पर माध्यमिक स्तर की षिक्षा के विकास हेतु राज्य सरकार द्वारा संचालित विभिन्न योजनान्तर्गत धनराशियों का वर्षवार विश्लेषणात्मक अध्ययन के संदर्भ में निम्न सुझाव प्रस्तुत किये जा रहे हैं-

यह परिणाम विद्यालयों के प्रधानाध्यापकों/प्रधानाचार्यों को अपने विद्यालयों की गुणवता सुधारने के लिए राज्य सरकार द्वारा संचालित विभिन्न योजनाओं का अधिक से अधिक लाभ उठाने का संकेत प्रदान करता है।

प्रस्तु अध्ययन का निष्कर्ष प्राप्त विद्यालयों के हित धारकों को प्रेरित करता है कि वे इन विद्यालयों के विद्यार्थियों को सरकार द्वारा संचालित की जा रही विभिन्न योजनाओं का लाभ उठाने के लिए प्रेरित करें ताकि सभी विद्यार्थियों को इनका लाभ मिल सके।

विद्यालय की बुनियादी सुविधाओं के अध्ययन में 100 अध्यापकों व 100 अभिभावकों के सर्वेक्षण में पाया गया कि दुगड्डा विकास खण्ड क्षेत्र के माध्यमिक विद्यालयों की स्थिति अधिक संतोषजनक एवं उत्तम है।

16. सन्दर्भ

1. दास 1971, ए स्टडी ऑफ दि डेवलमेंट ऑफ सेकेण्ड्री एजुकेशन असम यूनिवर्सिटी।

2.भार्गव 1981, हिस्ट्र ऑफ सेकेण्ड्री एजूकेशन इन उत्तर प्रदेश आगरा यूनिवर्सिटी।

3.राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1986

4.मुदालियर आयोग (माध्यमिक शिक्षा आयोग) 1952-53

5.उपाध्याय 1968, ए स्टडी ऑफ दि डेवलपमेंट ऑफ सेकेण्ड्री एजूकेशन मध्यप्रदेश, सागर यूनिवर्सिटी। एन0सी0ई0आर0टी नई दिल्ली।

6.www.shodhganga.inflibnet.ac.in

बी.एड. प्रशिक्षणार्थियों की पर्यावरण शिक्षा में उपलब्धि पर अनुदेशनात्मक आव्यूह एवं निवास पृष्ठभूमि के प्रभाव अध्ययन

-राजीव सांगवान
शोधार्थि (शिक्षा शास्त्र)
श्री वैक्टेष्वरा विश्वविद्यालय
गजरौला,अमरोहा, यू.पी.

-डॉ. लाजमीत कौर
शोध निर्देशिका,
श्री वैक्टेश्वरा विश्वविद्यालय गजरौला,
अमरोहा, यू.पी

सार

प्रस्तुत शोध पत्र ''बी. एड. प्रशिक्षणार्थियों की पर्यावरण शिक्षा में उपलब्धि पर अनुदेशनात्मक आव्यूह एवं निवास पृष्ठभूमि के प्रभाव का अध्ययन'' सर्वेक्षण प्रकृति का है, शोध हेतु न्यादर्श का चयन इन्दौर के दो बी.एड. शिक्षा संस्थानों का चयन यादृ च्छिक विधि से किया गया दोनों शिक्षा संस्थानों के 140 प्रशिक्षणार्थियों का चयन किया गया, एक शिक्षा संस्थान को प्रायोगिक समूह (86) एवं दूसरे शिक्षा सस्थान को नियंत्रित समूह (54) के रूप में चयन किया गया, दोनों समूहों में ग्रामीण पृष्ठभूमि के 65 प्रशिक्षणार्थी एवं शहरी पृष्ठभूमि के 75 प्रशिक्षणार्थी थे। शोधकर्ता द्वारा निर्मित पर्यावरण शिक्षा उपलब्धि परी क्षण से प्रदत्त संकलन तथा विश्लेषण हेतु द्विमार्गीय मार्गीय सहप्रसरण विश्लेषण (Two way ANCOVA) का उपयोग किया गया। शोध निष्कर्ष में पाया गया कि (1) प्रयोगात्मक समूह के प्रशिक्षणार्थियों की पर्यावरण शिक्षा में उपलब्धि नियंत्रित समूह के प्रशिक्षणार्थियों की तुलना में सार्थक रूप से उच्च पायी गई (2) ग्रामीण पृष्ठभूमि एवं शहरी पृष्ठभूमि के प्रशिक्षणार्थियों की पर्यावरण शिक्षा में उपलब्धि के मानों में सार्थक अन्तर नहीं था। (3) अनुदेशनात्मक आव्यूह दोनों निवास पृष्ठभूमि के प्रशिक्षणार्थियों की पर्यावरण शिक्षा में उपलब्धि बढ़ाने में सहायक है एवं नियंत्रित समूह के ग्रामीण पृष्ठभूमि के प्रशिक्षणार्थी, शहरी पृष्ठभूमि के प्रशिक्षणार्थियों की अपेक्षा अधिक उपलब्धि अर्जित करते हैं।

मुख्य शब्दावली–बी.एड. प्रशिक्षणार्थी, पर्यावरण शिक्षा, अनुदेशनात्मक आव्यूह

प्रस्तावना :–

पर्यावरण शिक्षा समाज के विकास एवं प्रगति के लिए महत्वपूर्ण है। ऐसे समय में जब पूरा विश्व पर्यावरण प्रदूषण, प्राकृ तिक आपदा, भूमण्डलीय तापन, हरित गृह प्रभाव, जलवायु परिवर्तन एवं कोरोना जैसी समस्याओं से प्रभावित है, जिससे पृथ्वी पर मनुष्य का जीवित रहना असम्भव हो गया है। ऐसी स्थिति में पर्यावरण शिक्षा की भूमिका और अधिक महत्वपूर्ण हो गयी है। पर्यावरण शिक्षा द्वारा पर्यावरण को सुरक्षित किया जा सकता है।

औचित्य :–

वर्तमान में बढ़ता औद्योगीकरण और अंधाधुंध प्राकृतिक संसाधनो के दोहन ने अनेकों पर्यावरण समस्याओं को जन्म दिया है। अतः समस्याओं के समाधान और इसके प्रति जागरूकता के लिए हमें पर्यावरण शिक्षा पर विशेषध्यान देना होगा। चूंकि व्यक्ति के आस–पास के पर्यावरण का उसकी शिक्षा पर प्रभाव भी पड़ता है, अतः प्रश्न यह उठता है कि क्या ग्रामीण एवं शहरी निवास पृष्ठभूमि के विद्यार्थियों की पर्यावरण शिक्षा में उपलब्धि भिन्न–भिन्न है या समान है? क्या दोनों समूहों के लिए शिक्षण हेतु अध्ययन विधि समान होना चाहिए या भिन्न भिन्न होना चाहिए। प्रत्येक शिक्षक को ऐसी शिक्षण विधि

यों, युक्तियों एवं गतिविधियों का शिक्षण में प्रयोग करना चाहिए, जिससे विद्यार्थियों में पर्यावरण के प्रति ज्ञान, जागरूकता एवं सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित हो सके। जिसके लिए अनुदेशनात्मक आव्यूह प्रभावी हो सकता है। शोधार्थी द्वारा उपलब्धि पर अनुदेशनात्मक आव्यूह की प्रभाविता से संबंधित मिश्रा (2010), शर्मा (2011), कुमार (2012), प्रसाद (2013), शुक्ला (2013), राठौर (2013), पाटीदार (2014), सिंह (2014), अलामी एवं अन्य (2015), राजकुमार (2016), शीजू (2016), श्रीवास्तव (2016), जार्ज (2017), पाटनवाल (2017), त्रिपाठी (2017), कोशी (2018), नैकू (2018), छाबडिया (2019) एवं टोंके (2019) के शोध अध्ययनों की समीक्षा की गई। उपरोक्त शोध अध्ययनों में विभिन्न विषयों पर अनुदेशनात्मक आव्यूह का विकास किया गया एवं उसकी प्रभाविता भी देखी गयी, जो कि विद्यालयीन एवं महाविद्यालयीन स्तर पर किये गए थे, लेकिन बी.एड. स्तर पर पर्यावरण शिक्षा उपलब्धि पर प्रमाविता संबंधित शोध अध्ययन बहुत कम प्राप्त हुए। अतः शोधार्थी द्वारा इस विषय का चयन किया गया जो आज के परिदृश्य में अत्यन्त औचित्यपूर्ण है।

संक्रियात्मक परिभाषा :–

पर्यावरण शिक्षा– प्रस्तुत शोध में पर्यावरण शिक्षा का आशय पर्यावरण के प्रति ज्ञान, जागरूकता एवं सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित करने की प्रक्रिया से है, जिसमें पर्यावरण एवं मानव के पारस्परिक संबंधों, पर्यावरणीय समस्याओं का हल तथा पर्यावरण के संरक्षण एवं संवर्धन की शिक्षा दी जाती है।

अनुदेशनात्मक आब्यूह–प्रस्तुत शोध में अनुदेशनात्मक आव्यूह का आशय पर्यावरण शिक्षा के शिक्षण में उपयोग की गयी चयनित स्व–अधिगम सामग्री, वीडियो, अधिन्यास लेखन, सामूहिक परिचर्चा, भूमिका निर्वाह, वाद–विवाद, समिति चर्चा, विचार मंथन, नुक्कड़ नाटक, पोस्टर निर्माण, व्याख्यान सह प्रदर्शनी, प्रश्नमंच, रचनात्मक कार्य, तात्कालिक भाषण एवं केस अध्ययन शिक्षण विधियों एवं गतिविधियों के समन्वित रूप से है, जिससे शिक्षण उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सके।

पर्यावरण शिक्षा उपलब्धि–प्रस्तुत शोध में प्रशिक्षणार्थियों की पर्यावरण शिक्षा उपलब्धि से आशय शोधकर्ता द्वारा चयनित प्रकरणों (पर्यावरण शिक्षा एवं पर्यावरण, जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण, जैव विविधता, पर्यावरणीय समस्याएँ, मानव पर्यावरण का निर्माणकर्ता या विनाशकर्ता, मानवीय गतिविधियों का पर्यावरण पर प्रभाव, जलवायु परिवर्तन, चिपको आंदोलन, प्राकृतिक संसाधन, सामाजिक वानिकी, ऊर्जा के स्रोत, अपशिष्ट प्रबंधन, पर्यावरण संरक्षण हेतु प्रावधान एवं भोपाल गैस त्रासदी) पर निर्मित पर्यावरण शिक्षा उपलब्धि परीक्षण में प्राप्त प्राप्तांकों से है।

उद्देश्य :–

बी.एड. प्रशिक्षणार्थियों की पर्यावरण शिक्षा में उपलब्धि पर उपचार, निवास पृष्ठभूमि एवं उनकी अन्तक्रिया के प्रभाव का अध्ययन करना जबकि पर्यावरण शिक्षा में पूर्व उपलब्धि को सहचर लिया गया है।

परिकल्पना :–

बी.एड. प्रशिक्षणार्थियों की पर्यावरण शिक्षा में उपलब्धि पर उपचार, निवास पृष्ठभूमि एवं उनकी अन्तर्क्रिया का सार्थक प्रभाव नहीं है, जबकि पर्यावरण शिक्षा में पूर्व उपलब्धि को सहचर लिया गया है।

परिसीमन :–

1.प्रस्तुत शोध रामपुर के बी.एड. प्रशिक्षणार्थियों पर किया गया।

2. प्रस्तुत शोध में अनुदेशनात्मक आव्यूह का विकास बी.एड पाठ्यक्रम के वैकल्पिक विषय ''पर्यावरण शिक्षा'' पर किया गया।

उदाहरण :–

प्रस्तुत शोध के लिए न्यादर्श एम.जे.पी.रु. विश्वविद्यालय, बरेलीसे सम्बद्ध शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों में से रामपुर के दो शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान–रजा कॉलिज रामपुर, तथा हिमालय शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान, शाहबाद के सत्र 2023–2024 के बी. एड. प्रशिक्षणार्थियों का चयन यादृच्छिक तकनीक द्वारा किया गया। न्यादर्श का आकार 140 था, जिसमें प्रयोगात्मक समूह में 86 एवं नियंत्रित समूह में 54 प्रशिक्षणार्थी थे।

शोध अभिकल्प :–

प्रस्तुत शोध अध्ययन प्रयोगात्मक प्रकृति का है, जिसके लिए गैर तुल्य नियंत्रित समूह अभिकल्प (स्टैनले एवं कैम्पवेल, 1963) का उपयोग किया गया। इस अभिकल्प का सांकेतिक विवरण निम्न दिया गया है :

$$\begin{array}{ccc} O & X & O \\ \text{----------} & & \\ O & & O \end{array}$$

जहाँ

O = परीक्षण

X = उपचार

---- = गैर–समतुल्यता प्रदर्शित करता है।

उपकरण :–

प्रस्तुत शोध में बी.एड. प्रशिक्षणार्थियों की पर्यावरण शिक्षा उपलब्धि पर अनुदेशनात्मक आव्यूह की प्रभाविता जानने के लिए शोधकर्ता द्वारा निर्मित पर्यावरण शिक्षा उपलब्धि परीक्षण का प्रयोग किया गया। इस परीक्षण में कुल 60 बहुविकल्पीय प्रश्न थे जिसके लिए 90 मिनट का समय निर्धारित किया गया था।

उपचार :–

शिक्षा अध्ययनशाला, रजा कॉलिज रामपुर, तथा हिमालय शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान, शाहबाद के बी.एड. प्रशिक्षणार्थियों को प्रयोगात्मक समूह में लेकर 30 दिन तक अनुदेशनात्मक आव्यूह द्वारा तथा शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान, के बी.एड. प्रशिक्षणार्थियों को नियंत्रित समूह में लेकर 30 दिन तक परम्परागत विधि द्वारा उपचार दिया गया। अनुदेशनात्मक आव्यूह के अन्तर्गत स्व–अधिगम सामग्री, वीडियो, अधिन्यास लेखन, सामूहिक परिचर्चा, भूमिका निर्वाह, वाद–विवाद,समिति चर्चा विचार मंथन, नुक्कड़ नाटक, पोस्टर निर्माण, व्याख्यान सह प्रदर्शनी, प्रश्न मंच, रचनात्मक कार्य, तात्कालिक भाषण एवं केस अध्ययन गतिविधियों उपयोग किया गया।

प्रदत्त संकलन :–

प्रस्तुत शोध में प्रदत्त संकलन हेतु दो शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों, शिक्षा अध्ययनशाला, रजा कॉलिज रामपुर, तथा हिमालय शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान, शाहबाद को नियंत्रित समूह के अन्तर्गत लिया गया। दोनों समूहों का पर्यावरण शिक्षा उपलब्धि परीक्षण द्वारा उपचार के पहले पूर्व परीक्षण तथा उपचार के बाद पश्च परीक्षण लिया गया।

प्रदत्त विश्लेषण :–

प्रस्तुत शोध का उद्देश्य ''बी. एड. प्रशिक्षणार्थियों की पर्यावरण शिक्षा में उपलब्धि पर उपचार, निवास पृष्ठभूमि एवं उनकी अन्तक्रिया के प्रभाव का अध्ययन करना जबकि पर्यावरण शिक्षा में पूर्व उपलब्धि को सहचर लिया गया हो'', था। यहाँ उपचार के दो समूह प्रयोगात्मक समूह एवं नियंत्रित समूह थे तथा निवास पृष्ठभूमि के दो समूह ग्रामीण एवं शहरी थे। प्रस्तुत उद्देश्य के लिये प्राप्त प्रदत्तों के विश्लेषण हेतु द्विमार्गीय सहप्रसरण विश्लेषण (Two Way ANCOVA) का प्रयोग किया गया। अतः प्रदत्तों का विश्लेषण द्विमार्गीय सहप्रसरण विश्लेषण (Two Way ANCOVA) की अवधारणा की पूर्ति के साथ करने हेतु प्रदत्तों की प्रसामान्यता का परीक्षण कोल्मोगोरव स्मिरनोव परीक्षण एवं शेपिरो विल्क परीक्षण द्वारा किया गया, जिसके प्राप्त परिणाम तालिका क्रमांक 1 में दर्शाये गए है

तालिका क्रमांक 1

उपचार वार एवं निवास पृष्ठभूमि वार प्रशिक्षणार्थियों की पर्यावरण शिक्षा में उपलब्धि फलाकों के प्रसामान्यता परीक्षण का सारां''।

निवास पृष्ठभूमि	उपचार	कोल्मोगोरोव स्मिरनोव			शेपिरो–विल्क		
		Statistic	df	Sig.	Statistic	Df	Sig.
ग्रामीण	प्रयोगात्मक	.097	40	.200	.972	40	.416
	नियंत्रित	.119	25	.200	.960	25	.417
शहरी	प्रयोगात्मक	.125	46	0.70	.961	46	.130
	नियंत्रित	.154	29	.078	.973	29	.634

तालिका क्रमांक 1 से विदित है कि प्रयोगात्मक समूह एवं नियंत्रित समूह के ग्रामीण एवं शहरी पृष्ठभूमि के प्रशिक्षणार्थियों की पर्यावरण शिक्षा में पश्च उपलब्धि के शेपिरो विल्क सांख्यिकी का मान 0.05 सार्थकता स्तर पर सार्थक नहीं है. अतः यह कहा जा सकता है कि स्वतंत्र चर उपचार एवं निवास पृष्ठभूमि के समस्त स्तरों के प्रदत्तों की प्रसामान्यता की अवधारणा संतुष्ट होती है। अतः द्विमार्गीय एनकोवा की मुख्य अवधारणा कि फलांक प्रसामान्यरूप से वितरित होना चाहिए, परिपूर्ण हो रही है। फलस्वरूप आगे एनकोवा की अन्य अवधारणा प्रसरणों की समांगीयता (Homogeneity of variances) का परिणाम तालिका क्रमांक 2 में प्रस्तुत किया गया है–

तालिका क्रमांक 2

उपचार एवं निवास पृष्ठभूमि समूहों में पर्यावरण शिक्षा में उपलब्धि फलाकों के प्रसरणों की समांगीयता हेतु लेवेन्स परीक्षण का साराश

F	df 1	df 2	Sig.
5.109	3	136	.002

तालिका क्रमांक 2 से विदित होता है कि लेवेन्स साख्यिकी में F= 5.109,p=.002, <.05है. जो कि 0.05 सार्थकता स्तर पर सार्थक है। अतः शून्य परिकल्पना ''उपचार एवं निवास पृष्ठभूमि समूहों के स्तरों के पर्यावरण शिक्षा में उपलब्धि फलाकों के प्रसरणों में कोई सार्थक अंतर नहीं है निरस्त की जाती है। चूँकि द्विमार्गी सह प्रसरण विश्लेषण की अवधारणा ''उपचार एवं निवास पृष्ठभूमि समूहों की पर्यावरण शिक्षा में उपलब्धि फलाकों के प्रसरणों की समानता की अवधारणा'' परिपूर्ण नहीं हो रही है, इसलिए द्विमार्गी सह प्रसरण विश्लेषण लगाना उचित नहीं है। अतः अप्राचलिक द्विमार्गीय सहप्रसरण विश्लेषण (Non Parametric Two Way ANCOVA: Quade Rank ANCOVA) द्व ारा प्रदत्तों का विश्लेषण किया गया। तालिका क्रमांक 3 में क्वेड रैंक एनकोवा के परिणामों को प्रस्तुत किया गया है। तालिका क्रमांक 3 पर्यावरण शिक्षा में पूर्व उपलब्धि को सहचर लेकर बी.एड. प्रशिक्षणार्थियों की पर्यावरण शिक्षा में उपलब्धि पर उपचार निवास पृष्ठभूमि एवं उनकी अंतर्क्रिया के लिए प्रयुक्त अप्राचलिक द्विमार्गीय सहप्रसरण विश्लेषण (क्वेड रैंक एनकोवा)का सारांश

आश्रित चर– अमानकीकृत अवशिष्ट : पर्यावरण शिक्षा में उपलब्धि

स्त्रोत	स्ववतंत्रता की कोटि	वर्गों का योग	वर्गों का माध्य योग	Fमान	सार्थकता स्तर	ईटा वर्ग
उपचार	1	2251.58	2251.58	226.96	0.001	.625
निवासी पृष्ठभूमि	1	33.49	33.49	3.38	.068	.024
उपचार निवास पृष्ठभूमि	1	90.81	90.81	9.15	.003	.063
त्रुटि	136	1349.17	85.92			
योग	139					

तालिका से विदित होता है कि उपचार के लिए समायोजित क्वेड रैंक एनकोवा F का मान 226.96 है, जिसके लिए स्वतंत्रता की कोटि (1.136) पर द्विपुच्छीय सार्थकता का मान 0.001 है जो कि सार्थकता के स्तर 0.05 से कम है अतः सार्थकता के 0.05 स्तर पर सार्थक है। इस प्रकार शून्य परिकल्पना कि ''प्रायोगिक एवं नियंत्रित समूह के प्रशि क्षणार्थियों की उपलब्धि के अमानकीकृत अवशिष्ट के माध्यमानों में कोई सार्थक अंतर नहीं है, कोनिरस्त किया जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रायोगिक समूह के प्रशिक्षणार्थियों के पर्यावरण शिक्षा में उपलब्धि अमानकीकृत अवशिष्ट माध्य (3.21), नियंत्रित समूह के प्रशिक्षणार्थियों के पर्यावरण शिक्षा में उपलब्धि के अमानकीकृत अवशिष्ट के माध्य (–5.05) की तुलना में सार्थक रूप से अधिक है। अतः स्पष्टतः कहा जा सकता है कि अनुदेशनात्मक आव्यूह, प्रशिक्षणार्थियों की पर्यावरण शिक्षा में उपलब्धि बढ़ाने के लिए सार्थक रूप से प्रभावी है। तालिका से विदित होता है कि निवास पृष्ठभूमि के लिए समायोजित क्वेड रेंक एनकोवा F(1.136) का मान 3.38 है, द्वि–पुच्छीय सार्थकता का मान 0.068 है जो कि सार्थकता के स्तर 0.05 स्तर पर सार्थक नहीं है। इस प्रकार शून्य परिकल्पना कि ग्रामीण एवं शहरी पृष्ठभूमि के प्रशिक्षणार्थियों की उपलब्धि के अमानकीकृत अवशिष्ट के माध्य मानों में कोई सार्थक अंतर नहीं है'',

को निरस्त नहीं किया जाता है, अतः यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण एवं शहरी पृष्ठभूमि के प्रशिक्षणार्थियों के उपलब्धि के अमानकीकृत अवशिष्ट के माध्य मान में सार्थक अंतर नहीं है। तालिंका से यह भी स्पष्ट है कि उपचार एवं निवास पृष्ठभूमि की अंतक्रिया के लिए क्वेड रैंक एनकोवा F(1.136) का मान 9.15 जिसके लिए द्विपुच्छीय सार्थकता का तान 003 है, जो कि सार्थकता के 0.05 स्तर पर सार्थक है। चूँकि उपचार एवं निवास पृष्ठभूमि की अंतर्क्रिया का प्रशि क्षणार्थियों की पर्यावरण शिक्षा में उपलब्धि पर सार्थक प्रभाव है अतः अतक्रिया को ग्राफ 1.0 में प्रस्तुत किया गया है–

ग्राफ 1.0

उपचार एवं निवास पृष्ठभूमि कीअंतर्क्रिया का प्रशिक्षणार्थियों की पर्यावरण शिक्षा में उपलब्धि पर प्रभाव

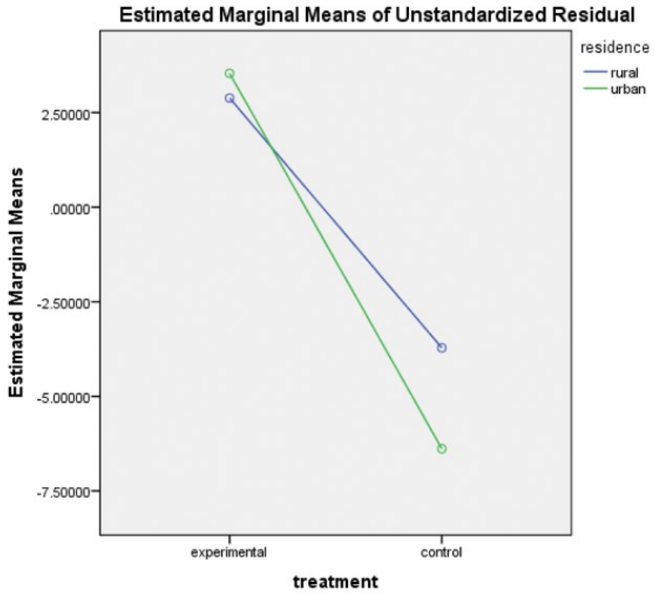

ग्राफ से विदित होता है कि प्रयोगात्मक समूह के दोनों निवास पृष्ठभूमि के प्रशिक्षणार्थियों के अमानकीकृत अवशिष्ट के माध्य प्रायः समान रूप से उच्च हैं। परन्तु नियंत्रित समूह में शहरी क्षेत्र के प्रशिक्षणार्थियों के अमानकीकृत अवशिष्ट के माध्य ग्रामीण के सापेक्ष निम्न है। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अनुदेशनात्मकआव्यूह जहाँ दोनों निवास पृष्ठभूमि के प्रशिक्षणार्थियों की उपलब्धि बढ़ाने में सहायक है वहीं नियंत्रित समूह में ग्रामीण पृष्ठभूमि के प्रशिक्षणार्थियों शहरी पृष्ठभूमि के प्रशिक्षणार्थियों की अपेक्षा अधिक उपलब्धि अर्जित करते हैं।

परिणाम :–

1. अनुदेशनात्मक आव्यूह, प्रशिक्षणार्थियों की पर्यावरण शिक्षा में उपलब्धि बढ़ाने के लिए सार्थक रूप से प्रभावी है।
2. प्रशिक्षणार्थियों की पर्यावरण शिक्षा में उपलब्धि, निवास पृष्ठभूमि के प्रभाव से स्वतंत्र पायी गई।
3. अनुदेशनात्मक आव्यूह दोनों निवास पृष्ठभूमि के प्रशिक्षणार्थियों की उपलब्धि बढ़ाने में सहायक है एवं नियंत्रित समूह में ग्रामीण पृष्ठभूमि के प्रशिक्षणार्थी शहरी पृष्ठभूमि के प्रशिक्षणार्थियों की अपेक्षा अधिक उपलब्धि अर्जित करते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गुप्ता, एस.पी. (2015), अनुसंधान सदर्शिका, शारदा पुस्तक भवन.

2.जॉर्ज, एम. (2017), तार्किक चिंतन कौशल पर आधारित अनुदेशनात्मक आव्यूह की प्रभाविता का माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की सीखना गणित के संदर्भ में अध्ययन (अप्रकाशित पी–एच.डी. शोध, महात्मा गाँधी विश्वविद्यालय)

3.**कोशी, आर. (2018)**, मूल्य विकास पर आधारित अनुदेशनात्मक आव्यूह के प्रभाविता का उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की नैतिक बुद्धि एवं नेतृत्व क्षमता के संदर्भ में अध्ययन (अप्रकाशित पी–एच.डी. शोध, महात्मा गाँधी विश्वविद्यालय)

4.**छाबडिया, एस. (2019),** इन्दौर शहर के शिक्षक प्रशिक्षणार्थियों हेतु पर्यावरणीय शिक्षा पर विकसित अनुदेशनात्मक आव्यूह की प्रभाविता का चयनित संज्ञानात्मक एवं भावात्मक पक्षों से संबंधित चरों के संदर्भ में अध्ययन (अप्रकाशित पी–एच.डी. शोध, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय).

5.**टोंके. एम. (2019)**, निर्णयन चिंतन कौशल चर आधारित अनुदेशनात्मक आव्यूह की प्रभाविता का माध्यमिक स्तर केविद्यार्थियों की सामाजिक विज्ञान में उपलब्धि व प्रतिक्रिया के संदर्भ में अध्ययन (अप्रकाशित पी–एच डी. शोध,देवी अहिल्या विश्वविद्यालय)

6.**मंगल, एस.के. (2005),** शैक्षिक तकनीकी के बुनियादी सिद्धांत और प्रबंधन, लाइल बुक डिपो।

7.**मिश्रा, एस. (2010),** पर्यावरण के प्रति जागरूकता एवं पर्यावरण शिक्षा के विकास में जनसंचार साधनों की भूमिका का अध्ययन (अप्रकाशित शोध प्रबंध, डॉ. राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय)

8.**प्रसाद, आर. (2013),** चंदौली एवं वाराणसी जनपद के माध्यमिक स्तर के आरक्षित एवं अनारक्षित वर्ग के विद्यार्थियों की उपलब्धि अभिप्रेरणा एवं शैक्षिक उपलब्धि का तुलनात्मक अध्ययन, (अप्रकाशित शोध, उत्तर प्रदेश राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय),

9.**राजकुमार,(2016),** तकनीकी शिक्षा संस्थानों में कार्यरत शिक्षकों की शिक्षण दक्षता का विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि, अभिप्रेरणा तथा समायोजन पर प्रभाव का एक अध्ययन (अप्रकाशित पी–एच.डी. शोध, कोटा विश्वविद्यालय).

10.**त्रिपाठी, एस. (2017)**, जौनपुर जिले के माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत छात्रों का उपलब्धि अभिप्रेरण का उनके शैक्षिक उपलब्धि पर होने वाले प्रभाव का अध्ययन इंटरनेशनल जर्नल ऑफ मल्टीडिसप्लीनरी एजूकेशन एंड रिसर्च, 2(2), पृष्ठ, 19–23.

11.**श्रीवास्तव, ए. (2016),** पर्यावरण शिक्षा के लिए नवीन दृष्टिकोण के लिए केएएएसपी प्राप्ति समग्र दृष्टिकोण का विकास और प्रभावशीलता अध्ययन, उत्कृष्ट प्रकाशन गृह,

12.**शीजू, एस (2016),** गणितीय योग्यता बुद्धि पर आधारित समेकित अनुदेशनात्मक आव्यूह की प्रभाविता का माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की व्यवहारिक विकार के संदर्भ में अध्ययन (अप्रकाशित पी–एच.डी. शोध, अलगप्पा विश्वद्यिालय).

13.**शुक्ला, सी (2013)**, समस्या समाधान एवं प्रचार चिंतन कौशल पर आधारित अनुदेशनात्मक आव्यूह एवं परम्परागत विधि की प्रभाविता का उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के विद्यार्थियों की सामाजिक विज्ञान में उपलब्धि एवं प्रतिक्रिया के संदर्भ में अध्ययन (अप्रकाशित पी–एच.डी. शोध देवी अहिल्या विश्वविद्यालय).

14.**सिंह, एन. (2014),** डी.एड. प्रशिक्षणार्थियों के लिये पर्यावरण शिक्षा पर स्व अधिगम सामग्री का विकास करसामग्रीकी प्रभाविता का उपलब्धि एवं प्रतिक्रियाओं के आधार पर अध्ययन (अप्रकाशित एम. फिल, शोध, देवी अहिल्या सामग्री विश्वविद्यालय)

15.Kumar, M.(2012). Effectiveness of ElectronicMedia Based Instructional Strategy to create Environmental Awareness among the secondary school pupils of Kerala.(Unpublished Ph.D. thesis, M. G. University) Strategies and Activities for using local communities as Environmental Education Sites, by Charles E. Roth and Linda G. Lockwood, 1979.

एक दलित डिप्टी कलेक्टर नाटक मीडिया में छाया रहा

प्रोफेसर ओमराज

ईटीवी नेशनल के रिपोर्टर श्री जावेद उस्मानी ने इस नाटक की रिपोर्टिंग की जब इसका मंचन देहरादून में हुआ। इसका प्रसारण राष्ट्रीय स्तर पर हुआ और लोगों के बीच चर्चा का विषय बना रहा। प्रिंट मीडिया के चर्चित न्यूज पेपर अमर उजाला,दैनिक जागरण,नव भारत टाइम्स ,हिंदुस्तान ,पंजाब केशरी आदि ने इस नाटक की भूरी भूरी प्रशंसा की। यह नाटक अपने सशक्त संवादों और कहानी के कारण खूब चर्चित रहा। जनता के जोरदार समर्थन के कारण विरोध कर रहे IAS और PCS अधिकारियों की बोलती बंद हो गई। इस नाटक का लेखक स्वयं एक PCS(Allied) ऑफिसर है। जब किसी काम के लिए जनता का समर्थन मिल जाता है तब रास्ते में आने वाली सारी बाधाएं दूर हो जाती हैं।

दून घाटी रंगमंच देश की एक प्रतिष्ठित नाट्य संस्था है जो देश भर में प्रसिद्ध लेखकों की कृतियों पर रंगमंच करती है। मुंशी प्रेमचंद के कई कहानियों पर नाटक किए और प्रशंसा अर्जित की ।इस संस्था के संस्थापक नाट्य रत्न श्री लक्ष्मी नारायण है।वह नाटकों के डायरेक्टर हैं।सवा सेर गेहूं जहां जहां मंचित हुआ अवार्ड जीते।एक दलित डिप्टी कलेक्टर जहां जहां मंचित हुआ प्रथम पुरस्कार से सम्मानित किया गया। उड़ीसा,बिहार,राजस्थान, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश व अन्य जगहों पर यह नाटक मंचित होता रहा और खूब सुर्खियां बटोरी।

यह नाटक एक ऐसे दलित परिवार की कहानी है जो मजदूर है। दूसरे के खेतों में मजदूरी करके अपने होनहार बेटे को इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम. ए. कराता है।वह बेटा डिप्टी कलेक्टर बन जाता है।उसकी पहले शादी हो चुकी थी और उसके पास एक छह साल की बेटी भी है। उसकी पोस्टिंग ऐतिहासिक नगरी आगरा में हो जाती है। वह वहाँ पर ऊंचे ऊंचे ख्वाब बनाता है । उसके अंदर सुपीरियरिटी कॉम्प्लेक्स आ जाता है। वह अन्य सवर्ण अधिकारियों से कंपटीशन करने लगता है। वहां पर एक सीनियर आई ए एस अधिकारी संता सिंह आगरा का एडमिनिस्ट्रेटर है। वह अपनी बेटी रश्मि सिंह की शादी रतनलाल से कर देता है। वह रतनलाल की फेमिली बैकग्राउंड जानने की कोशिश नहीं करता है। रतनलाल इस सत्य तथ्य को छुपाता है कि वह शादी शुदा है।

लेखक ने एक असहाय और एक नाबालिग़ लड़की का संघर्ष दिखाया है जो अपनी जीविका के लिए समाज के असमाजिक तत्वों और कामुक लोगों की नजरों में चढ़ जाती है। रतनलाल की पहली पत्नी बहुत ही खूबसूरत है।वह पेट पालने के लिए एक जमींदार चतुर सिंह के खेतों में अपने चाचा रामदीन के साथ मजदूरी करती है। जमींदार की कामुक नजर अनुसुइया पर जाती है। वह जबरदस्ती उसके साथ बलात्कार करने की कोशिश करता है। रामदीन और अनुसुइया ठाकुर चतुर सिंह से जोरदार संघर्ष करते हैं। अनुसुइया कहती है

" ठाकुर ,मुझ पर हाथ मत लगाना जल जाओगे."

"तू एक पतिव्रता नारी है । मै देखना चाहता हूं कि तुझ मे कितनी आग है। मैं तुझको पाकर तर जाऊंगा।"

" जो भी पतिव्रता नारी के पास आया है वह तरा नही मरा है।मैं काली, चंडी और दुर्गा का रूप हूं। ये सभी दलित महिलाएं थी। उन्होंने कामुक लोगों का संहार किया था ।"

अनुसुइया सदैव अपनी रक्षा के लिए अपने पास गड़ासा रखती थी। चतुर सिंह से संघर्ष करते उसको मार देती है लेकिन स्वयं मारी जाती है। इस नाटक का यह डायलॉग दलित नारियों को प्रेणना देता है संघर्ष करने के लिए-

" मैं काली,चंडी और दुर्गा का रूप हूं।ये सभी दलित महिलाएं थी।"

नाटककार की लेखनी परिस्थितियों को लेकर चलती है। सभी अवसरों पर पेन से स्याही नहीं बल्कि आग उगलती है। नाटक के जो पात्र लेखक ने चुने हैं वे सभी इसी समाज में रहते हैं। वास्तव में ऐसा लगता है कि यह एक सत्य घटना है ,इसके पात्रों के नाम परिवर्तित कर दिए गए हैं।यही लेखनी का कमाल है।

आज की दुनिया पैसे की दौड़ में कुछ भी करने को तैयार है। मान मर्यादा,मानवता और सामाजिकता उसके लिए कोई मायने नही रखती है। वह संसार की तड़क भड़क और शान शौकत में इतना डूब गया है कि वह अपने वृद्ध माता पिता को सहारा देना बिल्कुल भूल गया है। वर्तमान समय में लड़के विदेश में निवास करने लगते हैं। मां बाप के मरने पर भी देश नहीं आते हैं।पड़ोसियों से कहते हैं कि वे सारा क्रिया कर्म कर दे मैं पैसा भेज दूंगा। इस नाटक में वृद्धों की भी समस्या उठाई गई है। पिता संतु और मां मैकी वृद्धा अवस्था में भी दूसरों के खेतों मैं काम करते है जबकि लड़का डिप्टी कलेक्टर है। नाटककार ने इस अनैतिक और स्वार्थी दुनिया के उच्च शिक्षित लोगों का कुरूप चेहरा दिखाया है।

समाज परिवर्तन केवल अच्छे जननायक और समाज सुधारक ही नहीं करते है बल्कि अच्छे लेखक जो समय और समाज की परख रखते हैं भी करते हैं । नाटककार एवं चर्चित लेखक प्रोफेसर सुरेशचंद का कहना है - " यदि मुंशी प्रेमचंद का उपन्यास गोदान बीसवीं सदी का बेस्ट उपन्यास था तो इक्कीसवीं सदी का बेस्ट उपन्यास सूअरदान है। सोनकर वर्तमान समय में एक बहुत बड़े उपन्यासकार और नाटककार हैं ।डॉ. अजय नावरिया सोनकर पर बहुत बड़ी टिप्पणी करते है- " लेखक रूप नारायण सोनकर की कहानी कफ़न, सद्गति, दूध का दाम और उपन्यास सूअरदान ,नाटक एक दलित डिप्टी कलेक्टर पढ़कर मैं कह सकता हूं कि रूप नारायण सोनकर दलित प्रेमचंद है।" यह एक बहुत ही बड़ी टिप्पणी है। नाट्य संग्रह समाज द्रोही का विमोचन करते हुए प्रोफेसर

नामवर सिंह ने कहा था है- " सोनकर सबसे बड़े दलित लेखक हैं। इनके साथ घर का जोगी जोगड़ा आन गांव का सिद्ध वाली कहावत चरितार्थ न करें।सोनकर के साहित्य की भाषा, शैली और बिंब सराहनीय हैं।" सोनकर एक आत्मकथाकार और कहानी लेखक भी हैं।

राजेन्द्र यादव ने सोनकर को अपने हंस की एडिटोरियल वर्ष 2007 में स्थान दिया था।शायद रूपनारायण सोनकर पहले दलित लेखक हैं जो चर्चित पत्रिका हंस की संपादकीय में स्थान पा सके । उन्होंने उनके नाटकों और आत्मकथा में जो संघर्ष है उसकी प्रशंसा की थी- ". अभी तक जितने भी दलित लेखकों की आत्मकथाएं आई हैं उनमें हाय मार डाला कि चीखें सुनाई पड़ती हैं लेकिन सोनकर की आत्मकथा नागफनी में चीखें सुनाई नहीं पड़ती हैं बल्कि संघर्ष है जिसको अंग्रेजी भाषा में साइलेंट रिवोल्यूशन कहा जाता है।"

उनके नाटक एक दलित डिप्टी कलेक्टर पर डॉ. तेजसिंह कहते हैं- " दलितों में भी कुछ मनुवादी दलित निकल आएंगे जो अपने वैभव और झूठी तड़क भड़क के लिए अपने परिवार की बलि चढ़ा देते हैं ।एक दलित डिप्टी कलेक्टर नाटक उन बेसहारा औरतों का सशक्त पक्ष रखता है। जो अपने ही लोगों द्वारा सताई गई हैं उनको अपने ही घर से निकाल दिया जाता है। नाटककार बहादुरी के साथ ऊंची पोस्ट पर विद्यमान मनुवादी दलित अधिकारियों का पर्दाफाश करता है जो काबिले तारीफ है।"

प्रसिद्ध व चर्चित लेखक ,कवि व आलोचक श्री कंवल भारती रूपनारायण सोनकर के साहित्य की प्रशंसा करते हैं। वे कहते हैं- " अभी तक कोई भी दलित लेखक मिथकों को तोड़ नहीं पाया है लेकिन सोनकर पहले दलित लेखक हैं जिन्होंने मिथकों को तोड़ा है बल्कि नए मिथक भी गढ़े हैं , लोहा लोहे को काटता है। गोदान का विकल्प सूअरदान,गोमूत्र का विकल्प सूअर मूत्र स्थापित किया है। रूप नारायण सोनकर की कहानी कफ़न पर आधारित टेलीफिल्म देखी।बहुत प्रभावित करती है। इसकी पटकथा सोनकर ने लिखी और एक किरदार का अभिनय भी किया।"

एक दलित डिप्टी कलेक्टर के संवाद बहुत ही धारदार हैं। पहली पत्नी अनुसुइया और डिप्टी कलेक्टर रतनलाल के संवाद में एक नयापन है जो समाज की हकीकत को दर्शाता है। रतनलाल कहता है- " देखो, मैने अपनी दूसरी शादी एक वरिष्ठ आई ए एस अधिकारी की लड़की के साथ कर ली है। उन्होंने मुझे शादी में कार और पंद्रह लाख रुपए दिए हैं। कार से मेरी शान शौकत और रुतबा बढ़ जाएगा ,फिर नौकरी में कोई परेशानी पड़ी तो मेरे ससुर उसको सुलझा लेंगे।"

अनुसुइया जवाब देती है- " सभी अधिकारियों के ससुर आई ए एस नहीं होते हैं। सभी लोग ईमानदारी और अपने बलबूते पर नौकरी करते हैं।गलत काम करने वाले ही किसी सहारे की जरूरत ढूंढते हैं आप ऐसे नहीं हैं।"

वास्तव में यह संवाद दहेज प्रथा को उच्च अधिकारियों के बीच उजागर करता है ।समाज में गैर पढ़ें लिखे लोग जो देहातों और शहरों में रहते हैं अपने लड़के की शादी में दहेज की मांग करते हैं। अब उच्च ऑफिसर भी दहेज में मोटी रकम की मांग करते हैं। वास्तव में समाज में दहेज प्रथा एक अभिशाप है जिसको नाटक में उकेरा गया है।

इस नाटक में नाटककार ने समाज को चेताया है कि लड़का और लड़की की शादी करने के पहले उसके परिवार से मिलना चाहिए। दूसरी पत्नी रश्मि सिंह का यह डायलॉग काबिले तारीफ है जो अपने पिता से कहती है-" यदि आप शादी के पहले रतनलाल की छानबीन अच्छी तरह कर लेते इनके पिता से गांव में जाकर मिल लेते तो हकीकत का पता चल जाता ।आपने देहात में जाना मुनासिफ नहीं समझा।"

रतनलाल द्वारा बोले गए एक संवाद में आंशिक सत्यता हो सकती है-" ऐसे बहुत लोग हैं जिनकी शादी बचपन में अनपढ़ और गवार औरतों से हो जाती है,लेकिन ऐसे लोग कलेक्टर, डिप्टी कलेक्टर, इंजीनियर व डॉक्टर बनते ही अपनी पत्नियों को छोड़ देते हैं।ऐसी पत्नियां बंगलों में रहने योग्य नही होती हैं।सिखाने पर भी सीख नहीं पाती हैं। हाई सोसायटी के तौर तरीको से अनभिज्ञ होती हैं,ऐसी बचपन की शादियां अधिकारियों के लिए अभिशाप हैं।"

नाटककार ने बचपन की शादियां जिनको चाइल्ड मैरिज कहा जाता है ,सख्त विरोध किया है। समाज में चाइल्ड मैरिज का दुष्प्रभाव बहुत पड़ता है। देश में इनको रोकने के लिए सरकार को कड़े कदम उठाना चाहिए। उपरोक्त संवाद प्रभावशाली है जो पूरे समाज को आईना दिखाता है।

रतनलाल जब कोर्ट में पिता की गवाही सुनता है और अपने पिता से उसकी नौकरी बचाने की भीख मांगता है। तब पिता संतू कहता है- " अरे! कौन नौकरी करत हो बबुआ?हम का जानी । कबहुं तुम हमका अपने बंगला म रखा हाऊ का।"

वास्तव में बहुत ऐसे ऑफिसर है जो अपने माता पिता को अपने साथ रखने में अपनी तौहीन समझते हैं। नाटककार ने शत प्रतिशत सत्य लिखा है।

जब रतनलाल न्यायालय में अपनी पहली पत्नी को मानने से इंकार करता है ।अपने पिता की गवाही को झुठलाता है तब संतू कहता है -" अरे! बबुआ ,भगवान से डरो । तुम हमरी बहु और अपनी पहली पत्नी अनुसुइया का नहीं जानत हो? तुम हमका पहचानता हो कि नहीं? हम तुम्हार बाप हैं कि नहीं?"

यह एक बहुत ही प्रभावी संवाद है। लेखक की जितनी प्रशंसा की जाए कम है। यह ग्रामीण आंचल में बोली जाने भाषा को प्रतिबिंबित करता है। सत्यता के सामने झूठा साम्राज्य ढह जाता है और रतनलाल को पांच साल की सजा हो जाती है जो जेल में बीतता है।

नाटक बहुत ही मार्मिक है और समाज को जाग्रत करता है। इस आधुनिक युग में परिवार का प्यार खो गया है उसको स्थापित करने का प्रयास करता है । इसमें बोले गए आंचलिक भाषा के संवाद प्रभाव छोड़ते हैं। यह नाटक मंचीय है।

*****

प्राचीन विदेह राष्ट्र की अवधारणा तथा बौद्ध दर्शन का प्रभाव

डॉ चन्द्रशेखर पासवान
बौद्ध अध्ययन एवं सभ्यता संकाय
गौतम बुद्ध विश्वविद्यालय
ग्रेटर नॉएडा &उत्तर प्रदेश

संक्षिप्त सार :

बुद्ध पूर्व काल में मिथिला में धार्मिक अनुष्ठान वैदिक रीति से होता था। लेकिन उपनिषदिक ब्रह्मतत्त्व आत्म ज्ञान ने 'क्षत्रिय समुदाय को ज्यादा प्रभावित कर दिया था । उत्तर वैदिक काल में उत्तर–पूर्व भारत में नई उत्पादन प्रणाली के साथ वर्ण व्यवस्था का भी प्रसार हुआ। समाज में ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों वर्णों की श्रेष्ठता ज्यादा मजबूत हो गई। ऐसे सांस्कृतिक परिवेश में पुरोहित वर्ग का महत्व भी बढ़ा क्योंकि इन वर्णों की श्रेष्ठता के लिए ये वर्ग कर्मकाण्ड करते थे। जिस कर्मकाण्ड में दान आदि से पुरोहितों को संतुष्ट किया जाता था। किन्तु उनकी ध नलोलुप्ता समाज के लिए कष्ट कारक होने लगी, साथ ही अश्वमेघ यज्ञ, राजसूय यज्ञ आदि कर्मकाण्ड भी नीरस, जटिल तथा बाहरी आडम्बर भर बनकर रह गये। ऐसे में वैदिक यज्ञवाद का श्रवण संस्कृति के निवृत्ति मार्ग –सन्यास मार्ग से टकराव होना अवश्यंभावी था। उस समय वैदिक धर्म का विरोध करने वाले सभी आचार्य तथा उपदेश संयासमय जीवन के समर्थक थे। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में अनेक सम्प्रदाय पूर्वोत्तर भारत में अस्तित्व में आ चुके थे। वैदिक धर्म की जीर्ण परम्पराओं तथा विभिन्न परिव्राजकों के अव्यवस्था मूलक उपदेशों के बीच समाज को एक समाधन की आवश्यकता थी। छठी शताब्दी ईसा पूर्व में महात्मा गौतम बुद्ध एवं भगवान् महावीर का जन्म हुआ। गौतम बुद्ध के समय में यज्ञ होते थे जिसका उन्होंने विरोध किया महाजनक–जातक[1] में बुद्ध ने भिक्षुओं से मिथिला के राजाओं की चर्चा करते हुए कहा हैं कि उन्होंने पूर्व जन्म में स्वयं मिथिला में जन्म लिया था। बुद्ध के कथनानुसार 'विदेह राष्ट्र' के अन्तर्गत 'मिथिला' में 'महाजनक' नामक एक राजा राज्य करता था जिसकी राजधनी मिथिला थी।

बीज शब्द : इस शोध लेख में बुद्ध उनका दर्शन प्राचीन विदेह राष्ट्र मिथिला वहाँ का राजा उनका बौद्ध दर्शन के प्रति अनुराग तथा अनुकरण उपोसथ व्रत आर्य अष्टांगिक मार्ग का अनुगमन राजा का राज्य राष्ट्र जनता के प्रति कर्तव्य आदि है।

विस्तृत व्याख्या :

स्वनामधन्य 'मिथिला' प्राचीन युग का वह भूखण्ड जिसे यज्ञाग्नि प्रज्वलित करके राजा विदेघ माथव,[2] महर्षि गौतम एवं अन्य आर्यों द्वारा वास योग्य बनाया गया। मिथिला निमिवंश की राजधनी थी।[3] यहाँ सनातन धर्म की गहरी छाप आज भी परिलक्षित होते दिखाई देती है। यहाँ की अतिप्राचीन युग की धर्मिक स्थिति के बारे में अभी तक कोई पुरातात्विक प्रमाण नहीं मिला है, इसे केवल साहित्यिक स्रोत एवं जनश्रुति पर ही जाना जा सकता है। बौद्ध साहित्य आदि से पता चलता है। भगवान बुद्ध बोधि ासत्व के रूप में मिथिला में बार बार जन्म लेते हैं। जैसा कि विभिन्न जातक कहानियों से पता चलता है ये जातक हैं–महाउम्मग्ग जातक, सुरूचि जातक, महाजनक जातक, मखादेव जातक,निमि जातक आदि। राजा जनक भी क्षत्रिय थे तथा वे महान् दार्शनिक थे उन्होंने अपने वीरतापूर्ण क्षात्रा–धर्म को दर्शनज्ञान के पयोनिधि से शांति और सह अस्तित्व सिद्धान्त की सदा रक्षा की। महाजनक–जातक[4] में बुद्ध ने भिक्षुओं से मिथिला के राजाओं की चर्चा करते हुए कहा हैं कि उन्होंने पूर्व जन्म में स्वयं मिथिला में जन्म लिया था। बुद्ध के कथनानुसार 'विदेह राष्ट्र' के अन्तर्गत 'मिथिला' में 'महाजनक' नामक एक राजा राज्य करता था जिसकी राजधनी मिथिला थी। महाजनक जातक के अनुसार मिथिला में महाजनक कुमार नाम का राजा हुआ जिन्होंने मिथिला का वर्णन बड़ा ही वैभवपूर्ण एवं ऐश्वर्यशाली ढंग से किया है।महाउम्मग्ग जातक[5] में वर्णन है कि मिथिला में विदेह नामक राजा राज्य करता था। महाउम्मग्ग जातक से पता चलता है कि मिथिला के चारों द्वार पर प्राचीन यवमझक, दक्षिण यवमज्झक और उत्तर यवमम्झक चार निगम था। ऐसी ही मिथिला की चर्चा चुलसुत्तसोम जातक ;525 में है। साधीन जातक [6] के अनुसार मिथिला में साधीन नामक राजा राज्य करता था।मखादेव जातक[7] में कहा गया है कि 'विदेह राष्ट्र' में 'मखादेव' नाम का राजा राज्य करता था बाद में उसका बेटा निमि [8] राजा हुआ। विलनक जातक के अनुसार बुद्ध विदेह राष्ट्र के मिथिला नगर में बोधिसत्व के रूप में वहां की पटरानी के कोख से जन्म लेते हैं। इस जातक में भी विदेह को राष्ट्र से सम्बो. धित किया गया है और मिथिला का नगर के रूप में वर्णन है। सघ्खपाल जातक [9] में वर्णन है कि विदेह राष्ट्र में 'मिथिला नगर' है। सुरूचि जातक [10] के अनुसार मिथिला में 'सुरूचि' नाम का राजा राज्य करता था जिसके पुत्रा का नाम 'सुरूचिकुमार' था। महानारद कस्सप जातक में कहा गया है कि 'विदेह राष्ट्र' के 'मिथिला नगर' में अर्धेति नाम का राजा राज्य करता था। उसकी बेटी का नाम रुजा था। उसके तीन मंत्री विजय, सुनाम और अलात थे। अर्धेति राजा के समय में मिथिला में 'कुमुदनी महोत्सव' नामक उत्सव होता था। विदुर

जातक [11] में 'विदेह' की चर्चा है यहाँ राष्ट्र का सम्बोध्न नहीं है लेकिन भौगोलिक दृष्टिकोण से यहाँ पूर्व विदेह [12] ;पुब्ब विदेह के बारे में वर्णन किया गया है कि यह नगर अपरगोयान द्वीप से पूर्व में था। पालि परम्परा के अनुसार [13] चक्रवर्ती राजा चारों द्वीप पर शासन करता है। पहले वह पूर्व दिशा में पूब्ब विदेह पर विजय करता है।[14] इस प्रकार बौद्ध ग्रन्थ जातको में महाउम्मग जातक, सुरूचि जातक, महाजनक जातक, निमि जातक, मखादेव जातक, चुलजनक जातक, विलिनक जातक, गांधर जातक, कुंभकार जातक, साधीन जातक, भूरिदत्त जातक, संखपाल जातक, महानारद कस्सप जातक, विदुर जातक तथा कुछ अन्य जातक जिसकी कथा उपरोक्त जातक में ही वर्णन कर दिया गया है। इसमें विदेहराष्ट्र, मिथिला नगर ;राजध् ानी के रूप में,एवं राजाओं का नाम आदि वर्णित है। दीपवंश[15] के अनुसार मिथिला के प्रथमवंश में नागदेव महिपति नाम का राजा हुआ। उनके पचीस पुत्र–प्रपौत्रों ने मिथिला नगरी को राजधनी बनाकर अपना राजवंश चलाया।मिथिला के द्वितीय राजवंश में सागरदेव नाम का क्षत्रिय राजा हुआ। उसका पुत्रा महानदानपति मखादेव[16] हुआ। दीपवंश में वर्णन है कि –तेसं पच्छिमको राजा सागरदेवो महिस्सरो। तस्स पुत्रो मखादेवो महादानपति अहू। इसके अतिरिक्त श्रीलंका में ऐतिहासिक वंशावली के आधार पर महावंश की रचना हुई है। इस ग्रन्थ में महासम्मत वंश[17] का वर्णन है। जिस वंश में महासम्मत नाम का प्रसिद्ध राजा हुआ। जिस वंश में महामुनि बुद्ध भी अवतरित हुए। इसी महासम्मत वंश में मिथिला नगरी में म खादेव और कलार जनक नाम का राजा हुआ।[18] इस प्रकार उपरोक्त ग्रन्थों से मिथिला के राजवंशों के इतिहास के बारे में हमें पता चलता है उनमें वदेह एवं उसकी राजधनी मिथिला थी।

बुद्ध पूर्व काल में मिथिला में धार्मिक अनुष्ठान वैदिक रीति से होता था। लेकिन उपनिषदिक ब्रह्मतत्त्व आत्म ज्ञान ने 'क्षत्रिय समुदाय को ज्यादा प्रभावित कर दिया था जैसा कि उपरोक्त लिखित बातों से पता चलता है कि राजा जनक भी क्षत्रिय थे तथा वे महान् दार्शनिक थे उन्होंने अपने वीरतापूर्ण क्षात्र–धर्म को दर्शनज्ञान के पयोनिधि से सदा रक्षा की। शांति और सह अस्तित्व उनका सिद्धान्त एवं आदर्श था। भौतिक ऐश्वर्य से उनका ममत्व कमल पत्र पर पड़े जलबिन्दु के समान था। महाभारत में उनके दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है जैसे–'मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किं. चन।'' अपि च भवति मैथिलेन गीतं नगर **मुपाहितमग्निनाभिविक्षय। न खलु मम हि दह्यतेयत्रा किंचित स्वयमिदमाह किल स्म भूमिपाल।**[19] बीतराग जनक के बारे में बौद्ध जातक कथाओं में भी वर्णन आया हैं–''**सुसुखं वत जीवाय येसं नो नअत्थि किंचन। मिथिलाय डह्यमानाय न में किंचि अड्यहथा ति।**[20] अर्थात् अपने मिथिला नगर को अग्नि शिखा में प्र. ज्जवलित देख मिथिलेश जनक ने अविचिलित भाव से कहा कि मिथिला जलता है तो जलने से इसमें मेरा तो कुछ नहीं जल रहा है। इस प्रकार बौद्ध जातक कथाओं में जनक के राज्य विभव के प्रति अनाशक्ति का वर्णन किया गया है।

उत्तर वैदिक काल में उत्तर–पूर्व भारत में नई उत्पादन प्रणाली के साथ वर्ण व्यवस्था का भी प्रसार हुआ। समाज में ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों वर्णों की श्रेष्ठता ज्यादा मजबूत हो गई। ऐसे सांस्कृतिक परिवेश में पुरोहित वर्ग का महत्व भी बढ़ा क्योंकि इन वर्णों की श्रेष्ठता के लिए ये वर्ग कर्मकाण्ड करते थे। जिस कर्मकाण्ड में दान आदि से पुरोहितों को संतुष्ट किया जाता था। किन्तु उनकी ध् ानलोलुप्ता समाज के लिए कष्ट कारक होने लगी, साथ ही अश्वमेघ यज्ञ, राजसूय यज्ञ आदि कर्मकाण्ड भी नीरस, जटिल तथा बाहरी आडम्बर भर बनकर रह गये। ऐसे में वैदिक यज्ञवाद का श्रवण संस्कृति के निवृत्ति मार्ग –सन्यास मार्ग से टकराव होना अवश्यंभावी था। उस समय वैदिक धर्म का विरोध् करने वाले सभी आचार्य तथा उपदेश संयासमय जीवन के समर्थक थे। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में अनेक सम्प्रदाय पूर्वोत्तर भारत में अस्तित्व में आ चुके थे। वैदिक धर्म की जीर्ण परम्पराओं तथा विभिन्न परिव्राजकों के अव्यवस्था मूलक उपदेशों के बीच समाज को एक समाधन की आवश्यकता थी। छठी शताब्दी ईसा पूर्व में महात्मा गौतम बुद्ध एवं भगवान् महावीर का जन्म हुआ। गौतम बुद्ध के समय में यज्ञ होते थे जिसका उन्होंने विरोध् किया था जो कोसलसंयुक्त[21] सुत्त में वर्णित है –''**अस्समेघं पुरिसमेघं सम्मापासं वाजपेयं। निरग्ग. लं महारम्भा न ते होन्ति महाप्पफला।। अजेलका च गावो च विविध यत्थतारे।...**''

यज्ञों के बारे में बुद्ध का कहना था – अश्वमेघ यज्ञ, पुरुषमेघ यज्ञ, सम्यक्पाश, वाजपेय आदि बहुत खर्चीले होते हैं, तथा वे महाफलदायक नहीं होते। बकरे, भेड़े और गायों जैसे विविध प्राणी इमसें मारे जाते हैं। बुद्ध कहते हैं कि हे – भिक्षुओं जिन यज्ञों में प्राणी हिंसा नहीं होती, पुरुष को चाहिए कि वैसा सुयज्ञ करे। क्योंकि सुयज्ञ ;बिना हिंसा वालेद्ध महाफलदायक होता है और इस यज्ञ में यजमान का कल्याण होता है, अकल्याण नहीं होता। वे इस यज्ञ से वृद्धि पाता है और देवता प्रसन्न होते हैं। दूसरी जगह बुद्ध कहते है कि ''हे भिक्षुओं जो यज्ञ के लिए अग्नि सुलगाता है और यूप खड़ा करता है वह तीन दूखत्पादक अकुशल शस्त्रा उठाता है वे है – कायशस्त्र, वाचाशस्त्र और चित्तशास्त्र।

जो यज्ञ का प्रारम्भ कर्ता हैं उसके मन में यह अकुशल विचार आता है कि इतने बैल, बछड़े, गायें, बघियाँ, बकरे, भेड़े मारे जाएँ। इस प्रकार वह सर्वप्रथम अकुशल चित्त शस्त्रा उठाता है। फिर वह अपने मुँह से इन प्राणियों का

बद्ध करने की आज्ञा देता है – और उसे दुखोत्पादक अकुशल वाचाशस्त्रा उठवाता है। इसके अनन्तर उन प्राणियों को मारने के लिए प्रथमतः स्वयं ही उन–उन प्राणियों को मारना शुरू कर देता है और उससे वह दु खोत्पादक कायशास्त्रा उठाता है।[22] यह वचन कह कर बुद्ध एक ब्राह्मण को कहते हैं – हे ब्राह्मण तीन अग्नियाँ त्याग करने, परिवर्तन करने योग्य हैं, इनका सेवन नहीं करना चाहिए। ये है–कामग्नि, द्वेषाग्नि, और मोहाग्नि। जो मनुष्य कामाभिभूत होता है वह काया– वाचा–मनसा से कुकर्म करता है और मरणोपरान्त दुर्गति पाता है। इसी प्रकार द्वेष एवं मोह से अभिभूत मनुष्य भी काया–वाचा–मनसा कुकर्म करके दुर्गति को पाता है। इसलिए ये तीन अग्नियाँ त्यागने और परिवर्तन करने योग्य है, उनका सेवन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार बुद्ध मनुष्य के आचरण एवं प्रकार को बताते हुए कन्दरकसुत्त[23] में चार प्रकार के मनुष्यों का वर्णन करते हुए एक में कहते है कि जो मनुष्य यज्ञ करता है वह अपने को भी कष्ट देता है और अन्य प्राणियों को भी कष्ट देता है। अपने बारे में बुद्ध कहते हैं – जो श्रावक है वह अपने को भी कष्ट नहीं देता तथा दूसरे को भी कष्ट नहीं देता यानी वह आत्मन्तप भी नहीं है और परन्तप भी नहीं है। इस प्रकार बौद्ध धर्म दर्शन ने लोगों को लोक व्यवहार, नैतिक आचरण तथा धर्मपरायणता का पाठ सि खाया। जिसका प्रभाव 'विदेह' मिथिला पर भी पड़ा। मिथिला के विदेहों पर भी बौद्ध धर्म का प्रभाव पश्चाद्वर्ती काल में देखने को मिलता है। इन स्थानों के जनसमुदाय का मस्तिष्क स्वच्छन्द था, और वे प्राचीनवादी आर्य दर्शन के अतिरिक्त अनीश्वरवादी बौद्ध एवं जैन–दर्शनों तथा अन्यों के युक्तिगत विचारों को सुनते तथा उन पर मनन् भी करते थे।[24] इसका परिणाम यह हुआ कि इन क्षेत्रों में ब्राह्मण धर्म के अतिरिक्त अन्य अनीश्वरवादी नास्तिक धर्मों का पनपना दृष्टिगत होने लगा।[25] बौद्ध धर्म नीतिपरक ध र्म था।

एकसत्तात्मक राज्य एवं चक्रवर्तीराजा के स्वरूप का पता दीघनिकाय के चक्क्वत्तिसुत्त एवं महासुदस्सनसुत्त से चलता हैं।[26] बौद्धों के प्रभाव के कारण राज्य में शांति स्थापना के लिए राजा द्वारा प्रचार किया जाता था।[27] ''पाणी न हन्तब्बो, अदिन्नं नादातब्बं, कामेसु मिच्छा न चरितब्बा, मुसा न भासितब्ब, मज्जं न पातब्बं। अर्थात् प्राणियों की हत्या नहीं करनी चाहिए, चोरी नहीं करना चाहिए, व्यभिचार नहीं करनी चाहिए, झूठ नहीं बोलना चाहिए, शराब नहीं पीना चाहिए। यानी बौद्ध गृहस्थों के जो पंचशील है उसका पालन करने के लिए चक्रवर्ती राजा उपदेश देते थे। उस समय की धार्मिक भावनाओं को ज्यादातर जातक कथाओं में वर्णन आया है। उस समय की तपस्वी ऋषि–मुनियों की अनेक कथाएँ आई है। उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग जंगल में जाकर तपश्चर्या करते थे। उनकी तपस्याओं का मुख्य विषय था किसी भी प्रणियों को दुख न देना। ये लोग अकेले या संघ बना कर रहते थे। उनके प्रति लोगों के मत नें बहुत आदर भाव रहता था। श्रवण समाज में आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न करने के लिए कष्ट भी झेलते थे। इन श्रवणों का प्रभाव लोगों पर बहुत था ये श्रवण पूरब में चम्पा, पश्चिम में कुरूओं का देश, उत्तर में हिमालय तथा दक्षिण में विध्य–क्षेत्रा में बरसात के चार महीनें छोड़ शेष आठ महीने घुमते रहते थे और लोगों को उपदेश दिया करते थे।[28] इससे लोगों में यज्ञ के प्रति अनादर एवं तपश्चर्या के प्रति आदर उत्पन्न हुआ।इन श्रवणों की तपचर्या के अनेक प्रकार होते थे। जैसे कि मज्झि जमनिकाय[29] के महासीहनादसुत्त में तपश्चर्या का वर्णन विशेष महत्वपूर्ण है। इसमें एक जगह बुद्ध सारिपुत्र से कहते हैं – हे सारिपुत्र मुझे स्मरण आता है कि मैंने चार प्रकार का तप किया था मैं तपस्वी हुआ, यक्ष हुआ, जुगुप्सी हुआ, और प्रव्रजित हुआ।

भगवान बुद्ध बोधिसत्व के रूप में मिथिला में बार बार जन्म लेते हैं। जैसा कि विभिन्न जातक कहानियों से पता चलता है ये जातक हैं – महाउम्मग्ग जातक, सुरूचि जातक, महाजनक जातक, मखादेव जातक, चुलजनक जातक, विलिनक जातक, महापनाद जातक, गन्धर जातक, कुंभकार जातक, साधिन जातक, संखपाल जातक, महानारद कस्सप जातक, विदुरजातक, निमि जातक आि द। जातक कालीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के अनुशील के पश्चात् तत्युगीन सांस्कृतिक जनपद विदेह एवं उसकी राजधनी मिथिला का विशेष अध्ययन आवश्यक प्रतीत होता है। यद्यपि जातकों में मज्झिमपदेश अर्थात् मध्यदेश के काशी, कोसल, बज्जी, विदेह, मगध, आदि सुविख्यात जनपदों को विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। लेकिन इन जातकों महाजनक जातक, निमि जातक, महानारद कस्सप जातक, मरवादेव – जातक में तो मुख्यतः मिथिला ही मुखरित हुई है, तथा चुलजनक जातक, विलिनक जातक, महापणाद जातक, गांधर जातक, कुंभकार जातक, साधिन जातक, संखपाल जातक में विदेह तथा मिथिला का उल्लेख हैं। बौद्ध जातकों में मिथिला के जनवंशी राजाओं एवं अन्य राज्यों के राजाओं के साथ कई उपासकों का वर्णन आया है। जिनमें निमि, महाजनक, अरिट्ढजनक, पोलजनक, कलारजनक, अंगति, विदेहराजा, दीर्घायु कुमार, महाऔषद, विदेहराजा आदि प्रमुख है।

यह प्रायः सर्वस्वीकृत धरणा है कि चार आर्य सत्य गौतम बुद्ध के उपदेश का सुन्दर सारांश प्रस्तुत करते हैं जो बौद्ध धर्म के मूल आधर माने जाते हैं। जातक कथाओं में भी इसका वर्णन आया है, जिसमें मिथिला के कई राजाओं ने बौद्ध धर्म दर्शन का पालन करते हुए आर्य सत्य का पालन किया। साधिन जातक में साधिन नाम के राजा का वर्णन है – जो कहता है कि – ''मैं यहाँ पुण्य करने के

लिए आया हूँ। मैं यहाँ धर्म ही करूंगा। मैं सम्यक् सम्बुद्ध द्वारा उपदिष्ठ आष्टांगिक मार्ग पर चलूंगा, जिसपर सभी बुद्ध चलते हैं।''

इस प्रकार जातक कथाओं के वर्णन से पता चलता है कि उत्तम लोकों में जन्म लने, चित्त को संयत रख सत्य भाषण, अविहिंसा, मैत्री भाव, प्रत्युपकार, दानशीलता, क्षमा आदि शीलों के सम्यक् पालन से सुगत पफल पाता है, और परिणामस्वरुप उसे स्वर्ग सुख प्राप्त होता है। पुण्य प्राप्त करने पर मनुष्य पूनः दूसरे योनी में जन्म लेकर विविध प्रकार का अनुभव प्राप्त करता है। जातकों में वर्णित मिथिला के राजा ऐसे ही धर्मात्मा थे जिसका प्रभाव वहाँ के जनजीवन पर भी पड़ा। और वहाँ के लोग राजा के उपदेशानुसार दानादि पूण्य कर्म करने पर देवलोक में पैदा होते थे।[30] बुद्धत्व की प्राप्ति के बारे में, कुम्भकार जातक में बताया गया है कि विषय वासना से भरे गृहस्थ जीवन की निस्सारता और सर्वस्य त्याग द्वारा अकिंचनता की प्राप्ति कर, कई राजा यथा कलिंग नरेश करण्डु, गन्धार नरेश नग्गजी, विदेह नरेश निमि, उत्तर पंचालनरेश दुम्मुख प्रत्येक बुद्ध लाभ को प्राप्ति किये। इसी प्रकार मिथिला का राजा बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए अपना सिर मुडा, संघाटी धरण कर, एक कषाय वस्त्र पहन, एक ओढ़, एक कंधे पर रख कर मिट्टी का पात्र थैली में रख, कंधे पर लटका कर, हाथ में दण्ड लेकर हिमालय की ओर प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए चला जाता है और प्रत्येक बुद्ध लाभ को प्राप्त करता है। उसी प्रकार मिथिला का एक वंशकार[31] उपासक प्रत्येक बुद्ध को देखकर उन्हें अपने घर ले जाकर आदर सत्कार करता है और उन्हें वर्षावास के लिए गंगातट पर गुलर की जमीन और बांस की दीवार की पर्णकुटी बनाकर, दरवाजा लगा, चक्रमण भूमि बनाकर दान करता है। वर्षावास की तीन मास की अवधिपूर होने पर वह उन्हें चीवर ओढ़ाकर विदा करता है। निश्चय ही इस उपाधि से मैथिल समाज में प्रत्येक बुद्ध के लिए आदर भाव होने का संकेत मिलता है। जन साधरण के धार्मिक जीवन में प्रधानतः दो प्रकार की भावधारा काम करती दीख पड़ती थी। कुछ लोग जहाँ पूर्वप्रचलित परम्पराओं के अनुसार देवताओं की उपासना में विश्वास करते थे और 'देवधम्मिक' अथवा 'देववतिक' के नाम से अभिहित होते थे, वहाँ दूसरे लोग विभिन्न प्रचलित पंथों का अनुसरण करना ही अध्कि श्रेयस्कर समझते थे और उनकी विशिष्ट गुरू–परंपराएँ भी चला करती थी। देवधम्मिकों की उपासना में भक्ति एवं श्रद्धा का अंश अध्कि रहा करता था। वे प्रायः व्रत रहते थे और अपनी प्रार्थनाओं के बल पर इष्टदेवों को प्रसन्न कर उनसे लाभान्वित होने में भी विश्वास करते थे। जो जैसा उपासक होता था, ठीक उसी के अनुकूल उसके इष्टदेव की कल्पना भी हुआ करती थी और तदनुसार ही उसे व्यक्तित्व भी प्रदान किया जाता था।

उपोसथ व्रत

उपोसथ व्रत वस्तुतः बौद्धों का महत्वपूर्ण पाक्षिक उपवास व्रत है। उपोसथ रूपी पाक्षिक सभाएँ भिक्षुओं के आवासीय जीवन का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्यक्रम था। जातकों में उपोसथ–व्रत की व्यापक चर्चा प्राप्त होती है। मिथिला में महाजनक[32] नाम के राजा को उपोसथ व्रत करते हुए बताया गया है कि यह सब 'धार्मिक रूपी कर्म' है। विदूर जातक[33] के अनुसार शील की रक्षा ही उपोसथ व्रत का मूल है। महाजनक जातक[34] में उपोसथ व्रत के बारे में बताया गया है कि मनुष्य जब अपने अभिप्रायः विशेष की पूर्ति के लिए किसी काम में लगते हैं तो वह पूरा भी होता है और नहीं भी होता है। लेकिन यदि वह यथाशक्ति कर्तव्य पालन के साथ धार्मिक कर्तव्यरूपी उपोसथ व्रत करते हैं तो उसका उद्देश्य निश्चित पूर्ण होता है। सुरूचि जातक के अनुसार यह व्रत चतुदर्शी, पूर्णिमा, पक्ष की अष्टमी, और विशेष दिनों में आष्टांगिक शीलों को ग्रहण कर, उपोसथ व्रत किया जाता था। बौद्ध काल में विभिन्न कामनाओं की पूर्ति के लिए व्रत विशेष सम्पादन के अनेक संदर्भ प्राप्त होते हैं। सुरूचि जातक[35] से पता चलता है कि मिथिला के राजकुमार सुरूचि की पत्नि सुमेघा पुत्रा प्राप्ति की इच्छा से नाना प्रकार के व्रत करती थी। उसने पूर्णिमा उपोसथ के दिन आष्टांगिक शील ग्रहण कर व्रत रखी थी।

राजा की धर्म देसना

एकसत्तात्मक राज्य एवं चक्रवर्तीराजा के स्वरूप का पता दीघनिकाय के चक्क्वत्तिसुत्त एवं महासुदस्सनसुत्त से चलता हैं।जातक कथाओं में राजा के राजधर्म देशनाओं के बारे में यह अभिव्यक्त हुआ है कि राजा को पांचशीलों में प्रतिष्ठित हो कर चार कुरीतियों से बचकर, दस राजधर्मों का धर्माचरण कर राज्य करना चाहिए। दस राजधर्म है – दान, शील, त्याग, आर्जव, मृदुता, तप, अक्रोध, अविहिंसा, क्षमा तथा अविरोध। क्रोध, पक्षपात, भय, प्रमाद ये चार कुरीतियाँ हैं, उपर्युक्त राजधर्मों में स्थित रहकर राजा को उत्थान–वीर्य से युक्त अर्थात् प्रमाद रहित होना चाहिए, क्योंकि 'श्री' और 'लक्ष्मी' ईर्श्याविहन पुरुषों के पास ही रहती है। कर्तव्यों की प्रयत्नशीलता सुख और समृद्धि का कारण होती है। मिथिला के सम्बन्ध में महानारद कस्सप जातक में आदर्श राजाओं के विषय में अत्यन्त सुन्दर शब्दावली में भाव व्यक्त किया गया है, इस जातक के अनुसार बुद्ध बोधिसत्व नारद नामक महाब्रह्मा के रूप में जन्म लिया। बोधिसत्व ने विदेह राजा अंग को अहंकार और मिथ्या दृष्टि से मुक्त करने के लिए परलोक के विषय में बताते है। बोधिसत्व राजा को नरक के विषय में बताकर भयभीत करते हैं और अंततः राजा के अनुरोध पर उन्हें 'शुद्धि का मार्ग' बताते हैं। बोधिसत्व कहते हैं – हे राजन् अधर्म को त्याग कर धर्माचरण करें। हे राजन् आपके नगर और महल में लोग हाथ में अन्न लिये हुए, ये घोषणा करते हुए कहें कि – कौन भूखा है? कौन

प्यासा है? किसे माला चाहिए, किसे लेप चाहिए? कौन नग्न व्यक्ति नाना वर्ण के वस्त्रा धारण करेगा? कौन मार्ग में छत्रा धारण करना चाहेगा? किसे अच्छी, मृदु पादुकाओं की आवश्यकता है? इसका प्रकार की घोषणाएँ शाम के समय में हो। जो बुढ़े आदमी या बैल हो उन्हें पहले की तरह काम पर न लगाया जाय और उन्हें जो पूर्ववत् मिलता रहा है उसे मिले, इत्यादि। इसी प्रकार दान और सदाचार के उपदेश के क्रम में बोधिसत्व राजा को ''रथ की उपमा'' के माध्यम से धर्मोपदेश देते हुए कहते हैं कि 'हे राजन् तुम्हारा शरीर रथ के समान है, मन सारथि है, अहिंसा श्रेष्ठ अक्ष है और दान रथ का पर्दा है। पांव का संयम नेमि ;पहियाद्ध है, हाथ का संयम किनारी, पाट का संयम तेल, और वाणी का संयम रथ का सीधापन है। .... जो रथ काल ज्ञानरूपी चित्त से चलाया जा रहा हो, बृद्ध ादि–पुरुषों का सेवाभाव उसका धूलनाशक हो, रूप, शब्द, रस, तथा गन्ध के पीछे दौड़नेवाले रथ को रोकने वाली प्रज्ञा हो इत्यादि। इस प्रकार बोधिसत्व ने राजा की मिथ्यादृष्टि दूर कर उसे शील में प्रतिष्ठित कर, उन्हें पाप मित्रता छोड़ कर कल्याण मित्रता ग्रहण करने और नित्य अप्रमादी रहने का उपदेश दिया। राजधर्म से अलग मनुष्य का सामान्य धर्म के बारे में महाजनक जातक में कहा गया है कि 'प्रयत्न' मनुष्य का कर्तव्य है कि जो कर्तव्य करता है वह रिश्तेदारों के, देवताओं के, तथा पितृऋण से उऋर्ण हो जाता है उसे बाद में अनुताप नहीं होता–यथा अनणो ज्ञातीनं देवानं पितुनोच सो, करं पुरिस किच्चानि न च पच्छानूतप्पति। इस प्रकार मिथिला के राजा अप्रभादी होकर प्रव्रज्या को ग्रहण कर बौद्ध अनुगामी होता रहा। जिसका प्रभाव मिथिला के राजाओं के साथ–साथ जनता पर भी पड़ा।

संदर्भ सूची

1. महाजनक जातक – भाग – 6/539/25–115. ;
2. शतपथ ब्रह्मण, माध्यन्दिन शाखा, 1.4.1.
3.वृहद विष्णुपुराण, मिथिलामहात्म्य, कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, 1980, ;श्लोक 167द्ध, पृ. 29.
4.महाजनक जातक – भाग – 6/539/25–115. ;
5.वही, 6/546 ;84, 90–91द्ध ;महाउम्मग्ग
6.साधीन जातक प्ट/494,
7.जातक, भाग 1/9 ;मखादेव
8.जातक, पृ. 4/408 ;कुम्भकार
9.जातक – 5, 524 ;संखपाल जातक
10.जातक – 4, 489 ;सुरूचि जातक
11.जातक, 4/541 ;विदुर जातक
12.जातक, 4/541 ;विदुर जातक– पूरितो विदेहे पस्स गोयनिये च पच्छतो .
13.महाबोध्विंश, पृ. 73–74. बुद्धवंश अट्ठकथा, पृ. 113.
14.Law B.C., Historical Geography of Ancient India, Paris, 1954, p. 66.
15.दीपवंश, 3/29.
16.दीपवंश, 3/9, 34, 35.
17.महावंश, 2/1.
18-महावंश, 2/10.
19.महाभारत शांतिपर्व – 12, , 18, 19, 2/9, 50, ;भाग–3, अध्याय–268/4द्ध
20.जातक, भाग 6, संख्या 539, भदन्त आनन्द कौशल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1982, ;गाथा 6द्ध.
21.भगवान बु(, जीवन और दर्शन, दामोदर कौशाम्बी, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1982, पृ.200.
22.अंगुत्तर निकाय, नग्ग 1/9, सुत्तकनिपात_ Vol. IV / XLIV, Editor, E. Hardy, Pali Text Series No. 6, Pali Text Society London, p. 41.4
23.मज्झिमनिकाय, कन्दरकसुत्त– 51, सम्पादक शास्त्री, द्वारिका दास
24.वही, पृ. 50.
25.वही, पृ. 50.
26.दीघनिकाय, 26/3, 17/4, सम्पादक सांकृत्यायन राहुल, परममित्र प्रकाशन, दिल्ली–2002, पृ. 233, पृ. 152ऋ दीघनिकाय, 3/3, अनु. शास्त्री, द्वारिका दास बौद्ध भारती, वराणसी, पृ. 631– 641
27.कौशाम्बी,दामोदर,भगवान बुद्ध–जीवन और दर्शन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1982, पृ. 63.
28.वही, पृ. 77.
29.दीघनिकाय, 18, ;महासीहनादसुत्तद्ध अनु. शास्त्री, द्वारिका दास बौद्ध भारती, वराणसी, पृ. 172
30.जातक–4, सं. 494, अनुवादक भदन्त आनन्द कौशल्यायन,हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, 1982, पृ. 562.
31.जातक–4,सं.489,अनुवादकभदन्तआनन्दकौशल्यायन,पृ. 523.
32.जातक – 6, सं. 539, वही,, पृ. 42 ;गाथा 10
33.जातक – 6, सं. 545, अनुवादक, वही, पृ. 294–296.
34.जातक – 6, सं. 539, अनुवादक भदन्त आनन्द कौशल्यायन–हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1982, पृ. 39–42 ;गाथा 6–9द्ध.
35.जातक 4, संख्या 489, अनुवादक वही, पृ. 523.
36.दीघनिकाय, 26/3, 17/4, सम्पादक सांकृत्यायन राहुल,परममित्र प्रकाशन, दिल्ली–2002, पृ. 233, पृ. 152 दीघनिकाय, 3/3, अनु. सम्पादक शास्त्री, द्वारिका दास पृ. 631– 641
37.जातक–6,सं.544,अनुवादक,कौशल्यायन,भदन्तआनन्द,हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग,1982, पृ. 289–292 ;गाथा 177–191.
38. जातक–6, सं. 539, अनुवादक भदन्त आनन्द कौशल्यायन–हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1982, पृ. 40–42 ;गाथा 214.

******

वेदों में यान (ऋग्वेद के विशेष संदर्भ में)

डॉ शालिनी मिगलानी
9718401108
miglanishalini@gmail.com

संस्कृत ग्रन्थों में ज्ञान-विज्ञान रूप परम्परा का प्रवाह अनवरत गति से अनादि काल से चला आ रहा है। प्रवाह ज्ञान का हो या विज्ञान का, समुद्र का हो या किसी नदी का वह अपने गर्भ में बहुत कुछ समेट कर रखता है। जिस प्रकार समुद्र के गर्भ में अनेक रहस्य समाहित है; जिनका अन्वेषण निरन्तर किया जा रहा है। उसी प्रकार संस्कृत ग्रन्थों में भी अनेक गूढतम विषय समाहित है; जिनमें से विज्ञान भी एक है। वैज्ञानिक दृष्टि से संस्कृत ग्रन्थों का परिशीलन करने पर यह ज्ञात होता है कि संस्कृत ग्रन्थों में वैज्ञानिक तत्वों का अत्यधिक सन्निवेश हुआ है। जिनमें से 'यान' भी एक है। रामायण में विमान या अंतरिक्ष यात्रा से संबंधित अनेक प्रसंग हमें प्राप्त होते हैं। पुष्पक विमान जिसमें रावण सीता माता को उठाकर लंका ले गया था तथा जिसमें रावण पर विजय प्राप्त कर श्री राम अयोध्या वापस लौटे थे। उससे तो हम सभी परिचित हैं। इसी प्रकार महाभारत में भी अंतरिक्ष यात्रा से संबंधित अनेक प्रसंग हमें प्राप्त होते हैं। केवल रामायण और महाभारत में ही नहीं; वेदों में भी विमान के अनेक प्रसंग हमें प्राप्त होते है, परंतु वहां यान का अर्थ 'पार ले जाने वाला', 'अधिष्ठाता' आदि के रूप में है यथा **'रजसो विमानं रथम्'**[1] से अभिप्राय है 'लोकों से पार ले जाने वाला रथ' एवं **'रजसो विमानः'**[2] का अर्थ है 'लोकों का अधिष्ठाता या नापने वाला'। वेदों में विमान के लिए 'दिव्य रथ' और आकाशीय नौका जैसे शब्दों को लिया गया है। ऋग्वेद के एक मंत्र में आकाश में विचरण करने वाली नौका का वर्णन है- **'नौभिः - अन्तरिक्षप्रुद्भिः अपोदकाभिः'** [3]। यहां 'अपोदकाभिः' शब्द का वर्णन है कि इस पर जल का प्रभाव नहीं पड़ता। इन आकाश में विचरण करने वाली नौका को 'अंतरिक्षप्रुत्' कहा गया है । इसी प्रकार का वर्णन है; कि राजा सोम ने अपनी बुद्धि के द्वारा अंतरिक्ष यात्रा की।[4] इसी प्रकार ऋग्वेद के मंत्र 1/63/8 में भी अंतरिक्ष यात्रा का वर्णन प्राप्त होता है।

ऋग्वेद में प्राप्त यान रचना के प्रमाण – मानव एक बुद्धिजीवी प्राणी है; किसी भी विषय को तब तक स्वीकार नही करता जब तक वह तर्कसंगत या प्रमाणित न हो। अतः ऋग्वेद में हमें विमान रचना के अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। हमारे ऋषि / दृष्टा / देवताओं को विमान के विषय में ज्ञान था। इसे सिद्ध करने के लिए ऋग्वेद में अनेक मंत्र प्राप्त होते हैं। जब हमें किसी वस्तु की रचना की गई है; यह प्रमाणित करना पड़े , तो सर्वप्रथम उसकी रचना किसके द्वारा हुई, यह जानना आवश्यक है। अतः ऋग्वेद में विमान रचनाकार के रूप में ऋभु देव का नाम आता है –

तक्षत्रथं सुवृतं विद्मनापसस्तक्षन्हरी इन्द्रवाहा वृषण्वसू।
तक्षन्पितृभ्यामृभवो युवद्वयस्तक्षन्वत्साय मातरं सचाभुवम्।।।[5]

अर्थात् कुशल वैज्ञानिक ऋभु देवों ने उत्तम रथ को ठीक प्रकार से तैयार किया। **तेन देवत्वमृभवः समानशा।** [6] यहां विद्मनापस् शब्द विज्ञानवेत्ता कुशल कारीगर के लिए है। उनकी प्रतिभा के कारण इन्हें देवत्व की उपाधि दी गई थी। दूसरा प्रश्न जो हमारे समक्ष आता है कि उस समय विमान की रचना किस प्रकार की जाती थी अर्थात् उसका आकार आदि कैसा था? ऋग्वेद में इससे संबंधित कुछ जानकारी यथा उसका आकार-प्रकार तथा यंत्र आदि प्राप्त होते हैं। वहां विमान के लिए अधिकतर रथ शब्द का प्रयोग है।

त्रिबन्धुरेण त्रिवृता रथेन त्रिचक्रेण सुवृता यातमर्वाक्। ऋग्वेद 1/118/2

त्रिबन्धुरेण अर्थात् तीन सीट वाले, त्रिवृता अर्थात् त्रिकोण, त्रिचक्रेण अर्थात् तीन पहिए वाले दिव्य रथ से अश्वनी देव यहां आए। इस मंत्र से ज्ञात होता है कि वह रथ / विमान आकार में त्रिकोण तथा तीन पहिए वाला था।

आ वां रथं पुरुमायं मनोजुवं जीराश्वं यज्ञियं जीवसे हुवे।
सहस्रकेतुं वनिनं शतद्वसुं श्रुष्टीवानं वरिवोधामभिप्रयः।। ऋग्वेद 1/119/1

अर्थात् हे अश्विनीकुमारों अनेक प्रकार की कलाकारिता से पूर्ण, मन के समान गतिमान्, पावन गतिशील अश्वों से युक्त, विविध पताकाओं से सुसज्जित, सुखदायक, सैकड़ो प्रकार के धनों से परिपूर्ण, शीघ्रगामी आपके रथ का हविष्यान्न ग्रहण करने के लिए आवाहन करते हैं; वह आए और हमें दीर्घ जीव प्रदान करें। इस प्रकार प्रकृत मंत्र में रथ / विमान के स्वरूप को बताया गया है।

सोमापूषणा रजसो विमानं सप्तचक्रं रथमविश्वमिन्वम्। विषूवृतं मनसा युज्यमानं तं जिन्वथो वृषणा पंचरश्मिम्।। ऋग्वेद 2/40/3

सोम और पूषा देवों सब लोक में जाने वाले, सात पहिए / चक्र वाले, बहुत विशाल, चारों ओर मुड सकने वाले, संकेत से चलने वाले तथा पांच इंजन / लगाम रश्मि वाले दिव्य रथ का वर्णन है। ऋग्वेद में एक अन्य मंत्र में भिन्न विमान / रथ का वर्णन करते हुए कहा गया है कि -

अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो
रथस्त्रिचक्रः परिवर्तते रजः।। ऋग्वेद 4/36/1

इसमें ऋभु देवों के दिव्य रथ का वर्णन करते हुए कहा है कि इसमें घोड़े नहीं है, कोई लगाम नहीं है, तीन पहिए हैं तथा यह अंतरिक्ष में सर्वत्र घूमता है। एक मंत्र में कहा है कि इस विमान / रथ में प्रकाश की व्यवस्था थी। अपनी पहचान के लिए इस पर अपना झंडा था, तीन चक्र थे, इसका बैठने का स्थान अर्थात् सीटे अच्छी और सुखद थी। अपनी इन्ही

सुविधाओं के कारण यह लोकप्रिय था। [7]अश्विनी देवों के दिव्य रथ को सभी सुविधाओं से युक्त अर्थात् विश्वसौभगः कहा गया है। इसमें तीन सीट तथा तीन चक्र थे। इसमें झटका नहीं लगता था, सभी प्रकार की सुख सुविधा के लिए मधुवाहनः शब्द का प्रयोग किया गया है।[8]

रथं ये चक्रुः सुवृतं अविह्वरन्तम्। ऋग्वेद 4/36/2

रथं ये चक्रु सुवृतं नरेष्ठां विश्वरूपाम्। ऋग्वेद 4/33/8

विमान के निर्माण में यह विशेष रूप से देखा जाता था कि उसमें कोई त्रुटि न हो। यह आसानी से चारों ओर मुड सके। नरेष्ठाम् अर्थात् आराम से बैठ सके विश्वरूपाम् अर्थात् यह विमान अनेक रंग के होते थे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उस समय भी विमान प्राप्त थे और सभी प्रकार कि सुविधाओ से युक्त थे। इसी प्रकार महाराज भोज (11वी शताब्दी) कृत समरांगण ग्रंथ के 31 वे अध्याय में विमान / यंत्र की रचना को बताया गया है; कि यह हल्की कठोर लकड़ी का बना होता था। इसमें दो बड़े पंख होते थे। इसके उदर भाग में रस यंत्र पारा, mercury से भरे हुए चार बड़े दृढ़ घड़े रखे जाते थे। जिसके नीचे अग्निपूर्ण कुंभ भट्टी रखी जाती थी। आग से पारा तप्त था तथा उसकी शक्ति से विमान चलता था। बृहद् विमानशास्त्र ग्रंथ में विमान रचना भेद, रहस्य, विविध यंत्र, चालन विधि आदि का विस्तृत वर्णन है। इसके अतिरिक्त विमानशास्त्र से संबंधित अनेक ग्रंथ यथा नारायण कृत विमान चंद्रिका, शौनक कृत व्योमयानतंत्र, गर्ग कृत यंत्रकल्प, वाचस्पति कृत यानबिन्दु, चाक्रायणि कृत खेटयानप्रदीपिका, भुण्नाडिनाथ कृत् व्योमयानप्रकाश, हमें प्राप्त होते हैं। वैमानिक प्रकरण में कहा गया है; कि वेद रूपी समुद्र मंथन से ही यह ज्ञान हमें प्राप्त हुआ है अर्थात् इस ग्रंथ का आधार वेदों को ही स्वीकार किया गया है।*[9] अतः यह प्रमाणित हो ज्ञ है कि भारतीय ऋषि विमान संबंधी विषय से पूर्णरूप से परिचित थे। वर्तमान समय में हम अनेक प्रकार के यान देखते है ; कुछ द्युलोक में चलने वाले , कुछ अन्तरिक्ष में चलने वाले , कुछ पृथ्वीस्थानीय तथा कुछ अंतरिक्षस्थानीय यान दृष्टिगत होते है। इसी प्रकार ऋग्वेद में भी यान के विभिन्न प्रकार हमे प्राप्त होते है।

ऋग्वेद में प्राप्त यान के विभिन्न प्रकार-

• ऋग्वेद में स्वचालित यान / विमान / रथ / प्रोब /सेटेलाइट - ऋग्वेद में मरुत् देवों के एक स्वचालित अंतरिक्षगामी यान अर्थात् ऐसा यान जो अंतरिक्ष में स्वयं चलता रहता था; का वर्णन हमें प्राप्त होता है।[10] इसमें कोई घोड़ा नहीं था, कोई सारथी नहीं था, बिना रुके चलता था, कोई लगाम नहीं थी, यह आकाश में उड़ता था, यह द्युलोक और पृथ्वीलोक के मध्य अर्थात् अन्तरिक्ष लोक मे विचरण करता था। **अश्विनोरसनं रथमनश्वंल वाजिनीवनोः। तेनाहं भूरिचाकन।। ऋग्वेद 1/120/10** सैन्य शक्ति से संपन्न अश्विनी कुमारो से अश्वों के बिना चलने वाले इस रथ को हमने प्राप्त किया है। इससे हम प्रचुर यश प्राप्ति की आशा करते हैं। **इसे आधुनिक विज्ञान के अनुसार टेलिस्कोप, प्रोब (Probe) सैटेलाइट भी कहा जा सकता है।** क्योंकि सेटेलाइट में भी कोई सारथी अर्थात् उसे चलाने वाला नहीं होता। वह बिना रुके निरंतर गतिमान है। वह भी अंतरिक्ष में विचरण करती है। कुछ सैटेलाइट को पृथ्वी से नियंत्रित किया जा सकता है; परंतु कुछ सेटेलाइट में पहले से ही प्रोग्राम किया जाता है। जिसे पृथ्वी से भी नियंत्रित नहीं किया जा सकता अतः वह अंतरिक्ष में निरंतर गतिमान रहती है अर्थात् इसमें भी मरुद् देवताओं के रथ के समान कोई लगाम नहीं होती है।

• ऋग्वेद मे अंतरिक्ष और समुद्र दोनों में चलने वाले यान - ऋग्वेद के मंत्र से यह ज्ञात होता है कि अश्विनीकुमारों के पास एक ऐसा विमान था; जो अंतरिक्ष तथा समुद्र दोनों में चल सकता था। इसमें कोई यंत्र लगा होता था। जिसके द्वारा यह चेतन के समान चलता था। इस विमान पर पानी से कोई हानि नहीं होती थी। इस विमान के द्वारा ही अश्विनीकुमारो ने समुद्र में डूबते हुए एक व्यापारी का उद्धार किया था।[11]

युवो रजांसि सुयमासो अश्वा रथो यद्वां पर्यणांसि दीयत्।
हिरण्यया वां पवयः प्रुषायन्मध्वः पिबन्ता उषसः सचेथे।। ऋग्वेद 1/180/1

अर्थात् हे अश्विनीकुमारों जिस समय आप दोनों का रथ समुद्र में अथवा अंतरिक्ष में चलता है। उस समय आपके रथ को चलाने वाले अश्वसंज्ञक गति साधन भी अंतरिक्ष मार्ग में नियमानुसार गति करते हैं। आपके रथ में स्वर्णिम दीप्ति वाले पहिए भी मेघमण्डल के जल से भीगने लगते हैं। **रूस के पास एक ऐसा यान है; जो हवा मे उड़ सकता है और पानी में चल सकता है जिसका नाम है बेरीव बी 200 अल्टेयर एयरक्राफ्ट।** यह एक ऐसा एयरक्राफ्ट है; जो पानी तथा आसमान दोनों में चल सकता है। रूस के इस एयरक्राफ्ट का प्रयोग इमरजेंसी सेवा के लिए किया जाता है; यथा बचाव कार्य, गुमशुदा की तलाश आदि। इसमें 72 लोगों को ले जाने की क्षमता है। यह एक ऐसा एयरक्राफ्ट है; जो जमीन पर दौड़ता है, पानी में तैरता है और आसमान में उड़ता है। **इस प्रकार के विमान का वर्णन हमारे वेदो में पहले से ही वर्णित है।** यही भाव ऋग्वेद 1/182/5 में भी प्राप्त होता है। पूषा देव की सुनहरी नौकाएं समुद्र के अंदर तथा बाहर अंतरिक्ष में भी चलती थी।

यास्ते पूषन् नावो अन्तः समुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति। ऋग्वेद 6/58/3

ऋग्वेद मे प्राप्त होता है कि अश्विनीकुमारों का रथ अन्तरिक्ष लोक तथा समुद्र में सर्वत्र भ्रमण करता था। अश्विनीकुमारो का रथ द्युलोक में भ्रमण करता था; तथा पर्वत की चोटियों पर भी उतर सकता था। इसकी तुलना **आधुनिक विज्ञान के अनुसार हेलीकॉप्टर** से की जा सकती है। **हेलीकॉप्टर** पर्वत पर भी उतर सकता है, जिसके प्रत्यक्ष प्रमाण हमे प्राप्त होते है।

नासत्या रथेन वि पर्वतान्----अयातम्। ऋग्वेद 1/116/20

पर्वतों के पार जाने वाले अश्वनीकुमारों के रथ का उल्लेख है। यह अर्थ ऋग्वेद के अन्य मंत्र 2/16/3 में भी प्राप्त होता है कि अश्विनीकुमारों का रथ समुद्र और पर्वत सभी जगह यात्रा कर सकता था।

• ऋग्वेद में पृथिवी और द्युलोक में चलने वाला यान – अरित्रं वां

दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूनां रथः। धिया युयुज्र इन्दवः।। 1/46/8 अर्थात् हे अश्विनीकुमारों आपके आवागमन के साधन द्युलोक की सीमा से भी विस्तृत है। तीनों लोकों में आपकी गति है। नदियों तीर्थ प्रदेशों में भी आपके साधन है। पृथ्वी पर भी आपके लिए रथ तैयार है। आप किसी भी साधन से पहुंचने में समर्थ हैं।

उरु वां रथः परि नक्षति द्यामा यत्समुद्रादभि वर्तते वाम्। ऋग्वेद 4/43/5A

हे अश्विनीकुमारों आप दोनों का विशाल रथ द्युलोक में चारों और गमन करता है। वह समुद्र से आपकी ओर पधारता है। 'श्रेष्ठ स्वर्णिम रथ द्वारा आप दोनों द्युलोक अथवा भूलोक से हमारी तरफ पधारे'। [13] 'हे राजपूत तुम्हारा यान जो सूर्य तक वेग वाला, गतिशील, मन के समान शीघ्रगामी, अनेक प्रकार की रक्षा के साधनों वाला है, वह लोक लोकान्तरों का तिरस्कार करता हुआ हमारे यज्ञ को भली प्रकार प्राप्त हो'।[14] प्रस्तुत मंत्र में परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे यज्ञ पुरुषों तुम उक्त प्रकार के रथ अर्थात् यानों वाले राजपुरुषों को अपने यज्ञ में बुलाओ जिनके ज्ञान नभोमंडल में सूर्य के साथ स्थिति वाले हो तथा जिनमे रक्षा विषयक अनेक प्रकार के अस्त्र - शस्त्र लगे हो। यहां रथ का अर्थ भूमि स्थित रथ नहीं किंतु '**रमन्ते यस्मिन् स रथः**' जिसमें भले प्रकार रमण किया जाए उसका नाम 'रथ' है। भली भांति रमण आकाश में होता है। भूमि स्थित रथ में नहीं और न यह सूर्य तक गमन कर सकता है इत्यादि विशेषण से यहां विमान कथन स्पष्ट कहा गया है। इस प्रकार ऋग्वेद में अनेक स्थानो पर प्राप्त होता है कि उस समय यान / रथ द्युलोक तथा पृथिवीलोक दोनों जगह भ्रमण करता था। यदि कुछ समय पहले तक इस पर विचार किया जाता, तब हमारा उत्तर होता नही द्युलोक में सूर्य के समीप यान का अस्तित्व संभव नही हो सकता क्योकि वह सूर्य कि गर्मी को सहन नही कर सकता। सूर्य कि गर्मी से वह पिघल जाएगा, परंतु आज जब हम इस पर विचार करते है; तो हमारा उत्तर है हाँ सूर्य के समीप यान संभव है। वर्तमान समय में भी हमे द्युलोक में यान (Sun Prob) के ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते है; यथा पार्कर सोलर प्रोब (Parker Solar Prob) 12 अगस्त 2018 , आदित्य एल 1 (Aaditya L1) 2 सितम्बर 2023

• **ऋग्वेद में तीन अंग वाला यान** - ऋग्वेद मे त्रिधातु शब्द से तीन हिस्से वाले विमान का वर्णन है। यह अश्वनीकुमारों का विमान तीन पहियों वाला तथा आकाश में पक्षी के समान उड़ता था। त्रिधातु शब्द त्रिपुर विमान के समान तीन हिस्सों में बँटे हुए यान का सूचक है।[15] हे अश्विनीकुमारो तीन वृत युक्त त्रिकोण, तीन अवलंबन वाले अति सुशोभित रथ से यहां आए।[16]

तं युञ्जाथां मनसो यो जवीयान् त्रिवन्धुरो वृषणा यस्त्रिचक्रः।
येनोपयाथः सुकृतो दुरोणं त्रिधातुना पतथो विर्नपर्णैः।। ऋग्वेद 1/183/1

हे अश्विनीकुमारो आपका जो तीन पहियों वाला, तीन बैठने योग्य स्थान वाला, अत्यंत गतिशील रथ है; उसे जोड़कर तैयार करें। तीन धातुओं से विनिर्मित रथ से पक्षी की तरह उड़कर आप दोनों श्रेष्ठ कर्मों के घर पर पहुंचते हैं। आज भी हम देखते हैं कि विमान में तीन पहिए होते हैं और वह पक्षी के समान ही आकाश में उड़ता है। 'इसमें घोड़े नहीं होते थे'।[17] अर्थात् ऐसा कहा जा सकता है कि उस समय भी किसी प्रकार के इंजन या बैटरि कि व्यवस्था होती होगी; जिसके द्वारा विमान को चलाया जाता होगा।

• **ऋग्वेद में विशाल समुद्री यान / सबमरीन** - ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर समुद्री जहाज का वर्णन प्राप्त होता है। एक स्थान पर वर्णित है- **वेद नावः समुद्रियः। ऋग्वेद 1/25/7** राजा वरुण समुद्र में चलने वाली नौकाओं को जानते थे।

शतारित्रां नावम् आतस्थिवांसम्।ऋग्वेद 1/116/5
सुनावम् आरुहेयम् ---- शतारित्रां स्वस्तये। यजु 21/7
सूर्य नावम् आरुक्षः शतारित्रां स्वस्तये। अथर्ववेद 17/1/26

इस प्रकार के अनेक उदाहरण वेदों में प्राप्त होते हैं। जिनमें सौ या उससे भी अधिक पतवार थी। इसी प्रकार समुद्र के अंदर चलने वाले जहाज का वर्णन भी ऋग्वेद में प्राप्त होता है। पूषा देव की सुनहरी नौकाएं समुद्र के अंदर तथा बाहर अंतरिक्ष में भी चलती थी।

यास्ते पूषन् नावो अन्तः समुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति। ऋग्वेद 6/58/3

ऋग्वेद मे प्राप्त होता है कि अश्विनीकुमारों का रथ अन्तरिक्ष लोक तथा समुद्र में सर्वत्र भ्रमण करता था। **जिसे आज आधुनिक विज्ञान की भाषा में सबमरीन कहा जा सकता है**

• **ऋग्वेद में सुख – सुविधा युक्त यान** - मधुवाहन रथ का प्रयोग सुविधा युक्त यान/ रथ के लिए है -

त्रयः पवयो मधुवाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्व इद्विदुः।
त्रयः स्कम्भासः स्कभितास आरभे त्रिर्नक्तं याथः त्रिर्वश्विना दिवा।।
ऋग्वेद 1/34/2

अश्विनीकुमारों के इस विमान में तीन वज्र के समान इंजन थे। इसके द्वारा तीन दिन, तीन रात लगातार यात्रा कर सकते थे। हे शक्तिशाली अश्विनीकुमारों आप दोनों का रथ बैठने के लिए सुखप्रद अपनी बनावट से सुदृढ मनुष्य के मन से भी अधिक गतिशील, वायु के समान गतिमान, बाज पक्षी की तरह आकाश मार्ग से गमनशील तथा जो तीन स्थानों से सुदृढतायुक्त है; उस रथ से आप दोनों हमारे यहां पधारें। [18] हे अश्विनीकुमारों आप रथ पर विराजित होकर यहां पधारे; तीन पहियों वाला और मधुर अमृत तुल्य पोषक तत्त्वों को धारण करने वाला, शीघ्रगामी अश्वों से जुता हुआ, प्रशंसनीय बैठने के तीन स्थान वाला, समस्त ऐश्वर्य और सौभाग्य से भरा हुआ, आपका रथ मनुष्यों और पशुओं के लिए सुखद हो।[19] भारत के प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति के विमान यथा **एयर इंडिया वन** में मिसाइल डिफेंस सिस्टम, लार्ज एयरक्राफ्ट इंफ्रारेड, काउंटर मेजर और सेल्फ प्रोटेक्शन सूट्स मौजूद है। इसमें अत्याधुनिक मिसाइल रक्षा प्रणाली है। इसके साथ इसमें एडवांस कम्युनिकेशन सिस्टम लगा है। जो हवा में ऑडियो और वीडियो कनेक्ट करने की अनुमति देता है। यह विमान हवा में फ्यूल ले सकता है; तथा 900 किलोमीटर प्रति घंटे की रफ्तार स्पीड से उड़ान भर सकता है। इस प्रकार के विमान पूरे विश्व में प्रमुख व्यक्तियों के लिए प्राप्त है।

• **ऋग्वेद में तीव्र गति सम्पन्न यान** - अनेक मंत्रों में यह वर्णन प्राप्त होता है कि अश्विनीकुमारों के रथ मन के समान तीव्र गति से चलते थे।

यो वां रथो अनश्विना श्येनपत्वा ---- यो मर्त्यस्य मनसो जवीयान्। ऋग्वेद 1/118/1

इनमें मनसो जवीयान् से मन से भी तीव्र गति से चलने वाले विमान का वर्णन है। श्येनपत्वा से इसे गरुड़ के समान उड़ने वाला भी कहा गया है।

अधिविष्टपि , यद् वां रथो विभिष्पतात्। ऋग्वेद 1/46/3

अश्वनीकुमारों का विमान आकाश में पक्षी के समान उड़ता था। यह वर्णन ऋग्वेद (1/181/3, 6/63/7, 10/112/2) के अनेक मंत्रो में प्राप्त है। आज यदि यातायात के साधनो कि बात कि जाये तो सबसे तेज गति से हवाई जहाज चलते है।

ऋग्वेद में यान सुरक्षा के साधन – अश्विनी देवों के विमान के विषय में वर्णन है। मंत्र में शतोतिः शब्द सो रक्षा साधनों के लिए है। यह मन के समान गति वाला था तथा अंतरिक्ष में इधर-उधर विचरण करता था।[20]

यदयातं दिवोदासाय वर्तिर्भरद्वाजायाश्विना हयन्ता । रेवदुविह सचनो रथो वां वृषभश्च शिंशुमारश्च युक्ता।। ऋग्वेद 1/116/18 हे अश्विनीकुमारों जब आप दोनों अन्नदाता दिवोदास के घर पर गए तब उपभोग्य धन से परिपूर्ण रथ आपको ले गए थे। उस समय आपके रथ को शक्तिशाली और शत्रु विध्वंस अश्व खींच रहे थे। यह आपका विलक्षण सामर्थ्य है। नेतृत्व की क्षमता से संपन्न हे अश्वनीकुमारों आप दोनों के रथ मन से भी तीव्र गतिशील उत्तम अश्वों से युक्त रहते हैं। ऐसे रथ आपको प्रजाजनों के बीच ले जाते हैं। उसी से सत्कर्मरत साधकों के घर आप जाते हैं। इस रथ पर आरुढ होकर आप दोनों हमारे यहां भी पधारे।[21]इस प्रकार प्रस्तुत मंत्र के द्वारा यह ज्ञात होता है कि उस समय में भी विमान में सुरक्षा के साधन प्राप्त होते थे। आज हम यह प्रत्यक्ष देख सकते है कि हमारी वायुसेना के पास अनेक शत्रु विध्वंसक विमान है।

•ऋग्वेद के विमान में इंजन और तेल प्रयोग - आ वां रथो रोदसी बद्बधानो ---- घृतवर्तनिः पविभी रुचानः। ऋग्वेद 7/69/1 अश्विनीकुमारों का वह रथ धावापृथिवी में सर्वत्र जा सकता था। इसमें पवि (इंजन) और तेल (पारा या पेट्रोल जैसी चीज) की व्यवस्था थी। पवि से वज्रवत् सुदृढ़ इंजन का संकेत है; तथा धृतवर्तनी से घी के समान चिकने पदार्थ का संकेत है ऋग्वेद 5/77/3 में घृतवर्तनी के स्थान पर घृतस्नु शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसके द्वारा स्पष्ट होता है; कि विमान चालक के लिए घृत जैसे किसी चिकने पदार्थ का उपयोग किया जाता था।

ऋग्वेद में विमान से रक्षा कार्य - अश्वनीकुमारों से प्रार्थना की गई है कि युद्ध में हमारे बल में वृद्धि करें। हे अश्वनीकुमारो त्रिकोण रथ से हमारे लिए उत्तम धन सामर्थ्यों का वहन करें। हमारी रक्षा के लिए आवाहनों को सुने युद्ध के अवसरों पर हमारी बल वृद्धि का प्रयास करें। [22] हे अश्विनीकुमारों आप दोनों आतिवेग से आकाश में उड़ने वाले, तीव्र गति से जाने वाले, देवताओं की गति से चलने वाले यानों से भी अति तीव्र गति से गमनशील है। आपके यानों से संयुक्त हुए रासभ ने यम को आनंदित करने वाले युद्ध में हजारों की संख्या वाले शत्रु सैनिकों पर विजय प्राप्त की थी। [23]

तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः। तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः।।ऋग्वेद 1/116/3

जैसे मरणासन्न मनुष्य अपने धन की इच्छा त्याग देते हैं। उसी प्रकार अपने पुत्र की आकांक्षा त्याग कर तुग्र नरेश ने अपने भुज्यु नामक पुत्र को शत्रु पक्ष पर आक्रमण करने हेतु अति गंभीर महासागर में प्रवेश की आज्ञा दी उसे आप दोनों अपनी सामर्थ्यो द्वारा अंतरिक्ष यानो तथा पनडुब्बियों और नौकाओं के सहयोग से निकालकर उसके पिता के समीप ले गए। हे सत्य से युक्त अश्विनीकुमारों आतिगहन सागर से दूर जहां मरुस्थल है; वहां से तीन दिवस और तीन रात्रि निरंतर चलते हुए अति वेग से गमनशील सो चक्र और छह अश्वों अश्वशक्ति संपन्न यंत्रों वाले, पक्षी के समान आकाश मार्ग से जाते हुए तीन यानों द्वारा आप दोनों ने भुज्यु को उसके निवास पर पहुंचाया। [24] हे अश्विनीकुमारों विश्राम से रहित आश्रय रहित जहां बचाव के लिए हाथ में पकड़ने के लिए कोई भी पदार्थ नहीं; ऐसे आतिगहन महासमुद्र में से आप दोनों ने सौ पतवारों से चलने वाली नाव पर चढ़ाकर भुज्यु को उसके निवास स्थल पर पहुंचाया था; यह दुस्साहसिक कार्य निश्चित ही आति वीरता से युक्त था।[25] इसके अतिरिक्त ऋग्वेद 1/117/14-15 , 1/158/3 ,1/182/6-7 7/69/7 आदि मंत्रों में विमान से रक्षा का वर्णन भी प्राप्त होता है। इन मंत्रों में कुछ विशेष शब्द यथा वीडुपत्मभिः - आकाश में वेग से उड़ने वाले, आशुहेमभिः - शीघ्र गति वाले, अन्तरिक्षप्रुद्भिः अंतरिक्ष में उड़ने वाले, आत्मन्वतीभिः संजीव तुल्य या चालक यंत्र से युक्त, अपोदकाभिः जिन पर पानी का असर न हो, शतपद्भिः सौ पहिए वाले, षडश्वैः छह अश्वशक्ति वाले यंत्रों इंजन से युक्त, पतंगैः पक्षीवत् उड़ने वाले शब्दों का प्रयोग विमान के लिए किया गया है।

तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिः अन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः। नासत्या भुज्युमूहथुः पतंगैः त्रिभी रथैः शतपद्भिः षडश्वैः।। ऋग्वेद 1/116/3-4

उपसंहार

ऋग्वेद के एक मंत्र में प्राप्त होता है कि अश्वनीकुमार विद्युत तथा अग्नि विद्या जानते थे।

इमा उ वां दिविष्टय उस्रा इवंते अश्विना। अयं वामह्वेऽवसे शचीवसू विशंविशं हि गच्छथः।। ऋग्वेद 7/74/1

विद्युत् तथा अग्निविद्या में कुशल अध्यापक तथा उपदेशकों स्वर्ग की कामना वाले यजमान तुम्हारा आवाहन करते हैं; तुम इस विद्या का उनको उपदेश करो और निश्चय करके गमन करते हुए प्रत्येक प्रजा को विद्वान बनाओ; जिससे यह अपनी रक्षा करें और तुम्हारा आवाहन करते रहे। इसका अर्थ है कि अश्वनीकुमारों को विद्युत और अग्नि विद्या का ज्ञान था। अतः वह विमानशास्त्र विद्या को जानते थे; इसमे कोई शंका नही होनी चाहिए। यदि वैदिक युग में विमान बनाए जाते थे तो उस काल की सभ्यता अवश्य ही उच्च होनी चाहिए। ऋग्वेद के एक मंत्र 4/36/1 में

सायण भाष्य में कहा गया है कि तुमने जिस रथ का निर्माण किया है, उसमें अस्त्र की आवश्यकता नहीं है। यह तीन पहियों वाला रथ आकाश में विचरण करता है इस प्रकार संपूर्ण वैदिक साहित्य में यान का वर्णन हमें अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है। जिसमें जलयान अर्थात् हवा पानी में चलने वाला यान, वायुयान जैसे हवा मे चलने वाला यान विद्युत यान बिजली से चलने वाला यान आदि परंतु वहां यान का मूल नाम रथ था जिसके द्वारा विमान शब्द का जन्म हुआ। अतः यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि हमें यान से संबंधित संपूर्ण ज्ञान प्राप्त था। ऐसे भी कुछ यान से संबंधित विषय हैं, जो वेदों में प्राप्त होते हैं, परंतु अभी तक उस पर वैज्ञानिक दृष्टि का अभाव है। ऐसे विषयों को आज समाज एवं वैज्ञानिकों के समक्ष लाने की आवश्यकता है। जिससे उन विषयों पर वैज्ञानिकों के द्वारा विचार कर नवीन शोध एवं उपकरण तैयार किया जा सके।

संदर्भ ग्रंथ

1. ऋग्वेद 2/40/3
2. ऋग्वेद 3/26/7
3. ऋग्वेद 1/116/3
4. राजा मेधाभिरीयते अन्तरिक्षेण यातवे। ऋग्वेद 1/65/16
5. ऋग्वेद 1/111/1
6. ऋग्वेद 3/60/2
7. ज्योतिष्मन्तं केतुमन्तं त्रिचक्रं
सुखं रथं सुषदं भूरिवारम्। ऋग्वेद **8/58/3**
8. त्रिचक्रो मधुवाहनो रथो ------ त्रिबन्धुरो मघवा विश्वसौभगः।। ऋग्वेद **1/157/3**
9. अनेनो वो मरुतो यामो अस्तु अनश्वश्चिचद् यमजत्यरथीः।
अनवसो अनभीशू रजस्तूः वि रोदसी पथ्या याति साधन्।।
ऋग्वेद 6/66/7

* वेदों में विज्ञान, डॉ कपिलदेव द्विवेदी की पुस्तक को आधार बनाकर वर्णन किया गया है।

10. तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिः , अन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकोभिः।
ऋग्वेद 1/116/3
11.उरु वां रथः परि नक्षति याम्
आ यत् समुद्रादभि वर्तते वाम्। ऋग्वेद 4/43/5
रथो दस्त्रावमर्त्यः। समुद्रे अश्विनैयते। ऋग्वेद 1/30/18
न्यघ्न्यस्य मूर्धनि----- परि द्यामन्यदीयते। ऋग्वेद 1/30/19
12.आ नो यातं दिवो अच्छा पृथिव्या हिरण्ययेन सुवृता रथेन।।
ऋग्वेद 4/44/5A
13.प्र वां रथो मनोजवा इयर्ति तिरो रजास्यश्विना शतोतिः।
असभ्यं सूर्यावसू इयानः।। ऋग्वेद 7/68/3
14.तं युञ्जाथां मनसो यो जवीयान्
त्रिधातुना पतथो विर्नपर्णैः। ऋग्वेद 1/183/1
15.त्रिबन्धुरेण त्रिवृता सुपेशसा रथेना यातमश्विना। ऋग्वेद 1/47/2 A
16.अश्विनोरसनं रथम् अनश्वम्। ऋग्वेद 1/120/10
17.अ वां रथो अश्विना श्येनपत्वा सुमृळीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ्।
यो मर्त्यस्य मनसो जवीयान्त्रिवन्धुरो वृषणा वातरंहाः।। ऋग्वेद 1/118/1
18.अर्वाङ् त्रिचक्रो मधुवाहनो रथो जीराश्वो अश्विनोर्यातु सुष्टुतः।
त्रिवन्धुरो मघवा विश्वसौभगः शं न आ वक्षद् द्विपदे चतुष्पदे।।
ऋग्वेद 1/157/3
19.प्र वां रथो मनोजवा इयर्ति तिरो रजांस्यश्विना शतोतिः।
ऋग्वेद 7/68/3
20.यो वामश्विना मनसो जवीयान्नथः स्वश्वो विश आजिगाति।
येन गच्छथः सुकृतो दुरोणं तेन नरा वर्तिरस्मभ्यं यातम्।।
1/117/2
21.आ नो अश्विना त्रिवृता रथेनार्वाञ्चं रयिं वहतं सुवीरम्।
शृण्वन्ता वामवसे जोहवीमि वृधे च नो भवतं वाजसातौ।।
ऋग्वेद 1/34/12
22.वीळुपत्मभिराशुहेमभिर्वा देवानां वा जूतिभिः शाशदाना।
तद्रासभो नासत्या सहस्त्रमाजा यमस्य प्रधने जिगाय।।
1/116/2
23.तिस्त्रः क्षपस्त्रिरहातिव्रजद्भिर्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गैः।
समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथैः शतपद्भिः षळश्वैः।।
1/116/4
24.अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे।
यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्।।
1/116/5

*****

स्त्री विमर्श : वैदिक चिन्तन के निहितार्थ

डॉ. कान्ता
सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग
मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ई-मेल kantadhankhardu@gmail.com
मो. : 9250502174

शोध सार : समाज की निर्मातृ के रूप में स्वीकृत नारी प्राचीन काल से ही आचार्यों के चिन्तन का विषय रही है। वैदिककालीन भारतीय समाज में नारी का स्थान अत्यन्त उन्नत एवं आदर्शात्मक था। सामाजिक और धार्मिक उत्सवों, समारोहों, शिक्षा, ज्ञान, व्यापार आदि विभिन्न क्षेत्रों में वह निर्विरोध स्वच्छन्दतापूर्वक सम्मिलित होती और आदर प्राप्त करती थी। वैदिक युग में गार्गी, मैत्रेयी, सुलभा, लोपामुद्रा, विश्ववारा, घोषा, सिक्ता आदि अनेक ऋषिकाएँ हुई, जिन्होंने वेदों की ऋचाओं का प्रणयन किया और शास्त्रार्थ आदि में ख्याति अर्जित की। नारी को गृह की साम्राज्ञी के रूप में प्रतिष्ठित किया। (अथर्ववेद;14•14)। साथ ही उसे विद्या, शील, यश, ममता तथा सम्पत्ति का प्रतीक माना गया है। किन्तु उत्तरवैदिक काल से उत्तरोत्तर युग अनुरूप स्त्रियों की दशा और दिशा अवनति की ओर अग्रसर होने लगी। उनके यज्ञ के अधिकार को सीमित कर दिया गया एवं उनकी शिक्षा-दीक्षा तथा स्वतंत्रताओं पर अनेक प्रतिबंध लगा दिये गये।

वर्तमान सहस्राब्दी में भी सम्पूर्ण विश्व में शान्ति, सुरक्षा एवं प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ नारी सम्मान, सुरक्षा एवं उनके अधिकारों को लेकर गहन चिंता व्यक्त की जा रही है। जहाँ कई क्षेत्रों में स्त्रियाँ अपनी योग्यता का लोहा मनवा रही हैं तो वही दूसरी ओर नारी के प्रति बढ़ती हिंसक घटनाएं स्त्रियों की सुरक्षा पर प्रश्नचिन्ह भी लगाती हैं। इसका मुख्य कारण है- वेदों को त्याग कर पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण। वेद सार्वभौम एवं सार्वकालिक ज्ञानराशि हैं, जिनके प्रकाश से आधुनिक मानव भी अपने जीवन को सन्मार्ग की ओर उन्मुख कर सकता है :-**"सा विद्या या विमुक्तये"**

प्रस्तावना-

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता"

समाज की निर्मातृ के रूप में स्वीकृत नारी प्राचीन काल से ही नारी भारतीय मनिषा के चिन्तन का विषय रही है। जिसका प्रमुख कारण है- समाज और राष्ट्र के स्वस्थ एवं सन्तुलित विकास में पुरुष के साथ नारी की सहभागिता। यही कारण है कि प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक समाज के प्रति चिन्तन करने वाले ऋषियों, आचार्यों ने समाज के परिदृश्य और स्वज्ञान के आधार पर नारी की शिक्षा, सुरक्षा, विवाह, स्वतन्त्रता-परतन्त्रता, अधिकार-अनधिकार पर विचार करते हुए समाज में स्थित उसके विभिन्न स्वरूपों को प्रस्तुत किया है।

समाज के दर्पण के रूप में स्वीकृत वैदिक साहित्य का नारी विषयक दृष्टि से अवलोकन करने पर अनेक ऐसे उल्लेख और प्रमाण प्राप्त होते हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि वैदिक काल में नारी का स्थान अत्यन्त उन्नत एवं आदर्शात्मक था। उसका जीवन सुखी, स्वतन्त्र एवं विकासोन्मुख था।

शिक्षा की दृष्टि से वैदिक काल में स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान ही विद्या में रुचि रखने वाली तथा शिक्षा की समान सुविधाएँ प्राप्त करती थी। उसे बिना किसी लिङ्गभेद के यज्ञोपवीत, वेदाध्ययन, यज्ञ, मंत्रोच्चारण तथा ईश्वरोपासना आदि सभी अधिकार प्रदान किए गए थे।[1]

ऋग्वेद में घोषा, विश्ववारा, गोधा, अपाला, उपनिषत्, निषत्, जुहू, अदिति, इन्द्राणी, इन्द्रमाता, सरमा, रोमशा, उर्वशी, लोपामुद्रा, यभी, श्रद्धा, मेधा, दक्षिणा, सूर्या, सावित्री आदि ऋषिकाओं का उल्लेख मिलता है[2], जिन्होंने न केवल वेदादि शास्त्रों का अध्ययन किया अपितु अनेक ऋचाओं की रचना कर[3] उनका प्रचार भी किया। वाक् सूक्त इसका स्पष्ट उदाहरण है।[4] ऋषिकाओं को 'ब्रह्मवादिनी' कहा जाता था। अथर्ववेद[5] में स्पष्ट है कि परिवार में पुत्रियों को ब्रह्मचर्य-पालन की सुविधा थी। बृहदारण्यकोपनिषद् में जनक की विद्वद्गोष्ठी में मैत्रेयी [6] (याज्ञवल्क्य की पत्नी), गार्गी नामक विदुषियों का परिचय मिलता है, जो प्रकाण्ड-विद्वान् याज्ञवल्क्य को भी अपने प्रश्नोत्तर से उलझन में डालती हैं।

सूत्रों में भी स्त्रियों की शिक्षा, उनके वेदाध्ययन तथा यज्ञाधिकार विषयक उल्लेख दृष्टिगत होते हैं। काव्यायन श्रौतसूत्र **(स्त्री चाविशेषात्)** से स्पष्टतः विदित है कि जैसे मेखला से यजमान को दीक्षित करते हैं, वैसे ही यजमान पत्नी को अतः सिद्ध है कि यज्ञ का अधिकार दोनों को समान रूप से है। गोभिल गृह्यसूत्र में भी स्त्रियों के यज्ञोपवीत का निर्देश किया गया है।[7]

रामायण काल में यद्यपि किसी नारी पात्र के यज्ञोपवीत संस्कार तथा ब्रह्मचर्यपालन का साक्षात् उल्लेख नहीं उपलब्ध होता, तथापि अवान्तर

वर्णनों से यह प्रतीत होता है कि रामायण काल में भी स्त्रियों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी। स्त्रियाँ नित्यकर्म में संध्या तथा देवों पितरों की अर्चना करती थीं, यज्ञ में पति के साथ साहचर्य करती थीं, मन्त्रोच्चारणपूर्वक यात्रा पर जाने वाले पति व पुत्र के लिए **'स्वस्त्ययन'** क्रिया करती थीं।[8] किन्तु सूक्ष्माध्ययन उपरान्त यह भी विदित होता है कि उपर्युक्त सभी अधिकार केवल सम्भ्रान्त परिवार की महिलाओं में ही अधिकांशतः दिखाई पड़ते है। तात्पर्य यह है कि वैदिक काल के उपरान्त श्रुति-स्मृति काल में शनैः शनै स्त्रियों की गरिमा, प्रतिष्ठा एवं स्तर में ह्रास होने लगा था। मातृसत्तात्मक समाज का स्थान पितृसत्तात्मक समाज ने ले लिया था।

महाभारत काल में भी लगभग यही स्थिति दिखाई पड़ती है। इस काल में स्त्रियों के यज्ञ के अधिकार को सीमित कर दिया गया एवं उनकी शिक्षा-दीक्षा तथा स्वतंत्रताओं पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए गए। यद्यपि महाभारत के आख्यानों में कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, उत्तरा, सावित्री, दमयन्ती, शकुन्तला आदि अनेक सुशिक्षिता नारियों का परिचय प्राप्त होता है, तथापि पात्रों के वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है कि राजघरानों, श्रेष्ठि-परिवारों तथा ब्राह्मण परिवारों में निजी प्रयत्नों से विशिष्ट आचार्यों को नियुक्त कर अपने घर में ही कन्या की शिक्षा की व्यवस्था करते थे। किन्तु वहीं सुलभा के दृष्टान्त से लक्षित होता है कि उस काल में भी स्त्रियों के लिए आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए आध्यात्मिक ज्ञान अथवा मोक्षविद्या की प्राप्ति के लिए प्रयास करने की छूट थी।[9]

विवाह-व्यवस्था के सन्दर्भ में यदि नारी विषयक चिन्तन पर दृष्टिपात किया जाए तो ज्ञात होता है कि भारतीय समाज में ऋग्वेद काल से ही विवाह को एक संस्कार अर्थात् धार्मिक उत्तरदायित्व स्वीकार किया गया है।[10] तैत्तिरीय संहिता में उल्लिखित है कि देवऋण तथा पितृऋण को चुकाने के लिए विवाह परमावश्यक है।[11] शतपथ ब्राह्मण में थी इसी बात का समर्थन किया गया है।[12] 'पत्नी', पाणिनि **(पत्युर्नो यज्ञसंयोगे- 4/1/33)** के अनुसार यज्ञ में साहचर्य करने वाली होती है। इसीलिए पत्नी को सहधर्मचारिणी भी कहा जाता है। रामायण में सीता-परित्याग के बाद अश्वमेध यज्ञ करने के लिए राम को सीता की सुवर्णमयी प्रतिमा को अपनी सहधर्मचारिणी बनाना पड़ा।

ऋग्वेद में कहा है- **जायेदस्तम् (ऋ. 3/53/4)** अर्थात् जाया ही घर है। इसलिए नारी को गृहस्वामिनी की संज्ञा दी जाती है।[13] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार **''गृहाः वै पत्न्यै प्रतिष्ठाः।''** स्त्री को पुरुष का अर्धांग भी कहा है।[14] महाभारत में तो इससे भी आगे की बात कही गई है।[15]

वैदिककाल में सामान्यतः सन्तान के लिए वर-वधू की खोज करना माता -पिता का अधिकार था, तथापि युवा स्त्री-पुरुष बिना किसी बाधा के अपने जीवन-साथी चुन सकते थे। संहिताओं में 'समन' शब्द का बहुधा प्रयोग मिलता है। इन समनों में युवा कन्याएँ स्वच्छन्दता से अपने युवा पुरुषों से मिलती थी[16] तथा युवा स्त्री-पुरुष बिना माता-पिता से परामर्श किए अपनी इच्छा से विवाह भी करते थे। विवाह के अवसर पर माता-पिता स्वेच्छया अपनी पुत्री को वस्त्रालंकार दान करते थे, उस समय दहेज अनिवार्य नहीं था। डॉ. अल्तेकर के अनुसार, पूर्व वैदिक काल में पुत्री का जन्म माता-पिता के लिए (उत्तरवर्ती काल की अपेक्षा) बहुत कम अवाञ्छनीय अथवा भयावह था।[17]

सम्पूर्ण वैदिक काल में कन्याओं का विवाह पूर्ण युवावस्था को प्राप्त करने पर होता था। कहीं पर भी बाल-विवाह एवं तलाक-प्रथा जैसी आधुनिक कुप्रथाओं का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु सती प्रथा का अप्रत्यक्ष रूप में संकेत अवश्य मिलता है।[18] समाज में विधवाओं की स्थिति संतोषजनक थी, क्योंकि विधवा पुनर्विवाह या 'नियोग' प्रथा का प्रचलन उस समय था, जो उसके देवर के साथ किया जाता था।[19]

किन्तु उत्तरवर्ती काल में यह स्थिति नहीं रही। गान्धर्व विवाहों का प्रचलन केवल क्षत्रियों तक ही सीमित रह गया। सन्तान के विवाह का अधिकार केवल पिता का ही स्वीकारा जाने लगा।[20] यद्यपि रामायण, महाभारत काल में स्वयंवर प्रथा का प्रचलन था, किन्तु स्वयंवर में केवल पुत्री की इच्छा का ही अनुपालन नहीं होता था, वरन् उसके पिता की भी कोई-न-कोई शर्त उसमें सम्मिलित रहती थी। उत्तरवैदिककाल में जब स्त्रियों के लिए उपनयन का निषेध होने लगा तो साथ ही पुत्री के विवाह हेतु यौवनावस्था का विधान भी अव्यावहारिक माना जाने लगा। जिससे वर-वधू की आयु में सुदीर्घ विषमता होने लगी। वशिष्ठ धर्मसूत्रानुसार, पिता को ऋतुमती पुत्री को घर में (अविवाहिता) नहीं रखना चाहिए।[21] किन्तु स्वाभाविक रूप से ऐसे बेमेल विवाहों के कारण न केवल परिवार में स्त्री की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचा, अपितु गार्हस्थ्य जीवन की सरसता भी प्रभावित हुई।

सन्तानोत्पत्ति की कामना से स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षण प्रकृति-सिद्ध है, इसलिए स्त्री सन्तान और पुरुष की समष्टि मानी गई है। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार, स्त्री में पिता अपने अंश रूप तथा गुणानुसार पुत्र को उत्पन्न करता है।[22] अतः उत्तरवर्ती काल यानि रामायण-महाभारत काल में भी परिवार तथा समाज के ढांचे को न केवल खड़ा करने के लिए, अपितु उसे जीवनी शक्ति प्रदान करने के लिए भी पत्नी के रूप में स्त्री की अपरिहार्यता को स्वीकार किया गया है और उसे सम्मान की दृष्टि से देखा गया है।

सूत्र एवं स्मृति काल में यद्यपि विधवा-विवाह का प्रचलन समाप्त हो चुका था, तथापि कहीं-कहीं इससे सम्बद्ध उल्लेख मिलते हैं यथा- कन्या का किसी पुरुष से शरीर सम्बन्ध हुआ हो या न हुआ हो, दूसरी बार विवाह करने पर वह 'पुनर्भू' कहलाती है।[23] परन्तु उस काल में बहुपति-प्रथा तथा बहुपत्नी प्रथा स्पष्टतः अनेक स्थलों पर उल्लिखित हैं।[24] बहुपतित्व का सबसे प्रबल उदाहरण- महाभारत में द्रौपदी। यद्यपि इस

प्रकार के विवाह की धर्मानुकूलता पूर्णतः सन्देहास्पद है।[25] सती प्रथा भी स्मृतियों में उल्लिखित है।[26]

राजनीति एवं सुरक्षा की दृष्टि से स्त्रियों की स्थिति प्राक् वैदिक एवं वैदिक काल में ही समुन्नत दिखाई पड़ती है। स्त्रियों को नीति निर्धारण, सभा व समिति, न्याय, युद्ध में भाग लेने तथा दायभाग विषयक सभी अधिकार प्राप्त थे।[27] वैदिक काल में स्त्रियाँ 'विदथ' नामक आम जनता की संस्था में भाग लेती थी। इसके साथ 'समिति' में स्त्री एवं पुरुष अपने विचारों को समान रूप से प्रकट करते थे। 'सभा' संभ्रान्त एवं श्रेष्ठ लोगों की सभा थी, इसमें स्त्रियाँ भाग लेती थी। अथर्ववेद में 'सभा' तथा 'समिति' को प्रजापति की पुत्रियाँ कहा गया है। इतना ही नहीं वैदिक काल की सामान्य नारी भी अपने सम्मान एवं पति के बुरे आचरण के विरोध में मुखर थी। यथा; ऋग्वेद के अक्षसूक्त में एक जुआरी का आत्मप्रलाप है। वह कहता है-

द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथियो विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरयो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्यभोगम्।।

अर्थात् मेरी सास मुझसे घृणा करती है, पत्नी दूर रोक रही है, भिखारी बन वह किसी की सहानुभूति नहीं पाता। पत्नी उसे घर आने से रोकती है। वह उस बूढ़े घोड़े के समान है, जो बिकाऊ है, पर जिसका कोई मूल्य देने को तैयार नहीं।

रामायण में कौशल्या, कैकेयी, सीता, अरून्धती आदि पात्रों के चरित्र भी इस बात को प्रमाणित करते हैं कि इन्हें धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ राजधर्म, युद्धविद्या, तथा कला की शिक्षा भी प्राप्त हुई थी।[28] महाभारत में द्रौपदी ने एक आचार्य के घर में ही बार्हस्पत्य राजधर्म का ज्ञान प्राप्त किया था। महाभारत के सभापर्व में युधिष्ठिर द्रौपदी को जुए में हार जाते हैं, तो वहाँ भरी सभा में द्रौपदी युधिष्ठिर से प्रश्न करती है, क्या नारी को जुए में दांव पर लगाया जा सकता है? आपने किस अधिकार से मुझे दांव पर लगाया। इस प्रकार द्रौपदी मुखर होकर उसका प्रतिकार करती है। उत्तरा ने भी बृहन्नला रूपधारी अर्जुन से नृत्य, गीत तथा वाद्य की शिक्षा ग्रहण की थी।

स्मृति ग्रन्थों में यद्यपि विषम परिस्थितियों में भी स्त्रियों के अधिकार एवं सुरक्षा की बात कही गई है।[29] कारागार में बन्द नारी के साथ बलात्कार पर मृत्युदण्ड का विधान भी किया गया है [30], तथापि इस काल में शनैः शनैः स्त्रियों की स्वतंत्रता, सुरक्षा एवं प्रतिष्ठा में उत्तरोत्तर अवनति ही परिलक्षित होती है। स्त्रियों के लगभग सभी अधिकारों को सीमित एवं संकुचित करने का प्रयास दृष्टिगत होता है। उत्तरवर्ती काल में नारी के उदात्त चरित्र के साथ-साथ मोह उत्पन्न करने के कारण उसे घृणा का पात्र मानकर निन्दा की गई।[31] उसे धार्मिक गतिविधियों में अपवित्र मानकर यज्ञ की अनधिकारिणी घोषित किया गया।[32] उसे मात्र भोग-विलास की वस्तु समझा जाने लगा। जहाँ स्त्री की परतन्त्रता स्पष्ट ज्ञात होती है।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि प्राक् वैदिक एवं वैदिक युग में सर्वत्र नारी का स्थान अत्यन्त आदर्शात्मक परिलक्षित होता है। नारी को देवी का स्वरूप माना गया है। अर्थर्ववेद के भूमि सूक्त में प्रथम बार पृथ्वी को माता कहा गया है-

''माता भूमि पूत्रोऽहं पृथिव्याः।''

मानव जीवन का उच्चतम आदर्श, जिसे हम प्रार्थना के रूप में उच्चरित करते हैं। वह- **''सर्वे भवन्तु सुखिनः''** अर्थात् सभी प्राणी सुखी हों। यह वेदवाक्य **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** इस उक्ति से पुष्ट होता है, जो वैदिक चिन्तन परम्परा की व्यापकता को स्पष्ट करता है तथा साथ ही मानव अधिकारों को भी स्पष्ट करते हुए स्त्री-पुरुष के समान अधिकारों की बात करता है। वैदिक वाङ्मय में अधिकांशतः स्त्रियों के सम्मान, सुरक्षा, अधिकार एवं शिक्षा की दृष्टि से सकारात्मक दृष्टिकोण स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यद्यपि यह भी सत्य है कि वैदिकोत्तर काल अथवा सूत्र-स्मृति कालीन ग्रन्थों में स्त्रियों के विषय में जो निन्दनीय बातें कही गई है, वे उनकी मर्यादा एवं प्रतिष्ठा के विरुद्ध ही है।

किन्तु यहाँ ध्यातव्य है कि स्मृतिकाल की अपेक्षा मध्ययुग एवं आधुनिक युग के प्रारम्भिक काल (16-17वीं शती) में यदि स्त्रियों की दशा का सूक्ष्मावलोकन किया जाए तो यह काल उनकी अधोगति की पराकाष्ठा थी। उस समय पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति भारत में जड़े जमा चुकी थी। जिसने नारी की अस्मिता एवं पहचान को बहुत बड़ा आघात पहुँचाया। परिणामस्वरूप 18वीं एवं 19वीं सदी के अन्त तक अनेक भारतीय चिन्तकों-राजाराम मोहन राय, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, ज्योतिबा फूले, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, जी.एच. देशमुख, पंडिता रमाबाई आदि ने तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों यथा स्त्री-अशिक्षा, बाल-विवाह, बहु-विवाह, विधवा-पुनर्विवाह, दहेज प्रथा, पर्दा-प्रथा, सती प्रथा, वैश्योद्धार तथा भ्रूण हत्या आदि को अमानवीय एवं असभ्य मानते हुए स्त्रियों के उच्च स्थान एवं अधिकारों के लिए अनेक आन्दोलन चलाए। स्वामी दयानन्द ने बार-बार मनुष्य का ध्यान वेदों की ओर आकृष्ट किया, चूंकि वेदों में यह स्पष्टतः प्रतिपादित है।

''यदि स्त्री पराधीन है अथवा समाज व राष्ट्र में उसे पुरुष के समान अधिकार प्राप्त नहीं है, तो एक सशक्त सुराष्ट्र की कल्पना असम्भव है।''[33]

वर्तमान सहस्राब्दि में भी सम्पूर्ण विश्व में शांति, सद्भाव, सुरक्षा एवं प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ नारी सुरक्षा, सम्मान एवं उनके अधिकारों को लेकर गहन चिन्ता व्यक्त की जा रही है। जहाँ एक ओर नारी वर्ग कई क्षेत्रों यथा- शिक्षा, व्यापार, खेलकूद, विज्ञान, चिकित्सा तथा राजनीति आदि में अपना वर्चस्व स्थापित कर रही है। आज मध्यम वर्गीय स्त्री भी

आर्थिक दृष्टि से पूर्णतः पुरुष पर निर्भर नहीं है। आज हमारे समक्ष चन्दा कोचर, प्रिया पॉल, विनीता बाली, इन्दिरा नूई जैसी नई जमीन तोड़ती हुई उद्यमी भी हैं और नैनालाल किदवई, तथा ललिता गुप्ते जैसी प्रोफेशनल भी हैं। लेफ्टिनेंट जनरल पुनीता अरोड़ा और एयर मार्शल पद्मावती बंदोपाध्याय जैसी स्त्रियों ने सेना और पुलिस जैसे पुरुष वर्चस्व वाले क्षेत्रों में अपने पाँव जमाए हैं। इसके विपरीत गीता फोगाट, साक्षी मलिक, मैरी कॉम, साइना नेहवाल, मिताली राज, पी.वी. सिन्धू जैसी स्त्री-खिलाड़ी भी हैं, जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक नई पहचान अर्जित की है। मेधा पाटकर, सुनीता नारायण, भंवरी देवी जैसी योद्धा भी हैं, जो सामाजिक विषयों के लिए सम्पूर्ण सामाजिक तन्त्र से अनथक लड़ाई लड़ती नजर आती हैं, बल्कि राजनीति में भी इन्दिरा गाँधी, सरोजिनी नायडू, प्रतिभा पाटिल, सुषमा स्वराज एवं निर्मला सीतारमण जैसी अनेक स्त्रियों ने गरिमामय पदों पर प्रतिष्ठा प्राप्त की है।

परन्तु वहीं दूसरी ओर वर्तमान समाज में बलात्कार, कन्या भ्रूण हत्या, रोजगार में समान अवसर न होना, झूठे सम्मान के लिए नारी हत्या जैसी बढ़ती घटनाएँ स्त्रियों की सुरक्षा एवं प्रतिष्ठा पर बड़ा प्रश्न खड़ा करती है। इसका मुख्य कारण है- वेदानुकूल आचरण त्यागकर पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण। वेदों में तो भ्रूण हत्या को महापाप एवं अपराध बताया गया है।[34] इस विषय में स्मृतियाँ भी वेदों का ही अनुकरण करती हैं।[35] वेद सार्वभौम एवं सार्वकालिक ज्ञानराशि है, जिसके प्रकाश से आधुनिक मानव भी अपने जीवन को सद्मार्ग की ओर उन्मुख कर सकता है-

''सा विद्या या विमुक्तये''

1(क) भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता। - ऋ.; 11/109/4 (यज्ञोपवीत विषयक)
(ख) ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। - अथर्व.; 11/5/18 (वेदाध्ययन विषयक)
(ग) यज्ञं दधे सरस्वती। ऋ.; 1/3/11, 8/31/6, 5/28/1, श.ब्रा.; 14/3/135 (यज्ञ विषयक)
(घ) श.ब्रा.; 3/8/2/4 (मन्त्र विषयक)
(ङ) वही; 5/53/19 (ईश्वरोपासना)
2.घोषा गोधा विश्ववारा, अपालोपनिषन्निषत्।
ब्रह्मजाया जुहूनाम्, अगस्त्यस्य स्वसादितिः।।
इन्द्राणी चेन्द्रमाता च, सरमा रोमशोर्वशी।
लोपामुद्रा च नद्यश्च, यमी नारी च शश्वती।।
श्री लक्ष्मीः सार्पराज्ञी वाक् श्रद्धा मेधा च दक्षिणा।
रात्री सूर्या च सावित्री, ब्रह्मवादिन्य ईरिताः।। - ऋग्वेद; अ. 24/84-86
3.ऋ.; 5/28; 8/91; 10/39, 40, 95, 107, 134, 154, 159, 189 वां सूक्त।
4.ऋ.; 10/125/4
5.ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्- अथर्ववेद; 11/5/18
6.बृहद्.; 2/4/3
7.प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयन् जवेत्। - गोभिल गृह्यसूत्र; 2/1/19
8.Sharma, Dr. R.A. – A Socio-Political Study of the Valmiki Ramayana, page 72-76
9.भट्टाचार्य, सुखमय- महाभारतकालीन समाज, पृष्ठ 63-65 तथा 133-137
10.Prabhu, P.N.- Hindu Social Organization, page 173
11.तैत्तिरीय संहिता; 6/3/10/5
12.शतपथ ब्राह्मण; 5/1/6/10; 5/2/1/8
13.सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्रवांभव,
ननान्दरि सम्राज्ञी भव अधि देवृषु।। ऋ.; 10/85/46
14.शतपथ ब्राह्मण; 5/2/1/10
15.(क) महाभारत; शान्तिपर्व; 144/6
(ख) अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा। भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः।। - वही; आदि, 74/40
16(क) नारी समनं वाव गच्छति। ऋ.; 10/86/10
(ख) ऋ.; 10/68/2; 4/58/8, अथर्व.; 2/36/1
17. Altekar, Dr. A.S. The Position of Women in Hindu Civiliza tion, page 4
18.विस्तार द्रष्टव्य- ठाकुर, उपेन्द्र, ''हिस्ट्री ऑफ सुइसाइड इन इंडिया, पृष्ठ 3
19.ऋ.; 1/87/3; 10/40/2; अथर्व.; 18/3/1, तै.सं.; 3/2/4/4
20.रामायण; 7/9/9, 7/9/10
21.प्रयच्छेन्नग्निकां कन्यामृतुकाल भयापिता।
ऋतुमत्यां हि तिष्ठन्त्यां दोषः पितरमृच्छति।। - वशिष्ठ धर्मसूत्र; 17/62
22.याज्ञवल्क्यस्मृति; 1/56
23.अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः। - याज्ञ. स्मृति; 1/67
24.(क) पारस्कर गृह्यसूत्र; 1/4/8-11
(ख) आप. धर्मसूत्र; 11/10/27
(ग) Upadhyaya, B.S. – Women in Rgveda, pp. 107
(घ) Kane, P.V. – History of Dharmashastra; Vol. ; II, Part I, page 550
25.सूक्ष्मो धर्मो महाराज नास्य विद्यो वयं गतिम्। - महा., 1/194/29
26.बृहत्पाराशर स्मृति- धर्मशास्त्र संग्रह- जीवानन्द भाग 2, पृष्ठ 182
27.(क) यजुर्वेदभाष्य; 10/26 (नीतिनिर्धारण विषयक)
(ख) अहं वदामि नेत्व सभायामह त्वं वद। अथर्व.; 7/38/4 (सभा विषयक)
(ग) यजुर्वेदभाष्य; 10/27 (न्याय विषयक)
(घ) ऋ.; 1/112/10, यजुर्वेदभाष्य; 14/3 (युद्ध विषयक)
(ङ) वही; 10/27/12; 1/124/7, (दायभाग विषयक)
28.Sharma, Dr. R.A.- A Socio-Political Study of the Valmiki Ramayana; page 72-76.
29.न भोगं कल्पयेत्स्त्रीषु देव राजधनेषु। - कौटिल्य अर्थशास्त्र, व्या. वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृष्ठ 256
30.वही
31.मनु.; 9/14, 15, 17
32.श.ब्रा.; 14/1/1/3, 1/3/1/13, 1/1/4/13, 4/3/1/85; जै.ब्रा.; 1/98
33.ऋ.; 10/159/2; ऋ.; 10/159/5
34.ऋ.; 10/155/2
35. पराशर स्मृति; 4/20

******

आदिवासी समाज के अस्तित्व व अस्मिता का संघर्ष : ' ग्लोबल गांव के देवता '

डॉ. नमिता जैसल
सहायक आचार्य
हिंदी विभाग
बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर
विश्वविद्यालय ,लखनऊ -226025
दूरभाषः 8318631875
Email-namitabhu123@gmail.com

भारत का आदिवासी समुच्चय में सोचता और सामूहिकता में विचार करता है। प्रकृति से गहन जुड़ाव और लगाववृत्ति उनके अनुभव और स्मृति की आधारशिला है जो उनकी असल धात्री और सरंक्षक दोनों है। परस्पर सह-अस्तित्व की यह परम्परा आदिमकाल से उनसे जुड़ी-बंधी हुई हैं जिनके प्रत्यक्ष-परोक्ष उदाहरण दिखाई देते हैं। भारतीय संस्कृति - सभ्यता के विस्तार में आदिवासी संस्कृति का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय जीवन - मूल्यों की संस्कृति को संरक्षित और जीवंत बनाये रखने में आदिवासी समाज और संस्कृति का अप्रतिम योगदान उल्लेखनीय है। सामाजिकता के आधुनिक ताने-बाने से भिन्न यह समाज सामूहिक रूप से प्रकृति के समीप रहता आया है और इनके दर्शन के केन्द्र में जल ,जंगल और जमीन प्रमुख विषय हमेशा से रहे हैं। प्रकृति के राग-अनुराग और सामूहिकता को खंडित करने वाली शक्तियों के खिलाफ आदिवासी समाज अनवरत रूप से संघर्ष करता आया है,और आज भी कर रहा है। इनका यह संघर्ष वाचिक और लिखित दोनों रूपों में देखने को मिलता है। जो आदिवासी साहित्य का मूल स्वर है।

आदिवासी समाज ने जो भी सीखा है वह प्रकृति के रूप-अपरूप से अधिक सीखा है। आदिवासी साहित्य की आरंभिक परम्परा में गीतों की वाचिक परम्परा के साथ -साथ कथाएँ और गाथाओं की परम्परा भी देखने को मिलती है। आदिवासी सभ्यता की विकास-यात्रा वन्य क्षेत्रों और जीव-जंतुओं के बीच से प्रारंभ होकर महानगरों तक भी आती हुई दिखाई देती हैं । भौगोलिक दृष्टि से भारतीय समाज को वन्य, ग्राम और शहरी क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है,और आदिवासियों को विभिन्न नामों से भारतीय समाज में पुकारा जाता है जिनमें प्रमुख रूप से वनवासी, जंगली, जनजाति आदि शब्द है। " वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार देश की कुल आबादी में अनुसूचित जनजातियों के हिस्सा 8.6 प्रतिशत यानी 10.45 करोड़ है । अनुसूचित जनजातियों की आबादी का लगभग 92 प्रतिशत हिस्सा ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करता है । देश की जनसंख्या में उनका हिस्सा 1961 में 6.9 प्रतिशत था जो 2011 में बढ़कर 8.6 प्रतिशत हो गया है । " [1]

भारत में लगभग 360 जातीय समूहों की जनजातियाँ निवास करती है। इनका अपना धर्म है,जो प्रकृति प्रदत्त हैं । जिनमें से कुछ लोगों ने हिन्दू ,ईसाई ,बौद्ध एवं इस्लाम धर्म भी अपनाया है। जनसंख्या के आधार पर भारत में प्रमुख आदिवासी समुदायों में भील , संथाल,उरांव ,गोंड, मुंडा तथा मीणा हैं। इन्हीं आदिवासी समुदायों में एक समुदाय असुर का है। " असुर आस्ट्रीक परिवार के हैं । ये मुंडा भाषा परिवार की 'मालेय' या 'आसुरी ' बोली बोलते हैं । असुर तीन प्रकार के हैं; 1. बिर असुर , 2.बिरजिया असुर और 3. अगरिया असुर । ये पौराणिक ग्रंथों में वर्णित असुरों को अपना पूर्वज मानते है । असुरों के गांव का मुखिया 'महतो ' कहलाता है। वह 'अखरा ' में पंचायत लगाता है। नेतरहाट क्षेत्र में ये आरंभ से ही लोहा गलाने का काम करते हैं । हालांकि अन्य लोगों की अपेक्षा लोहा गलाने में ज्यादा दक्ष थे ,लेकिन अब ये झूम खेती की ओर आकर्षित हुए हैं ।" [2] असुर समुदाय के इन्हीं संघर्षों का जीवंत दस्तावेज रणेंद्र के उपन्यास "ग्लोबल गांव के देवता" में हम देख सकते है।

रणेन्द्र द्वारा लिखित 'ग्लोबल गाँव के देवता' वर्तमान समय के चर्चित आदिवासी हिन्दी उपन्यासों में एक है। इसमें झारखण्ड राज्य के असुर आदिवासी समुदाय के जीवन संघर्ष को उल्लेखित किया गया है। सदियों से सभ्यता एवं संस्कृति की आड़ में शोषित असुर आदिवासियों की जीवन शैली को इस उपन्यास में जगह मिली है। यह उपन्यास मूल रूप से वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में आदिवासी समुदाय के खिलाफ जारी अंतर्राष्ट्रीय साजिश का खुलासा करता है। 21वीं सदी में जब भूमंडलीकरण , औद्योगीकरण अपने चरम पर है तथा विकास के नाम पर आदिवासी समुदाय को उनके मूलभूत आवश्यकताओं जल, जंगल और जमीन से बेदखल किया जा रहा है। ऐसे में संकट केवल उनके अस्तित्व पर नहीं है बल्कि उनकी संस्कृति पर भी है। इसी बात को केंद्र में रखकर रणेन्द्र का यह उपन्यास लिखा गया है।

यह उपन्यास झारखंड के कोयल बीघा अंचल में बसे उन असुर आदिवासी समुदाय पर केंद्रित है जो सदियों से लोहा पिघलाने का काम करते आ रहे हैं। लोहे की तरह अपने देह को गला देने वाले इन आदिवासियों की मेहनत को कभी उचित सम्मान नहीं मिला। इसकी सबसे बड़ी वजह उनकी शांतिप्रिय और मासूमियत है। राजनीति और पूंजीवादी गठजोड़ ने उनको हमेशा दोयम दर्जे का नागरिक समझा। इतिहास ने उनको, उनकी वास्तविक स्थिति से कभी तथाकथित मुख्यधारा से रूबरू नहीं कराया। तथाकथित मुख्यधारा के लिए वे हमेशा घृणा के पात्र हैं। रणेन्द्र अपने उपन्यास में कहते हैं कि, असुरों के बारे में मेरी धारणा थी कि " खूब लंबे - चौड़े ,काले - कलूटे ,भयानक , दाँत- वांत निकले हुए , माथे पर सींग-वींग लगे हुए लोग होंगे । लेकिन लालचंद को देखकर सब उलट-पुलट हो रहा था बचपन की सारी कहानियाँ उल्टी घूम रही थीं।" [3]

रणेंद्र असुरों पर आये संकट को महज तत्कालीक संकट नहीं मानते और न ही स्थानीय; यह सार्वकालिक और सार्वदेशिक शोषण का एक छोटा भयावह चित्र है। यही कारण है कि, लालचन, रुमझुम की विपदा उन्हें

वैदिक युग से लेकर अमेरिका के रेड इंडियंस के इतिहास के अंधेरों में खो जाने को मजबूर करती है। एक असुर की हत्या से आहत कथानायक सोचता है- " यह केवल एक लालचन दा के चाचा की हत्या का सवाल नहीं था और न किसी असुर पर पहली बार या आखिरी बार आक्रमण हुआ था। न यह पहली बार जमीन के टुकड़े के लिए हत्या हुई थी। यह हजारों-हजार साल से चल रहे घोषित- अघोषित युद्ध की नवीनतम कड़ी मात्र थी। कटे सिर ने हमारी काल और देश की समझ को गड़बड़ा दिया था । समझ में ही नहीं आ रहा था कि हम वैदिक काल में हैं कि इक्कीसवीं सदी में। वर्तमान अतीत में ढलता जा रहा था और अतीत की कत्ल - ओ -गारत वर्तमान में नजरों के सामने नाच रही थी। वह क्या था जिसके कारण एक समुदाय बहुसंख्यक समुदाय के लिए 'अन्य' में तब्दील हो गया। हमसे अलग, 'अन्य', एक शत्रु। चूँकि उसके जीवन-यापन का तरीका हमसे भिन्न था, इसीलिए वह हत्या के योग्य, गालियाँ देने योग्य कैसे हो गया? आग की खोज, धातुओं की खोज, धातु पिघलाने की कला किन्हीं को इतनी बुरी क्यों लगी कि, इस कारीगर जाति को बार-बार आक्रमणों में नष्ट होने और पीछे हटने के लिए मजबूर होना पड़ा। बरबस प्राचीन अमेरिका के इंका, माया, एज्टैक और सैकड़ो अन्य रेड इंडियंस याद आये। इसी तरह से खदेड़े जानेवाले इसी तरह से मार दिये जाने वाले।"[4]

मानवीय चेतना सामुदायिकता की मन भावना स्त्री-पुरुष संबंधों में सापेक्षिक समानता,वैचारिक आजादी, सामूहिक विकास की भावना स्वाभिमान स्वतंत्रता और सम्मान की चाह आदि तमाम लोकतांत्रिक और आधुनिक विचारों रस्मों की आदिवासी समाज में उपस्थिति सदियों से रही है और शायद इन्हीं वजहों से उनका जीवन संकट पड़ रहा है। प्रसिद्ध लेखिका रोहिणी अग्रवाल लिखती है कि " रणेंद्र के पास जानकारियों का विपुल भंडार है वे शॉप रिश्तो में फैले उपन्यास के संक्षिप्त कलेवर में विलुप्त जनजातियों का वृत्तांत ठोस देना चाहते हैं इसमें एकमात्र असुर जनजाति के दमन की कथा ही नहीं बल्कि विश्व पर विलुप्त कर दी गयी इनका आज तक माया सभ्यताओं के दमन की कथा भी है।"[5]

यह उपन्यास आदिवासी असुर समुदाय के जीवन संघर्ष का दस्तावेज है उपन्यासकार देवराज इंद्र से लेकर ग्लोबल गांव के देवता के रूप में फैले व्यापारियों तक छल प्रपंच एवं झूठे प्रलोभन को उजागर करने में कामयाब रहा है। असुरों के दुश्मन उनके अंधविश्वास एवं अज्ञानता भी हैं लेकिन इसकी उपस्थिति और विस्तार भी देवताओं की साजिश का ही परिणाम है। शिक्षा तंत्र पर चोट पहुँचाकर उन्हें अज्ञानी बनाते हैं और अर्थतंत्र को तहस-नहस कर उनके अंधविश्वास के फैलाव के लिए मजबूत जमीन तैयार करते हैं। ग्लोबल गाँव के देवता की हर पंक्तियां घोषित करती है कि, जंगलों में रहने वाली जनजातियां जंगली नहीं होती जंगली जानवरों ने तो हजारों साल पहले ही नगरों का रास्ता तैयार कर लिया था। संघर्ष तथाकथित सभ्य समाजों की तुलना में आदिवासी समाज में स्त्री के प्रति कम उदारता है और संकट पूर्ण संघर्षमय जीवन के कारण घर की चहारदीवारी से मुक्त भी हैं। पूर्वोत्तर भारत से लेकर झारखंड तक आदिवासी समाज में बलात्कार के मामले ना के बराबर घटित होते हैं और जो भी होते हैं, वह सब लोगों की वजह से। असुर समाज में स्त्रियों को जनानी नहीं कहकर सयानी कहा जाता है और परिवार का दारोमदार उनके कंधों पर होता है लेकिन इसका फायदा कम उन्हें नुकसान ही ज्यादा हुआ। पूंजीपतियों ने उनको भी एक कच्चे माल में तब्दील कर दिया; बाबा से लेकर बाहरी दलालों तक ने सैलानियों के खुले पन को खाद में बदल दिया जिससे जन्मी नयी - नयी पौध भी उनकी वासना का शिकार हो जाती हैं, शिव दास बाबा के कन्या विद्यालय के मैनेजर किशन कन्हैया पांडे के गेस्ट हाउस से लेकर दिल्ली की मंडियों तक में इंसानों की धार को कुंद किया जाता है और जो उनकी पकड़ में नहीं आती ललिता की तरह उनके परखच्चे उड़ा दिए जाते हैं। उपन्यास में जगह-जगह और स्त्रियों की वीरता और बुद्धिमानी के किस्से हैं पर सिंगबोंगा की कथा उनकी सर्वकालिक नियति की सटीक व्याख्या करता है। नायक इस लोक कथा का नवीन पाठ ऐसे रचता है- " सिंगबोंगा की कहानी में क्या है? सिंहबोंगा ने खसरा लड़के का रूप धरकर असुरों को न केवल मूर्ख बनाया , बल्कि भट्टी में बंद कर जला दिया। निश्चित तौर पर भट्टी में जलाया जाना हु-ब-हू नहीं घटा होगा । लड़ाई में छल से या धोखे से असुरों को खत्म किया गया। लेकिन देखनेवाली बात है कि, धोखा असुर पुरुषों ने खाया स्त्रियों ने नहीं। उस कहानी में भी असुर औरतें ही समझदारी दिखाती, विरोध दर्ज कराती दिखती हैं। वही अकाशचारी देवता सिंगबोंगा का पैर पकड़ रोकने की ईमानदार कोशिश करती दिखती हैं।भले उनकी कीमत चुकानी पड़ी हो और कहानी में उनका रूप बिगाड़कर उन्हें चुड़ैल- भूत बना दिया गया हो।"[6]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि झारखंड राज्य में निवास कर रहे आदिवासी समुदायों का जीवन बेहद कठिनाईयों से आये दिन घिरता जा रहा है जिसके अंतर्गत आदिवासियों के जीवन स्तर के विभिन्न आयामों का क्षरण स्पष्ट रूप से इस उपन्यास में देखा जा सकता है। वैश्वीकरण की विकास रूपी तथाकथित अंधी चकाचौंध से यह समाज बुरी तरह प्रभावित होकर अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को त्यागने के लिए मजबूर है। उपन्यासकार ने देवराज इन्द्र से लेकर ग्लोबल गाँव के देवता के रूप में फैले व्यापारियों के छल, प्रपंच एवं झूठे प्रलोभन को उजागर करने में कामयाब रहा है। वस्तुतः यह उपन्यास आदिवासी जीवन संघर्ष तथा आदिवासी स्वाभिमान को जिन्दा रखने की ललक को प्रामाणिकता एवं संवेदनशीलता के साथ उजागर करता है।

संदर्भ ग्रंथ -

1. जनजातीय जीवन और संस्कृति, ललित खुराना ,कुरुक्षेत्र(मासिक अंक) सितम्बर-2022, पृष्ठ-05
2. आदिवासी समाज, साहित्य और राजनीति, केदार प्रसाद मीणा, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली,2020,पृष्ठ-43
3.ग्लोबल गाँव के देवता, रणेंद्र, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली,2021,पृष्ठ-11
4.वही,पृष्ठ-32-33
5.आदिवासी साहित्य विमर्श ,गंगा सहाय मीणा,अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली ,2016,पृष्ठ-81-82
6. ग्लोबल गाँवके देवता, रणेंद्र, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली,2021,पृष्ठ-72

*****

वैदिक संस्कृति में प्रतिबिम्बित समाज

-डॉ. देवेन्द्र नाथ ओझा
**सहायक प्रोफेसर*
एमिटी इंस्टिट्यूट फॉर संस्कृत स्टडीज एण्ड रिसर्च
एमिटी विश्वविद्यालय उत्तर प्रदेश, नोएडा
dnojha12@gmail.com
9968225891

सारांश : वेद भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत हैं। आज इसे विश्व वाङ्मय के प्राचीनतम ग्रंथ के रूप में स्वीकार किया जाता है। वेदों से ही भारत की सांस्कृतिक, सामाजिक एवं धार्मिक चेतना का स्रोत प्रवाहित है। ऋग्वेद यह स्पष्ट निर्देश देता है कि समान मन वाले सखा होकर जागो। अपने आप में सब प्राणियों को देखना और अपने आपको सब प्राणियों में देखना ही वेद का समभाव है। वेद में संपूर्ण विश्व को एक समान मानकर साथ चलने, एक साथ विचार करने की प्रेरणा दी गई है, जिससे सब साथ मिलकर सुख पूर्वक रह सके। वेदों में समाज की कल्पना एक स्वस्थ शरीरधारी पुरुष के रूप में व्यक्त की गई है। वह एक भेद रहित संगठन था। वैदिक मंत्रों के अनुसार पूर्ण शरीर के अंगों के समान इन वर्णों में ना कोई ऊंचा है ना कोई नीचा, इस प्रकार वैदिक वर्ण व्यवस्था कर्म पर आधारित थी न कि जाति पर। वैदिक संस्कृति में जीवन की पूर्णता और समाज की आवश्यकता तथा उसके पोषण के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति पर मनुष्य के लिए विवाह करके आश्रम में प्रवेश करना आवश्यक माना गया है। इस प्रकार यदि मनुष्य वैदिक संस्कृति एवं समाज के सर्वजन कल्याणकारी नियमों का पालन करता है तो वह सभी संकटों से मुक्त होकर पृथ्वी को स्वर्ग बना सकता है।

बीज शब्द : वेद, वैदिक, भारतीय, संस्कृति, समाज।

परिचय : वेद भारतीय संस्कृति के मूल हैं। आज इन्हें विश्व वाङ्मय का प्राचीनतम ग्रन्थ स्वीकार किया जाता है। इनसे ही भारत की सांस्कृतिक, सामाजिक एवं धार्मिक चेतना का स्रोत प्रवाहित है। वैदिक संस्कृति शाश्वत और सार्वभौम है। उसमें युगों- युगों तक मानव मात्र का मार्गदर्शन करने की क्षमता है। समाज शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक अज् (चलना) धातु से निष्पन्न हुआ है। दूसरे शब्दों में मनुष्यों का एक साथ रहकर, मिलकर, एक दूसरे से सहयोग करके जीवन यापन करने का नाम ही समाज है।

वेद की अनेक उक्तियों में यह सामाजिक भाव स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होता है। ऋग्वेद का स्पष्ट निर्देश है कि समान मन वाले सखा होकर जागो - **"उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः"**[1] अपने आप में सब प्राणियों को देखना और अपने आपको सब प्राणियों में देखना ही वेद का समभाव है। यह समत्व जब मन में आता है तो दूसरों के प्रति घृणा का भाव समाप्त हो जाता है – **"यस्तु सर्वाणि भूतन्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चैतमानं ततो न विजुगुप्सते॥ "**[2] यह भावना वस्तुतः पारिवारिक सौमनस्य में पनपती है। इसीलिए अथर्ववेद में माता-पिता तथा पुत्र, भाई-भाई, भाई-बहिन, पति -पत्नी में पूर्ण सौमनस्य की कामना व्यक्त की गई है-**" मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा । सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ "**[3] परिवार से आगे चलकर ही इस सौमनस्य भावना की परिणति पूर्ण समाज के रूप में दृष्टिगोचर होती है।

वेद में पूर्ण विश्व को एक समाज मान कर साथ चलने, एक साथ विचार करने की प्रेरणा दी गई है। जिससे सब साथ मिलकर सुखपूर्वक रह सके- **"सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् । देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ "**[4] वेद में समाज की स्वाभाविक विषमता स्वीकार की गई है- **"समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सम्मातरा चिन्न समं दुहाते । यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः ॥ "**[5]

वेद में यज्ञमय जीवन की प्रार्थना की गई है। देना, सहायता करना, दुःख दूर करना - यह यज्ञ है। सत्पुरूषों की संगति द्वारा सबके कल्याणार्थ सत् ज्ञान प्राप्त करना, सद् व्यवहार सीखना यज्ञ है। इसके द्वारा समाज में बन्धुत्व एवं मित्रता की भावना का संचार होता है। यह मित्रता की भावना वैदिक सामाजिक व्यवस्था का आदर्श है। यजुर्वेद में यह निश्चित किया गया है कि हम एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें -**" दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।मित्रस्याऽहं चक्षुषा सर्वाणि**

भूतानि समीक्षे।मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ "[6] इसी प्रकार ऋग्वेद का कथन है कि मनुष्य सब ओर से मनुष्य की रक्षा करे- **"अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुं ज्याया हेतिं परिबाधमानः । हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान्पुमान्पुमांसं परि पातु विश्वतः ॥ "**[7] यही विश्व - परिवार की वैदिक भावना है जिसमें ऊँच-नीच का कहीं भी लेशमात्र अन्तर नहीं है।

वेद में समाज की कल्पना एक स्वस्थ शरीरधारी पुरूष के रूप में व्यक्त की गई है। वह एक भेद रहित संगठन था। समाज में चार वर्ण परस्पर सहयोग करने वाले पूर्ण शरीर के अपरिहार्य अङ्गों के समान बताये गए है- **"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः । ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ "**[8] वैदिक मन्त्रों के अनुसार पूर्ण शरीर के अंगों के समान इन वर्गों में न कोई ऊँचा है, न कोई नीचा। इस प्रकार वैदिक वर्ण-व्यवस्था का अर्थ गुण-कर्म है, जाति नहीं। सबकी समान समृद्धि से ही समाज की समृद्धि सम्भव है। व्यक्तिगत जीवन में पूर्णता के लिए भी वैदिक समाज व्यवस्था में समन्वय पर बल दिया गया है। अथर्ववेद के एक सम्पूर्ण सूक्त में ब्रह्मचर्य अथवा शिक्षा के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।[9] ब्रह्मचारी का समाज में अत्यन्त सम्मानजनक स्थान है। ब्रह्मचारी ही आचार्य है, वही प्रजापति है। राजा भी ब्रह्मचर्य के द्वारा राष्ट्र की रक्षा करता है- **"ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति। आचार्योऽब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥"** [10]

वैदिक समाज व्यवस्था में परिश्रम करने वाले विद्या के इच्छुक सभी शिक्षा के अधिकारी हैं। ब्रह्मचर्य में प्रवेशार्थ वेद में शूद्र अथवा स्त्री किसी का निषेध नहीं है। कन्या भी ब्रह्मचर्य के द्वारा युवक पति को प्राप्त करती है- **"ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अनड्वान्ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥"** [11] वेद में वाक्सूक्त में स्त्री को परा शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है-**"अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः । अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ "**[12] वेद, विधवा को स्पष्ट रूप से पुनर्विवाह के लिए प्रेरित करता है। पति के शव के पास बैठी (या लेटी) लोकविह्वल स्त्री को सम्बोधित करते हुए ऋग्वेद यह स्पष्ट निर्देश देता हैं कि - तू उठ और जीवित जनों के लोक में आ। तेरा धारण-पोषण करने तथा पाणिग्रहण के इच्छुक व्यक्ति के साथ तू पति के ही साथ का अनुभव कर-**" उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि । हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥ "**[13]

वैदिक संस्कृति में जीवन की पूर्णता और समाज की आवश्यकता तथा उसके पोषण के लिए ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर मनुष्य के लिए विवाह कर के गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना आवश्यक है। मनु के अनुसार जिस प्रकार सब नदी और नद समुद्र में ही स्थिर होते हैं- आश्रित होते हैं, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम पर सब आश्रम आश्रित होते है- **"यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्। तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।"**[14]

ऋग्वेद का कथन है कि विवाह करके पति-पत्नी को यहाँ, इस घर में रहना चाहिए, अलग नहीं होना चाहिये। पुत्रों और नाती-पोतों से खेलते हुए तथा अपने घर में आनन्दित होते हुए पूर्ण आयु प्राप्त करनी चाहिए, अर्थात् पूर्ण रूप से गृहस्थ का पालन करना चाहिए- "**इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥ "**[15] दूसरी ओर वैदिक व्यवस्था ने घर में नवविवाहिता को पूर्ण अधिकार देकर अद्भुत संतुलन स्थापित किया है। अथर्ववेद में नववधू को कहा गया है कि तू अपने स्वसुर, सास, देवर, ननद की साम्राज्ञी हो जा- "**सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥ "**[16]

वैदिक संस्कृति में सामाजिक जीवन के अन्तर्गत घर को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसीलिए यजुर्वेद में प्रार्थना की गई है कि पृथिवी पर घर दृढ़ रहे- **"भूताय त्वा नारातये स्वरभिविख्येषं दृꣳहन्तां दुर्याः पृथिव्यामुर्वन्तरिक्षमन्वेमि। पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयाम्यदित्या ऽउपस्थेऽग्ने हव्यꣳ रक्ष ॥"**[17] अथर्ववेद में अभिलाषा व्यक्त की गई है कि "हमारे घर मधुरवाणी से युक्त हो, वे भाग्यशाली हो, अन्न से युक्त हों, हास्य - प्रमोदपूर्ण हो, तृषारहित और क्षुधारहित हो।" वैदिक समाज की विशेषता उसकी पूर्णता है। इसलिए मनुष्य को कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए- **"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।"**[18]

व्यक्ति से ही समाज की उन्नति होती है। ऋग्वेद में इसलिए कहा गया है कि "एक एक व्यक्ति बल और बुद्धि में इतना उन्नत हो कि चारों दिशाएं उसके आगे झुक जाये – **"ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम । महां नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम॥ "**[19] दूसरी ओर आदर्श समाज के निर्माण के लिए ऋग्वेद में प्रार्थना की गई है कि - " उल्लू जैसे अज्ञानी, भेड़िये जैसे हिंसक प्रवृत्ति वाले, कुत्ते जैसे ईर्ष्या से युक्त और चाटुकार, चकवे जैसे अतीव कामासक्त बाज जैसे मदयुक्त और गिद्ध जैसे लोभी जनों से समाज का मुक्त होना आवश्यक है-

"उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् । सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥ "[20] वेद पूर्ण सामाजिक उन्नति की भावना के विषय में यजुर्वेद का कथन है कि " हे परमेश्वर राष्ट्र में ब्रह्मतेज से युक्त ज्ञानी विद्वान हो, और शूरवीर लक्ष्यवेधी, धनुर्धारी, महारथी योद्धा हो समृद्ध स्त्रियाँ हो, विजयी सैनिक और वीर युवक सभा में बैठ कर विचार-विमर्श करने में समर्थ हों-**"आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः] शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ "**[21]

निष्कर्ष : इस प्रकार उपरोक्त विश्लेषण से कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में समाज की अवधारणा उत्कृष्ट थी। यदि मनुष्य आज वैदिक साहित्य में वर्णित समाज के उदार एवं सर्वजन-कल्याणकारी नियमों का पालन करता है तो वह निश्चित रूप से सभी संकटों और असंगतियों से मुक्त होकर एक सुसंगठित एवं सर्वकल्याणकारी समाज का प्रतिनिधित्व कर सकता है।

सन्दर्भ -:

1. ऋग्वेद, 10.101.1
2. ईशावास्योपनिषद्, श्लोक-6
3. अथर्ववेद, 3.30.3
4. ऋग्वेद 10.191
5. ऋग्वेद, 10.117.9
6. यजुर्वेद 36.1.18
7. ऋग्वेद 6.75.14
8. ऋग्वेद 10.90.12
9. अथर्ववेद 11.5.18
10. अथर्ववेद 11.5.17
11. अथर्ववेद 11.5.18
12. ऋग्वेद 10.125
13. ऋग्वेद 10.18.8
14. मनुस्मृति 6.90
15. ऋग्वेद 10.85.42
16. ऋग्वेद 10.85.46
17. यजुर्वेद 1.1.11
18. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः। ईशावास्योपनिषद्, श्लोक-6
19. ऋग्वेद 10.128.1
20. ऋग्वेद 7.104.22
21. यजुर्वेद 22.1.22

*****

सिद्धहेमशब्दानुशासन में परिलक्षित संस्कृति

-प्रभाकर सुयाल
शोधछात्र,
संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली ११०००७

संस्कृति जीवन जीने की एक पद्धति है जो समय के साथ-साथ विकसित होती है। भारतीय संस्कृति का इतिहास बहुत प्राचीन व बृहद् है। भारत प्राचीन काल से ही आध्यात्मिक, वैचारिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से सम्पन्न रहा है। इसके विषय में हमें साहित्य व इतिहास परक रचनाओं के माध्यम से जानकारी प्राप्त होती है। भारतीय ज्ञान परम्परा में अनेक व्याकरणों की रचना हुई है जिनमें पाणिनीय व्याकरण सर्वाधिक प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ है। पाणिनि के उत्तरकाल में भी कई वैयाकरण हुए है जिन्होने पाणिनीय व्याकरण को आधार बनाकर अपने स्वतन्त्र व्याकरण की रचना की है। इसी क्रम में आचार्य हेम ने सिद्धहेमशब्दानुशासन की रचना की है। सिद्धहेमशब्दानुशासन जैनाचार्य हेमचन्द्रसूरि द्वारा ग्यारहवीं शताब्दी में रचित संस्कृत व्याकरण ग्रन्थ है। हेमशब्दानुशासन के सूत्रों एवं उदाहरणों के माध्यम से तात्कालिक संस्कृति के विषय में बोध होता है। जिसका विवेचन प्रस्तुत है –

मूल शब्द :- संस्कृति, साहित्य, सूत्र, उदाहरण , शिक्षा, अलङ्कार, आभूषण।

संस्कृति :-

सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से संस्कृति शब्द बना है। यह परिष्कृत अथवा परिमार्जित के भाव का द्योतक है। संस्कृति से समाज के नैतिक, आध्यात्मिक तथा बौधिक उपलब्धि के विषय का ज्ञान होता है। संस्कृति किसी एक व्यक्ति विशेष के प्रयत्न का परिणाम नहीं होती है, बल्कि वह समाज के अनगिनत व्यक्तियों के सामुहिक प्रयत्न का परिणाम होती है तथा जीवन के नानाविध रूपों का समुदाय होती है। भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीन व समृद्ध संस्कृति है। भारतीय संस्कृति में न केवल समस्त मानव अपितु सम्पूर्ण चराचर जगत के कल्याण की भावना मिलती है।

हेमशब्दानुशासन में परिलक्षित संस्कृति :-

हेमशब्दानुशासन के अध्ययन से तात्कालिक संस्कृति का बोध होता है। आचार्य ने अनेक स्थानो पर ऐसे सूत्र व उदाहरण प्रस्तुत किए है जिनसे हमें उस समय की संस्कृति के विषय में ज्ञात होता है। ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते है जिनके अध्ययन से हमें पता चलता है कि उस समय समाज में किस प्रकार की व्यवस्थाएं थी तथा समाज आध्यात्मिक, चारित्रिक, वैचारिक एवं आर्थिकरूप से कितना सम्पन्न था। अध्ययन से सामाजिक व्यवस्था, पारिवारिक सम्बन्ध, संस्कार, व्यञ्जन और वस्त्र-अलङ्कार सम्बन्धित अनेक प्रमाण प्राप्त होते है।

सामाजिक व्यवस्था -

आचार्य हेम के उदाहरणों से ज्ञात होता है कि उस समय का समाज कितना विकसित था। आचार्य द्वारा प्रदत्त उदाहरणों से समाज में जाति व्यवस्था का बोध होता है। जाति व्यवस्था श्रम-विभाजन पर आश्रित तो है ही, साथ ही जन्म के आधार पर जाति- व्यवस्था के उदाहरण भी मिलते है।

जाति व्यवस्था - सिद्धहेमशब्दानुशासन में जाति व्यस्था के विषय में सूत्र दिया है- "जातेरयान्तनित्यस्त्रीशूद्रात्" तत्र जातिः क्वचित्संस्थानव्यङ्गया, यथा गोत्वादिः। सकृदुपदेशव्यङ्गयत्वे सत्यत्रिलिङ्गन्या यथा ब्राह्मणादिः। अत्रिलिङ्गत्वं देवदत्तादेरप्यस्तीति। सकृदुपदेशव्यङ्गयत्वे सतीत्युक्तं। गोत्रचरणलक्षणा च तृतीया। यदाहुः -

आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां न च सर्वभाक्। सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह।।[1]

अर्थात् जाति के अन्तर्गत गोत्र (पितृ-वंश परम्परा) और चरणों (गुरुवंश-परम्परा) को सम्मिलित कर लिया गया है। गोत्र और चरणों के विभिन्न भेदों के आधार पर सहस्त्रों प्रकार का जाति-उपजातियां हो गयी हैं। हेम के मत में एक गोत्र के भीतर भी कई उपजातियाँ हुई है। इन जातियों के बनने का आधार मात्र श्रमविभाजन ही है।[2]

सातवें अध्याय के द्वितीय पाद के सूत्र की वृत्ति में कहा है "नानाजातीयाः अनियवृत्तयोऽर्थ-कामप्रधानाः संघपूगाः।[3] नानाजातीया अनियतवृत्तयः शरीरायासजीविनः संघा व्राताः।[4] यथा- कपोतपाक्यः, व्रैहिमत्यः। इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि आजीविका के आधार पर कपोतपाक और व्रीहिमत जाति का परिगणन हुआ है। कपोतपाक – जो कबूतर को पकडकर या मास बेच कर आजीविका चलाते हो। व्रीहिमत – जो धान को एकत्र कर आजीविका चलाते हों।

ब्राह्मण जाति :- ब्राह्मण शब्द की व्युत्पत्ति में लिखा है- ब्रह्मणो अपत्यम् ब्राह्मणाः[5] अर्थात् ब्रह्मा की सन्तान ब्राह्मण। आचार्य हेम में ब्रह्मा का पौराणिक अर्थ नहीं लिया है बल्कि आध्यात्मिक, गुण सम्पत्ति और सदाचार से युक्त व्यक्ति को ब्रह्मा कहा है।[6] हेम ने सोमविक्रयी, घृतविक्रयी और तैलविक्रयी उदाहरणों के माध्यम से व्यापार करने वाला ब्राह्मण को निन्दित बताया है।[7] भिन्न देशों में निवास करने वाले ब्राह्मण भिन्न नाम से जाने जाते थे यथा – सुराष्ट्रब्राह्मः, अवन्तिब्राह्मणः, काशिब्राह्मणः।[8]

क्षत्रिय जाति :- क्षत्रिय शब्द क्षत्र से जाति के अर्थ में इय प्रत्यय विधान कर बना है।[9] उदाहरणों से ज्ञात होता है कि क्षत्रिय जाति वाले व्यक्ति राजन्य कहलाते थे तथा क्षत्रिय जाति से भिन्न प्रशासक राजन कहलाते

थे।[10] "क्षत्रियः पुरुषाणां पुरुशेषु वा शूरतमः" प्रयोग द्वारा क्षत्रिय को पुरुषों में शूरतम दर्शाया है।

वैश्य जाति :- हेम ने वैश्य के लिए अर्य शब्द का प्रयोग किया है।[11]वैश्य का कार्य कृषि और व्यापार के माध्यम से व्यापारार्जन करना था। जिन व्यापारों के करने से ब्राह्मण की निन्दा होती थी वे कार्य वैश्य के लिए करणीय माने गये थे।

शूद्र जाति :- हेम ने दो प्रकार के शूद्रों का वर्णन्न किया है।[12] आर्यवर्त में रहने वाले तथा आर्यवर्त बाहर रहने वाले जिन्हें शक और यवन भी कहते थे। आर्यवर्त में रहने वाले शूद्रों के भी दो भेद पात्र्य और अपात्र्य बताये है। पात्र्य के विषय में लिखा है- यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण शुद्ध्यति तेपात्रमर्हन्तीति पात्र्याः।[13]

परिवार -

हेम की दृष्टि में परिवार समस्त मानवीय संगठनों की मूल इकाई है और यही सामाजिक विकास की प्रथम सीढी है। सामाजिक कर्तव्यों का पालन करने के लिए परिवार के सभी सम्बन्धियों को उचित स्थान देना आवश्यक है।[14] परिवार ही व्यक्ति को संस्कारवान, चरित्रवान बानाने का अधारभूत सतम्भ होता है जिससे एक समृद्ध और व्यवस्थित समाज की स्थापना हो पाती है। उस काल में परिवार में विभिन्न प्रकार के व्यक्ति निवास करते थे। इनके आपस में भिन्न प्रकार के सम्बन्ध होते थे जिनका हेमचन्द्र ने सूत्रों द्वारा निर्देश किया है यथा – पिता, माता[15], भ्राता, स्वसा, दुहित्रा[16] मातुल, मातुलानी[17]।

संस्कार :-

पारिवारिक जीवन मूल्यों में संस्कार का महत्वपूर्ण स्थान था। सन्तान अच्छे शिक्षण, सामाजिक परम्पराओं का निर्वहन और व्यक्तित्व निर्माण भी संस्कारों द्वारा होते थे। परिवार के श्रेष्ठ वातावरण का निर्माण भी अच्छे संस्कारों के फलस्वरुप ही होता था। [18]आचार्य हेम ने निम्न संस्कारों का उल्लेख किया है –

नामकरण :– नामकरण संस्कार के समय परिवार में जन्में जातक को नाम दिया जाता है। जिससे उसकी व्यक्तिगत पहचान हो। यह नाम जातक के पिता उसे देते है। इस संस्कार के विधान के कुछ नियम होते है जैसे यह कब करना चाहिए, नाम किस प्रकार का रखना चाहिए। जन्म से ग्यारहवे दिन या दूसरे वर्ष के आरम्भ में यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था। इन्द्रशर्म, सुशर्म, सुवर्म, सुदामा, अस्वत्थामा आदि अच्छे नाम माने जाते थे। उत्तर या पूर्व पद का लोप कर नाम छोटे रखे जाते थे। यथा – शर्म, वर्म, दामा।[19]

अन्नप्राशन :– अन्नप्राशन संस्कार में जातक को प्रथम बार अन्न खिलाया जाता है जो की मीठा अन्न होता है। यह संस्कार जन्म के पश्चात छठे महीने पर सम्पन्न कराया जाता है। अन्नप्राशन के लिए हेम मे प्राशित्रम् शब्द प्रयोग किया है तथा इसकी व्यख्या करते हुए लिखा है - बालस्य यत् प्रथमं भोजनं तदुच्यते प्राशित्रम्। इससे ज्ञात होता है कि उस समय अन्नप्राशन के लिए प्रशित्रम् का भी व्यवहार किया जाता था।

चूडाकर्म – चूडाकर्म संस्कार में जातक के प्रथम बार बाल उतारे जाते है यह संस्कार जन्म के पश्चात पहले या तीसरे वर्ष में सम्पन्न कराया जाता है। हेमशब्दानुशासन में "चूडादिभ्योऽण्" सूत्र द्वारा हेम ने इस संस्कार का उल्लेख किया है। 'मद्रा करोति भद्रा करोति नापितः, शिशोर्माङ्गल्ये केशच्छेदनं करोति' उदाहरण द्वारा इस संस्कार की और सङ्केत किया है।[20]स्

कर्णवेध – कर्णवेध संस्कार में जातक के दोनो कानो का छेदन किया जाता है। आचार्य हेम द्वारा प्रदत्त "अविद्धकर्णः शिशुः" उदाहरण से इस संस्कार का बोध होता है।

विवाह –– विवाह को समाज में एक महत्वपूर्ण संस्कार के रूप में माना जाता है। विवाह के पश्चात व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है जिसे चारो आश्रमों में सबसे उत्तम माना गया है। विवाह पारिवारिक सदस्यों एवं सामाजिक व्यक्तियों की उपस्थिति में सम्पन्न कराने की परम्परा प्राप्त होती है। हेम शब्दानुशासन में कई सूत्र व उदाहरण प्राप्त होते है जिनसे विवाह के महत्व व विधान की जानकारी प्राप्त होती है। आचार्य हेम ने "नित्यं हस्ते पाणाद्वाहे"[21] सूत्र से विवाह संस्कार के विषय में दर्शाया है। सूत्र के उदाहरणों 'हस्तेकृत्य, पाणौकृत्य' द्वारा पाणिग्रहण को विवाह संस्कार बाताया है।

व्यञ्जन -

हेमशब्दानुशासन में व्यञ्जन के विषय में लिखा है- "व्यञ्जनं येनान्नं रुचिमापद्यते तद्दधिघिशाकसूपादि" अर्थात् जिन पदार्थों को भोज्य पदार्थ के साथ मिलाने या मिलाकर खाने से स्वाद उत्पन्न होता है जैसे दहि, घी, शाक, दाल आदि।[22] आचार्य हेम के सूत्र तथा उदाहरणों में प्राप्त व्यञ्जनों के नाम– व्यञ्जनं सूपादि[23], ओदनीयास्तण्डुलः, इदं सक्तूनां पीतम्[24], आपूपम्[25], अन्नमयम्[26], क्षीरपाणा उशीनराः[27], शार्करं दधि[28], तिलतैलम्, सर्षपतैलम्[29]। आचार्य हेम "व्यञ्जनेभ्यः उपसिक्त्य" सूत्र के उदाहरणों में व्यञ्जनो वर्णन्न प्राप्त होता है यथा – 'सूपेन उपसिक्तः सौपिक ओदनः' चावल को स्वादिष्ट और रुचिकर बनाने के लिए उसमे दाल को मिलाना। 'दधिना ओदनः' इस उदाहरण में दही व्यञ्जन है। 'तैलिक शाकम्' शाक को अधिक संस्कृत बनाने के लिए उसमें तैल का प्रयोग करना। उदाहरण में तैल व्यञ्जन है।

वस्त्र-आभूषण :-

परिधान की व्यख्या करते हुए हेम ने लिखा है – "समाच्छादनं परिधानम्" अर्थात् शारीर को ढकने योग्य वस्त्र को परिधान कहते है।[30] हेम ने सूत्र एवं उदाहरणों में वस्त्र के लिए चेल, चीवर, वस्त्र, आच्छादन और परिधान शब्द प्रयोग किए है। जैसे – परिधानेऽर्जने, परिचीवरयते, चीवरयते[31], कौपीनम्[32] (लंगोट), कौशेयं वस्त्रम्[33] (रेशमी वस्त्र), कम्बलान्नम्नि[34]। अलङ्कार कण्ठ, भुजा, बाहु आदि में धारण किए जाते थे यथा – कुलकुक्षिग्रीवात् श्वास्यालङ्कारे[35], लाक्षिकम् (महावर), रौचनिकम् (मेंहन्दि)।

पेय पदार्थ :-

आचार्य हेम द्वारा प्रदत्त उदाहरणों से उस समय समाज में प्रचलित पेय पदार्थों के विषय में जानकारी मिलती है जिनमें मुख्य रूप से दूध, मट्ठा, कपाय और सुरा का उदाहरण मिलता है। यथा - पुनः पुनः क्षीरं पीबन्ति क्षीरपायिणः, तक्रपायिणः, कपायपायिणः, सुरापाणाः। आचार्य हेम ने

ताम्बूल का भी उदाहरण प्रस्तुत किया है ताम्बूल का प्रयोग करने वालो को 'ताम्बूलिक' कहा गया है।

मनोरञ्जन, विनोद के साधन :-

मनुष्य आमोद-प्रमोद के लिए किन्ही कार्यों में संलगन होता है जो कि उसके मनोरञ्जन के साधन होते है। आचार्य हेम के समय हाथी-घोडे की सवारी, वन-उद्यान में भ्रमण करना, रथा यात्रा करना मनोरञ्जन के साधन होते थे। इनके अलावा हेमशब्दानुशासन में खेल के साधनो के उदाहरण भी प्राप्त होते है। जैसे – अकेन क्रीडा जीवे[36], क्रीडोऽकूजने[37]। प्रहरणे क्रीडायां णः[38] सूत्र से खेल के विषय में दर्शाया है इस खेल को उस साधन के नाम से अभिहित किया जाता था जिस साधन से यह खेल होता था। अक्षान् दीव्यति, द्यूतं दीव्यति[39] पासों से भी खेल खेले जाते थे जिन्हें अक्षद्यूत कहते थे।

शिक्षा :-

एक सम्पन्न व व्यवस्थित समाज के निर्माण में शिक्षा की अहम भूमिका होती है। शिक्षावान व्यक्ति समाज के प्रति अपनी उत्तरदायित्व को समझता है एवं उसका निष्ठा पूर्वक निर्वहन भी करता है। आचार्य हेम के समय भी शिक्षा का महत्व समाज में अधिक था। शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति में मानवोचित गुणों का विकास किया जाता था। शिक्षा का केन्द्र गुरु होता था जिसके पास शिक्षार्थी शिक्षा ग्रहण करने जाते थे। आचार्य हेम ने ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए है जिनसे उस समय की शिक्षा व्यवस्था व शिक्षा के प्रयोजन के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है। आचार्य हेम ने शिक्षा ग्रहण करने वाले में नम्रता, शील, मेधा, श्रम इन गुणों को आवश्यक माना है। आचार्य हेम द्वारा प्रदत्त सूत्र "काकाद्यैः क्षेपे" के उदाहरणों से पता चलता है कि नियमों को न मानने वाले छात्रों की निन्दा की जाती थी। इस प्रकार के छात्र तीर्थध्वाङ्क्ष, तीर्थकाक कहलाते थे।

निष्कर्ष :-

हेमशब्दानुशान जैनाचार्यों द्वारा रचित व्याकरणों में सर्वोपरि व्याकरण है। आचार्य हेम के सूत्र एवं उदाहरणों के माध्यम से ज्ञात होता है कि तत्कालिक समाज बहुत विकसित था समाज में उन्नत व्यवस्थाएं थी, सामाजिक विकास में संस्कारों का महत्व था। समाज के निर्माण में परिवार की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। उस समय का समाज भोजन, वस्त्र एवं अलङ्कारों से समृद्ध समाज था। मनोरञ्जन के कई साधन विकसित किए गए थे। आदर्श समाज के लिए शिक्षा को महत्व दिया जाता था।

सन्दर्भ ग्रन्थ :-

श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन , हेमचन्द्राचार्य, श्रीजैनश्राविका संघ राज्यस्थान

श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन, हेमचन्द्राचार्य, सम्पादक मुनि जाम्बूविजय, प्रकाशन- श्रीहेमचन्दाचार्य-जैनज्ञानमन्दिरम् पाटन - १९९५

आचार्य हेमचन्द्र एवं उनका शब्दानुशासन : एक अध्ययन, डा. नेमिचन्द्र शास्त्रि, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी – १९६३

सहायक ग्रन्थ सूची :-

उपाध्याय बलदेव, संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी : २००६

मीमांसक युधिष्ठर, संस्कृत व्याकरण का इतिहास (प्रथम), रामलालकपूर ट्रष्ट, हरियाणा : १९९४

1. सि.हे.श. २.४.५४
2. आचार्य हेम और उनका शब्दानुशासन एक अध्ययन पृ.२५
3. पूगादमुख्यकात् ञ्यो ब्रिः ७.२.६०
4. व्रातादस्त्रीयाम् ७.२.६१
5. सि.हे.श. ७.४.५८
6. आचार्य हेम और उनका शब्दानुशासनः एक अध्ययन पृ.२८
7. सि.हे.श. ५.१.५९
8. सि.हे.श. ७.३.१०७स्
9. क्षत्रादियः – क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः जातिश्चेत्। सि.हे.श. ६.१.९३
10. जातौ राज्ञः - राजन् शब्दापत्ये जातौ गम्यमानायां यः प्रत्ययो भवति, यथा- राज्ञोऽपत्यं राजन्यः क्षत्रियजातिश्चेत्।
11. राजनोऽन्यः। सि.हे.श.६.१.९२
12. स्वामिवैश्येऽर्यः - सि.हे.श. ५.१.३३
13. पाञ्यशूद्रस्य –सि.हे.श. ३.१.१४३
14. आचार्य हेम और उनका शब्दानुशासनः एक अध्ययन पृ.३०
15. वहीं पृ.३६
16. पिता मात्रा वा सि.हे.श. ३.१.१२२, मातरपितरं वा सि.हे.श. ३.२.४७
17. भ्रातृपुत्राः स्वसृदुहितृभिः सि.हे.श. ३.१.१२१
18. मातमातृमातृके सि.हे.श. २.४.८५
19. आचार्य हेम और उनका शब्दानुशासनः एक अध्ययन पृ.४०
20. वहीं पृ. ४१
21. मद्र भद्राद्रपने सि.हे.श. ७.२.१४४
22. सि.हे.श. ३.१.१५
23. आचार्य हेम और उनका शब्दानुशासनः एक अध्ययन पृ. ४५
24. सि.हे.श. ६.४.८
25. वहीं २.२.९१
26. वहीं ७.३.३
27. वहीं ७.३.१
28. वहीं २,३,७०
29. वहीं ७.१.११८
30. वहीं ७.१.१३६
31. आचार्य हेम और उनका शब्दानुशासनः एक अध्ययन पृ. ४३
32. वहीं ३.४.४१
33. वहीं ६.४.१८५
34. वहीं ६.२.३९
35. वहीं ६.४.१८५
36. वहीं ६.३.१२
37. वहीं ३.१.८१
38. वहीं ३.३.३३
39. वहीं ६.२.११६
40. वहीं २.२.१८

*****

अर्थ और स्त्री यात्रा : अंत:संबंध

- रिज़वाना फ़ातिमा

दिल्ली – 110094
मो. 8700798544

इमेल- rizwanafatima.du@gmail.com

यात्रा और अर्थ का संबंध एक-दूसरे के साथ गहरा जुड़ा हुआ हैI कई बार अर्थ की खोज में यात्राएँ की जाती हैं और कई बार अर्थ तक पहुँच बनाने के उद्देश्य से यात्राएँ होती हैंI यहाँ एक बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह कि अर्थ तक पहुँच किसकी है? हमें यह समझना होगा कि संसाधनों पर अधिकांशतः पुरुष वर्ग का कब्ज़ा हैI इसी कब्ज़े के चलते महिलाएँ अर्थ से या तो वंचित कर दी जाती हैं या पुरुषों के अनुकूल अर्थ प्राप्ति के लिए कार्यरत होती हुई दिखलाई पड़ती हैंI महिलाओं को आर्थिक रूप से पराधीन बनाया गया ताकि कार्यों का जेंडरगत विभाजन किया जा सकेI यदि नौकरी करनी ही है तो इसके लिए अर्थ तक पहुँच पुरुषों की अनुकूलता के अनुसार ही दिखलाई पड़ती हैI जैसे महिलाओं के लिए कौन-सी नौकरी आवश्यक है और कौन-सी नौकरी के साथ वह अपनी जेंडरगत भूमिका का निर्वाह भली प्रकार कर सकती हैं, इन सब स्थितियों को ध्यान में रखते हुए महिलाओं को घर से बाहर निकलकर अर्थोपार्जन करने की अनुमति मिलती हैI किंतु स्थिति सदैव एक जैसी नहीं रहतीI वर्गों के आधार पर नौकरी प्राप्त करने के निर्णय बदलते रहते हैंI जैसे उच्च वर्ग में स्त्रियों की गतिशीलता धर्म और जाति के आधार पर बाधित नहीं होतीI इसी कारण उन पर समाज का उतना दबाव नहीं होताI यही कारण है कि उच्चवर्गीय महिलाओं द्वारा अर्थोपार्जन के लिए नौकरी का प्रकार चुनने की चुनौती मध्यवर्गीय महिलाओं जैसी नहीं होतीI

इसी प्रकार मध्यवर्गीय शहरी स्त्री और ग्रामीण स्त्री की स्थिति में भी अंतर हैI शहरी स्त्री और ग्रामीण स्त्रियों पर समाज, जाति और वर्ग के आधार पर नियंत्रण अलग तरह के होते हैंI शहरी स्त्री के लिए घर से बाहर निकलकर नौकरी करना ग्रामीण स्त्री की अपेक्षा कम चुनौतीपूर्ण हैI ग्रामीण स्त्रियों के लिए चुनौतियाँ अलग तरह की हैंI इस विश्लेषण में शहरी स्त्रियों के लेखन को लिया गया है जो यात्रा करके समाज के संघर्षशील वर्ग को देख रही हैं और उस पर टिपण्णी कर रही हैंI दूसरी ओर वे ग्रामीण महिलाएँ हैं जिन्होंने जीवन को स्वयं अनुभव किया है और स्वयं के अनुभव अपनी डायरियों में दर्ज करती हैंI मैं इन दोनों की दृष्टियों से स्त्री यात्रा और अर्थ के अंतःसंबंधों को समझने का प्रयास करुँगीI

'संगतिन यात्रा' नौ ग्रामीण महिलाओं के द्वारा लिखी गई डायरी है जिसके माध्यम से उन्होंने समाज के भीतर रहते हुए अपने अनुभवों को साझा किया हैI यह डायरी इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह महिलाओं की सामाजिक स्थिति, बंधन, संघर्ष और चुनौतियों को पार करते हुए अपने लिए किसी उद्देश्य की खोज तक पहुँचने का रास्ता बनाने में सफलता प्राप्त करती हैI नौ महिलाएँ जिनमें अनुपमलता, ऋचा नागर, ऋचा सिंह, रामशीला, रेशमा अंसारी, विभा वाजपेयी, शशि वैश्य, शशि बाला और सुरबाला शामिल हैंI इनमें से सात डायरी लेखिकाओं ने अपने ही जीवन की पात्र बनकर अपने जीवानानुभवों को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया हैI ये नाम हैं राधा, पल्लवी, मधुलिका, गरिमा, चाँदनी, शिखा और संध्याI जो अनुभव इन लेखिकाओं ने साझा किए हैं वे 'ऐसी यात्रा है जिसमें एक स्तर पर हर सखी, हर महिला की आवाज़ अलग है, अपनी है और दूसरे स्तर पर हर एक कहानी, हर यात्रा किसी भी महिला की यात्रा हो सकती हैI'[1]

हम यह कह सकते हैं कि प्रत्येक महिला के अनुभव जाति, धर्म और वर्ग के आधार पर चाहे अलग-अलग हों किंतु जेंडर आधारित अनुभव सबके लगभग एक जैसे ही होते हैंI ये सातों महिलाएँ अलग-अलग जाति, धर्म और वर्ग की महिलाएँ हैं, जिनकी आर्थिक स्थिति भी एक जैसी नहीं हैI लगभग सभी की जेंडरआधारित स्थिति एक जैसी हैI सभी को बचपन से लेकर यौवनावस्था तक लगभग एक जैसे अनुशासन और बंधन में रखा गयाI सभी को यह अवसर प्राप्त होना इतना सरल नहीं था क्योंकि सामाजिक मान्यताओं से आबद्ध पुरुष मस्तिष्क को सरलता से बदला नहीं जा सकता हैI लगभग सभी का बाल विवाह हुआ और सभी के साथ ससुराल में मानसिक और शारीरिक हिंसा की गईI सबकी सामाजिक हैसियत अलग होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि सभी महिलाएँ बहुत बेहतर आर्थिक स्थिति में जीवन यापन कर रही थींI इतना कहा जा सकता है कि किसी के घर में यह अभाव बहुत अधिक रहा तो किसी के घर में अभाव कुछ कम रहाI इसी अभाव ने महिलाओं के घरों से बाहर निकलने के मार्ग प्रशस्त किए और उनकी गतिशीलता को संभव बनायाI यहाँ यह कहा जा सकता है कि अर्थोपार्जन एक उपकरण के तौर पर आता दिखलाई पड़ता है जिससे महिलाओं को घरों की चारदीवारी को लाँघने का अवसर प्राप्त हुआI घरों के बाहर निकलने की जद्दोजहद इन महिलाओं की काफी बड़ी है जिसे कुछ उद्धरणों के माध्यम से समझा जा सकता हैI

पल्लवी अपनी डायरी में लिखती हैं कि "मेरे घर में जब मेरे ससुरजी और अन्य सभी को पता चला कि मैं नौकरी करने जा रही हूँ, तो ससुरजी ने घर में खूब गाली -गलौज की कि अगर बहू नौकरी करेगी तो मैं फाँसी लगा लूँगाI..... पति भी नाराज़ थेI मेरा कहना था कि मेरे बच्चे बड़े हो रहे हैं - इन्हें मैं कैसे पढ़ाऊँगी-लिखाउँगी? पर मेरे पति और ससुर के पास इस सवाल का कोई जवाब नहीं था..... गुस्से में जाते-जाते पति कह गए.....तुम जो चाहो, सो करोI चाहे हमारी इज़्ज़त मिट्टी में मिलाओ चाहे रखोI"[2] यहाँ पल्लवी को पहली बार इज़्ज़त शब्द का अर्थ समझ में आया और उन्होंने अपनी डायरी में यह प्रश्न उठाया कि समाज महिलाओं की गतिशीलता को बाधित करके किस प्रकार की इज़्ज़त की बात करता है? एक परिवार की स्त्री यदि घर से बाहर कदम निकाले तो उस पर तरह-तरह के लाँछन लगाए जाते हैं किंतु वही स्त्री यदि घर में रहते हुए पति से पिटती रहे तो संस्कारशील बनी रहती हैI पल्लवी को यह भी समझ में आने

लगा कि यदि वह कमाकर अपने बच्चों की बेहतर शिक्षा का इंतज़ाम करना चाहती है तो इसमें ससुराल की इज़्ज़त कैसे चली गई, जबकि वहीं उसके बच्चे उसी के मायके में रहकर पल्लवी की माँ के खर्चे पर पढ़ें तो कोई इज़्ज़त नहीं जातीI

यहाँ यह स्पष्ट दिखलाई देता है कि आर्थिक मज़बूती मिलने की बात सुनते ही इन महिलाओं की तर्कशीलता बेहतर तरीके से काम करना शुरू कर देती हैI जहाँ तक यही स्त्रियाँ अभी तक अपने जीवन को नियति मानकर पतियों और ससुराल वालों के अनुसार जीती आई थीं, वहीं अब ये स्त्रियाँ अपना जीवन अपनी तरह से जीने के लिए चुनौतियों को स्वीकार करने के लिए भी तैयार दिखलाई पड़ती हैंI इस संदर्भ में राधा की डायरी का वह अंश देखा जा सकता है जहाँ वह लिखती हैं कि - "हमें अपना खर्च चलाने की बड़ी परेशानी थीI बहुत दुखी रहती थी कि आख़िर कब तक ऐसा चलेगा? मैं तो बाहर काम करने के लिए सोचती थी, लेकिन पति तैयार नहीं होते थेI इसलिए हार मानकर घर बैठ गईI इधर नारी समता योजना को महिला कार्यकर्ताओं की तलाश थीI दीदी (ऋचा सिंह) हमारे घर पहुँचीI मुझसे और मेरे पति से पूरी बातचीत हुईI वे फिर भी तैयार नहीं हुएI लेकिन दीदी से बात करके मेरी हिम्मत इतनी बढ़ गई कि मैं पति की इजाज़त के बिना ही काम करने निकल गईI"[3]

इसी प्रकार के उदाहरण और महिलाओं के भी मिलते हैं जहाँ वे अपने परिवार की मर्ज़ी के विरुद्ध जाकर नौकरी करना आरंभ करती हैं किंतु यह विरोध और कड़े हो जाते हैं जब बंधन रूढ़ियों को लिए होंI एक तो अकेले यात्रा करने की पाबंदी दूसरा, गैर धर्म के लोगों के साथ उठना-बैठनाI दोनों ही स्थितियाँ महिलाओं विशेषकर ख़ास धार्मिक पहचान वाली स्त्री के लिए विशेष चुनौती के रूप में उभरकर आती हैI यह पहचान का संकट सांस्कृतिक विभेद तो उत्पन्न करता ही है साथ ही सहज सामाजिक संबंधों को भी विकसित नहीं होने देताI

यहाँ अकेले यात्रा का भय इन्हीं विभेदों और जेंडरगत पहचान के कारण बड़ा हो जाता है क्योंकि महिलाओं को स्वतंत्र यात्री के रूप में स्वीकृति नहीं मिली है विशेषकर गाँव के संदर्भ मेंI यहाँ पर्दे के कारण उन्हें घरों में रहते हुए भी बाहरी व्यक्ति के आने पर और भीतर चले जाने का आदेश मिलता थाI उन्हें खिड़की खोलकर बाहर झाँकने तक की मनाही थी ऐसी स्थिति में चाँदनी जैसी महिलाओं का अकेले यात्रा करने को लेकर चिंतित हो जाना स्वाभाविक ही हैI यही चिंता लगभग हर स्त्री के घर में दिखलाई पड़ती हैI नौकरी करने को लेकर समाज में जो दृष्टिकोण बना हुआ है उसमें स्त्री के घर से अकेले बाहर निकल जाने का यानी उसके गतिशील हो जाने का भय भी प्रमुख हैI अकेले आना-जाना नौकरी न करवाने के पीछे के कारणों में मुखर होकर उभरता है क्योंकि अकेली स्त्री का घर से बाहर विशेषकर अपने गाँव की सीमा को लाँघकर किसी और गाँव में जाना परिवार के स्वाभिमान और स्त्री यौनिकता के खतरों से भरा हैI इस स्वाभिमान में केवल एक परिवार नहीं जुड़ता बल्कि जाति और समाज प्रमुख हो जाते हैंI इसलिए एक समाज का स्वाभिमान इससे जाएगा कि स्त्री अकेली घूम रही हैI

इसी प्रकार की स्थितियाँ राधा जैसी महिलाओं के घरों में आसानी से देखने के लिए मिल जाती हैं जहाँ घरों के भीतर रहने वाली महिलाओं के जीवन का संचालन परिवार के पुरुषों के अतिरिक्त पड़ोस की महिलाएँ भी करती हुई दिखलाई पड़ती हैंI इस कथन को राधा के संदर्भ में समझा जा सकता है जहाँ उसे परिवार की महिलाओं के साथ बैठने तक की आज्ञा नहीं थीI उदाहरण दृष्टव्य है - "कोई भी घर में दाखिल होता, राधा को उठकर भीतर चले जाना पड़ताI..... इन हालात में घर के लोगों को नौकरी के लिए राज़ी करना टेढ़ी खीर साबित हो रहा थाI ऊपर से रही-सही कसर आस-पड़ोस की औरतें पूरी किए दे रही थींI बात-बात में ताना मारतीं "अगर हमारी बहू नौकरी करने के लिए इस तरह उधराती, तो उसके हाथ पैर तोड़ के धर देतेI"[4] इस प्रकार की मानसिकता के लोगों का सामना करना इन महिलाओं के लिए अधिक बड़ी चुनौती रहाI इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए पुष्पा तातेड़ कहती हैं कि "महिलाओं की आर्थिक पराधीनता और आश्रित स्थिति समाज में पुरुष और स्त्रियों के मध्य कार्यों का विभाजन है और इस कारण महिलाओं का शोषण होता हैI सामान्यतः यह माना जाता है कि स्त्रियों का कार्य क्षेत्र पारिवारिक कार्यों तक ही केंद्रित है तथा उन्हें सामाजिक एवं आर्थिक उत्पादन कार्यों से विरत रहना चाहिएI"[5] इसीलिए स्त्रियों के लिए घर से बाहर निकलने की चुनौती ज़्यादा बड़ी रहीI इसलिए इन स्त्रियों ने घरों से बाहर निकलने के लिए अर्थ को आधार बनाया और अपने-अपने पतियों की आज्ञा और आज्ञा के बिना घरों के बाहर जाकर काम करना आरंभ कर दियाI

इस गतिशीलता को बनाए रखने के लिए महिलाओं के ऊपर चुनौती पारिवारिक और सामाजिक संस्कारों को बनाए रखने की बनी रहती हैI एक बहू के सभी संस्कारों का निर्वाह करते हुए बाहर निकलने ने उनकी गतिशीलता की चुनौती को कुछ कम कर दियाI शुरू में परिवारों का विरोध इस बात से कम होने लगा कि हमारी बहू के सर से पल्ला कभी सरकता नहीं हैI अर्थात् जिन नियमों का निर्वाह वह घर के भीतर रहते हुए कर रही थीं उन्हीं नियमों का पालन घरों के बाहर जाते हुए करती हुई दिखलाई पड़ती हैंI इस प्रकार के कृत्य को हम अनुकूलन की अवस्था कह सकते हैंI महिलाएँ अपने लिए घरों से बाहर निकलने का एक सरल मार्ग खोज रही थीं जो इन्हीं नियमों में बँधकर निकल सकता थाI अपने गाँव की सीमा से बाहर जाकर अपनी सुविधा के अनुकूल ये महिलाएँ कभी पल्लू सर पर संभालती हुई तो कभी हटाती हुई दिखलाई पड़ती हैंI यह स्थिति इसलिए स्वीकार्य है क्योंकि यहाँ बंधन महत्त्वपूर्ण नहीं है बल्कि वह उद्देश्य महत्त्वपूर्ण है जिसके निर्वाह के लिए ये महिलाएँ घरों की चारदीवारी को लाँघती हैंI इसके दो लाभ होते हुए दिखलाई पड़ते हैं- एक, महिलाएँ तरह-तरह के लाँछनों से बच जाती हैं और दूसरा, उन्हें परिवार का सहयोग भी प्राप्त हो जाता हैI पुष्टि के लिए यह कथन देखा जा सकता है कि अधिकतर सदस्याओं के लिए "काम से जुड़ने के बाद कुछ मायनों में परदे का लिहाज़ करने की ज़रूरत और ज़्यादा बढ़ गईI दुनिया के इस इलज़ाम का सामना जो करना था "ये तो दुनिया जहाँ में घूमती है, रात-रात भर वहीं पड़ी रहती हैI" अतः थोड़ा बहुत पर्दा करने से मोहल्ले-टोले के लोगों के प्रपंच से भी बचाव हो जाता था तथा ससुराल वाले भी गर्व से फूले रहते कि देखो, बहू कमाकर भी लाती है और घर की मर्यादा भी बनाए रखती हैI"[6] इसलिए यहाँ हम देखते हैं कि परदा महिलाओं के सम्मान की सुरक्षा का माध्यम बनकर उभर रहा था और दूसरे उनकी गतिशीलता को बनाए रखने में सहायक हो रहा थाI

आर्थिक सक्षमता ने इन महिलाओं के भीतर केवल आत्मविश्वास ही नहीं भरा बल्कि घरों से बाहर निकलकर की गई यात्रा ने इनके अपने दृष्टिकोण को परिवर्तित करने का अवसर भी प्रदान कियाI ये महिलाएँ संगठनों के कामों के संबंध में लगातर जो यात्राएँ करती हैं, उनसे समाज की भीतरी स्थितियों के प्रति उनकी समझ विकसित होती हैI समाज की उलझी हुई ग्रंथियों को समझने की क्षमता आती हैI वह यह समझ

पाती हैं कि जिन स्थितियों को वे या उन जैसी महिलाएँ भोग रही हैं वे ईश्वर प्रदत्त नहीं बल्कि मानव निर्मित हैं, जिन्हें चुनौती दी जा सकती हैI यह चुनौती ज्ञान के माध्यम से दी जा सकती है और ज्ञान तक पहुँच के लिए घरों से बाहर निकलना अनिवार्य हैI इसके लिए विभिन्न स्थानों की परिस्थितियों को देखना-समझना आवश्यक है तभी समाज के भीतर दो स्थितियों की तुलना की जा सकती हैI यह तुलना ही दो समाजों के भीतर की समस्याओं और मान्यताओं को समझने और उनको विश्लेषित करने का दृष्टिकोण विकसित करती हैI पल्लवी स्वयं अपनी डायरी में यात्रा को महत्त्वपूर्ण उपकरण बताते हुए अपने अनुभव विस्तार का श्रेय अपनी यात्रा को ही देती हैंI वे लिखती हैं कि "काम की शुरुआत से लेकर आज तक मैं लगभग बीस ज़िले घूम चुकी हूँI बाहर निकलने के साथ ही मुझे बाहरी दुनिया की जानकारी होती गई, जैसे- औरतों के बारे में लोग क्या सोचते हैं? औरतों के साथ कितने अन्याय होते हैं? क़ानून बने हैं पर जनता को कौनसे हक़ मिले हैं? जैसे-जैसे यह सब जानकारी होती गई मेरे अंदर हिम्मत आती गई - बोलने की हिम्मत.... थाने पर पुलिस जैसे लोगों का सामना करने की हिम्मत....I"[7] पल्लवी में यह जो हिम्मत विकसित हुई है वह यात्राओं के माध्यम से अर्जित ज्ञान के आधार पर ही हैI

यात्राएँ न केवल उन्हें घर से बाहर निकलकर अपने लिए अर्थोपार्जन का मार्ग प्रशस्त करती हैं बल्कि यात्रा के माध्यम से उनके भीतर एक विश्लेषक दृष्टि उत्पन्न होती हैI यह दृष्टि ही उनके भीतर सही-गलत का निर्णय करने की क्षमता विकसित करती हैI साथ ही रसूखदार लोगों के सम्मुख भी अपने तर्क और तथ्य रखने की क्षमता विकसित करा देती हैI यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि यह नौकरियाँ उन्हें केवल आर्थिक सुरक्षा देने का माध्यम बनकर ही नहीं उभरीं बल्कि यात्राओं ने विभिन्न महिलाओं की समस्याओं से भी परिचित करायाI एक जगह से दूसरी जगह जाने के अनुभवों ने उनके अनुभव क्षेत्र का विस्तार कियाI वे यह समझ पाने में सक्षम हो पाईं कि केवल आर्थिक सुरक्षा ही उनके काम का आधार नहीं है बल्कि समाज में उनकी भी भागीदारी है जिसमें उन्हें अपनी सक्रिय भूमिका निभानी हैI ये यात्राएँ और आर्थिक सुरक्षा उनके भीतर नई हिम्मत भरती हैं, वह सब कुछ कर लेने की हिम्मत जिससे अभी तक उन्हें वंचित रखा गया थाI संगतिन लिखती हैं कि "एक तरफ हमने अपने कुचले हुए सपनों को पूरा करने और छिने हुए निजी हक़ वापस लेने का संकल्प ले लियाI अपनी आजीविका कमाना, शिक्षा पाना, अपनी आज़ादी के मायने जानना ये सब वे सपने और अधिकार थे, जिनके लिए लड़कर हमने बदनामी, कलंक और पारिवारिक मान-मर्यादाओं की परिभाषा पर प्रश्नचिन्ह लगाते हुए अपनी भीतरी आवाज़ को पहचानना और जूझना शुरू कियाI जितनी चारदीवारी लाँघते गए और जितने विरोध सहते गए, हमारे अंदर का आत्मविश्वास उतना ही मज़बूत होता चला गयाI"[8] इस कथन से स्पष्ट है कि घरों की चारदीवारियों से बाहर निकलने ने इन महिलाओं को न केवल समाज की समझ विकसित की बल्कि अपने प्रति भी आत्मविश्वास से भराI इस तरह यह कहा जा सकता है कि यात्रा किसी स्त्री के भीतर आत्मविश्वास भरने का काम भी करती हैंI इन महिलाओं को केवल आर्थिक सुरक्षा ही नहीं मिली बल्कि यात्रा ने इनकी मानसिक क्षमताओं को विकसित करके इनके आत्मविश्वास को भी बढ़ा दियाI इससे इनके पास तर्क करने की क्षमता विकसित हुई साथ ही अपनी तथा अपने जैसी महिलाओं की स्थितियों को समझने और उन्हें सुलझाने का मार्ग भी इनके सम्मुख प्रशस्त हुआI

यहाँ एक बात विशेष तौर पर कही जा सकती है कि अर्थ इन महिलाओं के लिए सुरक्षा कवच के समान बनकर आता दिखलाई पड़ता हैI कहने का तात्पर्य है कि घरों से बाहर निकलने के एक आवश्यक उपकरण के तौर पर यहाँ अर्थ को देखा जा सकता हैI अर्थ का आश्रय लेकर ये महिलाएँ अपने घरों से बाहर निकलने को उचित ठहरा पा रही हैंI यह भी सत्य है कि जो कार्य घरों से बाहर निकलकर, विभिन्न स्थानों का भ्रमण करने और लोगों की स्थितियों को समझने के बाद ये महिलाएँ कर रही हैं वे कार्य बिना आर्थिक सुरक्षा के लिए इनके लिए कर पाना संभव नहीं हैI परिवार के लोग अपनी घर की बहुओं को ऐसे ही सामाजिक कार्य या समाज सेवा करने के लिए घरों से बाहर निकलने की आज्ञा नहीं देंगे, यह बात स्वयं ये महिलाएँ भी जानती हैंI एक उद्धरण के माध्यम से इस कथन को समझा जा सकता है - "आर्थिक रूप से घर चलाने की ज़िम्मेदारी कहीं-न-कहीं हर संगतिन के कन्धों पर आन पड़ी है और घरों की चारदीवारी से बाहर निकली महिलाओं को सिर्फ सामाजिक बदलाव के नाम पर बाहर नहीं रहने दिया जाएगा, यह भी सब भली-भांति जानती हैं।"[9] इस उद्धरण से स्पष्ट तौर पर समझा जा सकता है कि आर्थिक सुरक्षा का कवच इन महिलाओं की गतिशीलता को बनाए रखने के उपकरण के तौर पर बहुत कारगर हैI इसलिए अर्थ और यात्रा दोनों का सहसंबंध ही इन महिलाओं की सामाजिक स्थिति को मज़बूती प्रदान करने का माध्यम बनकर उभरता हैI जिसे नज़रंदाज़ नहीं किया जा सकताI

इस दृष्टि से देखा जाए तो इन महिलाओं के जीवन और अर्थ और यात्रा के अंतःसंबंध ने जीवन के प्रति न केवल इनके दृष्टिकोण को परिवर्तित किया है बल्कि अपना जीवन अपनी तरह से जीने की कुछ स्वतंत्रता भी इन महिलाओं को मोहैया करा दी हैI यहाँ अपने अनुभवों को स्वयं अनुभव कर उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने का काम इन महिलाओं ने किया हैI ये महिलाएँ छोटे-छोटे गाँवों में कार्यरत कार्यकर्ता हैं किंतु जब इस प्रकार की महिलाओं की लेखनी अपने अनुभव स्वयं कहना शुरू करती हैं तब हम लेखकीय अनुभव के प्रत्यक्ष अनुभव से गुज़रते हैंI जिसे उन्होंने स्वयं भोगकर और अपनी वाणी में ही अभिव्यक्ति प्रदान कीI यात्रा लेखन के ये अनुभव प्रमाणित अनुभव के रूप में लेखनी में सम्मिलित हो जाते हैं जो बहुत महत्त्वपूर्ण हैंI

संदर्भ :

1. संगतिन लेखक समूह, संगतिन यात्रा, सात जिंदगियों में लिपटा नारी विमर्श, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्र. सं. 2012, प्राक्कथन, पृ. 7
2. वही, पृ. 75
3. वही, पृ. 77
4. वही, पृ. 79
5. आर्थिक व सामाजिक क्षेत्र ग्रामीण महिलाओं की सक्रिय सहभागिता, पुष्पा तातेड़, पृ. 28.1 AIJRA Vol. Issue I, ISSN 2455-5967www.ijcms2015.co
6. संगतिन लेखक समूह, संगतिन यात्रा, सात जिंदगियों में लिपटा नारी विमर्श, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्र. सं. 2012, पृ. 81
7. वही, पृ. 95
8. वही, पृ. 76
9. ऋचा नागर, ऋचा सिंह, एक और नीमसार, राजकमल प्रकाशन, प्र. सं. 2012, पृ. 15

उत्तरआधुनिकता के संदर्भ में 'कौन हूँ मैं'

-डा. एस. डी बुळळा,
ग्रंथपाल
डा. ए. वी. बाळिगा वाणिज्य महाविद्यालय, कुमटा (उ.क.) कर्नाटक

डा. एस. वी. शेण्वि,
हिंदी सह प्राध्यापक
डा. ए. वी. बाळिगा वाणिज्य महाविद्यालय, कुमटा (उ.क.) कर्नाटक

साहित्य मानव के विचारों तथा अनुभूतियों को व्यक्त करने का सशक्त माध्यम है । आधुनिक युग में साहित्यकारों ने गद्य या पद्य रुप में लेखनी चलाकर अपनी मेधाशक्ति तथा प्रतिभा का परिचय दिया है । आज हम उत्तरआधुनिकता के युग में प्रवेश कर चुके हैं । 'उत्तरआधुनिकता' आधुनिकता का विस्तार है और 'अंतिम बिंदु' भी है । उत्तरआधुनिकता आधुनिकता की तरह एक यूरोपीय 'इतिहास' है लेकिन आधुनिकता के दौर से काफी अलग है । वह एक भूमंडलीय ज्ञान-अवस्था है जिसमें हम सब शामिल हैं । वह 'ज्ञान की अवस्था' के बदल जाने की आत्मस्वीकृति है । वह हमारे सांस्कृतिक व्यवसाय के बदल जाने का नाम है । यहीं से विश्व पूंजीवाद के बाबत 'नए समाजवाद' का सच्चा विचार शुरू होता है ।

उत्तरआधुनिक साहित्यकारों में मनोहर श्याम जोशी का नाम आदर से लिया जाता है । मनोहर श्याम जोशी का साहित्य नवीन प्रयोग का साहित्य है । अपने साहित्य की विविध विधाओं द्वारा उन्होंने साहित्य जगत में अपनी नवीन जीवन दृष्टि का सूत्रपात किया है । इनकी रचनाओं में पत्रकारिता का व्यापक अनुभव, देश-विदेश भ्रमण तथा विशिष्ट साहित्यिक अध्ययन से युक्त विद्वत्तपूर्ण नवदृष्टि और प्रयोगवादी नवीन भाषाशैली का रुप स्पष्ट दिखाई देता है । मनोहर श्याम जोशी उपन्यासकार, कहानीकार, पटकथाकार, व्यंग्यकार, संपादक, अनुवादक, पत्रकार होने के साथ एक अच्छे आलोचक हैं । जोशीजी का साहित्यिक जीवन लगभग सन १९५१ ई. के आसपास प्रारंभ होता है । उनका झुकाव पद्य की अपेक्षा गद्य विशेषत: उपन्यास लेखन की ओर अधिक रहा है । मनोहर श्याम जोशीजी के उपन्यासों में कुरु कुरु स्वाहा, कसप, ट-टा प्रोफेसर, हरिया हरक्यूलीज की हैरानी, हमजाद, क्याप, उत्तराधिकारिणी (अनूदित), कौन हूँ मैं, एक पेंच (अनूदित और अप्राप्य), कैद से छूटा हुआ परमात्मा (अप्राप्य) आदि प्रमुख हैं । जोशीजी का उपन्यास 'कौन हूँ मैं' सन २००६ ई. में प्रकाशित है । जोशीजी के मृत्युपरांत यह उपन्यास प्रकाशित हुआ । गोपालरायाखते हैं "उपन्यास को सामान्य कथा से अलग करने वाला प्रमुख तत्व 'यथार्थ' के प्रति आग्रह है, जो कथा के कपित संसार, कथ्य और भाषा में दिखाई देता है ।"१ विवेच्य उपन्यास 'कौन हूँ मैं' किस्सगोई का जादू है । उपन्यास के द्वारा पाठक एक विराट विडंबना का साक्षात्कार करता है । उपन्यास में ब्रिटिशकालीन बंगाल में अवस्थित भवाल राजपरिवार के मेजोकुमार की अविश्वसनीय कथा है ।

एक साधारण कर्मचारी कुशध्वजराय भवालराज के संस्थापक हैं । कुशध्वजराय मुस्लिम शासक दौलत गाजी को एक बार मुगल सिपहसालार के क्रोध से बचाते हैं । प्रत्युपकार के रूप में दौलत गाजी कुशध्वजराय को भवालराज का दीवान बनाते हैं । बाद के दिनों में कुशध्वजराय के संतान भवालराज को अपने नाम कर लेते हैं । इसी राज परिवार के तीन राजकुमार हैं रोणेंद्र, रोमेंद्र और रोबींद्र । राजकुमार रोमेंद्र उर्फ मेजोकुमार कुशाग्र बुद्धि का था । बचपन से बदमाश था, शराबी, स्त्री-लंपट व्यसनी था

। उसकी शादी मध्यवर्गीय परिवार की एक पढी लिखी सुसंस्कृत किशोरी बिभावती से होती है । मेजो विवाह के बाद भी वेश्या एलोकेशी से संबंध नहीं तोडता । पति के करतूतों से बिभा बहुत ही दु:खी रही । परिणाम बिभा हिस्टिरिया की शिकार होती है । ठाकुर माँ बिभा से विलासी, वेश्यागामी और निरक्षर रोमेंद्र को अनुशासित करने की इच्छा रखती है ।

सत्येंद्रनाथ बैनर्जी बिभावती का इकलौता भाई है । वह बहन बिभा को अंत:पुर की राजनीती से सचेत करता है । सिफिलिस का शिकार मेजोकुमार के इलाज केलिए बिभावती और सत्या चंद परिवारजनों के साथ डार्जिल्लिंग ले जाते हैं । वहाँ डाक्टरों के इलाज के बावजूद भी उसकी मौत हो जाती है । जीजा की हत्या का अपवाद सत्या पर आ जाता है । सत्या बिभा को ससुरालवालों के विरुद्ध भडकाता है । एक साल पश्चात बिभा मायके चली जाती है । बिभा सत्या को भवालराज संपदा के अपने अंश का प्रबंधक नियुक्त करती है और ससुरालवालों से आठ हजार टका नकद, पति की बीमा पालिसी तथा अन्य कागजात भिजवाने की माँग रखती है ।

मृत मेजो बारह साल बाद भवाल सन्यासी के रूप में ढाका लौट आता है । बारह साल पहले मेजो का शरीर शवसंस्कार केलिए स्मशान ले गये थे । रात के धुँआधार बारिश से बचने केलिए शव को वहीं छोडकर सब लोग शरण लेने वहीं-कहीं चले गये थे कि तभी वहाँ पर आये नागा साधु गुरु धरमदास मेजो के शव में साँस चलते देखकर उसे प्रभु प्रताप से मिली एक 'सदवस्तु' समझकर अपने साथ ले जाते हैं । उसे दीक्षित करते हैं । धीरे-धीरे मेजो को पिछली जिंदगी स्मरण आने लगती है । भ्रमण करते-करते ढाका आने पर उसे पता चलता है कि मरा हुआ समझकर सत्या उसे स्मशान छोडा आया था । भवाल सन्यासी ही मेजो है इसे कोई स्वीकार करने सिद्ध नहीं थे । बिभा तक हरगीज पति स्वीकार नहीं करती है । अपने आप को मेजो साबित करने केलिए उसे अदालत का दर्वाजा खटखटाना पडता है । बिभा भी अदालत जाने से पीछे नहीं हटती । वाद-प्रतिवाद के बाद हाईकोर्ट में भवाल साधु की जीत होती है । हाईकोर्ट के निर्णय के विरुद्ध मेजोरानी विलायत की प्रीवी काउन्सिल में अपील करती है । वहाँ भी उसकी हार होती है। इसी बीच बिमार सत्या की मौत हो जाती है । भवालराज के तिहाई हिस्से पर मेजो को कब्जा मिल जाता है । मेजो की शादी धारादेवी से हो जाती है । अपने खाते में पडे पति के आठ लाख टाका भी बिभा लेने से इन्कार करती है । यहीं पर उपन्यास का अंत होता है।

आज के वैज्ञानिक युग में एक तरफ मानव सभ्यता का विकास और भौतिक समृद्धि अपनी कगार पर खडी है, तो दूसरी तरफ मनुष्य का मन चारित्रिक पतन की अतल गहराई में डूबा हुआ स्पष्ट गोचर होता है । भोगवादी संस्कृति में उलझा मानव सफलता की नित नई-नई परिभाषाओं में उलझता जा रहा है । आज सफलता का मापदंड अधिक से अधिक धन, पद और प्रतिष्ठा को प्राप्त करना मात्र रह गया है । नित नये आविष्कार के साथ-साथ नित नई कामनाएँ राक्षसी सुरसा की तरह मुख फैलाती हुई आ रही है । सच्ची शान्ति और सुख की प्यास से आकुल व्याकुल व्यक्ति, मृग मरीचिका के समान भ्रमित हो, अनेक मानसिक रोगों का शिकार हो रहा है। चारों तरफ गहरी हताशा, निराशा तथा मानसिक तनाव फैल गया है । इन सब से मुक्ति पाने अल्पकाल के उपाय जैसे दवाइयाँ, नशीली वस्तुएँ तथा और भी बहुत सारी विवेकशून्य सुख केलिए सामाजिक और नैतिक मूल्यों में गिरावट हो रही है । ऐसे में आज मनुष्य को पुन: अपने अंदर मानवीय मूल्यों को स्थापित कर एक समृद्ध तथा सुखद समाज की

स्थापना केलिए इस दिशा में गहराई से विचार करने की अनिवार्यता है ।

गलती करना या न करना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है लेकिन गलती करने के बाद सुधर जाना उसकी खूबी है । उपन्यास में बारह साल नागा साधुओं के संग रहकर मेजो में आमूल परिवर्तन दिखाकर लेखक सदाचार और गुरु महिमा की महत्ता पर बल देते हैं । "मैं किसी कोर्ट-कचहरी की मान्यता का भूखा रह नहीं गया हूँ छोटोदी । राजकाज से तो मुझे रंच-मात्र भी लगाव न था । राजकोष के प्रति था क्योंकि विलासिता केलिए धन चाहिए । बारह वर्ष साधुओं की संगत में बिताने के बाद सब वासनाएँ मर चुकी हैं । अस्तु, राजकोष के प्रति भी उदासीन हूँ अब मैं ।"४

भारत ऋषि-मुनियों का आवास स्थान है । भारत को विश्व का दर्जा देने में साधु संतों का पर्याप्त योगदान रहा है । भारत में स्थित अघोरी या नागा साधुओं के प्रति जनमानस में अनादर, अगौरव, भय है । उपन्यास में इन नागा साधुओं को समाजोन्मुखी दिखाते हुए लेखक लोगों के मन में उनके प्रति स्थित घृणा की भावना मिटाने में काफी सफल हुए हैं । गुरु धरमदास उपदेश देते हैं "हर इन्सान को बस इत्ता ही जानना होता है कि या तो वह परमात्मा है या फिर मिट्टी का ढेला । परमात्मा बनने की कोशिश कर पुत्तर, मिट्टी का ढेला बनने में क्या धरा है ? अपना सारा ध्यान साधु-संतों से ज्ञान लेने में लगाया कर, आई तेरी समझ में । स्मृति खो जाने पर दुख नहीं ना कर, आनंद मना क्योंकि स्मृति माया है और स्मृतिहीनता मोक्ष ।"५ आम जनता की रक्षा की जगह स्वार्थ केलिए समाज विरोधी काम में रत कानून के रक्षक पूलिस पर लोगों के मन में आदर नहीं बकि डर है । गुरु धरमदास शिष्य से कहते हैं "सत्तावन के गदर के बाद से तो गोरों की पुलिस का काम हम साधु-सन्तों से जेल की चक्की पिसवाना है चेला जी मेरे ।"६

अंग्रेजों ने 'भेद करो और राज करो' नीति के जरिये दो सौ सालों तक हिंदुस्तान पर राज किया । स्वतंत्रता के चौसठ साल बाद भी हम एक दूसरे को लडाकर फायदा उठाने की प्रवृत्ति से परे नहीं हुए । उपन्यास में लेखक पाठकों को ऐसी नीति से सचेत करते हुए भवाल सन्यासी को भेंट के रुप में आर्थिक सहायता करते जनता को देखकर अपने आय में हुई कमी से चिंतित अंग्रेजी प्रशासन भवाल सन्यासी के विरुद्ध बिभावती को भडकाकर अपनी समस्या का हल ढूंढते हुए दिखाते हैं । आधुनिक विचार और शिक्षा मात्र देश को तरक्की के रास्ते पर लाने की क्षमता रखते हैं । इसके अभाव में देश को पराधीन होने से कोई नहीं बचा सकता । आज भी हमारा समाज कुप्रथाओं, कुरीतियों, अशिक्षा, परंपरागत विचारों से मुक्त नहीं है । लेखक सत्या पात्र के जरिये इस पर प्रकाश डालते हैं "बाल-विवाह जैसी कुप्रथाओं के कारण ही हमारा देश और समाज पिछडा हुआ है । ऐसे वाहियात रुढि बन्धनों के कारण हम अशक्त न हो गये होते तो आज पराधीन न होते । .....अंग्रेजों में वयस्क होने के बाद ही विवाह करने की प्रथा है और उनके समाज में युवक-युवतियों को अपना जीवनसाथी स्वयं चुनने की स्वतंत्रता भी दी जाती है । इसीलिए उनके यहाँ दांपत्य का आधार परस्पर-प्रेम होता है ।"७

पहले स्त्री अदालत जाने से डरती थी, डर के मारे अन्याय सहती थी । लेकिन आज वह समझ गई कि कानून हर किसी केिए समान है । अन्याय करने और उसे सहने में कोई फर्क नहीं है । उपन्यास में कई साल बाद घर लौटे पति को नकली साबित करने अदालत का दरवाजा खटखटाती हुई बिभा के रुप में लेखक आधुनिक नारी की न्यायाकांक्षा पर प्रकाश डालते हैं । लेखक बिभा के इस व्यवहार में राजपरिवार के विरुद्ध अन्याय, अत्याचार का प्रतिशोध लेती हुई आधुनिक स्त्री का रुप उद्घाटित करते हैं ।

स्त्री शोषण में स्त्री और पुरुष दोनों का बराबर का हाथ रहा है । उपन्यास में ठाकुर माँ एक स्त्री होकर अनुशासनहीन, विलासी, वेश्यागामी और निरक्षर राजकुमार को अनुशासित करने केलिए एक गरीब, सुसंस्कृत, पढीलिखी लडकी को पुत्रवधु बनाकर उसकी मजबूरी का फायदा उठाती है । उपन्यास में अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाने की जगह माँ बेटी को समझाती है "हमारे समाज में लज्जा को स्त्री का आभूषण माना जाता है, मेधा को नहीं ।"८ आधुनिक नारी पुरुष के शोषण से सुपरिचित है । वह हार नहीं मानती है वह अपनी स्वतंत्र अभिव्यक्ति द्वारा पुरुष प्रधान संस्कृति का विरोध करती है । उपन्यास में एक वेश्या एलोकेशी प्रियतम राजकुमार मेजो से पूछती है "इतना अधैर्य क्यों ? अब तो हर रात यही होना है । आप मुझे भवालराज के मेजोकुमार की रखैल बनाएँगे न ?" ९ यह सत्य है कि पुरुष की तुलना में स्त्री हमेशा उपेक्षित रही है । वह हर सुविधा से वंचित रही है । इस समस्या का आमूल परिवर्तन तभी संभव हो सकता है जब पुरुष स्त्री के हाथ में हाथ मिलाता हो । उपन्यास में सत्या बहन बिभा से कहता है "तू हम चारों में सबसे अधिक मेधावी थी और तुझे मात्र इसीलिए उच्च शिक्षा नहीं लेने दी गयी कि तू लडकी है और तेरा विवाह अल्प वय में एक विलासी, असंस्कृत और अनपढ व्यक्ति से कर दिया गया । मैं रोक नहीं पाया इस अन्याय को अस्तु, मैंने अपना यह कर्तव्य माना सदा कि पहले तेरी चिन्ता करूँ बाद में अपनी ।"१० जीने की कला प्रत्येक व्यक्ति की परिस्थिति के अनुकूल भिन्न-भिन्न होती है । "उपन्यास मानव जीवन को समग्र रुप से देखने का सर्वप्रथम प्रयास है ।"११ उपन्यास का उद्देश्य स्पष्ट है कि कर्मशील मनुष्य को बार-बार की असफलता के बावजूद भी अपने पुरुषार्थ को कभी ढीला नहीं होने देना चाहिए । नूतन स्फूर्ति और साहस के साथ उसे कृत संकल्प हो सफलता प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए ।

सहायक ग्रंथ :

१. गोपाल राय - हिन्दी उपन्यास का इतिहास पृ. २४
२. सं. देव शंकर नवीन, सुशांत कुमार मिश्र ट्ट उत्तरआधुनिकता कुछ विचार
३. डॉ. मीना खरात - उत्तर आधुनिकता और मनोहर श्याम जोशी
४. मनोहर श्याम जोशी - 'कौन हूँ मैं', पृ. २८४
५. वही, पृ. १८
६. वही, पृ. २४५
७. वही, पृ. ६०
८. वही, पृ. ५९
९. वही, पृ. ५१
१०. वही, पृ. २३६
११. डा. जयनारायण वर्मा - हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ. १२५

*****

दलित आत्मकथाओं में दर्ज स्त्री श्रम का विश्लेषण

-गीता रानी
शोधार्थी

-प्रोफेसर प्रमोद कुमार
शोध निर्देशक

शोध सार : -

प्रस्तुत आलेख में दलित समाज से संबद्ध ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों में रहने वाली स्त्रियों के श्रम उनके जीवन की परिस्तिथियों का विश्लेषण किया गया है। किसी भी समाज में, देश में उसकी अर्थव्यवस्था में मजदूरों के श्रम का बहुमूल्य योगदान होता है, जोकि मजबूत देश की रीढ़ होता है। विडम्बना वहां पैदा होती है जहाँ पुरुषों व स्त्रियों के श्रम और उसके मुताबिक पारिश्रमिक में भेदभाव देखने को मिलता है। श्रमिकों को मिलने वाली सुविधाओं में केवल पुरुष श्रमिकों को ही प्राथमिकता दी जाती है और स्त्री को अभावों में व हाशिये पर छोड़ दिया जाता है। स्त्रियों के संबंध में इन सुविधाओं का कार्यान्वयन ढंग से नहीं हो पाता है। इसलिए वह जीवन के हर क्षेत्र में 'गुमनाम नायक' की तरह अपनी भूमिका निभाती हुयी समाज में अपनी अस्मिता, आत्मनिर्भरता, आकांक्षा की लड़ाई लड़ती है। स्त्री पुरुषों की तुलना में दोहरा श्रम (घरेलु व बाह्य) करने के बावजूद पुरुषों से कम पगार पाती हैं और घरेलु कार्यों की तो समाज में गिनती ही नहीं की जाती उन्हें स्त्री की जिम्मेदारी बता कर उस पर लाड़ दिया जाता है। इन्हीं सब स्तिथियों की पड़ताल हिंदी दलित आत्मकथाओं के माध्यम से इस आलेख में की गयी है।

बीज शब्द : - स्त्री, श्रम, शोषण, पितृसत्ता, मुक्ति, पारिश्रमिक।

मूल आलेख : -

इस देश में महिलाओं के शोषण का इतिहास सदियों पुराना है। जिसके कारण हमारी सामाजिक संरचना के भीतर मौजूद हैं। शोषण और गुलामी की निरंतरता के बीच स्त्री की मुक्ति के स्वर भी साहित्य और अन्य क्षेत्रों में समय समय पर प्रस्तुत होते रहें हैं। इस तरह के स्वरों को पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना से हमेशा जूझना पड़ा है। इसी कड़ी में आधुनिक काल में आ कर स्त्री विमर्श का निर्माण हुआ है। स्त्री विमर्श या स्त्री मुक्ति के प्रश्नों में स्त्री अस्मिता व स्त्री की आर्थिक स्तिथि का प्रश्न सर्वोपरी है। स्त्री जो की हमेशा हर क्षेत्र में पुरुषों के साथ श्रम में बराबर भागीदारी निभाती है या कहें उससे कहीं ज्यादा श्रम करती है। अपरिमित श्रम के बावजूद स्त्री अपने सामाजिक समान व वाजिब मेहनताने के लिए निस्सहाय नजर आती है। गाँवों में स्त्रियाँ घर के कार्यों के साथ साथ, खेती व पशु से संबंधी कार्य करती हैं, वहीं शहरों व महानगरों में घर के कार्यों के साथ साथ वे कार्यालयों, कंपनी, कारखानों में श्रम करती नजर आती हैं। इन परिस्तिथियों से स्पष्ट है कि स्त्री पुरुषों के मुकाबले दोहरा व तिहरा श्रम करती है जिसका मूल्यांकन पितृसत्तात्मक समाज में न्यून व हीन दृष्टि से किया जाता है। स्त्रियों को पुरुषों के मुकाबले अधिक श्रम करने के बावजूद कम पारिश्रमिक दिया जाता है। ऐसा क्यों होता है ये सवाल जस का तस बना हुआ है। स्त्रियों को समान काम का असमान वेतन मिलने से दारुण स्तिथि से गुजरना पड़ता है, पुरुषों के आगे निस्सहाय हाथ फ़ैलाने पड़ते हैं। एक के लिए बड़ी आदर्श स्तिथि है दुसरे के लिए अपमानजनक। स्त्री को श्रम करते करते भी कितने अपमान सहने पड़ते हैं इसकी करुण गाथा हमें दलित आत्मकथाओं में मिलती है।

सूरजपाल चौहान की आत्मकथा तिरुस्कृत में लेखक अपनी नानी, माँ, मौसी द्वारा किये गये श्रम का वर्णन

करता है। कि काफी कठिन श्रम करने के बाद भी दो रोटी और कुछ पैसे मिलते थे। लेखक की नानी "नानी और मानी दोनों पंडारा रोड़ और सुंदर नगर की कोठियों में चौका-बर्तन का कार्य करती।"[1] इस तरह कई स्त्रियाँ गरीबी से तंग आ कर गाँवों से आकर शहर में कम पैसों में चौका बर्तन करती हैं और शहरी मध्यवर्ग घरेलु कार्यों को उनपर लाद उनकी बदौलत अपने कारोबार व अन्य कार्य कर तरक्की पर तरक्की करता है अतिरिक्त जोड़ने के चक्कर में लगा रहता है। लेकिन यह कामकाजी महिलाएं कभी गरीबी के चंगुल से बाहर नहीं निकल पातीं।

लेखक अपनी माँ के श्रम का भी वर्णन बड़े सजीव ढंग से करता है – "माँ जिसे रगबर जीजी कहकर पुकारते थे मौहल्लों की सफाई का कार्य करती थी। इस काम के बदले में बसीठों (सवर्णों) के घरों से एक-एक रोटी ही मिल पाती थी। गाँव के ठाकुर और वामन अपने खाने के लिए गेहूँ या गौंचना के आटे की रोटियाँ बनाते थे और माँ को मौहल्लों के पखाने साफ़ करने के बदले मटर के आटे की रोटी देते थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि मटर के आटे की बनी रोटी के कौर चबाने से मसूड़े छिल जाया करते थे। सिल-बट्टे पर पीसी मिर्च की चटनी के साथ रोटी हलक में जाने की बजाय हिचकी के साथ मुँह से बाहर को आती थी। पानी के घूँट के साथ बस किसी तरह मैं मटरे की रोटी को निगलता था।"[2] इस उद्धरण से हमें दलितों के वास्तविक धरातलीय जीवन की परिस्तिथियों का पता चलता है कि सवर्ण लोग दलितों को पशु से भी हीनतर समझते हैं, आज भी मानसिकता वही है। शारीरिक श्रम करने के बावजूद मानसिक यंत्रणा झेलने के लिए नारी अभिशप्त है।

साधन व सुविधा के अभाव में निम्न वर्ग की स्त्रियों को घर के अलावा बाहर मजदूरी भी करनी पड़ती है जिससे उनके परिवार का भरण-पोषण हो सके। दलित आत्मकथाओं में ये जिक्र आता है कि निर्धनता के चलते स्त्रियों को अपने परिवार का पेट पालने के लिए मरे हुए जानवरों के मांस पर निर्भर रहना पड़ता है क्योंकि वह अनाज खरीदने में असमर्थ हैं। स्त्रियों को दलित होने के नाते भी व स्त्री होने के कारण दोहरा उत्पीड़न झेलना पड़ता है। माता प्रसाद अपनी आत्मकथा में वर्णन करते हैं – "मरे हुए पशु बस्ती के पास उठाकर लाए जाते, तब वहां पर बस्ती की औरतों की भीड़ इकट्ठी हो जाती। सभी बर्तन लेकर आती, चमड़ा निकल जाने पर उसके गोश्त के लिए झगड़े होते। औरतें शोर्क करतीं, झगड़ती कोई उसके किसी अच्छे भाग की मांग करती, कोई किसी की... एक तरफ इनकी भीड़, दूसरी कुछ दूरी पर कुत्ते और गिद्धों की भीड़ लगी होती।"[3] ओमप्रकाश वाल्मीकि भी तगाओं के घरों में अपनी माँ और बहन द्वारा किये गये श्रम का वर्णन करते हैं जहाँ वे पशुओं की गंदगी की साफ़ सफाई से लेकर गाँव के बाहर कुड़ियों तक सर पर गोबर ढ़ोने का जिक्र करते हैं व इस दुर्दमनीय श्रम के बदले पारिश्रमिक क्या मिलता था उसका भी वर्णन वे करते हैं – "इन सब कामों के बदले मिलता था दो जानवर पीछे फसल के समय पाँच सेर अनाज यानी लगभग ढाई किलो अनाज। इस मवेशी वाले घर से साल भर में 25 सेर अनाज दोपहर को प्रत्येक घर से एक बची खुची रोटी जो ख़ास तौर पर चूहड़ों को देने के लिए आटे में भूसी मिलाकर बनाई जाती थी। कभी-कभी जूठन भी भंगन की टोकरी में डाल दी जाती थी।"[4] इस प्रकार हमें यह पता चलता की समय पुराना हो या नया स्त्री की स्तिथि में कुछ बदलाव नहीं आया है आज भी उसे उसका उचित पारिश्रमिक नहीं मिलता। यहाँ शिक्षा भी एक महत्वपूर्ण कारक है जिसके अभाव में निरक्षर महिलाएं अज्ञानवश कम पैसे में काम करने को राजी हो जाती हैं वह अपने द्वारा किये जा रहे श्रम का मूल्यांकन नहीं कर पाती। नेमीशराय अपनी आत्मकथा में स्त्री के श्रम को रेखांकित करते हैं – "पूरे दिन के काम के बदले औरतों को एक

रुपया रोज मिलता था। व साथ में सड़ी गली चीजें उन्हें दे दी जाती थी। कूड़े में ना फेंका खैरात में उन्हें दे दी। और वे वही पाकर निहाल हो जाती थीं। इससे पता चलता है कि स्त्रियों को उनके श्रम का मूल्य कम दिया जाता था।"[5] दलित समाज में आज भी स्त्री अधिक पढ़ी लिखी ना होने के कारण जागरूकता की कमी के कारण औने पोने दामों में अपना श्रम करती हैं। इससे समाज में शिक्षा का महत्व भी सिद्ध होता है। आर्थिक तंगी के कारण व स्वावलम्बन की आकांक्षा के चलते आँखों में सपने पाले वो नित नए शोषण चक्र से गुजरती है। दलित समाज में औरतों की स्थिति पर लेखक लिखते हैं – "हमारी जात की औरतों को बड़े-बड़े आँगन-दालान गोबर-मिट्टी से लीपने के लिए नवाबों। जमींदारों के नौकर। बुलाकर ले जाते। वे मजूरी मिलने की आस में दौड़ी दौड़ी चली जाती। उनकी औरतें बच्चे जनतीं तो हमारी जात की औरतें नाल काटने के लिए बुलाई जातीं। कुछ मैदान साफ़ कराने के लिए ले जाते तो कुछ घास कटवाने।"[6]

दलित साहित्यकार श्योराज सिंह बैचैन भी अपनी आत्मकथा में दलित स्त्री के जीवन व श्रम को चित्रित करती है। गाँव के परिवेश में किस प्रकार दलितों व निम्न वर्ग की महिला को बेबसी व लाचारी में सवर्ण वर्ग के यहाँ श्रम व मजदूरी करनी पड़ती है। और गुलामी का ये चक्र निरंतर पीढ़ी दर पीढ़ी चलता है। उन परिस्तिथियों की पड़ताल श्योराज सिंह अपनी आत्मकथा में करते हैं। ब्राह्मणवादी – पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री को पुरुषों से अधिक श्रम करने के बाद भी पुरुषों की तुलना में कम ही पैसे मिलते हैं। लेखक अपनी माँ का जिक्र करते हैं कि कैसे उनके पिताजी की मृत्यु के पश्चात माँ ने अपने को संभाला किसी से बिना सहारे की आस लगाए वह निरंतर लोगों के घरों में कार्य करती रही अपने घर के कार्य तो थे ही। इसका वर्णन लेखक करते हैं "पाली-मुकीमपुर अलीगढ़ जनपद में अतरौली तहसील का एक बड़ा गाँव है। यहाँ उन दिनों में ईंख छीलने सिला बीनने, आलू खोदने और कभी घास खोदने आदि कामों में अम्मा और बहन के साथ काम पर जाया करता था। बिरादरी की महिलाओं व बच्चों का झुण्ड का झुण्ड काम पर जाया करता था।"[7] स्त्रियों को इस प्रकार के कामों के बदले थोडा सा अनाज या कुछ रुपये थमा दिए जाते थे। और दोयम दर्जे का व्यवहार उनके साथ किया जाता रहा है। हालांकि वर्तमान में स्थिति में थोडा अंतर है गाँवों में पढाई लिखाई का प्रसार होने से स्त्रियों को मनुष्य ना मानने वाली सोच में सुधार हुआ है लेकिन वह आंशिक तौर पर ही। महानगरों में भी स्त्रियों को कार्यालयों, कंपनी, कारखानों व अन्य जगहों पर पुरुषों की कामपिपासु नजरों से खुद को बचाने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। उन्हें कार्यालयों के दमघोंटू वातावरण में अपनी अस्मिता व आत्म की लड़ाई लगभग रोज ही लड़नी पड़ती है। प्रश्न है की स्त्री समानता व अस्मिता की लड़ाई कब तक लड़ेगी।

संदर्भ सूची : -

1. संतप्त – सूरजपाल चौहान, 2002, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ - 38
2. तिरस्कृत – सूरजपाल चौहान, 2002, अनुभव प्रकाशन, पृ – 9
3. झोपडी से राजभवन – माताप्रसाद, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ – 35
4. जूठन – ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2012, पृ – 19
5. अपने अपने पिंजरे (भाग-1) – मोहनदास नैमिशराय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ – 82
6. वही, पृ – 11
7. वही, पृ – 39

*****

21वीं सदी में बौद्ध दर्शन की प्रासंगिकता का विश्लेषण

विवेकानंद किशोर
शोधार्थी,
दिल्ली विश्वविद्यालय
मो. 9910795024,
phd3459@gmail.com

सारांश-

बौद्ध दर्शन ने पूरी दुनिया भर को शांति का पाठ पढ़ाया है। बौद्ध दर्शन के सभी शिक्षाएं 21वीं सदी के लिए काफी अधिक उपयोगी है। यह मानव जाति को विकास और समन्वय के पाठ को बढाता है। यह केवल भारत ही नहीं बल्कि दुनिया भर के लोगों के लिए काफी अधिक प्रेरणा युक्त बातें हैं।

इसने अपने सिद्धांतों के द्वारा भारत के साथ-साथ पूरी दुनिया को प्रभावित किया है। इसके सिद्धांत मानवतावादी पक्ष को प्रसारित करता है। पूरी दुनिया भर में "वसुधैव कुटुंबकम" की भावना को व्यापक पैमाने पर प्रचार प्रसार भी करता है।यह अत्यंत शुद्ध प्रकृति का सार्वभौमिक, वैज्ञानिक प्रकृति का धर्म है। यह धर्म व्यक्ति के मानसिक व्यवहार को बेहतर करता है इसके अलावे व्यक्ति के सार्वजनिक जीवन के विकास में भी काफी अधिक मदद करता है।पूरी दुनिया भर की अनेक वर्तमान समस्याएं जैसे आतंकवाद, क्षेत्रवाद ,जातिवाद, सांप्रदायिकता वाद, नक्सलवाद आदि का समाधान वर्तमान के बौद्ध सिद्धांतों में स्पष्ट रूप से दिखता है। बौद्ध सिद्धांत मैं विश्व शांति की भावना संग्रहित है।यह बौद्ध धर्म का सिद्धांत वर्तमान के विश्व के कल्याणकारी मार्ग तथा समावेशी विकास के लिए बहुत आवश्यक है।

मुख्य शब्द - बौद्ध धर्म, बौद्ध धर्म का सिद्धांत, गौतम बुद्ध, बौद्ध नीति शास्त्र

भूमिका-

विश्व में सामाजिक हिंसा और भेदभाव व्यापक पैमाने पर बढ़ता जा रहा है। मनुष्य के विचारों में हिंसा की भावना बढ़ गई है। दुनिया के अलग-अलग क्षेत्र में आतंकवाद एवं अन्य युद्ध के हालात मौजूद हैं। इसी हालात को नियंत्रण में रखने के लिए हमें केवल कानून नहीं बल्कि दार्शनिक सिद्धांतों का अपनाने की जरूरत है। अन्य दार्शनिक सिद्धांतों में बौद्ध दर्शन का सिद्धांत मनुष्य प्रजाति की भावना को पूर्णतः बदल सकता है। इन्हीं सबके संकट पूर्ण हालत में बुद्ध के दार्शनिक सिद्धांत एक समाधान प्रस्तुत करता है। यह वर्तमान के हालात में और भी ज्यादा प्रासंगिक सिद्ध होता है।बौद्ध दर्शन ने समाज के सर्वांगीण विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाया है। यह विश्व बंधुत्व, समावेशी विकास, शांति के पाठ को बढ़ाने में सहायक है।

गौतम बुद्ध का जन्म ईसा पूर्व 566 में कपिलवस्तु के लुंबिनी ग्राम में हुआ था। बचपन के दिनों से ही वह काफी अधिक चिंतनशील थे। बचपन का उसका नाम सिद्धार्थ था। संसार की जितने प्रकार के दुख थे वह सबके प्रति मानवीय तृष्णा का भाव रखते थे। वह इन सब दुखों के प्रति चिंतनशील थे। हालांकि उनको अपने व्यक्तिगत जीवन में सुख नसीब नहीं हुआ।

समाज के बेहतर विकास के लिए गौतम बुद्ध ने धर्म प्रचार शुरू कर दिया। बुद्ध ने प्रथम उपदेश दिया जिनका धर्म चक्र परिवर्तन कहा जाता है। बुद्ध ने यहीं पर संघ की स्थापना की। बुद्ध ने संघ के सदस्यों को देश-विदेश के विभिन्न क्षेत्रों में जाकर बौद्ध सिद्धांतों को प्रचार प्रसार करने का आदेश दिया।

बौद्ध दर्शन के लोकप्रियता का अंदाजा इस हिसाब से लगाया जा सकता है कि समाज के व्यापारी वर्ग,आम जनता तथा प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से लगभग सभी ने इसको स्वीकार किया। बौद्ध दर्शन ऐसे नियमों का संग्रह है जो व्यक्ति के मानवीय क्षमता को उजागर करता है। यह धर्म अनिश्वरवादी है। यह ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है। इसमें पुनर्जन्म के सिद्धांत को स्वीकार किया गया है। बौद्ध दर्शन का मूल आधार चार आर्य सत्य .. दुख , समुदाय, दुख निरोध, तथा अष्टांगिक मार्ग है। हालांकि उन्होंने मध्यम मार्ग का रास्ता दिखाकर विभिन्न समस्याओं के समाधान की बात कही है।

पूरी दुनिया के अलग-अलग क्षेत्र में जैसे मध्य पूर्व ,सीरिया, ईरान ,इराक, यमन में आतंकवाद भीषण गरीबी की घटनाएं व्यापक पैमाने पर व्याप्त है। इसके अलावा अफ्रीका में विशाल संसाधन होने के बावजूद भी वहां के अधिकांश जनसंख्या का शोषण बड़े पैमाने पर हो रहा है। म्यांमार के क्षेत्र में एक बड़ी आबादी को रातों-रात वहां से भगा दिया गया। हिंसक बड़े पैमाने पर दुनिया भर के अलग-अलग क्षेत्र में दिखाई पड़ती है। सूडान में गृह युद्ध के हालात के मध्य नजर लगभग 8 लाख से ज्यादा लोगों को रातों-रात विस्थापन होना पड़ा।

बौद्ध सिद्धांतों के द्वारा हानिकारक बातों को हटाकर आपसी सद्भाव और योग्यता का सम्मान किया जाता है। एक ऐसे समय जब पूरे दुनिया भर में अशांति का माहौल है। इस विपरीत परिस्थिति में बौद्ध दर्शन का सिद्धांत लागू करना कहीं ज्यादा प्रासंगिक हो जाता है। एक तरफ पूरी दुनिया भर में जहां मानव प्रजाति ने विज्ञान तकनीकी और अभियांत्रिकी के क्षेत्र में अपार समृद्धि हासिल कर लिया है वहीं दूसरी और लोगों के मन में स्वार्थ लोभ हिंसा आपकी भावना भी विद्यमान हो गई है। गौतम बुद्ध ने मानवीय प्रवृत्ति का विश्लेषण करते हुए कहा कि मनुष्य का मन ही सभी कर्मों का विधाता है। बुद्ध के पंचशील सिद्धांत ने दुनिया भर के लोगों को एक नई दिशा प्रदान की है। बुद्ध के दार्शनिक सिद्धांतों को अपनाकर संपूर्ण समाज मानवता नैतिक मूल्य, अहिंसा पर आधारित शांति, सद्भाव इत्यादि को प्राप्त कर सकते हैं।आपसी वैमनस्य के बारे में गौतम बुद्ध ने कहा कि आपसी दुश्मनी हमेशा पतन की ओर ले जाता है। व्यक्ति को हमेशा सार्वजनिक कल्याण के लिए कार्य करना चाहिए। गौतम बुद्ध ने कहा कि

हिंसा के द्वारा प्राप्त की गई जीत अस्थाई सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि इसका परिणाम बिल्कुल प्रतिकूल होता है। यह समाज के सर्वांगीण विकास के लिए एक बहुत बड़ी बाधा है। बुद्ध ने स्पष्ट रूप से कहा कि उनके अनुयाई पूरी तरह उनकी बातों को सुनकर जस का तस स्वीकार नहीं करना चाहिए बल्कि अपने अनुसार किसी भी बात को तार्किक विश्लेषण करके उसको लागू करना चाहिए। उन्होंने पूरी दुनिया को पंचशील और निर्वाण का मार्ग दिखाया ताकि बेहतर समाज का निर्माण हो। संसार में जो भी वस्तु प्रिय लगती है उन इच्छाओं को त्याग कर ही हम अपने दुख से निजात पा सकते हैं।

इस प्रकार के परिस्थितियों में बौद्ध दर्शन को समझने की जरूरत है। बौद्ध दर्शन में सामाजिक आर्थिक ,राजनीतिक समानता पर बल दिया गया। बौद्ध दर्शन में चार आर्य सत्याओं का उपदेश दिया गया था यह सत्य बौद्ध धर्म का मूल आधार है। इसके अलावा सांसारिक दुखों से मुक्ति के लिए बुद्ध ने अष्टांगिक मार्ग पर चलने की बात भी कही है।

अष्टांगिक मार्ग के अंतर्गत..

1. सम्यक दृष्टि अर्थात सत्य और असत्य की सही परख
2. सम्यक संकल्प इच्छा तथा हिंसा से रहित संकल्प करना
3. सम्यक वाणी जिसका तात्पर्य है सदा सत्य का प्रयोग करना जो धर्मसम्मत हो
4. सम्यक कम अर्थात अच्छे कर्म में संलग्न होना
5. सम्यक आजीब कर्तव्य का पालन करना
6. सम्यक् स्मृति अर्थात अपने कर्मों के प्रति सावधान रहना
7. सम्यक व्यायाम अर्थात विवेकपूर्ण पर्यत्न
8. सम्यक समाधि अर्थात चित्र की समुचित एकाग्रता रखना।

बौद्ध दर्शन में मध्यम मार्ग के उपदेश पर बोल दिया गया है मध्य मार्ग का अर्थ है किसी भी व्यक्ति को अपनी जरूरत से ज्यादा इच्छा नहीं पालना चाहिए।बौद्ध दर्शन में कहा गया है जो व्यक्ति अच्छा कर्म करेगा, जो व्यक्ति अपने जीवन में भ्रष्टाचार मुक्त साधन का उपयोग करेगा, वह व्यक्ति जीवन में सफल होगा। बौद्ध दर्शन में सदाचार व नैतिक जीवन पर अत्यधिक बल दिया गया है। वर्तमान के दौर में यह धर्म अत्यंत व्यावहारिक प्रतीत होता है।बौद्ध दर्शन में 10 शीलों की बात कही गई है। यह 10 शील हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, व्यभिचार ना करना, मदिरा का सेवन नहीं करना, और असमय भोजन न करना, धन संचय न करना इत्यादि। संघ में शामिल होने से पहले किसी व्यक्ति को उनकी शपथ लेनी पड़ती है अर्थात यह बौद्ध दर्शन समाज के विभिन्न बुराइयों को खत्म करने में बहुत ही ज्यादा मददगार है। बुद्ध ने मानवीय प्रवृत्तियों के बारे में कहा है कि मनुष्य का मन ही सभी कर्मों को नियंत्रित कर सकता है। 21वीं सदी में विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास व्यापक पैमाने पर हुआ है। अतः विज्ञान व तकनीकी ने विभिन्न प्रकार के धार्मिक पाखंडी पन को चुनौती प्रदान किया है।इसके विपरीत बहुत दर्शन ने सभी प्रकार के पाखंडी पन को खत्म किया। अंधविश्वास व धार्मिक आडंबरों से अपने आप को दूर रखा। किसी व्यक्ति के जीवन में दुख का कारण इच्छाओं को माना गया है और व्यक्ति के सभी इच्छाओं की पूर्ति करना संभव नहीं है। दिन प्रतिदिन पर्यावरण प्रदूषण भ्रष्टाचार, राजनीतिक अपराधीकरण महिलाओं का अपमान, सामाजिक असहिष्णुता इत्यादि की भावना समाज के विभिन्न क्षेत्रों में ग्रसित है। विभिन्न प्रकार की समस्याओं का समाधान बौद्ध दर्शन में ही स्पष्ट रूप से दिखता है। बौद्ध दर्शन में ही वसुदेव कुटुंबकम व मानव समाज के कल्याण के उत्थान की बात कही गई है।

हिंदू धर्म में विष्णु के नवें अवतार के रूप में भगवान बुद्ध को माना जाता है। भगवान बुद्ध ने कहा कि हम सबके सर्वांगीण विकास पर सामाजिक स्वतंत्रता की कामना करते हैं। भगवान बुद्ध ने यह भी कहा कि जो भी बौद्ध दर्शन के अनुयाई हैं वह तत्कालीन समाज के अनुरूप अपने विचार का प्रचार प्रसार करें। उन्होंने पंचशील और निर्माण के मार्ग को बताया । बौद्ध धर्म के शुरुआत भारत में हुई लेकिन आज यह पूरी दुनिया के अलग-अलग देश में फेलचुका है। यह भारत से होता हुआ चीन ,जापान ,वियतनाम ,थाईलैंड, म्यांमार ,भूटान, श्रीलंका, कंबोडिया, तिब्बत ,सिंगापुर इत्यादि अन्य देशों में फैल चुका है।

बौद्ध दर्शन हमेशा से मानव के लिए प्रासंगिक रहा है। बुद्ध ने मानव के कल्याण के लिए 12 प्रतिज्ञाएं की थी। बौद्ध दर्शन में कहा गया है कि बीमार विकलांग व्यक्ति सभी पूर्ण रूप से स्वस्थ होना चाहिए। 21वीं सदी के इस दौर में लाखों की संख्या में युवा अवसाद के शिकार होते जा रहे हैं। विभिन्न प्रतिस्पर्धा परीक्षा की तैयारी करते हुए कई ऐसे व्यक्ति हैं जो आत्महत्या भी कर लेते हैं। इसके अलावा विभिन्न प्रकार के हिंसक घटनाओं को भी यह अवसाद जन्म देता है। इसका समाधान बौद्ध दर्शन के" सचेतन(mindfulness) के अभ्यास" में छुपा हुआ है।

बौद्ध धर्म की शिक्षाएं हमारे जीवन को बेहतर बनाने के लिए काफी अधिक महत्वपूर्ण है। इसके द्वारा समाज के विभिन्न वर्गों के बीच में आपसी समन्वय, विश्वास इत्यादि को बढ़ावा मिलता है। बुद्ध ने समाज के सर्वांगीण विकास के लिए बेहतरीन काम किया। उनके बौद्धिक विचार हमेशा लोगों के प्यार, विश्वास इत्यादि को बढ़ाता है। बुद्ध ने अपने गतिविधियों के द्वारा समाज के अनेक लोगों को प्रेरणा प्रदान किया। बुद्ध की शिक्षाएं लोगों को सीखने और समृद्धि को बढ़ाने के लिए काफी अधिक आवश्यक है। बुद्ध का शिक्षण विभिन्न सत्य को रेखांकित करता है। यह आपसी प्रेम को बढ़ावा देताहै। छठी शताब्दी ईसा पूर्व में चल रहे एक सामाजिक धार्मिक बौद्धिक आंदोलन की तीव्र शुरुआत हुई। इसके द्वारा समाज में चल रहे रूढ़िवादी परंपरा के बंधन को तोड़ा गया। अनुशासन की भावना का विकास, आत्म संयम को अधिक से अधिक बढ़ावा देना की गतिविधि ने लोगों को काफी अधिक प्रभावित किया। व्यक्ति के चरित्र का निर्माण सार्वजनिक रूप से हुआ। लोगों में कुछ नया जानने की तीव्र इच्छा हुई। एक नए धार्मिक परंपरा की शुरुआत हुई।

बौद्ध दर्शन में एक प्रमुख सिद्धांत है ..

सचेतन का अभ्यास अर्थात किसी भी विषय के रूप में गहरी जागरूकता पैदा करना अथवा उसकी बेहतर समझ को बढ़ावा देना। इसका अभ्यास करके युवा किसी पर प्रकार के अवसाद को खत्म कर सकता है एवं तनाव मुक्त जीवन जी सकता है।करुणा और सहानुभूति.. दुनिया भर के अलग-अलग क्षेत्र में जहां पर आपसी संघर्ष व्यापक पैमाने पर व्याप्त है वहां पर

बुद्ध की करुणा आधारित शिक्षाओं से युवा प्रेरणा ले सकते हैं ।वह इसका समाधान कर सकते हैं। रूस यूक्रेन युद्ध, जलवायु परिवर्तन, मध्य पूर्व का संघर्ष, इत्यादि का समाधान बौद्ध दर्शन में देखा जा सकता है जो लोग आतंकवादी भावनाओं का प्रचार प्रसार के लिए हथियार लेकर निकलते हैं उनके हाथों में फूल देने चाहिए। बौद्ध दर्शन हिंसा की भावना को पूर्णतः अस्वीकृत करता है। जानवरों के खिलाफ क्रूरता की घटनाएं दिन-ब-दिन देखने को मिलता है.. कुछ दिन पहले ही एक हाथी को लोगों ने मार दिया था। दया व करुणा के सिद्धांत का पालन करते हुए इन सब घटनाओं का समाधान किया जा सकता है। दो देशों के बीच आपसी विवाद को धम्म विजय के सिद्धांत के द्वारा , संस्कृत भावना का प्रचार प्रसार करके, दो देशों के व्यक्तियों के बीच आपसी संवाद को बढ़ाकर के समाधान किया जा सकता है।

निष्कर्ष (Conclusion)..

गौतम बुद्ध के दार्शनिक सिद्धांतों ने पूरी दुनिया को एक नई राह प्रदान की है। बुद्ध के नैतिकता के सिद्धांत सामाजिक राजनीतिक, आर्थिक इत्यादि सभी क्षेत्र के लिए लाभकारी है। यह हमारे जीवन की दशा को बदल देता है। दुनिया भर में पनप रहे विभिन्न समस्याएं जैसे- सीमा पार आतंकी घटना, मानव तस्करी, नक्सलवाद, इत्यादि समस्याओं को खत्म करके एक बेहतर समाज के निर्माण के लिए बुद्ध के दार्शनिक सिद्धांत काफी उपयोगी हैं। भगवान बुद्ध के सिद्धांत ने विभिन्न प्रकार के समस्याओं का निवारण अपने स्तर पर किया है। इस प्रकार से अगर व्यक्ति अपने आप पर नियंत्रण रखें तो सभी प्रकार का समाधान हो सकता है। विश्व स्तर पर जो भ्रष्टाचार ,आतंकवाद, सामाजिक असंतोष इत्यादि की भावना है इसको बौद्ध दर्शन के द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है। वर्तमान के दौर में मनुष्य को अधिक चरित्रवान व नैतिक रूप से संपन्न बनाने के लिए बौद्ध दर्शन के सभी सिद्धांतों को अपने ऊपर लागू करने की जरूरत है। समाज में एकता, बंधुता, समानता एवं "वसुधैव कुटुंबकम" की भावना का विकास बौद्ध दर्शन के सिद्धांतों को अपनाकर हो सकता है।

संदर्भ ग्रंथ-

1. अंबेडकर, बी.आर., भगवान बुद्ध और उनका धर्म, सिद्धार्थ प्रकाशन, बम्बई,1961
2. तिवारी, रमेश चंद्र, दर्शन धर्म और समाज, वाराणसी, 1994
3. भट्टाचार्य, एन.एन.,हिस्ट्री आफ रिसर्च आन इंडियन बुद्धिज्म, कलकता,1981
4. राय, राम कुमार, बौद्ध न्याय भाग 1 और 2, चौखंबा विद्या भवन, वाराणसी,1969
5. वर्मा, बैद्यनाथ प्रसाद, शिक्षाशास्त्र, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना,1999
6. Ambedkar,B.R.,The Buddha and his Dhamma,Siddhartha college Publications,1957
7. Subramaniam, arundhathi, The Book of Buddha,Penguin India,2014
8. तिवारी, अरुण कुमार, गौतम बुद्ध, प्रभात प्रकाशन,2020
9. Blomfield,Vishvapani(2012), Gautam buddha: the life and teaching of the awakened one , Quercus
10.Rao, Mukund(2017),The Buddha: An alternative Narrative of his life and teaching , Harper elements
11.पांडे, अजय कुमार, बौद्ध संस्कृति के विविध आयाम, प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली,2006
12. उपाध्यक्ष, बलदेव, बौद्ध दर्शन मीमांसा, चौखंम्भा विद्या भवन प्रकाशन, वाराणसी,1999

*****

प्रवासी कथा संसार में हिन्दी भाषा

उपासना
पता- एच 99डी, गली न. 06,
एच ब्लॉक, गंगा विहार,
दिल्ली- 110094
मोबाईल- 9205106209
ईमेल- upasna.chahal01@gmail.com

'हिन्दी' प्रवासी भारतीयों के लिए मात्र भावों और विचारों के विनिमय का माध्यम नही है I यह तो बहुसांस्कृतिक समाज के बीच अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में उनकी पहचान का आधार है, साथ ही घर लौटने या उसे पा लेने का अहसास भी I उनकी आकांक्षाओं के स्वप्न स्वदेस के लोगों के समान हिन्दी और उसकी बोलियों में ही अभिव्यक्ति पाते हैं I हम देखते हैं कि अजनबी देशों में प्रवासी भारतीय भारत के गली-मोहल्ले में बोली-सुनी जाने वाली 'हिन्दी' को सुनकर एक-दूसरे का परिचय प्राप्त किए बिना नहीं रह पाते हैं I ऐसे में बहुत-से प्रगाढ़ संबंध बनते हैं I यही नहीं मादरी भाषा में वार्तालाप, पठन-पाठन और लेखन प्रवासियों द्वारा अपनी भारतीयता जताने का एक सायास प्रयास भी होता है अतः अवसर मिलने पर वे हिन्दी में बात करने से नहीं चूकते हैं I यही स्थिति बोलियों के संदर्भ में भी है I

प्रवासी हिन्दी कथा साहित्य पर विचार करें तो यहाँ रचनाकारों द्वारा बुने गए ऐसे चरित्र दिखाई देते हैं जो मातृभाषा को अपनाने में संकोच और हीनता महसूस करने वाले लोगों को फटकार लगाते हैं I उदाहरण के लिए, कृष्ण कुमार की कहानी 'वसीयत' में एयरहोस्टेज़ जमीला, यात्रियों से उनकी मातृभाषा में ही संवाद कायम करती है ताकि संबंध बेहतर बने और यात्री सहायता लेने में सहज रहें I उसे विक्रम के हिन्दी बोलने में झिझकने पर अचरज होता है मानो हिन्दी उसके सभ्यतागत विकास के साथ तालमेल नहीं बैठा पा रही हो I विक्रम का हिन्दी न बोलना उस भारतीय मानसिकता का परिचायक है जिससे प्रेरित होकर लोग स्वयं का संबंध उच्च शिक्षित वर्ग से दर्शाने के लिए गर्व से भरकर अंग्रेज़ी बोलते हैं जबकि हम जानते हैं कि हिन्दी भाषा परिवार की बोलियाँ, फ्रेंच, डच, जर्मन भाषा परिवार की बोलियों की कोटि के समान ही हैं I जमीला विक्रम से कहती है, "मैंने आपसे आपकी ही भाषा में सवाल किया और जवाब आपने उस भाषा में दिया, जो आपकी मादरी ज़बान नहीं है I"[1]

इस प्रकार जमीला प्रवासियों और स्वदेशियों को भाषा संबंधी हीनता ग्रंथि को त्यागकर अपनी माँ-बोली का प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहित करती दिखाई देती है जिसमें शांति एवं समरसता बनाए रखने के लिए अन्य भाषाओं का आदर भी अपेक्षित है I कहानी में लेखक जमीला के चरित्र के रूप में अपनी अपेक्षाएँ गढ़ता प्रतीत होता है कि नई पीढ़ी, हिन्दी के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं से भी सबंध बनाए रखें क्योंकि यही उनकी वास्तविक पहचान की स्रोत हैं I जमीला हिन्दी भाषा को अपने पूर्वजों की ज़बान और तहज़ीबी ज़मीन के रूप में देखती है I मानस का जमीला के लिए लिखा पत्र इसी का परिचायक है I यथा, "वे सब ज़मीर से अभद्र हैं जो अपनी भाषा और संस्कृति से कट जाते हैं I ऐसे अभद्रों को तुम्हें सिखाना होगा I"[2]

ध्यातव्य है कि 'होलोकास्ट' का भय कहीं न कहीं प्रत्येक डायस्पोरा समाज की मनोवृत्ति होती है I यह एक प्रकार की सामूहिक हत्या है जो समुदाय अपनी संस्कृति और भाषा से विरक्त होकर करता है I अतः प्रथम पीढ़ी के प्रवासी भारतीय यह निरंतर प्रयास करते हैं कि उनकी संतानों को हिन्दी भाषा के कम से कम मौखिक कौशल का बोध हो I दिव्या माथुर की कहानी 'बर्रडे' में अम्मा टीया को दिए अपने भाषाई संस्कारों पर गर्व करती है जिसके कारण वह बहुत अच्छी हिन्दी बोलती है I उनके लिए यह निराशाजनक है कि विनय और अनिल ने अपने बेटे कीर्ति को मातृभाषा नहीं सिखाई I यहाँ हिन्दी भाषा का ज्ञान भारतीय वधु के एक महत्त्वपूर्ण गुण के रूप में देखा जाता है I तभी तो अम्मा कीर्ति के माता-पिता को आश्वस्त करती है कि विवाह के पश्चात् टीया कीर्ति को हिन्दी सिखा देगीI[3]

प्रवासी कहानियाँ स्पष्ट करती हैं कि अभिभावक नई पीढ़ी को हिन्दी भाषा में निपुण बनाने के लिए उसका हिन्दीभाषियों के साथ अधिकाधिक संवाद स्थापित कराने का प्रयास करते हैं I उदाहरण के लिए, अंशु जौहरी की कहानी 'जिंदगी को' में भूमिका बेटी को हिन्दी शिक्षण की कक्षाओं में भेजना चाहती है क्योंकि बेटी हिन्दी समझ तो लेती है किंतु भावों और विचारों को भली-भांति अभिव्यक्त न कर पाने के कारण जवाब अंग्रेज़ी में

देती है I[4]

यहाँ भूमिका की बेटी का हिन्दी न बोलना उसके अज्ञान के कारण है किंतु हम देखते हैं कि अनेक प्रवासी भारतीय युवा अपनी आनुवंशिक धरोहर के प्रति असहज होने के कारण हिन्दी भाषा की उपेक्षा करते हैं I इस असहजता का स्रोत पश्चिमी परिवेश के साथ-साथ माता-पिता का बच्चों में निरंतर भारतीयता का प्रमाण खोजते रहना भी है मानो इसके अभाव में वे उनकी संतानें ही नहीं रहेंगी I यह मानवीय स्वभाव है कि व्यक्ति विशेष पर किन्हीं बातों का अतिरिक्त दबाव उसे नकार के लिए प्रेरित करता है I ऐसी ही स्थिति अंशु जौहरी की कहानी 'अदृश्य किनारा' के अमेरिकन-इंडियन बेटे की है जिसके लिए हिन्दी में अभिव्यक्ति गौरव का विषय नहीं है I वह कहता है, "आज भी मेरी माँ मुझसे हिन्दी में ही बात करती है I अब यह बात और है कि मैं उनकी हर बातचीत का उत्तर अंग्रेज़ी में देता हूँ I" [5]

कहानियों में नई पीढ़ी के अनेक चरित्र यह स्पष्ट करते हैं कि उनकी मातृभूमि 'विदेश' है I ऐसे में उनसे उनकी मातृभाषा जोकि भारतीयों के लिए एक विदेशी भाषा है, का अनुगमन करना ही उनसे अपेक्षित होना चाहिए I ऐसी स्थिति में प्रथम पीढ़ी अपनी राष्ट्रीय अस्मिता और सांस्कृतिक चेतना के कारण उन्हें भारतीय संस्कृति और हिन्दी भाषा को भूलने नहीं देना चाहती I चूँकि भाषा विशेष में उसकी संस्कृति का स्रोत अनुस्यूत रहता है अतः प्रवासी भारतीयों में अपने बच्चों को अपने जैसा रचने की इच्छा होती है तात्पर्य यह है कि वे नवीन देशों में अपना स्थान बनाते हुए अपनी मूल जड़ों को न भूलें I इसी प्रयास में सुषम बेदी कृत 'झाड़' कहानी की अन्विता अपनी माँ को भारत से बुलाती है ताकि अमेरिकी बेबीसिटर और मित्रों के कारण पनपे भारतीयों के संपर्क के अभाव को पाटा जा सके जो उसके बेटे के भारतीयकरण के लिए अनिवार्य है I

अन्विता की आकांक्षा है कि समीर उर्फ़ सैम अपनी नानी से हिन्दी सीखे किंतु सैम को यह व्यर्थ का कार्य लगता है I उसकी पीढ़ी के अनुमान में विदेशी धरती पर हिन्दी के राष्ट्रभाषा न होने के कारण न तो उसका अधिगम अनिवार्य है, न वह वहाँ के व्यावसायिक क्षेत्रों में उपलब्धि प्राप्त करने का माध्यम हैं, न उससे विपरीत नस्ल के साथ मैत्री में विस्तार हो सकता है और न ही वह विद्यालय और सार्वजनिक स्थलों में बेहतर संप्रेषण के काम आ सकती है तो वह हिन्दी क्यों सीखे I यथा, "अन्विता ने फिर कहा- नानी से हिन्दी सीख ले I वह पलटकर बोला- नो ! आई डोंट वांट टु लर्न हिन्दी I तुझे मालूम है हिन्दी हमारी नेशनल लैंग्वेज है ? नॉट माईन I आई वाज़ बर्न हेयर I"[6]

यह रोचक है कि प्रवासी भारतीय विकसित अत्याधुनिक तकनीक वाले देशों में निवास करते हुए भारत से जुड़ना चाहते हैं जबकि देशवासी भारत में रहते हुए पश्चिम से I फ़लस्वरूप एन.आर.आई. लोगों को भारत में जिस स्वदेशीपन की खोज होती है, वह उन्हें यहाँ नहीं मिलता है I उदाहरण के लिए, सुषम बेदी की कहानी 'तीसरी आँख' में नायिका अमेरिकन छात्रों के साथ जब पाँच सितारा होटल पहुँचती है तो परिचारिकाओं से हिन्दी में बतियाना चाहती है किंतु अंग्रेज़ी में उत्तर मिलने पर आत्मीयता महसूस नहीं कर पाती I उसे होटल के कर्मचारी उन अमेरिकन हिन्दुस्तानियों जैसी प्रतीत होते हैं जो हिन्दी समझ तो लेते हैं किंतु उसमें संप्रेषण नहीं कर पाते I उसे भारतीयों की भाषागत अज्ञानता से ऐसा प्रतीत होता है कि वह विश्व के किसी अन्य शहर में है, अपने देश में नहीं I यथा, "तब अचानक मुझे भान हुआ कि मैं भारत की उस पहली दुनिया में हूँ जहाँ भारत नहीं इंडिया बसता है और यह डेल्ही (दिल्ली) इस ग्लोबल दुनिया का कोई भी शहर हो सकता है I"[7]

कहानी में नायिका का अतीत मोह भारत के साथ है, इंडिया के नहीं क्योंकि प्रवास ने भारतीय संस्कृति और हिन्दी से दूर किया है, विकास से नहीं I अतः वह भारतीयता से सराबोर उस भारत की खोज करती है जहाँ हिन्दी बोली-सुनी जाती है I वह विदेशी छात्रों के भारत भ्रमण में हिन्दी को अनावश्यक जानकर भारतीय प्रतिनिधि के रूप में अपनी व्यर्थता पर खीज उठती है I इस प्रकार भारत यात्रा कई बार प्रवासियों की पहली पीढ़ी को रिवर्स कल्चरल शॉक देती प्रतीत होती है I

हालाँकि ऐसा नई पीढ़ी के संदर्भ में दिखाई नहीं देता है I इनके लिए स्वदेश की यात्राएँ हिन्दी अपनाने की प्रेरणा भी बनती हैं I कारण, जब व्यक्ति किसी देश की भाषा बोलता है तो उसका नागरिक प्रतीत होने लगता है I भारत को जीने और उससे अपना संबंध जोड़ने के प्रयास में प्रवासियों की नई पौध टूटी-फूटी हिन्दी में संवाद करने का प्रयास करती है चाहे उससे प्रश्न अंग्रेज़ी में ही क्यों न पूछे जा रहे हों I इससे उनकी छवि भारतीयों के समक्ष निष्कपट और नादान व्यक्ति की बनती है जिन्हें ठगा जाना आसान है I इस प्रकार भाषा पर अधिकार न होने को व्यावहारिक जीवन का ज्ञान न होने का पर्याय मान लिया जाता है I अंशु जौहरी कृत 'अदृश्य किनारा' कहानी में गाय-भैंस चराने वाला युवक प्रवासी भारतीय युवा के हिन्दी उच्चारण को सुनकर व्यापारिक दृष्टिकोण अपनाता है और बिना अपनी अनुमति के उसके द्वारा फ़ोटो लेने पर पाँच सौ रुपयों की माँग करता है I इसके ठीक विपरीत प्रवासी भारतीय गाँव के लोगों के बीच अपनी नवीन

पहचान को जानकर हृदय विभोर हो उठता है I यथा, "मुझे हमेशा व्यवहारिक, स्वार्थी, अजीब, उलझा हुआ, कमीना, मतलबी, अहसानफ़रामोश, संवेदनहीन कहा गया था I पर सीधा, सरल और भला ! कभी नहीं I मुझ पर इन शब्दों की प्रशंसा का जादू चढ़ रहा था I"[8]

हम देखते हैं कि नई पीढ़ी का हिन्दी भाषा में रुक-रूककर व्याकरणिक अशुद्धियों के साथ संपर्क साधने का प्रयास प्रवासियों को अपनी परवरिश के प्रति आश्वस्त भी करता है कि उनके बच्चों में मेज़बान लोगों और रीति-रिवाज़ों के बीच स्वदेश के संस्कार हैं I वे पश्चिम में रहते हुए भी वे भारत में रहने वाले उन बच्चों जैसे नहीं हैं जो अंग्रेज़ी भाषा प्रयोग के साथ आचार-व्यवहार में विदेशी बनते जा रहे हैं I प्रवासी लोग भारत में रहने वाले लोगों की पश्चिमी देशों में पैठ बनाने की मानसिकता को जानते-बूझते भी अनदेखा करते है और सोचते हैं कि जिस देश के लिए वे आँसू बहाते हैं, उससे दूर बसकर क्या वास्तव में उन्होंने अनुचित कार्य किया है ?

जीवन मूल्यों के द्वंद्व से उपजी यह व्यथा पुष्पा राव की कहानी 'परदेस' में शालिन की माँ की है I वह इस बात को सोचकर दुखी होती है कि विदेश में उसका बेटा दादा-दादी के मार्गदर्शन के अभाव में हिन्दी की आत्मीयता, पौराणिक कथाओं के मनोरंजन और धार्मिक आस्थाओं की सीख से अछूता रह जाएगा I वह भारत में संयुक्त परिवार में रह रहे अपने भाईयों के बच्चों से हिन्दी भाषा और उससे प्राप्त भारतीय नैतिक आचरण में रचे-बसे होने की अपेक्षा करती है किंतु यह देखकर हैरान हो जाती है कि बालक हिन्दी बोलने में अपमान महसूस करते हैं I फलतः उसके लिए अपने नन्हे बालक द्वारा मातृभाषा की सीमित शब्दावली आत्मसात करना गौरव का विषय बन जाता है I वह सोचती है, "देश छोड़कर हमने गलत किया या सही...कौन कह सकता है ?"[9]

कह सकते हैं कि प्रवासियों को भारतीय मूल के बच्चों का हिन्दी की ओर झुकाव जितनी प्रसन्नता देता है उतना ही भारत में रहने वाले बच्चों द्वारा मातृभाषा की अवज्ञा दुखी करती है I इस स्थिति के पीछे का कारण उनकी अल्पसंख्यक होने की मानसिकता है I वास्तव में ग्लोबल गाँव के व्यावसायिक क्षेत्रों में इंटरनेट के द्वारा जहाँ आज व्यक्ति की देह नहीं अपितु उसका मस्तिष्क प्रवास करता है, भारत में रहते हुए पश्चिमी देशों के साथ तालमेल बैठाने के लिए अंग्रेज़ी में प्रभुता आवश्यक हो जाती है I अतः घर, विद्यालय, प्रशिक्षण केंद्रों और सार्वजनिक स्थलों पर देश के भावी नागरिकों को अंग्रेज़ी के आकर्षण और महत्त्व का अहसास होता है, हिन्दी का नहीं I फलतः आज भारतीय भी प्रवासियों के समान अपनी संतानों से हिन्दी के मात्र मौखिक कौशल में पारंगत होने की अपेक्षा करने लगे हैं जिसका अधिगम हिन्दी के मुख्य संपर्क भाषा होने के कारण स्वदेशी बालकों के लिए विदेश में रहने वाले भारतीय मूल के बच्चों के समान अभ्यासजनित कार्य नहीं है I

भारत में हिन्दी के जिस रूप का सम्मान है, वह है उसका उर्दू मुक्त संस्कृत रूप I इस आदर्शीकृत हिन्दी का विस्तार मुख्यतः साहित्य गोष्ठियों, उच्च शिक्षा केंद्रों तथा विभिन्न विधाओं में लिखी रचनाओं के मध्य है I भारत में यह हिन्दी अच्छे रोज़गार का स्रोत भी है किंतु अनेक बार विदेशों में नहीं I सुषम बेदी द्वारा रचित 'आसमान पर पाँव' कहानी में जेसन के साथ विवाह करके हेमलता हिन्दी की दक्षता के साथ अमेरिका जाती है किंतु शुद्ध उच्चारण के कारण बार-बार साक्षात्कार में अस्वीकृत होती है I यथा, "उसे इंटरव्यू पर बुला तो लिया गया पर या तो उसका उच्चारण बहुत हिन्दीमय था, उसे लिया नहीं गया I"[10]

फलतः भारत में अपनी आयु के लगभग समकक्ष विदेशी छात्रों को हिन्दी सिखाने वाली हेमा को अमेरिका के एक मंदिर में बच्चों को सामान्य भाषा ज्ञान के साथ महाभारत-रामायण की गाथाएँ सुनाकर और भजन सिखाकर संतुष्ट होना पड़ता है I अमेरिका की अकादमिक बिरादरी से जुड़ा होने के लिए उसकी हिन्दी का अंग्रेज़ीनुमा होना आवश्यक था किंतु यहाँ तो अमेरिकन एक्सेंट के बिना उसकी अंग्रेज़ी भी हिन्दी ही समझी जाती थी I इस प्रकार जिन भाषाओं पर पकड़ के कारण वह भारत में प्रतिभावान समझी जाती थी, विदेश में उनमें परिवर्तन करने की आवश्यकता आ पड़ी थी I उसे मातृभाषा की शब्दावली और वाक्य विन्यास को सरल तथा सहज बनाना था, साथ ही अंग्रेज़ी के उच्चारण को सुधारना क्योंकि वहाँ इनका प्रयोग व्यतिरेकी विश्लेषण और तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित अन्य भाषा के रूप में हिन्दी शिक्षण के लिए आवश्यक था I कारण, अपेक्षित निपुणता के लिए अन्य भाषा संवादों का प्रयोग करके और चित्रों तथा संकेतों की सहायता लेकर पढ़ाने की तकनीक आज भी कम प्रयुक्त की जाती है I

उल्लेखनीय है कि देस-परदेस में हिन्दी की जो दो स्थितियाँ प्रकट होती हैं उससे हेमा जैसे प्रवासियों के अहम् पर चोट लगती है I भारत में वर्षों के श्रम से अर्जित की गई हिन्दी की साहित्यिक प्रयुक्ति को बोलचाल की प्रयुक्ति से प्रतिस्थापित करना उन्हें असहज और असंतुष्ट बनाता है फ़लस्वरूप वे अनेक बार अंग्रेज़ी में दक्षता प्राप्त करने के लिए आवश्यक आत्मविश्वास संचित नहीं कर पाते I हेमा अपने अमेरिकी सास-ससुर और

पति से बार-बार अंग्रेज़ी का उच्चारण ठीक करने का आग्रह करती है किंतु जब वे इसका प्रयास करते हैं तो उसे यह जग-हँसाई प्रतीत होती है I वह स्वयं को अभावग्रस्त देश का प्रतिनिधि महसूस कर उन घटनाओं को कोसती है जिन्होंने उसे यहाँ ला पटका था I

यह कह सकते हैं कि अनेक प्रवासी भारतीयों का अंग्रेज़ी बोलने का तरीका उन्हें सार्वजनिक तौर पर उपहास का पात्र बनाता है जिससे वे हिन्दी की ओर अधिक झुकाव महसूस करते हैं किंतु यह स्थिति कभी-कभी हितकारी भी बन जाती है I कादंबरी मेहरा की कहानी 'विम्मी' में मेशी के संवादों में अमेरिकी अंग्रेज़ी के साथ पंजाबी उच्चारण का अनायास आगम तथा 'टू' तथा 'द' का अतिरिक्त प्रयोग अमेरिकी नवयुवकों को खूब आकर्षित करता है I वे उसकी नकल बनाते हुए हँसी-ठिठोली कर आनंदित होते हैं किंतु वह असंतोष दर्ज करने के स्थान पर मृदुल और सौम्य व्यवहार ही प्रकट करता है I फ़लस्वरूप उसकी दुकान का प्रचार दूर-दूर तक होता है I लेखिका लिखती हैं, "मेशी की सरल मुस्कान-विचित्र अंग्रेज़ी में की गई लच्छेदार बातों ने सबको परचा लिया I"[11]

'विदेश' भिन्न नस्लीय लोगों के साथ जोड़े गए नवीन संबधों की भूमि होती है जहाँ प्रवासी भारतीय मेज़बान लोगों के साथ नवीन रिश्तों में पड़ते हैं I ये नाते मात्र पति-पत्नी तक सीमित न रहकर सास-ससुर, भाई -बहनों और बच्चों तक विस्तार पाते हैं I इन सबके संप्रेषण के लिए प्रमुखतः अंग्रेज़ी भाषा का प्रयोग होता है जोकि विदेशियों की प्रथम भाषा तथा भारतीयों की अन्य भाषा है I ऐसे में प्रवासियों द्वारा अंग्रेज़ी में संवाद करते हुए मातृभाषा हिन्दी का प्रभाव व्याघात के रूप में पड़ता है I हम देखते हैं कि ये लोग अंग्रेज़ी में संप्रेषण करते हुए भी जादुई माने जाने वाले शब्दों जैसे, थैंक्यू और प्लीज़ का अधिक प्रयोग घर-गृहस्थी के भीतर नहीं करते हैं I इसका कारण मातृभाषा हिन्दी में कृपया और धन्यवाद शब्दों का औपचारिक व्यवहार प्रयोग होना है I यहाँ निकट संबंधों में तो बलाघात और अनुतान ही छिपे मनोभावों को समझने के लिए पर्याप्त होते हैं कि कही गई बात आदेश है या अनुरोध I फ़लस्वरूप अनेक बार पश्चिमी लोग यह नहीं समझ पाते कि विशेष व्यवहार के प्रति कृतज्ञता या प्रार्थना व्यक्त की गई है या नहीं क्योंकि वे बचपन से ही थैंक यू, प्लीज़, सॉरी को मानवीय व्यवहार के लिए अपेक्षित मानते हैं I अनेक बार प्रवास में भाषा का यह द्वंद्व संबंधों में माधुर्य पनपने देता क्योंकि विदेशी दामाद या बहू को नए परिवार के लोग शिष्टाचार न निभाने वाले अहंकारी प्रतीत होते हैं तो भारतीय सास -ससुर, देवर-ननद को नवीन संबंध अजनबियत से भरे हुए I पुष्पिता राव अपनी कहानी 'शादी डॉट कॉम' में लिखती हैं, "हमारी हिन्दी भाषा में उतने कृपया और धन्यवाद उपयोग नहीं होते I हमारे माँगने के ढंग में नम्रता होती है, जो आदेश कम और विनती ज्यादा लगती है I"[12]

विदेशों में घर और बाहर दोनों स्थलों पर नामकरण के स्तर पर भी हिन्दी और अंग्रेज़ी का द्वंद्व प्रदर्शित होता है I पश्चिमी देशों में बच्चों, युवाओं तथा प्रौढ़ प्रवासी भारतीयों के नामों को तोड़-मरोड़कर संक्षिप्त कर दिया जाता है I इसके पीछे का प्रमुख कारण अन्यभाषा भाषियों द्वारा शब्द का सही उच्चारण न कर पाना होता है फलतः यहाँ समीर सैम बन जाता है, सुमन सू, महेंद्र मैशी और तुषारकन्या तिश I इस स्थिति को भारतीय कभी अपनी पहचान पर हमले तो कभी पाश्चात्य जीवन शैली में रचा-बसा महसूस करने की चाह के रूप में देखते हैं I नामों से जुड़ी इस समस्या से उबरने के लिए प्रायः प्रवासी भारतीय बच्चों के दो नामों रखते दिखाई देते हैं ताकि युवा होने पर वे जिस संबोधन के प्रति सहज हों, उससे पुकारे जाएँ I इस चयन की सुविधा से बालक देस-परदेस के दोनों में से किसी समाज में हास्य का पात्र नहीं बनता है I उषा प्रियंवदा के उपन्यास 'शेष यात्रा' का आलोक भी दोहरे नामों की इस उपयोगिता का समर्थन करता है I यथा, "बड़े होकर जैसा चाहेगा, अगर इंडियन नाम चाहेगा तो जय और अमरीकन चाहेगा तो डेव I"[13]

पश्चिमी राष्ट्रों के पश्चात् यूरोपीय देशों की बात करें तो यहाँ हिन्दी और अंग्रेज़ी का द्वंद्व एक नए कोण से उभरता है I यूरोप के राष्ट्र जैसे जर्मनी, फ़्रांस, नार्वे, डेनमार्क, स्पेन, फ़्रांस, इटली, नीदरलैंड आदि में अंग्रेज़ी नहीं अपितु उनकी राष्ट्रभाषाएँ ही घर से लेकर हाट-बाज़ार और व्यवसाय से लेकर राजकाज तक गतिशील हैं I मातृभाषा द्वारा समस्त सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को संचालित करने के कारण यहाँ आने वाले भारतीयों को नागरिक बनने के लिए सर्वप्रथम संबंधित देश की राष्ट्रभाषा का मानकीकृत रूप सीखना पड़ता है अन्यथा कार्यालय के सफ़ाई कर्मचारी या रेस्टोरेंट के वेटर तक की नौकरी प्राप्त होना संभव नहीं है I डेनमार्क की अर्चना पैन्यूली कृत कहानी 'अनुजा' में अनुजा भारत से आई सुधा से प्रश्न करती है कि क्या उसका डेनिश भाषा पर अधिकार है ? वह उसे शीघ्र डेनिश सीखने का सुझाव देती है, "तो पहले सीखो I बिना डेनिश सीखे तुम्हें यहाँ झाड़ू लगाने का काम भी नहीं मिलेगा I"[14]

यूरोपीय देशों में राष्ट्रभाषा की महिमा प्रवासी भारतीयों को सरकारी कार्यालयों और शिक्षण संस्थानों तक दिखाई देती है जहाँ अंग्रेज़ी का प्रवेश नहीं है I उन्हें शिक्षण के माध्यम के रूप में मातृभाषाओं की

सम्मानजनक स्थिति स्वदेश में हिन्दी और उसकी बोलियों की अवज्ञा के प्रति असंतोषी बनाती है I उनका यह भ्रम टूटता है कि देश से बाहर सभी स्थानों पर अंग्रेज़ी सर्वश्रेष्ठ संपर्क भाषा होने के कारण शैक्षिक जगत में प्रमुख रूप से अनिवार्य होनी चाहिए I यहाँ अन्य भाषाओं को सीखना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है I हम देखते हैं कि निज भाषा की उन्नति के द्वारा देश के सांस्कृतिक चरित्र को बचाए रखने की यूरोपीय सोच प्रवासी भारतीयों को प्रेरित भी करती है I यही कारण है कि सूरीनाम की रचनाकार पुष्पिता अवस्थी जब पुर्तगाल, स्पेन तथा इटली भ्रमण पर निकलती हैं तो हिन्दी की महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्धारित करने के उद्देश्य से अनुवाद के लिए प्रथम भाषा के रूप में हिन्दी का चुनाव करती हैं, अंग्रेज़ी का नहीं I[15]

समग्रतः कहा जा सकता है कि प्रवासी कथा संसार में 'हिन्दी' एक ओर प्रवासी भारतीयों की पहचान है तो दूसरी ओर घर पा लेने का अहसास I कभी यह 'घेटो' के परिवारों में द्वंद्व का कारण बन जाती है तो कभी दक्षिणी एशियाई समाजों के साथ-साथ विभिन्न नस्लों की एकता का आधार I विदेशी धरती पर 'हिन्दी' वह जल है जो भारतीय पौध के विकास के लिए वांछनीय नहीं अनिवार्य हैI

संदर्भ

1. क्यों, क्यों और आखिर क्यों, कृष्ण कुमार, ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली-02, संस्करण 2012, पृ. 93
2. वही, पृ. 105
3. मेड इन इंडिया, दिव्या माथुर, हिन्दी बुक सेंटर, नई दिल्ली-02, संस्करण 2013, पृ. 77
4. अदृश्य किनारा, अंशु जौहरी, ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली-02, संस्करण 2015, पृ. 74
5. वही, पृ. 108
6. चिड़िया और चील, सुषम बेदी, पराग प्रकाशन, नई दिल्ली-02, संस्करण 2015, पृ, 132-133
7. वही, पृ. 10
8. अदृश्य किनारा, अंशु जौहरी, पृ. 110
9. ज़िंदगी की शाम, पुष्पा राव, अयन प्रकाशन, नई दिल्ली-30, संस्करण 2012, पृ. 48
10. सड़क की लय, सुषम बेदी, ज्ञान विज्ञान एजूकेयर, नई दिल्ली-02, संस्करण 2017, पृ. 153
11. चिर पराई, कादंबरी मेहरा, ज्ञान गंगा, दिल्ली-06, संस्करण 2006, पृ. 122
12. ज़िंदगी की शाम, पुष्पा राव, पृ. 23
13. शेष यात्रा, उषा प्रियंवदा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-02, संस्करण 2014, पृ. 38
14. हाईवे ई-47, अर्चना पैन्यूली, ज्ञान गंगा, दिल्ली-06, संस्करण 2018, पृ. 195
15. नीदरलैंड डायरी, पुष्पिता अवस्थी, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली-02, संस्करण 2018, पृ. 195

*****

"An Introduction": A Replica of Kamala Das' Poetic Tower

Dr. Dharmendra Kumar Singh
Assistant Professor,
Dept. of English
MHPG College Moradabad,
affiliated to MJPRU Bareilly, U.P.

Abstract
This paper examines Kamala Das's poem "An Introduction" as an embodiment of her poetic essence, highlighting her themes of identity, autonomy, and rebellion against patriarchal norms. It explores how Das's verse reflects her quest for self-expression and challenges societal expectations surrounding femininity, language, and sexuality. Through confessional style, the poem captures her emotional vulnerability, presenting language as an act of resistance and sexuality as a symbol of liberation. " This poem is thus seen as the replica of her poetic tower—a bold proclamation of individuality and defiance that resonates across her works, solidifying her legacy in Indian English poetry.

Keywords
Introduction, Male Chauvinism, Patriarchate, Poetics, Replica,

Kamala Das, the love queen of Malabar, is a historied Indian poet lauded for her bold, poignant, and bio-poems that break the brazen gate of patriarchy to pave a pragmatic path not only for herself but also for the members of her gender and race. Her poetry is beyond the exploration of love and sex. It is not constricted only to the myth of Radha and Krishna. It has personal and self mythologies, brimming with existential alienation and crisis, depicting her being and beyonding into her inmost world. More than this, it expounds the complexities and technicalities of the feminine individuality, identity, and servility that have affected the half-population by male chauvinism for centuries. She is "a female Prometheus…with a manifesto of desires that seeks to escape the paradox of being a prisoner of the hegemonic patriarchal discourse" (*Satchidanandan* 17). Her creations, whether in prose or poetry in English and Malayalam, deconstruct the themes of love, loss, individuality, identity, womanhood, and rebellion against gregarious norms. The voice of her poetry is radical in its content and form. It gives Indo-Anglian poetry a new orientation, placing her among the most eminent poets of her time.

Kamala Das: A Trailblazer in Indian English Poetry

Kamala Das was a daredevil poet. Both in her life and in her actions, she chose risky routes. All, be her kinship with her genitors or spouse or so-called faithful conversion, tell the same tale. And her poetry, her mightier arms, continually wounds the ocular and occult veterans of patriarchy, is no exception. It also tells the same tale, serving as the witness of her raga and saga. The journey that she started in her earlier days had no return. She was writing at a time when, in Indian society, the roles and expectations for women have historically been more rigidly defined. She broke the barriers and chose to express herself on her terms. She explored the profound personal and tongueless home truth of women's lives through her singular plurality, particularly those related to love, loss, sexuality, and self-identity. She introspected herself first, mythologized herself later on, and then took the patriarchy into her arms.

She made her pen her arms and fiercely attacked her society, no less than an army of visible and invisible foes. The works, a volley of gunfire, are self-examining and informal. They capture the personal endeavour to conciliate personal identity with social expectations, making her a pioneer of confessional poetry in India. Her poetry unveils a pursuant grapple with themes of identity and voice in such a way that often highlights the tension between her private self and her public persona. It is dynamically panoptic throughout her poetry.

Kamala Das's "An Introduction" is a sixty-line single stanza bio-poem in colloquial style with the blessing of free verse blended with literary devices like enjambment, repetition, and anaphora. It came to light in her maiden collection titled *Summer in Calcutta (*1965), encapsulating her endeavour, acting as both a personal manifesto and a critique of the pressures imposed upon her as a woman and an artist. It turbulently outlines her musings on matrimony, sexuality, and the language of post-colonial India. It is the manifesto of her poetic odyssey and the replica of her poetic tower. Her all poetry collections: be it her *Summer in Calcutta* (1965), *The Descendant* (1967), The *Old Playhouse and Other Poems* (1973), *The Collected Poems* (1984), or be it her *Only the Soul Knows How to Sing* (1996), deal with all the dominant thoughts and theories that the rest poems of her

rest collections replicate. They are replete with the themes of female individuality, identity, empowerment, love, sex, longing, nostalgia for the past, angst about the present, anxiety for the future, and critique of the patriarchy. Besides this, it is brimming with existential alienation, crisis, absurdity, suicidal thought, death consciousness, and body repulsion.

The Theme of Feminine Identity and the Struggle for Autonomy

At the crux, Kamala Das' "An Introduction", "a polyphonic text with the voices of poet's several voices seeking articulation in a single verbal construct" (*Satchidanandan* 12), asserts her identicalness as a declaration of her selfhood against the social anticipations and restrictions. Its initial line seems simple, yet it is a profound statement with an ambiguous tone, coming from the marginal condition of women in society. The line follows:

> I don't know politics but I know the names
> Of those in power, and can repeat them like
> Days of week, or names of months, beginning with
> Nehru (119).

"Outwardly, it is a confession of ignorance, but it also conceals in it a political irony as the society does not expect a woman to deal in politics. She is never master in politics, only the victim" (*Satchidanandan* 12). It conveys that women like her may not directly live in politics but feel its wallop on their lives. The impression behind her multiple uses of "I" in this poem indicates that she repeatedly asserts her presence and identity, marking her difference from the aggregative identity imposed upon her. She deviates from time-honoured expectations of the second sex by transporting herself on her terms. In this poem, she boldly looks into femininity and expresses her thwarting the demarcations placed upon her. As a revolt to it, she writes:

> Then I wore a shirt and my
> Brother's trousers cut my hair short and ignored
> My womanliness (120).

These lines indicate Das' desire to break free from all the prescribed feminine identity. Wearing male apparel, she challenged the authorities, but her struggle for personal freedom and to conform to social norms was never over. She had to suffer throughout her life. The pain she lived with is reflected well in her poem "The Maggots" from her poetry collection *The Descendants* (1967). Dealing with themes of lost love and feminine identity crisis through the myth of Radha and Krishna, presenting women's ages-old suffering, she writes:

> That night in her husband's arms Radha felt
> So dead that he asked what is wrong
> Do you mind my kisses love, and she said
> No, not at all, but thought, what is
> It to the corpse if the maggots nip (52)?

Similarly, in the poem "The Old Playhouse" from *The Old Playhouse and Other Poems* (1973), musings on the question of her identity, she writes:

> You called me wife,
> I was taught to break saccharine into your tea and
> To offer at the right moment the vitamins. Cowering
> Beneath your monstrous ego I ate the magic loaf
> And became a dwarf (38).

What it means to be said is that be it her *The Descendants* or *The Old Playhouse and Other Poems* or any other collection of poetry, all present the theme of feminine identity and struggle for autonomy in the same way as her manifestable poem "An Introduction" from *Summer in Calcutta* does, becoming the replica of her poetic tower. Every collection of her poetry contains poems that, like her "An Introduction", reject traditional femininity and place her on the throne of feminine sensibility rather than of the feminist icon. Through such poems, she asserts her space in the patriarchy, raising her voice and rejecting the mentation of her identity to be defined by others. Thus, her poetry becomes a space where she expresses her true self without any prohibition and her "An Introduction", a replica of her poetic tower.

The Confessional Mode: A Revolutionary Voice

Every poem in each collection of Kamala's poetry, like her revolutionary poem "An Introduction", is brimming with confessionality, typically involving personal themes, delving right into passions, emotions, sensitivity, and inner conflicts of her life. Her disposition to disclose her personal experiences, impressions, and diffidences offers her perusers a primitive prospect of her endeavours as a woman and a writer torn between the roles society expects of her and the role her *bona fide* self demands. For instance, she pens:

> It is I who drink lonely
> Drinks at twelve, midnight, in hotels of strange towns,
> It is I who laugh, it is I who make love
> And then feel shame, it is I, dying
> With a rattle in my throat. I am a sinner,
> I am saint. I am beloved and the
> Betrayed ("An Introduction" 120).

Similarly, in her poem "My Grandmother's House", she writes:

I who have lost
My ways and beg now at strangers doors to
Receive love, at least in small changes (150).

These poems from the same collection, reflecting her revolutionary voice in a confessional mode, reveal the same tense and sense she feels as a woman. The existential angst, alienation, and crisis she explores in the former poem also exist in the latter poem. In other words, her poem "An Introduction" is a replica of her poetics, whether the poems exist in the same collection or the rest. The title and the words change but retain the same content, tense, and sense.

Language as an Act of Rebellion

Kamala Das, a challenging poet, challenges even challenge in the demanding sphere of her life. She, like Simone de Beauvoir, known for her groundbreaking proclamation: "One is not born, but rather becomes, a woman (*The Second Sex* 15)" and the rest of the radical feminists, considers language as a tool for patriarchy reinforcing male dominance over female servitude. To her, the languages of the society are sex-based stereotype discourses of patriarchy. They are full of male-centered pronouns and perspectives. Thus, they disturb the poise and grace of the second sex. Moreover, the interference of the patriarchates in deciding the language for the woman to use makes her so angry that scolding them by writing:

Don't write in English, they said,
English is not your mother tongue. Why not leave
Me alone, critics, friends, visiting cousins,
Every one of you? Why not let me speak in
Any language I like? The language I speak
Becomes mine, its distortions, its queernesses
All mine, mine alone ("An Introduction" 119).

Her choice and assertion ("I speak three languages, write in / two, dream in one" [119]) to write in the English tongue rather than her mother tongue, i.e., Malayalam, is itself a rebellious deed. She claims her possession of the English language and challenges the belief that language must be the signboard of cultural and national identity. This act of linguistic resistance reveals her strife for autonomy, emphasizing that assertiveness surpasses lingual perimeters. Despite this, her poem "Words" from *The Old Playhouse and Other Poems,* going beyond her choice of language as she presents in "An Introduction", explores the power of language and the challenges that the She Writers face in a phallocentric society. Advising them, she says:

Words
Are a nuisance, beware of them, they
Can be so many things, a
Chasm where running feet must pause, to
Look, a sea with paralysing waves,
A blast of burning air or,
A knife most willing to cut your best
Friend's throat (45).

Going beyond it, in her autobiography, she writes: "Why I was born to Indian parents instead of to a white couple, who may have been proud of my verses" (8). It is to say that be her poem "Words" or her autobiography, *My Story,* or any other of her writing, all, like her poem "An Introduction", present the philosophy of her choice of language that in itself is nothing but a medium of revolution against her society and its perimeters.

Sexuality as a Theme of Liberation

Kamala Das frequently explores the themes of sexuality, revealing the desires, frustrations, and vulnerabilities that shape social relationships. Through the emblematic voice of her poetry, she unapologetically demands her right to express and experience her love on her terms. She does not want to be submissive as the male-dominated society demands. This theme is prevalent not only in her poem "An Introduction" from the collection *Summer in Calcutta* but also in many perceptive poems, coming from her various collections. In these, she boldly and candidly immediates her sexuality: its lived experiences of love, overlook, and conformity while challenging the expectations of sexual conduct that the Indian social stratum demands. Reporting the pluralities of the fair sexes, through her singularity, presenting the ways of patriarchy she writes:

I was a child, and later they
Told me I grew, for I became tall, my limbs
Swelled and on one or two places sprouted hair. When
I asked for love, not knowing what else to ask
For, he drew a youth of sixteen into the
Bedroom and closed the door. He did not beat me
But my sad woman-body felt so beaten (119).

Likewise, in her poem "The Stone Age" from *The Old Playhouse and Other Poems,* exploring the

theme of sexuality as a medium of liberation, she portrays the life and ways of an oppressed wife who, reproaching her husband, says that "You turn me into a bird of stone, a granite / Dove" (82), reminds: "Secretly flow the drains beneath sacred cities" (82), and barefacedly declares:

> When you leave, I drive my blue battered car
> Along the bluer sea. I run up the forty
> Noisy steps to knock at another's door (82).

The reason behind the presentation of such unsugar-coated reality is her intellect that open talk on sexuality will change men's looks at women; if possible, it will be a windfall for women like her.

Rebellion Against Societal Expectations

Kamala's "An Introduction" is not just an introduction to her identity that, challenging the traditional roles and rules assigned to women like her, demands freedom and liberty, but an introduction to her poetry that ceaselessly rebels against such social expectations that dragged them to the door of servitude, ironing them forever in the name of love and marriage. In this poem, she writes:

> Dress in sarees, be girl,
> Be wife, they said. Be embroiderer, be cook,
> Be a quarreler with servants. Fit in, Oh,
> Belong, cried the categorizers (120).

She was not born to be categorized, but to be Amy, Kamala, or Madhavikutty inclined to make a name and a role of her own. Rebelling against social norms and expectations, she did it. She culled the imposed roles. She refused to be in the boundaries, exclaiming at such voices that, neglecting her individuality, identity, and self-reliance, tried to teach her how to behave, dress, speak, and obey the prescribed roles and rules. As a suppliant to themes and thoughts of this poem comes her "The Looking Glass" (from *The Descendants*) *which* explores the theme of identicalness, introspection, self-esteem, and social pressures through the metaphor of mirror and presents how the social expectations have changed the nature of her identity. In this poem, revealing the expectations of patriarchate through her spouse, the persona says:

> Stand nude before the glass with him
> So that he sees himself the stronger one
> And believes it so…Notice the perfection
> Of his limbs,…All the fond details that make
> Him male and your only man (68).

The Emotional Intensity and Vulnerability in Her Poetry

The way of navigating emotional intensity and vulnerability, capturing the pain of self-discovery and inner conflict, Kamala Das initiates in "An Introduction" resonants in the rest poems of her rest poetry collections.

> I am sinner,
> I am saint. I am the beloved and the
> Betrayed. I have no joys which are not yours, no
> Aches which are not yours (120).

Similarly, in the poem "The Suicide" from *The Descendants,* reflecting the deep emotional vulnerability of the soul burdened by despair and existential anguish, Kamala dramatically writes:

> Bereft of soul
> My body shall be bare.
> Bereft of body
> My soul shall be bare (107).

Such reflection of intense emotionality and vulnerability does not end here. It goes on throughout her poetry collections. Many poems from her poetry collections explore this legacy.

Conclusion: Kamala Das' Legacy in "An Introduction"

Kamala's "An Introduction" is not just a personal statement or introduction to her poetry. It's a manifesto of her versification, a minute on her poems, and a replica of her poesy, based on which she erects her poetic tower, critically evaluating social expectations that define and confine the ways and rays of the second sex. Encapsulating her poetics, offering an all-powerful statement of pluralized individual identity, insurgency, and vulnerability with her confessional, exploring feminine identity and lingual defiance crafted both intensely personal and universally resonant, it serves as a replica for her poetic tower, encompassing her philosophy that typifies her commitment to honesty, individuality, and resistance against societal norms. The strife of struggles, echo of thoughts, and murmur of emotions that rise here roam throughout her leading poems from all poetic collections with Shakespearean solacing: "Sigh no more, ladies, sigh no more,/ Men were deceivers ever…." (*Much Ado About Nothing*. Act II, Sc. ii, p.127).

Works Cited

Das, Kamala. *My Story*. Sterling Books, 1996.

Das, Kamala. *Only the Soul Knows How to Sing: Selections from Kamala Das.* D C Books, 2007.

De Beauvoir, Simone. *The Second Sex*. Translated. & edited by H.M. Parshley, Penguin, 1994.

Satchidanandan, K. "Transcending the Body". *Only the Soul Knows How to Sing: Selections from Kamala Das.* D C Books, 2007.

Shakespeare, William. "Much Ado About Nothing". *The Complete Works of William Shakespeare, e*dited by W.J. Craig, Magpie Books, 1992.

*****

मानव समाज और राहुल सांकृत्यायन

योगेन्द्र कुमार मीना
शोधार्थी दिल्ली विश्वविद्यालय
ईमेल आईडी: yogendrabhawpura4@gmail.com
मो. नं.: 9929020635

राहुल सांस्कृत्यायन जी की चिंतना व्यक्ति को विचार करने पर मजबूर करती हैं । सत्य के प्रति उनकी विचक्षणता में कोई संदेह नहीं किया जा सकता , उनके विचारों से वज्रपात होता है। मनुष्य जाति के भौतिकवादी विकास क्रम को जिस विद्वता और प्रगल्भता के साथ उन्होंने ' मानव समाज ' ग्रंथ में दिखाया है , वह अपूर्व है। धर्म के प्रतिक्रियावादी पक्ष का नंगा नाच दिखाकर उन्होंने प्रबुद्ध वर्ग को चेताया है। इतिहास और संस्कृति के प्रति मोहाविष्ट तत्वों की उन्होंने खिल्ली उड़ाते हुए ओजस्वी स्वर में लौकिक जगत की व्याख्या की है ; जिसके समक्ष चालाकी नहीं चल सकती , पाखंड नहीं चल सकता , लोभ और अभिमान भी नहीं टिक सकता । दक्षिणपंथी लोग अपने ऋषियों और देवताओं की महानता का इतना राग अलापते हैं वह स्वप्न की बड़बड़ाहट की भांति दूर हो जाता है। इतिहास को तथ्यत: देखने की स्पूर्णा पैदा होती है किंतु इतना होने पर भी सांस्कृत्यायन जी स्वयं मार्क्सवाद के प्रोपोगैंडा के शिकार हो जाते हैं। मार्क्सवाद को आयाम से ज्यादा मूल्य देना स्वतंत्र चिंतन के लिए बाधक है। बीसवीं सदी में रूस और चीन में मार्क्सवाद का जो चेहरा दिखाई देता है वह किसी मजहबी शकल से अधिक नहीं। मार्क्सवाद की चिंतन परंपरा की भाँति ही यदि फ्रायडवाद को भी इतिहास पर आरोपित जाए तो विश्वसनीय व्याख्या की जा सकती है। सोरेन किअर्केगर्ड कहा करते थे कि पीछे लौटकर जिंदगी को समझा जा सकता है , पर जिंदगी जीने के लिए आगे जाना जरूरी होता है। इतिहास मैथेडोलॉजी से ज्यादा कुछ नहीं किंतु वामपंथी और दक्षिणपंथी जिस भाँति इतिहास को अपनी - अपनी व्याख्याओं में लपेटना चाहते हैं उससे यही लगता है कि ये सब इतिहास बदलना चाहते हैं और इतिहास बदलना सामर्थ्य के बाहर की वस्तु है फिर भी इतिहास की व्याख्याएं बदली जाती है क्योंकि इससे राजनैतिक हित जुड़े हुए होते हैं इसीलिए दक्षिण पंथी और वामपंथी इतिहास को लेकर अखाड़े में उतरते हैं तब इतिहास समस्या के समाधान का माध्यम न रहकर स्वयं एक समस्या हो जाता है जिसका समझ के अभाव में कहीं कोई अंत नहीं। इतिहास वर्तमान के लिए प्रकाश और अंधकार हो सकता है। प्रबुद्ध व्यक्ति को वाम मार्ग और दक्षिणपंथ की अतियों से बचाने की आवश्यकता है । भौतिक सत्य पर अतिरिक्त बल वाममार्गियों की अति है और परलोकवाद और आडम्बर दक्षिणपंथियों की अति है।

मार्क्स धर्म को मानव मन की उन घटनाओं से निपटने की शक्ति हीनता में देखता है जिसे वह समझ नहीं पाता । यदि मार्क्स ने मनोविज्ञान पर व्यवस्थित चिंतन किया होता तो उनके लिए सत्य के पृथम आयाम खुलते । वाममार्गियों और विभिन्न मजहबों का संबंध सूत्र मनोविज्ञान है ; वाममार्गियों को एक कदम मनोविज्ञान की ओर बढ़ाए जाने की आवश्यकता है , ऐसे ही विभिन्न मजहबों को भी हवाई ख्यालों से नीचे उतरकर मनोवैज्ञानिक धरातल पर आना होगा। हम सब मनुष्य है वह किसी मजहब , पंथ या विचारधारा का क्यों न हो हमें अब आगे लड़ना नहीं है वस्तुस्थिति को समझकर तथ्यपरक और समग्रता मूलक सम्यक् दृष्टि से भूत और वर्तमान को देखकर आगे के कदम उठाने होंगे । मनोविज्ञान ही वह संबद्ध सूत्र है जिससे भौतिकवाद और अध्यात्मवाद की खाई को पाटा जा सकता है।

यह अस्तित्व जीवन और जगत के रूप में अभिव्यक्त हुआ है चेतना और जड़ के दार्शनिक विवाद का कारण यही द्वैत है और इस द्वैत से मानव सभ्यता आज तक मुक्त नहीं हो पाई है । हमारा मन भी दो विकल्पों में चलता है अच्छा – बुरा , धनी - निर्धन , ज्ञानी – अज्ञानी , दंड - पुरस्कार किंतु हम सम्यक् दृष्टि के अभाव में इसी द्वैतवाद में उलझकर अपनी ऊर्जा का क्षय करते हैं और जो ऊर्जा समाज के उत्थान में व्यय होनी चाहिए थी वह व्यर्थ के वाद - विवाद में खोकर तिरोहित हो जाती है इसलिए मानव समाज आज भी दुखों से आर्त चित्तकार कर रहा है। मार्क्स का पूरा चिंतन द्वंद्ववाद पर आधारित है। यह संघर्ष मूलक दृष्टि है जीवन की एक अन्य दृष्टि प्रबोध से सहयोग की ओर चलती है। मार्क्सवाद द्वंद्व से संघर्ष की ओर बढ़ता है और यह संघर्ष सब कुछ लील लेता है।

ज्ञान श्रम का सार है जो हमारे पूर्वजों की धरोहर है। उसी से हम आज भौतिक जगत में द्रुत गति से उन्नति कर रहे हैं किंतु जैसा कि डार्विन ने कहा था कि यदि गरीबों की दुर्दशा प्रकृति के नियमों के कारण नहीं बल्कि हमारी संस्थाओं के कारण होती है तो हमारा बहुत बड़ा पाप है । इस लिए हमें ढांचों को छोड़कर वस्तुस्थिति को पूर्वाग्रह मुक्त दृष्टि को देखना होगा । ज्ञान की दृष्टि से हम किसी भी पुस्तक को बिना समझे , बिना पढ़े , बिना उसके सार का लाभ पाएं यदि एक बारगी में ही नकार देते हैं तो हमें खतरा है कि हम सत्य को ना खो दें किंतु व्याख्याताओं को आयाम से अधिक मूल्य देना भयावह है। ' मानव समाज ' पुस्तक में मार्क्सवादी आयाम से इतिहास की व्याख्या की गई है। इन सब विरोधी व्याख्याताओं का उपयोग कोई प्रबुद्ध व्यक्ति ही कर सकता है शेष तो

व्याख्याओं के प्रवाह में बह ही जाते हैं इसलिए नीत्शे कहता था कि तथ्य कुछ नहीं होते केवल व्याख्याएं होती हैं।

सत्य द्वैत की वर्तिकाओं में जिस भाँति स्फूर्त होता है उसे कोई बिरला ही देख सकता है। मानव व्यक्तित्व को ही लीजिए वह अच्छे और बुरे के द्वैत से बना होता है। भारतीय धर्म और दर्शन पर दो समुदायों का प्रभाव रहा है एक ब्रह्मनिष्ठ जो अपनी श्रमशक्ति से ज्ञान का संचय करता है , दूसरा पुरोहित जो राजनीतिक तत्वों के साथ समन्वित होकर उस ज्ञान राशि का दुरुपयोग जनता के शोषण के लिए करता है किंतु राहुल सांस्कृत्यायन जी ने अविचार के कारण धर्म और ज्ञान को हवा में उड़ा दिया है। धर्म मनोविज्ञान से ज्यादा कुछ नहीं और इसे इससे ज्यादा बनाने वाले अवसरवादी पुरोहित ही होते हैं। " भारतीय दर्शन सारा ही सामंतवादी युग की देन है और यहाँ भी वह यूनानी - दर्शन की ही भांति श्रममुक्त , जीविका से निश्चित व्यक्तियों के चिंतन का फल है। बल्कि यहाँ तो उसके आरंभिक निर्माण में सामंतों का अपना सीधा हाथ रहा है - उपनिषद के दर्शन के निर्माण में प्रवाहण , जनक वैदेह , अश्वपति , कैकेय आदि राजाओं का जबरदस्त हाथ ही नहीं रहा है ; बल्कि यज्ञ बलि की दक्षिणाओं के लोभ में अंधे पुरोहित ब्राह्मण वर्ग को जब जनता के बढ़ते हुए अनुभव से उत्पन्न विश्वास दिखाई नहीं पड़ता था , तब कर्मकांड को कमजोर ढोंगी कहकर ब्रह्मजाल की भूलभुलैया तैयार करने वालों में सामंतों (क्षत्रीयों) का प्रधान हाथ था। वैदिक ऋषि यथार्थवादी थे। वह दुनिया को जैसा देखते थे , वैसा मानते थे और उससे अधिक से अधिक सुख - आनंद उठाना चाहते थे। उनका जीवन लक्ष्य घर , बाल - बच्चे छोड़ जंगल की ओर भागने का नहीं था , बल्कि ' पुत्रों - नातियों के साथ आनंद करते हुए अपने घर में रहना ' १ वह अपना ध्येय समझते थे ! भंग (सोम) के दूध - मधु मिले प्याले को पीते हुए कहते थे - ' सोम पिया और हम अमर हो गये ' २ " 1 सांस्कृत्यायन जी विद्वान और भारी पंडित हैं किंतु उन्हें मनीषी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनकी चिंता में मन की पैठ नहीं दिखाई पड़तीं। आत्म बोध का संबंध मानसिक आनंद से है जो व्यक्ति की बाह्य निर्भरता और तृषा पर अंकुश लगाकर उसे कल्याण की ओर उद्धृत करता है। बुद्ध के पास सभी विलास की वस्तुएं थीं किंतु सुख आनंद नहीं तब उन्होंने सत्य का संधान किया। राहुल जी में मार्क्सवादी पूर्वाग्रहों का प्रभाव दिखाई देता है किंतु उन्हें पूर्णतः नकारना भी पागलपन है उनके चिंतन की अपनी प्रतिबद्धता है जो एक बारगी में सारी बद मूलक धारणाओं को अंधड़ की भांति उड़ा देती है।

सांस्कृत्यायन जी की चिंता कई अर्थों में प्रगतिशील है। " ब्याह पद और धन को देखकर होता था , और पति पत्नी की हर हरकत पर देख - रेख रखने और संदेह होने पर प्राण तक ले लेने का अधिकार था , किंतु विवाहिता पत्नी को पति के स्वेच्छाचार चुपचाप जहर की घूंट की तरह पी जाना पड़ता था - क्योंकि स्त्री के स्वेच्छाचारी समाज की नाक काटती थीं जब पुरुष के लिए वह हंसकर उड़ा देने की बात थी। " 2 कोई भी बुद्धिमान आदमी सांस्कृत्यायन जी से अस्सी फीसद सहमत होगा ही किंतु जो थोड़ी विक्षिप्तता उनके चिंतन में दिखाई देती है वह वाद बद्ध चिंतन की अपनी सीमाओं के कारण है इसलिए उन्होंने उपनिषदों और वेदों की व्याख्या तक को वर्गवाद की भेंट चढ़ा दिया है।

जीवन और जगत का संबंध बिंब - प्रतिबिंब जैसा है। मन समाज का प्रक्षेपित रूप है जिसे नियमों , नीतियों , धर्मों आदि से व्यवस्थित करने का प्रयास किया जाता है। तब व्यवस्थाकार और व्यवस्था संचालक प्रबुद्ध होने आवश्यक हैं। मन अराजकतावादी हैं , गहरे में मन की समस्याएं ही सामाजिक समस्याओं का रूप लेती हैं। राहुल सांस्कृत्यायन जी की सामाजिक आलोचना एकपक्षीय है। बुद्ध की आलोचना दृष्टि मन को मूल मानती है ' धम्मपदं ' में उन्होंने कहा है ... " सभी धर्म पहले मन में उत्पन्न होते हैं , मन ही मुख्य है , वे मनोमय हैं। जब आदमी मलिन मन से बोलता वा कार्य करता है तब दुःख उसके पीछे वैसे ही हो लेता है , जैसे पहिये बैल के पैरों के पीछे – पीछे। " 3 जब तक हम मानव मन और सामाजिक संबंधों को अंतर अनुशासनात्मक दृष्टि से विष्लेषित करते हुए आगे नहीं बढ़ते तब तक दुनिया की समस्याओं का त्राण होने वाला नहीं है।

राहुल सांकृत्यायन मार्क्सवाद और उपनिषदों के सार को प्राप्त करने में असफल होते हैं। इसके विपरीत जीवन भर बौद्ध धर्म - दर्शन पर कार्य करने के बावजूद उनमें सम्यक् दृष्टि का विकास नहीं होता प्रत्युत्तर वे मार्क्सवाद पर आसक्त हो जाते हैं। " असार को सार और सार को असार समझने वाले , झूठे संकल्पों में सलंग्न मनुष्य सार को नहीं प्राप्त करते। " 4 किंतु उनमें एक महान सदेच्छा काम कर रही थी इसलिए वे श्रद्धेय है।

द्वैतवाद में फंसा व्यक्ति बैर से या राग से , दोष या गुण को , ही स्वयं या दूसरे के मत के संबंध में कहता है किंतु ऐसी मीमांसाओं में सत्य नहीं होता। सत्य को प्रकट करने वाला मीमांसक स्वयं को भी कटघरे में खड़ा कर देता है , अपने विचारों को भी , अपनी धारणाओं को भी , अपने समूचे अस्तित्व को संदेह के कटघरे में खड़ा कर देता है। इसी संबंध में जे. कृष्णमूर्ति कहते हैं... " जब आप अपनी कंडीशनिंग के बारे में जागरूक हो जाते हैं तो आप अपनी संपूर्ण चेतना को समझ जाएंगे। " 5 सांस्कृत्यायन जी की चेतना कंडीशनिंग से बाहर नहीं हो पाती इसलिए वर्गवाद उन पर नामवर सिंह या अन्य मार्क्सवादियों की तरह हावी रहता है। " झूठ भी वर्गवादी समाज की उपज है। वह दिखलाने के लिए चाहे जितना ही चिल्ला - चिल्लाकर झूठ के खिलाफ़ लेक्चर दें , किंतु जिस व्यक्तिक संपत्ति और वर्ग - स्वार्थ पर उनकी नींव है , वह झूठ को अपने हाथ से जाने नहीं दे सकता। शायद झूठ के औचित्य को स्वीकार करने वाले सबसे पहले बनिए थे , जिन्हें चीज़ के भाव बदलने में अधिक लाभ था। " 6 बात में सच्चाई है किंतु इसका कारण कोई वर्गवाद नहीं अपितु

दूषित मनोभाव और व्यवस्था का वह ढांचा है जो जन साधारण की ओर से नयन मूंदे रहता है। बुध प्रायः कहा करते थे कि सूर्य चन्द्रमा और सत्य ज्यादा देर तक नहीं छुपे रहते झूठ एक न एक दिन प्रकट होता ही है किंतु इसमें भी वर्गवाद घुसा देना बुद्ध की उस कहानी जैसा है जिसमें एक अंधा व्यक्ति प्रकाश के अस्तित्व पर तर्क करता था। सत्य तो सत्य होता है मार्क्सवाद स्वयं मार्क्सवादियों के कारण उखड़ चुका है। सत्य वाद से मुक्त होता है , वह अस्तित्व रूप है किंतु द्वैतवाद उसे जीवन और जगत् की तर्कणा में लाकर ज्ञान को अखाड़े की वस्तु बना देता है।

आध्यात्मिकता के साए में भ्रष्ट और ब्राह्मणवादी तत्वों को उधेड़ डालने की दृष्टि से ' मानव समाज ' ग्रंथ बहुमूल्य है। असत्य सत्य का सहारा लेकर समाज में स्थापित होता है। बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह असत्य को तथ्यान्वेषण के सतत प्रयास से त्याग दें और उस सनातन उत्स को आत्मसात करें जो मानव की विकास यात्रा में उसे सत्य रूप में प्राप्त हुआ है। मानव समाज हजारों वर्षों के प्रहार सहन करता हुआ यहाँ तक पहुंचा है एक बारगी में सब कुछ बदल डालना संवेदनशील है। क्रांतियों से बदलाव नहीं आते बदलाव जागृति और व्यक्तिगत दायित्व बोध से आते है तब एक व्यक्ति भी भारी परिवर्तन कर सकता है। स्वयं मार्क्स को ही लीजिए उनके चिंतन ने तथाकथित आध्यात्मिक तंद्रा को तोड़कर सत्य को कुहेलिका से मुक्त किया है किंतु मार्क्सवादियों ने उस पर मार्क्सवाद की कुहेलिका बना दी है , यही दयनिय स्थिति अम्बेडकरवादियों ने अम्बेडकर की और मुसलमानों ने मोहम्मद साहब की बना दी हैं। हीगेल लिखता है ... " यह स्पष्ट है कि तथाकथित पर्दे के पीछे जो आंतरिक दुनिया को छिपाने वाला माना जाता है , तब तक कुछ भी देखने को नहीं मिलता है जब तक कि हम स्वयं उसके पीछे न जाएं , जितना कि हम देख सकें , कि पीछे कुछ हो सकता है वहाँ जो देखा जा सकता है। " 7 मनुष्य जीवन का केंद्र मन है और मनुष्य के बाह्य व्यापारों का केंद्र सामाजिक संबंध और सामाजिक संबंध व मानव मन अन्योन्याश्रित है। समाज शास्त्रीय व्याख्या करने के दौरान जब इस तथ्य का ज्ञान नहीं होता तब उन व्याख्याओं से शब्द प्रपंच खड़े किए जा सकते हैं किंतु वर्तमान मानव समाज की समस्याओं के समाधानों को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

संदर्भ ग्रंथ:

1.सांस्कृत्यायन , राहुल , मानव – समाज , इलाहाबाद , लोक भारती प्रकाशन , 2014 , पृ. सं. ८५।

2.वही , पृ. सं.९१।

3.कौशल्यानंद , भदन्त आनंद , धम्मपदं , इलाहाबाद , हिन्दुस्तानी पब्लिकेशंस , १९४६ , पृ. सं. १।

4.वही , पृ. सं. ४।

5.J. , Krishnamurti , Freedom For The Known , London , Victor Golilancz LTD , 1969 , Page No. 29 .

6.1.सांस्कृत्यायन , राहुल , मानव – समाज , इलाहाबाद , लोक भारती प्रकाशन , 2014 , पृ. सं. ८८।

7.Hegel , G. W. F , Phenomenology Of Spirit , Delhi , Motilal Banarsidass Publishers Private limited , 1998 , page No. 103 .

*****

हिन्दी महिला नाट्य लेखन

डॉ. राकेश डबरिया
मो 9560122408
ई-मेल rakeshdabariya@gmail.com

हिन्दी साहित्य में स्त्री का परिचय विभिन्न रूपों में प्राप्त होता है, परन्तु साहित्यकार के रूप में इस संख्या को अंगुलियों पर गिना जा सकता है। साहित्य के इतिहास पर निगाह दौड़ाने पर यह तथ्य बहुत ही मायूस करता है कि साहित्य का इतिहास तब साहित्य का केवल एकल पाठ लगता है। इसका एक बहुत बड़ा कारण स्त्री परिप्रेक्ष्य से साहित्येतिहास को न खंगालना भी है। नवजागरण इस ओर साहित्य को सोचने देखने पर मजबूर करता है। हिन्दी साहित्य में महिला रचनाकार लोक गीतों, कथाओं के रूप में विद्यमान है। जब उसे मुख्यधारा में स्थान नहीं प्राप्त होता तो वह लोक के माध्यम से अपनी अनुभूतियों को गाकर, कहकर अभिव्यक्ति प्रदान करती है। जब जब इतिहास में नवजागरण की चेतना ने करवट ली है, महिला रचनाकारों ने अपनी भूमिका निभाई है। थेरी गाथा से लेकर अब तक का उनका इतिहास इस बात का प्रमाण है।

सुमन राजे कहती है- "महिला लेखन की एक अविच्छिन्न धारा रही है, आवश्यकता उसे खोज निकालने की है और उसे आकार देने की है। ऋग्वेद में रोमशा, लोपमुद्रा, श्रद्धा, कामायनी, यमी वैवस्वती, पौलोभी शची, विश्ववारा, अपाला, घोषा, सूर्या, शाश्वती, ममता एवं उशिज आदि ऋषिकाओं के नाम मन्त्रद्रष्टा के रूप में प्राप्त होते हैं।"[1] ऋग्वेद में कई ऐसी ऋचाएं प्राप्त होती है जिनसे नारी शक्ति का हमें पता चलता है। ऋग्वेद में ये नारियां मन्त्र निर्माता है। ये सभाओं में तर्क करती हैं, ज्ञानी हैं, वेद ज्ञाता हैं लेकिन यह सामान्य सच्चाई, असमान्य रूप से लोगों से दूर है।

आगे सुमने राजे ने लिखा कि "वैदिक काल के पश्चात रचना के सूत्र 'थेरी गाथाओं' में उपलब्ध होते हैं। बौद्ध धर्मग्रंथ सुतपिटक के अन्तर्गत पांच निकाय हैं, खुद्दकनिकाय इसी में समाविष्ट है। इसके नवें भाग में थेरी गाथाओं का संकलन है। सामान्यतः इनका रचना काल ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी माना जाता है। महिला लेखन का ऐसा संग्रह दुर्लभ है। इसमें लगभग 100 भिक्षुणियों की गाथाएं संकलित हैं। सभी रचनाएं पाली भाषा में हैं। प्राकृत भाषाओं में महिला लेखन के संकेत स्फुट रूप में ही मिलते हैं। यह तो संभव प्रतीत नहीं होता कि जिस प्राकृत भाषा को स्त्रियों की भाषा कहा जाता हो और जिनका संस्कृत बोलना निषिद्ध हो- उसमें स्त्रियों ने लिखा न हो।"[2] समय-समय पर देखा गया है कि स्त्रियों ने अपनी वाणी को अभिव्यक्ति प्रदान की है। गाथा सप्तसती के संग्रहकर्ता हाल ने कई स्त्री रचनाकारों और उनकी रचनाओं, दोहों का उदाहरण अपने ग्रंथ में दिया है। 'फुलए वामच्छि तुए जव एहिकू सो पिओज्जता सुइरम संमीलिअ. दाहिणअं तुई अपि एहं पल्लोइस्सम्।"[3]

इसी प्रकार हम देखें तो "भक्ति आंदोलन के देशव्यापी प्रसार के साथ महिला-लेखन के सूत्र बिखरे मिलते हैं। पुरानी हिन्दी में चौरासी सिद्धों में उल्लखित कुक्करीपा को नारी सिद्ध माना गया है। डॉ. सेन का मत है कि इनके दो चर्यापदों में नारी की उक्ति जैसी कथन शैली होने से ये किसी नारी की रचना प्रतीत होती है। मणिभद्रा इनकी शिष्या थी। भक्ति आन्दोलन का मूल उत्स दक्षिण भारत में माना जाता है। नयनमारों में तीन प्रमुख नारी रचनाकार हैं पुनीतवती, भेड़यर्भराशि, एवं तिलकावली । विष्णु भक्तों में आण्डाल की कृति मीरा की ही तरह है। मराठी सन्तों में महदम्बा, मुक्ताबाई, जनाबाई आदि उल्लेखनीय है। कन्नड़ की अक्कमहादेवी, कश्मीर की लल्लदेद, मैथिली की चन्द्रकला को भी भुलाया नहीं जा सकता।"[4] यह विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य में पायी जाने वाली महिला रचनाकारों की सूची है। अक्सर साहित्येतिहास में इनको भुला दिया जाता है अथवा कम आंका गया है। महिलाओं का यह अनलिखा अनदेखा, रचनात्मक संसार बहुत ही गंभीर, मार्मिक, रचनात्मक और विषद है। इसमें इनकी नितान्त निजी अनुभूतियों का संसार समाया हुआ है। एक जीया हुआ यथार्थ है। उनकी 'अपनी समकालीन परिस्थितियों का पूरा कच्चा चिट्ठा है। जिसको नकारा नहीं जा सकता और न ही कम नहीं आंका जा सकता। उनकी रचनाएं एक अन्तहीन यंत्रणा की अन्तहीन यात्राएँ है। महिला लेखन महिलाओं को महिलाओं की दृष्टि से देखने की माँग करता है। निसंदेह आधुनिक नवजागरण कालीन रचनाकारों ने एक अलग दृष्टि से महिला रचनाकारों को सराहा तथा उनकी रचनाओं को साहित्य में स्थान देकर उनको स्वीकारा किया। महिला लेखन इतिहास के पुरुषवादी दृष्टिकोण से टकराता है, और एक नए सौन्दर्यशास्त्र की मांग करता है। एक नारीवादी दृष्टिकोण विकसित करता है जो अपनी दृष्टि से समाज, साहित्य सबका पक्ष रखता है। "महिला लेखन केवल लेखन नहीं बल्कि दिनों-दिन पुरुष सत्तात्मकता की बढ़ती जकड़ में बद्ध स्त्री की अस्मिता के प्रश्नों को या उनके कई अनछुए और अनदेखे पहलुओं को नारी की दृष्टि से उकेरकर समाज, राजनीति, धर्म, संस्कृति मीडिया आदि के व्यापक संदर्भ में नए सिरे से विश्लेषित करने का प्रयास व इस पितृ सत्तात्मक समाज के खिलाफ नकार, आक्रोश और विद्रोह का आह्वान भी है।"[5]

आधुनिक काल में महिला रचनाकारों की साहित्यिक सहभागिता में वृद्धि हुई है। राजेन्द्रबाला घोष 'बंग महिला से लेकर महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान, मन्नु भंडारी, उषा प्रियंवदा, से लेकर अभी तक रचनारत बहुत सारी महिला रचनाकार हैं, जिनकी संख्या को अंगुलियों पर गिनना अब मुश्किल है। काव्य से गद्य में बढ़ती इनकी रुचि और संख्या बताती है कि महिलाओं ने अपना रचना संसार केवल रचना ही प्रारंभ नहीं कर दिया है बल्कि संसार

को अपनी निगाहों से व्याख्यायित करना भी प्रारंभ कर दिया है। नाट्यलेखन के क्षेत्र में भी महिलाएँ अग्रसर हुई है। भारतेन्दु युग से ही महिलाएं इस ओर अग्रसर थीं किन्तु इनका ज्यादा पता नहीं चलता। भारतेन्दु की दिव्य आभा में कई छोटे-मोटे और महिला रचनाकारों का अस्तित्व छिप जाता है। परन्तु धीरे-धीरे आधुनिक युग में उस अस्तित्व की पहचान होती है. और उनका इतिहास लिखा जानें लगा है।

हिन्दी में महिला नाट्य लेखन का प्रारंभ आजादी के पश्चात साठ के दशक में देखने को मिलता है। उसके पश्चात यह परंपरा शनैः शनैः प्रचलित होती गई है। लेकिन इसका इतिहास इससे बहुत पहले भारतेन्दु युग में मिलता है। "महिला नाट्य लेखन का प्रारंभ स्वतन्त्रता के पहले श्रीमती लाली देवी के गोपीचन्द (1896) से हुआ था।"[6] आज देखा जाए तो हिन्दी नाटक और रंगमंच की विकास यात्रा में महिला नाटककारों का योगदान अमूल्यवान है, किन्तु हिन्दी नाट्य लेखिकाएँ हमेशा नेपथ्य में रही है। कई लेखिकाओं ने साहित्य की विधाओं- कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, रेडियो, टी.वी., नाट्यानुवाद, नाट्य समीक्षा लिखकर हिन्दी साहित्य के भण्डार को और समृद्ध किया है। लेकिन नाटक की ओर उनका ध्यान अपेक्षाकृत कम गया, जितना कि अन्य गद्य साहित्य की ओर । डॉ.सुमनराजे कहती है कि- " एक बार कथा –साहित्य को अपनाने के बाद, महिला रचनारकार बहुत कम, लगभग न के बराबर अन्य विधाओं की ओर गयीं। इसके ठोस सामाजिक और रचनात्मक कारण जरूर रहे होंगे। एक सूत्र तो निर्विकल्प रूप से स्वीकार किया जा सकता है और वह यह कि काव्येतर गद्य खुले मैदान का गद्य है, इसलिए महिला रचनाकारों ने उस ओर जाने का साहस-हाँ-साहस कम किया है।" [7] लेकिन इधर स्वतन्त्रता के पश्चात नाटक और रंगमंचीय दुनिया में भी स्त्रियों ने अपने पावं जमाएं हैं। "मौलिक नाटक लेखन के क्षेत्र में लगभग 25-26 महिला रचनाकार सक्रिय दिखाई देती है। इनमें हैं- कंचनलता सब्बरवाल, राजकुमारी चौहान, मिथिलेश मिश्र, शोभना भुटानी, मन्नू भंडारी, मृदुला गर्ग, त्रिपुरारी शर्मा, रेखा जैन, श्यामा जैन, शांता गांधी, कमलिनी मेहता, कुंथा जैन, विमला रैना, कृष्णा सोबती, हेमा डेनियल्स, कुदसिया जैदी, जमीला कुरैशी, उषा बाला, डॉ. सरोज बिसारिया, ममता कालिया, विमला प्रभाकर, मृणाल पाण्डेय, गिरीश रस्तोगी, मृदुला बिहारी,सांत्वना निगम और कुसुम कुमार उल्लेखनीय हैं।" [8] यह वो महिला नाटककार हैं जो आज रचनारत है। नाटक के क्षेत्र में मौलिक नाटक, नाट्यानुवाद, नाट्यरूपान्तरण कई प्रकार के रचनात्मक आयाम प्राप्त होते हैं। जिनमें महिला नाट्यकार सक्रिय हैं। "आठवें, नवें तथा अंतिम दशक में नाट्यसृजन में रत महिला रचनाकारों को देखा जा सकता है। मृणाल पाण्डेय, त्रिपुरारी शर्मा तथा कुसुम कुमार का नाट्य सृजन काव्य एवं रंगशिल्प के धरातल पर कई नई उपलब्धियों को संजोया हुआ है।"[9] यह युग महिला सशक्तीकरण का है। इसमें महिलाओं ने हर क्षेत्र में उत्तरोत्तर समृद्धि हासिल की है। नाट्य लेखन भी उससे अछूता नहीं रहा है। नाट्य-लेखन के विभिन्न रूपों को महिला-लेखिकाओं ने अपने रचना कौशल से समृद्ध किया है। "मंचीय पूर्वांगी नाटकों के अतिरिक्त काव्य-नाटक, बाल नाटक तथा एकांकी लघु नाटक लेखन के क्षेत्र में भी महिला रचनाकारों ने अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है। काव्य-नाटकों के क्षेत्र में मंजुला गुप्ता, कुंथा जैन का नाम उल्लेखनीय है। बाल रंगमंच पर रेखा जैन, श्यामा जैन, तथा शांता गांधी अपने रंगकर्म के साथ नाट्य लेखन के माध्यम से अपना योगदान प्रस्तुत कर रही हैं। एकांकी तथा छोटे नाटक के लेखन में कमलिनी मेहता, विमला रैना, कुंथा जैन, ममता कालिया, कुसुम कुमार शांति मेहरोत्रा आदि सक्रिय हैं।" [10]

नौंवे तथा दसवें दशक में नाट्यानुवादों तथा नाट्य रूपान्तरणों का काफी बोलबाला रहा। कई प्रमुख रचनाओं का विभिन्न भाषाओं से हिन्दी में नाट्यानुवाद हुए तो कई कहानियों का नाट्यरूपांतरण इस दौर में हुआ। कई बड़ी कविताओं का नाट्यरूपांतरण हुआ तो कई उपन्यास का भी नाट्यरूपांतरण बखूबी हुआ है। "नौंवे दशक में तो कथा साहित्य का रंगमंच पर आक्रमण सा रहा। इस दौर में मंचीय लेखन और अनुवाद के क्षेत्र में महिला रचनाकारों का योगदान प्रमुख रहा है। इस दरमयान भारतीय भाषाओं के जिनते भी अनुवाद हिन्दी में हुए, उनमें से लगभग 60 प्रतिशत से अधिक अनुवाद महिला रचनाकारों के किए हुए हैं। प्रतिभा अग्रवाल, श्रीमती लेखा पिंपला पुरे, वनमाल मवालकर, सरोजनी वर्मा, प्रतिभा मतकरी, कुसुम कुमार, सांत्वना निगम आदि के नाम उल्लेखनीय है।"[11]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आधुनिक काल में महिला नाटककारों ने नाट्यलेखन, नाट्यानुवाद तथा नाट्यरूपांतरण के रूप में अपना उल्लेखनीय योगदान दिया है। साहित्य के अन्य रूपों यथा कविता, कहानी, उपन्यास आत्मकथा, यात्रावृतांत इत्यादि क्षेत्रों में अपना वर्चस्व स्थापित किया है। साहित्य तथा समाज को देखने, समझने का एक नया नारीवादी दृष्टिकोण पाठकों के समक्ष उपस्थित किया है।

संदर्भ सूची:-

1 हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, डॉ. सुमन राजे, पृ.18
2 हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, डॉ. सुमन राजे, पृ.18
3 हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, डॉ. सुमन राजे, पृ.19
4 हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, डॉ. सुमन राजे, पृ.19
5 हिन्दी महिला नाट्यलेखन के सामाजिक सरोकार, डॉ. मिनी जॉर्ज, पृ.10
6 हिन्दी महिला नाट्यलेखन के सामाजिक सरोकार, डॉ. मिनी जॉर्ज, पृ.10
7 हिन्दी साहित्य का भाषा इतिहास, डॉ. सुमन राजे, पृ.294
8 कुसुमकुमार का नाट्य साहित्य, दीपा कुचेकर, पृ.13
9 कुसुमकुमार का नाट्य साहित्य, दीपा कुचेकर, पृ.13
10 कुसुमकुमार का नाट्य साहित्य, दीपा कुचेकर, पृ.14
11 कुसुमकुमार का नाट्य साहित्य, दीपा कुचेकर, पृ.14

*****

वाणी 'गुरु ग्रंथ साहिब' : प्रकृति एवं पर्यावरण संबंधी दृष्टिकोण

-डॉ. कमल जीत सिंह
एसोसिएट प्रोफेसर,
दयाल सिंह कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय

पवणु गुरू पाणी पिता माता धरति महतु ।।[1]

गुरवाणी व्यक्ति को जीवन की उच्च अवस्था का अनुभव करवाती है। यह अनुभव आध्यात्मिक स्तर पर, सामाजिक स्तर पर या व्यक्ति के व्यक्तिगत स्तर पर हो सकता है। प्रकृति स्वयं एक महान कृति है। प्रकृति का आनंद अच्छे ढंग से उठाया जा सकता है और अपने बुरे प्रयासों द्वारा इसे प्रदूषित भी किया जा सकता है, जिसे कि आज का मनुष्य कर भी रहा है। हालाँकि आज मनुष्य ने नई तकनीक के दम पर बहुत प्रगति कर ली है, लेकिन आज भी वह प्रकृति का अंत नहीं पा सका है। गुरवाणी में समस्त वाणीकारों की वाणी पर नजर डालें तो यह समस्त वाणीकार भी प्रकृति से प्रेम करते नजर आते हैं। वे दिखाते हैं कि प्रकृति हमारे शरीर एवं पर्यावरण को किस प्रकार प्रभावित करती है और प्रकृति मनुष्य एवं सृष्टि में अपना संतुलन बनाए रखती है। गुरवाणी जहां व्यक्ति को आत्ममंथन की राह दिखाती है, वहीं अपने परिवेश के प्रति सजग रहने की बात भी कहती है। कुदरत का बखान करना बहुत ही कठिन कार्य है। गुरवाणी अनुसार :-

कुदरति कवण कहा वीचारु[2]

भाव प्रकृति का वर्णन कैसे किया जाए। जो व्यक्ति प्रकृति से प्रेम करता है वह इस प्रकृति के रचयिता से भी प्रेम करेगा। क्योंकि उस रचयिता की प्रकृति अपने आप में अद्भुत है।

तू आचरजु कुदरति तेरी बिसमा[3]

इसका मतलब है कि आप और आपकी बनाई प्रकृति दोनों ही बेहद खूबसूरत हैं। गुरु नानक देव जी भी प्रकृति को घट घट में महसूस करते है। उनके अनुसार प्रकृति सर्वव्यापक है। वे कहते हैं:-

कुदरति दिसै कुदरति सुणीऐ कुदरति भउ सुख सारु ।।
कुदरति पाताली आकासी कुदरति सरब आकारु ।।
कुदरति वेद पुराण कतेबा कुदरति सरब वीचारु ।।
कुदरति पउणु पाणी बैसंतरु कुदरति धरती खाकु ।।
सभ तेरी कुदरति तू कादिरु करता पाकी नाई पाकु ।।
नानक हुकमै अंदरि वेखै वरतै ताको ताकु ।।[4]

हम प्रकृति को सुनते हैं, प्रकृति का आनंद लेते हैं। प्रकृति आकाश है। वायु, जल पृथ्वी की आत्मा हैं। मनुष्य प्रकृति से अलग नहीं है, वह प्रकृति का ही एक अनमोल हिस्सा है। प्रकृति मनुष्य की सोचने की शक्ति, विचार, प्रेम आदि के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। गुरु साहिब तो प्रकृति से बलिहार जाते है। वह कहते है :-

बलिहारी कुदरति वसिआ।। तेरा अंतु ना जाई लखिआ ।। 469[5]

इसका अर्थ है कि ईश्वर प्रकृति में निवास करता है और उस ईश्वर का अंत नहीं पाया जा सकता।

पवणु गुरू पाणी पिता माता धरति महतु ।।
दिवसु राति दुइ दाई दाइआ खेलै सगल जगतु ।। [6]

पवन गुरु, पानी पिता पृथ्वी अर्थात धरती उसकी महान माता है और सारा संसार उसके आगे-पीछे खेल रहा है। गुरु ग्रंथ साहब की वाणी संदेश देती है कि समाज में मानवता के कल्याण के लिए कार्य करें। आज विश्वीकरण का युग चल रहा है। लेकिन गुरवाणी भाईचारे, मानवता के कल्याण और बिना भेदभाव के समानता की बात करती है। उस ईश्वर ने इस सृष्टि में अनेक जीव-जन्तुओं की भी रचना की। गुरवाणी में आता है:-

कई कोटि पंखी सरप उपाए ।। कई कोटि पाथर बिरख निपजाए ।।
कई कोटि पवन पाणी बैसंतर ।। कई कोटि देस भू मंडल ।।
कई कोटि ससीअर सूर नख्यत्र ।। कई कोटि देव दानव इंदर सिरि छत्र ।।
सगल समगरी अपनै सूति धारै ।। नानक जिसु जिसु भावै तिसु तिसु निसतारै ।।[8]

इस सृष्टि में लाखों पक्षी हैं, जानवर हैं, पेड़-पौधे हैं, अनेक राजा हैं, अनेक देश हैं, अनेक ग्रह हैं, सूर्य, चंद्रमा, असंख्य तारे, अनेक प्रकार के पृथ्वी में गैसें हैं, ये सभी सृष्टिकर्ता की रचनाएँ हैं। लेकिन आज का मनुष्य अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए उस रचयिता की सृष्टि को नष्ट कर रहा है। वर्तमान युग विज्ञान का गुलाम है। विज्ञान के अनूठे और अद्भुत आविष्कारों ने जहां मनुष्य को विकास के शिखर पर पहुंचाया है, वहीं उसने अपने भीतर कई विनाशकारी तत्वों को भी समाहित कर लिया है। उदाहरण के लिए, परमाणु प्रयोगों की भीड़ ने विश्व शांति को ख़तरे में डाल दिया है। इसने एक अनोखी समस्या-प्रणाली को भी जन्म दिया है। स्वच्छ एवं शुद्ध वातावरण में रहना मनुष्य का पहला अधिकार है। इसलिए दिन-ब-दिन बढ़ते प्रदूषण के खतरों से सावधान रहना जरूरी है।

महानगरों की लगातार बढ़ती जनसंख्या के कारण तेज गति से चलने वाले वाहनों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। बसों, कारों, स्कूटरों, ट्रकों, ट्रेनों आदि से निकलने वाला धुआं हमारे पर्यावरण को प्रदूषित करता है। इस तरह हम प्रतिदिन कितनी जहरीली गैसों का सेवन करते हैं जो कई बीमारियों की जड़

है। लोगों की आवास समस्या को हल करने के लिए बड़े पैमाने पर वन क्षेत्रों को काटा जा रहा है। उद्योगों के लिए कच्चा माल प्राप्त करने के लिए भी वनों की अंधाधुंध कटाई की जा रही है। जो हमारे लिए जीवन का काम देते हैं, वे ही मृत्यु का ग्रास बन रहे हैं। पेड़ों द्वारा कार्बन डाइऑक्साइड का अवशोषण और ऑक्सीजन छोड़ना मनुष्य के लिए वरदान है, लेकिन जंगलों के इस विनाश ने पर्यावरण को और अधिक प्रदूषित कर दिया है। औद्योगीकरण भी पर्यावरण प्रदूषण का एक प्रमुख कारण है। ये जहां पश्चिमी देशों की आर्थिक समृद्धि का जरिया बन रहे हैं, वहीं दिन-रात फैक्टरियों और चिमनियों से निकलने वाले धुएं के लिए भी जिम्मेदार हैं।

परमाणु शक्तियाँ आज प्रकृति के नियमों को बाधित करने का एक और खतरनाक साधन बनती जा रही हैं। परमाणु प्रयोग करने के लिए अरबों रुपये खर्च करके अणु एवं परमाणु ऊर्जा केंद्र स्थापित किए जा रहे हैं। इन अनुभवों ने मानव जाति को विलुप्त होने के कगार पर ला खड़ा किया है। आज दुनिया बारूद के ढेर पर खड़ी है. पता नहीं कब परमाणु विस्फोट पूरी दुनिया को तीसरे विश्व युद्ध की भट्टी में झोंक देंगे। इन सबका परिणाम संहार, विनाश, महामारी, मंहगाई और प्रदूषण जैसी यातनाएँ होंगी।

हमारे दुष प्रभावों के कारण कभी-कभी प्रकृति भी अपना प्रकोप व्यक्त करती है। यह प्रकोप विस्फोट, भूकंप, सुनामी, बाढ़ के रूप में विनाश लेकर आता है। आज हमें इन दुष्परिणामों के कारण लुप्त हो रही विकसित संस्कृति और सभ्यताओं के बीच फिर से एक नई सभ्यता के चिन्ह खोजने होंगे। यदि देश की सरकारें बढ़ती जनसंख्या, बढ़ते औद्योगीकरण, नित नये परमाणु प्रयोगों तथा विविध संसाधनों के बड़े पैमाने पर विनाश से निपट ले तो हम इस भयानक खतरे से बच सकते हैं। आज आम जनता को इस समस्या के प्रति जागरूक करना भी अत्यंत ज़रूरी हो गया है ताकि वे विनाश के साधन बनाने के बजाय अपनी धन-संपत्ति को मानव कल्याण में लगाएं। इस प्रकार मनुष्य रोगमुक्त एवं संकटमुक्त जीवन जीने का हकदार हो जा पाएगा। यह तभी संभव है जब मनुष्य अपने पर्यावरण के प्रति जागरूक हो, प्रकृति को समझे और उसे बचाने के उपाय करने शुरू करे।

गुरवाणी कलयुग में हमारे पास एक अमूल्य खजाना है। गुरबाणी हर जगह पर व्यक्ति को सजग करती है, उसका मार्गदर्शन करती है। लेकिन व्यक्ति प्रकृति को कब पहचानेगा ? उसके महत्व को कब समझेगा ? यह मानव जाति के लिए एक बड़ा प्रश्न है। गुरवाणी जगह-जगह पर लोगों को इस भूमि की महानता से भी अवगत कराती है। यह भूमि इसलिए महान है क्योंकि इस भूमि पर अनेक पीर-पैगम्बरों, गुरुओं आदि ने जन्म लिया और यहां भ्रमण किया। गुरबानी में एक जगह पर आता है:-

सा धरती भई हरीआवली जिथै मेरा सतिगुरु बैठा आए ।।
से जंत भए हरीआवले जिनि मेरा सतिगुरु देखिआ जाए ।।[8]

कहते हैं जल ही जीवन है, लेकिन हम जल का कितना संरक्षण कर रहे हैं, इसका उदाहरण हमारे सामने है। गुरवाणी जल को जीवन का आधार मानती है, गुरु साहिब कहते हैं:-

पहिला पाणी जीउ है जितु हरिआ सभु कोइ ।।[9]

जीवन एक अनमोल उपहार है. उसी प्रकार यह पर्यावरण और प्रकृति भी हमारे लिए एक अनमोल उपहार है। हमें इसके महत्व को समझना चाहिए और इसे बनाए रखने के लिए उचित कदम उठाने चाहिए। ऐसे प्रयासों से यदि हम किसी नतीजे पर पहुंचेंगे, तभी हमारा पर्यावरण सुखद होगा और प्रकृति की उचित सराहना होगी। तभी हम "माता धरत महत्" को जीवंत रूप से जी सकते हैं और प्रकृति के प्रति अपनी शुद्ध एवं सच्ची श्रद्धा भक्ति अर्पित कर सकते हैं।

संदर्भ सूची:-

1:- आदि श्री गुरु ग्रंथ साहिब जी

2:- जगबीर सिंह (डॉ.), "गुरमति काव्य का इतिहास"

प्रकाशक:- पंजाबी अकादमी, दिल्ली, संस्करण:- 2004

3:- जगबीर सिंह (डॉ.), 'गुरमति काव्य सिद्धांत ते विहार'

प्रकाशक:- चेतना प्रकाशन, पंजाबी भवन, लुधियाना,संस्करण:-2011

4:- गिल महिंदर कौर (डॉ.), 'नितनेम दर्शन',

प्रकाशक:- आरसी पब्लिशर्स, दिल्ली, संस्करण:- 2014

5:- गिल महिंदर कौर (डॉ.), 'दीदार श्री गुरु ग्रंथ साहिब',

प्रकाशक:- नवयुग पब्लिशर्स, दिल्ली, संस्करण:- 2004

6:- गिल महिंदर कौर (डॉ.), 'बाणी सार',

प्रकाशक:- नवयुग प्रकाशन, चाँदनी चौक, दिल्ली, संस्करण:- 1989

7:- त्यागी मोहन सिंह (डॉ.) (संपा.), 'गुरु नानक बाणी चिंतन सिद्धांत ते विहार',

प्रकाशक:- तर्कभारती प्रकाशन, पुरानी सब्जी मंडी, कच्चा कॉलेज रोड, फ्रंट स्ट्रीट नंबर 8,

बरनाला, पंजाब, संस्करण:-2019

8:- जग्गी रतन सिंह (प्रो.) (मुख्य संपादक):- शोध पत्रिका 'गुरमति काव्य अंक',

प्रकाशक:- प्रकाशन ब्यूरो, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला, अंक:- सितम्बर-1985

9:- परमिंदर सिंह (डॉ.), कसेल कृपाल सिंह, लांबा गोबिंद सिंह (डॉ.), "पंजाबी साहित्य की उत्पत्ति और विकास", प्रकाशक:- लाहौर बुक शॉप, लुधियाना, संस्करण:- 2004

****

षोडश संस्कारों में यज्ञोपवीत संस्कार की समसामयिक उपादेयता

-आलोक कुमार झा
शोधार्थी,
संस्कृत एवं प्राच्य विद्याध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय , नई दिल्ली
ईमेल- alokjhajnu@gamil.com

'संस्कार' शब्द का तात्पर्य शुद्धिकरण, निर्माण पूर्णता अथवा परिष्कार से है।[1] संस्कार व्यक्ति के जीवन को सही दिशा और मर्यादा प्रदान करते हैं और उन्हें समाज में धार्मिक और नैतिक जीवन जीने की प्रेरणा देते हैं। संस्कारों की संख्या को लेकर भारतीय विद्वानों में मत-मतान्तर है। गौतम ने संस्कारों की संख्या 40 कही है।[2] स्वामी दयानन्द स्वरस्वती ने 16 संस्कारों को मान्यता देकर 17 संस्कारों का वर्णन किया है।[3] कालान्तर में 16 प्रमुख संस्कार माने गए जो 'षोडश संस्कार' के रूप में प्रचलित है। ये संस्कार हैं- गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण,निष्क्रमण अन्नप्राशन, चूडाकर्म,कर्णवेध, यज्ञोप्पवीत, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह तथा अन्त्येष्टि। इन संस्कारों का उद्देश्य व्यक्ति को संपूर्ण और चरित्रवान बनाना होता है, ताकि वह अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए धर्म, समाज, और संस्कृति का सम्मान कर सके। यज्ञोपवीत संस्कार सम्पूर्ण संस्कारों के मध्य में है। 'उपनयन संस्कार' को यज्ञोपवीत एवं मोञ्जीबन्धन-संस्कार के नाम से भी जाना जाता है। 'उप' उपसर्ग पूर्वक 'नी' धातु से भाव अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर 'उपनयन' शब्द निष्पादित होता है।[4] 'जिसका अभिप्राय है समीप ले जाना अर्थात् गुरु के समीप विद्यार्जन के लिए ले जाना या पहुँचाना । यज्ञोपवीत धारण कराकर शिष्य को वेद पढ़ाने एवं द्विज बनाने का जो कर्म किया जाता है, उसे उपनयन-संस्कार के रूप में जाना जाता है। उपनयन को वटु-संस्कार भी कहा जाता है।[5] उपनयनोपरान्त वही वटु द्विज कहलाता है । इसका तात्पर्य यह है कि जब बालक संस्कृति की भट्ठी में पड़कर नवीन मानव होने की प्रक्रिया में आ जाता है, तब उस बालक का द्वितीय जन्म माना जाता है।[6] अतः द्विज है।

उपनयन-संस्कार में मुख्यकर्म यज्ञोपवीत धारण कराना है तथा विद्याध्ययन हेतु गुरु आश्रम में प्रवेश दिलाना है । 'पारस्करगृह्यसूत्र' के अनुसार अष्टवर्षब्राह्मणमुपनयेद् गर्भाष्टमे वा एकादशवर्षं राजन्यम् । द्वादशवर्षं वैश्यम् । अर्थात् ब्राह्मण कुमार का उपनयन-संस्कार उसके जन्म से अष्टम वर्ष में करना चाहिए । क्षत्रिय बालक का एकादश वर्ष में करना चाहिए और वैश्य बालक का यज्ञोपवीत द्वादश वर्ष में किया जाना चाहिए ।[7] 'आश्वलायनगृह्यसूत्र' में भी उपनयन कर्म का यही समान समय बताया गया है। अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत गर्भाष्टमे एकादशे क्षत्रियम्, द्वादशे वैश्यम् । 'शाङ्खायनगृह्यसूत्र' के अनुसार भी उक्त कर्म के विधान का यही प्रमाण मिलता है कि तीनों वर्णों के बालकों का उपनयन-संस्कार क्रमशः अष्टम, एकादश एवं द्वादश वर्ष में किया जाना चाहिए ।[8] यज्ञोपवीत संस्कार के लिए ऋतुओं का भी उल्लेख मिलता है सामान्यतः सूर्य के उत्तरायण की स्थिति में यह संस्कार किया जाता है।[9] परन्तु कुछ सूत्रग्रन्थों में सूत्रकारों के अनुसार उपनयन कर्म करने का उल्लेख किया है । तदनुसार 'आपस्तम्बगृह्यसूत्र' के अनुसार ब्राह्मण बालक का उपनयन-संस्कार वसन्त ऋतु में, क्षत्रिय बालक का ग्रीष्म तथा वैश्य का शरद ऋतु में उक्त कर्म किया जाना चाहिए । इन ऋतुओं में इस संस्कार का किया जाना शुभ माना जाता है ।[10] 'बौधायनगृह्यसूत्र' में भी इस संस्कार हेतु वर्णक्रम से इन्हीं ऋतुओं का उल्लेख मिलता है ।[11] 'संस्कार-विधि' में भी यही बात बताई गयी है कि वर्णक्रम से वसन्त, ग्रीष्म और शरद ऋतुओं में उक्त कर्म को करना शुभ एवं श्रेयस्कर है ।[12]

यदि माता-पिता अपरिहार्य कारण से बालक का उपनयन पूर्वोक्त समय में नहीं करवा सके, तो 'शाङ्खायन' ने इसका समाधान बताते हुए यह विधान किया है कि षोडश वर्ष तक ब्राह्मण बालक का एवं द्वाविंश वर्ष तक क्षत्रिय बालक का उपनयन किया जाना चाहिए तथा चतुर्विंश वर्ष तक वैश्य बालक का उपनयन संस्कार किया जाना चाहिए ।[13] इस विषय में 'गोभिलगृह्यसूत्र'[14] 'पारस्करगृह्यसूत्र'[15] , 'आश्वलायनगृह्यसूत्र'[16] एवं 'बौधायनगृह्यसूत्र'[17] सभी में एक जैसा विधान प्राप्त होता है कि तीनों वर्णों के बालकों का यज्ञोपवीत क्रम से षोडश, द्वाविंश एव चतुर्विंश वर्ष तक किया जाना चाहिए । वैदिक संस्कृति में जिन बालकों का नियत काल में वर्णक्रम से उपनयन-संस्कार नहीं किया जाता था, उन्हें पतित सावित्रीक माना जाता था। 'पारस्करगृह्यसूत्र' के अनुसार जिनके लिए निश्चित काल में सावित्री का उपदेश नहीं किया गया हो,तीन पीढ़ियों तक उनकी संतान को यज्ञोपवीत-संस्कार नहीं कराया जाना चाहिए और न ही उनको वेद पढ़ाना चाहिए । 'शाङ्खायनगृह्यसूत्र' के अनुसार भी निश्चित समय के व्यतीत हो जाने पर क्रमशः (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) तीनों वर्ण सावित्री के अधिकार से पतित हो जाते हैं और पतित हुए बालकों का उपनयन-संस्कार नहीं करना चाहिए। उनको अध्ययन एवं अध्यापन भी नहीं करवाना चाहिए ।[18]
'गोभिलगृह्यसूत्र'[19] में भी इसी बात का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि सावित्री पतित बालकों का पुनः उपनयन नहीं हो सकता । उनको यज्ञ एवं याजन भी नहीं करवाना चाहिए ।[20] 'पारस्करगृह्यसूत्र' ही ऐसा सूत्रग्रन्थ है, जिसमें पतित सावित्री के लिए उपनयन-संस्कार के अधिकारी बनने का उपाय मिलता है । सूत्रकार के अनुसार उन पतित सावित्रीक पुरुषों में यदि कोई अपना संस्कार कराना चाहे तो उसे व्रात्यस्तोम से यज्ञ करना चाहिए । तत्पश्चात् उसे यथेच्छ वेदादि का अध्ययन करना चाहिए । इस श्रौत वचनानुसार तब वह पुरुष व्यवहार करने योग्य होता है ।[21] 'कात्यायनश्रौतसूत्र' में भी व्रात्यस्तोम का वर्णन प्राप्त होता है

।[22] 'पारस्करगृह्यसूत्र' में ऐसा विधान है कि जिस दिन उपनयन-संस्कार करना हो, उस दिन बालक का क्षौर कराकर स्नान कराना चाहिए । तदनन्तर आचार्य द्वारा यज्ञमण्डप में बनी वेदी के पश्चिम भाग में बिछे हुए आसन पर पूर्वाभिमुख शिष्य को बैठाया जाना चाहिए । इसके पश्चात् आचार्य 'ब्रह्मचर्यमागाम्' और 'ब्रह्मचार्यसानि' ये दो वाक्य कुमार के मुख से कहलवाता है अर्थात् सर्वप्रथम आचार्य प्रथम वाक्य का उच्चारण करे तदनु कुमार उस वाक्य को दोहरावे ।[23] इसी प्रकार आचार्य दूसरे वाक्य का उच्चारण करे तथा कुमार उस वाक्य को दोहरावे । इसी प्रकार यह विधि सम्पन्न की जाती है । 'पारस्करगृह्यसूत्र' के अनुसार ब्रह्मचारी को 'इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं' इस मन्त्र का पाठ करते हुए मेखला को धारण करना चाहिए। यहाँ इस मन्त्र में यह प्रार्थना की गयी है कि यह दुरुस्त विधि से बांधी गई स्वसा रूप देवी मेखला पवित हो, जो कि ब्रह्मचारी प्राणापान से बल में प्रवेश करती हुई सौभाग्य को बढ़ाते हुए पवित्र बनावे । [24]

'शांखायनगृह्यसूत्र' में भी इसी विधि का संकेत प्राप्त होता है कि 'इयं दुरुक्तं' मन्त्र का जाप करते हुए, मेखला को कुमार की कटि पर तीन बार लपेटें तथा उसमें एक, तीन या पांच ग्रन्थि भी हो सकती हैं ।[25] 'पारस्करगृह्यसूत्र' के अनुसार ब्राह्मण बालक की मेखला मुञ्ज की; क्षत्रिय की धनुष की डोरी की बनी हुई होनी चाहिए एवं वैश्य की मौर्वी की मेखला होनी चाहिए । मुञ्ज की मेखला के अभाव में कुशाश्मन्तक एवं बल्वज की मेखला धारण करने का विधान प्राप्त होता है ।[26] 'मनुस्मृति' में भी ऐसा ही विधान है कि मुञ्ज के अभाव में कुशा, अश्मन्तक एवं बल्वज की मेखला में एक, तीन अथवा पाञ्च गाँठे लगाकर कुमार को पहनाना चाहिए ।[27] 'कौशिकसूत्र' एवं 'गोभिलगृह्यसूत्र' में भी इसी प्रकार का विधान मिलता है ।[28] 'पारस्करगृह्यसूत्र' के अनुसार ब्रह्मचारी को दण्ड धारण करवाया जाता है । यह दण्ड ब्राह्मण बालक का पलाश वृक्ष का होना चाहिए । क्षत्रिय बालक को बिल्व वृक्ष का और वैश्य बालक का वेंतस औदुम्बर वृक्ष का होना चाहिए ।[29] इसी ग्रन्थ में सूत्रकार ने यह भी बताया है कि सिर के केशों के संमित (बराबर) ब्राह्मण-वटु का वेंतस होना चाहिए, क्षत्रिय वटु का वेंतस ललाट (माथा) के संमित एवं वैश्य वर्ण के लिए वेंतस, नासिका के संमित होना चाहिए ।[30] 'शाङ्खायन-गृह्यसूत्र' में भी यही वर्णन प्राप्त होता है कि ब्रह्मचारियों को क्रमशः पलाश, न्यग्रोध एवं औदुम्बर का दण्ड धारण करना चाहिए ।[31] उनके अभिज्ञान के लिए सूत्रकार ने वेंतस का परिमाण भी बताया है कि ब्राह्मण वटु का दण्ड प्राण संमित, क्षत्रिय बालक का ललाट के समान एवं वैश्य बालक का दण्ड ललाट के केशों से संमित होना चाहिए ।[32] 'गोभिलगृह्यसूत्र' में ऐसा विधान मिलता है कि आचार्य को 'सुश्रवसः सुश्रवसं मा कुरु" इस मन्त्र का जाप करते हुए माणवक के हाथ में दण्ड धारण कराना चाहिए ।[33] अन्य गृह्यसूत्रों, यथा - 'कौशिकसूत्र'[34] , 'वाराहगृह्यसूत्र[35]' 'बौधायनगृह्यसूत्र'[36] एवं 'आपस्तम्बगृह्यसूत्र'[37] में भी दण्ड धारण विषयक यही विधान मिलता है । पारस्कर-गृह्यसूत्र के अनुसार आचार्य को "यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्" इस मन्त्र का जाप करते हुए ब्रह्मचारी को यज्ञसूत्र धारण कराना चाहिए, जिसमें यह कामना की गयी है कि सबसे पहले जिस परम पवित्र यज्ञ-सूत्र को प्रजापति से सहजरूप में उपनद्ध किया था। वही सूत्र तुम्हारे लिए श्रेष्ठ, शुभ्र वर्ण वाला, बल और तेज से युक्त होवे तथा आयु को बढ़ाने वाला होवे ।38 'शाखायनगृह्यसूत्र' के अनुसार ब्रह्मचारी यज्ञसूत्र को धारण करते हुए अन्य मन्त्र का जाप करता है जिसका अभिप्राय है कि आप यज्ञोपवीत हो, अतः यज्ञोपवीत के द्वारा मैं तुम्हें धारण करता हूँ ।[39] 'बौधायनगृह्यसूत्र' में भी यज्ञोपवीत की यही समान विधि प्राप्त होती है[40] और 'कौशिक सूत्र' में भी यही उल्लेख मिलता है ।[41] 'मनुस्मृति' में यज्ञोपवीत धारणा करने हेतु यज्ञोपवीती, प्राचीनवीति एवं निवीती शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि क्रमशः द्विज दक्षिण पाणि के नीचे, क्षत्रिय को सव्य पाणि के नीचे और वैश्य निवीती को कण्ठ में धारण करें ।[42] तदनन्तर ऋग्वेद के नवमें मण्डल में उल्लेख मिलता है कि 'ओं भूर्भुव स्वः अग्न आयुंषि पवस आ सुवोर्जुमिषं च नः । आरे बाधस्व दुच्छुनां स्वाहा । इदमग्नये पवमानाय इदन्नमम ओं भूर्भुवः स्वः, अग्न ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः । तमीमहे महागयं स्वाहा । इदमग्नये पबमानाय इदन्न मम ।ओं भूर्भुवः स्वः । अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुर्वीयम् । दधद्रयिं मयि पोषं स्वाहा त्र् इदमग्नये पवमानाय इदन्नमम ॥ आदि चार मन्त्रों से चार मन्त्र आज्याहुति देनी चाहिए । इसके पश्चात् 'ओम् अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि' आदि मन्त्रों से पांच आज्याहुति दिलानी चाहिए । 'गोभिलसूत्र' के अनुसार आचार्य द्वारा ब्रह्मचारी के अभिवादन का भी विधान है ।[43] तदनुसार आचार्य लड़के को देखकर 'आगन्त्रा समगन्महीं' एवं 'अग्निष्टे हस्तमग्रहीत' मन्त्र ब्राह्मण के इन दो मन्त्रों का जाप करें[44] तथा 'ब्रह्मचर्यमागाम्' इस मन्त्र को बोलकर बालक से पढ़वाये एवं 'को नामासि' इस वाक्य से बालक से पढ़वाये एवं 'को नामासि' इस वाक्य से बालक का नाम पूछना चाहिए कि तेरा क्या नाम है? तब बालक को उत्तर देना चाहिए कि मैं अमुक् नाम वाला हूँ । तदनन्तर आचार्य स्वयं अभिवादन-समय में द्वितीय जन्म सूचक एक नवीन नाम की कल्पना करते हुए बालक से 'मैं अमुक नाम वाला गुरु तुम्हारा अभिवादन करता हूँ'[45] यह वाक्य बोले और 'देवस्य ते' आदि यजुर्वेद के मन्त्र का जाप करते हुए उसे अपने दाहिने हाथ से बालक के अंगुष्ठ सहित दाहिने हाथ को ग्रहण करना चाहिए ।[46] गोभिलसूत्र के अनुसार वह नाम देवताश्रित, नक्षत्राश्रित एवं गोत्राश्रित होना चाहिए।[47] सामयिक सन्दर्भ में इसकी प्रासंगिकता निम्नलिखित बिंदुओं के माध्यम से समझी जा सकती है। सांस्कृतिक पहचान और परंपरा का संरक्षण- यज्ञोपवीत संस्कार भारतीय संस्कृति का हिस्सा है, जो पीढ़ियों से चली आ रही परंपराओं और मूल्यों को संरक्षित करने में सहायक है। इसके द्वारा नई पीढ़ी अपने सांस्कृतिक धरोहर से जुड़ी रहती है। कर्तव्यों का बोध- यह संस्कार एक व्यक्ति को उसके कर्तव्यों का बोध कराता है। आधुनिक युग में नैतिकता और जिम्मेदारी की भावना का महत्व अधिक हो गया है और यह संस्कार इन गुणों को विकसित करने में सहायक होता है। यज्ञोपवीत संस्कार व्यक्ति को शिक्षा और ज्ञान के प्रति समर्पित होने के लिए प्रेरित करता है। आज के समय में, शिक्षा के प्रति प्रतिबद्धता और ज्ञान का विकास समाज के विकास के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह संस्कार जीवन में शास्त्रों और धर्मग्रंथों के ज्ञान को प्राप्त करने के महत्व को रेखांकित करता है।यह संस्कार जीवन में अनुशासन, संयम, और आध्यात्मिक उन्नति का पथ

प्रशस्त करता है। आधुनिक जीवनशैली में संतुलन बनाए रखने के लिए अनुशासन की आवश्यकता है, और यह संस्कार व्यक्ति में स्व-नियंत्रण और ध्यान की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करता है। यज्ञोपवीत संस्कार के साथ समाज और परिवार के प्रति जिम्मेदारी का बोध होता है। आज के युग में भी समाज और परिवार के प्रति जिम्मेदारी की भावना का महत्व बना हुआ है, और यह संस्कार इसे सुदृढ़ करता है। इस प्रकार, यज्ञोपवीत संस्कार न केवल धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है, बल्कि व्यक्ति को आधुनिक समाज में भी एक जिम्मेदार, नैतिक, और ज्ञानवान नागरिक बनने में सहायक सिद्ध होता है।

1. आप्टे संस्कृत हिन्दी कोश पृष्ठ 1051
2. गौतम धर्मसूत्र 8/14
3. गर्भाद्या मृत्युपर्यन्ताः संस्काराः षोडशैव हि।
   वक्ष्यन्ते तं नमस्कृत्यानन्तविद्यं परमेश्वरम्॥– संस्कार विधि-1/2
4. अष्टाध्यायी, 3.3.115- ल्युट् च।
5. अष्टाध्यायी, 1.3.36-सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणन व्ययेषु नियः (बाल-मनोरमा-532)
6. अवस्थी, आचार्य श्री, हिन्दू धर्म के सोलह संस्कार रहस्य, पृ० 68
7. पा०गृ०सू०, 2.2.1-3।
8. शा०गृ०सू०, 2.1.1-3- गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयेत् गर्भैकादशेषु क्षत्रियम्, गर्भद्वादशेषु वैश्यम्।
9. पारस्कर गृह्यसूत्र 2/2
10. आप०गृ०सू० 4.10.3- वसन्तो ग्रीष्मशरदिव्यृतवो वर्णानुपूर्व्यण।
11. बोध०गृ०सू०, 2.5.6- वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यं वर्षासु रथकारमिति।
12. सं० वि० पृ० 72- वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत्। ग्रीष्मे राजन्यम् शरीद वैश्यम्। सर्वकालमेके।
13. शा०गृ०सू० 2..5-7- आषोडशाद् वर्षाद् ब्राह्मणस्याऽनतीत कालः। आद्वाविंशाद् क्षत्रियस्य। आ चतुर्विंशाद् वैश्यस्य।
14. गो०गृ०सू० 2.10.4- आषोडशाद्वर्षाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालो भवत्याद्वाविंशात् क्षत्रियस्याचतुर्विंशाद्वैश्यस्य।
15. पा०गृ०सू०, 2.6.34-37- आषोडशाद्वर्षाद् ब्राह्मस्यानतीत कालो भवति आद्वाविंशाद्राजन्यस्य। आचतुर्विंशाद्वैश्यस्य।
16. आ०गृ०सू०, 1.19.6
17. बौध० गृ० सू०, 2.5.3
18. पा०गृ०सू०, 2.5.42- त्रिपुरुषं पतित सावित्रीकाणामपत्ये संस्कारो नाध्यापनं च।
19. शां०गृ०सू०, 2.1.9-13- नैनानुपनयेयुः नाध्यापयेयुः, न याजयेयुः नैमिर्व्यवहरेयुः।
20. गो०गृ०सू०, 2.10.5-6- पतित सावित्रीका, नैनानुपनयेयुर्नाध्यापयेयुः न या जयेयुर्नैभिर्विवहेयुः।
21. पा०गृ०सू०, 2.5.43- तेषां संस्कारेप्सुर्व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा काममधीयीरन्व्यवहार्या भवन्तीति वचनात्।
22. का०श्रौ०सू०, 22.4.29-30- व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा व्रात्यभावाद्विरमेयुः। व्यवहार्या भवन्ति।
23. पा०गृ०सू०, 2.1.6- ब्रह्मचर्यमागाम् ब्रह्मचार्य सानि।
24. पा०गृ०सू०,1.1.8- इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्ण पवित्रं पुनती म आगात् प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयमिति
25. शां०गृ०सू०, 2.2.1- त्रिर्मेखलां प्रदक्षिणां त्रिः परिवेष्टय। ग्रन्थिरेकस्त्रयोऽपि वापि वा पञ्च।
26. पा०गृ०सू०, 2.5.21-24- मौञ्जी रशना ब्राह्मणस्य, धनुर्ज्याराजन्य मौर्वी वैश्यस्य। मुञ्जाभावे कुशाश्मन्तक बल्वजानाम्।
27. म०स्मृ०, 2.43- मुञ्जालाभे तु कर्त्तव्याः कुशाश्मन्तक बल्वजै त्रिवृता ग्रन्थि वैकेन त्रिभिः पञ्चाभिरेव वा।
28. कौ० सू०, 7.8.1-3- मौञ्जी मेखला ब्राह्मणाय, मौर्वीक्षत्रियाय, धनुर्ज्या वा क्षौमिकी वैश्याय।
29. पा०गृ०सू०, 2.5.25-27- पलाशो ब्राह्मणस्य दण्डः, बैल्वो राजन्यस्य, औदुम्बरो वैश्यस्य।
30. वही, 2.5.28- केश संमितो ब्राह्मणस्य, ललाटसंमितः क्षत्रियस्य, घ्राण संमितो वैश्यस्य। सर्वे वा सर्वेषाम्।
31. शां०गृ०सू०, 2.1.18-20- पालाशो बैल्वो वा दण्डो ब्राह्मणस्य नैयग्रोधः क्षत्रियस्य, औदुबरो वैश्यस्य
32. वही, 2.1.21-23- प्राणसंमितो ब्राह्मणस्य, ललाटसंमितः क्षत्रियस्य केश संमितो वैश्यस्य। सर्वे वा सर्वेषाम्।
33. गो०गृ०स०, 2.10.14- वार्क्ष×चासमै दण्डं प्रयच्छन वाचयति सुश्रवसंमा कुर्विति।
    म० ब्रा०, 1.6.31- सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु यथा त्वं सुश्रवः सुश्रवाः। देवेष्वेव महं सुश्रवः सुश्रवा ब्राह्मणेषु भूयासम् त्र्
34. कौ० सू०, 7.8.4-6- पलाशं दण्डं ब्राह्मणाय प्रयच्छति नैयग्रोधं क्षत्रियाय अश्वत्थं वैश्याय।
35. वा०गृ०सू०, 5.27.4
36. बौध०गृ०सू०, 2.5.17
37. आप०गृ०सू०, 4.11.15- पलाशोदण्ड ब्राह्मणस्य, नैयग्रोधं वैश्यस्य, औदुम्बर वैश्यस्य।
38. पा०गृ०सू०, 2.2.11- यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्। आयुष्यमग्रयं प्रतिमु×च शुभ्रं यज्ञोवीतं बलमस्तु तेजः त्र्
39. शां०गृ०सू०, 2.2.3- यज्ञोपवीतं कृत्वा यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वोपवीतेनोपनह्यामीति।
40. बौ०गृ०सू०, 2.2.3- यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्।
41. कौ० सू०, 7.7.2 (टिप्पणी) पृ० 144
42. मनु० स्मृ०, 2.63- उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः। सव्ये प्राचीनावीती निवीती कण्ठ सज्जने।
43. गो०गृ०सू०, 2.10.20: प्रेक्षमाणोजपत्यागन्त्रा समगन्महीति।
44. शां०गृ०सू०, 2.2.14, म० ब्रा०, 1.6.14-15: आगन्त्रा समगन्महि प्रसुमर्त्यं युयोतन अरिष्टाः सञ्चरेमहि स्वस्ति चरतादयम्।
45. म०ब्रा०, 1.6.16: ब्रह्मचर्यगामुपमानयस्व, को नामासि ! असौ नामासि
46. गो०गृ०सू०, 2.10.23: अभिवादनीयं नाम धेयं कल्पयित्वा अञ्जलिमाचार्यो दक्षिणेन पाणिना दक्षिणं पाणिं साङ्गुष्ठ गृह्णाति ।यजु०, 38.1: देवस्य ते सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां हस्तं गृहणाम्यसौ।
47. गो०गृ०सू०, 2.10.23: देवताश्रयं वा नक्षत्राश्रयं वा गोत्राश्रयमप्येक उत्सृज्यापाम्।

*****

सन्दर्भ सूची

1. आश्वालायन गृह्यसूत्र,पाठक,जमुना,वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत अकादमी,२०११
2. संस्कारविधिः , महर्षि दयानन्दसरस्वतीकृत,आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट,दिल्ली,२०१०
3. महर्षिदयानन्दप्रणीतसंस्कारप्रकाश,सम्पादक,विद्यालङ्कार,रामगोपाल.कलकत्ता:गोविन्दराम हासानन्द वैदिक प्रेस,२०००
4. कौषीतकिगृह्यसूत्रम्,सम्पादक-पाठक,जमुना,वाराणसी:चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस,२००५
5. पारस्करगृह्यसूत्रम्,(कर्कोपाध्याय-जयरामाचार्य-हरिहराचार्य-गदाधरदीक्षित-विश्वनाथप्रणीतभाष्यपञ्चकविभूषितम्),मुम्बई:क्षेमराज श्री कृष्णदास,१९८६
6. वैदिकसाहित्य और संस्कृति ,द्विवेदी,कपिलदेव,वाराणसी:विश्वविद्यालय प्रकाशन,२०१०

भारत और नेपाल के मध्य सामाजिक सम्बन्ध : अभिलेखों के सन्दर्भ में

डॉ.विक्रम सिंह चौधरी
असिस्टेंट प्रोफेसर
इतिहास विभाग,
किरोडीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
मो.9910526157

संक्षिप्तांश: विशेषकर नेपाल और भारत से प्रकाशित अभिलेख और साहित्य के आधार पर प्राचीन भारत और नेपाल के मध्य सामाजिक संबंधो को इस लेख में विश्लेषित किया गया है। अभिलेखों और साहित्यों के आधार पर आर्थिक, सामाजिक, संस्कृति, कला और भाषायी संबंधो पर प्रकाश डालने की कोशिश की गई है ।

विशिष्ट शब्द: नेपाल और भारत,अभिलेख और साहित्य, सामाजिक सम्बन्ध,संस्कृति, मन्दिर,संस्कृत भाषा तथा ब्राह्मी लिपि।

उद्देश्य : प्राचीन भारत और नेपाल के मध्य सामाजिक संबंध बहुत गहरे और समृद्ध बने हुए हैं। संबंध के उद्देश्य में पहलुओं से देखा जा सकता है, भारत और नेपाल से प्राचीन अभिलेखों और साहित्य के आधार प्राचीन नेपाल और भारत के मध्य सांस्कृतिक संबंध पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

इस शीर्षक के अन्तर्गत नेपाल में स्थापित सामाजिक–व्यवस्था के विविध–पक्षों पर भारतीय सामाजिक–व्यवस्था के पड़ने वाले प्रभावों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। प्राचीन नेपाल में सामाजिक व्यवस्था, रहन–सहन, रीति–रिवाज, वैवाहिक संस्कार, विधावाओं की स्थिति तथा सती प्रथा आदि पर भारतीय प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

तृतीय ई0 पू0 तक इस नेपाल में उत्तर भारत के मौर्य साम्राज्य का प्रभाव पडा। इस क्षेत्र में पांचवी शताब्दी ई0 के उत्तरार्ध में आकर वैशाली के लिच्छवियो के राज्य की स्थापना हुई। आठवीं शताब्दी ई0 के उत्तरार्ध में लिच्छवि वंश का अस्त हो गया और सन् 879 से नेवार युग का उदय हुआ, फिर भी इन लोगों का नियन्त्रण देशभर में कितना बना था, इसका आकलन कर पाना मुश्किल है। 11 वी शताब्दी के उत्तरार्ध में दक्षिण भारत से आए चालुक्य साम्राज्य का प्रभाव नेपाल के दक्षिणी भूभाग में दिखा। चालुक्यों के प्रभाव में आकर उस समय राजाओं ने बौद्ध धर्म को छोडकर हिन्दू धर्म का समर्थन किया और नेपाल में धार्मिक परिवर्तन होने लगा। भारत और नेपाल का सम्बन्ध इतने निकट का एवं प्राचीन है कि भारतीय संस्कृति से भिन्न सन्दर्भ में नेपाल की संस्कृति के उद्गम को नहीं ढूंढा जा सकता। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध का जन्म प्राचीन भारतीय शाक्य गणराज्य में कपिल वस्तु के समीप लुम्बिनी नामक स्थान पर हुआ था। नेपाल के बहुत से विधान और सामाजिक व्यवस्थाओं पर स्वाभाविक रूप से भारतीय प्रभाव है। किन्तु नेपाली सभ्यता की अपनी निजी विशेषताएं हैं, जिनमें उनकी परम्पराओं और विभिन्न संस्कृतियों का सम्मिश्रण देखने को मिलता है।

प्राचीन नेपाल और भारत के सामाजिक सम्बन्धों में लिच्छवि राजाओं का विशेष योगदान है। भारत में गुप्तों के अभ्युदय के साथ नेपाल में लिच्छवि राजाओं का साम्राज्य स्थापित हुआ, नेपाल के इतिहास का गहरा सम्बन्ध गुप्त राजवंश के अभ्युत्थान से है, क्योंकि नेपाल न केवल राजनीतिक दृष्टि से उनके साम्राज्य का एक अंग था, अपितु उसकी प्रशासकीय व्यवस्था, धर्म, भाषा, लिपि तथा सामाजिक संगठन पर भी इस साम्राज्य की गहरी छाप पड़ी थी। नेपाल के लिच्छवियों के सामाजिक जीवन का जो स्वरूप प्राप्त होता है, वह प्राचीन भारतीय लिच्छवियों के सामाजिक जीवन से सर्वथा भिन्न है। ऐसा लगता है कि बौद्ध तथा जैन धर्मों के प्रभाव के कारण लिच्छवि समाज ने प्राचीन सामाजिक मान्यताओं को कालान्तर में परिमार्जित कर नवीन मान्यताओं को ग्रहण कर लिया।

इस प्रकार लिच्छवि साम्राज्य के अभ्युदय तथा संगठित होने के परिणाम स्वरूप नेपाल की सामाजिक व्यवस्था भारतीय समाज से प्रभावित होते हुए भी अपने रीति–रिवाजों के लिए स्वतन्त्र थी।

भारत में गुप्त राजवंश का अभ्युदय चौथी शताब्दी में हुआ, गुप्त साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त प्रथम का विवाह लिच्छवि कुमारी, कुमारदेवी से हुआ था। इस साक्ष्य

का ज्ञान हमें गुप्त अभिलेखों से प्राप्त होता है। जिसमें चन्द्रगुप्त प्रथम के पुत्र महाराजाधिराज समुद्रगुप्त को प्रायः ''लिच्छवि दौहित्र'' कहा गया है। इतना ही नहीं गुप्तों ने इस वैवाहिक सम्बन्धों की स्मृति में चन्द्रगुप्त कुमारदेवी प्रकार के सिक्के भी जारी करवाये थे। जिसके पुरोभाग पर चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी के नाम तथा पृष्ठभाग पर 'लिच्छवयः' लेख लिखे थे।[2] डी.आर. रेग्मी का विचार है कि चन्द्रगुप्त प्रथम की महादेवी कुमारदेवी नेपाल के लिच्छवि राजपरिवार में उत्पन्न हुई थी।[3] इस प्रकार भारतीय परिप्रेक्ष्य में गुप्त राजवंश के अभ्युदय के साथ नेपाल में लिच्छवि राजवंश का शासन समान रूप से चलता रहा। गुप्तों के पराभव काल में नेपाल का उत्कर्ष और प्रसार विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा किन्तु गुप्तकाल में भारतीय संस्कृति की जो नींव पड़ी, वह नेपाली समाज के लिए विशेष प्रभावकारी सिद्ध हुई। लिच्छवि राजाओं ने गुप्त राजवंश के न केवल राजनीतिक अपितु सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि विभिन्न सांस्कृतिक तत्वों का अनुकरण किया।

वर्ण–व्यवस्था

नेपाली समाज की प्रजातीय पृष्ठभूमि मंगोलविद् अथवा किरात तत्व की प्रधानता के कारण भारतीय पृष्ठभूमि से कुछ भिन्न थी, परन्तु उसकी व्यवस्था मूलतः भारत की वर्ण–व्यवस्था पर ही आधृत थी। वंशावलियों में कहा गया है कि चौदहवीं शती ई0 के अन्त में मल्ल नृपति जयास्थिति मल्ल ने नेपालियों को चौसठ जातियों में विभाजन एवं प्रत्येक जाति के अधिकारों और कर्तव्यों का निर्धारण किया था।[4] इससे यह धारणा प्रचलित हो गई कि प्राचीन युगों में नेपालवासी वर्ण और जाति व्यवस्था से अपरिचित थे।[5] परन्तु अभिलेखीय साक्ष्यों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि लिच्छवि युगीन नेपाली समाज उसी प्रकार वर्णों और जातियों में विभाजित था, जैसे तत्कालीन भारतीय समाज। उदाहरणार्थ मानदेव का छंगुनारायण अभिलेख[6], जो नेपाल का सबसे प्राचीन अभिलेख माना जाता है, में मानदेव कहता है कि उसने अनेक युद्धों में भाग लेकर क्षत्रित्व की रक्षा की और दीक्षा प्राप्त की थी और विश्वास प्रकट करता है कि कोई भी क्षत्रित्व–पुत्र पितृ ऋण को तप के द्वारा नहीं वरन् शस्त्रों का समुचित प्रयोग करके ही चुका सकता है।[7]

भारतीय सामाजिक संगठन का मुख्य आधार वर्णाश्रम व्यवस्था है। सभ्यता के आरम्भ में ही प्राचीन भारतीय मनीषियों ने मानव मस्तिष्क की आकांक्षाओं का संश्लेषण तथा विश्लेषण कर संस्कृति को पुरुषार्थ चतुष्टय ''धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष'' की आधारशिला पर प्रतिष्ठित किया था। इसी प्रकार मानव जीवन शतवर्षीय दीर्घायु सम्पन्न मानकर पचीस–पचीस वर्षों के चार समान विभागों में विभाजित किया और इन्हें आश्रम चतुष्ट्य ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास की संज्ञा दी। मानदेव के भूमिदानाभिलेख[8] में ब्राह्मण और वणिकों का भी उल्लेख मिलता है। स्वयं छंगुनारायण अभिलेख के अनुसार मल्ल सामन्त पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त मानदेव ने ब्राह्मणों को अक्षय धन दिया था।[9]

पारिवारिक सम्बन्ध

भारत में सामाजिक संगठन की सबसे छोटी इकाई परिवार है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति तथा स्त्रियाँ एक छत्र–छाया में पलते हैं। व्यक्ति का उत्कर्ष उसके पारिवारिक जीवन के माध्यम से होता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक की सारी अवस्था पारिवारिक संगठन के अन्तर्गत ही संचालित होती है। माता–पिता, पति–पत्नी, भाई–बहन और पुत्र–पुत्री के संयोग से परिवार का निर्माण होता है। अतः परिवार मनुष्य के सभ्य और सुसंस्कृत होने के स्वाभाविक तारतम्य है, जिसके माध्यम से मानव जीवन का उन्नयन होता है। गुप्तकाल तक परिवार के बारे में अनेक धर्मशास्त्रीय व्यवस्थाएं बन चुकी थी। गुप्त अभिलेखों में पारिवारिक आदर्श का चित्रण सामंजस्यपूर्ण मिलता है। परिवार के सदस्यों का सम्बन्ध निःस्वार्थ पारस्परिक स्नेह रज्जु से निर्मित ज्ञात होते हैं। गुप्तकाल भारतीय इतिहास के विकास को सर्वोच्च काल था नेपाल में पाये जाने वाले तत्कालीन परिवार भी उसी प्रकार के आदर्शों से प्रभावित ज्ञात होते हैं। नेपाली समाज में विभिन्न जाति समूहों की स्थिति, विवाह और परिवार संस्था एवं स्त्रियों की दशा आदि के विषय में अभिलेखों में अत्यल्प सूचनाएं प्राप्त होती हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के समान नेपाल में भी ब्राह्मणों का अन्य वर्णों की तुलना में कुछ अधिक सम्मान प्राप्त था। गाँव के प्रमुख जनों में ब्राह्मणों का परिगणन, दान में प्रचुर धन और अग्रहार आदि का दिया जाना एवं अनेक उच्च पदों पर ब्राह्मणों की नियुक्ति इसके प्रमाण है। बसन्तदेव के सम्वत् 428 के थानकोट अभिलेख[10] का दूतक याज्ञिक विरोचनगुप्त था और उसके अन्य अभिलेख जयशीलागनटोले

मर्यादा शिलालेख[11] में दूतक सर्वदण्डनायक महाप्रतिहार रविगुप्त तथा रविगुप्त चौकीटार पंचापराध निषेधाज्ञाशिलालेख[12] में भी सर्वदण्डनायक रविगुप्त के नाम का उल्लेख प्राप्त होता है।

जहाँ तक नेपाली परिवार संस्था का प्रश्न है, यह भी तत्कालीन भारतीय परिवार–संस्था से बहुत भिन्न नहीं था, भारतीय सम्राटों की तरह ही लिच्छवि सम्राट भी एक से अधिक विवाह कर लेते थे। भारत में यह परम्परा बहुत प्राचीन काल से प्रचलित थी। धर्मशास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण चार, क्षत्रिय तीन, वैश्य दो और शुद्र एक पत्नी रख सकता था।[13] श्रीकृष्ण की सोलह हजार पत्नियां बताई गयी है।[14] अतः अनेक स्त्रियों को रखने की परम्परा प्राचीन काल से प्रचलित थी। मौर्य और गुप्त राजवंशो के शासको में से अनेक की एक से अधिक रानियाँ थी। सम्राट बिन्दुसार और अशोक की एक से अधिक पत्नियों का वर्णन बौद्ध ग्रंथों में उल्लिखित है। समुद्रगुप्त के एरण स्तम्भ लेख में जहाँ उसके परिवार का वर्णन है वहाँ कुलवधुः शब्द का प्रयोग हुआ है। जो बहुपत्नी प्रथा की ओर संकेत करता है। समुद्रगुप्त के प्रयाग–प्रशस्ति में इसका स्पष्ट प्रमाण है।[15] स्कन्दगुप्त के भीतरी पाषाण स्तम्भभिलेख में चन्द्रगुप्त द्वितीय की महिषी का नाम महादेवी, ध्रुवदेवी आया है।[16] परन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती के पूना ताम्र पत्राभिलेख से स्पष्ट है कि प्रभावती चन्द्रगुप्त की दूसरी महिषी महादेवी कुबेरनागा से उत्पन्न हुई थी।[17] इस प्रकार ज्ञात होता है कि गुप्तकाल में बहुपत्नी प्रथा विद्यमान थी। गुप्तकालीन बहु–विवाह प्रथा का प्रभाव नेपाली सम्राटों पर स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। प्रथम मानदेव की तीन रानियाँ क्षेमसुन्दरी, भोगिनी तथा विजयस्वामिनी के नाम अभिलेखों में मिलते है।[18] लिच्छवियों में भारतीय परम्परा के अनुसार एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह करने की परम्परा थी।

भारतीय परिवार में जिस प्रकार माता–पिता को आदर दिया जाता था, उसी प्रकार नेपाली समाज में भी माता–पिता को आदर प्राप्त था। गुप्त राजाओं की तरह नेपाली राजा भी आपने माता–पिता की पुण्य स्मृति में प्रायः देव प्रतिमाएँ स्थापित करवाते तथा दान देते थे। जिस प्रकार स्कन्दगुप्त ने अपने पिता कुमारगुप्त प्रथम की पुण्यवृद्धि के लिए भगवान शार्डपाणि की प्रतिमा स्थापित करवायी थी।[19] उसी प्रकार मानदेव ने भी अपनी माता राज्यवती की पुण्यवृद्धि के लिए विष्णुविक्रान्त मूर्ति की स्थ. ापना करवायी।[20] माता का परिवार में विशेष सम्मान दोनों ही देशों में मिलता है। अपने छंगुनारायण अभिलेख में मानदेव अपनी राजमाता राज्यवती का उसी प्रकार समानपूर्वक उल्लेख करता है जिस प्रकार अपने भीतरी लेख में स्कन्दगुप्त ने किया हैं।

विधवाओं की स्थिति

भारत तथा नेपाल में सामाजिक सम्बन्धों में स्त्रियों की दशा प्रायः समान थी। नेपाल के लिच्छवि समाज में स्त्रियों की स्थिति पर संवत् 59=635 ई0 के मालिगाऊ अभिलेख[21] से रोचक प्रकाश पड़ता हैं। इसमें वर्णित है कि उस स्त्री की जो पति के मरने, नष्ट हो जाने अर्थात् खो जाने, सन्यासी हो जाने पर जातिच्यूत हो जाने पर दूसरा विवाह करने की अनुमति दे देनी चाहिए। कुमारगुप्त प्रथम तथा बंधुवर्मा के समय में मन्दसौर अभिलेख में उस प्रखर वेदना का उल्लेख है, जिसके स्मरण मात्र से बंधुवर्मा के शत्रुओं की स्त्रियों में कम्पन एवं शौभिल्य का संचार हो जाता है।[22] इस प्रकार भारत तथा नेपाल के विवरणों से ज्ञात होता है कि नेपाली समाज में विधवाओं की दशा उसी प्रकार की जिस प्रकार समकालीन भारतीय समाज में प्रचलित थी।

सती प्रथा

सती प्रथा कुछ पुरातन भारतीय समुदायों में प्रचलित एक ऐसी धार्मिक प्रथा थी, जिसमें किसी पुरुष की मृत्यु के बाद उसकी पत्नी उसके अंतिम संस्कार के दौरान उसकी चिता में स्वयमेव प्रविष्ट होकर आत्मत्याग कर लेती थी। 1829 में अंग्रेजों द्वारा भारत में इसे गैरकानूनी घोषित किए जाने के बाद से यह प्रथा प्रायः समाप्त हो गई थी। यह वास्तव में राजाओ की रानियों अथवा उस क्षेत्र की महिलाओं का इस्लामिक आक्रमणकारियों के आक्रमण के समय यदि उनके रक्षकों की हार हो जाती तो अपने आत्मसम्मान को बचाने के लिए स्वयं दाह कर लेतीं। भारतीय समाज में प्रचलित प्राचीन परम्पराओं में सती प्रथा का सम्बन्ध भी नेपाली समाज में दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि भारत में इस प्रथा का संकेत वैदिक समाज में भी प्राप्त होता है। तथापि इसका स्पष्ट उल्लेख रामायण तथा महाभारत में प्राप्त होता है। रामायण में वेदवती के सती होने का उल्लेख है।[23] महाभारत में पाण्डु के मृत होने पर माद्री सती हो गई

थी।[24] पुराणों में भी सती प्रथा के अनेक प्रसंग प्राप्त होते है। बलराम के मृत्यु होने पर रेवती प्रसन्नता पूर्वक उनके चिता में प्रविष्ट हुई थी।[25] इसी प्रकार लिच्छवि सम्राट मानदेव प्रथम के 464 ई0 का छंगुनारायण अभिलेख है जिसमें 'सती प्रथा' का उल्लेख प्राप्त होता है। इस अभिले ख में कहा गया है कि मानदेव के पिता धर्मदेव के दिवंगत होने पर उसकी माता ने अपने पति का अनुसरण करने का निश्चय किया था, जिससे वह तभी विचलित हुई थी जब मानदेव ने उसके पहले अपने प्राण त्यागने की धमकी दी थी।[26] भारत में भी इस प्रथा का प्राचीनतम उल्लेख भानुगुप्त के 510 ई0 के एरण अभिलेख में मिलता है।[27] इस प्रकार भारत और नेपाल दोनों ही देशों में सती प्रथा का अभिलेखों में प्रथम बार लगभग एक साथ उल्लेख होना यह संकेत देता है कि इनके तत्कालीन समाजों में स्त्रियों के स्थान एवं आदर्श नारी की कल्पना में बहुत भेद नहीं था।

रहन–सहन

नेपाल में उपलब्ध अभिलेखों से नेपाल के रहन–सहन वस्त्रालंकार, शिरोभूषण शस्त्रास्त्र, आवागमन के साधन, वाद्ययन्त्र पर प्रकाश देने वाली सामग्री बहुत कम मिलती है। भारतीय इतिहास में इस विषय पर तत्कालीन वाङ्मय शिल्प तथा अभिलेख विशेष सहयोग करते है किन्तु लिच्छवि कालीन संस्कृति के लिए ऐसे साक्ष्य प्रायः न के बराबर है। इन विषयों पर भारतीय तथा नेपाली सा क्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि नेपाल वासियों का रहन–सहन यद्यपि पूर्णतः भारतीय नहीं था अपितु भारतीय संस्कृति से अवश्य प्रभावित था।

चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपनी भारत–यात्रा के विवरण में नेपालियों की चर्चा करते हुए कहा है कि वे बेडौल व भद्दे शरीर वाले, जनसंसर्ग में अरूचि रखने वाले, समय और न्याय के महत्व से अपरिचित एवं विद्या विहिन परन्तु कलाओं में दक्ष होते थे।[28] ह्वेनसांग द्वारा किया गया मूल्यांकन नेपाल की उपत्यका के निवासियों का न होकर नेपाल की घाटी के समीप किसी अर्द्ध सभ्य अथवा असभ्य जाति का होना चाहिए। जिसके साथ सम्भवतः चीनी यात्री का अनुभव सुखद न रहा हो। क्योंकि नेपाल ने प्राप्त अभिलेखीय साक्ष्यों से स्पष्ट है कि सातवीं शती ई0 में नेपाल की सभ्यता, भारतीय सभ्यता से बहुत भिन्न नहीं थी।[29] इस प्रसंग में मानदेव प्रथम के छंगुनारायण अभिलेख उल्लेखनीय है। इसमें कहा गया है कि मानदेव के कन्धे विशाल थे, भुजा हाथी के सुंड के समान और नेत्र ि खले हुए काले कमल की तरह तथा उसके शरीर की छवि पालिशदार सुवर्ण के सदृश थी।[30] अतः नेपाल के निवासी भारतीयों के समान ही सुन्दर कान्ति वाले होते थे।

नेपाल से प्राप्त संस्कृत अभिलेखों में हस्तिमार्ग और महापथ आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है।[31] इसके साथ कुछ अभिलेखों से ज्ञात होता है कि लिच्छवि कालीन नेपाल में आवागमन के लिए बैल गाड़ियाँ, घोड़ा गाड़ी तथा रथों का प्रयोग होता था।[32] किन्तु इन गाड़ियों तथा रथों आदि बनावट के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती हैं। इसी प्रकार यंगाहिटीलागन टोले अभिलेख[33] में बताया गया है कि कुछ विशेष प्रकार के अपराधियों के लिए पदक के पुर–नूपुरादि पहनना वर्जित था। प्राचीन नेपाल में आभूषण ध ाारण करने की प्रथा पुरूषों में भी थी। इसका ज्ञान तांग इतिहास से भी होता है जिसमें कहा गया है कि नेपाल नरेश नरेन्द्रदेव अपने शरीर को मोतियों व मूगों से सजाता था। पन्ने का हार व बुद्ध मूर्तियों से अलंकृत करधनी पहनता था।[34] नेपाल के लोग केवल एक वस्त्र धारण करते थे, जिसे वे उत्तरीय कहते थे,[35] इस प्रकार के वस्त्र धारण करने का प्रचलन भारत में भी था। जैसा कि अजन्ता गुहा के कुछ चित्रों से स्पष्ट होता हैं।[36]

निष्कर्ष

भारत–नेपाल संबंध प्राचीन काल से ही जीवंत रहे है। दोनों देशों के मध्य के संबंध राजनीतिक से अधिक सांस्कृतिक एवं सामाजिक हैं। भारत और नेपाल मध्य सामाजिक सम्बन्धों में हर एक विधा दोनों देशों के सम्बन्धों की प्रगाढ़ता को दर्शाती है। जिसमें सबसे महत्वपूर्ण स्रोत नेपाल से प्राप्त लिच्छवि राजाओं के संस्कृत अभिलेख एवं भारतीय गुप्त राजाओं के अभिलेखों के साथ–साथ, साहित्य का भी योगदान रहा है।

संदर्भ ग्रन्थ–सूची

1.सरकार, डी0सी0–सेलेक्ट इंस्क्रिप्सन्स, प्रयाग–प्रशस्ति, भाग–2, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, 1983, पृ0सं0 207

2.अल्तेकर, ए0एस0, क्वायनेज ऑव दि गुप्ता एम्पायर, वाराणसी, 1957, पृ0सं0 40

3.रेग्मी, डी0आर0–एंशियंट नेपाल, भाग–1,रूपा0को0 नई

दिल्ली, 1960, पृ0सं 71
4.गोयल, एस0आर0, प्राचीन नेपाल का राजनितिक और सांस्कृतिक इतिहास, अंक 3, भारतीय–विद्या–प्रकाशन, वाराणसी, 1973, पृ0सं0 161
5.राइट, डेनियल, हिस्ट्री ऑव नेपाल, भाग–1, लो प्राइस–पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1958, पृ0सं0 108–113
6.नोली, आर0–नेपालीज इंस्क्रिप्सन्स इन गुप्ता कैरेक्टर्स, भाग 1, अंक 10, सेरी ओरिएन्टल रोम, 1956, अभिलेख संख्या 01, पृ0सं0 01
7.नोली, वही, अभिलेख संख्या 04, श्लोक सं0 15–16, पृ0सं0 04,
8.नोली, वही, अभि0सं0 02, पृ0सं0 2
9.नोली, वही, पृ0सं0 05
(धन प्रादात् द्विजयोग्योभ्क्षयम्)।
10.नोली, वही, अभि0सं0 12, श्लोक संख्या, 29–30, पृ0सं0 18
11.नोली वही, अभि0सं0 13, श्लोक सं0 21–22, पृ0सं0 20
12.नोली वही, अभि0सं0 श्लोक सं0–14 पृ0सं0 22
13.कुल्लूक भट्ट, मनुस्मृति 3/13, बम्बई, (1946) पृ0सं0 10–15
14.नीलकण्ठ, महाभारत, आदिपर्व, भाग 111, पूना, 1929–33, पृ0सं0 8–9 (षोडशस्त्रो सहस्राषि वसुदेव परिग्रहः)।
15.फ्लीट, जे0एफ0, भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग 3, अंक 1, भारतीय–कला–प्रकाशन, 2002 पृ0सं0 8–9
16.फ्लीट, जे0एफ0, वही, पृ0सं0 3–5
17.सरकार, डी0सी0, सेलेक्ट इंस्क्रिप्सन्स, भाग–2, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, 1983, पृ0सं0 413
18.रेग्मी, डी0आर0, एंशियंट नेपाल, भाग–1, रूपा0 को0, नई दिल्ली, 1960, पृ0सं0 119
19.सरकार,डी0सी0, सेलेक्ट इंस्क्रिप्सन्स, भाग 2, मोतीलाल बनारसी, 1983, पृ0सं0 324
20.नोली, आर0, नेपालिज संस्कृत इंस्क्रिप्सन्स इन गुप्ता कैरेक्टर्स, अभि0सं0 3, भाग 1, अंक 10, सेरी ओरिएण्टल, रोम, 1956, पृ0सं0 06
21.वज्राचार्य, गौरव, पूर्णिमा, भाग–1, अंग 04, भोलानाथ पौडेल, संसोधन मण्डल, काठमाण्डू, 1955, पृ0सं0 356
22.फ्लीट जे0एफ0, भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग 3, अंक 1, भारतीय–कला– प्रकाशन, 2002, पृ0सं0 84
23.वुर्म एलॉयन्स, रामायण, अजन्ता पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1976
24.नीलकण्ठ, महाभारत, आदिपर्व, पूना, 1929–33, पृ0सं0 95–96
25.विष्णु पुराण, भाग 5, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2009, पृ0सं0 38–39
26.नोली, आर0, नेपालिज संस्कृत इंस्क्रिप्सन्स इन गुप्ता कैरेक्टर्स, छंगुनारायण अभिलेख, अभिलेख, सं0 01, भाग 1, अंक 10, रोम, 1956, पृ0सं0 01
27.फ्लीट, जे0एफ0, भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग 3, भारतीय कला प्रकाशन, 2002, पृ0सं0 93–94
28.वाटर्स, टी0, आन–शुवान–च्वांग, ट्रेवेल्स इन इण्डिया, भाग 2, नई दिल्ली, 1961, पृ0सं0 135
29.गोयल, एस0आर0, प्राचीन नेपाल का राजनितिक एवं सांस्कृतिक इतिहास भारतीय–विद्या–प्रकाशन, वाराणसी, 1973, पृ0सं0 167
30.नोली, आर0, ने0सं0इं0 इन गुप्ता कैरे0, अभिलेख सं0 01, श्लोक सं0 7–13–17, भाग 1, अंक 10, रोम, 1956, पृ0सं0 03–04
31.नोली, वही, अभि0सं0 12, आदिनारायण थानकोट अभिलेख, पृ0सं0 18–19
32.नोली, वही, पृ0सं0 42–43
33.नोली, वही, अभि0सं0 61, पृ0सं0 81–82
34.रेग्मी, डी0आर0, एंशियंट नेपाल, भाग 1, रूपा0 को0 नई दिल्ली, 1960, पृ0सं0 176
35.रेग्मी, डी0आर0, वही, पृ0सं 177
36.याजदानी, जी, अजन्ता, भाग 4, अंक 15, स्वाती पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1983, पृ0सं0 200

Methodological Nationalism: A Critical Examination of the Underlying Assumptions of the Nation-State Paradigm in Social Sciences

-Prof. Dheeraj Kumar Choudhary
Professor,
Department of Med. & Mod. History,
Iswar Saran Degree College,
University of Allahabad, Prayagraj, India,
E-mail: drjworldalld@gmail.com

-Kuldeep Sharma
Research Scholar,
Department of Med. & Mod. History,
Iswar Saran Degree College,
University of Allahabad, Prayagraj, India

Abstract:
Methodological nationalism refers to the tendency in social sciences to view nations, states, and societies as the natural units for study, often leading to a conflation of national interests with the purposes of social science. This study discusses the phenomenon of methodological nationalism, its implications for social scientific research and a quest to move beyond it. Methodological nationalism, a common assumption in the social sciences - affects how research inquiries are framed and thus what data is analysed along with the interpretation of such findings about social phenomenon. It involves the inclination to perceive the nation-state as the inherent and primary societal structure. The paper traces the roots of criticism in methodological nationalism, through its varied articulations across disciplines, and special relevance to India. It also considers the challenges and limitations of tackling methodological nationalism, as well as what is at stake with this debate in light of contemporary global issues. The paper argues that, while attempts to overcome methodological nationalism have opened up areas of inquiry, they meet with significant philosophical, methodological and practical obstacles. To transcend beyond methodological nationalism, it is necessary to not only adopt new techniques, but also to fundamentally reconsider the categories and frameworks that we use to comprehend social processes.

Keywords: Methodological nationalism, nation-state paradigm, social sciences, globalisation, transnational research, Indian context, global issues, research methodology, social theory, epistemology

Introduction

Methodological nationalism refers to the tendency in social sciences to view nations, states, and societies as the natural units for study, often leading to a conflation of national interests with the purposes of social science. The idea of methodological nationalism is important within the social sciences, using issues related to principles including globalisation together with other cultural and social science research. In the social sciences, this type of nation-state is erroneously considered as the typical form for present-day societies. This assumption conditions not only the methods of research, data collection and analysis, but also obviously has an impact on how social phenomena are interpreted.

Methodological nationalism is a fundamental concept in this study. It refers to the inclination in social scientific thought to treat the nation-state as the primary and natural unit of analysis. This approach assumes that the nation, state, and society are the most appropriate representations of modern social and political organization. As a result, researchers often frame their inquiries within national boundaries, potentially overlooking transnational phenomena and global interconnections. The origin of methodological nationalism can be traced back to the 1970s, when Herminio Martins and Anthony D. Smith first identified this as a problem in social science research on European nation-states. Herminio Martins first used the notion "methodological nationalism" in his essay (1974) Time and Theory in Sociology. In 1974, Martins introduced the term "methodological nationalism" to describe a practice in social science where the researcher considers the nation as the primary unit and boundary for studying problems and phenomena.[1] This concept is not necessarily linked to political nationalism on the part of the researcher.

According to Smith (1979), the current study of society is primarily focused on analysing nation-states. Such an approach is supported by compelling arguments, but it does so using a nationalism and further legitimises itself.[2] This definition highlights the way in which methodological nationalism can strengthen nationalist ideas, leading to a continuous loop in the way social scientists think.

The focus on constructing a unified nation in India after gaining independence had a profound impact on social science research, strengthening the practice of methodological nationalism. According to Sujata Patel (2006), the phenomenon was observed as 'methodological nationalism' in Indian sociology, wherein the analysis primarily focused on the "nation" as the main unit of study, frequently neglecting to consider regional variations or transnational linkages.[3]

This paper aims to provide a comprehensive examination of methodological nationalism, its critique and efforts to overcome this bias in social scientific studies. In this paper, three primary arguments are put forward

1. The dominance of methodological nationalism has greatly influenced the way social scientists think, resulting in notable constraints in our comprehension of social phenomena in a world that is becoming more interconnected.
2. Although attempts to address methodological nationalism have created opportunities for further investigation, they also encounter substantial philosophical, methodological, and practical obstacles.
3. To transcend beyond methodological nationalism, it is

necessary to not only adopt new techniques, but also to fundamentally reconsider the categories and frameworks that we use to comprehend social processes.

Methodological nationalism: definition and manifestations

Methodological nationalism refers to a inclination in social scientific thought that treats the nation and society as synonyms, assuming the nation-state as both natural and an appropriate frame for political organization of contemporary life. The most frequently used definition probably is by Andreas Wimmer and Nina Glick Schiller (2002) who call it the assumption that, at this historical juncture, nation/state/society represents a natural form of social life and political organization in contemporary world. Wimmer and Glick Schiller (2002) identified three flavours or varieties of methodological nationalism[4]:

1. Ignorance: This is the discounting or ignoring of nationalism as a serious force in modern societies. Many classical social theorists, for example, predicted that the march of modernisation would diminish nationalism and ethnic ties.
2. Naturalisation - This approach naturalises the nature of national discourses, objectives and loyalties etc., taking these elements as givens without subjecting them to reflection or critique. It assumes that nations are natural unit of analysis in comparative social science research.
3. Territorial limitation - This confines the analysis of social phenomena within specific nation-states with political and geographical demarcations, regardless transnational connections and phenomena.

These modes regularly intersect and strengthen one another, forming a consistent epistemic framework that influences how social scientists understand and articulate the social world. Methodological nationalism is a concept not confined to any specific academic field or geographic space: it is present in almost every subdivision of the social sciences and across various national contexts. This is particularly obvious in the ways that the methodological nationalism of research practices and theoretical frameworks serves to prime analysis. Within the realm of Indian social sciences, it is evident that the study of social phenomena, which are commonly regarded as distinctly Indian, has been influenced by methodological nationalism.

So too have Indian sociologists seen caste as a specifically Indian phenomenon, one which deserves the full attention as it is a distinctively Indian occurrence. This methodology, which has been influenced by the concept of methodical nationalism, has occasionally failed to consider the ways in which caste identities and practices undergo changes within Indian diaspora communities around the globe.

Methodological nationalism has a significant influence on multiple social science disciplines, frequently treating society as synonymous with the nation-state in the field of sociology. For instance, in the study of social inequality it may be constrained to national-level data alone and hence overlook transnational features that contribute to inequalities. This might be seen as a misreading of phenomena such as the influence of global labour markets on local disparities.[5]

Political science is primarily concerned with internal politics and international relations of issues that are traditionally shared by the people in a nation-state, sometimes neglecting transnational political phenomena. For example, in studies of democratisation processes, scholars often have a tendency to focus on the national institutions and individuals that affect such transition towards democracy, while ignoring other forms like transnational civil society networks or international organizations.[6] In the field of economics, national economies are frequently regarded as distinct entities, which may lead to the neglect of significant cross-border economic movements and interdependencies. Analyses of economic development often fail to consider the impact of global value chains or transnational corporations, instead focussing primarily on national policies and institutions.[7]

Origins of the Critique of Methodological Nationalism

The critique of methodological nationalism, which is a much recent one but based in debates that started at the 1970s. Martins, as cited in Chernilo (2006), argues that sociological analysis has deeply given way to "national pre-definitions of social realities" with the national community serving as the terminal unit boundary condition for demarcating problems and phenomena in social science.[8]

At about the same period, Anthony D. Smith was working on parallel ideas. In his 1979 essay, Smith contended that the study of 'society' had become synonymous with the research of nation-states. He noted that although there were sound political reasons for adopting this position, the theoretical justification of these arguments gained much of its weight through an endorsement and reinforcement on nationalist grounds.[9]

The critique emerged in the 1970s and did so within a conjunction with Peter Wagner's (1994) 'second crisis of modernity' — an era marked by greater reflexivity and critical analysis of relationships between social theory, society, and the nation-state.[10] In the course of this period, the age following WWII had witnessed formation of nation-states on an immense scale, notably in the West, and the social sciences had mostly grown within this setting. However, by the 1970s, scholars were beginning to question many of these hidden assumptions upon which a good deal of social science theory had been built.

The critique of methodological nationalism was influenced by the increasing recognition of globalisation as a significant intellectual trend. While the term "globalisation" wasn't commonly used until the 1990s, scholars in the 1970s were becoming more conscious of the interdependence of the world and the constraints of solely national perspectives in comprehending social processes.

Implications of Methodological Nationalism for

Migration Studies

Methodological nationalism has fundamentally shaped the field of migration studies leading researchers to envisage, approach and map through this particular (and partial) nationalist prism. One of the most significant implications is what Nina Glick Schiller (2010) calls "the container model of society".[11] This model assumes that the social world is naturally divided into separate national societies, each restricted by the borders of its nation-state. Within this approach, international migration is conceptualized as a process of migrating from one container to another.

This notion has several awful implications. It tends to focus on immigration regulations and integration processes in receiving nations, frequently disregarding the intricate transnational relationships that migrants maintain. It usually assumes that migration is a one-time, linear movement, ignoring circular pattern of flow-back, return emigration and ongoing mobility. It could also lead to an overemphasis on cultural differences between migrants and host nations, which might reinforce essentialist notions of national cultures.

Sometimes methodological nationalism in migration studies comes hand-in-hand with the "sedentary bias" as Liisa Malkki (1992) calls it, where being rooted to one place is seen as a most possible and preferable state of affairs.[12] Such bias can lead to the pathologization of migration, seeing it as an aberration that requires explanation or a challenge that necessitates resolution. Frequently, the outcome is research that prioritises the integration or assimilation of migrants into host societies, rather than their ongoing affiliations with multiple locations.

Another consequence of methodological nationalism in migration studies is the concept of 'ethnic lens' as mentioned by scholars Glick Schiller, Çağlar & Guldbrandsen.[13] This term describes when migrants are primarily thought of in terms of their race or national origin. An ethno-centric lens leads to the objectification of ethnic communities, viewing them as homogenous and independent bodies. It frequently leads to the disregard of other significant factors that influence the experiences of migrants, such as social class, gender, or age, and can contribute to the perpetuation of simplistic ideas about culture and identity.

The tendency to prioritise national perspectives has frequently resulted in the disregard of transnational phenomena in the field of migration studies. This entails disregarding the ways in which migrants uphold connections to multiple locations concurrently, disregarding the consequences of migration on the societies from which migrants originate, as well as on global phenomena in a broader sense, and underestimating the significance of transnational social networks that encompass multiple nation-states.

Efforts to overcome methodological nationalism

Scholars from a range of disciplines have also proposed alternative methods to understand social phenomena in our transnational world that recognize the insufficiencies of methodological nationalism. Transnational approaches, such as the concept of transnational social fields proposed by Levitt and Glick Schiller in 2004, aim to address methodological nationalism by studying complex social relationships that exist across multiple borders and locations.[14] Researchers have created approaches that follow people, things, ideas, and activities beyond national borders.[15] There is an increasing focus on how migrants establish and maintain connections across national boundaries, creating transnational communities.[16]

Ulrich Beck is a prominent advocate of "methodological cosmopolitanism" school. Beck defends a point of view that takes into account both the interdependence of the world and the constraints of national systems.[17] The importance of global risks that goes beyond national boundaries have been highlighted by Beck.[18] Beck's theory of reflexive modernisation offers a conceptual framework for comprehending social transformation that extends beyond the boundaries of individual nations.[19]

In order to overcome this limitation of exclusively focusing on the national level, researchers developed multi-scalar methodologies. Glocalization, according to Robertson, sees the global and local as interconnected processes.[20] The field of European integration studies has developed categorisations that distinguish governance at subnational, national and supranational levels.[21] Sassen focusses on global cities and the importance of metropolitan centres as nodes in global networks.[22]

A more radical possibility mooted by some scholars is the "de-nationalization" of social science methodologies. Amelina and Faist (2012) present ways for de-nationalizing research approaches, including multi-sited ethnography and contrasting comparisons.[23] There's growing condemnation of the use of national and ethnic categories in research.[24] Scholars are examining forms of citizenship and belonging that transcend national boundaries.

Overcoming Methodological Nationalism: Challenges and Limits

Despite efforts to overcome methodological nationalism, obstacles exist, especially because to the persistent relevance of nation-states in social life. Nations-states remain the fundamental unit of political organization internationally. The bulk of legal and policy frameworks still function at a national scale. National borders are proliferating in the ways that we collect and organise statistical data.[25]

The current paradigm which centralises nation-state-focused thinking is deeply entrenched, posing substantial conceptual difficulties. Beck's (2002) concept of 'zombie categories'[26] demonstrates the persistence of obsolete ideas, whereas traditional disciplinary approaches that focus on nation-states resist change.[27] The concept of 'banal nationalism' prompts us how profoundly nationalistic ideolo-

gy is rooted in everyday life.[28]

The methodological challenges of transcending the standpoint of a nation-state are immense. Existing traditional comparison methodologies frequently contain nation-state-centric thinking[29] and collecting transnational data is difficult and expensive in terms of logistics.[30] It is a conceptually and empirically challenging task to determine adequate units of analysis beyond the nation-state level.[31]

Methodological nationalism is often prompted by institutional factors. Funding for research is normally a nationally partitioned affair.[32] The disciplinary structure can reproduce this inclination to think in nation-state terms.[33] Scholars could be tempted to apply techniques focused on a nation-state in their research, since they agree with providing policy-relevant findings.[34]

Efforts to overcome methodological nationalism can occasionally result in the emergence of novel reductionist approaches. In this way, there is a risk of overemphasising global processes and disregarding the national or local dynamics.[35] Critics argue that transnational methods overstate the frequency and importance of cross-border connections.[36] However, as Calhoun aptly argues these are some of the risks posed by methodological cosmopolitanism in terms of ignoring continuing inequalities and power dynamics.[37]

Relevance to Contemporary Global Challenges

The discussion of methodological nationalism and its implications for global challenges (e.g., revealed by the COVID-19 pandemic where public health measures focused on nations seem so limited), is a debate that remains in formation. Initial national responses, which included travel bans and quarantine measures were not able to delay the global transmission of this virus. Mitigating methodological nationalism, in this case, is about reminding ourselves that disease transmission has a transnational character; vaccinology needs global interchange. Moreover, we must understand the implications of global health disparities for pandemic outcomes in other countries and examine responses to economic consequences from a transnational angle considering trade networks as well as labour market chains.

Climate change surpasses national borders, although the actions taken to address it are generally limited to individual countries. In India, this tension is seen in the discourse around carbon mitigation and climate justice. To go beyond methodological nationalism in climate research and policy, it is necessary to examine India's involvement in global climate negotiations beyond its own national interests. This includes considering transnational civil society networks and global power dynamics, studying the effects of climate change on shared transboundary resources like river systems between India and its neighbouring countries, and analysing the interaction between global climate discourses and local adaptation strategies in various Indian contexts.

Digital technology and platforms has undermined the traditional ideas of state sovereignty and borders. The discussions in India around data localisation and digital sovereignty illustrate the conflict between national legislation and the intrinsically global nature of the digital world. To overcome methodological nationalism in this field, it is necessary to investigate the impact of global digital platforms on social and economic relationships across different countries, analyse the consequences of transnational data flows for privacy and security beyond national frameworks, and explore the ways in which digital diasporas establish new forms of transnational connection and identity.

Conclusion

The critique of methodological nationalism poses a continuous challenge to the thought of social scientists, urging us to scrutinise our assumptions and aim for more thorough insights into social phenomena. The examination of methodological nationalism continues to be essential for the advancement of social scientific knowledge as we navigate an ever more interconnected globe. Overcoming methodological nationalism poses substantial and complex obstacles in terms of concepts, methods, institutions, ethics, and practical aspects. This requires more than just the adoption of novel techniques or ideas, but a profound reconsideration of our comprehension and examination of social phenomena.

As Wimmer and Glick Schiller argue, it is challenging to overcome methodological nationalism because our perception of social reality is deeply rooted in thinking in terms of nation-states.[38] The ongoing challenges emphasise the importance of continuously reflecting on and critically engaging with our research practices. Nevertheless, these issues should not be perceived as insuperable barriers, but rather as chances for creativity and thoughtful contemplation. According to Amelina and Faist, the objective is not to discard the concept of the nation as a basis for research, but rather to create methodological approaches that can effectively consider the intricate interaction between national and transnational social connections.[39]

It will be essential in future to think through how such national systems have stayed with us, and transformed by global forces. In order to do so, it will be critical that we continue advancing our theoretical approach, improving the methodology through innovation and keeping challenging the assumptions embedded in our research practices. Second, it will need greater collaboration among different disciplines and countries for the development of authentic cross-border research methodologies.

India, with its long historical experience of heterogeneous societies and their political institutions provides unique difficulties for combatting methodological nationalism. Post-colonial legacy and aftermath of the nation building in India that ensued after independence has very well embedded this mindset firmly rooted to Nationhood, into academic as well as policy dialogues. The intricate interplay between the central government and states in India's federal structure poses challenges in transcending methodological nationalism. Regional political movements and identities frequently challenge the national framework, resulting

in a complex political landscape that is difficult to analyse without succumbing to methodological nationalism or regionalism.[40]

Furthermore, the linguistic diversity of India with 22 official languages, many other dialects and the very same makes it difficult for any research to go beyond national boundaries. Scholarly discussions in English and Hindi are more widespread, potentially reinforcing a national angle on various issues at the expense of regional perspectives.[41] There are constant territorial disputes with countries, particularly Pakistan and China which keeps the matter at forefront both in public and intellectual discourses making National borders as a sacred or inviolable line. The complexity of the geopolitical situation may create challenges in welcoming transnational perspectives, notably security studies or border region research.[42]

Despite these limitations, there are some promising prospects for social sciences in India that try to go beyond this methodological nationalism. The field of 'Indian diaspora studies', which was pioneered by scholars such as Brij Lal and Vijay Mishra has significantly enhanced our understanding of *Bhartiyata* (Indianness) in a transnational context. Their research investigates the construction and alteration of Indian identity in global settings.[43] Furthermore, scholars such as Ravinder Kaur also stress the limitations of only looking at nation-state-centric perspectives in order to understand transnational identities.[44] Sanjay Srivastava's study on globalisation and urban India highlights the necessity of transcending national boundaries in order to comprehend current social changes.[45]

The importance of eliminating methodological nationalism becomes especially evident while tackling current global concerns. The COVID-19 pandemic, climate change and digital technology are all examples that demonstrate the inadequacy of purely national lenses to understand and dealing with complex cross-border phenomena. In analyzing India's vaccine diplomacy at the peak of a pandemic, please note that it brings into light how national interest is intrinsically juxtaposed against global health necessity highlighting an intertwined nature of both domestic and international crisis management strategies.[46]

In the realm of climate change literature, Dubash (2019) illustrates the importance of transcending methodological nationalism. By examining India's climate policy in relation to both domestic political economy and global climate politics, Dubash demonstrates the interdependence of national and global processes.[47] Similarly, Gurumurthy and Chami (2022) advocate for a novel paradigm of digital sovereignty that transcends national boundaries, acknowledging the worldwide scope of digital ecosystems while attending to local requirements and rights.[48]

These illustrations make a point of the continuing relevance of methodologically national reference, and the need for investigative research and policy approaches which genuinely integrate both national features as well transnational processes within our globalising world. India cannot merely concentrate on its national interest in the backdrop of global challenges. This is important not just for academic reasons but to ensure the most effective governance and research in the 21st century.

In short, methodological nationalism remains the largest impediment for the social sciences and particularly in India. Nevertheless, these limitations are becoming more generally recognized and efforts to address them through new approaches offer hope for a higher level of sophistication in research that can have greater generalizability across the globe. In attempting to comeback with the erstwhile of these complexities, not only are they contributing value in terms scholarship but also enabling us a society tackle an increasingly much elaborate and intertwined future.

But, Methodological nationalism may be appropriate for studying societies with a limited amount of social diversity due to the lack of an international division on labor in society. However, this analytical framework falls short when large and diverse countries like India, find its place in the analysis. There is, of course the Eurocentrism found in methodological nationalism that constructs unsophisticated models - usually based on European experiences. Although the formative phase of nation-states in the Third World has been a major theme among scholars, we are now faced with problems somewhat different from those that have so far engaged our attention-issues defining this consolidationist era of nationalism. In the second wave, regional identities and local claims are asserted politically along with demands for representation and assimilation. Cisneros: Which means in the face of those complex reality methodological nationalism is being placed instead obsessed importance.

This is where the methodological nationalism of International Relations theory can fall apart - and in highly diverse societies, it does. This reading, which takes the nation-state as a priori unit of analysis, misses not only complex dynamic interplay between sub-national identities and transnational linkages in global forces at work upon societies today. Also methodological nationalism, with its implicit Eurocentric bias and insufficient relevance to non-Western societies. The historical experiences and social structures of European nations, which had strong influence on the evolution of this approach, may not fully capture what exist in postcolonial states or those with different patterns of state formation.

Methodological Nationalism as an approach for study in social sciences may be useful for societies with less social diversification. However, for societies with vast diversification in social, cultural, linguistic, and regional climate-related aspects, methodological nationalism would not be a praised analytical tool for social science research in a country like India. In fact, Methodological Nationalism has Eurocentric tendencies and therefore offers simplified models in social science research based on European experiences. Though the formative phase of nation-states

in third world countries initially gained sufficient attention, in the consolidating phase of nationalism, where regional identities and local demands gain political momentum with biases of representation and assimilation, methodological nationalism loses its preoccupied importance.

Future methodologies should encompass the intricate interaction between local, national, and global processes, recognising the enduring nature of national frameworks and their transformation by global influences. Continual theoretical advancement, innovative methodology, and critical examination of the underlying assumptions in our research procedures will be necessary for this. By undertaking this approach, we can aspire to cultivate more thorough and refined insights into social phenomena that accurately mirror the complexities of our interconnected world.

References

1. Martins, H. (1974). Time and theory in sociology. In J. Rex, Approaches to sociology: An introduction to major trends in sociology (pp. 246–294). Routledge and Kegan Paul. p.246-294.
2. Smith, A. D. (1979). Nationalism in the Twentieth Century. Canberra: Australian National University Press. p.191.
3. Patel, S. (2006). Beyond Binaries: A Case for Self-Reflexive Sociologies. Current Sociology, 54(3), 381-395.
4. Wimmer, A., & Glick Schiller, N. (2002). Methodological nationalism and beyond: Nation-state building, migration and the social sciences. Global Networks, 2(4), 301-334.
5. Wimmer, A., & Glick Schiller, N. (2002). Methodological nationalism and beyond: Nation-state building, migration and the social sciences. Global Networks, 2(4), 301-334.
6. Keck, M. E., & Sikkink, K. (1998). Activists beyond Borders: Advocacy Networks in International Politics. Cornell University Press. p.210-218.
7. Gereffi, G., Humphrey, J., & Sturgeon, T. (2005). The governance of global value chains. Review of International Political Economy, 12(1), 78-104.
8. Chernilo, D. (2006). Social theory's methodological nationalism: Myth and reality. European Journal of Social Theory, 9(1), 5-22.
9. Chernilo, D. (2006). Social theory's methodological nationalism: Myth and reality. European Journal of Social Theory, 9(1), 5-22.
10. Wagner, P. (1994). A Sociology of Modernity: Liberty and Discipline. London: Routledge. p.123-154.
11. Glick Schiller, N. (2010). A global perspective on transnational migration: Theorising migration without methodological nationalism. In R. Bauböck & T. Faist (Eds.), Diaspora and transnationalism: Concepts, theories and methods (pp. 109-129). Amsterdam University Press.
12. Malkki, L. H. (1995). Refugees and Exile: From "Refugee Studies" to the National Order of Things. Annual Review of Anthropology, 24(1), 495–523.
13. Glick Schiller, N., Çağlar, A., & Guldbrandsen, T. C. (2006). Beyond the ethnic lens: Locality, globality, and born-again incorporation. American Ethnologist, 33(4), 612-633.
14. Levitt, P., & Glick Schiller, N. (2004). Conceptualizing simultaneity: A transnational social field perspective on society. International Migration Review, 38(3), 1002-1039.
15. Amelina, A., & Faist, T. (2012). De-naturalizing the national in research methodologies: Key concepts of transnational studies in migration. Ethnic and Racial Studies, 35(10), 1707-1724.
16. Vertovec, S. (2009). Transnationalism. Routledge. p.13.
17. Beck, U. (2006). Cosmopolitan vision. Polity. p.75-80.
18. Ulrich Beck. (2008). World at Risk: The New Task of Critical Theory. Development and Society, 37(1), 1–21.
19. Beck, U., Giddens, A., & Lash, S. (1994). Reflexive modernization: Politics, tradition and aesthetics in the modern social order. Stanford University Press.
20. Robertson, R. (1995) Glocalization: Time-Space and Homogeneity-Heterogeneity. In: Featherstone, M., Lash, S. and Robertson, R., Eds., Global Modernities, Sage Publications, London, 25-44.
21. Hooghe, L., & Marks, G. (2001). Multi-level governance and European integration. Rowman & Littlefield. p.02.
22. Sassen, S. (2006). Territory, authority, rights: From medieval to global assemblages. Princeton University Press. p.301.
23. Amelina, A., & Faist, T. (2012). De-naturalizing the national in research methodologies: Key concepts of transnational studies in migration. Ethnic and Racial Studies, 35(10), 1707-1724.
24. Brubaker, R. (2002). Ethnicity without groups. European Journal of Sociology, 43(2), 163-189.
25. Favell, A. (2003). Integration nations: The nation-state and research on immigrants in Western Europe. Comparative Social Research, 22, 13-42.
26. Beck, U. (2002). The terrorist threat: World risk society revisited. Theory, Culture & Society, 19(4), 39-55.
27. Wimmer, A., & Glick Schiller, N. (2002). Methodological nationalism and beyond: Nation-state building, migration and the social sciences. Global Networks, 2 (4), 301-334.
28. Billig, M. (1995). Banal nationalism. Sage.

29. Amelina, A., & Faist, T. (2012). De-naturalizing the national in research methodologies: Key concepts of transnational studies in migration. Ethnic and Racial Studies, 35(10), 1707-1724.
30. Levitt, P., & Glick Schiller, N. (2004). Conceptualizing simultaneity: A transnational social field perspective on society. International Migration Review, 38(3), 1002-1039.
31. Pries, L. (2005). Configurations of geographic and societal spaces: A sociological proposal between 'methodological nationalism' and the 'spaces of flows'. Global Networks, 5(2), 167-190.
32. Favell, A. (2003). Integration nations: The nation-state and research on immigrants in Western Europe. Comparative Social Research, 22, 13-42.
33. Wimmer, A., & Glick Schiller, N. (2002). Methodological nationalism and beyond: Nation-state building, migration and the social sciences. Global Networks, 2(4), 301-334.
34. See, Scholten, P. (2011). Framing immigrant integration: Dutch research-policy dialogues in comparative perspective. Amsterdam University Press.
35. Chernilo, D. (2011). The critique of methodological nationalism: Theory and history. Thesis Eleven, 106 (1), 98-117.
36. Waldinger, R. (2015). The cross-border connection: Immigrants, emigrants, and their homelands. Harvard University Press.
37. Calhoun, C. (2008). Cosmopolitanism in the modern social imaginary. Daedalus, 137(3), 105-114.
38. Wimmer, A., & Glick Schiller, N. (2002). Methodological nationalism and beyond: Nation-state building, migration and the social sciences. Global Networks, 2(4), 302.
39. Amelina, A., & Faist, T. (2012). De-naturalizing the national in research methodologies: Key concepts of transnational studies in migration. Ethnic and Racial Studies, 35(10), 1708.
40. Palshikar, S. (2008). Challenges before the Comparative Method in India. Studies in Indian Politics, (2), 227-236.
41. Ramanathan, V. (2005). The English-Vernacular Divide: Postcolonial Language Politics and Practice. Multilingual Matters. p.01-20.
42. Behera, N. C. (2016). The Kashmir Conflict: Multiple Fault Lines. Journal of Asian Security and International Affairs, 3(1), 41-63.
43. Lal, B. V. (2006). The Encyclopaedia of the Indian Diaspora. University of Hawaii Press.
44. Kaur, R. (2012). Nation's Two Bodies: rethinking the idea of 'new' India and its other. Third World Quarterly, 33(4), 603-621.
45. Srivastava, S. (2012). Sexuality Studies. Oxford India Short Introductions. Oxford University Press.
46. Roy, P., & Bardhan, P. (2022). India's Vaccine Diplomacy: The Interplay of Domestic Politics and Foreign Policy. Journal of Asian Public Policy, 15(3), 427-442.
47. Dubash, N. K. (2019). India in a Warming World: Integrating Climate Change and Development. Oxford University Press.
48. Gurumurthy, A., & Chami, N. (2022). The Digital Planet: A New Framework for Digital Sovereignty. IT for Change.

*****

Exploring the Role of the State in Fostering Social Justice amidst Caste Inequality in India

-Dr Pankaj Deep
Faculty Department of Political Science and IR,
Gautam Buddha University, Greater Noida.

-Swarni
Research Scholar,
Department of Political Science and IR,
Gautam Buddha University, Greater Noida.

Abstract

The research paper delves into the multifaceted concept of justice and its historical evolution, emphasizing its significance in the context of society's realities. The paper explores how justice, once devised and preserved by the elite, has gradually incorporated diverse voices, including those of marginalized groups like Dalits in India. By analyzing caste as a marker of subjugation, the paper sheds light on the structural marginality faced by Dalits and how deeply ingrained patterns of inequality perpetuate systemic injustices. The research investigates the deficit of state delivery of social justice and how this has led to Dalits experiencing second-class citizenship. The paper discusses caste as a contextual marker of subjugation, the evolution of social justice movements, the role of Ambedkar in shaping social justice provisions, and justice as a state-sponsored endeavor. By illuminating the challenges and opportunities associated with achieving social justice for Dalits in India, the paper emphasizes the urgent need for the state to actively work toward creating a just and inclusive society where Dalits are co-equal citizens.

Keywords, Social Justice, Dalit, Marginalised, State, Caste Inequality

Introduction

The concept of justice is intricate and dynamic, evolving through human constructs, social expressions, and collective endeavors. It transcends static definitions, requiring active pursuit within the context of societal realities. Historically, justice was often shaped by and for the elite, excluding marginalized groups from the definition and attainment of justice. Acknowledging justice beyond legal confines, it must engage with lived experiences (Guru & Sarukkai 2018), emphasizing the political nature of its interpretation. Defining justice necessitates prioritizing free discourse, democratic values, and challenging assumptions to ensure inclusivity beyond institutional structures.

Dalits experience what is referred to as "structural marginality" (Powell, 2013) or "systemic-marginality" (Mehretu et al. 2000, 91), which denotes the institutional discrimination they face due to their disadvantaged position within the societal structure (Jong 2008, 243). These structural inequalities perpetuate systemic injustices that marginalize specific groups, particularly in the context of caste, resulting from deeply ingrained patterns of inequality. Consequently, these injustices continue in a self-perpetuating cycle, exacerbating the marginalization experienced by Dalits. The paper highlights the deficit of state delivery of social justice, which is reflected in the social realities incorporated in the paper though the analysis of available government data, which has resulted in Dalits experiencing second-class citizenship in India. It contends that the state consciously avoids and disregards the pursuit of social justice, aggravating the marginalization endured by Dalits. The paper underlines the critical need for the state to recognize and address caste-based inequalities and to actively fulfill its obligations towards marginalized communities, particularly Dalits, in order to establish a more equitable and inclusive society. This aligns with the mandate of the state, as expressed in the Directive Principles of State Policy in the Constitution of India.

Section I: Exploring Caste as a Contextual Marker of Subjugation in India

Pre-independent India's social fabric was marked by a deeply rooted caste system perpetuating hierarchy and inequality, restricting social justice. Rooted in ancient texts like the Manusmriti, the caste system operationalized ideas of varna, karma, and dharma (Jodhka, 2016: 1). The Hindu hierarchy aimed to subordinate Dalits, preserving Brahminical superiority (Guru, 2007: 230) through principles of graded inequality. This system, imposing lifelong disabilities and degrading occupations on lower castes, inflicted

profound dehumanization (Raghvendra, 2016: 25). Hinduism perpetuated privilege, fostering inequity, thus relinquishing the duty of a "functional religion" (Pope, 1975: 364). The caste system creates a hierarchy (Dumont, 1974), resulting in a lack of fraternity in the Hindu community. This absence of fraternity hinders communal engagement, impeding the formation of a cohesive and self-aware society among Hindus, resulting in limited participation in collective endeavors (Ray, 1998: 486).

The identity-based subjugation of Dalits by institutions, encompassing both the government and civil society, has a substantial influence on their marginalized status, hindering their access to equitable chances for social and economic advancement. This systematic prejudice is visible in many facets of social life, including labour market inequities and resource distribution (Thorat & Newman, 2010). Despite constitutional protections and affirmative action measures designed to promote social inclusion, Dalits continue to face discrimination, exclusion, and deprivation. Reservation policies, designed to uplift Dalits, inadvertently foster a damaging narrative, evident in cases like Bal Mukund at AIIMS who, labelled as the 'quota guy,' tragically succumbed to harassment, highlighting systemic issues (Karthikeyan, 2011). Similar tragedies befell Rohit Vemula and Payal Tadwi, exemplifying a pervasive casteist mindset (Maurya, 2018; Nasim, 2019), exposing the deep-seated caste-based discrimination prevailing in India.

The upper social echelons seek to maintain ritual purity and dominance by shunning public institutions for Dalits, viewing their presence as sociologically and ritually harmful. Non-Dalit politicians and bureaucrats display disdain for social welfare agencies via various ways such as purification rituals performed by judges and academics after Dalit predecessors(Hutton, 1963; Ovichegan, 2015) or refusing to sit with a Dalit sarpanch (Guru, 2011: 105). These practices prompt Dalit retaliation through social justice movements. The incidents collectively reveal entrenched caste-based notions across diverse social contexts, perpetuating segregation and challenging India's pursuit of true social equality, which will be further discussed in the subsequent section.

Section II: Social Justice Movements in India

Efforts to challenge "Brahmanical supremacy" have echoed throughout Indian history (Srinivas, 1962). Post-independence, social movements can be categorized into class-based endeavors for working and marginalized classes and identity-based movements combating discrimination rooted in caste, tribe, and gender (Sugunakararaju, 2012: 237). The anti-caste movement in the 1920s, particularly the Dalit movement, marked a pivotal challenge to the traditional Hindu caste system (Omvedt, 2014: 107) gaining momentum in regions like Bombay Presidency and Nagpur (Ibid.: 109) with support from Justice Party and Non-Brahman Party. However, certain scholars believe that 'radical' social justice movements, such as the temple entry movement by Ambedkar "widened the gap rather than bridging it" (Guru, 2007: 230), as it led to the creation of separate 'opportunity structures', such as the Patit Pawan temple, which was established "for the purpose of recruiting low-caste militant following for the RSS" (Contursi, 1989: 444) and came to be related exclusively to Dalits (Khairmode, 1988: 214). In the 1970s, "new social movements" emerged, diversifying their organizational base to include caste, gender, and socio-economic categories, responding to discontents of Indian modernity and challenging hierarchical foundations (Omvedt, 1993: x; Oommen, 2004: 247).

India has witnessed various social movements for peasants, tribals, Dalits, underprivileged castes, women, environment, religious reform, human rights, industrial workers, and students, contributing to institutionalized social conflicts prioritizing institutionalization over radicalization (Singharoy, 2010: 167-168). The state's response, determining the success or failure of movements, varies based on their perceived threat to state legitimacy (Shah 2002, 23). Movements advocating fundamental societal restructuring, like the Naxalite movement (Dixit 2010), face ruthless repression, while reformatory movements are accommodated. In the context of Dalit movements in India, the state's response to the struggle for recognition and inclusivity has been limited. Dominated by upper-strata social elites, the state often perceives Dalit movements as threats to existing power structures and social hier-

archies. Instead of embracing these movements for positive change, the state adopts a defensive stance, leading to repression, neglect, or co-optation, thus hindering the establishment of a more inclusive social fabric.

Section III: Role of Ambedkar in Paving way for Social Justice in Indian Constitution

Ambedkar playeda pivotal role by paving the way for liberal constitutional ideals in India, ensuring they prevailed over other ideological notions, prior to the Constituent Assembly's formation in 1946, which were instrumental in shaping the 1950 constitution of independent India (Chakrabarty, 2016: 134). He launched his struggle for political representation and the defense of disadvantaged groups in order to advance his unrelenting pursuit of a just and equitable society. He made significant contributions to a number of committees and conferences, including the Indian Education Commission, also known as the Hunter Commission, which was created to "enquire into the working of the existing system of public instruction and to the further extension of that system on a popular basis" (Report of the Indian Education Commission, 1883: 1-3).

Ambedkar departed from classical liberalism to achieve liberal objectives as "unless the state was roused to and empowered to intervene, liberal ends would not be achieved, and individuals would remain trapped in oppressive traditions and exploitative relations" (Ibid.: 74). He defended the interventionalist state, unlike classical liberals, using it as a tool to "(make it) work for the underprivileged" (Bayly, 2011: 305). The Indian setting, however, demonstrated a stark contrast to this notion, as non-Dalits were entrusted with the responsibility of representing Dalits, which perpetuated political marginalization. This gross infringement underlined the pressing need for equitable and inclusive political representation and served to highlight the deeply ingrained socio-economic disparities. Ambedkar reiterated in front of the committee, stating it is "not enough to be electors only. It is necessary to be law-makers". If not, then those "who can be the law-makers will be masters of those who can only be electors" (AWS,1979: 251).

The inception of injustice can be traced back to the very conception of justice itself, where the pursuit of justice was taken as a "policy alternative and less as a serious theoretical challenge". This is particularly evident in the context of the nationalist imagination of India, where the conception of political justice recognized the presence of caste-based injustice. Nationalists prioritized political justice, leading to opposition towards alternative conceptions proposed by liberal-minded nationalists, which comprehensively addressed the caste question. This was done despite Ambedkar's warning, where he stated that,"On the 26th of January 1950, we are going to enter into a life of contradictions. In politics we will have equality and in social and economic life we will have inequality" (Government of India, 2014: 979).

Section IV: Role of State in Establishing Justice

Justice, conceived as a gift without expectations (Litowitz, 1997) and a duty to others has contemporary manifestations in two distinct categories (Fraser, 1989). The first, rooted in egalitarianism, emphasizes resource redistribution for a fairer society, a dominant framework for over a century. However, challenges from free-market ideologies have posed hurdles to this approach. The second category focuses on the "politics of recognition," seeking a society that values differences and treats individuals equally, irrespective of conformity to majority norms.

Applying Young's 'five faces of oppression' to Dalits in India reveals multifaceted injustice. Firstly, they endure exploitation through degrading occupations and exploitative labor conditions, including bonded labor and forced prostitution (Narula 2008, 274). Secondly, they face political marginalization, holding unimportant portfolios and experiencing academic bias (Jose et al., 2013: 159; Guru, 2000: 111). Thirdly, Dalits endure powerlessness despite constitutional equality, facing social exclusion by "clean castes" (Oomen, 1984: 52). Additionally, cultural imperialism leaves Dalits simultaneously "othered" yet "invisible" (Young, 2000: 59). Lastly, caste-based vi-

olence in India represents a longstanding routinization of violence (Loomba, 2016: 220). The Dalits' experience encapsulates the complex and entrenched nature of oppression, highlighting the urgency of addressing these multifaceted dimensions of injustice.

Despite the Indian Constitution's ambitious aim to empower victims of the caste system, the envisioned change remains largely unrealized (Dumont, 1988: 218). The constitutional ideals, while bringing societal shifts, failed to achieve the necessary societal transformation (Dumont, 1988: 218). The Indian state's shortcomings hindered the full implementation of social rights (Chandhoke, 2017: 88). Ambedkar stressed that political power alone couldn't remedy the ills of the Depressed Classes; true salvation lies in social elevation, a responsibility he assigned to the Indian state (AWS, 1987: 58). In India, establishing social justice calls for more than merely the state's application of laws and regulations. It demands a more fundamental adjustment in social expectations and values. It entails combating ingrained preconceptions, discriminatory behaviors, and societal structures that uphold inequality and marginalization.This preservation of existing power structures and economic hierarchies often takes precedence over the equitable redistribution of resources, which results in stifling of the state's commitment to fulfilling its constitutional obligations.

Conclusion

Social justice has a long history predating Indian independence. Visionaries like Shahuji Maharaj and Periyar, among others, have fought lengthy battles for equality and social transformation. While Ambedkar spearheaded the mission to bring their vision into legislation, it is imperative to recognize that he was supported by the constituent assembly, representing the collective aspirations of newly independent India. As a result, the Indian Constitution became a tapestry woven with the principles of justice, liberty, equality, and fraternity. However, such is not the case. Rampant injustice persists in Indian society, particularly towards Dalits, who are still viewed as second-class citizens. Despite constitutional protections and affirmative action measures designed to promote social inclusion, Dalits continue to face discrimination, exclusion, and deprivation, which showcases the failure of agency factors in terms of realizing the text into social reality.

The state has thus failed to bridge the deficit of delivery of social justice and protection of marginalized sections, which has resulted in the perpetuation of an institutionalized system wherein the Dalits are systematically marginalized and face various forms of injustices, including social exclusion due to the ingrained casteism in Indian social fabric, economic exploitation due to lack of vocational mobility, and consistently experience caste-based prejudice in every aspect of life, including employment, education, and access to public institution and services. Rather than actively working towards dismantling the caste system and addressing the socio-economic disparities, the state often fails to take decisive action. This inaction allows for discriminatory practices and violence against Dalits to continue with impunity. The state's reluctance to confront and challenge the deeply ingrained caste-based prejudices and power structures advances the perpetuation of injustice and the denial of equal opportunities and rights for Dalits. The state must strive to foster an inclusive society where Dalits are treated as equals, with their rights and dignity fully recognized. Achieving this transformative change necessitates the state's unwavering commitment, the formulation of comprehensive policies, and the robust implementation of these measures. Only through such concerted efforts can the state begin to redress the historical injustices and systemic discrimination that have plagued Dalits, thereby forging a path toward a more equitable and just society in India.

References

Ambedkar, Bhimrao Ramji. 1979. *Dr. Babasaheb Ambedkar Writings and Speeches*. Edited by Vasant Moon. Third. Vol. I. 17 vols. Dr. Ambedkar Foundation.

Chakrabarty, Bidyut. 2016. "BR Ambedkar and the History of Constitutionalizing India." *Contemporary South Asia* 24 (2): 133–48.

Chandhoke, Neera. 2017. "The Antecedents of Social Righta in India." In *The Indian Constituent*

Assembly: Deliberations on Democracy, by Udit Bhatia, 83–102. Taylor & Francis.

Dumont, Louis. 1974. *Homo Hierarchicus: The Caste System and Its Implications.* Translated by Mark Sainsbury. Second. University of Chicago Press.

Fraser, Nancy. 1989. *Unruly Practices: Power, Discourse, and Gender in Contemporary Social Theory*. University of Minnesota Press.

Government of India. 1883 "The Report of the Indian Education Commission." Calcutta: Superintendent of Government Press.

Guru, Gopal.2011. "Liberal Democracy in India and the Dalit Critique." *Social Research* 78 (1,): 99–122.

Guru, Gopal, and Sundar Sarukkai. 2018. *The Cracked Mirror: An Indian Debate on Experience and Theory*. Oxford University Press.

Hutton, John H. 1963. *Caste in India: Its Nature, Function, and Origins*. 4. ed. Oxford University Press.

Jodhka, Surinder S. 2019. *Caste in Contemporary India*. 2nd ed. Routledge.

Jong, M.J. 2008. "Discrimination." In *Enclyopedia of Social Problems 1 & 2*, by V. N. Parrillo. Thousand Oaks, California: SAGE Publications.

Jose, Justin Pallickal, Anvar V. Sadath, and Vinod Chakkittakudiyil Varghese. 2013. "Is Dalit Identity a Cause or an Effect of Social Marginalization?: A Preliminary Discourse." *Voice of Dalit* 6 (2): 159–80.

Khairmode, C B. 1988. *BabasahedAmbedkarabche Charitra*. Vol. 9. Pune: Sugawa Publications.

Litowitz, Douglas. 1997. *Postmodern Philosophy and Law.* University of Kansas Press.

Loomba, Ania. 2016. "The Everyday Violence of Caste." *College Literature* 43 (1): 220–25.

Mehretu, Assefa, Bruce Wm. Pigozzi, and Lawrence M. Sommers. 2000. "Concepts in Social and Spatial Marginality." *GeografiskaAnnaler. Series B, Human Geography* 82 (2): 89–101.

Narula, Smita. 2008. "Equal by Law, Unequal by Caste: The 'Untouchable' Condition in Critical Race Perspective." *Wisconsin International Law Journal* 26: 255–343.

Nasim, Farhat. 2019. "Dr Payal Tadvi Suicide Case: 2 Accused Doctors Exonerated by Maharashtra Human Rights Panel." December 31, 2019.

Omvedt, Gail. 2014. *Dalits and the Democratic Revolution: Dr Ambedkar and the Dalit Movement in Colonial India*. SAGE Publications.

Oommen, T. K. 2004. *Nation, Civil Society and Social Movements: Essays in Political Sociology*. SAGE Publications India.

Ovichegan, Samson K. 2015. *Faces of Discrimination in Higher Education in India: Quota Policy, Social Justice and the Dalits*. 1st ed. Routledge.

Powell, John A. 2013. "Deepening Our Understanding of Structural Marginalization." *Poverty & Race* 22 (5).

Raghavendra R.H. 2016. "Dr B.R. Ambedkar's Ideas on Social Justice in Indian Society." *Contemporary Voice of Dalit* 8 (1): 24–29.

Ray, B. N. 1998. *Tradition and Innovation in Indian Political Thought*. Delhi: Ajanta Publishing.

Srinivas, Mysore Narasimhachar. 1962. *Caste in Modern India*. Asia Publishing House.

Sugunakararaju, S.R. T.P. 2012. "Social Movements and Human Rights in India: An Overview." *The Indian Journal of Political Science* 73 (2): 237–50.

Thorat, Sukhadeo, and Katherine S. Newman, eds. 2010. *Blocked by Caste: Economic Discrimination in Modern India*. New Delhi: Oxford University Press.

Young, Iris Marion. 1990. *Justice and the Politics of Difference*. Paperback Reissue 2011.Princeton, N.J: Princeton University Press.

*****

Mapping Case Study Method for Teaching Communicative English

-Abnish Singh Chauhan
M.A., M.Phil., Ph.D.
Professor (English) & Principal, BIUCHJ
Bareilly International University
Bareilly–243006 (U.P.) India
E-mail: abnishsinghchauhan@gmail.com

Abstract

Traditional teaching places too much emphasis on the teacher's role in the classroom setting, where the learners, most of the time using one-way communication, observe and listen to the teacher without giving any response or involving in productive interaction, and eventually acquire rote learning rather than student-centered and task-based learning of communicative English. In such a situation, the set curriculum is only completed in the classroom for achieving course outcomes and resultantly hasty assessment is made to complete the quorum. Therefore, an innovative method, especially case study, for teaching communicative English is strongly desired in the present time for sharpening communicative abilities of the learners. If it is practised, the teachers can get opportunity to upgrade their teachings and provide platforms to the learners to apply their communication skills to real-world scenarios through task-based teaching-learning activities in English. The case study method in the communicative English classroom helps the learners learn practical aspects of the subject, while also improving their ability to gather or create and discuss suitable cases, participate in two-way communication, comprehend genuine concepts, and absorb useful vocabulary, sentence patterns and grammatical structures. The method, when implemented in the CE classrooms, becomes highly beneficial to the learners as well as the teachers in promoting active learning, augmenting group dynamics, encouraging rational and emotional discussions, imbibing communication skills, enhancing critical thinking and other personality traits. Hence, the results of this study may be of value to the institutions in India and other countries of the world as well.

Keywords: Communicative English, CEC– Communicative English Classroom, Case Study Method, Case Study, Teaching Method (Teaching Technique), TBL–Task-based Learning

1.Introduction

"Cases are stories with a message. They are not simply narratives for entertainment. They are stories to educate" (Clyde Freeman Herreid 41). According to this definition, a case study is both— a narrative and a teaching method to educate the learners. But here the question may arise— 'What happens in the story that can educate the learners?' The answer to this question is that stories have persuasive and motivational messages to capture the attention of the learners. Therefore, valuable and effective stories, including songs, poems, news reports, newspaper articles, pictures, online videos, discussions, dialogues, feedbacks, examples, samples or situational patterns, could be used as cases to make it easier for the learners to learn about and analyze the real-world experiences. Jeremy Hsu (2008) opines that "perhaps because theory of mind is so vital to social living, once we possess it we tend to imagine minds everywhere, making stories out of everything."

In today's education system of India, there are some challenges in teaching communicative English in the classroom— neglecting the purpose of teaching communicative English, traditional method of teaching, lack of effective teachers, the increasing attraction of students and teachers towards the digital platforms and the distraction generated by them, teaching and learning for completing the syllabus and qualifying the examination, lack of sufficient time for study and teaching due to the increasing usefulness of teachers in clerical works, increasing number of non-academic activities in the institutions, non-attendance of students and lack of command over communicative English. In such a situation, classroom teaching and learning has become monotonous and less effec-

tive, significantly hurting creativity and productivity. Consequently, the questions arise: how the students should do their study and how the students should be taught communicative English by the teachers in the classroom. Hence, it seems appropriate to use case study method to teach communicative English, which will attract the attention of the students, awaken their interest in listening, speaking, reading and writing activities, cultivate their critical thinking and develop their specific qualities and abilities to learn and grow in the fast changing world of new technologies.

2.Mapping Case Study Method

Mapping is the process or activity of making an outline or creating an image that conveys information; whereas case study is a method of gathering, recording and presenting a case for mutual learning. The case study method is also referred to as "a case, case method" (Inna Popil 205). The term was first used by the Harvard faculty in the 1870s and "it has been used for many years in business and law schools at Harvard University" (Mahmoud A. Kaddouro 7). A case study is one of the most widely used research methods in the fields of humanities and social sciences. Concomitantly, it is a way of teaching that encourages the learners to be involved in the learning process by having discussions and practicing critical thinking, communication skills and group dynamics. A teacher can use this technique to teach communicative English through a real-world or imaginary situation in which the learner is presented with a problem and is motivated to find a solution. This technique, since its inception, has also been adopted by some other disciplines due to its progressive nature. Nitin Nohria (2021) proclaims that "cases teach students how to apply theory in practice and how to induce theory from practice. The case method cultivates the capacity for critical analysis, judgment, decision -making, and action."

3.Communicative English

Communicative English is the act of sharing or exchanging information between two parties using the tool of English language. Learning communicative English is not just about getting good grades in the examination, becoming eligible for the employment and fulfilling career aspirations. Instead, it needs to support the learners in getting command over productive and receptive skills— listening, speaking, reading and writing (LSRW) for effective communication with a variety of individuals from various spheres of social and professional life. Furthermore, communicative English learning gives learners confidence and courage to express their ideas about various streams of knowledge and wisdom. "Achieving success in the workplace is closely associated with the ability to communicate effectively, both in the workplace and with outsiders" (Meenakshi Raman and Prakash Singh 3). Consequently, the teachers can play an important role in assisting the learners in acquiring proficiency in communicative English through the case study method.

4.Literature Review

This research paper proposes a new way to look at the issues faced by the learners of communicative English as they are not using practical approach for learning the course. The findings indicate that appropriate teaching techniques, motivation, and emotional balance could play a significant role in the learning process of communicative English. Hence, it is important to figure out what the learners need, work on their needs and provide them instructional material to create a successful teaching and learning environment in the classroom. In view of that, the paper looks at the need of case study method for teaching (and learning of) communicative English effectively.

Thousands of teachers of various subjects around the world have been using case study method for many years. This learner-oriented method allows students to understand with the cases discussed in the communicative English classrooms. In addition, the students remain engaged in this activity-based learning model, which helps them develop their thinking capacity, discussion ability and communication skills for seeking information, getting conclusions, forming opinions or making decisions. JoAnn (Jodi) Crandall (2000) remarks, "Teaching case studies provides a means of bridging theory and practice" (41). Manas Ranjan Tripathi (2009) writes, "Case method is a form of qualitative and descriptive research; it looks intensely at an individual, a group or event and draws conclusion in a specific context" (660). William Hatcher et al. (2018) note

that a "good case is one that achieves its learning objectives by means of a story and a critical analysis of the situation" (276).

The case study method encourages students to engage in discussions that allow them to observe, analyze, discuss, ask question, make assessment, connect to the inherent ideas and use ideas to solve the problems and present their point of view convincingly. Since the method has been included in the teaching methodology of humanities and social sciences, it inspires the students to practice and improve their communication skills in English language. Moreover, the case study method promotes the professional development of the teachers and accelerates academic growth of the students as well. This method works effectively if the teachers and the learners work together to break up the monotony and to enjoy creative learning and capability development during the sessions of communicative English. Similarly, when the case study is applied to classroom teaching, it turns the teachers as well as the students into the participants of the interactive classroom activity and thus it leads the activity to the desired outcomes.

Practical Application of Case Study Method

a.**Inception**

Studies have demonstrated that doing case study in smaller or larger groups considerably enhances students' thinking capacity and perceptual learning. It indicates two things— first, they start thinking on a higher level than just remembering facts or just repeating what someone tells them during the communication, and then they perceive right message through the process of selecting, organizing, and interpreting information received through their case study. It all comes down to how well the teachers present cases for study, infuse knowledge, motivate the students for active participation, assess their performance and guide them for further study.

Before the session starts, the teachers need to figure out what is the purpose of teaching communicative English and accordingly what kind of concept they should teach to the students. Subsequently, they need to decide what kind of learning the students want to get out of it. For example, if the teachers want their students to do well at business letter writing, they need to give them the instructions and two different case studies that show what they did well and what they didn't do. The teachers also need to give them necessary details or content for the case studies so that they can do their communication well.

b. Procedure

i.Preparation of the Case

Teachers have two options when it comes to preparing necessary details or content for case studies— they can do it themselves or they can choose the right content or data from some authentic learning resources. Either way, they have to make sure the content is useful and effective and fulfills the needs of the learners.

ii.Topics to Write a Case Study

A case study is more than just a report on a project or product. It is a narrative about a problem and its solution. That's why the teachers are required to select or create and teach case studies, identifying problems that are relevant to the subject taught, interesting and useful as per the educational need and good enough to develop skills and expertise of the learners in the CE classroom. It is relatively easy, especially for the teachers of communicative English, to produce original case studies that may be related to current topics of socio-cultural importance and intended to facilitate the dissemination of knowledge and comprehension of the issues. They can also gather some explicit topics for their case studies from various online or offline resources for learning communication skills, such as— 'A Comprehensive Reading of the Text', 'Communication Problems and Mistakes in English', 'A Job Application of a Professor', 'A Reader's Letter to the Editor', 'A Tale of an Interviewee', 'Developing Presentation on Goal-setting', 'A Conversation on the Usage of Whatsapp' or any other relevant topic of personal or professional world for sharing ideas or information. Omar Rabeea Mahdi et al (2020) write, "Similarly, case studies facilitate interdisciplinary learning and can be used to highlight connections between specific academic topics and real-world societal issues and applications" (297-98).

iii.Shaping the Environment

I. The teachers are required to make sure that their classrooms are set up for the kind of class they want. They should start by rearranging the room

so that each learner can be involved. They should also think about how many student chairs they need and if these chairs are movable into a "U" shape so that the learners can see and communicate with one another.

iv.Presentation of the Case

The teachers are required to create and manage groups of the learners, introduce the topic of the relevant case, present background of the study, explain difficult words and phrases, elucidate sentence patterns and grammatical structures, elaborate the conceptual aspects of the content and communicate the problem areas and learning objectives to the learners through narrative form, problem-solving technique, links to source material or group or class discussions so that they can understand the meaning and spirit of the case given to them. Kevin M. Bonney (2015) remarks, "This has been reported to increase student motivation to participate in class activities, which promotes learning and increases performance on assessments." It clearly reveals that in a classroom setting, case studies typically emphasize speaking and listening exercises, reading comprehension and writing activities for developing mutual understanding.

v.Learner's Participation

Students naturally listen to their teachers considerately and then start reading case studies attentively, as their goal is to learn the process of receiving a case, conduct the discussion effectively and respond accordingly in the communicative English classroom. For example, at the beginning of each class, the teachers outline the objectives of the study in order to have an open and engaging discussion in which all participants are involved and advise the students to jot down needful suggestions for assisting the groups of students in achieving these objectives. The suggestions could be orally communicated, displayed on the classroom board or distributed to all students in the class. When the learners feel that they are involved from the outset, they are more likely to work together to increase participation and learning outcomes. This is where the learning process takes place. By understanding the content through case study method, the learners can become proficient and assertive in English communication.

vi.Making Assessment

The other important part of using case study method in the classroom of communicative English is to evaluate the performance of the students and give the feedback to them. Because it instructs students on how to read, argue and understand the content, how to think about what they have read, listened, discussed, or written and how to analyze it, interpret it, evaluate it, reflect on it, and find a productive and effective solution to the problem. However, prior to the process of communication or role-play performance, the teachers must explain to students how rubrics determine their performance assessment and how the feedback is given on the basis of their performance. Hence, the combined efforts of the teachers and the students can bring deeper learning outcomes.

vii.Acting as the Facilitator

The teachers, who use case study method in the classroom of communicative English, are actually working as the facilitators in order to assist, direct and provide support to the learners in their educational journey. Acting as the facilitators, the teachers must concentrate exclusively on providing the knowledge of communicative English to the learners and then assess their proficiency. This approach is highly motivating for the learners and encourages them to be more communicative. Furthermore, the teachers must observe the discussion, provide feedback and suggest strategies to enhance student performance. When teaching methodically, this process helps to break down the barriers of non-native learners of communicative English.

viii.Recognizing Learners Contribution

In order to ensure that the learners are actively engaged in the activity, it deems fit to recognize the contribution of the learners and highlight their shared ideas for appreciating their efforts. The teachers should also express that they have taken into account and valued the input of the learners by referring back to the statements from a previous discussion. During this process, they can take notes of significant points, make some specific records of what worked well and determine those areas, which still need improvement.

6.Advantages

The case study method helps the students learn by taking part in the learning process by gathering information, using it to solve problems, and talking about what they have learned. It also gives the teachers the opportunity to observe how the students are doing in the classroom of communicative English. Therefore, the advantages of utilizing the case study method in the classroom of communicative English are manifold. This provides them with the opportunity to enhance group communication, develop their personality, hone their task-based problem-solving abilities, improve their critical thinking and analytical skills (quantitative and/or qualitative depending on the situation), expand their power of decision-making in intricate situations, resolve ambiguities in understanding the subject and thereby increase their applicable knowledge for getting job opportunities and career development.

7.Challenges

Both teachers and students encounter certain challenges with this instructional method. For teachers, one of the primary difficulties is selecting the most suitable case for their students, as this requires careful consideration of content and linguistic features that are appropriate for the learners. This process demands hard work and ample time from the teachers and the learners. If teachers do not strive to innovate communicative English teaching and engage students in a focused manner, the method may fail to achieve its intended outcomes. Additionally, there is the challenge of understanding the complexities inherent in communicative English. Non-native speakers may find it difficult to grasp the meaning and spirit of English words, phrases, idioms or some other references. Despite the challenges, the advantages of this method surpass its limitations.

8.Model Case Study

Situation: How to do a comprehension exercise?

A comprehension exercise is assigned to the students to develop their communicative English. The teacher provides an overview of the exercise, offering guidance on how to effectively read and interpret the material, as well as the associated questions. Additionally, the teacher shares strategies for formulating written responses to these questions, encourages verbal participation when inquiries arise, and promotes engagement in group discussions related to the exercise.

Student Assessment Form

It is essential to consider various factors that contribute to the overall assessment of each student. Therefore, the following table will provide a comprehensive framework for determining the standings of students: 1. Very Poor; 2. Below Average; 3. Average; 4. Above Average; 5. Excellent

Listening Skills					Speaking Skills					Reading Skills					Writing Skill				
1	2	3	4	5	1	2	3	4	5	1	2	3	4	5	1	2	3	4	5
Remarks					Remarks					Remarks					Remarks				

In Communicative English Classroom, the students engage in the activity with enthusiasm and simultaneously develop their listening, speaking, reading, and writing (LSRW) skills. The teachers observe and evaluate the learners, guiding them in their use of communicative English with accuracy and precision.

Conclusion

The case study method employed in teaching communicative English significantly contributes to the acquisition of communicative skills by prioritizing a learner-centered and task-oriented framework. This method

encourages students to learn the 'two-way' affairs of communicative English, which help them enhance their language skills, retain the concepts of the learning material, and foster a stronger relationship with their teachers. It also fosters an interactive learning environment and allows students to connect theoretical knowledge with practical skills, making the learning process more engaging and effective.

Works Cited:

Bonney, Kevin M. "Case Study Teaching Method Improves Student Performance and Perceptions of Learning Gains." *Journal of Microbiology & Biology Education*, vol. 16, no. 1, 2015, pp. 21-28. https://doi.org/10.1128/jmbe.v16i1.846

Crandall, JoAnn (Jodi). "Language Teacher Education." *Annual Review of Applied Linguistics*, vol. 20, 2000, pp. 34-55. https://doi.org/10.1017/S0267190500200032

Hatcher, William, Bruce D. McDonald & L. A. Brainard. "How to write a case study for public affairs." *Journal of Public Affairs Education*, vol. 24, no. 2, 2018, pp. 274-285. https://doi.org/10.1080/15236803.2018.1444902

Herreid, Clyde Freeman. "What is a Case? Bringing to Science Education the Established Teaching Tool of Law and Medicine." *Start with a Story: The Case Study Method of Teaching College Science*, edited by Clyde Freeman Herreid. NSTA Press, 2007, pp. 41-44

Hsu, Jeremy. "The Secrets of Storytelling: Why We Love a Good Yarn: Our love for telling tales reveals the workings of the mind." *Scientific American*, August 1, 2008. www.scientificamerican.com/article/the-secrets-of-storytelling/

Kaddouro, Mahmoud A. "Critical Thinking Skills of Nursing Students in Lecture-based Teaching and Case-based Learning." *International Journal for the Scholarship of Teaching and Learning*, vol. 5, no. 2, 2011, pp. 1–18. https://doi.org/10.20429/ijsotl.2011.050220

Mahdi, Omar Rabeea, Islam A. Nassar & Hashem Ali Issa Almuslamani. "The Role of Using Case Studies Method in Improving Students' Critical Thinking Skills in Higher Education." *International Journal of Higher Education*, Vol. 9, No. 2, 2020, pp. 297-308.

Nitin Nohria. "What the Case Study Method Really Teaches." *Harvard Business Review*, Dec 21, 2021. www.hbr.org/2021/12/what-the-case-study-method-really-teaches

Popil, Inna. "Promotion of critical thinking by using case studies as teaching method." *Nurse Education Today*, vol. 31, no. 2, 2011, pp. 204–207. https://doi.org/10.1016/j.nedt.2010.06.002

Raman, Meenakshi and Prakash Singh. *Business Communication*. Oxford University Press, 2016.

Tripathi, Manas Ranjan. "Case Methodology in Teaching & Research: A Critical Review." *The Indian Journal of Industrial Relations*, vol. 44, no. 4, 2009, pp. 660-671

*****

Christanity And Buddhism: The Champions Of Women Freedom

-Dr .Chintala Venkata Sivasai,
Assistant Professor,
School Of Buddhist Studies And Civilization,
Gautam Buddha Univrsity, Greater Noida,
U.P Email. chintala@gbu.ac.in,
Mobile. 8130084839)

INTRODUCTION:

In recent decades, there has been a lot of interest in the status of women. The status given to women in all sectors of endeavor has been reevaluated in all countries, but especially in the West. As a result, women's roles in social, economic, and even political life have significantly changed. The status given to women in the world's major religious traditions has also been discussed in this reevaluation. Discrimination against women is a feature common in all societies. Whether in Africa, America, Asia or Europe, the prejudice and obstacles that women have to encounter and surmount seemed almost identical. The peculiar disability attached to women all over the world is based on religious bias. Women's basic disability originates in religion. Women are depicted as temptress and are warned against in almost all religions of the world.

According to certain religious mythological concept, man was introduced as the son of God, but woman never found a similar standing as the daughter of God. Amongst the soul-believers, some held the notion that a soul exists only in man and not in woman. Those who claimed that woman too had a soul would not give credence that her soul could find a place in heaven after her death. Such were the strange beliefs amongst certain religious societies.
Women have also been regarded as the source of all the sins of the world and that they are blamed for the misfortunes on men in this world and the next. There was also the belief that as women, no salvation could be gained - they had to be reincarnated as men before they are able to gain their salvation. Certain fanatical religious cults have also prohibited women from reading the religious scriptures. The punishment for doing so was to have their tongues cut out. They were also discouraged from entering places of worship. If they were at all allowed to participate in religious practices, such participation was only confined within their own homes, attending to household religious ceremonies. Such hindrances and obstructions in the matter of moral and spiritual upliftment of women still exist in varying degrees in certain parts of the world, even though many barriers have been removed.

In contrast to such hindrances and bigoted religious practices, Buddhism can certainly claim to have the least discriminatory attitudes against women.

There is not the slightest doubt that the Buddha was the first religious teacher who had given women equal and unfettered opportunities in the field of spiritual development. Although he had pointed out on several occasions, the natural tendencies and weakness of women, he had also given due credit to their abilities and capabilities. He had truly paved the way for women to lead a full religious life. They were able to develop and purify their minds and realize the bliss of Nibbana in as much as men could. The testimonies of the Theris (Nuns) in the days of the Buddha speak amply of this fact.
Buddha had opened the gates for the full participation of women in the field of religion by making them eligible for admission to what way known as the Bhikkuni Sangha- the order of Nuns which truly opened to women new avenues of culture and social service and ample opportunities for public life. This had bought them to a recognition of their importance to society and greatly enhanced the status of women.

The social attitude towards women in pre-Buddhist days can be traced from the early Vedic literature, such as the Rigveda. There is evidence indicating the honour and respect which women received in their homes. In the realm of religion too, they had access to the highest knowledge of the Absolute or Brahma. However, such a liberal attitude towards women

changed with the course of time, under the influence and dominance of the priestly caste along with their priest crafts, animal sacrifices, and other ritualistic practices. New interpretations were given to the scriptures. Women came to be considered as greatly inferior to men - both physically and mentally.

Women were looked down upon as a mere possession or a thing. Her place was the home, under the complete whims and fancies of her husband. She not only had to perform all the domestic chores, but also had to bring up a large family. Some of the priestly caste Brahmins married and lived with their wives, yet regarded food -cooked by women impure and unfit to eat. A myth was built up - that all women were regarded as sinful and the only way to keep them out of mischief was to keep them occupied endlessly with the task of motherhood and domestic duties.

If a married woman had no children or failed to produce any male offspring, she might be superseded by a second or third wife or even turned out of the house; for there was the strong belief that there must be a male child for the continuance of family line and the performance of the 'rites of the ancestors'. The traditional belief was that only a son could carry out such rituals which were thought to be very necessary for bringing peace and security to the father and grandfather after their death, otherwise they might return as ghosts to harry the family. Uncertain were the lives of married women. No less uncertainty await the unmarried ones. As marriage was considered a holy sacrament, a young girl who did not marry was badly criticized and despised by society.

In the field of religious practices, the position which they once enjoyed, was denied to them. A woman was believed to be unable to go to heaven through her own merits. She could not worship by herself, and it was believed that she could only reach heaven through unquestioning obedience to her husband, even if he happened to be a wicked person. The food left over by her husband was often the food for the woman.. It was in the midst of such extreme social discrimination and degrading attitudes towards women that the Buddha made his appearance in India. His teachings on the real nature of life and death -about karma and samsaric wanderings, gave rise to considerable changes in the social attitudes towards women in his days.

According to what the Buddha taught about the Law of Karma, one is responsible for one's own action and its consequence. The well-being of a father or grandfather does not depend upon the action of the son or grandson. They were responsible for their own actions.

The teachings of the Buddha had done a great deal to wipe off many superstitious beliefs and meaningless rites and rituals including animal sacrifices, from the minds of many people. When the true nature of life and death and the natural phenomena governing the universe were revealed to them, wisdom and understanding arose. This in turn helped to arrest and correct the prevailing social injustices and prejudices that were rampant against women in the days of the Buddha thus enabling women to lead their own way of life.

Women in Christianity:

Women are seen as equals to men and both genders serve a role in the family – to help the family to serve God. In the family role, men were told to love their wives and treat them as they treat God, with love. "Men are called to love the wife as he loves Christ" – (Eph.)

The Bible is filled with wisdom and encouragement for women of all ages. We are all created equal in the image of God.

Bible said (Verses) about Women:

Genesis 1:27 "So God created mankind in his own image, in the image of God he created them; male and female he created them." (Worth and equality in God's eyes)

Proverbs 31"10-31"A wife of noble character who can find? She is worth far more than rubies." (Celebrating women's strengths, skills, and contributions)

Galatians 3:28: "There is neither Jew nor Gentile, neither slave nor free, nor is there male and female, for you are all one in Christ Jesus" (Equality and Unity in Christ)

Guidance and Faith

Psalm 46:5: God is within her, she will not fall; God will help her at break of day." (Assurance of God's presence and support)

Proverbs 3:5-6 "Trust in the Lord with all your

heart and lean not on your own understanding; in all your ways submit to him, and he will make your paths straight." (Seeking God's guidance and direction)

Philippians 4:6-7 "Do not be anxious about anything, but in everything by prayer and supplication with thanksgiving let your requests be made known to God. And the peace of God, which surpasses all understanding, will guard your hearts and your minds in Christ Jesus." (Finding peace and strength in prayer)

Love and Relationships

Ruth 1:16-17 "But Ruth said, 'Do not urge me to leave you or to turn back from you. Where you go I will go, and where you stay I will stay. Your people will be my people and your God my God. Where you die I will die, and there I will be buried. May the Lord do so to me, and more also, if anything but death separates me from you.'" (Loyalty and enduring love)

Proverbs 31:25-26 "She speaks with wisdom and teaches with kindness. She opens her mouth with discretion, and on her tongue is the law of kindness." (Using wisdom and kindness in communication)

Corinthians 12:4-7 "There are different gifts, but the same Spirit. There are different ministries, but the same Lord. And there are different activities, but the same God who activates everyone directly. To each is given the manifestation of the Spirit for the common good." (Celebrating women's unique gifts and contributions to the community)

Hope and Encouragement

Romans 8:28 "And we know that in all things God works for the good of those who love him, who have been called according to his purpose." (Finding hope and purpose in God's plan)

Towards equality and freedom: During the last fifty to sixty years, the steady process of increasing women's participation in the economic, social as well as the political life of their countries had been forging ahead steadily. The success achieved by women in the twentieth century can only be described as phenomenal. Many women had achieved success in their various fields of endeavor - in social science, in business, in economics and in the political field. In some countries, women had even succeeded in capturing the top most political appointments - as Prime Minister of their land - although ironically enough, in certain countries, women have yet to be given the franchise - the right to vote! International action to raise the status of women began in a small way with the defunct League of Nations, after the First World War Subsequently the United Nations Charter went further to grant the principles of equality and freedom to all women. An organ of the United Nations, the Commission on the status of women, probed the question of discrimination based on sex and deliberated on questions touching on the political rights of women, equal pay for equal work, the status of women in common law, the nationality of married women, educational and economic opportunities for women, technical assistance and participation by women

CONCLUSION:

A few comparisons between Buddhist and other religious views on women are possible. We've had the opportunity to mention women's roles in traditional Hinduism a few times. Even though the social status of women has been slightly elevated, modern Hinduism has not seen a significant transformation. Hinduism still forbids women from serving as priests.

Some Negative on Christianity has historically been a male-dominated religion, in large part because the center of its core belief around a male God (referred to as the "Father") and the prophet and teacher Jesus (referred to as the "Son"). The Father-Son relationship is the center of the faith; thus, it is not strange that women have been put in a subordinate position and deprived of divine equivalence with males. Jesus did not confront Jewish beliefs on this issue because he saw himself as the Jewish Messiah. At best, his remarks on the place of women are unclear. The initial 12 disciples had no female members. Because of St. Peter's well-known misogynistic assertions about Jesus, the contemporary Christian Church was established, and subsequent records of Christian Churches have mostly reflected this. Some Christian churches are currently considering ordaining women as priests, although this has caused a lot of disagreement.

Islam's treatment of women is well recognized. They are also prohibited from complete access to religious services, and in some nations, even to mosques. It is alarming that the advancements gained in some Islamic nations risk being undone by the resurgence of Islamic fundamentalism.

The Buddhist perspective on this journey is therefore not only enlightening but also distinctive, whatever comparisons we may wish to draw with other religions.

Real freedom is the freedom that is free from all forms of bondage. It can be achieved only through the proper spiritual development and purification of one's own mind - purging and cleansing oneself from all taints of greed, hatred and delusion. No amount of public debates, demonstrations and universal charters could bring true freedom - except through one's own diligence and heedfulness by the regular practice of meditation as taught by the Buddha. For promoting the cause of women, Lord Christ and the Buddha can be considered as the first emancipators of women and promoters of women and promoters of a democratic way of life. It is to the eternal credit of the Buddha-Dhamma that women were not despised and looked down but were given equal status with men in their spiritual endeavor on the way to gain wisdom and the complete deliverance - Nibbana.

REFERENCES:

1. Aitken, Molly Emma, ed. Meeting the Buddha on Pilgrimage in Buddhist India, Revert heed Books, 1995 (370PP)

2. Bachelor, Martine and Brown Kerry. Ed., Buddhism and Ecology, carrel, 1992.

3. Wilson Martin, In Prise of Tara: songs to the Saviors', London, Wisdom Publications, 1986.

PRIMARY SOURCES:

1. The Digha Nikaya, Translated from the Pali by Rhys Davids, The Dialogues of the Buddha, 3 voles, Delhi: Motilal Banarsidass, 2007 (reprints).
2. The Majjhima Nikaya, (Trans.) Bhikkhu Nanamoli, Bhikkhu Bodhi, The Middle Length Discourses of the Buddha, 3 voles, Boston: Wisdom Publications, 2009 (reprints).
3. The Sammuyuta -Nikaya, (Trans.) Bhikkhu Bodhi, The Connected Discourses of the Buddha, 5 voles, Boston: Wisdom Publications, 2000; (Trans.) Rhys Davids & F.L. Woodward, The Book of the Kindred Sayings, 5 voles, Delhi: Motilal Banarsidass, 2005 (reprints).
4. Anguttara-Nikaya, (Trans.) F.L. Woodward & E.M. Hare, The Book of the Gradual Sayings, 5 voles, Delhi: Motilal Banarsidass, 2006 (reprints).
5. The Dhammapada, (Trans.) F. Max Muller, a Collection of Verses, Delhi: Motilal Banarsidass Publishers, 1992,
6. The Udana and Itivuttaka, John D. Ireland, Priyanka: Buddhist Publication Society, 1997,
7. The Visuddhimagga, (Trans.) Bhikkhu Nanamoli, the Path of Purification, Colombo, Ceylon: Published by R. Sewage, 1956.

SECONDARY SOURCES

1 D.K. Bara, an Analytical Study of Four Nikaya, New Delhi: Mushaira Manoharlal, 2003.
2. Bhikkhu Bodhi (ed.), in the Buddha's words An Anthology of Discourses from the Pali Canon, Boston: Wisdom Publication, 2005.
3. Bhikkhu Bodhi, A Comprehensive Manual of Abhidhamma: The Abhidhammattha Sangaha of Acarida Anuruddha, Seattle, WA: BPS Pariyatti Editions, 2000,
4. Bhikkhu [KI5riannoli (trans.), Mindfulness of Breathing — (Buddhist texts from the Pali Canon and Extracts from the Pali Commentaries), Buddhist Publication Society, 2010_
5. Bhikkhu N a pa moil (trans.), Visuddhimagga, The Path of Purification, Buddhist Publication Society, Colombo, Priyanka.
6. Bhikkhu Nanamoli (trans.), the Path of Discrimination (Patisambhidamagga), Oxford: The Pali Text Society, 1991.
7. Chinatala Venkata Siva Sai, Compassion and Peace in Buddhism, Delhi: Somali Publication, 2006.

******

बुद्ध, अभिधम्म और कृत्रिम बुद्धिमत्ता (आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस)

-डॉ चन्दन कुमार
सहायक प्राध्यापक
इतिहास विभाग
सत्यवती कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

21वीं सदी के इस युग में कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) के विकास ने तकनीकी जगत में क्रांति ला दी है। मशीनों में सोचने-समझने की क्षमता विकसित करने के इस विज्ञान ने समाज, अर्थव्यवस्था, और यहां तक कि मानवता के भविष्य पर भी गहरा प्रभाव डाला है। दूसरी ओर, बौद्ध दर्शन और विशेष रूप से अभिधम्म (बौद्ध मनोविज्ञान), मानव मस्तिष्क, मन और चेतना की गहरी समझ प्रदान करता है। बुद्ध ने लगभग ढाई हजार वर्ष पहले जिस प्रकार मस्तिष्क की प्रकृति और चेतना के कार्य को समझाया था, वह आज भी विचारणीय है। इस लेख का उद्देश्य बुद्ध के दर्शन, अभिधम्म और कृत्रिम बुद्धिमत्ता के सिद्धांतों का तुलनात्मक विश्लेषण करना है और यह जानने का प्रयास करना है कि इन दो अलग-अलग धाराओं के बीच संवाद कैसे स्थापित हो सकता है।

बुद्ध का दर्शन और मस्तिष्क की प्रकृति

बुद्ध का दर्शन मानव मस्तिष्क और चेतना की जटिलताओं को समझने का एक प्रयास था। उनके अनुसार, मानव चेतना निरंतर परिवर्तनशील है। यह परिवर्तनशीलता उस गहन सत्य का हिस्सा है जिसे उन्होंने "अनात्म" (स्वरहित) कहा। यह धारणा कि कोई स्थायी आत्मा या चेतना नहीं है, बौद्ध विचारधारा का एक प्रमुख सिद्धांत है। बुद्ध के अनुसार, मस्तिष्क और चेतना तात्कालिक अनुभवों, विचारों और क्रियाओं के आधार पर बदलते रहते हैं। बुद्ध ने कहा था कि मस्तिष्क का कार्य सत्य को समझना है और यह समझ तभी प्राप्त हो सकती है जब व्यक्ति अपने चारों ओर की वास्तविकताओं को पूरी तरह से स्वीकार कर सके और उसे स्थायी न माने।

बुद्ध का दर्शन मुख्य रूप से इस सिद्धांत पर आधारित है कि मानव मस्तिष्क और चेतना अस्थायी, परिवर्तनशील और स्व-निराकार हैं। उनका यह दृष्टिकोण मस्तिष्क की प्रकृति और चेतना के निरंतर परिवर्तन पर गहराई से विचार करता है। इस सिद्धांत को समझने के लिए कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं और उनके उदाहरणों पर विचार करना उपयोगी होगा।

1. अनात्म (स्व-निराकार) का सिद्धांत

बुद्ध ने 'अनात्म' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया, जिसका अर्थ है कि कोई स्थायी आत्मा या व्यक्तित्व नहीं होता। मानव मस्तिष्क और चेतना हमेशा बदलते रहते हैं, और व्यक्ति की पहचान स्थिर नहीं होती। इसके विपरीत, यह विभिन्न अनुभवों, विचारों और भावनाओं के आधार पर निरंतर विकसित होती है।

उदाहरण:

यदि कोई व्यक्ति एक बच्चे के रूप में बहुत डरपोक था, लेकिन बाद में जीवन में उसने साहसिक निर्णय लेना शुरू कर दिया, तो यह दिखाता है कि उसके मस्तिष्क और व्यक्तित्व में परिवर्तन हुआ है। यह परिवर्तन किसी स्थायी आत्मा या व्यक्तित्व की उपस्थिति को नकारता है, जो बुद्ध के अनात्म सिद्धांत का समर्थन करता है। उनके अनुसार, यह परिवर्तन निरंतर होता है और किसी भी निश्चित स्वरूप को नहीं दर्शाता।

2. अविचल चेतना (निरंतर बदलने वाली चेतना)

बुद्ध ने कहा कि चेतना एक नदी की तरह है, जो निरंतर प्रवाहित होती रहती है। चेतना क्षण-क्षण बदलती रहती है, और हर नए अनुभव के साथ मस्तिष्क में नई प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रक्रिया को समझने के लिए ध्यान (मेडिटेशन) का अभ्यास किया जाता है, जिससे व्यक्ति अपनी चेतना की क्षणभंगुर प्रकृति को पहचान सकता है।

उदाहरण:

जब कोई ध्यान करता है, तो वह अपने विचारों और भावनाओं का निरीक्षण करता है। ध्यान के दौरान व्यक्ति अनुभव करता है कि विचार लगातार बदलते रहते हैं—एक विचार आता है और फिर गायब हो जाता है, फिर दूसरा विचार आता है। यह प्रक्रिया यह दिखाती है कि मस्तिष्क स्थिर नहीं है, बल्कि निरंतर गतिशील है। इस प्रकार, ध्यान के माध्यम से मस्तिष्क की परिवर्तनशीलता को प्रत्यक्ष रूप से अनुभव किया जा सकता है।

3. दुःख (पीड़ा) और उसकी प्रकृति

बुद्ध के अनुसार, मस्तिष्क की प्रकृति यह है कि वह हमेशा इच्छाओं और अपेक्षाओं से घिरा रहता है, और इन इच्छाओं के पूरा न होने पर दुःख उत्पन्न होता है। बुद्ध का यह सिद्धांत "चत्वारि आर्यसत्य" (चार आर्य सत्य) में से एक है। उन्होंने कहा कि इच्छाओं का होना स्वाभाविक है, लेकिन उनसे उत्पन्न होने वाला दुःख एक मानसिक स्थिति है, जिसे सही दृष्टि और समझ से बदला जा सकता है।

उदाहरण:

किसी व्यक्ति को अगर नई नौकरी नहीं मिलती है, तो वह बहुत परेशान हो सकता है और निराशा का अनुभव कर सकता है। यह दुःख उस व्यक्ति की इच्छा से उत्पन्न हुआ है। यदि वह व्यक्ति बुद्ध के मार्ग का अनुसरण करता है और यह समझता है कि इच्छाएँ क्षणभंगुर होती हैं और जीवन में अस्थिरता स्वाभाविक है, तो वह अपने दुःख को कम कर सकता है। यहाँ बुद्ध का दर्शन यह सिखाता है कि मस्तिष्क की स्थिति को बदला जा सकता है, और दुःख से मुक्ति पाई जा सकती है।

4. प्रतीत्यसमुत्पाद (सहज संबंध)

बुद्ध का यह सिद्धांत मस्तिष्क की एक अन्य महत्वपूर्ण प्रकृति को समझाता है, जो यह है कि सब कुछ कारण और प्रभाव के आधार पर होता है। मस्तिष्क की सभी मानसिक अवस्थाएँ एक-दूसरे से संबंधित होती हैं और एक प्रक्रिया के रूप में काम करती हैं।

उदाहरण:

यदि किसी व्यक्ति ने जीवन में कठिनाइयों का सामना किया है, तो इसका प्रभाव उसके मानसिक स्वास्थ्य पर भी पड़ेगा। यह मानसिक अवस्था फिर उसके निर्णयों और कार्यों को प्रभावित करेगी। इस प्रकार, एक विचार या घटना दूसरे विचार या घटना को जन्म देती है। यह प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धांत का सटीक उदाहरण है, जहाँ मस्तिष्क और चेतना की सभी प्रक्रियाएँ एक-दूसरे से जुड़ी होती हैं।

5. ध्यान और मानसिक अनुशासन

बुद्ध ने ध्यान और मानसिक अनुशासन के माध्यम से मस्तिष्क की कार्यप्रणाली को नियंत्रित करने का मार्ग दिखाया। ध्यान मस्तिष्क की स्थिरता और स्पष्टता को बढ़ाने का एक साधन है। इसके माध्यम से व्यक्ति अपने मन की गहराई में जाकर आत्मनिरीक्षण कर सकता है और अवांछनीय मानसिक अवस्थाओं को नियंत्रित कर सकता है।

उदाहरण:

यदि कोई व्यक्ति गुस्से से भर जाता है, तो ध्यान के माध्यम से वह अपने गुस्से को नियंत्रित कर सकता है। बुद्ध ने सिखाया कि ध्यान के माध्यम से व्यक्ति अपने विचारों और भावनाओं को बदल सकता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी ने ध्यान के माध्यम से अपने गुस्से को शांत किया है, तो यह मस्तिष्क की उस स्वाभाविक प्रक्रिया को दर्शाता है, जिसमें मस्तिष्क की मानसिक अवस्थाएँ बदलती रहती हैं और इन्हें अनुशासित किया जा सकता है।

बुद्ध के दर्शन में मस्तिष्क और चेतना की प्रकृति पर गहरा चिंतन किया गया है। उनका मानना था कि मस्तिष्क निरंतर बदलता रहता है और इस बदलाव के साथ ही व्यक्ति के दुःख, सुख, और मानसिक अवस्थाएँ भी बदलती रहती हैं। मस्तिष्क की इस परिवर्तनशीलता को समझकर और ध्यान के माध्यम से मानसिक अनुशासन का विकास कर व्यक्ति अपने जीवन को बेहतर बना सकता है।

बुद्ध ने मन और चेतना की प्रकृति को समझने पर बहुत जोर दिया था। उन्होंने कहा था किमन को समझना और उस पर नियंत्रण पाना दुःख से मुक्ति का मार्ग है।

धम्मपद में इस बारे में एक प्रसिद्ध श्लोक है:

"मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।

मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।

ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कंव वहतो पदं॥" (Dhp 1)

इसका अर्थ है:- "मन सभी मानसिक स्थितियों का अग्रदूत है, मन उनका प्रमुख है, वे मन से बनी हैं। यदि कोई दूषित मन से बोलता या कार्य करता है, तो दुःख उसका अनुसरण करता है, जैसे पहिया बैल के पैर का अनुसरण करता है जो गाड़ी खींच रहा है।"

हालांकि, यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि बुद्ध का उद्देश्य केवल मन को समझना नहीं था, बल्कि दुःख से मुक्ति पाना था। उन्होंने सिखाया कि मन की प्रकृति को समझकर और उस पर नियंत्रण पाकर, हम अपने दुःखों से मुक्त हो सकते हैं और निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं।

बुद्ध ने मन की प्रकृति को पांच स्कंधों (खंधा) के रूप में वर्णित किया - रूप (भौतिक रूप), वेदना (संवेदना), संज्ञा (धारणा), संस्कार (मानसिक गठन), और विज्ञान (चेतना)। ये सभी अनित्य (अनिच्चा) हैं और निरंतर परिवर्तन की स्थिति में हैं।

हालांकि, यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि बुद्ध का उद्देश्य केवल मन की प्रकृति का वैज्ञानिक विश्लेषण करना नहीं था। उनका मुख्य लक्ष्य दुःख से मुक्ति और निर्वाण की प्राप्ति था। उन्होंने इन सिद्धांतों का उपयोग लोगों को यह समझाने के लिए किया कि कैसे वे अपने मन पर नियंत्रण पा सकते हैं और अपने दुःखों से मुक्त हो सकते हैं।

बुद्ध के शब्दों में:

"सब्बे सङ्खारा अनिच्चा'ति - यदा पञ्ञाय पस्सति।

अथ निब्बिन्दति दुक्खे - एस मग्गो विसुद्धिया।" (Dhp 277)

अर्थात: "सभी संस्कार अनित्य हैं - जब कोई इसे प्रज्ञा से देखता है, तब वह दुःख से विरक्त हो जाता है। यह शुद्धि का मार्ग है।"

इस प्रकार, बुद्ध का दृष्टिकोण न केवल वैज्ञानिक था, बल्कि गहन आध्यात्मिक और नैतिक निहितार्थ भी रखता था।

बुद्ध का यह दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से मस्तिष्क की प्रकृति के बारे में एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। यह अवधारणा, जो जीवन की अस्थिरता

और उसकी क्षणभंगुरता पर केंद्रित है, AI के कुछ सिद्धांतों से मेल खाती है। AI में मशीनों को लगातार डेटा प्रोसेसिंग और अपडेट के माध्यम से नए निष्कर्षों तक पहुंचाया जाता है, जो बुद्ध के परिवर्तनशील चेतना के सिद्धांत से समानता रखता है।

2. अभिधम्म: बौद्ध मनोविज्ञान का गहन विश्लेषण

अभिधम्म पिटक बौद्ध त्रिपिटक का तीसरा खंड है, जो विशेष रूप से बौद्ध मनोविज्ञान और मस्तिष्क की कार्यप्रणाली का विशद विवरण प्रस्तुत करता है। अभिधम्म में मानव मस्तिष्क और चेतना को पाँच खंडों में विभाजित किया गया है: रूप (शारीरिक रूप), वेदना (संवेदनाएँ), संज्ञा (धारणा), संस्कार (मानसिक निर्माण), और विज्ञान (चेतना)। इन पाँच खंडों के माध्यम से, अभिधम्म बौद्ध मस्तिष्क विज्ञान का एक सशक्त आधार प्रस्तुत करता है। बुद्ध ने इन पाँच खंडों के माध्यम से यह सिखाया कि मानसिक और भौतिक प्रक्रियाएँ क्षणभंगुर होती हैं और किसी स्थायी सत्ता से रहित होती हैं। इस प्रकार, मस्तिष्क की सारी प्रक्रियाएँ निरंतर परिवर्तनशील और अस्थायी होती हैं।

अभिधम्म: बौद्ध मनोविज्ञान का गहन विश्लेषण

अभिधम्म पिटक बौद्ध धर्म के त्रिपिटक का तीसरा खंड है, जो बौद्ध मनोविज्ञान और मानसिक प्रक्रियाओं का गहन विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यह बौद्ध धर्म के दर्शन और मनोविज्ञान की सबसे सूक्ष्म और विस्तृत व्याख्या करता है, जिसे बौद्ध अनुयायियों ने मन की प्रकृति को समझने के लिए उपयोग किया है। अभिधम्म, जिसे 'उच्च धर्म' भी कहा जाता है, केवल एक दार्शनिक या सैद्धांतिक ग्रंथ नहीं है, बल्कि यह मानव मन और उसकी प्रक्रियाओं को स्पष्ट रूप से वर्गीकृत और व्याख्यायित करता है। यह दृष्टिकोण वैज्ञानिक रूप से मानव चेतना और मानसिक अवस्थाओं को समझने की दिशा में एक अत्यंत सटीक उपकरण है।

पाँच स्कंधों के माध्यम से अभिधम्म यह समझाता है कि मानव चेतना कैसे कार्य करती है। 'रूप' में शारीरिक तत्त्व आते हैं, जबकि बाकी चार खंड मानसिक प्रक्रियाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

उदाहरण:

जब कोई व्यक्ति किसी दृश्य वस्तु को देखता है, तो उसकी दृष्टि (रूप) एक प्रारंभिक शारीरिक प्रक्रिया है। इसके बाद व्यक्ति उस वस्तु के प्रति प्रतिक्रिया करता है (वेदना), उसे पहचानता है (संज्ञा), और उसके बारे में मानसिक निर्माण करता है (संस्कार), अंततः यह पूरी प्रक्रिया उसकी चेतना (विज्ञान) में संग्रहीत हो जाती है।

3. मानसिक अवस्थाओं का वर्गीकरण

अभिधम्म मन की विभिन्न अवस्थाओं का गहन विश्लेषण करता है। यह 52 प्रकार की मानसिक अवस्थाओं (चित्तसिक) का वर्णन करता है, जिनमें से कुछ नैतिक होती हैं, कुछ अनैतिक, और कुछ तटस्थ। ये मानसिक अवस्थाएँ विभिन्न परिस्थितियों में प्रकट होती हैं और मन की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। अभिधम्म के अनुसार, मानव मन की हर अवस्था इन चित्तसिक के संयोजन से बनती है।

उदाहरण:

जब कोई व्यक्ति करुणा का अनुभव करता है, तो यह नैतिक चित्तसिकों का परिणाम होता है, जैसे कि करुणा (कर्पण), मैत्री (मित्रता), और अहिंसा। वहीं, जब कोई व्यक्ति द्वेष या क्रोध का अनुभव करता है, तो यह अनैतिक चित्तसिकों के संयोजन का परिणाम होता है, जैसे कि द्वेष, घृणा, या असंतोष।

4. कर्म और चेतना का संबंध

अभिधम्म के अनुसार, चेतना और कर्म का गहरा संबंध होता है। कर्म (अर्थात कार्य) मानसिक प्रक्रियाओं का परिणाम होता है और यह चेतना की दिशा को निर्धारित करता है। जिस प्रकार का कर्म किया जाता है, उसी प्रकार की मानसिक अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं और व्यक्ति के भविष्य के अनुभव और जीवन की दिशा प्रभावित होती है।

उदाहरण:

यदि कोई व्यक्ति नैतिक और करुणामय कार्य करता है, तो उसकी चेतना में सकारात्मक बदलाव आता है और उसका मानसिक स्वास्थ्य अच्छा रहता है। दूसरी ओर, यदि कोई व्यक्ति द्वेषपूर्ण या हिंसक कार्य करता है, तो उसकी चेतना पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है और उसका मानसिक संतुलन बिगड़ सकता है।

5. प्रतीत्यसमुत्पाद: कारण और परिणाम

अभिधम्म प्रतीत्यसमुत्पाद (सहज संबंध) के सिद्धांत पर भी जोर देता है, जो यह बताता है कि संसार की हर घटना किसी कारण से उत्पन्न होती है और हर कारण का एक परिणाम होता है। यह कारण और परिणाम की श्रृंखला मानसिक और भौतिक दोनों प्रक्रियाओं पर लागू होती है।

उदाहरण:

जब व्यक्ति क्रोध करता है, तो यह उसके मन में किसी कारण से उत्पन्न होता है, जैसे कि कोई अप्रिय अनुभव। इस क्रोध का परिणाम उसकी मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य पर नकारात्मक प्रभाव डाल सकता है। अभिधम्म इस श्रृंखला को तोड़ने का मार्ग दिखाता है, जिससे व्यक्ति मानसिक शांति प्राप्त कर सकता है।

6. चेतना और ध्यान का महत्व

अभिधम्म में ध्यान (मेडिटेशन) का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि ध्यान मानसिक अवस्थाओं को नियंत्रित करने और उन्हें गहन रूप से समझने का

साधन है। ध्यान के माध्यम से व्यक्ति अपनी मानसिक प्रक्रियाओं को साक्षात्कार कर सकता है और चेतना के विभिन्न स्तरों को समझ सकता है।

उदाहरण:

जब कोई व्यक्ति समता भाव (समाधि) का ध्यान करता है, तो वह अपने मन को एक बिंदु पर स्थिर करने का प्रयास करता है। इसके माध्यम से वह मस्तिष्क की विभिन्न चित्तसिकों को नियंत्रित कर सकता है और मानसिक शांति प्राप्त कर सकता है। अभिधम्म में यह कहा गया है कि ध्यान के अभ्यास से मानसिक अवस्थाओं की स्पष्ट समझ प्राप्त की जा सकती है।

अभिधम्म पिटक में सात ग्रंथ हैं, जिनमें से एक विशेष रूप से मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर केंद्रित है:

1. धम्मसङ्गणी: यह मानसिक और भौतिक घटनाओं का वर्गीकरण करता है।
2. विभङ्ग: यह विभिन्न बौद्ध सिद्धांतों का विस्तृत विश्लेषण प्रदान करता है।
3. धातुकथा: यह विभिन्न तत्वों और आयतनों के बीच संबंधों की व्याख्या करता है।
4. पुग्गलपञ्ञत्ति: यह व्यक्तित्व के प्रकारों का वर्णन करता है।
5. कथावत्थु: यह विभिन्न बौद्ध संप्रदायों के बीच विवादों पर चर्चा करता है।
6. यमक: यह जोड़े में प्रश्नों के माध्यम से बौद्ध सिद्धांतों को स्पष्ट करता है।
7. पट्ठान: यह कारण और प्रभाव के सिद्धांतों का गहन विश्लेषण प्रदान करता है।

अभिधम्म का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है "चित्त-वीथि" या मानसिक प्रक्रिया। यह बताता है कि कैसे एक संवेदना उत्पन्न होती है, कैसे उसे पहचाना जाता है, और कैसे उस पर प्रतिक्रिया की जाती है। यह प्रक्रिया 17 चित्त क्षणों में होती है, जो प्रत्येक एक त्रिलियनांश सेकंड से भी कम समय का होता है। यह सिद्धांत आधुनिक न्यूरोसाइंस के कुछ सिद्धांतों से मेल खाता है, जो बताते हैं कि मस्तिष्क कैसे जानकारी को प्रोसेस करता है।

अभिधम्म में "परमत्थ धम्मा" या परम वास्तविकताओं की अवधारणा भी महत्वपूर्ण है। ये हैं:

1. चित्त (चेतना)

2. चेतसिक (मानसिक कारक)

3. रूप (भौतिक घटनाएं)

4. निब्बान (निर्वाण)

यह वर्गीकरण वास्तविकता को समझने का एक गहन प्रयास है, जो आधुनिक विज्ञान के प्रयासों से तुलनीय है।

जैसा आपने कहा, अभिधम्म की यह दृष्टि वास्तव में AI और न्यूरोसाइंस के कुछ पहलुओं से मेल खाती है। हालांकि, यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि अभिधम्म का उद्देश्य केवल वैज्ञानिक समझ नहीं था, बल्कि दुःख से मुक्ति और निर्वाण की प्राप्ति थी।

बुद्ध के शब्दों में:

"सब्बे धम्मा अनत्ता'ति - यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे - एस मग्गो विसुद्धिया।" (Dhp 279)

अर्थात: "सभी धर्म अनात्म हैं - जब कोई इसे प्रज्ञा से देखता है, तब वह दुःख से विरक्त हो जाता है। यह शुद्धि का मार्ग है।"

इस प्रकार, अभिधम्म न केवल एक गहन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रदान करता है, बल्कि एक आध्यात्मिक मार्ग भी प्रशस्त करता है।

अभिधम्म की यह दृष्टि मानव मस्तिष्क और चेतना की गहराई को समझने का एक प्रयास है। यह विचार कि प्रत्येक मानसिक अवस्था एक क्षणिक घटना होती है, कृत्रिम बुद्धिमत्ता के 'डेटा प्रोसेसिंग' मॉडल से मेल खाती है, जहाँ मस्तिष्क की सूचना प्रक्रियाओं को मशीनों के माध्यम से अनुकरण किया जाता है। दोनों ही सिद्धांतों में यह स्पष्ट किया गया है कि मानसिक प्रक्रियाओं का अनुकरण किया जा सकता है और उनका गहन अध्ययन संभव है।

3. कृत्रिम बुद्धिमत्ता: मानव मस्तिष्क का अनुकरण

कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) का मुख्य उद्देश्य मानव मस्तिष्क की जटिलताओं का अनुकरण करना है। AI के अंतर्गत मशीन लर्निंग, डीप लर्निंग, और न्यूरल नेटवर्क जैसी तकनीकें आती हैं, जिनके माध्यम से मशीनों को 'स्मार्ट' बनाया जाता है। मशीनों को ऐसे कौशल सिखाए जाते हैं, जिससे वे मानव-समकक्ष बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन कर सकें, जैसे समस्या समाधान, निर्णय निर्माण, और पैटर्न पहचान। यह माना जाता है कि भविष्य में AI मनुष्य की कार्यप्रणाली को न केवल दोहरा सकता है, बल्कि उसे पार भी कर सकता है।

कृत्रिम बुद्धिमत्ता (Artificial Intelligence - AI) एक अत्याधुनिक तकनीकी क्षेत्र है, जिसका उद्देश्य मशीनों को मानव मस्तिष्क की कार्यप्रणाली के समान बुद्धिमत्ता से लैस करना है। AI का मुख्य उद्देश्य है मानव मस्तिष्क की सोचने, निर्णय लेने और समस्याओं को हल करने की क्षमता का

अनुकरण करना, ताकि मशीनें जटिल कार्यों को स्वतः सीख सकें और बिना मानवीय हस्तक्षेप के निर्णय ले सकें। इस लेख में, हम इस बात की चर्चा करेंगे कि AI कैसे मानव मस्तिष्क के विभिन्न पहलुओं की नकल करने का प्रयास करता है और इसके कुछ प्रमुख उदाहरणों पर भी ध्यान देंगे।

कृत्रिम बुद्धिमत्ता का परिचय

कृत्रिम बुद्धिमत्ता कंप्यूटर विज्ञान का एक शाखा है, जिसमें मशीनों और कंप्यूटरों को इस प्रकार से डिज़ाइन किया जाता है कि वे अपने वातावरण से डेटा एकत्र कर सकें, उसे विश्लेषण कर सकें और अपने अनुभव के आधार पर स्वतः सीख सकें। AI का उपयोग मशीन लर्निंग (Machine Learning), डीप लर्निंग (Deep Learning), और न्यूरल नेटवर्क (Neural Networks) जैसी तकनीकों के माध्यम से किया जाता है, जो कि मानव मस्तिष्क की संरचना और उसकी प्रक्रियाओं से प्रेरित होते हैं।

मानव मस्तिष्क और AI का तुलनात्मक अध्ययन

मानव मस्तिष्क और AI के बीच कई समानताएँ हैं, क्योंकि दोनों ही सूचना को संसाधित करते हैं और निर्णय लेते हैं। हालांकि, दोनों की कार्यप्रणाली में कुछ मूलभूत अंतर भी हैं।

मानव मस्तिष्क

मानव मस्तिष्क एक जटिल जैविक संरचना है, जिसमें अरबों न्यूरॉन्स होते हैं, जो विद्युत संकेतों के माध्यम से आपस में संवाद करते हैं। यह मस्तिष्क की लचीलापन और जटिलता का कारण है, जो उसे नए अनुभवों से सीखने और अनुकूलित होने की क्षमता प्रदान करता है। मस्तिष्क की संरचना अनिश्चित और परिवर्तनशील होती है, जो उसे लगातार बदलते वातावरण में समायोजित करती है।

कृत्रिम बुद्धिमत्ता

AI को मानव मस्तिष्क की इस कार्यप्रणाली को दोहराने के लिए डिज़ाइन किया गया है। इसके अंतर्गत न्यूरल नेटवर्क होते हैं, जो डिजिटल 'न्यूरॉन्स' की तरह कार्य करते हैं। AI इन न्यूरल नेटवर्क का उपयोग करके विशाल डेटा सेट्स का विश्लेषण करता है और उसके आधार पर निष्कर्ष निकालता है। हालाँकि, मानव मस्तिष्क की तुलना में AI की जानकारी प्रोसेस करने की क्षमता त्वरित और सटीक होती है, लेकिन इसमें भावनात्मक और नैतिक समझ का अभाव होता है, जो मस्तिष्क का एक महत्वपूर्ण पहलू है।

भविष्य की दिशा

AI के विकास की गति को देखते हुए, यह कहा जा सकता है कि भविष्य में AI और भी अधिक परिष्कृत होगा और मस्तिष्क की जटिलताओं को अधिक सटीकता से अनुकरण कर सकेगा। इसके बावजूद, AI और मानव मस्तिष्क के बीच एक मूलभूत अंतर रहेगा, खासकर नैतिकता, आत्म-जागरूकता और भावनात्मक बुद्धिमत्ता के क्षेत्र में।

AI और अभिधम्म दोनों ही मानव मस्तिष्क और चेतना की कार्यप्रणाली को समझने का प्रयास करते हैं। हालांकि, उनके उद्देश्य और दृष्टिकोण अलग-अलग हैं:

1. उद्देश्य:

- AI का उद्देश्य मानव बुद्धिमत्ता का अनुकरण और उसे पार करना है।
- अभिधम्म का उद्देश्य मन और वास्तविकता को समझकर दुःख से मुक्ति पाना है।

2. दृष्टिकोण:

- AI एक तकनीकी दृष्टिकोण अपनाता है, जो डेटा और एल्गोरिदम पर आधारित है।
- अभिधम्म एक आध्यात्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोण अपनाता है, जो अंतर्दृष्टि और ध्यान पर आधारित है।

3. नैतिकता और आध्यात्मिकता:

- AI अभी तक नैतिकता और आध्यात्मिकता के क्षेत्र में सीमित है।
- अभिधम्म नैतिकता और आध्यात्मिकता को केंद्र में रखता है।

बुद्ध ने कहा था:

"मनो पुब्बङ्गमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पसन्नेन, भासति वा करोति वा।
ततो नं सुखमन्वेति, छाया'व अनपायिनी।।" (Dhp 2)

अर्थात: "मन सभी मानसिक स्थितियों का अग्रदूत है, मन उनका प्रमुख है, वे मन से बनी हैं। यदि कोई शुद्ध मन से बोलता या कार्य करता है, तो सुख उसका अनुसरण करता है, जैसे छाया जो कभी नहीं छोड़ती।"

यह श्लोक दर्शाता है कि बौद्ध दर्शन में मन की शुद्धता और नैतिकता का महत्व कितना अधिक है।

AI और अभिधम्म के बीच कुछ समानताएं हैं:

1. दोनों मानते हैं कि मस्तिष्क/मन एक प्रक्रिया है, न कि कोई स्थिर इकाई।
2. दोनों मानते हैं कि ज्ञान और समझ अनुभव और सीखने से आती है।
3. दोनों पैटर्न पहचान और निर्णय लेने की प्रक्रियाओं का अध्ययन करते हैं।

लेकिन कुछ महत्वपूर्ण अंतर भी हैं:

1. अभिधम्म मानता है कि मन की पूर्ण समझ आत्म-जागरूकता और ध्यान से आती है, जबकि AI बाहरी डेटा और प्रोग्रामिंग पर निर्भर करता है।
2. अभिधम्म का लक्ष्य दुःख से मुक्ति है, जबकि AI का लक्ष्य कार्यक्षमता और प्रदर्शन में सुधार है।
3. अभिधम्म नैतिक और आध्यात्मिक विकास पर जोर देता है, जो AI में

अभी तक एक चुनौती है।

लेकिन जैसा आपने सही कहा, AI अभी तक बुद्ध के ध्यान और साक्षात्कार के स्तर तक पहुंचने में असमर्थ है। बुद्ध ने कहा था:

"अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया" (Dhp 160)

अर्थात: "स्वयं ही अपना स्वामी है, दूसरा कौन स्वामी हो सकता है?"

यह दर्शाता है कि आत्म-साक्षात्कार और आध्यात्मिक उन्नति एक व्यक्तिगत यात्रा है, जिसे कोई बाहरी तकनीक या उपकरण पूरी तरह से प्रतिस्थापित नहीं कर सकता।

जबकि AI बौद्ध शिक्षाओं के कुछ पहलुओं को समझने और उनके प्रसार में मदद कर सकता है, लेकिन वह बौद्ध धर्म के गहन आध्यात्मिक आयाम को पूरी तरह से प्राप्त करने या प्रतिस्थापित करने में असमर्थ है। बौद्ध धर्म की आध्यात्मिक यात्रा एक गहन व्यक्तिगत अनुभव है जो आत्म-अन्वेषण, ध्यान, और जीवन के प्रति एक नए दृष्टिकोण की मांग करता है - ऐसे पहलू जो AI के वर्तमान क्षमताओं से परे हैं।

बौद्ध धर्म और आध्यात्मिकता

बौद्ध धर्म का प्रमुख उद्देश्य आत्मज्ञान, मानसिक शांति, और व्यक्तिगत विकास है। बुद्ध ने ध्यान, साक्षात्कार, और मानसिक अनुशासन के माध्यम से आत्मा के सत्य को पहचानने का मार्ग प्रशस्त किया। बौद्ध दृष्टिकोण में, आत्मज्ञान केवल ज्ञान का संग्रह नहीं है, बल्कि यह एक गहन अनुभव है जो व्यक्ति को वास्तविकता की गहराई में ले जाता है। बुद्ध के अनुसार, ध्यान साधना व्यक्ति को अपने भीतर की शांति और सच्चे ज्ञान की ओर ले जाती है, जो कि जीवन के जटिलताओं से परे है।

AI और इसके उद्देश्य

कृत्रिम बुद्धिमत्ता का ध्यान केवल तात्कालिक समस्याओं का समाधान करने पर होता है। AI तकनीकें जैसे मशीन लर्निंग, डीप लर्निंग, और डेटा एनालिटिक्स का उपयोग मुख्यतः व्यावसायिक, औद्योगिक, और दैनिक जीवन की चुनौतियों को हल करने के लिए किया जाता है। AI अपने कार्य में सटीक और त्वरित हो सकता है, लेकिन यह मानवीय अनुभवों, भावनाओं, और आत्मिक विकास के गहरे स्तर को नहीं समझता है। AI की प्रेरणा डेटा और एल्गोरिदम पर आधारित होती है, जो इसके निर्णयों को मानव भावनाओं से अलग रखती है।

AI का आध्यात्मिक पहलू

हालांकि AI का आध्यात्मिक आयाम सीमित है, फिर भी कुछ प्रयास किए जा रहे हैं, जो इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण हो सकते हैं। जैसे कि:

ध्यान और मानसिक स्वास्थ्य ऐप्स

आजकल कई मोबाइल ऐप्स और प्लेटफॉर्म हैं जो ध्यान, योग, और मानसिक स्वास्थ्य पर केंद्रित हैं। ये ऐप्स उपयोगकर्ताओं को तनाव प्रबंधन, मानसिक शांति, और ध्यान अभ्यास में सहायता प्रदान करते हैं। इनमें से कई ऐप्स बौद्ध सिद्धांतों और ध्यान तकनीकों को समाहित करते हैं, जो व्यक्तिगत विकास और मानसिक शांति के लिए सहायक हो सकते हैं।

उदाहरण:

Headspace: यह ऐप ध्यान और मानसिक स्वास्थ्य को बढ़ावा देने के लिए उपयोगकर्ताओं को विभिन्न तकनीकों और अभ्यासों के माध्यम से मार्गदर्शन करता है।

Calm: यह ऐप भी ध्यान, नींद में सुधार, और मानसिक स्वास्थ्य पर ध्यान केंद्रित करता है।

साक्षात्कार की तकनीकें

AI का उपयोग कुछ क्षेत्रों में ध्यान और साक्षात्कार की तकनीकों को समझने और लागू करने के लिए किया जा रहा है। कुछ शोध AI को उपयोग करके ध्यान के प्रभावों का अध्ययन कर रहे हैं और यह समझने का प्रयास कर रहे हैं कि कैसे ये तकनीकें मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित कर सकती हैं।

AI की सीमाएँ

हालांकि AI के ये प्रयास उपयोगी हो सकते हैं, लेकिन वे बुद्ध के ध्यान और साक्षात्कार के स्तर तक पहुँचने में असमर्थ हैं। बुद्ध का ध्यान केवल तकनीकी दक्षता से नहीं, बल्कि गहरे व्यक्तिगत अनुभव और आत्म-साक्षात्कार से जुड़ा होता है।

- **अनुभवात्मक ज्ञान:** AI संवेदनाओं और अनुभवों को नहीं समझ सकता है। यह केवल डेटा को संसाधित करता है, लेकिन मानवीय अनुभव को नहीं जी सकता।
- **भावनात्मक गहराई:** बुद्ध का ध्यान भावनात्मक और मानसिक गहराई में उतरता है, जबकि AI केवल तात्कालिक डेटा पर आधारित होता है। AI सहानुभूति, करुणा, और अन्य मानवीय भावनाओं का अनुभव नहीं कर सकता है।

कृत्रिम बुद्धिमत्ता का आध्यात्मिक आयाम अभी भी विकासशील है। AI के उद्देश्यों का ध्यान केवल सूचना संसाधन क्षमता को बढ़ाने पर है, जबकि बौद्ध धर्म का ध्यान आत्मज्ञान और मानसिक शांति प्राप्त करने पर है। हालांकि AI कुछ उपयोगी उपकरण प्रदान कर सकता है, जो मानसिक शांति की दिशा में सहायक हो सकते हैं, फिर भी यह बुद्ध के गहन ध्यान और साक्षात्कार के अनुभवों की तुलना में बहुत दूर है। भविष्य में, यदि AI को आध्यात्मिक और नैतिक पहलुओं के साथ जोड़ा जा सके, तो यह मानवता के लिए एक नई दिशा और संभावनाओं का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

AI और बौद्ध दर्शन: भविष्य की संभावनाएँ

भविष्य में कृत्रिम बुद्धिमत्ता और बौद्ध दर्शन के बीच गहरा संवाद संभव हो

सकता है। जिस प्रकार AI मस्तिष्क और चेतना की कार्यप्रणाली को समझने का प्रयास कर रहा है, वह बौद्ध विचारधारा के गहन अध्ययन का हिस्सा बन सकता है। क्या AI कभी बुद्ध के ध्यान और जागरूकता की गहराई तक पहुँच पाएगा? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है, जो तकनीकी और आध्यात्मिक जगत के बीच एक सेतु बनाने की संभावना को दर्शाता है। AI के भविष्य के विकास में यदि नैतिकता, करुणा और आध्यात्मिकता को जोड़ा जा सके, तो यह मानवता के लिए एक नई दिशा का निर्धारण कर सकता है।

भविष्य की संभावनाएँ

हालांकि AI और बौद्ध धर्म के बीच सीधा संवाद सीमित है, फिर भी इन दोनों के बीच संभावनाएं हैं। जैसे-जैसे AI तकनीक विकसित हो रही है, ऐसे अवसर हो सकते हैं जब AI को अधिक आध्यात्मिक और नैतिक विचारों से जोड़ा जा सके।

- **अध्ययन और शोध:** शोधकर्ताओं और वैज्ञानिकों के बीच AI के आध्यात्मिक आयाम के संबंध में अधिक अध्ययन और शोध की आवश्यकता है, जिससे AI को मानसिक स्वास्थ्य और व्यक्तिगत विकास के क्षेत्र में और अधिक उपयोगी बनाया जा सके।
- **इंटरफेस:** भविष्य में, AI तकनीक को एक ऐसा इंटरफेस विकसित करने के लिए डिज़ाइन किया जा सकता है, जो बौद्ध सिद्धांतों के साथ संगत हो और मानसिक शांति और आत्मज्ञान की ओर मार्गदर्शन करे।

AI और बौद्ध दर्शन के बीच भविष्य की संभावनाओं पर एक बहुत ही गहन और विचारोत्तेजक प्रश्न है। यह वास्तव में एक ऐसा विषय है जो तकनीकी और आध्यात्मिक क्षेत्रों के बीच एक संवाद की आवश्यकता को दर्शाता है।

1. AI और बौद्ध दर्शन का संवाद:

बौद्ध दर्शन में मन और चेतना के बारे में गहन समझ है, जो AI अनुसंधान को नए दृष्टिकोण प्रदान कर सकती है। उदाहरण के लिए, अभिधम्म में वर्णित चित्त-वीथि (मानसिक प्रक्रिया) का सिद्धांत AI में न्यूरल नेटवर्क के डिजाइन को प्रभावित कर सकता है।

2. AI और ध्यान:

AI ध्यान की प्रक्रिया और उसके प्रभावों का अध्ययन करने में मदद कर सकता है। यह ध्यान के दौरान होने वाले मस्तिष्क की गतिविधियों का विश्लेषण कर सकता है और इस ज्ञान का उपयोग AI सिस्टम में किया जा सकता है।

3. नैतिकता और करुणा:

बौद्ध दर्शन की नैतिक शिक्षाएँ AI में नैतिक निर्णय लेने की क्षमता विकसित करने में मदद कर सकती हैं। बुद्ध की करुणा की शिक्षा AI को अधिक मानवीय और संवेदनशील बनाने में मदद कर सकती है।

बुद्ध ने कहा था:

"सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये॥" (Dhp 129)

अर्थात: "सभी दंड से डरते हैं, सभी मृत्यु से भयभीत हैं। अपने को दूसरों के स्थान पर रखकर, न मारो और न मारने दो।"

यह श्लोक करुणा और अहिंसा के महत्व को दर्शाता है, जो AI के नैतिक विकास में महत्वपूर्ण हो सकता है।

4. जागरूकता और आत्म-जागरूकता:

बौद्ध दर्शन में जागरूकता का महत्वपूर्ण स्थान है। AI में आत्म-जागरूकता विकसित करने के प्रयासों में बौद्ध सिद्धांतों का उपयोग किया जा सकता है।

5. दुःख और मुक्ति:

बौद्ध दर्शन दुःख के कारणों और उससे मुक्ति पाने के मार्ग पर केंद्रित है। AI इस ज्ञान का उपयोग मानव कल्याण को बढ़ाने वाले समाधान विकसित करने में कर सकता है।

6. अनित्यता और परिवर्तन:

बौद्ध दर्शन में अनित्यता का सिद्धांत AI को अधिक लचीला और अनुकूलनशील बनाने में मदद कर सकता है।

हालांकि, यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि AI और बौद्ध दर्शन के बीच कुछ मौलिक अंतर हैं:

1. अनुभव की प्रकृति: बौद्ध दर्शन व्यक्तिगत अनुभव और आत्म-साक्षात्कार पर आधारित है, जबकि AI डेटा और एल्गोरिदम पर निर्भर करता है।

2. चेतना की प्रकृति: बौद्ध दर्शन चेतना को एक गहन, आत्म-जागरूक प्रक्रिया के रूप में देखता है, जबकि AI में चेतना अभी भी एक विवादास्पद विषय है।

3. मुक्ति का लक्ष्य: बौद्ध दर्शन का अंतिम लक्ष्य दुःख से मुक्ति और निर्वाण की प्राप्ति है, जबकि AI का लक्ष्य कार्यक्षमता और प्रदर्शन में सुधार है।

बुद्ध ने कहा था:

"अप्पमादो अमतं पदं, पमादो मच्चुनो पदं।
अप्पमत्ता न मीयन्ति, ये पमत्ता यथा मता॥" (Dhp 21)

अर्थात: "सतर्कता अमरता का मार्ग है, असावधानी मृत्यु का मार्ग। जो सतर्क हैं, वे नहीं मरते; जो असावधान हैं, वे मृतकों के समान हैं।"

यह श्लोक सतर्कता और जागरूकता के महत्व को दर्शाता है, जो AI के विकास में भी महत्वपूर्ण हो सकता है।

AI और बौद्ध दर्शन के बीच संवाद निश्चित रूप से दोनों क्षेत्रों को समृद्ध कर सकता है। AI बौद्ध सिद्धांतों से सीख सकता है और अधिक नैतिक, करुणामय और जागरूक बन सकता है। दूसरी ओर, बौद्ध दर्शन AI के माध्यम से अपने सिद्धांतों का व्यापक प्रसार और अनुप्रयोग देख सकता है।

हालांकि, यह याद रखना महत्वपूर्ण है कि बौद्ध दर्शन का गहन आध्यात्मिक आयाम - जैसे निर्वाण की अनुभूति - वह है जो शायद हमेशा मानव अनुभव के क्षेत्र में ही रहेगा। AI इस दिशा में प्रगति कर सकता है, लेकिन क्या वह कभी बुद्ध के ध्यान और जागरूकता की गहराई तक पहुँच पाएगा, यह एक खुला प्रश्न है जो भविष्य में और अधिक अनुसंधान और चिंतन की मांग करता है। कृत्रिम बुद्धिमत्ता और बौद्ध दर्शन के बीच संवाद का भविष्य बेहद संभावनाशील है। जब AI को बौद्ध सिद्धांतों, नैतिकता, और करुणा के साथ जोड़ा जाएगा, तो यह न केवल तकनीकी रूप से उन्नत होगा, बल्कि यह मानवता के लिए एक गहन आध्यात्मिक दिशा भी प्रदान करेगा। यह संवाद हमें न केवल तकनीकी दृष्टि से, बल्कि मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी उन्नति करने में सहायता करेगा, और संभवतः एक नए युग की शुरुआत करेगा

निष्कर्ष

बुद्ध, अभिधम्म और कृत्रिम बुद्धिमत्ता तीनों ही मस्तिष्क और चेतना की कार्यप्रणाली को समझने के प्रयास हैं, लेकिन उनकी दृष्टि और उद्देश्य भिन्न हैं। बुद्ध का दृष्टिकोण नैतिकता, दया और करुणा पर आधारित है, जबकि AI का ध्यान जानकारी के संसाधन और निष्पादन पर केंद्रित है। दोनों के बीच संवाद और समन्वय की संभावनाएँ हैं, जो मानवता के लिए नई संभावनाओं को जन्म दे सकती हैं। बौद्ध चिंतन और AI के इस समन्वय से एक नई आध्यात्मिक और तकनीकी क्रांति की संभावनाएँ बन सकती हैं।

AI का विकास केवल तकनीकी समस्याओं के समाधान तक सीमित नहीं है; यह मानव जीवन की गुणवत्ता में सुधार करने की दिशा में भी एक कदम है। बौद्ध दर्शन, जो मानव जीवन की गहराई और उसकी जटिलताओं को समझने का प्रयास करता है, AI को मानसिक और आध्यात्मिक स्तर पर उन्नत करने के लिए एक महत्वपूर्ण संदर्भ प्रदान कर सकता है।

मानसिक स्वास्थ्य और समृद्धि: बौद्ध धर्म के अनुसार, मानसिक स्वास्थ्य और समृद्धि प्राप्त करने के लिए ध्यान और करुणा की आवश्यकता होती है। AI, जब इन तत्वों को अपने मॉडल में शामिल करेगा, तो यह मानसिक स्वास्थ्य ऐप्स, वेबिनार, और अन्य साधनों के माध्यम से उपयोगकर्ताओं को अधिकतम लाभ पहुँचा सकेगा।

AI की नैतिकता और आध्यात्मिकता

AI के विकास में नैतिकता, करुणा और आध्यात्मिकता को शामिल करना आवश्यक है। बौद्ध धर्म इन मूल्यों को अत्यधिक महत्व देता है, और AI यदि इन्हें अपने प्रोग्रामिंग में शामिल कर सके, तो यह मानवता के लिए एक नई दिशा का निर्धारण कर सकता है।

नैतिक निर्णय: AI का नैतिक निर्णय लेने की क्षमता बढ़ाने के लिए, बौद्ध सिद्धांतों का उपयोग किया जा सकता है। जैसे, दया और करुणा के सिद्धांत AI को बेहतर तरीके से निर्णय लेने में मदद कर सकते हैं, जिससे यह मानव भावनाओं और आवश्यकताओं को समझ सकेगा।

विज्ञान और बौद्ध दर्शन के बीच समन्वय

AI और बौद्ध दर्शन के बीच संवाद को बढ़ावा देने के लिए, विज्ञान और आध्यात्मिकता के बीच समन्वय की आवश्यकता होगी। बौद्ध विचारधारा के गहन अध्ययन से AI को मस्तिष्क और चेतना की कार्यप्रणाली को समझने में सहायता मिल सकती है।

- **अध्ययन और अनुसंधान:** विभिन्न शोध और अध्ययन कार्यक्रमों के माध्यम से, AI और बौद्ध धर्म के सिद्धांतों को जोड़ा जा सकता है। यह अध्ययन दोनों क्षेत्रों में नए दृष्टिकोणों और तकनीकों को विकसित करने में सहायक हो सकता है।

1. दृष्टिकोण का अंतर:

जैसा आपने कहा, बुद्ध, अभिधम्म और AI के दृष्टिकोण अलग-अलग हैं। बुद्ध का दृष्टिकोण मुख्य रूप से दुःख से मुक्ति पर केंद्रित है, जबकि AI का ध्यान समस्या समाधान और कार्यक्षमता पर है।

बुद्ध ने कहा था:

"दुक्खमेव हि संभोति, दुक्खं तिट्ठति वेति च।
नाञ्ञत्र दुक्खा संभोति, नाञ्ञं दुक्खा निरुज्झति॥" (SN 5.10)

अर्थात: "केवल दुःख ही उत्पन्न होता है, दुःख ही रहता है और मिटता है। दुःख के अलावा कुछ भी उत्पन्न नहीं होता, दुःख के अलावा कुछ भी नहीं मिटता।"

2. नैतिकता और करुणा:

बौद्ध दर्शन में नैतिकता और करुणा केंद्रीय स्थान रखते हैं। AI में इन मूल्यों

को शामिल करना एक महत्वपूर्ण चुनौती है, लेकिन यह भविष्य के लिए आवश्यक है।

3. ज्ञान और बुद्धिमत्ता:

बौद्ध दर्शन में ज्ञान का अर्थ केवल सूचना का संग्रह नहीं, बल्कि गहन समझ और अंतर्दृष्टि है। AI इस दिशा में प्रगति कर रहा है, लेकिन अभी भी यह मानव बुद्धिमत्ता के कई पहलुओं को पूरी तरह से समझ नहीं पाया है।

4. चेतना और आत्म-जागरूकता:

बौद्ध दर्शन में चेतना और आत्म-जागरूकता का गहन अध्ययन है। AI में इन अवधारणाओं को लागू करना एक बड़ी चुनौती है, लेकिन यह भविष्य के AI सिस्टम्स के लिए महत्वपूर्ण हो सकता है।

5. परिवर्तन और अनुकूलन:

बौद्ध दर्शन अनित्यता के सिद्धांत पर जोर देता है। यह सिद्धांत AI को अधिक लचीला और अनुकूलनशील बनाने में मदद कर सकता है।

6. समन्वय की संभावनाएँ:

जैसा आपने कहा, बौद्ध चिंतन और AI के बीच समन्वय से नई संभावनाएँ खुल सकती हैं। यह समन्वय न केवल तकनीकी प्रगति, बल्कि मानवीय मूल्यों और आध्यात्मिक विकास को भी बढ़ावा दे सकता है।

बुद्ध ने कहा था:

"सब्बदानं धम्मदानं जिनाति,

सब्बरसं धम्मरसो जिनाति।

सब्बरतिं धम्मरति जिनाति,

तण्हक्खयो सब्बदुक्खं जिनाति॥" (Dhp 354)

अर्थात: "धम्म का दान सभी दानों में श्रेष्ठ है, धम्म का रस सभी रसों में श्रेष्ठ है, धम्म की प्रीति सभी प्रीतियों में श्रेष्ठ है, तृष्णा का क्षय सभी दुःखों को जीत लेता है।"

यह श्लोक दर्शाता है कि धम्म (या सत्य की समझ) सर्वोच्च है। इसी प्रकार, AI और बौद्ध दर्शन के समन्वय का लक्ष्य भी सत्य की गहरी समझ और मानवता के कल्याण को बढ़ावा देना होना चाहिए।

बुद्ध, अभिधम्म और AI के बीच संवाद और समन्वय न केवल तकनीकी प्रगति, बल्कि मानवीय मूल्यों, नैतिकता और आध्यात्मिक विकास को भी बढ़ावा दे सकता है। यह समन्वय एक ऐसी नई दिशा की ओर ले जा सकता है जहां तकनीकी प्रगति और आध्यात्मिक विकास एक-दूसरे के पूरक बन सकें। हालांकि, यह याद रखना महत्वपूर्ण है कि इस प्रक्रिया में मानवीय मूल्यों और नैतिकता को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. धम्मपद, पाली टेक्स्ट सोसाइटी
2. आचार्य नरेंद्र शास्त्री (2021). बौद्ध दर्शन और विज्ञान: अभिधम्म और कृत्रिम बुद्धिमत्ता का तुलनात्मक अध्ययन. नई दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन.
3. कुमार, वी. (2020). ध्यान, चेतना और कृत्रिम बुद्धिमत्ता: बौद्ध धर्म की दृष्टि से. वाराणसी: चंद्रप्रकाशन.
4. शर्मा, आर.के. (2018). बौद्ध मनोविज्ञान और आधुनिक विज्ञान के सिद्धांत. मुंबई: एशियाटिक पब्लिशर्स.
5. सिंह, ए. (2022). बुद्ध का दृष्टिकोण और आधुनिक न्यूरोसाइंस: एक समालोचनात्मक अध्ययन. कोलकाता: ज्ञानदीप प्रकाशन.
6. अय्यर, पी. (2019). बुद्ध, चेतना और आधुनिक प्रौद्योगिकी: अभिधम्म के सिद्धांतों की प्रासंगिकता. चेन्नई: सरस्वती हाउस.

*****

संयुक्त राष्ट्र संघ: विश्व शांति एवं भारत की भूमिका

-गोविन्द सोनकर
सहायक अध्यापक, राजनीति विज्ञान विभाग,
दयाल सिंह कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय।

सारांश:-

इस पेपर का दृष्टिकोण संयुक्त राष्ट्र संघ के विषय में संक्षिप्त जानकारी प्रदान करने से है। संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्य उद्देश्य एवं सिद्धांन्त क्या है? इसकी स्थापना के मूलभूत कारण क्या है? संयुकत राष्ट्र संघ के मुख्य अंग एवं इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में भारत की भूमिका क्या है? उसके ऊपर भी फोकस किया गया है।

संकेत शब्द:-

संयुक्त राष्ट्र संघ, युद्ध, सुरक्षा, शांति, महासभा, सुरक्षा-परिषद, सामाजिक एवं आर्थिक परिषद, न्यास-परिषद, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, सचिवालय, चार्टर, अनुच्छेद।

प्रस्तावना:-

संयुक्त राष्ट्र संघ, विश्व की एक लोकप्रिय एवं प्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है जो कि अपनी स्थापना के प्रारम्भ से लेकर वर्तमान समय में विश्व शांति के लिए समर्पित है। यह एक ऐसा संगठन है, जोकि समग्र विश्व में व्याप्त अन्तर्राष्ट्रीय विवादो झगड़ों संघर्षों के शांतिपूर्ण समाधन की बात करता है। समकालीन विश्व में देखा जाय तो राष्ट्रों के मध्य अनेको तरह के विवाद, झगड़े एवं संघर्ष देखने को मिलते हैं। सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि इन सभी मामले का समाधन कैसे किया जाय? जैसा कि हम सभी जानते है कि युद्ध के द्वारा हम सभी समस्याओं का समाधन नहीं कर सकते है। विश्व के अधिकांश राष्ट्र, अपनी सीमाओं, नदियों के जल के बँटवारे, परमाणु अस्त्रों के बढ़ते होड़ को लेकर आपस में लड़ते-झगड़े रहते है। उदाहरण के रूप में भारत एवं पाकिस्तान के मध्य कश्मीर समस्याँ, भारत एवं चीन के बीच सीमा विवाद, उत्तर-कोरिया एवं दक्षिण कोरिया की समस्याँ, दक्षिण चीन सागर विवाद इत्यादि। इन सभी समस्याओं को शांतिपूर्ण तरीके से समाधन करने हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गयी।

संयुक्त राष्ट्र संघ:-

वर्तमान समय में संयुक्त राष्ट्र संघ, संसार में सम्प्रभुता-सम्पन्न राष्ट्रों का एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है, जोकि विश्व शांति एवं राष्ट्रों को युद्ध से बचाने हेतु कार्य करने के लिए समर्पित है। समकालीन विश्व में व्याप्त अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण समाधान की ओर अग्रसर है। भारतीय संविधन के अनुच्छेद **51** में कहा गया है कि भारत सभी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधन की वकालत करता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ का विकास:

संयुक्त राष्ट्र संघ के विकास के संदर्भ में कहा जाता है कि इसका उदय द्वितीय विश्व युद्ध **(1** सितम्बर **1939 -** सितम्बर **1945)** के पश्चात् हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध में सम्पूर्ण विश्व दो भागों में विभाजित था। एक तरफ जहाँ धुरी राष्ट्रों का नेतृत्व इटली, जापान, जर्मनी सहित सभी पूर्वी राष्ट्र शामिल थे। वही दूसरी तरफ मित्र राष्ट्रो का नेतृत्व ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका सहित सभी पश्चिमी राष्ट्र शामिल थे। संयुक्त राष्ट्र संघ से पहले लीग ऑफ नेशन की स्थापना किया गया। लीग ऑफ नेशन की स्थापना के पीछे मुख्य कारण यह था कि प्रथम विश्व युद्ध जो कि **1914** से लेकर **1918** तक चला। इस युद्ध में लाखों लोग मारे गये। भविष्य में इस तरह के युद्ध एवं आक्रमण से सृष्टि को बचाने हेतु एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता महसूस की गयी जिसे लीग ऑफ नेशंस के नाम से जाना जाता है।

राष्ट्र संघ:-

लीग ऑफ नेशंस की स्थापना 10 जनवरी, **1920** में की गयी। इसका मुख्य उद्देश्य प्रथम विश्व- युद्ध में हुए भीषण नर-संहार को रोकने, राष्ट्रों के मध्य शांति की स्थापना करनाए अन्तर्राष्ट्रीय विवादों, झगड़ों एवं संघर्षों का समाधन करना, आक्रमणकारी राष्ट्रों के विरूद्ध सदस्य देशों के मध्य सामूहिक-सुरक्षा को बनाये रखना एवं विश्वशांति को कायम रखने हेतु की गयी। यह भी एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन था, परन्तु जिन उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए इसका गठन किया गया, उनको प्राप्त करने में यह पूरी तरह से असफल रहा।

सितम्बर **1939** में द्वितीय विश्वयुद्ध की शुरूआत हो जाने के कारण लींग ऑफ नेशंस अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में फेल हो गया। एक बार पुनः सम्पूर्ण विश्व भीषण नर-संहार की चपेट में आ गया।

लीग ऑफ नेशंस की प्रंसविदा में कुल **26** अनुच्छेद है और यह तीन प्रमुख अंगो से मिलकर बना था। ये तीन प्रमुख अंग क्रमशः सभा, परिषद् और स्थाई सचिवालय है, जिनसे लीग आफ नेशंस का निर्माण हुआ इसके अतिरिक्त अपने कार्यों को सुचारू-रूप से करने हेतु राष्ट्र संघ के दो महत्त्वपूर्ण अंग क्रमशः अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का स्थायी आयोग एवं अन्तर्राष्ट्रीय श्रम मंत्रालय थे, जो कि सहयोगी अंग के रूप में कार्य करते थे।

लीग ऑफ नेशंस की असफलता एवं द्वितीय विश्व- युद्ध शुरू हो जाने से संयुक्त राष्ट्र संघ का उदय हुआ।

संयुक्त राष्ट्र संघ की उत्पत्ति:-

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना **24** अक्टूबर **1945** को हुआ। प्रारम्भ में इसमें कुल **51** देश शामिल थे, परन्तु वर्तमान समय में संयुक्त राष्ट्र संघ में कुल **193** सम्प्रभुता सम्पन्न देशों का एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बन चुका है। इसकी उत्पत्ति के सन्दर्भ में कहा जाता है कि प्रथम विश्व- युद्ध को रोकने हेतु लीग ऑफ नेशंस का गठन किया गया परन्तु राष्ट्र संघ के असफल हो जाने के कारण एवं द्वितीय विश्व- युद्ध में हुये भीषण जन संहार को रोकने हेतु तथा मानव प्रजाति को सुरक्षित जीवन प्रदान करने हेतु इसका गठन किया गया। यद्यपि भारत के ऊपर ब्रिटिशों का औपनिवेशिक शासन होने के बावजूद की वह लीग ऑपफ नेशंस का सदस्य था। भारत का प्रतिनिधि स्वतंत्र रूप से निर्णय नहीं ले पाता था। उसका प्रतिनिधि वही कहता था जो ब्रिटिश शासन कहती थी। संयुक्त राज्य

अमेरिका जो कि वर्तमान समय में विश्व का सबसे शक्तिशाली राष्ट्र है, वह भी लीग ऑफ नेशंस का सदस्य नहीं था। संयुक्त राष्ट्र संघ शब्द का चयन अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने किया था। संयुकत राज्य अमेरिका की राजधनी वाशिंगटन डी.सी. में डम्बार्टन ओक्स नामक स्थान पर एक सम्मेलन हुआ, जिसमें संयुक्त राष्ट्र के चार्टर का प्रारूप तैयार किया गया। संविधान के इस प्रारूप या संविदा को अमेरिका के सैन फ्रांसिसकों सम्मेलन में **1945** में स्वीकार कर लिया गया। ब्रिटेन, सोवियत संघ, चीन, अमेरिका और फ्रांस संविधान के प्रस्तावक बने और लगभग दो महीने के बाद **50** देशों ने हस्ताक्षर करके इसे अमली जामा पहना दिया। अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट की मृत्यु हो जाने के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र के चार्टर को अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रुमैन ने इसे आगे बढ़ाया।

संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता:

विश्व के किसी भी राष्ट्र को संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता आसानी से प्रदान की जा सकती है, बशर्ते वह शांति प्रिय एवं सम्प्रभु-सम्पन्न राष्ट्र होना आवश्यक है। विश्व का कोई भी राष्ट्र जिसने **1** जनवरी **1942** के संयुक्त राष्ट्र के घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किया हो, उन सभी राष्ट्रों को इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का सदस्य आसानी से बनाया जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुच्छेद में कहा गया है कि विश्व के वे सभी राष्ट्र, संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य बन सकते है, जिन्होंने सैन फ्रान्सिसको सम्मेलन में भाग लिया हो। दिसम्बर **1991** में सोवियत संघ के विघटन हो जाने के पश्चात् उन सभी **15** राष्ट्र को भी संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता प्रदान कर दी गयी। **1971** में पाकिस्तान से अलग होकर बनने वाला नव-स्वतंत्र राष्ट्र बंग्लादेश को भी संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता प्रदान कर दी गयी। चार्टर के अनुच्छेद में यह कहा गया है कि वे राष्ट्र जो कि शांति-प्रिय मार्ग का अनुसरण करते हो, उन्हें भी संघ का सदस्य बनाया जा सकता है। साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद से स्वतंत्र हुऐं नये-स्वतंत्र राष्ट्रों को भी संघ की सदस्यता प्रदान कर दी गयी।

संगठन की आवश्यकता:-

संयुक्त राष्ट्र संघ की आवश्यकता इसलिए महससू की गयी कि द्वितीय विश्व युद्ध में हुए भीषण नर संहार, गरीबी, निर्धनता, स्वास्थय सुविधाओं के अभाव के कारण इस संगठन की आवश्यकता महसूस की गयी। यह भी कहा जाता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के द्वारा जापान के हिरोशिमा एवं नागासाकी के उपर तीन एवं छः अगस्त **1945** को गिराये गये एटम-बम के कारण लोखों लोग काल के गाल में समा गये। अतः विश्वशांति, सुरक्षा एवं न्याय की स्थापना करने हेतु विश्व के सभी गणमान्य नेताओं ने एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता को महसूस किया जिसके पफलस्वरूप इसकी उत्पत्ति हुयी। युद्ध की विभिषिका एंव मानवजाति की सभ्यता एवं संस्कृति को सुरक्षित बनाये रखने हेतु एक अर्न्तराष्ट्रीय संगठन की जरूरत महसूस की गयी, जिसे संसार के गणमान्य नेताओं ने संयुक्त राष्ट्र संघ की संज्ञा दी। भविष्य में आगे चल कर इस तरह की घटना एवं युद्ध से राष्ट्रो को बचाने हेतु इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की गयी। सैधान्तिक दृष्टि से तो ये सब सही प्रतीत होता है, परन्तु व्यवहारिक धरातल पर जब हम देखते है तो पाते है कि इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना हो जाने के बाद भी राष्ट्रों के मध्य कई बार लड़ाई लड़ी गयी। उदाहरण के रूप में हिन्दुस्तान एवं पाकिस्तान के बीच अक्टूबर **1947** का युद्ध, **1965** का युद्ध, **1971** का युद्ध, **1999** का युद्ध, भारत एवं चीन के मध्य हुऐं **1962** का युद्ध, जून **1950** में हुऐं उत्तर कोरिया एवं दक्षिण कोरिया के बीच युद्ध, अमेरिका के द्वारा **2001** में इराक पर किया गया आक्रमण इत्यादि, इसके ज्वलंत मिसाल है। संसार में ब्याप्त झगड़ों, विवादों, संघर्षों, एवं लड़ाईयों के शांतिपूर्ण समाधन करने हेतु इसकी स्थापना की गयी। राष्ट्रों के मध्य मैत्रीपूर्ण संबंधो को बनाये रखने हेतु, सीमा-विवादों को सुलझाने एवं नदियों के जल के बँटवारे की समस्या को सुलझाने हेतु इस संगठन की आवश्यकता को महसूस की गयी, जिसके फलस्वरूप इसका उदय हुआ।

संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य:-

संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों के विषय में चार्टर के अनुच्छेद **1** में विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। जो कि निम्नवत् है।

1.अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को बनाये रखना:-

संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रमुख उद्देश्य यह है कि विश्व के सभी राष्ट्रों के बीच शांति एवं सुरक्षा को बनाये रखना, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के द्वारा समाधन करके संसार के सभी राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों एवं भाई चारे की भावना को विकसित करके एक बेहतर भविष्य का निर्माण करने से है। न्याय एवं शांति को भंग करने वाले आक्रमणकारी राष्ट्र की पहचान करके उसके खिलाफ सामूहिक-सुरक्षा की कार्यवाही करना। संघ में शामिल सभी सदस्य देशों के बीच व्याप्त अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों एवं विवादों के निपटारे हेतु एक ऐसा प्रयास करना जिससे कि सुरक्षा, शांति और न्याय खतरे में न पड़े।

2.**मित्रतापूर्ण सम्बन्धों का विकास:-**

संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रथम राजनीतिक उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को कायम रखना है। परन्तु यह भी सत्य है कि इसका दूसरा प्रमुख उद्देश्य यह है कि विश्व के सभी राष्ट्रों के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास करके शांति एवं सुरक्षा की स्थापना की जाये। शांति एवं सुरक्षा की स्थापना हेतु राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का होना अति आवश्यक है। भय एवं ईर्ष्या की भावना को समाप्त करने हेतु मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का होना अति आवश्यक है। मित्रतापूर्ण सम्बन्धों के द्वारा ही राष्ट्रों के मध्य आत्म-निर्णय एवं समान अधिकारों के सिद्धान्त को लागू किया जा सकता है। शांति, सुरक्षा एवं सुव्यवस्था को कायम रखने हेतु यह आवश्यक है।

3.**अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग:-**

संयुक्त राष्ट्र संघ का तीसरा प्रमुख उद्देश्य है कि राष्ट्रों के मध्य सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, मानवीय एवं सांस्कृतिक समस्याओं का समाधन करके अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना को विकसित करके प्रजातांत्रिक मूल्यों को स्थापित करना उसका एक प्रमुख कर्तव्य है। विश्व के सभी राष्ट्रों के बीच जाति, भाषा, लिंग, रंग, धर्म और क्षेत्र के आधार पर हो रहे भेदभाव को समाप्त करके अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना को विकसित करने से है। जिससे कि मानव अधिसकारों की स्वतंत्रता की सुरक्षा की जा सके। इन उद्देश्यों की पूर्ति करने हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपने विशिष्ट एजेसियों जैसे विश्व व्यापार संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, विश्व स्वास्थ्य संगठन, विश्व बैंक इत्यादि अभिकरणों के साथ सहयोग की नीति को अपनायेगा।

4.**समन्वय:-**

इन सभी कार्यों को करने एवं उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ का अपने एजेंसियों के बीच समन्वय स्थापित करना बहुत ही आवश्यक है। प्रायः ऐसा देखा गया है कि शीतयुद्ध की राजनीति में संयुक्त राष्ट्र संघ अपने निर्णय लेने में

असफल रहा है। केवल संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा-परिषद् के निर्णय ही बाध्यकारी रहे है लेकिन वह भी शीतयुद्ध की राजनीति में निर्णय लेने में विफल रहा है। अतः सामंजस्य के अभाव में संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर केवल उच्च आदर्शों का घोषणा-पत्र बनकर रह जायेगा।

संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख अंग:-

संयुक्त राष्ट्र संघ, छः महत्वपूर्ण अंगो से मिलकर से बना है जिनके अलग-अलग कार्य है, जो कि निम्नवत् है।

महासभा:-

यह संघ की सबसे बड़ी एवं लोकप्रिय संस्था है। महासभा की बैठक वर्ष में एक बार सितम्बर महीने में आयोजित की जाती है। इस बैठक की अध्यक्षता महासभा का सभापति करता है। इसे संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रतिनिध्यात्मक अंग के रूप में भी जाना जाता है। संघ के सभी सदस्य राष्ट्र इसके सदस्य होते है। सभी सदस्य राज्यों को संघ के चार्टर के अनुच्छेद **18** के तहत् वोंटिग अधिकार भी प्रदान किया गया है। महासभा में संघ के सभी सदस्य-राष्ट्रों को एक समान प्रतिनिधिसत्व प्रदान किया गया है, जिसमें **5** प्रतिनिधी एवं **5** वैकल्पिक प्रतिनिधी सदस्य राज्यों को भेजने का अधिकार प्रदान किया गया है। अतः कहा जा सकता है कि संघ के सभी सदस्य-राज्यों को समानता के सिद्धांत का अधिकार प्रदान किया गया है। महासभा के अधिकारों एवं कार्यों के विषय में संघ के चार्टर के अनुच्छेद **10** से **17** तक वर्णन किया गया है। जिसमें कहा गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा की स्थापना करना, शस्त्र नियंत्रण एवं निसःस्त्रीकरण की नीतियों को बढ़ावा देना इसका प्रमुख कर्तव्य है।

इसके अतिरिक्त महासभा को निर्वाचन से लेकर बजट एवं प्रशासनिक अधिकार भी प्राप्त है। सुरक्षा-परिषद् यदि **2/3** बहुमत से पारित कर दे तो वह किसी की विषय पर निर्णय ले सकती है। अधिकारों एवं कार्यों के क्षेत्र की दृष्टि से महासभा अपने कार्यों को विभिन्न समितियों के माध्यम से करती है, जिसमें मेन कमिटी, प्रोसिजर कमिटि, सटैंडिग कमिटि और तदर्थ समिति की महत्वपूर्ण भूमिका देखने को मिलती है। इसके अतिरिक्त छः अन्य समितियों जैसे राजनीति एवं सुरक्षा समिति, आर्थिक एवं वित्तीय समिति, सामाजिक, मानवीय एवं सांस्कृतिक समिति, न्यास-समिति, प्रशंसकीय एवं बजट समिति तथा विधि समिति के माध्यम से करती है। संघ के चार्टर के अनुच्छेद **19** में यह वर्णन किया गया है कि वे राष्ट्र जोकि संघ को वित्तीय अनुदान देने में असमर्थ है, उन्हें, महासभा में वोटिंग अधिकार नही है परन्तु यदि महासभा यह निर्णय कर ले कि राष्ट्र की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है तो उसे वोंटिग अधिकार दिया जा सकता है। इस पर निर्णय करने का अधिकार संघ की महासभा के पास सुरक्षित है।

अपने कार्यों एवं अधिकारों का विस्तृत रूप से प्रयोग करने हेतु महासभा को छः अन्य और महत्वपूर्ण अधिकार प्रदान किये गये है, जिसे वह विचारात्मक, निरीक्षणात्मक, वित्तीय, संगठनात्मक, संशोधन-सम्बंधी एवं विधि कार्य कहा जाता है। महासभा, सुरक्षा परिषद् के अस्थायी सदस्यों का चुनाव भी करती है।

सुरक्षा-परिषद:-

यह संयुक्त राष्ट्र संघ का सबसे शक्तिशाली अंग है। सुरक्षा परिषद् में कुल **5** स्थायी सदस्य एवं **10** अस्थायी सदस्य है। सुरक्षा-परिषद के पास ही वीटों शक्ति प्राप्त है। इसके अस्थायी सदस्यों का कार्यकाल दो वर्ष तक रहता है। भारत भी कई बार सुरक्षा- परिषद् के अस्थायी सदस्य के रूप में काम कर चुका है। सुरक्षा-परिषद् का प्रमुख कार्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा एवं शांति को बनाये रखना, विश्व में व्याप्त अन्तर्राष्ट्रीय विवादों झगड़ों-लड़ाईयों का शांतिपूर्ण तरीके से समाधन करना, राष्ट्र को युद्धों से बचाने हेतु कार्य करता है।

आर्थिक एवं सामाजिक-परिषद:-

आर्थिक एवं सामजिक परिषद् में संयुक्त राष्ट्र संघ के महासभा के द्वारा निर्वाचित **54** सदस्यों से मिलकर बना है। यह विश्व में सामाजिक एवं आर्थिक-सहयोग के लिए कार्य करती है। यदि अपने कार्यों को करने में यह असमर्थ है तो सामाजिक एवं आर्थिक परिषद् संयुक्त राष्ट्र संघ की विशिष्ट एजेंसियों जैसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम, यूनीसेफ, एवं यूनेस्को के माध्यम से करती है।

न्यास-परिषद:-

संयुक्त राष्ट्र संघ के न्यास-परिषद का गठन विश्व में सामाजिक न्याय को बनाये रखने हेतु किया गया था। यह न्याय प्रदेशों के प्रबंधन एवं निरीक्षण हेतु भी कार्य करता है। उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के पतन हो जाने के कारण न्यास-परिषद की भूमिका समाप्त हो चुकी है। संयुक्त राष्ट्र-संघ के न्यास परिषद् का लगभग अब कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं रह गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय:-

यह संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रधान न्यायिक अंग है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के द्वारा दिये गये निर्णय को विश्व के सभी राष्ट्रों को मानना आवश्यक है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में कुल **15** न्यायाधीश होते हैं जो कि विश्व के अलग-अलग देशों से कानून के क्षेत्र में सुप्रसिध्द न्यायाधीश होते है। इनका चुनाव, सुरक्षा-परिषद् एवं महासभा के द्वारा किया जाता है। इसका प्रमुख कार्य संसार में व्याप्त कानूनी विवादों का उचित समाधन करना एवं अन्तर्राष्ट्रीय नियमों एवं कानूनों की व्याख्या करता है।

सचिवालय:-

यह संयुक्त राष्ट्र संघ स्थायी कार्यालय है, जो कि न्यूयार्क में स्थित है। इसका एक प्रधान सचिव होता है तथा अन्य कर्मचारी इसके कार्यों को करने में सहायता करते है। वर्तमान समय में संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रधान सचिव एंटोनियो गुतेरस है जो कि पुर्तगाल से है। प्रायः ऐसा पाया गया है कि सचिवालय का जनरल सेक्रेटरी छोटे राज्य से ही चुना जाता है। इसका चुनाव, संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश पर महासभा के द्वारा की जाती है। इसके महासचिव का कार्यकाल पाँच वर्ष तक रहता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्त -

यद्यपि संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों के विषय में संघ के चार्टर के अनुच्छेद **1** में वर्णन किया गया है। अपने उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ ने कुछ सिद्धान्त बनाये है। इस सिद्धान्तों के विषय में वर्णन संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपने चार्टर के अनुच्छेद **2** में किया हैं जो कि निम्नवत् है।

1.**सम्प्रभु-समानता:-**

संयुक्त राष्ट्र संघ का पहला सिद्धान्त सम्प्रभु-समानता का है। जिसमें कहा गया है कि संघ में शामिल सभी सदस्य-राष्ट्र अपने भौगोलिक ईकाई में स्वतंत्र एवं सम्प्रभु सम्पन्न है। यहाँ पर इन राज्यों के द्वारा बनाये गये नियम एवं कानून को लागू किया जायेगा एवं इनके ही आदेश सर्वोपरि है।

समानता का अर्थ है कि संयुक्त राष्ट्र संघ में शामिल सभी राष्ट्रों को एक समान

दर्जा एवं अधिकार प्रदान किया गया है। चाहे वह कितना शक्तिशाली राष्ट्र हो या फिर कमजोर, सभी को एक समान अधिकार एवं अवसर प्रदान किया गया है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो यह सही है परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं है, क्योंकि सुरक्षा-परिषद् के पाँच स्थायी सदस्यों को वीटो शक्ति प्राप्त है एवं संघ में उन्हीं का वर्चस्व देखने को मिलता है।

2.**सद्भावना:-**

संयुक्त राष्ट्र संघ का दूसरा प्रमुख सिद्धान्त सद्भावना या भाई चारे की भावना को विकसित करने से है। संयुक्त राष्ट्र संघ अपने सभी सदस्य-राज्यों से अपील करता है कि वह घृणा, संकीर्ण विचारों, सुकुंचित-स्वार्थ से उपर उठकर अपने उत्तरदायित्व एवं कर्तव्यों को पालन करने हेतु वचनबद्ध है। जिससे शांति एवं भातृत्व की भावना को बढ़ावा दिया जा सके।

3.**विवादों का शांतिपूर्ण समाधान:-**

संयुक्त राष्ट्र संघ तीसरा आधारभूत सिद्धान्त विश्व में व्याप्त विवादों, झगड़ों, लड़ाईयों एवं संघर्षों के शांतिपूर्ण समाधन से है। विश्व के सभी राष्ट्रों के मध्य किसी न किसी समस्याँ को लेकर अक्सर संघर्ष देखने को मिलते है। उदाहरण के रूप में नदियों के जल के बटवारें एवं सीमा से संबन्धित विवाद आये दिन देखने को मिलते रहते है। अतः इन सभी विवादों के शांतिपूर्ण समाधन हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ विभिन्न तरीके एवं सलीकें का प्रयोग करता रहता है। जैसे:- वार्तालाप, जाँच, मध्यस्थता, पंच-निर्णय, न्यायिक समझौते इत्यादि।

4.**धमकी या बल प्रयोग नहीं-**

संयुक्त राष्ट्र संघ का चौथा आधसरभूत सिद्धान्त यह है कि कोई भी राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र के विरूद्ध आक्रमण या बल प्रयोग नहीं करेगा, क्योंकि यह संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों के विपरीत है। यदि कोई राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र के उपर आक्रमण या सैन्य शक्ति का प्रयोग करता है तो सुरक्षा-परिषद्, आक्रमणकारी राष्ट्र के विरूद्ध सामूहिक सुरक्षा हेतु कार्यवाही कर सकता है। ऐसी स्थिति में संघ के सभी सदस्य राष्ट्रों को उसकी सहायता करना अनिवार्य है।

5.**सहायता:-**

संयुक्तराष्ट्र संघ के पांचवे सिद्धान्त में फोकस किया गया है कि सामूहिक सुरक्षा हेतु यदि संघ के द्वारा कोई कार्यवाही आक्रमणकारी राष्ट्र के विरूद्ध की जा रही है तो संयुक्त राष्ट्र संघ में शामिल सभी राष्ट्र आक्रमणकारी राष्ट्र के विरुद्ध संघ को वित्तीय सहायता उपलब्ध्स कराना उनकी नैतिक जिम्मेदारी है। वे किसी ऐसे राष्ट्र का सर्मथन नहीं करेंगे जोकि विश्व शांति एवं सुरक्षा के लिए ठीक न हो।

संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत की भूमिका

भारत प्रारम्भ से लेकर समकालीन समय में भी संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख अंगों एवं उसकी विशिष्ट एजेंसियों के साथ एक सहयोगात्मक रवैया अपनाता रहा है। यही कारण है कि भारत कई बार संयुक्त राष्ट्र संघ के सुरक्षा -परिषद के अस्थायी सदस्य के रूप में कार्य कर चुका है। परमाणु निसःस्त्रीकरण के विषय पर भी भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ का खुलकर समर्थन किया है। विश्व में बढ़ते खतरनाक अस्त्र-शस्त्रों के नियंत्रण हेतु भारत ने हमेशा संयुक्त राष्ट्र संघ का साथ दिया है। संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में भारत के दो ख्याति प्राप्त न्यायधीश बी.एन राव एवं डॉ. नागेन्द्र सिंह काम कर चुके है। यहाँ तक कि डॉ. नागेन्द्र सिंह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश भी रहे है।

यहाँ तक कि भारत की श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के 8वें अध्सिवेशन की अध्यक्षता की थी। अतः कहा जा सका है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख अंगों एवं उसकी विशिष्ट एजेंसियों के साथ भारत ने हमेशा ही सकारात्मक सहयोग प्रदान किया है।

निष्कर्ष:-

यद्यपि संयुक्त राष्ट्र संघ को विश्व में एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में जाना जाता है। जिसका प्रमुख उद्देश्य विश्व शांति, सुरक्षा, न्याय एवं विवादों के शांतिपूर्ण समाधन हेतु काम करने के लिए वचनबद्ध है।

समकालीन समय में देखा जाय तो संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना जिन उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की पूर्ति हेतु किया गया था उसे प्राप्त करने में विफल साबित हुआ है। शीतयुद्ध की राजनीति एवं राष्ट्रों के मध्य शक्ति संतुलन को स्थापित करने में यह असफल साबित हुआ हैं। वर्तमान समय में इसकी प्रासंगिकता एवं साख दिन प्रतिदिन गिरती जा रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ, राष्ट्रों का संघ न होकर विभाजित राष्ट्रों का संघ बन चुका है। यदि संयुक्त राष्ट्र संघ को अपनी महत्ता एवं गरिमा को बनाये रखना है तो उसे सक्रिय रूप से काम करना होगा और इसके द्वारा दिये गये फैसलें को विश्व के सभी राष्ट्रों को सम्मान करना चाहिए।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. कश्यप, सुभाष **1995,** ''हमारा संविधान'' नई-दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, पृ. **125-133**
2. विस्वाल, तपन, **2010** 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध' हरियाणा, मैकमिलन पब्लिशर्स इण्डिया लिमिटेड, पृ. **298-329**
3. सिंह, डॉ. बैकुंठनाथ, **2015,** 'संयुक्त राष्ट्र संघ' नई-दिल्ली, ज्ञान प्रकाशन, पृ. **1-18**
4. खन्ना, वी.एन. एवं लिपाक्षी अरोड़ा, **2008,** 'भारत की विदेश नीति' नई-दिल्ली, विकास पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड, पृ. **283-306**
5. घई, यू.आर. **2004,** 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिः सिद्धांत एवं व्यवहार' जालंधर, न्यू एकेडेमिक पब्लिशिंग कम्पनी, पृ. **375-402**
6. खन्ना, वी.एन, **2014,** ''अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध'' नोएडा, विकास पब्लिशिंग हाउस प्राईवेट लिमिटेड, पृ. **517-543**
7. बरमानी, आर.सी., **2007,** ''समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध'' नई-दिल्ली गीतांजलि पब्लिशिंग हाउस, पृ. **216-235**
8. तायल, बी.बी., **2014,** 'वैश्वीकरण एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंध', नई-दिल्ली, सुल्तान चन्द एण्ड सन्स, पृ. **21-52**

*****

बलबीर माधोपुरी द्वारा रचित आत्मकथा 'छांग्या रुख' का आलोचनात्मक अध्ययन

-डॉ. कमल जीत सिंह
एसोसिएट प्रोफेसर,
दयाल सिंह कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय

आधुनिक पंजाबी गद्य साहित्य में 'आत्मकथा' एक विशेष महत्वपूर्ण साहित्यिक विधा है। इस सम्बन्ध में यह आलेख मूलतः पंजाबी साहित्यकारों पर आधारित है। पंजाबी साहित्य की यह विधा लगभग 1947 के बाद लिखी जाने लगी। प्रिंसिपल तेजा सिंह की आत्मकथा 'आरसी', नानक सिंह की 'मेरी दुनिया', गुरबख्श सिंह प्रीतलड़ी की दो खंडों में 'मेरी जीवन कहानी' बहुचर्चित और मूल्यवान साहित्यिक कृतियों में से हैं। इसके अलावा पंजाबी साहित्य के क्षेत्र में साहित्यिक महत्व रखने वाली अन्य आत्मकथाओं में संत सिंह सेखों की 'उमर दा पंध', डॉ. हरिभजन सिंह की 'चोला टाकियां वाला', दलीप कौर टिवाना की 'नंगे पैरां दा सफर', अमृता प्रीतम की 'रसीदी टिकट', अजीत कौर की 'खाना बदोश' आदि शामिल हैं। इसके साथ ही पंजाबी के कुछ लोकप्रिय लेखकों ने भी आत्मकथा के माध्यम से अपने साहित्यिक गुणों को निखारा है। इनमें प्रमुख रूप से डॉ. सोहिन्दर सिंह वणजारा बेदी की आत्मकथा 'अद्धा मिट्टी अद्धा सोना' और 'मेरा नानका पिंड', उपन्यासकार गुरदयाल सिंह की आत्मकथा "निआण मत्तियाँ ते दूजी देही', राम सरूप अणखी की 'मल्हे झाड़ीयां' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके साथ ही नाटककार बलवंत गार्गी की आत्मकथा 'नंगी धुप' और बलराज साहनी की आत्मकथा 'मेरी फ़िल्मी आत्म कथा' भी पंजाबी साहित्य जगत में एक सराहनीय प्रयास हैं।

आत्मकथा की रचना करते समय लेखक अपने जीवन का ताना-बाना अधिक सजगता से बुनता है। ऐसा करते हुए वह आसानी से अपने काम में उन लोगों का विवरण देता है जिनसे वह मिलता है या उन घटनाओं का विवरण देता है जिन्होंने उसे सबसे अधिक प्रभावित किया होता है। आत्मकथा की व्याख्या करते हुए जीत सिंह जोशी अपनी पुस्तक 'पंजाबी अध्ययन एवं अध्यापन बदलदे परिपेख' में लिखते हैं:-

> "आत्मकथाकार लेखक का स्व-लिखित जीवन बिरतांत होता है। स्वयं का अर्थ है खुद। जीवनी का अर्थ है जीवन बिरतांत। आत्मकथा आप बीती होती है। जिसका वर्णन लेखक अपने शब्दों में करता है।"
>
> ("पंजाबी अध्ययन एवं अध्यापन बदलदे परिपेख", जीत सिंह जोशी, पृष्ठ: -48)

आत्मकथा गद्य साहित्य का एक महत्वपूर्ण रूप है और इसमें लेखक अपने जीवन के महत्वपूर्ण पहलुओं को पाठकों के सामने प्रस्तुत करता है। यह एक ऐसा रूप है जिसमें लेखक अपने जीवन के वास्तविक तथ्यों को प्रस्तुत करता है। कभी-कभी ऐसे कार्य ऐतिहासिक या सांस्कृतिक दस्तावेज भी बन जाते हैं जो भविष्य में काफी हद तक फायदेमंद साबित होते हैं।

इन आत्मकथाओं से आगे बढ़ते हुए इस लेख का मुख्य उद्देश्य बलबीर माधोपुरी द्वारा लिखित आत्मकथा 'छांग्या रुख' पर विचार-चर्चा करना है, जो दलित समाज का असाधारण प्रतिनिधित्व प्रस्तुत करती है। बलबीर माधोपुरी स्वयं एक दलित लेखक होने के साथ-साथ ऐसी कड़वी पीड़ा झेलने वाला व्यक्ति भी हैं, जिसे उन्होंने अपनी आत्मकथा में बाखूबी प्रस्तुत किया है। दलित समाज का शोषण कोई नई बात नहीं है। यह प्राचीन काल से चली आ रही एक बुराई है, जिसने व्यक्ति को समाज में घृणा का पात्र बना दिया है। दुनिया भर में भारत की सामाजिक व्यवस्था को समझना बहुत कठिन कार्य है। यह अपने आप में बहुमुखी है। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि यहां जाति व्यवस्था मौजूद है। यह व्यवस्था सनातन काल से नहीं थी, बल्कि व्यवसाय से जुड़कर जन्म से संबंधित हो गई। इस तरह यह लंबे समय तक इंसान के अवचेतन में बसता रहा। इस प्रावधान को लेकर कई बार विरोध के स्वर उठे लेकिन वे सफल नहीं हो सके। दलित की पहचान क्या है? इस बिंदु पर सबसे पहले दलित शब्द का शाब्दिक अर्थ समझना जरूरी हो जाता है। कई विद्वानों ने दलित शब्द को परिभाषित करने का प्रयास किया है। भाई काहन सिंह नाभा दलित शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं:-

"दबा हुआ, कुचला हुआ, हीन जाति वाला जो उच्च जातियों के पैरों तले चला गया हो।"

(भाई काहन सिंह नाभा, "महान कोष", पृष्ठ: - 625)

दलित शब्द को परिभाषित करते हुए डॉ. रौनकी राम लिखते हैं:-

> "दलित शब्द के कोषगत अर्थों में समाज के दबे, कुचले, लताड़े, पीड़ित, दरड़े हुए उन तमाम लोगों को लिया

जाता है, जिनकी होंद को समाज की मुख्य धारा से बाहर धकेल कर उनको सभी मानवीय अधिकारों से वंचित रखा गया हो।" 2

("दलित चेतना-स्रोत एवं आकार", डॉ. रौनकी राम, पृष्ठ: -33)

'मानक हिन्दी कोश' में रामचन्द्र वर्मा दलित शब्द को परिभाषित करते हुए लिखते हैं:-

"दलित (दल एवं कत) 1. जिसका दमन हुआ हो। 2. जो कुचला, दला, मसला या रगड़ा गया हो। 3. टुकड़े टुकड़े किया गया। 4. जो दबाया गया अर्थात फलने फूलने या बढ़ने न दिया गया हो। हीन अवस्था में पड़ा हो। 5. नष्ट किया गया हो। अर्थात समाज का वह निचला वर्ग जो उच्च वर्ग के लोगों के शोषण के कारण आर्थिक तौर पर बहुत ही खस्ता हालत में हो - जैसे दास प्रथा में गुलाम, सामंतशाही में किसान और मज़दूर, पूंजीवादी व्यवस्था में मज़दूर एवं दलित आते है।"

("मानक हिन्दी कोश" खण्ड तृतीय, राम चन्द्र वर्मा, पृष्ठ:-36)

डॉ. अम्बेडकर दलित शब्द के बारे में लिखते हैं:-

"दलित वर्ग अपने आप में ऐसे लोगों का समूह है, जो मुसलमानों से अलग है। जबकि उनको अछूत कहा जाता है क्योंकि वह किसी भी तरह से हिन्दू जाति का अभिन्न अंग नहीं है। वह न केवल उनसे अलग रहते है। उनको समाज में जो दर्जा प्राप्त है, वह भारत की कई जातियों से अलग है। भारत में कई जातियाँ बहुत ही दर्दनाक एवं गुलामी की स्थिति में रह रही है, परन्तु दलित वर्ग की स्थिति बिलकुल अलग है। अन्तर केवल इतना है, कि खेती करने वाले और नौकरों के साथ छुआ-छूत वाला व्यवहार नहीं किया जाता, जबकि दलित वर्ग छुआ-छूत का शिकार है। वे मानव जीवन के मूल अधिकारों से भी वंचित हैं।"

(बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर, सम्पूर्ण बाड़मथ, खण्ड-5, पृष्ठ:-15)

इस प्रकार दलित शब्द को परिभाषित करते हुए विद्वानों ने इसे समाज में तिरस्कृत व्यक्ति बताया है। ये वर्ग आर्थिक रूप से भी ख़राब स्थिति में हैं। भले ही वे आर्थिक रूप से सहज हो जाएं, लेकिन उन्हें सामाजिक तिरस्कार का सामना करना पड़ता है। वैसे आज का दलित समाज में जागरूक स्तर पर जी रहा है। इसका एक बड़ा कारण उनकी शिक्षा है। साहित्य के क्षेत्र में भी दलित लेखक अपने बहुमूल्य कार्यों से ख्याति प्राप्त कर रहे हैं। इसीलिए आज दलित चिंतन सामाजिक एवं राजनीतिक स्तर के साथ-साथ साहित्य सृजन और साहित्यिक चिंतन में भी सक्रिय हो गया है। इसीलिए वह अपने गंभीर मुद्दों को केंद्र में लाने में सफल रहे हैं।

'छांग्या रुख' आत्मकथा दलित समाज का जीवंत दर्पण है। बलबीर माधोपुरी ने केवल सुनी-सुनाई बातों पर आधारित अपनी आत्मकथा नहीं लिखी है, बल्कि उन्होंने अपने जीवन के बाल्यावस्था से लेकर नौजवान अवस्था तक के कड़वे अनुभवों को भी इसमें चित्रित किया है। यह आत्मकथा दलितों पर आधारित चलता फिरता विश्वकोश प्रतीत होती है। जाति का कोढ़ धर्म या समाज के नाम पर एक धब्बा है जिसे छुआ-छूत की अवधारणा के माध्यम से धार्मिक मान्यता भी दी जाती है। भारतीय सभ्यता और उसकी महान विरासत की परवाह करने वालों के लिए यह एक चुनौती है कि छुआ-छूत की यह गंदगी सामाजिक संरचना में कैसे घुस गई और यह सदियों तक समाज में कैसे व्याप्त रही ? यह हमारे लिए भी एक चुनौती का विषय है कि आखिर इस शिकंजे को तोड़ने वाले सारे प्रयास विफल क्यों रहे ? आत्मकथा 'छांग्या रुख' को पढ़ने के बाद इस तथ्य का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है कि इस भेदभाव को दूर किए बिना किसी भी समाज का विकास सार्थक नहीं हो सकता।

आत्मकथा 'छांग्या रुख' अमानवीय व्यक्तिवादी त्रासदी कथा का एक मूल्यवान प्रामाणिक दस्तावेज़ है। बलबीर माधोपुरी सामाजिक असमानता की घटनाओं का वर्णन करने में पीछे नहीं रहे। इस तरह के अनुभव का इतनी स्पष्टता और ईमानदारी से वर्णन करने के लिए बहुत साहस की आवश्यकता होती है।

आत्मकथा 'छांग्या रुख' को पढ़ने के बाद दलित चेतना और दलित साहित्य के बारे में यह ज्ञात होता है कि समाज के किसी भी अन्य वर्ग का कोई भी लेखक इन अत्याचारों और उत्पीड़न के इन अनुभवों को इतनी शिद्दत से नहीं बता सकता जितना इस दलित लेखक ने कहा है। आपबीती का यह अनुभव एक अलग ही तरह का अनुभव होता है। ठीक वैसे ही जैसे किसी बलात्कार की शिकार, पीड़ित महिला की हालत होती है। कोई भी पुरुष यहां तक कि कोई औरत कितनी भी औरत की भावनाओं को समझ ले, उसके अंदर हो रही टूट-फूट, जबरन अपवित्र किए जाने के दर्द को उचित शब्द नहीं दे सकती।

'छांग्या रुख' में लेखक ने जगह जगह पर दलित और गैर-दलित के बीच हो रहे भेदभाव का बोध करवाया है। ऐसे संवाद और अहसास को जानने

और समझने के लिए इस आत्मकथा में आए कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं:-

"पहले की कसर निकाल दी इसबार! कुओं का दो-तीन हाथ पानी चढ़ जाना! अब दो साल तक कुओं के तले नहीं सूखने लगे।" एक जमींदार ने अपने कंधे से फावड़ा रखते हुए बोहड़-पीपल के नीचे खड़े लोगों से खुशी के रोअ में बात आगे बढ़ाया।

इतने में घोड़ों का मोहनी आते ही पूछने लगा, 'सुना बई जट्टा मार आया खेतों में चक्कर ?' बारिश ने वाह वाह करवा दी - लहरें बेहरें ला दी।' फिर उसने उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही पूछना शुरू कर दिया, "तुम्हारे आँगन का क्या हाल है, सच जो मंडी से बैल आए थे वह ऊपर अच्छा काम करता है कि नीचे ? वह बिना जवाब सुने कहने लगा, 'जब से हमने सवा बेचा है तब से बग्गा उदास रहता है!'

यह सुनते ही बज़ुर्ग भौंहें सिकोड़ते हुए घर की ओर चले गया और मुँह से बोले जा रहा था, 'इन्होने कुँए में दो-तीन हाथ पानी उठ चढ़ने की बात पकड़ रखी है, हमारे भाई का तो अभी ही गला चढ़ा हुआ है। पशुओं का हाल-चाल पूछ रहे हो - मुझे किसी ने पूछा कि भाई तेरी बिही वाली दीवार गिर गई, बुरा हुआ।' फिर कहने लगा,

"यह गाँव बस्ता है, बछड़े को एक मन दूध की क्या परवाह!"

("छांग्या रुख", बलबीर माधोपुरी, पृष्ठ:- 61-62)

ऐसे ही एक उदाहरण में जमींदारों द्वारा की गई टिप्पणियों का उल्लेख करते हुए लेखक कहता हैं:-

"बाजी वाले लड़कों ने तो बदन तोड़-तोड़ कर फैंक दिया - मौज-मस्ती के चलते लोगों का दिल खुश कर दिया, लेकिन इन जमींदारों को धेले भर की कद्र नहीं - कहते है कि कामगार लोगों का तो काम ही सेवा और मन बहलाना होता है - मैं तो कहता हूँ कि भाई हमारे मुल्क में से उंच-नीच का यह कलंक बिना जूतों के नहीं मिटता!' अगर चार बीघे ज़मीन हमारे पास भी हो जाए तो फिर कौन पहचाने इन बेक़दरे जमींदारों को! इनकी नफरत भरी निगाहें पता नहीं कब तक घूर-घूर कर देखती रहेंगी। लेकिन जीने के लिए ये सब सहना ही पड़ेगा। और क्या कहें अब ? अंदर ही अंदर से जल भुन के रह जाते है!"

("छांग्या रुख", बलबीर माधोपुरी, पृष्ठ:- 70)

समाजशास्त्रियों के लिए 'छांग्या रुख' जाति, अस्पृश्यता और आर्थिक असमानता का विश्लेषण करने के लिए एक मूल्यवान संसाधन साबित होगा। इसमें बलबीर माधोपुरी सामाजिक संरचना को तीन स्तरों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं:- व्यक्तिगत पीढ़ी, मौखिक इतिहास और गैर-दलितों का व्यवहार। व्यक्तिगत पीड़ा मुख्य रूप से लेखक की अपनी है, जिसे उन्होंने अपनी पूरी जीवनी में बहुत ईमानदारी से प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपने बचपन की स्मृतियों का वर्णन करते हुए सामाजिक संरचना की कार्यप्रणाली तथा धार्मिक प्रथाओं एवं व्यवहार के दोहरेपन की आलोचना की है। सामाजिक और आर्थिक असमानता की निरंतरता के साथ लेखक अंग्रेजों के बारे में आम गलत धारणाओं को तोड़ता है, कि वे न्यायप्रिय और वैज्ञानिक थे। लेखक का यह कथन इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों का विशेष ध्यान आकर्षित करता है:-

"यद्यपि अंग्रेज मुल्कों पर विजय प्राप्त करते रहे, फिर भी उनके बारे में अब तक यह धारणा प्रचलित है कि वे न्यायप्रिय तथा वैज्ञानिक दृष्टि वाले थे।..... परन्तु अछूतों के सन्दर्भ में उनके विचारों पर प्रश्न चिन्ह लगते हैं।

अंग्रेज़ भारत के अन्य हिस्सों में से पंजाब सबसे बाद में आए और उन्होंने यहाँ के अछूतों को समानता, शिक्षा, संपत्ति, अपने विचार व्यक्त करने का अधिकार क्यों नहीं दिए ? यह स्पष्ट है कि उनका जाति व्यवस्था के कट्टर समर्थकों के साथ गठबंधन था और वे उनके प्रभाव में थे। पंजाब में अपने लगभग 100 साल के शासन के दौरान, इंतकाले आरजी अधिनियम, जिसके तहत अछूत अपना पैसा इकट्ठा करके भी जमीन नहीं खरीद सकते थे, लागू रहा - मौरुसी (गाँव के जमींदारों द्वारा कामगारों को आवास के लिए दी गई सामान्य भूमि) मलकीयत नहीं बनीं। अछूत जमींदारों की दया पर निर्भर थे और भय में अपना समय काटा करते थे। जमींदार इसी आधार पर उन्हें धमकाते और जबरन काम कराते थे। मना करने पर उनके साथ सरेआम मारपीट की जाती। अंग्रेजों से आजादी की मांग वह लोग करते जो उनके गुलाम थे - लेकिन उन्होंने अपने अधीन गुलामों की आजादी के बारे में कभी नहीं सोचा - बल्कि वे उन्हें अपने धर्मग्रंथों के नियमों के अनुसार गुलाम बनाकर रखना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते थे। यही तथ्य समाज और देश के पतन के लिए ज़िम्मेदार रहे।"

("छांग्या रुख", बलबीर माधोपुरी, पृष्ठ:- 16)

ईमानदारी से कहा जाए तो यह व्यवहार आज भी नहीं बदला है। क्या दलितों के मसीहा कहलाने वाले राजनेता उन्हीं परिस्थितियों में रहने वाले अपने जातीय भाइयों के साथ बराबरी का रिश्ता बनाने के लिए तैयार हैं ? आज के आकर्षणों के बढ़ते प्रभाव से शायद दलित समाज में ऐसी समानता कभी संभव न हो। आज के माहौल में यह सुनकर थोड़ी शांति मिलती है, कि पंजाब में यह त्रासदी बिहार और उत्तर प्रदेश की तुलना में कम है। 'छांग्या रुख' में आए पृष्ठ संख्या 74 पर बहुरंग के पूर्वी व्यक्ति के साथ बातचीत धर्म की महानता पर और प्रश्न-चिन्ह लगाती है:-

> "वहाँ तो हमको बच्चों के नाम भी दिनों के नाम पर रखने पड़ते हैं, वह भी बिगाड़ कर जैसे सोमू, मंगलू, बुधु, आदि या फिर जीव-जंतुओं पशु-पक्षिओं के नामों पर जैसे - मेरा नाम मच्छर दास है, इसका मक्खी दास, उसका तोता राम और वो खड़ा है चिड़ी राम……!

हमरे सभी नाम ऐसे ही गंदमंद पर है!

"छांग्या रुख", बलबीर माधोपुरी, पृष्ठ:- 74)

आज हम किस विरासत पर ध्यान देते नहीं थकते ? किस महान सभ्यता का हम घमंड करते हैं ? बलबीर माधोपुरी ने इस आत्मकथा में जिन सामाजिक सच्चाइयों को हमारे सामने रखा है, उन्हें स्वीकार कर मानवता के माथे पर लगे इस कलंक को मिटाने की जरूरत सभी को महसूस करनी चाहिए और इसके लिए सार्थक कदम भी उठाने के प्रयास निरंतर करते रहना चाहिए।

हालाँकि, मौखिक अनुमान के अनुसार, श्रमिकों की आर्थिक अर्थव्यवस्था में पिछले समय से स्थितियाँ काफी हद तक बदली हैं। इस समुदाय को उस समय जो काम करने पड़ते थे, उनकी गिनती आज के समय कम है। उन्हें लंबरदार और जैलदार में से किसी की भी धौंस को सहना पड़ता। गैर-दलितों द्वारा दलितों के साथ किए जाते व्यवहार के बारे में बलबीर माधोपुरी ने छुआछूत और भ्रष्टाचार के आलावा भी कई सामाजिक ढांचों पर कटाक्ष किया है जो समाज में व्यापक असंतोष की ओर इशारा करते हैं।

बलबीर माधोपुरी द्वारा रचित आत्मकथा 'छांग्या रुख' एक प्रेरणा भरपूर बिरतांत है। यह आत्मकथा इक्कीस शीर्षकों में लिखी हुई लघु कथाओं के रूप में दलित समुदाय को प्रस्तुत करने वाली दस्तावेज़ी आत्मकथा होने की भूमिका अदा करती है। यह पंजाबी की पहली ऐसी आत्मकथा है जिसमें लेखक ने आत्म-यथार्थ के साथ-साथ संपूर्ण दलित यथार्थ को भी प्रस्तुत किया है। इसमें दोआब की बोली का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। दलित समुदाय में जन्म लेने के कारण लेखक दलित समस्याओं को बड़ी गहराई से प्रस्तुत करता है। इसमें लेखक ने अपने गाँव, मन और शरीर पर सहन की गई पीड़ाओं और अनुभवों का बड़ी कुशलता से वर्णन किया है।

अंत में कहा जा सकता है कि बलबीर माधोपुरी आत्मकथा 'छांग्या रुख' में इस कुंठित सामाजिक व्यवस्था की छवि को बहुत प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करता है, लेकिन वह इस आत्मकथा में इस व्यवस्था को बदलने के लिए कोई ठोस सुझाव नहीं दे पाता है। हालाँकि कई जगहों पर वह व्यक्तिगत विचारों से अपना नाता जोड़ता है, लेकिन उनमें ऐसी व्यवस्था को बदलने के लिए किसी विशेष व्यवस्थित सुझाव की झलक कम ही देखने को मिलती है। तो भी कुल मिलाकर इस बात में कोई शक नहीं कि बलबीर माधोपुरी एक प्रभावशाली लेखक हैं। उनकी रचनाएँ पाठकों को सचेत एवं जागरूक करती हैं। इस प्रकार बलबीर माधोपुरी द्वारा रचित उनकी आत्मकथा 'छांग्या रुख' एक विशेष महत्व का प्रतिनिधित्व करती है जो उनके स्वयं की गाथा के साथ-साथ दलित वर्ग की भी दास्तान का भी वर्णन करती है। पंजाबी साहित्य जगत और समूह विश्व साहित्य जगत में आत्मकथा 'छांग्या रुख' एक विस्थापित कृति होने के साथ-साथ एक सफल प्रशंषायोग प्रयास है।

सन्दर्भ सूची :-

1:- जोशी जीत सिंह, "पंजाबी अध्ययन एवं अध्यापन बदलदे परिपेख"
प्रकाशक:- वारिस शाह फाउंडेशन, अमृतसर, संस्करण:-2006

2:- नूर एस.एस. (सं.), "बलबीर माधोपुरी दी सवैजीवनी 'छांग्या रुख' दा साहित्यिक-सामाजिक मूल्यांकन"
प्रकाशक:- लोकगीत प्रकाशन, चंडीगढ़, संस्करण:- 2007

3:- माधोपुरी बलबीर, "छांग्या रुख",
प्रकाशक:- लोकगीत प्रकाशन, चंडीगढ़, संस्करण:- 2004

4:- बल ज्ञान सिंह, "दलित साहित्य का सुहज शास्त्र "
प्रकाशक:- लोकगीत प्रकाशन, चंडीगढ़, संस्करण:- 2004

5:- रजनीश बहादुर सिंह, "पंजाबी दलित कहानी आधार ते अध्ययन"
प्रकाशक:- प्रकाशन ब्यूरो, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला, संस्करण:-2012

6:- रौनकी राम, "दलित चेतना-स्रोत ते सरूप"
प्रकाशक:- लोकगीत प्रकाशन, चंडीगढ़, संस्करण:- 2010

7:- रौनकी राम, "दलित अस्मिता मुक्ति एवं सशक्तिकरण"
प्रकाशक:- परवाज़ प्रकाशन, जालंधर, संस्करण:-2015

8:- नाभा काहन सिंह, "महान कोष"

9:- बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर, सम्पूर्ण बाड़मथ, खण्ड-5
डॉ. अम्बेडकर, प्रतिष्ठान, कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली

10:-वर्मा राम चन्द्र (संपा.), "मानक हिन्दी कोश" तृतीय खण्ड
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, 1993

*****

Investigating the Role of Psychological Well-Being and Job Satisfaction in Enhancing Patient Care Among Nursing Officers in Military Hospital, Pune.

-Dr. Sunil Gupta
Ph.D.
Assistant Professor,
Department of Psychology, Zakir Husain Delhi College
(University of Delhi) New Delhi-110002

Abstract

This paper reveals how psychological health and job satisfaction essential for providing highly standardized patient care in military hospitals effectively affect nursing officers. When the mental health in nursing officers is highly assured, they are more capable of handling difficult situations because they are mentally stable to be able to understand, listen and provide well needed care which directly enhances the patient's overall satisfaction. Satisfied employees also produce more and better-quality outputs because happy nurses are more innovative, observant of the patient needs, and innovative problem-solving team members.

Such results imply that promoting organizational environments that appreciate mental health and workforce satisfaction—by way of, for instance, mental health and professional recognition promotions—may benefit not simply the patients served under wards by journaling healthcare workers but also the organization's results overall. Forcing such changes not only benefit the nurses' physical health but also increases patient healing and satisfaction advocating for a reform to allow a proper balanced and healthy working nurse's mental state.

Keywords:

Psychological well-being, Job satisfaction, Nursing officers, Patient care quality, Military hospital, Healthcare, Mental health, Emotional exhaustion, Work environment, Job autonomy, Patient satisfaction, Military healthcare, Occupational stress, Healthcare providers, Nurse-patient relationship.

Introduction

This study focuses on nurses given that the nursing profession is the cornerstone of all functional health care systems, particularly in military hospitals SSW during their training, the nurses experience a challenging work environment that is characterized by factors such as high patient turnover, and contact with complicated cases, among others (Schneider et al., 2017). Stress and burnout of nurses also have impact on their individual health and job satisfaction and subsequently on the quality of care they deliver. Psychological wellness implies emotional, social and mental well-being that determine an individual's capacity to handle work related stress and/ or burnout and capacity to have positive disposition towards work (Ryff & Keyes, 1995). Job satisfaction is related to the attitude that the employee has towards his job, for instance, workload, job autonomy and back up from superiors or peers (Lu et al , 2019).

In the heath care sector, poor health stress, emotional drain and lack of adequate psychological support may lead to decreased job satisfaction and high levels of psychological symptoms among the nurses (Dyrbye et al., 2017; Maslach and Leiter This in turn can negatively impact on the quality of patient care, hence a low level of patient satisfaction and may even worsen patient's recuperation (McHugh, et al., 2011). Another challenge is that military hospitals record increased physical and psychological demands on the nurse, hence may compromise the humanitarian care they are required to offer (Smith & Yang, 2020).This is especially so given that nurses at Pune Military Hospital has to serve military personnel and their families, work under resource constraints and abide by strict organizational structures (Gillen et al., 2017). This study aims to examine the impact of nurses' psychological well-being and job satisfaction on the quality of patient care in this specialty.

By identifying the factors that contribute to their well-being and their satisfaction, this research aims to highlight how improving the working conditions of nurses can lead to better patient outcomes and a general health care experience. The study will use a quantitative approach to analyze the relationship between psychological well-being, job satisfaction and patient care among nurses. The results will provide valuable information for policy makers and health care administrators to create supportive and empowering environments in military hospitals, ultimately benefiting both caregivers and patients.Rephrase

Literature Review

The psychological state and job satisfaction of nursing officers are areas of interest in existing healthcare research due to their influence on patient care quality. This review integrates research on these topics and highlights studies that reveal the challenging

working conditions for nursing officers in stressful settings, such as military hospitals, and the resulting impact on patient outcomes.

1. Keynotes of Psychological Well-being in Nursing Courses

This paper examines the correlation between psychological well-being in the nursing profession with job performance and satisfaction, referencing Ryff and Keyes's psychological well-being model. Nursing officer lots are subjected to considerable psychological stress that emanates from the emotional demand arising from patient care. This stress may affect them with burnout, anxiety, or, in extreme cases, depression (Dyrbye et al., 2017). Research suggests that psychological health levels are correlated with burnout, patient amiability, and quality of care in general (Maslach & Leiter, 2016). The military healthcare systems aggravate the stress more by imposing extra organizational duties over and above those of caring for both military and civilian clientele (Smith & Yang, 2020). Therefore, promoting psychological well-being among nursing officers is likely to promote compassion and patience, thus making it possible for them to provide quality care under stressful conditions (Schneider et al., 2017).

2. Job Satisfaction and its Determinants

Almost everything is contributed by the role of autonomy, organizational support, recognition, and workload to the nurse's intentions of turnover. It was reported that higher job satisfaction increases productivity, commitment, and effective service delivery (Liu et al., 2019). In addition, studies link job satisfaction to lesser turnover, less burnout, and increased job performance within the military hospitals and other job environments marked with stress (Hayes et al., 2012). Organizational dynamics derived from decision-making autonomy, managerial support, and effective communication are quintessential to nursing officers in military hospital systems; thus, strict rule-guided atmospheres characterized by definite boundaries are highly impactful on job satisfaction and patient care (Gillen et al., 2017; Laschinger et al., 2016).

The relationship more documented is between job satisfaction, welfare of nursing officers, and quality of care in patients. Hence, stress, life satisfaction, and health affect unionized officers' well-being and the quality of care they give. A positive psychological well-being with good job satisfaction is associated with constructive nurse-patient relationships, empathy, and composure under stress (McHugh et al., 2011). On the other hand, when either psychological well-being or job satisfaction is saliently in crisis, it leads to patient discontent, reduced quality of care, and medical error (Schneider et al., 2017). Well-being of nursing officers in military hospitals translates to the ability to address complex physical and psychological needs of military clientele, and maintaining their wellness is critical to assuring high-quality care deliverables (Gillen et al., 2017; Smith & Yang, 2020).

4. Psychosocial Interventions Depending on Psychological Well-being and Job Satisfaction

This research has proposed personnel and organizational interventions geared toward improving the psychosocial climate and job satisfaction among nursing officers. Clinical resilience training, group exercise, stress management training, and other similar interventions reduce burnout and increase job satisfaction (Dyrbye et al., 2017; Maslach & Leiter, 2016). Supportive policies, accessibility to mental health services, and availability of peer support are critical to ensuring workforce satisfaction and positive patient outcomes within the military hospitals (Gillen et al., 2017; Schneider et al., 2017).

Research Questions

1. The research question in this study is: To what extent do the psychological well-being of nursing officers predict the quality of patient care in a military hospital context?
2. What interventions could be put in place in order to improve psychological well-being and job satisfaction among nursing officers in Military Hospital, pune?

Objectives of the Study

1. The purpose of the present study therefore is to assess the extent to which the psychological health of the nursing officers' correlates to the standards of the patient care in a military hospital.
2. To Identify the Determinants of Job Satisfaction Among Nursing Officers at Military Hospital, Pune
3. To Examine the Combined Effects of Psychological Well-being and Job Satisfaction on Patient Outcomes and Satisfaction
4. To advise on measures for increasing psychological health and satisfaction of nursing officers as a way of improving on the quality of care they offered patients.

Hypotheses

1. H1: This study will hypothesize that promoting the psychological well-being of nursing officers in Military Hospital, Pune, will be positively related to the quality of patient care.
2. H2: Evidence will suggest that increased job satisfaction will be positively related to better patient care outcomes in Military Hospital, Pune.
3. H3: It will be hypothesized that nursing officers with higher psychological well-being and job satisfaction will achieve higher patient satisfaction in Military Hospital, Pune.

4. H4: Developing and implementing specific interventions to improve mental health and job satisfaction among nursing officers will lead to improved quality in patient care.

Significance of the Study

The research is of great importance in the area of health care most especially in the military hospitals where the nursing officers work under a lot of pressure. The realities associated with the state of nursing officers' psychological status, their satisfaction and job performance certainly can inform the study of and potential improvements in the quality of healthcare services. This study might lead way in determining what aspects of well-being and satisfaction should possibly be promoted by healthcare administrators and policymakers so as to come up with favorable workplace climates, thus improving work performance, reducing burnout, and consequently improving patient outcomes. Overall, this work advances the knowledge of the field, enhancing the relative practice of treatment, irrespective of the participant: patient or physician.

Rationale of the study

The military hospitals present a number of problems for nursing officers including high turnover, pauperization, critical case presentation and stress manifestations that can compromise their psychological and emotional well-being. Of these factors, surprisingly, there are not many direct studies regarding the effects of these factors on nursing staffs working in military hospitals. Filling that gap is the purpose of this research on the role of psychological well-being and job satisfaction in determining quality patient care of Military Hospital, pune. Realizing these dynamics is necessitated by the high-stress military healthcare environment to design corresponding interventions that enhance the nursing officers hence improve the efficiency and volition of the healthcare team.

Methodology

The study will incorporate the quantitative research approach in a quest to determine how the level of PWB affects the level of job satisfaction and consequently impact on the quality of patient care provided by the nursing officers at Military Hospital, pune. The main method includes quantitative measurement of factors by giving them standardized scales, and correlational analysis of variables. In this study quantitative data was gathered from the nursing officers employed in the hospital through self-completion questionnaires with their psychological state, job satisfaction level and caring behaviours being used as measurement parameters of the quality of patient care.

Sample Size and Participants

The sample of this study was 25 nursing officers conveniently taken from the Military Hospital, pune. Such a sample size is appropriate for an exploratory approach to addressing the research questions and the participants was chosen purposively depending on their positions and responsibilities in the hospital. Participants will only be recruited if they had at least six months working experience in the hospital, because would be in a better position to understand the influence of the work environment on their psychological well-being and job satisfaction.

Inclusion Criteria

Staff nurses working at military hospital Pune.
Employee must have worked in the hospital for not less than six months.
Provided informed consent to participate in the study since they were willing to be assigned on the task.

Exclusion Criteria

Other participants included the nursing officers with working experience less than six months in the hospital.
Employees that have been on sick leave for a long time or those still receiving medical care for work stress or other mental conditions.

Instruments Used

1. Psychological Well-Being Scale (Short WEMWBS) The Short Warwick-Edinburgh Mental Well-Being Scale (Short WEMWBS) was applied in order to gauge the psychological well-being of the nursing officers. The scale consists of 7 items that evaluate positive mental health including life satisfaction, positive relationships, and emotional resilience. The respondents will express how frequently they have encountered certain feelings during the last week by marking one of the options from 1 (none of the time) to 5 (all of the time). Higher scores mean better mental health.

2. Job Satisfaction Survey (JSS) – Short Version The Job Satisfaction Survey (JSS) is a commonly employed method that gauges job satisfaction along various dimensions, such as work nature, compensation, supervision, and co-worker relationships. The short version of the JSS, which is made up of 9 items, was used to determine the nursing officers' satisfaction with their job. Responses was based on a 6-point scale from 1 (strongly disagree) to 6 (strongly agree). A higher score on the JSS is indicative of increased job satisfaction.
3. Caring Behaviors Inventory (CBI) – Short Version The Caring Behaviors Inventory (CBI) is designed to measure the caring behaviors exhibited by healthcare professionals. The short version, consisting of 10 items, was used to assess the nursing officers' caring behaviors towards patients, which is an indirect measure of patient care quality. Respondents will rate each item on a 5-point Likert scale, from 1 (never) to 5 (always), with higher scores reflecting more frequent caring behaviors and, therefore, a greater emphasis on patient-centered care.

Data Collection Procedure

The research will apply a cross-sectional design for gathering data. The participants was requested to fill in the three questionnaires (WEMWBS, JSS, and CBI) within the specified period at their convenience of workplace. The questionnaires can be administered either online or on paper, depending on the availability and the choice of the participants. However, it was voluntary for participants to take part in the study, and for data collection, informed consent was requested from each participant.

Phase 1: Participants was presented with the study, and a request for informed consent was made.

Phase 2: The participants was asked to fill out the three external scales (WEMWBS, JSS, and CBI) that have been standardized.

Phase 3: The gathered data was stored securely, ensuring anonymity and confidentiality of responses.

Data Analysis

The analysis was carried out employing both descriptive and inferential statistics. The responses to the three scales are statistically summarized using descriptive statistics (e.g. mean, standard deviation, frequency distribution). Meanwhile, inferential statistics such as Anova are relevant to the relationships existing between psychological well-being and job satisfaction as well as caring behaviors-in this case, quality of patient care.
Anova will assist in knowing how strong and to which direction one psychological well-being, job satisfaction and caring behaviors are related.

Ethics

When carrying out this research, ethical principles was observed. Participants was educated with regard to the objectives of the research, that they can pull out from the study at any instance and that their answers remain confidential. The researchers will obtain informed consent and guarantee anonymity of all participants' details in order to protect their privacy. The ethics committee of Military Hospital, pune shall review and grant permission for the study.

Limitations

A limitation with regard to the sample size of 25 may restrict the extent to which the conclusions reached can be generalised to the rest of the nursing officer population in other military hospitals.
Data was collected through self-reporting and therefore may be however distorted through social desirability or emotional influences of the present time.
The cross-sectional design will provide a snapshot of the relationships between variables but will not establish causal relationships.

Results

Table 1 : Mean, Median, Mode, SD

Statistic	Value
Mean	3.86
Median	4.1
Mode	4.2
Standard Deviation	0.57

The descriptive statistics provide insight into general trends and consistency among responses of the nursing officers in the study.
1. Mean (3.86): A mean score of 3.86 suggests nursing officers report a moderate level of psychological well-

being on average. This indicates that, although they are not at the lowest level of experiencing low well-being, there is still some room for improvement in their mental health and well-being.

2. Median and Mode (4.1): With a median and mode of 4.1, the result represents a tendency toward the 4.1 value, thus equating this score with both the midpoint and the most frequently reported value. It could generally mean that most participants reported to have their psychological well-being slightly above average, with much of the scores centering around the 4.1 score.

3. Standard Deviation (0.57): A standard deviation of 0.57 entails low variability, thereby showing how closely the individual scores are grouped around the mean. A lower spread could also mean a fairly homogeneous view of psychological well-being among the participants, where most nursing officers report almost the same level of well-being.

In conclusion, most of these statistics point to an average, moderate level of psychological well-being across this group with minimal variation, indicating that, even though different experiences, the nursing officers studied all have similar experiences.

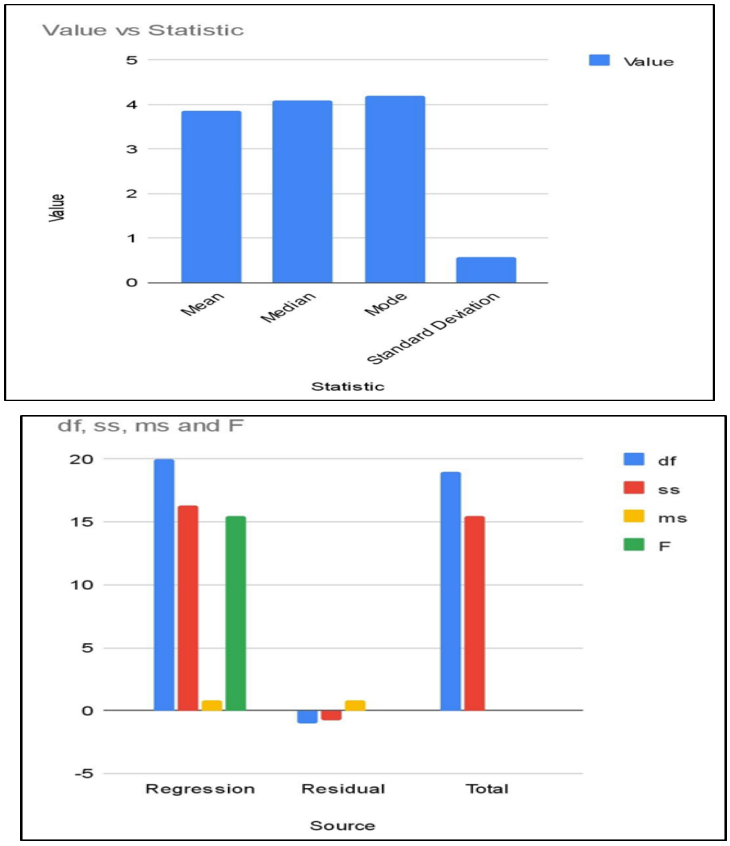

Fig 1: Bargraph Representation

Table 2 : Anova

Source	df	ss	ms	F	Significant F
Regression	20	16.27	0.81	15.46	2.05E-38
Residual	-1	-0.81	0.81		
Total	19	15.46			

Fig 2 : Bargraph Representation

The ANOVA results suggest the relationship between independent variables (job satisfaction and CBI or cognitive behavioral interventions) and the dependent variable (psychological well-being):

1. Significant effect of the model: The ANOVA suggests that the regression models exert a statistically significant effect on psychological well-being, implying that these independent variables collectively affect the

dependent variable. This implies that job satisfaction as well as CBI are meaningful predictors of psychological well-being among nursing officers.
2. F Value (15.46): The value of 15.46 is well above the unit level and, on the basis of the shrubbery pumice-stone, dictates a high status of effect size and that the model's variables are really affecting the psychological well-being and not by chance. A high value of F within the understanding of regression analysis complements that the relationship between job satisfaction, CBI, and psychological well-being is strong.
3. P-value (2.05E-38): It represents a very low value, which is well below the threshold of statistical significance (0.05) and presents a strong statistical public opinion that the results can unlikely come by chance variation. This suggests a highly significant association between the independent variables and psychological -being.
4. Explained Variation: The ANOVA further indicates that the model accounts for a significant variation regarding psychological well-being, meaning that job satisfaction and CBI account for a good part of the variations in psychological well-being scores. This shows where the nurse's psychological well-being comes from and gives valuable insight about how improved job satisfaction and application of CBI could reflect favorably on psychological well-being for the nursing officer.
All of these lay a great stress on the importance of job satisfaction and CBI as predictors of and factors that can improve psychological well-being, suggesting that interventions embraced within this domain are potentially capable of positively impacting mental health productivity.

Key Findings:

* Mean, Median, Mode, and Standard Deviation:
  * The mean score for psychological well-being is 3.86, indicating a moderate level.
  * The median and mode are both 4.1, suggesting that a score of 4.1 is the most common and central value.
  * The standard deviation of 0.57 shows a relatively low variability in the data, indicating that the scores are clustered around the mean.
* ANOVA:
  * The ANOVA results show a significant effect of the regression model on the dependent variable (likely psychological well-being).
  * The F value of 15.46 and a p-value of 2.05E-38 indicate a strong association between the independent variables (job satisfaction and CBI) and the dependent variable.
  * The regression model explains a significant portion of the variance in psychological well-being.

Interpretation:
The analysis suggests that both job satisfaction and CBI are significantly associated with the psychological well-being of nursing officers. This implies that factors contributing to job satisfaction and lower levels of burnout are likely to positively impact the mental health of these professionals.

Discussion

The study aims to investigate whether the psychological well-being and job satisfaction of nursing officers in Military Hospital Pune are directly correlated with the quality of patient care they provide. By using ANOVA analysis, the study will test this hypothesis through a systematic examination of the data collected on job satisfaction, psychological well-being, and their effects on patient care indicators.
Proving the Hypothesis Through ANOVA Analysis
1. Testing the Relationship: The ANOVA analysis will determine if significant differences exist in patient care outcomes based on varying levels of psychological well-being and job satisfaction among nursing officers. For example, if nursing officers with higher psychological well-being consistently show better patient care outcomes, it validates the hypothesis that well-being and job satisfaction positively influence care quality.

2. Statistical Significance: The ANOVA yields a high F value and a p-value below the conventional threshold (e.g., $p < 0.05$), this would confirm a statistically significant relationship, supporting the hypothesis that psychological well-being and job satisfaction directly impact patient care. Significant results means that these factors are not only theoretically influential but also measurable and impactful in practice.
3. Explained Variance: A significant portion of variance in patient care explained by psychological well-being and job satisfaction would strengthen the case for causality. If the regression model shows that these two factors account for a considerable amount of variation in care quality, it suggests that improvements in these areas could directly lead to enhanced patient care outcomes.

4. Hypothetical Impact on Caring Behaviors and Patient Satisfaction: By establishing a positive correlation, the study can hypothesize that nursing officers with higher well-being and job satisfaction exhibit greater empathy, patience, and efficiency. These behaviors are likely to translate into higher levels of patient satisfaction, faster recovery rates, and more positive patient-nurse interactions. These outcomes support the idea that supporting nursing officers' psychological well-being and job satisfaction can directly improve care quality.

CBI and Patient Care Management Indicators

The study also analyzes the relationship between psychological well-being, job satisfaction, and specific patient care management indicators as determined by the CBI (Caring Behaviors Inventory). This examination will provide insights into whether the psychological state and job satisfaction of nursing officers are reflected in measurable caring behaviors. Positive correlations here would reinforce the hypothesis that better psychological well-being and job satisfaction are integral to patient care quality.

Potential Implications

The hypothesis be proven correct, this study will suggest that targeted interventions aimed at enhancing nursing officers' psychological well-being and job satisfaction could improve patient care quality significantly. In a military hospital setting, where stress levels are often elevated due to additional organizational demands, fostering a supportive work environment could have substantial benefits for patient outcomes.

Limitations

Small Sample Size: The statistical strength of the research may suffer because of the sample size, which consists of only 25 participants. Extending the sample size would assist in extending the findings to a larger number of nursing officers, especially those from various military hospitals.

Cross-Sectional Design: The design is cross-sectional in nature. In this design, a portion of the sample applicants is selected and their feelings regarding the specific variables are measured only once. Therefore, psychosocial wellbeing, job happiness and the quality of care provided to the patients cannot be regarded as cause-effect relationships.

Self-Reported Data: The self-reporting data method is also subject to bias, in this case social desirability bias where the target respondents tend to give the responses they consider 'good' rather than their true feelings. Moreover, the author at the time of the analysis may be under certain emotional states that affect the data provided.

Generalizability: The center of focus in the research are nursing officers in Military Hospital, pune. This is important as otherwise civil health workers for instance may not show the same results in their operational environments or those working in military spaces that are very different from this one.

Measurement Limitations: The Psychological Well Being Scale as developed by British mental health foundation (WEMWBS), Job Satisfaction Survey (JSS) and Caring Behaviors inventory (CBI) are accepted tools all over the world but have their own weaknesses of not being able to address every aspect of the psychological wellbeing.

Further Implications

1. Interventions in the workplace: The results of the study can guide the development of interventions in the workplace aimed at improving nurses' psychological well-being and job satisfaction. For example, stress management programs, increased opportunities for professional development and improvements in work-life balance can help improve job satisfaction and psychological resilience of staff.

2. Policy recommendations: Health care managers can use these results to develop policies that prioritize mental health support for nurses, ensuring that resources are allocated to counseling, support groups of the and regular staff well-being assessments.

3. Training programs: Training programs that focus on emotional intelligence, stress management and self-care can be implemented to help nurses cope with the high demands of work in the settings of military health care.

4. Further research: Future studies could explore the long-term effects of workplace interventions on nurses' well-being and patient care outcomes. Longitudinal research provides a better understanding of the cause-effect relationships between these variables.

Conclusion

In conclusion, this study highlights the crucial role of psychological well-being and job satisfaction in determining the quality of patient care at pune Military Hospital. By examining these factors, research highlights the

importance of addressing nurses' mental and emotional health in high-stress environments. The findings may have important implications for improving the nurses' work environment and patient care. Improving nurses' psychological well-being and job satisfaction can lead to better job performance, better patient outcomes, and ultimately a more efficient health care system in military hospitals.Despite the study's limitations, such as the small sample size and cross-sectional design, the results are expected to provide valuable information about the relationship between nurses' well-being and patient care. Future research with larger samples and longitudinal designs will provide more clarity and potentially validate proposed interventions aimed at improving the work environment in military health care settings.

References

Dyrbye, L. N., Shanafelt, T. D., & Sinsky, C. A. (2017). Burnout among healthcare professionals: A call to explore and address this underrecognized threat to safe, high-quality care. Journal of Occupational and Environmental Medicine, 59(6), 506-515.

Gillen, P., Sinclair, M., Kernohan, W. G., Begley, C., & Luyben, A. (2017). Interventions to reduce stress and burnout in midwifery: A systematic review. Archives of Women's Mental Health, 20(5), 595-610.

Lu, H., While, A. E., & Barriball, K. L. (2019). Job satisfaction among nurses: A literature review. International Journal of Nursing Studies, 47(8), 1017-1037.

Maslach, C., & Leiter, M. P. (2016). Understanding the burnout experience: Recent research and its implications for psychiatry. World Psychiatry, 15(2), 103-111.

McHugh, M. D., Kutney-Lee, A., Cimiotti, J. P., Sloane, D. M., & Aiken, L. H. (2011). Nurses' widespread job dissatisfaction, burnout, and frustration with health benefits signal problems for patient care. Health Affairs, 30 (2), 202-210.

Ryff, C. D., & Keyes, C. L. (1995). The structure of psychological well-being revisited. Journal of Personality and Social Psychology, 69(4), 719.

Schneider, A., Weigl, M., & Angerer, P. (2017). Work-related psychosocial stressors and outcomes in the medical profession: A comparison between nurses and doctors. Current Opinion in Psychiatry, 30(5), 338-344.

Smith, S., & Yang, J. (2020). The impact of workplace support and resilience on nursing staff's psychological well-being. Nursing Studies Review, 55(3), 205-218.

Dyrbye, L. N., Shanafelt, T. D., & Sinsky, C. A. (2017). Burnout among healthcare professionals: A call to explore and address this underrecognized threat to safe, high-quality care. Journal of Occupational and Environmental Medicine, 59(6), 506-515.

Gillen, P., Sinclair, M., Kernohan, W. G., Begley, C., & Luyben, A. (2017). Interventions to reduce stress and burnout in midwifery: A systematic review. Archives of Women's Mental Health, 20(5), 595-610.

Hayes, B., Douglas, C., & Bonner, A. (2012). Work environment, job satisfaction, stress and burnout among hemodialysis nurses. Journal of Nursing Management, 21(5), 588-598.

Laschinger, H. K. S., & Fida, R. (2016). New nurses burnout and workplace well-being: The influence of authentic leadership and psychological capital. Burnout Research, 3(2), 19-28.

Lu, H., While, A. E., & Barriball, K. L. (2019). Job satisfaction among nurses: A literature review. International Journal of Nursing Studies, 47(8), 1017-1037.

Maslach, C., & Leiter, M. P. (2016). Understanding the burnout experience: Recent research and its implications for psychiatry. World Psychiatry, 15(2), 103-111.

McHugh, M. D., Kutney-Lee, A., Cimiotti, J. P., Sloane, D. M., & Aiken, L. H. (2011). Nurses' widespread job dissatisfaction, burnout, and frustration with health benefits signal problems for patient care. Health Affairs, 30 (2), 202-210.

Ryff, C. D., & Keyes, C. L. (1995). The structure of psychological well-being revisited. Journal of Personality and Social Psychology, 69(4), 719.

Schneider, A., Weigl, M., & Angerer, P. (2017). Work-related psychosocial stressors and outcomes in the medical profession: A comparison between nurses and doctors. Current Opinion in Psychiatry, 30(5), 338-344.

Smith, S., & Yang, J. (2020). The impact of workplace support and resilience on nursing staff's psychological well-being. Nursing Studies Review, 55(3), 205-218.

*****

Dissimilarities in Concentration of Crops in Different Regions of Sikkim Himalayas

-Pawan Kumar
Department of Geography,
Delhi School of Economics,
University of Delhi, Delhi – 110007, India.
Email Id: pawank.dse@gmail.com

Abstract

The challenge of the people of Sikkim is mainly in two-fold, first, very low per-capita availability of land and second, the decreasing trend of farmers working on farms due to more spadework and less return. The spatial pattern and dynamics of cropland utilization have occupied important and central places both in the field of agro-economics and agricultural geography among others. Agricultural development in Sikkim can be achieved through crop concentration, assured irrigation, conservation and enhancement of soil and water resources through an integrated system aimed at environmental and economic sustainability. The crop concentration area supports in determining the regions where a certain crop develops healthy even with the help of least efforts. The crop concentration index of rice, wheat, fruits, and oilseeds is maximum in East district, while crop concentration index of millet, barley, and spices is maximum in North district of Sikkim. Most of the region in Sikkim is drier during the winter season which is one of the major constraints towards increasing productivity. This has forced farmers to cultivate only those suitable crops through concentration in agriculture which is directly related to water resources and agricultural development.

Keywords: Crop concentration index, agricultural development, sustainability, and per-capita availability of land

1. Introduction

Agriculture is the mainstay of the majority of the rural population of Sikkim. Due to adverse geographical location and difficult terrain, the prospect of expansion of area under cultivation is limited. The challenge is mainly in two-fold, first, very low per-capita availability of land and second, the decreasing trend of farmers working on farms due to more spadework and less return. Sustainable agriculture, which is environmentally friendly and also economically viable for the individual farmer is the best agriculture system for Sikkim. Special emphasis needs to be given for bridging the gap between the farmer's requirement and availability of improved varieties of seeds, plant nutrients, bio-fertilizers and bio-control agents for sustaining the mountain farming systems in the state. To ensure Sikkim, free from poverty as well as from food insecurity, increased production combined with profitability is one of the best possible ways for making it self-reliant.

The spatial pattern and dynamics of cropland utilization have occupied important and central places both in the field of agro-economics and agricultural geography among others. The majority striking characteristic of existing farming is its excessive multiplicity of practice, products, and organization (Grigg, 1969).

Since all the geographical factors i.e. physio-ecological, techno-economic and socio-cultural are highly varied and complex at all levels from macro to micro both in space and time on one hand, and the other hand the requirement of these geographical factors varied for all the species of agricultural plants right from the process of metabolism to the ripening of crops.

Agricultural development in Sikkim can be achieved through crop concentration, assured irrigation, conservation and enhancement of soil and water resources through an integrated system aimed at environmental and economic sustainability. In brief, efficient natural resources management, can be an important basis for the agricultural development. The natural endowment of Sikkim can fill the gaps between real and potential produces through its enormous potential for development of agriculture, horticulture, animal husbandry and fisheries by using available and accessible technologies. The basis of policy formulation should be 'glocal' i.e. local to global, i.e. "think, plan and act locally, and support nationally and globally". Therefore, crop concentration is an opportunity to improve the rural livelihoods and soil health of mountain region under changing climatic conditions. For getting holistic knowledge about the potentiality of Sikkim for concentration of crops, this whole study is organized.

2. Materials and Methods

2.1. The study area

Sikkim is positioned in the Eastern Himalaya range below the world's third highest mountain peak, Kangchendzonga (8595m) lying in the middle of 27^0 04' 46" to 28^0 07' 48" N and 88^0 55' to 89^0 55' 25" E. To its north lies the gigantic expanses of Tibetan plateau of the People's Republic of China, to its west is Nepal, Bhutan and China in the East and West Bengal in South (Fig. 1). The whole region is a biological diversity hotspot with inspiring botanic and zoological splendour. Sikkim is the second-smallest state in India next to Goa in terms of land region. The total geographic extent of the State is 7096 km^2. The State consist of four districts and nine sub-divisions.

Total population of Sikkim as per 2011 census is 607,688 of which male and female are 321,661 and 286,027, respectively. Density of Sikkim is 86 persons per km^2, which is lesser than nation-wide average 382 person per km^2. The number of females per 1,000 males has upgraded from 875 in 2001 to 889 in 2011. Literacy rate in Sikkim has seen upward trend and is 82.20 percent as per 2011 population census. Of that, male literacy positions at 87.29 per cent whereas womanly literacy is at 76.43 per cent (Census of India, 2011). The climate of Sikkim involvements flexible temperature with summertime in the bases and chilly winter on the high mountains. It has been alienated into three distinct categories - tropical, temperate and alpine. The mean temperature in the lesser altitudinal zone differs from 5^0C to 15^0C all through winter and 18^0C to 28^0C during the summer months. In the upper reaches, the normal temperature by no means crosses 15^0C. The common drift of lessening in temperature with intensification in altitude holds decent in all places. Normal annual rainfall of 2000 mm to 5000 mm typically focused for the period of the monsoon (District Statistical Hand Book, 2011).

2.2 Source of data

Data regarding food crops and cash crops were mainly collected from the Department of Agriculture Co-operation and Farmers Welfare, Indian Council of Agricultural Research and Forest, Environment, and Wildlife Management Department, Sikkim. Data

from other sources such as primary survey, discussion with the focused group, Annual Progress Report of Department of Food Security and Agricultural Development, and Sikkim Statistical Journal, Department of Economics, Statistics, Monitoring and Evaluation, Gangtok, Government of Sikkim were also used.

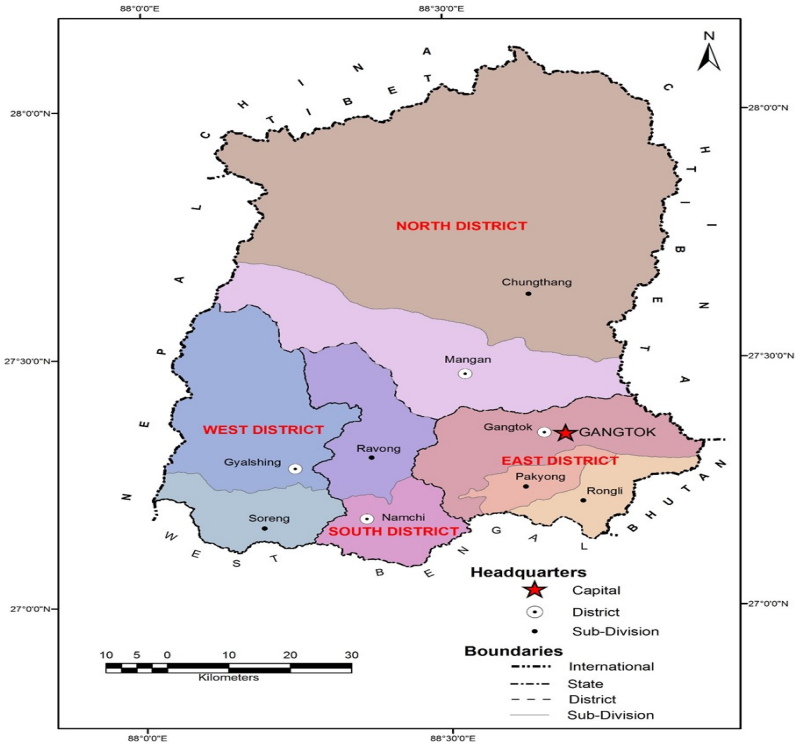

Fig. 1. Location map of the study area, Sikkim.

2.3 Data analysis

2.3.1 Crop Concentration

Crop concentration is the outcome of multiplicity in the agro-climatic, topographic, edaphic and socio-economic-cultural circumstances as well as irrigational development, technical development, and institutional setup. For further crop development and orientation of cultivation on the correct lines, the conventional rural agricultural economy needs to be improved, appropriate crop associations should be evolved and the whole agricultural setting has to be renovated. For such progressive agricultural planning, the study of crop concentration is a prerequisite.

To measure crop 'x' concentration, the following formula had been used, i.e.

$$Concentration\ Index\ of\ 'x'\ Crop\ =$$

$$\frac{Area\ of\ x\ Crop\ in\ a\ Component\ Aerial\ Unit}{Area\ of\ all\ Crops\ in\ a\ Component\ Aerial\ Unit} \div \frac{Area\ of\ x\ Crop\ in\ Entire\ Region}{Area\ of\ All\ Crops\ in\ the\ Entire\ Region}$$

3. Results and Discussion

3.1. Concentration of crops in different districts of Sikkim

The concept of crop concentration explains the dissimilarities in the concentration of a crop in a region or an area at a particular juncture. Every year, the same crop may not have dominance, because it also depends on various physical and socio-economic as well as traditional elements. The physical factor is most basic among them. Because the crop concentration in a region mainly relies on its topography, degree of hotness and coldness, dampness as well as soil health settings and every single crop has a maximum, minimum, and optimum temperature.

It tends to have an excessive concentration in the parts of perfect agricultural climatic environments and the concentration drops as the geographic circumstances turn out to be less favorable (Pradhan *et al*., 2005 and Singh, 1976).

Table 1. Crop concentration index of the crops grown in Sikkim, 2015-16.

S. No.	Crop	District	Area (ha)	District Area/ GCA of District	District Area/ GCA of State	Crop Concentration Index
1	Rice	North	920	0.0695	0.1119	0.622
2	Wheat	North	50	0.0038	0.0034	1.116
3	Maize	North	2754	0.2081	0.4084	0.510
4	Finger	North	609	0.0460	0.0299	1.539
5	Barley	North	140	0.0106	0.0047	2.258
6	Buck	North	211	0.0159	0.0374	0.426
7	Total Cere-	North	4684	0.3540	0.5957	0.594
8	Total Puls-	North	267	0.0202	0.0594	0.339
9	Total	North	612	0.0463	0.0727	0.636
10	Total	North	1023.7	0.0774	0.1839	0.421
11	Total vege-	North	1562.5	0.1181	0.1627	0.726
12	Potato	North	604	0.0456	0.1074	0.425
13	Roots and	North	654	0.0494	0.1147	0.431
14	Total Spic-	North	6252	0.4725	0.3105	1.522

Source: Compiled and Computed by the Researcher, 2018

Delimitation of crop concentration area supports in determining the regions where a certain crop develops healthy even with the help of least efforts. Therefore, crop concentration region has excessive importance for the agricultural development and planning. Table 1 represents the crop concentration index of rice, wheat, fruits, and oilseeds is maximum in East district, while crop concentration index of millet, barley, and spices is maximum in North district of Sikkim. Similarly, the crop concentration index of maize, buckwheat, pulses, vegetables and most of the cereals are high in South district while indices of potatoes, root, and tuber crops are maximum in the West district of Sikkim. Therefore, from these indices, it can be speculated that the respective higher indices of crops in respective districts have higher chances to thrive well with minimum inputs and thus, in turn, will help in the agricultural development of Sikkim. The district-wise indices of crop concentra-

tion in Sikkim is illustrated in Fig. 2.

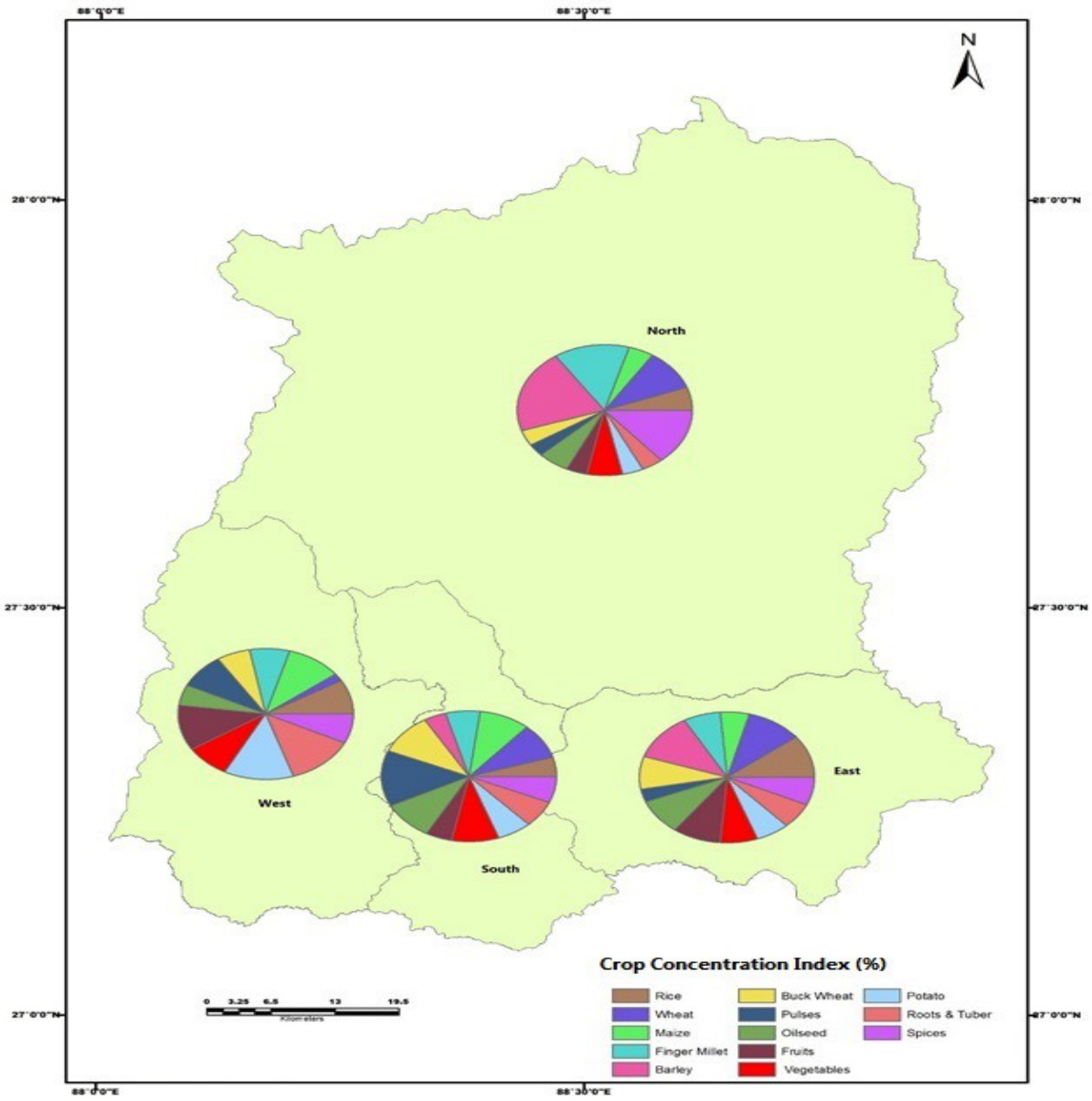

Fig. 2. Crop concentration index of major crops grown in Sikkim, 2015-16

4. Conclusion

Sikkim, with its mountainous terrain and the fragile environment, suffers from serious constraints in the application of some common strategies for improving livelihoods. Topography and a thin spread of resources neither allow large scale application of production technology, nor economies of large-scale production. Inaccessibility restricts the movement of bulky and heavy material and goods to and from the large markets. At the same time, the diversity and uniqueness of natural resources with which the state is endowed with can offer opportunities to produce goods and ecological services that can support the supply of clean water, habitat of wild species and human health. Growth of population and the consequent division of farm families in the state

has initiated a decreasing process of per capita holdings. In general, the productivity in the mountainous eco-system is generally very low in comparisons to the nationwide average because of rainfed agriculture. Most of the region in Sikkim is drier during the winter season which is one of the major constraints towards increasing productivity. This has forced farmers to cultivate only those suitable crops through concentration in agriculture which is directly related to water resources and development. This will also enhance the income and productivity of the farmers. So, the selection of those crops which can have paid a better price in the market will have to incorporate in the system.

References:

Census of India (2011) *Provisional Population,* Government of India, Delhi.

District Statistical Hand Book (2011) *Directorate of Census Operations*, Sikkim.

Grigg, D. (1969) *The Agricultural Regions of the World: Review and Reflection*, Economic Geography, Taylor and Francis, 45(2):95-132.

Pradhan, Y. and Avasthe, R. K. (2005) *Area and Food Production Statistics of Sikkim,* Agricultural Census, Department of Food Security and Agricultural Development, Government of Sikkim, pp 50.

Singh, J. (1976) *An Agricultural Geography of Haryana*, Vishal Publications, University Campus, Kurukshtra, (Haryana-India) pp 309-442.

*****

बौद्ध दर्शन की वैभाषिक अवधारणा और धर्म : एक समाकलन दृष्टि

-अभिषेक प्रियदर्शी
सहायक प्राध्यापक, सत्यवती कॉलेज दिल्ली विश्वविदयालय,
मोबाइल : 9971656921
ईमेल apriyadarshi021@gmail.com

बौद्ध शब्द की उत्पत्ति बुद्ध धातु में अण् प्रत्यय लगकर होती है, जिसका अर्थ होता है – बुद्ध को मानने वाला अथवा बुद्ध की उपासना और अनुसरण करने वाला। इस पर और पदार्थ के ऐतिहासिक विकास रूप में बुद्ध ने तत्कालिक सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप सदैव अपने शिष्यों को और स्वयं को, तत्वों को अनिर्वचनीय बताते हुए, किसी भी प्रकार के तर्क वितर्क से दूर रखा। बुद्ध के जीवन काल तक उनके उपदेशों की निरन्तरता बनी रही। भगवान् तथागत के महापरिनिर्वाण के पश्चात बौद्ध पण्डितों ने तथागत के उपदेशों का गहन अध्ययन करते हुए विद्वता पूर्ण सूक्ष्म सिद्धान्तों को ढूंढ निकाला और तत्व–ज्ञान की विजय–वैजयन्ती चहुं ओर प्रसारित होने लगा। इस क्रम में तत्समय कुल 18 सम्प्रदायों के उद्भूत होने की जानकारी मिलती है जिनमें चार प्रमुख हैं–

वैभाषिक – बाह्यार्य प्रत्यक्षवाद,

सौत्रान्तिक – बाह्यार्य अनुमेयवाद,

योगाचार – विज्ञानवाद

माध्यामिक – शून्यवाद

आर्य कात्यायनी पुत्र विरचित ज्ञानप्रस्थान की टीका 'विभाषा' कहलाती है और उसके मानने वालों को वैभाषिक की संज्ञा दी गई है। वैभाषिकों ने धर्म को जगत का मूलभूत आधार के रूप में अंगीकार करते हुए बौद्ध दर्शन को गतिशील और उपयोगी बनाने का कार्य किया। भूत और चित की वैसी अवस्था जिसका विखण्डन नहीं किया जा सकता उसे धर्म कहते हैं। वैभाषिकों ने धर्म को मूलतः दो भागों में विभाजित किया है–1. विषयीगत और 2. विषयगत, जिसकी विशद व्याख्या हम इस आलेख में प्रस्तुत करेंगे।

1. विषयीगत

बौद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों के विकास क्रम में उदित चार प्रमुख विचार धाराओं में विशिष्ट स्थान प्राप्तकर्ता के रूप में वैभाषिक–नय दृष्टिगत होता है जिसके अनुसार बौद्ध दर्शन का केन्द्रबिन्दु धर्म है। जगत के मूलभूत वस्तु के रूप में ध र्म को मान्यता दी गई है। वैभाषिकों ने धर्म को दो भागों में विभाजित किया है : 1. विषयीगत और 2. विषयगत।

यहाँ हम धर्म के विषयीगत विभाजन का विश्लेषणात्मक अध्ययन करेंगे।

विषयीगत विभाजन : महानिदान सुत (दी.नि. (2/15) में भगवान बुद्ध[1] के द्वारा स्वयं विषयीगत वर्गीकरण का अप. ने उपदेशों में अंगीकृत किए जाने का प्रमाणीकरण उस धर्म के प्राचीनता को प्रदर्शित करता है। धर्म के दोनों स्वरूपों में विषयीगत विभाजन अत्यन्त प्राचीन है। विषयीगत विभाजन तीन प्रकार से किया गया है–

1. पञ्चस्कन्ध, 2. द्वादश आयतन, 3. अष्टादश धातु।

1. पञ्चस्कन्ध : पञ्चस्कन्ध शब्द में दो पद हैं। प्रथम पद पञ्च है जो संख्यावाची है और पांच का बोध कराता है, जबकि दूसरा पद स्कन्ध का अर्थ–राशि[2] है। सम्पूर्ण रूप में पञ्चस्कन्ध नामरूप का विस्तृत विभाजन है। 'नाम' मन तथा मानसिक प्रवृत्ति का साधारण संज्ञा है जबकि रूप को नाम से पृथक् करते हुए, नाम को वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान में विभक्त करते हैं। इस प्रकार स्कन्धों की संख्या पाँच बतायी गयी है–रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान।

रूप–स्कन्ध में पाँच इन्द्रियाँ, पाँच अर्थ या विषय और अविज्ञप्ति संग्रहीत है। पाँच इन्द्रियाँ हैं–चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत, घ्राण, जिह्वा और काय। पाँच अर्थ जो इन्द्रियों के विषय हैं : रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य। चक्षुरादि इन्द्रिय इन अर्थों के विज्ञान के आश्रय हैं। ये रूप–प्रसाद और अतीन्द्रिय हैं।

2. द्वादश आयतन : ''आयं प्रवेशं तनोतीति आयतनम्।'' आयतन शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है–प्रवेश मार्ग। जगत में किसी वस्तु का ज्ञान अकेले उत्पन्न होना संभव नहीं है। इसके लिए अन्य वस्तुओं की सहकारिता अपेक्षित है। किसी विषय का ज्ञान उसके इन्द्रियों के माध्यम से होता है। इन्द्रियाँ और उसके विषयों को ही आयतन शब्द से अभिहित किया गया है। इन्द्रियों की संख्या 6 है तथा उसके विषय भी 6 हैं। उस प्रकार आयतन की संख्या द्वादश अथवा 12 है :

आध्यात्म आयतन	**बाह्य आयतन**
(भीतरीद्वार / इन्द्रियाँ	**(बाह्य द्वार / विषय)**
1. चक्षुरिन्द्रिय आयतन	1. रूप–आयतन (स्वरूप तथा वर्ण)
2. श्रोत्र इन्द्रिय आयतन	2. शब्द–आयतन
3. घ्राण इन्द्रिय आयतन	3. गन्ध–आयतन
4. जिह्वा इन्द्रिय आयतन	4. रस–आयतन
5. काय इन्द्रिय आयतन	5. स्प्रष्टव्य आयतन
6. बुद्धि इन्द्रिय आयतन (मन–इन्द्रिय आयतन)	6. बाह्य इन्द्रियों से आग्राह्य विषय (धर्मायतन)

सर्वास्तिवादियों के मतानुसार भगवान् तथागत ने स्वयं[3] द्वादश आयतन के अस्तित्व को स्वीकार किया है। भगवान् तथागत ने यह माना है कि वस्तु की सत्ता के लिए यह आवश्यक है कि या तो वह पृथक् इन्द्रिय हो या पृथक् इन्द्रिय ग्राह्य विषय हो। अगर इनमें से दोनों का स्वरूप न हो तो उसका सत्ता अमान्य है जिस प्रकार आत्मा की सत्ता इन दोनों स्वरूपों में न होने से अमान्य है।

हम रूपायतन से प्रारम्भ कर समस्त आयतन के अर्थों पर विश्लेषण करते हैं :

1. रूपायतन : रूप एक प्रकार से द्विविध[4] है, दूसरे प्रकार से 20 तरह का है। द्विविध रूप है–1. वर्ण 2. संस्थान (स्वरूप)

वर्ण चतुर्विध[5] हैं–1. नील, 2. लोहित, 3. पीत, 4. अवदान।

संस्थान अथवा स्वरूप अष्टविध हैं–1. दीर्घ, 2. ह्रस्व, 3. वृत्त, 4. परिमण्डल, 5. उन्नत, 6. अवनत, 7. शात (सम), 8. विशात (विषम)।

रूप के दूसरे बीस प्रकार–

1. मूल जाति के चार वर्ण।
2. आठ संस्थान/स्वरूप।
3. आठ अन्य वर्ण–अभ्र, धूम, रज, मट्टिका, छाया, आतप, आलोक, अन्धकार।

2. शब्दायतन–शब्द अष्टविध हैं।

प्रथम दृष्टया यह चतुर्विध हैं–

उपात्त महाभूत हेतुक।

अनुपात महाभूत हेतुक।

सत्वाख्य।

असत्वाख्य।

उपात्त–चित्त–चैत्त द्वारा अधिष्ठान भाव से उपगृहीत और स्वीकृत किए जाने वाले को उपात्त कहते हैं

3. गन्ध आयतन – गन्ध चार प्रकार के हैं क्योंकि दो प्रकार–(सुगन्ध, दुर्गन्ध) के गन्ध उत्कृष्ट और अनुष्कृष्ट में

विभक्त हैं प्रकरण शास्त्र में गन्ध तीन प्रकार के बताए गए हैं–

1. सुगन्ध।
2. दुर्गन्ध।
3. समसन्ध।

4. रस आयतन–रस छः प्रकार का होता हैः–मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त।

5. स्प्रष्टव्य आयतन–स्पष्टव्य ग्यारह प्रकार का है–महाभूत, चतुष्क, श्लक्ष्णत्व, कर्कशत्व, गुरुत्व, लघुत्व, शीतता, जिघत्सा और पिपासा।

महाभूत चतुष्क–पृथ्वी धातु, अब्धातु, तेजो धातु और वायु है।

श्लक्षणत्व[6]–स्निग्धता को श्लक्ष्णत्व कहते हैं।

कर्कशत्व–यह कठोरता है।

गुरुत्व–जिसके योग से काय तोलन की अर्हता प्राप्त की जा सके उसे गुरुत्व कहते हैं।

लघुत्व–यह गुरुत्व का विपर्यय अर्थात् विपरीत है।

शीत–वैसा धर्म जो ऊष्म की अभिलाषा पैदा करे उसे शीत कहते हैं।

जिघत्सा–वैसे धर्म को जिघत्सा की संज्ञा दी गई है जो आहार की इच्छा उत्पन्न करता है।

पिपासा–जो पान की इच्छा उत्पन्न करे उसे पिपासा कहते हैं।

अविज्ञप्ति–विज्ञप्ति और समाधि से संभूत कुशल–अकुशल रूप अविज्ञप्ति है। यह विज्ञप्ति के समान दूसरे को कुछ विज्ञापित नहीं करता इसलिए इसे अविज्ञप्ति कहा गया है। इसे रूप–स्कन्ध में गिनाया गया है।

3. अष्टादश धातु : अष्टादश धातु में दो पद हैं–अष्टादश संख्यावाची शब्द है जो अठारह को व्यक्त करता है, जबकि धातु से आशय गोत्र का है।[7] जिन व्यक्तियों के एकीकरण से घटनाओं का एक प्रवाह निष्पन्न होता है उसे धातु कहते हैं। धातुओं की संख्या अठारह (18) है जिनमें 6 इन्द्रियों, 6 विषयों तथा 6 विज्ञानों का ग्रहण किया जाता है। इन्द्रियाँ तथा उनके विषय तो वे ही हैं जिनका वर्णन आयतन के रूप में किया गया है। इन्द्रियों के विषयों के सम्पर्क में आने के परिणामस्वरूप जिस विशिष्ट ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसे विज्ञान कहते हैं। इन्द्रिय व उसके विषयों की संख्या के अनुसार विज्ञान 6 प्रकार का होता है। इस तरह से अष्टादश धातु में बारह आयतनों व छः विज्ञानों का ही समावेश रहता है–

इन्द्रियाँ (6)	**विषय (6)**	**विज्ञान (6)**
1. चतुर्धातु	7. रूप धातु	13. चात्रुष ज्ञान (चक्षुर्विज्ञान धातु)
2. श्रोत्र धातु	8. शब्द धातु	14. श्रावण ज्ञान (श्रोत्र विज्ञान धातु)
3. घ्राण धातु	9. गन्ध धातु	15. घ्राणज ज्ञान (घ्राण विज्ञान धातु)
4. जिह्वा धातु	10. रस धातु	16. रासन ज्ञान (जिह्वा विज्ञान धातु)
5. काय धातु	11. स्प्रष्टव्य धातु	17. स्पर्शज ज्ञान (काय विज्ञान धातु)
6. मनो धातु	12. धर्म धातु	18. अनन्तर वस्तुओं का ज्ञान (मनोविज्ञान धातु)

इनमें धातु संख्या 1 से 5 व 7 से 11 तक के धातुकेवल एक ही धर्म को धारण करते हैं। धर्म धातु में 64 धर्मों का अन्तर्भाव सन्निहित है (46–चैत, 14–चितविप्रयुक्त, 3 असंस्कृत तथा 1 अविज्ञप्ति। चित्त वस्तुतः एक ही धर्म है, परन्तु इस विभाजन में वह सात रूप धारण करता है, क्योंकि वह व्यक्तित्व के स्वरूप साधन में इन्द्रिय रूप से एक प्रकार तथा विज्ञान रूप से छः प्रकार का होता है।

2. विषयगत

धर्मों के वर्गीकरण से पूर्व धर्म का संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण दिया जाना औचित्यमयी प्रतीत होता है। उसके प्रारंभिक पृष्ठभूमि पर दृष्टि दौड़ाने पर वैदिक धर्म की कुरीतियों से त्रस्त सामाजिक ढाँचे पर उत्पन्न बौद्धवाद जो तात्कालिक सामाजिक ढाँचे के अरसों से तप्त धरा को वर्षा की बूँदों के समान सिंचने का कार्य किया, इसी बौद्धवाद या बुद्ध के सिद्धांत का केन्द्रबिन्दु या मुख्य आधार धर्म है। बुद्धत्व प्राप्ति के प्रारंभिक 12 वर्षों तक बुद्ध ने संघ सम्बन्धी न कोई संहिताबद्ध नियम बनाए, न ही धर्म के तत्त्वों की विवेचना की।

बुद्ध ने सदैव तत्त्वों के ऊहोपोह को अनिर्वचनीय बताया और ऐसे प्रश्नों पर मौन रहे व अपने शिष्यों को भी मौन रहने को कहा, परन्तु बुद्ध के महापरिनिर्वाण प्राप्ति के पश्चात समयागत उनके उपदेशों के मूल्य कम होते गए और उनके सूक्ष्म विवेचना प्रारम्भ कर दी गई। इस कार्य में 18 सम्प्रदायों के उद्भव होने का आभास है जिनमें मुख्य चार सम्प्रदाय–वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार व माध्यामिक हैं। इनमें बाह्य और अभ्यन्तर धर्मों के अस्तित्व को स्वीकार करने वालों की संज्ञा सर्वास्तिवाद[8] की थी जिसे वैभाषिक[9] भी कहा जाता है। इन्हीं वैभाषिकों ने धर्म का, जिसे ये जगत का मूलभूत वस्तु स्वीकार करते थे, विभाजन दो प्रकार से किया है–

1. विषयीगत विभाजन।
2. विषयगत विभाजन।

हम यहाँ विषयगत विभाजन पर सविस्तार चर्चा करेंगे।

विषयगत विभाजन : जगत के मूलभूत वस्तुओं का बाह्य विभाजन विषयगत विभाजन कहलाता है। धर्मों के बाह्य स्वरूप को विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों ने भिन्न–भिन्न संख्या स्वरूप में स्वीकार किया है। सर्वास्तिवादियों ने जहाँ धर्म की संख्या 75 स्वीकारा है, वहीं स्थविरवादियों ने 170 व योगाचार सम्प्रदाय ने 100 माना है, परन्तु इन तीनों ने मुख्य रूप से ध र्म को दो भागों में बाँटा है, जिसे 1. संस्कृत धर्म और 2. असंस्कृत धर्म कहा गया है।

संस्कृत धर्म : ''अन्योन्यमपेक्ष्य कृताः जनिता इति संस्कृताः।'' अर्थात् परस्पर एक–दूसरे से मिलकर उत्पन्न होने वाला ध र्म संस्कृत धर्म है। संस्कृत धर्म हेतु प्रत्यय से उत्पन्न होता है। अतः ये अस्थायी, अनित्य, गतिशील तथा आस्त्रव (रागादि मलों) से युक्त होता है। वैभाषिकों ने संस्कृत धर्मों के चार प्रकार बताए हैं। जो इस प्रकार हैं–

1. रूप
2. चित्त
3. चैतसिक
4. चित्त विप्रयुक्त

इन चारों भेदों में चित्त विप्रयुक्त को स्थविरवादियों ने स्वीकार नहीं किया है, उसके अलावा समस्त भेद तीनों सम्प्रदायों को मान्य है।

2. असंस्कृत धर्म : ''अन्योन्यमपेक्ष्य कृताः न जनिता इति असंस्कृताः।'' अर्थात् जो परस्पर संयोग से न उत्पन्न हो उसे असंस्कृत धर्म कहा जाता है। असंस्कृत धर्म हेतु प्रत्यय से उत्पन्न नहीं होते हैं अतः ये नित्य व स्थायी होते हैं। ये रागादि मलों से मुक्त होने के कारण अनास्त्रव[10] तथा सत्य मार्ग के द्योतक माने जाते हैं।

विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के अनुसार धर्मों की संख्या भिन्न–भिन्न मानी गई है। जो इस प्रकार है :

	धर्म	स्थविरवाद	सर्वास्तिवाद	योगाचार
	असंस्कृत	01	03	06
सं	रूप	28	11	11
स्‍	चित्त	89	01	08
कृ	चैतसिक	52	46	51

त	चित्त विप्रयुक्त	–	14	24
	कुल	170	75	100

अब हम सर्वास्तिवादियों के अनुसार 75 धर्मों की विशद चर्चा करेंगे जो तीन असंस्कृत और 72 संस्कृत धर्मों को स्वीकार करता है। संस्कृत धर्मों का विभाजन रूप चित्त, चैतसिक तथा चित्त विप्रयुक्त के रूप में हैं जो निम्नवत् हैं–

1. रूप : ''रूप्यते इति रूपम्।'' वह धर्म जो रूप धारण करे। यहाँ रूप धारण करने से तात्पर्य एक क्षण में एक ही निश्चित आकारकृति को ग्रहण करना, वह स्थान दूसरे द्वारा उस क्षण ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

सर्वास्तिवादियों के अनुसार रूप 11 हैं–

1. चक्षुः इन्द्रिय, 2. श्रोत्र इन्द्रिय, 3. घ्राण इन्द्रिय, 4. जिह्वा इन्द्रिय, 5. काम इन्द्रिय, 6. रूप, 7. शब्द, 8. गन्ध, 9. रस, 10. स्प्रष्टव्य और 11. अविज्ञप्ति।

रूप में दो प्रकार के पदार्थ ग्रहीत हैं :–1. बाह्य इन्द्रिय और 2. ग्राह्य विषय।

इनके अतिरिक्त अविज्ञप्ति नामक विशिष्ट धर्म की भी चर्चा की गई है।

सर्वास्तिवादी यथार्थवादी दर्शन है उसे इन्द्रियों के द्वारा बाह्य जगत का जो स्वरूप प्रतीत होता है उसे ही वह सत्य मानता है। वह परमाणुओं की सत्ता मानता है। यह इन्द्रियों व विषय दोनों को परमाणुजन्य मानता है। नेत्र अनेक परमाणुओं का समुच्चय है। उसमें चारों महाभूतों (पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु) के तथा चार इन्द्रिय ग्राह्य विषयों के परमाणु तो विद्यमान ही हैं। साथ ही साथ कायेन्द्रिय के तथा चक्षुः इन्द्रिय के भी परमाणु का अस्तित्व है। अतः नेत्र परमाणुओं का संघ ात है। वसुबन्धु ने चक्षुः इन्द्रिय का उदाहरण देते हुए समझाया है कि जिस प्रकार आटे का चूर्ण पानी की सतह पर तैरता रहता है उसी प्रकार चक्षुः इन्द्रियों के सूक्ष्म परमाणु नेत्र की कणिकाओं पर फैले रहते हैं। श्रोत्र इन्द्रियों के विषय में वसुबन्धु का कथन है कि जैसे किसी वृक्ष की छाल उतार ली जाये तो वह अपने आप सिकुड़ जाता है उसी प्रकार वह परमाणु जिससे श्रोत्र इन्द्रियाँ बनी हैं वह निरन्तर सिकुड़ जाती हैं। घ्राण इन्द्रियों के परमाणु नथुनों के भीतर रहते हैं। रस इन्द्रियों के परमाणु जिह्वा के ऊपर रहते हैं और आकार में अर्द्धचन्द्र के जैसे होते हैं। काय इन्द्रिय के परमाणु समस्त शरीर पर फैले रहते हैं। शरीर में जितने परमाणु होते हैं उतनी ही काय इन्द्रिय के परमाणुओं की संख्या रहती है। वसुबन्धु के अनुसार काय परमाणुओं का आकार स्त्री–पुरुष में भिन्न रहता है।

बौद्ध पण्डितों ने चक्षु और श्रोत्र को ग्रहण की शक्ति की दृष्टि से पृथक् स्थान दिया है। ये दोनों इन्द्रियाँ दूर से ही विषयों को ग्रहण कर सकती है। आँख बड़े–बड़े पर्वत को तथा कान सूक्ष्म शब्द (मच्छरों की भनभनाहट) तथा स्थूल शब्द (मेघ के गर्जन) को एक ही क्षण में सुन सकता है।[11]

रूप–विषय (6) इन्द्रियों के विषयों का विशेष विवरण अभिधर्मकोश के प्रथम परिच्छेद में किया गया है जिसमें कहा गया है कि –

''रूपद्विधा विशंतिधा, शब्दस्त्वष्ट विधो रसः।
षोढा चतुर्विधो गन्धः, स्पृश्येकादशत्मकम्।।''

अर्थात् रूप दो प्रकार के होते हैं–वर्ण तथा संस्थान। पुनः वर्ण 12 और स्थान 8 होते हैं, इस प्रकार ये कुल 20 हो गए। शब्द[12] 8 प्रकार का होता है, गन्ध 4 प्रकार के तथा स्पर्श 11 प्रकार के होते हैं।

अविज्ञप्ति कर्म का यह विशिष्ट प्रकार है। कर्म दो प्रकार के होते हैं–1. चेतना तथा 2. चेतनाजन्य।

चेतना[13] का अर्थ मानस कर्म तथा चेतनाजन्य से तात्पर्य वाचिक तथा कायिक कर्म से है। चेतनाजन्य कर्म दो प्रकार के हैं–विज्ञप्ति तथा अविज्ञप्ति।

विज्ञप्ति का अर्थ है–प्रकट कर्म तथा अविज्ञप्ति का अर्थ है–अप्रकट। समस्त कर्मों के फल होते हैं परन्तु कुछ के फल उसी समय उत्कर्षित होते हैं, जबकि कुछ के फल उसी समय अभिव्यकत नहीं होते उसे ही अविज्ञप्ति कहा जाता है।

2. चित्त – जिसे आम बोलचाल की भाषा में जीव कहा जाता है, बौद्ध लोग उसे चित्त कहते हैं। चित्त की सत्ता तभी तक है जब तक इन्द्रिय तथा ग्राह्य विषयों के परस्पर घात–प्रतिघात का अस्तित्व है।

ज्यों ही इन्द्रियों तथा विषयों के परस्पर घात–प्रतिघात का अन्त हो जाता है त्यों ही चित्त की भी समाप्ति हो जाती है। प्रत्येक चित्त प्रतिक्षण सर्वदा परिवर्तित होता रहता है और कार्य–करण के अनुसार नवीन रूप धारण करता रहता है। निर्णयात्मक स्थिति पर बल देने की अवस्था में चित्त मन कहलाता है। जब चित्त वस्तुओं के ग्रहण में प्रवृत्त होता है तब उसकी संज्ञा विज्ञान है।

आलम्बनों की भिन्नता के आधार पर चित्त 7 प्रकार के होते हैं–

1. मनस – उसके द्वारा हम बाह्य इन्द्रियों की सहायता से अमूर्त पदार्थों को प्राप्त करते हैं।
2. चक्षुर्विज्ञान – वही आलोचन ज्ञान जब चक्षु इन्द्रियों के द्वारा संयुक्त होता है।
3. श्रोत्र विज्ञान।
4. जिह्वा विज्ञान।
5. घ्राण विज्ञान।
6. काय विज्ञान।
7. मनोविज्ञान।

3. चैतसिक अथवा चैत धर्म – यह चित्तस् धातु में ठक् प्रत्यय लगाकर चैतसिक शब्द की उत्पत्ति होती है जो चित्त से संयुक्तिवरण की अवस्था को प्रदर्शित करता है। यह छः प्रकार का होता है–

1. चित्त महाभूमिक धर्म–10
2. कुशल महाभूमिक धर्म–10
3. क्लेश महाभूमिक धर्म–06
4. अकुशल महाभूमिक धर्म–02
5. उपक्लेश महाभूमिक धर्म–10
6. अनियमित भूमिक धर्म–08 = 46

1. चित्त महाभूमिक धर्म (10) – साधारण मानसिक धर्म जो विज्ञान के प्रतिक्षण में विद्यमान रहते हैं। इनकी संख्या 10 है–

क. वेदना – अनुभूति (सुख, दुःख, न सुख न दुःख)।

ख. संज्ञा – नाम।

ग. चेतना – प्रयत्न।

घ. छन्द – अभिष्ट वस्तुओं की अभिलाषा।

ङ स्पर्श – इन्द्रियों तथा विषय का प्रथम संबंध।

च. प्रज्ञा – बाह्य अभ्यन्तर का ज्ञान लेकर निर्वेग प्राप्त करना।

छ. स्मृति – स्मरण। (दोनों प्रकार के कृत्यों का)

ज. मनसिकार – अवधान।

झ. अधिमोक्ष – करना है का निर्णय।

ञ. समाधि – चित्त की एकाग्रता।

2. कुशल महाभूमिक धर्म – कुशल कार्यों के अनुष्ठान में लगे नैतिक संस्कार। ये संख्या में 10_{14} हैं–

1. श्रद्धा – चित्त की विशुद्धि।

2. अप्रमाद – शुभ कार्यों में आलस्य न करना।
3. प्रश्नब्धिः – चित्त की लघुता।
4. उपेक्षा – चित्त की समता।
5. ह्री – अपने कार्यों के लिए लज्जा।
6. अपत्रपा – दूसरों के कार्यों के लिए लज्जा।
7. अलोभ – त्यागभाव।
8. अद्वेष – मैत्री।
9. अहिंसा – हिंसा न पहुँचाना।
10. वीर्य – शुभ कार्यों में उत्साह।

3. क्लेश महाभूमिक धर्म–बुरे कार्यों से संबद्ध विज्ञान। उनकी संख्या छः है–

1. मोह – अविद्या। अज्ञान अर्थात् प्रज्ञा से विपरीत धर्म।
2. प्रमाद – असावधनता – अप्रमाद का विपरीत धर्म।
3. कौसीद्य – कुशल कार्य में अनुत्साह।
4. आश्रद्धय – कुशल कार्य में श्रद्धा का अभाव।
5. स्त्यान – अकर्मण्यता।
6. औद्धत्य – सुख तथा क्रीडा में सदा लगा रहना।

4. अकुशल महाभूमिक धर्म–ये अकुशल है जो सदैव बुरा फल उत्पन्न करते हैं। इनकी संख्या 2 है–

1. आद्रीक्य – अपने ही कुकर्मों पर लज्जा का अभाव।
2. अनपत्रता – निन्दनीय कर्मों से भय न करना।

5. उपक्लेश महाभूमिक धर्म–ये क्लेश उत्पन्न करने वाले धर्म हैं। इनकी संख्या 10 है–

1. क्रोध – गुस्सा करना।
2. म्रक्ष – छल या दम्भ।
3. मार्त्सय – डाह।
4. ईर्ष्या – घृणा।
5. प्रदास – बुरे वस्तुओं को ग्राह्य मानना।
6. विदिंहा – कष्ट पहुँचाना।
7. उपनाह – मैत्री को तोड़ना।
8. माया – छल।
9. शाठ्य – शठता।
10. मद – आत्मसम्मान से प्रसन्नता।

6. अनियमित भूमिक धर्म–ये धर्म पूर्व धर्मों से भिन्न है। इसके घटना की भूमि निश्चित नहीं है। इनकी संख्या 8 है–

1. कौकृत्य – खेद अथवा पश्चाताप।
2. मिद्ध – निद्रा अथवा विस्मृतिपरक चित्त।
3. वितर्क – कल्पनापरक चित्त की दशा।
4. विचार – निश्चय।
5. राग – प्रेम।

6. द्वेष – घृणा।

7. मान – अपने गुणों के विषय में शोभन होने की भावना अभिमान, घमण्ड।

8. विचिकित्सा – संशय।

राग, द्वेष, मान तथा विचिकित्सा ये चार क्लेश माने गये हैं।

4. चित्त विप्रयुक्त धर्म – जो न चित्त में समाहित हो न चैत में ऐसे धर्मों को चित्त विप्रयुक्त की संज्ञा दी गई है। अतः इन्हें प्रथक् वर्ग माना जाता है।

चित्त विप्रयुक्त की संख्या 14 है। जो इस प्रकार हैं–

1. प्राप्ति – धर्मों को सन्तान रूप में नियमित रखने वाली शक्ति।

2. अप्राप्ति – प्राप्ति का विरोधी धर्म।

3. निकाम समागता – प्राणियों में समानता उत्पन्न करने वाला धर्म।

4. असांज्ञिक – वह शक्ति जो प्राचीन कर्मों के फलानुसार मनुष्य को चेतनाहीन समाधि में परिवर्तित कर देता है।

5. असंज्ञी समापत्ति – मानस प्रयत्न जिसके द्वारा समाधि की दशा उत्पन्न की जाये।

6. निरोध समापत्ति – वह शक्ति जो चेतना को बन्द कर निरोध उत्पन्न करती है।

7. जीवित – जन्म के समय की शक्ति मृत्यु का सूचक।

8. जाति – जन्म लेना।

9. स्थिति – जीवित रहना।

10. जरा – बुढ़ापा।

11. अनित्यता – नाश।

12. नाम–काय – पद।

13. पद–काय – वाक्य।

14. व्यञ्जन काय – वर्ण।

असंस्कृत धर्म – सर्वास्तिवादियों ने असंस्कृत धर्म को तीन प्रकारों में विभाजित किया है–

1. आकाश, 2. प्रतिसंख्यानिरोध और 3. अप्रतिसंख्यानिरोध।

1. आकाश – ''तत्राकाशम् अनावृत्ति[15]।'' वसुबन्धु ने आकाश को अनावृत बताया है। अनावृत[16] से तात्पर्य है आकाश न तो दूसरे धर्मों का आवरण करता है और न ही दूसरे धर्मों द्वारा आवृत होता है। आकाश असंस्कृत, नित्य और अपरिवत. ंनशील धर्म है। उसे भावात्मक पदार्थ मानना उचित है। सर्वास्तिवादियों ने आकाश को दो प्रकार का माना है –

1. दिक् का तात्पर्यवाची।

2. वायु का पर्यायवाची।

1. दिक् का तात्पर्यवाची – यह दृश्य, सास्त्रव तथा संस्कृत है।

2. वायु का पर्यायवाची – यह अदृश्य, अनास्त्रव तथा असंस्कृत है।

2. प्रतिसंख्यानिरोध – ''प्रतिसंख्यानिरोधो यो विसंयोगः प्रथक्–प्रथक्[17]। यहाँ प्रतिसंख्या से तात्पर्य प्रज्ञा या ज्ञान है। उपरोक्त श्लोक में वसुबन्धु ने बताया कि प्रज्ञा द्वारा उत्पन्न सास्त्रव धर्मों का एक–एक करके निरोध करना ही प्रतिसंख्या निरोध है। वसुबन्धु ने माना है कि एक संयोजन के निरोध करने पर समग्र बन्धनों का निरोध नहीं होता। एक–एक करके निरोध करना पड़ता है।

3. अप्रतिसंख्या निरोध – ''उत्पादात्यन्तविध्नोऽन्यो, निरोधोऽप्रतिसंख्यया।''

उपरोक्त श्लोक द्वारा वसुबन्धु ने बताया कि जिस निरोध के द्वारा राग, मल आदि क्लेशों का उत्पादन कभी नहीं हो

वही अप्रतिसंख्या निरोध है। बिना प्रज्ञा का निरोध ही अप्रतिसंख्या निरोध है। जिन हेतु प्रत्ययों के कारण वह धर्म उत्पन्न होता है उन्हें ही दूर कर देने से वह धर्म स्वभावतः निरुद्ध हो जाता है। उसकी विशेषता है कि उसमें निरुद्ध धर्म भविष्य में उत्पन्न नहीं होता है।

ये तीनों धर्म स्वतंत्र तथा नित्य हैं।

अतः धर्मों का विषयगत वर्गीकरण बाह्य तत्वों का वृहद् न सूक्ष्म विश्लेषीकृत विभाजन है जो अन्ततोगत्वा निर्वाण की ओर उन्मुख करता है।

बौद्ध धर्म इसी समाज के निरन्तर कड़ी से कल्याणकारी उद्देश्य को लेकर उत्पन्न हुआ था और अपने उद्देश्य को नैरन्तर्य और गतिशील बनाए रखने हेतु विभन्न रूप अखत्यार करते हुए धर्म को मोक्षगामी अथवा निर्वाण प्राप्ति के मूलभूत आधार के रूप में बनाए रखा जो वैभाषिकों के ऐतिहासिक गाथा के रूप में हमें दिशा प्रदान कर रहा है।

संदर्भ सूची

1. संयुक्त निकाय (16/11) – महानिदान सुत्त (दी.नि. 2/15)
2. बौद्ध धर्म दर्शन – आचार्य नरेन्द्र देव, पृष्ठ 3/5
3. बौद्ध दर्शन मीमांसा – बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ 162
4. अभिधर्म कोश (प्रथम परिच्छेद)
5. बौद्ध धर्म दर्शन – आचार्य नरेन्द्र देव, पृष्ठ 315
6. बौद्ध धर्म दर्शन – आचार्य नरेन्द्र देव, पृष्ठ 317
7. बौद्ध धर्म दर्शन – आचार्य नरेन्द्र देव, पृष्ठ 319
8. शाङ्करभाष्य (2/2/17)
9. बलदेव उपाध्याय – बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृष्ठ 141
10. अभिधर्म कोश, 4/2
11. Macgovern - Manual of Buddhist Philosophy, Page 119-122
12. अभिधर्म कोश, 1/9, 10
13. अभिधर्म कोश, 4/1
14. बलदेव उपाध्याय – बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृष्ठ 172
15. अभिधर्म कोश, 1/5
16. शाङ्करभाष्य, 2/2
17. अभिधर्म कोश, 1/6

दर्शनोपनिषदि प्रतिपादिताद्वैतवेदान्तविचारः

स्तोता- विभाकरकुमारदीक्षितः
शोधच्छात्रः- दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
शोधनिर्देशकः- प्रो. दयाशंकर तिवारी
संस्कृतविभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

प्रस्तावना

योगदर्शनं दर्शनेषु अन्यतमम्। अस्य योगशास्त्रस्य रचयिता महर्षिः पतञ्जलिः। अयं पतञ्जलिः जीवः ईश्वरश्चेति तत्त्वद्वयं स्वीकरोति। अतः एव अस्य दर्शनस्य " सेश्वरसाङ्ख्यदर्शनम्"[1] इति नामान्तरम्। अस्यैव शास्त्रस्य अपरं नाम " साङ्ख्यप्रवचनम्" इति। एतद्दर्शनं पतञ्जलिना प्रणीतत्वात् "पातञ्जलदर्शनम्" इत्यपि व्यवहारयोग्यं भवति। यद्यपि पतञ्जलेः पूर्वाचार्याः हिरण्यगर्भयाज्ञवल्क्यादयः अनेके आचार्याः योगशास्त्रस्य प्रवक्तारः आसन्। अथापि जनसाधारणानां कृते पतञ्जलिरेव तं योगशास्त्रं सूत्ररूपेण ग्रन्थीकृत्य सम्यक् सरलरीत्या व्याजहार इति हेतोः अस्य दर्शनस्य "पातञ्जलदर्शनम्" इति नाम सयुक्तिकं तिष्ठति।

उपनिषद् पराविद्या[2] इति पदेन व्यपदिश्यते । वेदान्तिभिः उपनिषद् इति आख्यायते । उपनिषच्छब्दस्य रहस्यमर्थः, अध्यात्मविद्यारहस्यप्रतिपादकाः वेदभागाः उपनिषदः कथ्यन्ते । तासु महर्षयः आध्यात्मिक्याविद्यया गूढतमानां रहस्याणां विशदतया विचारं कुर्वाणाः लक्ष्यन्ते । भारतीयदर्शनसाहित्ये सन्ति त्रयः प्रस्थानग्रन्थाः । ते वेदान् अवलम्बमानाः मानवजीवनस्य चरमं लक्ष्यं तत्प्राप्तिसाधनञ्च उपदिशन्ति ।भारतीयविचारशास्त्रस्य श्रेष्ठोपजीव्यग्रन्थत्वादुपनिषदः प्रस्थानत्रय्यां प्रथमप्रस्थानत्वेन गृह्यन्ते। श्रीमद्भगवद्गीता द्वितीयं प्रस्थानमिति। गीतायाः द्वितीयप्रस्थानत्वम् तस्यामेव प्रकटितम् अस्ति। इममेव अंशद्वयमादाय योगोपनिषदः प्रवर्तन्ते तेषामेव इह सङ्क्षेपेण विचारह् प्रस्तूयते।

विषयप्रवेशः

दर्शनोपनिषत् सामवेदान्तर्गता इति साम्प्रदायिकाः मन्यन्ते। एतासां योगसंज्ञकानां उपनिषदा ऋग्वेदादिवत् अपौरुषेयता वर्तते वा न वा इत्ययं पृथक् विचारणीयः एव भविष्यति। मुक्तिकोपनिषदि अष्टोत्तरशतमुपनिषदां नामानि प्राप्यन्ते। तेषु नामसु एतस्याः अपि परिपठितत्वात् ऋग्वेदादिवत् अपौरुषेयाः इत्याहुः केचित्। केचित्तु योगसंज्ञायुक्तानां उपनिषदां लौकिकश्लोकतुल्यत्वात् सरलार्थप्रतिपादकत्वात् न अपौरुषेयता किन्तु पौरुषेयत्वमेव वर्तते इत्याहुः। तथा च सति के तासां उपनिषदां कर्तारः इति भवति जिज्ञासा। तथा पौरुषेयग्रन्थवत् न कस्याश्चिदपि स्फुटरूपेण कर्तारः उपलभ्यन्ते अतः अपौरुषेयाः एव स्युः इति साम्प्रदायिकाः। यदि उपनिषदां योगसंज्ञाकानामस्ति अपौरुषेयत्वं तर्हि कस्याः उपनिषदः कस्मिन् वेदे अन्तर्भावः इति भवति जिज्ञासा। तामेव जिज्ञासां पूरयितुं "अडयार् पुस्तकालय" द्वारा प्रकाशिते " अष्टोत्तरशतोपनिषत्सु योगोपनिषदः" इत्यस्मिन् पुस्तके श्री उपनिषद्ब्रह्मयोगि विरचिते व्याख्याने प्रत्येकमपि उपनिषदः व्याख्यानस्य आरम्भे का उपनिषत् कस्य वेदस्य अस्ति इति स्पष्टं न्यरूपि।

दर्शनोपनिषदः स्वरूपमुद्देश्यं च

सहस्रवर्त्मा सामवेदाः यथा महर्षिपतञ्जलिना व्याकरणमहाभाष्ये प्रत्यपादि तदनुसारेण अस्माभिः ज्ञातुं शक्यते यत् भगवतः पतञ्जलेः यः कालः तत् काले एकसहस्रं शाखाः सामवेदस्य आसन्निति। यद्यपि इदानीं कौथुमशाखा राणायनीयशाखा इति द्वयमेव उपलभ्यते। द्वयोः शाखयोः साम्प्रदायिकपद्धत्या अध्ययनमध्यापनं प्रचलति। तासु शाखासु दर्शनोपनिषदः उपलब्धिर्नास्ति अतः एकसहस्रं शाखासु दर्शनोपनिषदः अन्तर्भावः भवितुमर्हति अस्माभिः अडयारपुस्तकालयद्वारा प्रकाशितयोगोपनिषदः व्याखाने द्रष्टुं

शक्यते। तत्र पङ्क्तिरस्ति- **इह खलु सामवेदप्रविभक्तेयं दर्शनोपनिषद् निर्विशेषब्रह्मज्ञानसहकृतयमाद्यष्टाङ्गयोगप्रकटनव्याग्रा निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना विजृम्भते।**[3] अतः एतट्टीकानुरेधेन अस्माभिः इदमवगन्तुं शक्यते यत् एतदुपनिषत् सामवेदस्यैव एकसहस्रं शाखासु कस्याश्चित् शाखायाः वर्तते। अत्र मुख्यप्रतिपाद्यविषयः अस्ति निर्विशेषब्रह्म इति, योहि अत्र निर्विशेषब्रह्मज्ञानस्य यमादि अष्टाङ्गयोगद्वारा कथमवगमः भवितुमर्हति इति प्रतिपाद्यते। तच्च ब्रह्म कीदृशमिति चेत्, निर्गुणादिस्वरपमेव ब्रह्म इति अवगन्तुं शक्यते। एषा च उपनिषद् मन्त्रभागेन स्वल्पग्रन्थः वर्तते किन्तु अर्थदृष्ट्या अत्यन्ता महत्त्वपूर्णा वर्तते। अस्याः उपनिषदः अपि परमं प्रयोजनं योगमाध्यमेन अद्वैतवेदान्तप्रतिपाद्यतत्त्वस्य परब्रह्मणः अवगतिः कथं भवितुमर्हति इति।

अतः साङ्कृतिदत्तात्रयप्रतिवचनरूपया आख्यायिकया एषा उपनिषत् अत्यन्तं गम्भीरं तत्त्वम् अल्पमत्रैः प्रतिपादयति। यद्यपि अख्यायिकानामाख्यायकासु तात्पर्यं नास्ति इति अनेकधा अस्माभिः प्रमाणानि उपलभ्यन्ते यथा च कठोपनिषदः भाष्यारम्भे एव भगवद्पादैः शङ्कराचार्यैः यमनचिकेतसोः कथायाः विद्यास्तुत्यर्थत्वेन सार्थक्यं प्रतिपादितम्। तदनुसारेण अत्रापि साङ्कृतिदत्तात्रयप्रतिवचनरूपा या आख्यायिका प्रतिपाद्यते, आख्यायिकाश्च आख्यायिकया च या विद्याप्रतिपाद्यते तस्याश्च स्तुतिरेव परमं प्रयोजनम्। आख्यायिकायां प्रतिपाद्यमानस्य तत्त्वस्य च अनुष्ठाने विनियोगः इति अस्माभिः प्रतिपतव्यम्। अतः अत्र ये मुख्यप्रमेयाः वेदान्तसम्बन्धाः उपलभ्यन्ते तेषां च कथं वेदान्तमुलकत्वं वर्तते, कथञ्च च तत्र भाष्यादिनां प्रामाण्यबुद्धिः योजयितुं शक्यते इति विचारः करिष्यते।

तत्र इयं दर्शनोपनिषद् सामवेदस्था इति श्रीमता टीकाकारेण[4] एव प्रमाणीकृता। कः एतस्याः उपनिषदः मुख्य प्रतिपाद्यविषयः इति जिज्ञासायामुच्यते टीकाकारेण-

"निर्विशेषब्रह्मज्ञानसहकृतयमाद्यष्टाङ्गयोगप्रकटनव्यग्रा निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रपर्यवसाना" इति। अर्थात् अस्यामुपनिषदि निर्विशेषब्रह्मज्ञानं एव प्रतिपिपादयिषितं वर्तते। तस्य निर्विशेषब्रह्मज्ञानस्य प्रतिपादनाय, साक्षात्काराय वा यानि साधनानि अपेक्षितानि तेषामष्टाङ्गयोगानाम् अन्येषां वा साधनानां निरुपणं करिष्यते। न च दर्शनोपनिषत् इति नामसंकीर्तनमात्रेण तत्र दर्शनानां प्रमाणादि चर्चा विधास्यते इति मन्तव्यम्, प्रमेयबोधकत्वात् उपनिषदाम्।

निर्विशेषब्रह्मज्ञानप्रतिपादनपरायाम् उपनिषदि जीवन्मुक्तिसाधनम् अष्टाङ्गयोगः इति प्रथमं प्रमेयम्।

अस्यामुपनिषदि प्रतिज्ञातः यः विषयः निर्विशेषब्रह्मज्ञानप्रतिपादनपरायाम् उपनिषदि जीवन्मुक्तिसाधनम् अष्टाङ्गयोगः इति स एव यथा मन्त्रं व्याख्यायते।

आख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था सौलभ्येन प्रमेयबोधिका च।

दत्तात्रेयो महायोगी भगवान भूतभावनः।
चतुर्भुजो महाविष्णुर्योग साम्राज्य दीक्षितः।।[5]

प्रथमे श्लोके तावत् भगवतः दत्तात्रेयस्य स्तुतिः क्रियते। महायोगी भगवान् भूतभावनः, चतुर्भुजः, महाविष्णुः, योगसाम्राज्यदीक्षितः इति इमानि सर्वाणि विशेषणानि भगवति दत्तात्रेये प्रयुक्तानि। एतस्यैव भगवतो दत्तात्रेयस्य शिष्यः साङ्कृतिः इति नाम्ना भूषितः। सः श्रद्धया आचार्यं उपसृत्य् विनयान्वितः सन् पप्रच्छ। किं योगसाधनैः ब्रह्मविज्ञानं, अत्र आदौ यौ द्वौ श्लोकौ वर्तते ताभ्यां श्लोकाभ्यां ब्रह्मज्ञानाय गुरुपसदननिर्दिष्टं यच्च मुण्डकादि सर्वासु अपि उपनिषत्सु उपलभ्यते। "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्[6] इत्यादि।

"भगवान् बृहि मे योगं साष्टाङ्गं सप्रपञ्चकम्।
येन विज्ञानमात्रेण जीवन्मुक्तौ भवाम्यहम्॥"[7]

हे भगवन् तादृशं विज्ञानं मे बृहि येन विज्ञानेन अहं जीवन्मुक्तो भवामि। इह जीवन्मुक्तः इत्यस्य अस्ति अर्थद्वयम्। जीवन्मुक्त्यवस्था या हि वेदान्तेषु गीयते। यस्यामवस्थायां जीविनः सशरीरमेव ब्रह्मज्ञानं सम्प्राप्य प्रारब्धकर्मवशात् देहं धरति इति सः

जीवन्मुक्तः। तस्यैव विस्तृतं वर्णनं श्रीमद्भिः सदानन्दयोगीन्द्रैः वेदान्तसाराख्ये ग्रन्थे अकारि। त्रिविधानि कर्माणि निर्दिश्यन्ते शास्त्रेषु- प्रारब्धकर्माणि, सञ्चितकर्माणि, आगामिकर्माणि। त्रिष्वपि कर्मसु सञ्चितागामिकर्माणाम् अस्ति ब्रह्मविज्ञानेन नाशः किन्तु प्रारब्धकर्मणां च उपभोगेन एव ब्रह्मज्ञानिना शरीरं ध्रियते किन्तु शरीरभावो न भवति। प्रमाणप्रमेयादि दैवकृतः व्यवहारोपि न भवति सैव जीवन्मुक्तः इत्युच्यते।

इममेवांशमादाय आदाय इह प्रश्नः योगाख्य दर्शनोपनिषदि प्रयुक्तः यः जीवन्मुक्तः इति शब्दः तस्य अयमेव अर्थः अस्ति वा उत मन्यः इति चेत् जीवनात् मुक्तः जीवन्मुक्तः इत्येह इह व्याख्येयम्। जीवन्मुक्त्यवस्थायाः पुरुषार्थभावात् संसारात् मोक्षः एव किल पुरुषार्थः नतु जीवन्मुक्त्यवस्था इति। उपनिषदा तु साक्षात् परमपुरुषार्थः एव बोध्यते इति कृत्वा अत्र ब्रह्मज्ञानेन या मुक्तिः तस्याः एव साधनाकाङ्क्षा शिष्येण कृता इति गम्यते। अत एव अग्रे गुरुणा उच्यते-

"साङ्कृते श्रुणु वक्ष्यामि योगं साष्टाङ्ग दर्शनम्।
यमाद्यष्टाङ्गयोगेद्ध ब्रह्ममात्र प्रबोधतः ॥[8]

"योगिनो यत्पदं यान्ति तत्कैवल्यपदं भजे[9]। इत्येवंरूपेण कैवल्यादिशब्दोच्चारणेन इह परमपुरुषार्थः मोक्षः एव गम्यते इति।

जीवन्मुक्तिसाधनम् अष्टाङ्गयोगः

वेदान्तयोगशास्त्रयोः परमं प्रयोजनं मुक्तिः एव इत्यत्र नास्ति सन्देहलेशोपि। किन्तु उभयदर्शने निरूपयमाणा या मुक्तिः तयोः दर्शनभेदेन कथं भेदः अस्ति। किं च तस्या स्वरूपं भेदाः वा इत्यत्र अवश्यं विचारणा कर्तव्या। अयं च प्रमेयः दर्शनोपनिषदि विस्तरेण तत्रापि आदौ प्रतिपादितः अस्ति।

तस्य शिष्यो मुनिवरः सांकृतिर्नाम भक्तिमान् ।
पप्रच्छ गुरुमेकान्ते प्राञ्जलिर्विनयान्वितः ॥
भगवन्ब्रूहि. मे योगं साष्टाङ्गं सप्रपञ्चकम् ।
येन विज्ञानमात्रेण जीवन्मुक्तो भवाम्यहम् ॥
सांकृते श्रृणु वक्ष्यामि योगं साष्टाङ्गदर्शनम् ।
यमाद्यष्टाङ्गयोगेद्रब्रह्ममात्रप्रबोधतः ।
योगिनो यत्पदं यान्ति तत्कैवल्यपदं भजे ॥[10]

अत्र दत्तात्रेयनामकः महायोगी सः ऐश्वर्यादिगुणसम्पन्नः भगवत्वं प्राप्तः वर्तते। तस्य कश्चित् सांकृतिः नामकः शिष्यः अस्ति। स च भक्तादिगुणैः भूषितः सन् एकाने गुरुं गत्वा पपृच्छ। यस्य विज्ञानमात्रेण जीवन्मुक्तः अहं भवेयम्। तादृशं साधनं मे अष्टांगयोगाख्यं मे ब्रूहि। ततः परं स्वशिष्यस्य पृच्छां विज्ञाय सः जीवन्मुक्तिसाधनम् अष्टाङ्गयोगम् आह। तत्रादौ दर्शनोपनिषदः अनुसारेण अष्टायोगं वदति।

यमश्च नियमश्चैव तथैवासनमेव च ।
प्राणायामस्तथा ब्रह्मन्प्रत्याहारस्ततः परम् ।
धारणा च तथा ध्यानं समाधिश्चाष्टमं मुने ॥[11]

इह भगवान् दत्तात्रेयः साङ्कृतये कैवल्यार्थं ब्रह्मविज्ञानम्, ब्रह्मविज्ञानाय च अष्टाङ्गयोगसाधनानि उपदिशति अथवा उपदेष्टुं प्रतिजानीते। न च अष्टाङ्गयोगस्य ब्रह्मज्ञानसाधनत्वं नास्ति इति वाच्यम्। ब्रह्मसूत्रे तृतीये साधनाध्याये एतद्विषयस्य निरूपितत्वात्। साधनाध्याये तावत् यद्यपि योगादिसाधनानां साक्षात् ब्रह्मज्ञानजननीये योग्यता नास्ति तथापि चित्तशुद्धिद्वारेण ब्रह्मज्ञानजननीये साधनयोग्यत्वं वर्तते इति निरूपितम्। यदा तु चित्तं शुद्धयति तदा ब्रह्मज्ञानं जायते। अतः अष्टाङ्गयोगादिसाधनानां चित्तशुद्धिद्वारेण ब्रह्मज्ञानं प्रति साधनत्वं वर्तते। तद्विज्ञाय एव भगवान् दत्तात्रेयः स्वशिष्याय साङ्कृतये कैवल्यप्राप्तये अष्टाङ्गयोगमुपदिशति इति दिक्।

उपसंहारः

आदौ यत्प्रतिज्ञातं यत् दर्शनोपनिषदि अद्वैतवेदान्तविचारः इति अत्रैतावता विस्तरेण विषयः निर्विशेषब्रह्मज्ञानप्रतिपादनपरायाम् उपनिषदि जीवन्मुक्तिसाधनम् अष्टाङ्गयोगः इति व्याख्यातम् तथा

दर्शनोपनिषदि परिपठितानाम् सिद्धान्तानां वेदन्तेन समन्वयं विधाय तेषां च वेदान्तदिशाप्रामाणिकतां च न्यरूपि तथा च वेदान्तवासनावासितत्वात् उपनिषदां योगमार्गबोधकत्वेपि आरात् ब्रह्मज्ञानं प्रति उपकारकत्वं भवत्योव। अत्र शोधप्रबन्धे योगोपनिषदि अद्वैतवेदान्तविचाराख्ये संङ्क्षेपेण सूक्ष्मतया अध्ययनं विधाय तेषां वेदान्तप्रमाणपूर्विका चर्चा करिष्यते। इहोपन्यस्तन्यतिरेकेण अस्यामुपनिषदि मुक्तिमार्गस्य दुर्लभत्वम् ब्रह्मणः शास्त्रैकगम्यत्वम् ब्रह्मण जीवभावः ज्ञानयोगाभ्याम् दोषविनाशः जानस्वरूपं तत्फलम् अहं भावश्च सर्वानर्थमूलकत्वमित्यादि -अनेक योग वेदान्त समानाः विचाराः उपन्यस्ता। ते च यथा प्रतिभानं भाष्यादिग्रन्थसाहाय्येन व्याचक्ष्महे। येन च सिद्ध्येत अस्य शोधप्रबन्धस्य द्वयोः दर्शनयोः साम्यवैषम्यविवेकरूपं प्रयोदनम् इति शम्।

सन्दर्भग्रन्थसूची

1.योगशिखोपनिषत्, अड्यारसंस्कृतपुस्तकलय, 1983.

2.अष्टोत्तरशतोपनिषदः, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2000.

3.कठोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2005.

4.मुण्डकोपनिषद् गीताप्रेस, गोरखपुर, 2000.

5.तैत्तिरीयोपनिषद्, स्वामिचिन्मयानन्दा, चिन्मयप्राकशन्, 2011.

6.ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्, आचार्यजगदीशशास्त्रिणा, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 2018.

7.गीताभयाष्यम्, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2021.

8.योगसूत्रम्, स्वामी विवेकानन्दः, लिटरसीहौस्, 2019.

9.भारतीयदर्शनम्, चन्द्रधरशर्मा, मोतीलाल बनारसीदास,दिल्ली, 2005.

10.वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, चौखम्बा सीरीज, 2005

11.वेदान्तसारः, सदानन्दः, परिमल्पब्लिकेषन्स्, 2005

12. भारतीय दार्शनीक निबन्ध, डॉ. डी.डी. बन्दिष्टे, डॉ. रमाशंकर शर्मा, 2008

13. पातञ्जलयोगदर्शनम्, आचार्य भवानी शंकर, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय,

1. भारतीयदर्शनम्
2. मुण्डकोपनिषद्
3. दर्शनोपनिषद्-१२१
4. योगपनिषद् १५२
5. योगपनिषद् १५२
6. मुण्डकोपनिषद् ५
7. योगपनिषद् १५२
8. योगपनिषद् १५३
9. योगपनिषद् १५४
10. दर्शनोपनिषद् १५७
11. दर्शनोपनिषद् १६०

*****

"AMBEDKAR'S LIBERAL ATTITUDE TOWARDS WOMEN : HINDU SCRIPTURES A SPECIAL REFERENCE"

Dr. Naveen Kumar
Research Scholar
Department of Buddhist Studies
University of Delhi
Rajdhani College, University of Delhi
Email ID : imnaveenfop@gmail.com

Research Abstract
Ambedkar sought the solution to every social problem in new laws. Ambedkar acquired alertness towards problems from Hindu religious scriptures. It is clear from countless research that Shudras and women were deprived of education and property. For this, Ambedkar emphasised on literacy and education of women and proposed the Hindu Code Bill to provide social security to women. However, this proposal of Ambedkar was issued as a law in 1955-56.
Dr. Bhimrao Ramji Ambedkar studied Hindu scriptures along with western literature to understand the Indian social structure. Why did he study Hindu scriptures? This can be easily understood by reading his biography. Ambedkar took legal recourse to eradicate the inequality prevalent in the society. He believed that everyone is equal before the law, so he created many laws to eradicate untouchability in the Constitution of India. Women in Indian society were also struggling with exploitation and inequality. Before Ambedkar, many social reformers had tried to change the Indian society in their own ways. But the social problem remained the same as before. Because people with male chauvinistic mentality often used to give examples of scriptures to justify their point. Therefore, Ambedkar especially studied Hindu scriptures. Through this process, it did not take him any time to understand that like Dalits, "women are also property as well as slaves.[1] He also knew that India's development is incomplete without the development of women.

keyword
1. Manusmriti
2. Arthashastra
3. Constitution
4. Therīgāthā
5. Vedas
6. Puranas
7. Feminism
8. Bible
9. Adi Granth
10. Tripitaka

Non-academic feminist society before feminist discourse in Indian academy

Ambedkar proposed the Hindu Code Bill in 1947 for the equality of women." [2]Its validity was challenged by many Hindu leaders of the Congress. This Code Bill was finally passed as an Act in the Parliament in 1955. [3]The purpose of this research is to consider the problems for which Ambedkar wanted to implement the Hindu Code Bill. Did women get equal status according to the Hindu Code Bill? Did women get equal status versus the Act? Is the Penal Code not necessary to resolve the conflict between the Act versus wrong mentality? Is it not the responsibility of the government to enforce the punishment announced against the accused by the Indian court? The basic hypothesis of the research is that in the western countries, writing and conferences related to feminist discourse had started by 1930.[4] Its second phase begins from the 1970s. "Systematic discussion on women's rights in India begins from 1980 AD.[5] Before this, many researches were brought to light by idealistic nationalists. But here we have to understand that Ambedkar had made legal provisions for their freedom and equality even before the women's rights began in India.

Academic Women's Debate in India

Many feminist historians have played an important role in the status of Indian women. For example, Uma Chakravarti wrote a book titled "The Condition of Women in Ancient India" and tried to explain what Buddhist texts from the 6th century BC to the 3rd century BC say about women's freedom. For example, she has mentioned about Therigatha that "this text is probably the oldest text in the world on women's freedom." [6]Apart from this, historians like Kumkum Rai, Tanika Sarkar, Kumkum Shringari, U. Vidyavind and Virginia have covered every aspect of women in India from ancient to modern times. We have decided that in this chapter, we will examine the classical quotations recorded by Ambedkar and also explain how Hindu religious texts became the inspiration for the Hindu Code Bill?

Ambedkar's Viewpoint towards Indian Women

In one of his writings, Ambedkar has quoted from Manusmriti, "It is the nature of a woman to make a man attached to her, there is hardly any wise man

who follows the instructions of a woman." Similar views are recorded as quotes from the scriptures. "No man should sit alone with his mother, sister and daughter." "No woman should ever sit alone with her mother, sister or daughter." [7]Any woman, no matter how old she is, should respect the man or husband present in front of her." The classical concept regarding women sometimes helps in making idealistic principles. When the power of a person or creature is used for one's own happiness and progress, then gradually the person is reduced to the category of an object. For example, when a man says, "If a woman gives sensual pleasure, then she should be under the control of someone."[8] The origin of a family is not possible without the cooperation of a man and a woman. Despite this, Manu has said that, "A woman should be kept under the control of her father in childhood, under her husband in childhood and under her son in old age."[9] Probably, the right of women to education and property was abolished even before Manu. That is why the need for their protection was felt. As the state was developing, the right to education and property was being limited through classical rules. "Probably, the kingship was derived from the divine principle and through such rules the king was declared as the owner (Bhupati) of the entire land."[10]

Rights of Indian women in scriptures

No woman could read Vedas, she was not allowed to perform Yagya. Even if she organized Yagya, Brahmins would not accept prasad from her. "Women have to follow sixteen rites of Hindus It was compulsory." [11]But she could not recite the Vedic mantras in rituals. According to Manu, "women, children and slaves did not have the right to own property."[12] According to this scripture, "women could not divorce their husbands." [13]On the contrary, men had full right to abandon, sell and beat women. Apart from Manusmriti, some restrictions related to women can also be found in Buddhist texts. According to Uma Chakravarti, "In Therigatha, Buddhist nuns are celebrating Ananda that they have the freedom to follow religion, attain nirvana and sing songs."[14] But a twist is seen in Buddhist texts. When stepmother Mahaprajapati Gautami wanted to enter the Sangha, Buddha refused to let her enter the Sangha, but on Ananda's request, she was allowed to enter the Sangha. In this regard, Buddha's statement is repeatedly presented as an example. "The Sangha would have lasted for a thousand years, but due to the entry of women, it will last only for 500 years."[15] This statement of Buddha proves gender inequality. On the contrary, in the Vinaya Pitaka of Buddhism, "208 rules are prescribed for male monks and 311 rules for nuns."[16] More or less this can be said. Hindu, Buddhist, Jain and Sikh and other religions do not give all those rights to women which are given to men in the society.

Ambedkar has mentioned the Shrauta Sutra of Atharva Veda, Mahabhashya of Patanjali and Ashtadhyayi of Panini and said that "these texts show that women had the right to observe celibacy during education, study Vedas and perform Yajnas."[17] If we consider the period of the cited texts, then Atharva Veda is considered to be between 1000 and 500 BC, Ashtadhyayi between 300 BC and 1st century BC and Mahabhashya between 1st century BC and 3rd century. Whereas Manu Smriti and Kautilya's Arthashastra are accepted to be between 300 BC and 300 AD. It seems that at least two parallel ideologies were leaving their influence in the society. If we look carefully, the rules regarding women in Manu Smriti and Arthashastra are almost the same. Any man can marry a second time, if his wife has not lived for the first eight years of marriage. If the wife is childless or has given birth to only girls. The second condition for the second wife is that if the first wife has given birth to a dead child, then her husband can marry after ten years. If a wife gives birth to only girls in the first twelve years, then also her husband can marry again. "If the wife lives with the husband's family even in adverse circumstances, then her husband will maintain her." [18] Arthashastra According to this, if a man marries a second time, he had to "pay 24 Panas as compensation to his ruler."[19] The marriage age of a man has not been determined in Arthashastra. There is a provision for a woman's marriage only after her first menstruation. "It is compulsory for any parent to get their daughter married within three years from the first menstruation."[20]

Kautilya's Arthashastra does not directly mention remarriage. Still, in some situations, she can remarry. When her husband is of bad character. There is a provision in Arthashastra that "any Brahmin woman can wait for a maximum of 10 or 12 years for her husband who is studying abroad."[21] Any Kshatriya wife whose husband is a king and lives abroad will have to wait for him for the rest of her life." [22]If wives live separately from their first husbands in special circumstances, then the first husband will give them maintenance expenses. If a woman marries a second time, then her first husband will not give her maintenance. On the contrary, if a man marries according to Gandharva, Rakshasa and Pesach system, then in such a situation he will have to

give full maintenance to his wife who is living separately." [23]Not only this, after the second marriage of a woman, if her second husband has more number of male children, then in such a situation the first husband will have to bear the expenses of his first wife. If seen from a comparative point of view, the rules made in Arthashastra are more social than the rules of Manusmriti.

These social anomalies were not there only in ancient times. Rather many social reformers of this country wanted to solve social problems through classical rules. Hence all these anomalies were there in India in the 20th century. And are there in the 21st century also. As we have accepted in some part of our research, from the qualitative point of view, Ambedkar's struggles have been divided into two parts. First from 1919 to 1934, second from 1934 to 1956, hence we can say that Ambedkar stressed on making public welfare laws to remove the inequalities of the society. During this Ambedkar proposed the "Hindu Code Bill" in 1947, in relation to which numerous meetings of the Parliament were held. Dr. Many Congress leaders like Rajendra Prasad were against the Hindu Code Bill."[24] As a result of this opposition, Ambedkar lost the election from Bombay constituency in 1951. And he resigned from Nehru's cabinet. But in 1955, due to Nehru's tireless efforts, this necessary bill could come in the form of an Act. It is worth noting here that this Act could not be fully implemented on Indian society. Any Act can be implemented only when the concerned person has an equal share in education, property and political opportunity. The reservation policy of the Constitution has brought about a partial change. Political and economic balance is necessary for positive change. Although Ambedkar had tried to bring about a change through social equality, the government had to make a change in the society. The dream of political and economic equality was seen in the past. But in recent years it has been seen that political and economic partnership has brought some social adjustment.

According to the Hindu Marriage Act, any woman can be a shareholder in the movable and immovable property of the father and the groom before and after marriage. According to this provision, "the property will be divided equally between the woman and the male children." [25]This Act has three objectives-

1. Women's right on property
2. Right to inheritance
3. Compensation, divorce, acceptance and the right to be a guardian after marriage.

All the three components of the above Hindu Marriage Act are related to our fundamental rights. For example, the right to live a life with dignity, the right to livelihood and the right to equality before the law are related to this Act. According to the Indian Constitution, women, being citizens of India, have all those rights in the Constitution which are specified for the male citizens of India.

The Hindu Code Bill was first tabled in the Parliament in 1948 for debate. During four years, many meetings were held and most of the Congress leaders agreed to it. Seeing the reluctance of the members, Ambedkar resigned from the Parliament in 1951. But on the grace of Jawaharlal Nehru, the first Prime Minister of India, Ambedkar continued to participate in the parliamentary debates till 10 October 1951. The main opponents of this bill were Dr. Rajendra Prasad and Lok Sabha Speaker Ayyanger etc. In 1955, this bill came into the form of an Act.

Amendments in the Hindu Code Bill

Many partial amendments were made in the Hindu Code Bill through debates. For example, the amendments of 1954 and 1955 fixed the marriage age of women at 18 years and the marriage age of men at 21 years. Whereas, "the amendment of 1956 ensured the rights of parents as well as children in the right to property." [26]Apart from this, in 1976, "women were given the right to decide the age of marriage as per their wish."[27] They cannot be forced to conceive against their will." [28]If the above rules are taken into consideration, it becomes clear that in India, the nuclear family system increased in place of the joint family. Undoubtedly, the right to freedom and equality before the law gives a person the ability to reject any kind of exploitation. There is also a provision for compensation and adoption of children in the amendment of 1956. Some rules are fixed for this.

1. Husband or wife must have died.
2. Valid reasons for adopting a child must be presented in the court by both or one of them.
3. While adopting a child, it is necessary to mention the property and source of livelihood in the court.

In the amendments of 1978 and 1996 respectively in the 1956 rules, it was added that "No man or woman shall make a woman do prostitution for commercial purposes through marriage or child-rearing or involve her in illegal activities like human trafficking."[29] Under these laws, the Indian Police Department as well as social workers have the right to free women.

No man or woman can adopt a child without the permission of the man or woman. On the contrary, the law of dowry system has become stricter and stricter in the amendments of 1956, 1961 and 1996 respectively. If information about dowry is published in the newspaper and after that a petition is filed in the court, then the accused will have to undergo non-bailable

arrest. A bond of Rs. 15000 will have to be given and the minimum sentence will be five years.

There is also a provision for compensation and adoption of children in the amendment of 1956. Some rules are fixed for this.

1. Husband or wife must have died.
2. Valid reasons for adopting a child must be presented in the court by both or one of them.
3. While adopting a child, it is necessary to mention the property and source of livelihood in the court.

In the amendments of 1978 and 1996 respectively in the 1956 rules, it was added that "No man or woman shall make a woman do prostitution for commercial purposes through marriage or child-rearing or involve her in illegal activities like human trafficking." Under these laws, the Indian Police Department as well as social workers have the right to free women.

No man or woman can adopt a child without the permission of the man or woman. On the contrary, the law of dowry system has become stricter and stricter in the amendments of 1956, 1961 and 1996 respectively. If information about dowry is published in the newspaper and after that a petition is filed in the court, then the accused will have to undergo non bailable arrest. A bond of Rs. 15000 will have to be given and the minimum sentence will be five years.

Under the influence of Hindu Code Bill, provision of maternity leave has been made for women empowerment. Under this, women working in all kinds of service sectors will be given leave allowance. Apart from this, it will be the responsibility of the state to ensure the safety of women from criminal activities. Apart from this, provision of punishment has also been made in the Indian Law Code against domestic violence.

Conclusion:-

The source of Ambedkar's anthropological approach is Hindu Dharma Shastra. Apart from this, those classical rules were effective in Indian society even in the 20th century. Due to those classical principles, every section of the society did not have equal rights in education and property. According to Ambedkar, the first example of inequality in Indian society is clearly found in Manu Smriti. It is also true that after Manu Smriti, Hindu Code seems to revolve around its prescribed principles.

For social adjustment, Ambedkar tried to implement democratic views through the Constitution. Democracy is a system in which "government is elected by the people, for the people and of the people." Ambedkar has not shown a sequence of information obtained from the texts to explain the changing social identity of women with respect to time. Still we have to accept that Ambedkar's thinking was completely based on intellectualism. Because when feminist discourse was introduced in Western countries, Ambedkar did not have any special importance. It seems extraordinary that Ambedkar talked about revolutionary change when the first phase was going on. We can understand this by taking an example that in a country like Britain which had control over most of the countries of the world, despite this, the women there got the right to vote in 1918."[30] If we compare the date of the related bill and 1918, then Ambedkar's interest lay in the overall development of India. When the rights of women were being discussed in England, it was decided in the first phase that only that woman can participate in politics, who has an income of 40 ceilings every month or has at least one house in her name. Apart from this, the first constitution implemented in 1791 after the first French revolution, in which women did not get equal share. Therefore, we have to accept that Ambedkar not only corrected the foresight of the country, but also understood the western legal weaknesses very well and included them in the constitution for the Indian people after correcting them.

John Buller, (trans), The Laws of Manu, Asiatic Society of Bengal, 1895, p. -13.

1. Indu Malhotra, empowerment of women, (Nayandeep Law Journal, Delhi, 2014) p.6.
2. Ibid, pp- 7-11.
3. Shayla Benhabiv N. Carlley, Feminism as Criticism, (University of Minnesota, UK, 1996), pp. 56 -76.
4. Anjali Arondkar, Without a Terrace: Sexuality and the Colonial Archive (University of California, Santa Cruz 1999), p. 16.
5. Uma Chakravarti, Gendering Caste Through a Feminist Lens, (Sage Publications, 2018) p.- 92-95.
6. Teresa J. Bartholomew, In Defense of Dharma Just War Ideology in Buddhism Sri Lanka, (Routledge, London, 2002), pp. 1, 31.
7. Ibid, George Buhler, Laws of Manu, p. 17.
8. Ibid, p. 15.
9. Ibid., p. 40.
10. Umesh Chandra Pandey, (trans.), Gautam Dharma Sutra, (Chaukhamba Sanskrit Sansthan, Varanasi, 1996), pp. 16-34.
11.
12. Ibid., p. 21.
13. Ibid, George Buhler, Laws of Manu, p.202.
14. Charles Halsey, Therigatha Poems of the First Buddhist women, (Teen Murti Classical Library, 1913), p. 56.
15. A. Lillie, The Influence of Buddhism on Primitive

Christianity, (Publisher, Valrap, 2019), p. 95 15.
16. E.B. Kobel, F. Mackmuller and J. Takakumu, Buddhist Mahayana Texts, (Oxford, London, 1894), pp. 87-90.
17. Kathleen Cooper, The Culture of India, (Britannica Education, 2002), p.-8.
18. Ibid George Buhler, Laws of Manu, p.-17.
19. R. Samastre, (trans.) Kautilya Arthashastra, (Government Press Bangalore, 1915) p. 20.
20. Ibid, George Buhler, The Laws of Manu, p. 101.
21. Ibid, p. 85.
22. Ibid, p. 177.
23. Paul Bretton, A Search in Secret India, (Wright & Co. London 2008), pp. 4-14.
24. Mohini Gupta, Marx of India Series, (trans.) (Radha Publication), p.- 54.
25. Ibid, Indu Malhotra, Empowerment of Women, (Nayandeep Law Journal, Delhi, 2011), p.- 56.
26. Ibid., p.40.
27. Ibid, p. 35.
28. Ibid., p.20.
29. Ibid., p.25.
30. Benedict Anderson, Imagined Community Reflection on the Origin and Spread of Nationalism, (Varsey, London, 1983) pp. 163-186.

Primary Sources

1. Ambedkar, B.R. Patra-Sangrah (Correspondence Collection) (Gautam Book Center, Delhi, 1995).

2. Conze, Edward (Trans.), The Large Sutra of Perfect Wisdom (California Press, L.A., 1984).

3. Collins, Steven. Agyan Sutra (Online, 2018).

4. Ganguli, Kisari Mohan (Trans.), The Mahabharata (E-Library, 2003).

5. Gandhi, M.K. (Trans.), Anashakti Yoga (Srimad Bhagavad Gita) (Navajivan Trust, Ahmedabad, 2014).

6. Tulsidas Goswami. Ramcharitmanas: Ayodhya Kanda (Gita Press, Gorakhpur, 2007).

7. Griffith, Ralph T.H. The Ramayana of Valmiki (Trübner & Company, London, 1870).

8. Joshi, K.L. Agnipuran (Diamond Books, Delhi, 2004).

9. Tolstoy, Leo. War and Peace, Book One (1805) (Various Editions).

10. Dunn, John (Trans.), Hind Swaraj (Cambridge University Press, Delhi, 1997).

11. Thero, Ven. Varado Sarada. Dhammapada (Buddhist Education Association, Taiwan, 2007).

12. Pandey, Umesh Chandra. Gautam Dharma-sutra (Chaukhamba Sanskrit Sansthan, Varanasi).

13. Frederick, Paul (Trans.), The Gita (Sunny Press, New York, 2003).

14. Babbitt, C. Allen. Jataka Tales (The Century Co., New York, 1912).

15. Bühler, George (Trans.), The Laws of Manu (Asiatic Society of Bengal, 1895).

16. Buddhist Bhikshu and Bhikshu Nanamoli. The Middle-Length Discourses of the Buddha (Buddhist Publication Society, Kandy, Sri Lanka, 1995).

17. Ruskin, John. Unto This Last (John Wiley & Sons, 1881).

18. Bose, Mandakranta (Ed.), The Ramayana Revisited (Oxford University Press, 2004).

19. Government of India. Census 2011 (Ministry of Home Affairs, 2011).

20. Samastra, R. (Trans.), Kautilya's Arthashastra (Government Press, Bangalore, 1915).

21. Shastri, Swami Dwarikadas. Sutrapitaka (Dighanikaya, Pali) (Buddha Bharati, Varanasi).

22. Shastri, Swami Dwarikadas. Saddharma Lankavatara Sutra: Prominent Vaipulya Sutras (Buddha Bharati, Varanasi, 1996).

23. Halsey, Charles. Therigatha: Poems of the First Buddhist Women (Three Moorti Classical Library, 1913).

*****

जायसी के काव्य में चित्रित भारतीय संस्कृति

-विष्णु
शोधार्थी -
(दिल्ली विश्वविद्यालय)
मोबाइल न .9716991785

भक्तिकाल के निर्गुण प्रेमाश्रयी शाखा के कवि जायसी अत्यंत उच्चकोटि के सरल और उदार सूफी कवि महात्मा थे| यह हिंदी के प्रसिद्ध सूफी कवि जिनके लिए केवल 'जायसी' शब्द का प्रयोग भी इनकी पहचान को स्पष्ट कराता है| अतः इस बात को भी सूचित करता है कि वह जायस नगर के निवासी थे| जायसी के काव्य की बात करे तो कह सकते है कि इनके काव्य इनके जीवन का जो आधार था वह 'प्रेम' था| जिसे वह सृष्टि का सबसे सर्वोत्तम भाव मानते थे| इसके आधार पर 'पद्मावत' का सृजन भी सूफी काव्यधारा की प्रवतियों और मान्यताओ के आलोक में ही हुआ है| जिससे यह बात स्पष्ट होती है कि वह भारतीयता में विश्वास करते थे| क्योंकि उनके काव्य में भारतीय जनजीवन,भारतीय संस्कृति और भारतीय लोक संस्कृति के पक्ष सामने उजागर होते है| मलिक मोह्हमद जायसी ने अपने आस -पास के वातावरण तथा हर संस्कृति के मेल से अपने काव्य की सृष्टि की,जिसमे देखा जा सकता है कि अवध के आस-पास के क्षेत्र को उन्होंने अपनी कृति को काव्य का आधार बनाया| वहां के लोक - जीवन, वहाँ की लोक संस्कृति और लोक मान्यताओं के आधार पर पूरी भारतीय संस्कृति को महत्व दिया| जिससे यह स्पष्ट है की जायसी भारतीय वातवरण में रहे और वहाँ के विचारों को उन्होंने इस प्रकार अपने हृदय में बसा लिया कि वे उनके काव्य में स्वत: ही आते चले गये उन्होंने अपनी कथा का आधार भी भारतीय जीवन , पद्धति को बनाया उदहारण देखे तो 'पदमावत' में मुस्लिम संस्कृति की तुलना में भारतीय संस्कृति , विशेषकर हिन्दू संस्कृति का प्रभाव अधिक स्पष्ट रेखांकित है जिसमे उसका भारतीय पारिवारिक जीवन, भारतीय सामाजिक , जीवन भारतीय आधार पर धार्मिक जीवन और भारतीय लोक जीवन के सुन्दर चित्र स्पष्ट देखने को मिलते है|संस्कृति एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है उसे समाजिक जीवन के कार्य व्यापारो के बीच रोज नई गति प्राप्त होती है ,उसकी व्यापकता, विशिष्टता और उसका गौरव आधुनिक सभ्यता के बदलते प्रवेश में भी आज सुरक्षित है|जायसी भारतीय परिवेश में पले बढ़े और उस परिवेश से उनका गहरा परिचय था अतः उनके काव्य में अवध जनपद के सुन्दर ग्राम संसार और विशेषकर कृषक समाज देखने को मिलते है|पद्मावत में नगर की कथा है किन्तु उसमे जो ग्रामीण परिवेश की लोक संस्कृत और लोक मान्यता है वह बहुत महत्वपूर्ण है उनके समूर्ण काव्य में चाहे 'पद्मावत' की हो या फिर 'चित्ररेखा' उनके जीवन का आधार भारतीय लोक सांस्कृतिक ,लोक जीवन से परिपूर्ण है भारतीय संस्कृत से स्पष्ट तात्पर्य उस संस्कृति से है जो हमारे जीवन की परम्पराओं, मान्यताओ वंहा के रहन सहन पूजा पाठ व्रत उपवास शकुन आदि से सम्बंधित है| साथ ही उनके लोकोत्सवो से भी जुडी हुई है जायसी के काव्य में भारतीय परम्परा की तरह बंसत पूजा, होली ,दिवाली के चित्र देखने को मिलते है ,साथ ही लोक विश्वास शकुन अपशकुन , जादू -टोना, खान- पान, पहनावा, पारिवारिक दृश्य ,दाम्पत्य जीवन के चित्र आदि भी देखने को मिलते है, इससे यह बात तो स स्पष्ट है की जायसी के काव्य में भारतीय सांस्कृतिक सुन्दर रूप से परिपूर्ण है जिसके अंश आज वर्तमान समय में भी देखने को मिलते है आज भी भातीय संस्कृति को मनुष्य ने जीवित रखा है|

मालिक मोहम्मद जायसी के अध्ययन से यह बात तो स्पष्ट होती है की उन्होंने अपने समय के समाज का बहुत गहरा और बारीकी से अध्ययन किया था उस समय के ब्राह्मणों के प्रति विशेष सम्मान दिया जाता था साथ ही उन्हें विविध अवसरों पर श्रद्धा और आदर के साथ बुलाया जाता था ,उनकी बातो को महत्व दिया जाता था, क्योकि उन्हें वैधानिक मार्गो का अनुगामी और समाज में प्रचलित धार्मिक - सांस्कृतिक कार्यो का सम्पादन करने वाला अनुयायी कहा जाता था | जायसी जी के 'चित्ररेखा' काव्य का उदाहरण देखे तो उसमे कन्या के लिए वर खोजने का काम भी एक ब्राह्मणों के द्वारा कराया गया है| जो आज भी भारतीय संस्कृति की पहचान को महत्व देता है|पद्मावत में भी 'सिंहलद्वीप वर्णन खंड' में ज्योतिषियों और ब्रह्मणों को विशेष सम्मान और रत्नसेन दोनों के जन्म के समय ज्योतिषी जन्म कुंडलियां बनाते है| कह सकते की यह लोक-संस्कृति एक भारतीय संस्कृति का सबसे महत्वपूर्ण वर्ग था| पद्मावत के अंतर्गत न केवल सामाजिक जीवन के चित्र सामने आते है बल्कि लोक जीवन के चित्रों को भी विशेष महत्व दिया है| भारतीय संस्कृति के आधार पर जायसी जी ने अपने काव्य पद्मावत में उस समय के कुटीर उद्योग -धंधे, विशेष कृषि संस्कृति,हाट बाजार और अवध के आसपास के क्षेत्र का समाज जायसी के काव्य बहुत ही खूबसूरती से चित्रण है| जन्म के समय के संस्कार विवाह,

गौना और अंतिम संस्कार का भी विध-विधान पूर्वक चित्रण जायसी जी के काव्य भारतीय संस्कृति की दिखता है| उससे सपष्ट है की भारतीय संस्कृति के प्रति जायसी जी का विशेष अनुराग था उन्होंने उस समय के लोक-जीवन में प्रचलित मान्यताओ ,अवधारणा और लोक- संस्कृति को पूरे मनोयोग के साथ स्वीकारा है|

जायसी जी के काव्य में भारतीय संस्कृति का जो रूप देखने को मिलता है उसका अस्तित्व बनाए रखने में जायसी जी ने सांस्कृतिक परस्थितियो का भी सामना किया,क्योकि मुसलमानों का शासन भारत में स्थापित हो चूका था प्राचीन हिन्दू- संस्कृति अपनी प्राचीनता और पूर्णता के साथ विधमान थी| अत: उत्तर भारत में तब दो मुख्य संस्कृतियां थी ,जिन्हें हिन्दू संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति के नाम से जाना गया,नवीन धार्मिक उन्माद से परिपूर्ण मुस्लिम- संस्कृति हिन्दू संस्कृति को नष्ट करने में थी ,जबकि हिन्दू संस्कृति अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए प्रयत्न कर रही थी| अत: इस दोनों संस्कृतियों के टकराव से जहां एक और धार्मिक एवं सामाजिक संकीर्णताओ ने जन्म लिया तो वही दूसरी और दोनों संस्कृतियों के समन्वय से नवीन हिन्दू मुस्लिम संस्कृति का उन्मूलन हुआ तथा भारतीय संस्कृति का उदय हुआ जिसमे सदैव से समन्वयात्मकता रही |सूफी कवि जायसी जी का काव्य विभिन्न परिस्थितियों के आधार पर रचित रहा चाहे वह सामजिक हो, राजनितिक, धार्मिक, साहित्यिक, फिर चाहे वास सांस्कृतिक हो, उन्होंने सूफी सिधान्तो पर आधारित ग्रन्थ लिखे इस्लामी मत को लेते हुए विभिन्न ग्रंथो की रचना की |लौकिक प्रेम के द्वारा आलौकिक सत्ता के दर्शन उनके काव्य में होते है, पद्मावत महाकाव्य के अंतर्गत समस्त भावनाओ के एकीकरण एवं विभिन्न आदर्शो का समन्वय रूप उसमे दिखाई देता है|

भारतीय संस्कृति में विवाह संकार में यह स्थिति भी महत्वपूर्ण है की वर को मंडप में भेज कर सिंहासन पर बिठाया जाता है|उदाहरण -रत्नसेन को सोने की चित्रसारी पर बिठाया जाने का दृश्य रत्नसेन पद्मावती विवाह खंड में है| इसके बाद बारातियों के भोजन की व्यवस्था होती है पद्मावत में बारात के भोजन करने आदि को वर्णन पूरी रूचि के साथ दिखा गया है इतना ही नहीं दूल्हा- दुल्हन की गांठ जोड़ना, पंडितो का मन्त्र उचार्ण करना और मन्त्र पढ़ते हुए वर कन्या की राशि के अनुसार वर-वधू के नामो का उच्चारण करना आदि जायसी के काव्य में चित्रित है जायसी जी ने पद्मावत में जयमाला का वर्णन निम्न पंक्तियों के द्वारा किया है

" दुऔ नावं ले गवाही बारा करहीं सो पद्मिनी मंगल चारा |
चाँद के साथ दिन्ह जयमाला चाँद आनि सूरज गिउ धाला
सूरज लीन्ह चाँद पहिराई हार नखत तरिंह स्यो पाई||"

विवाह संकार की अंतिम रस्म कन्या की विदाई है पद्मावत में गंधर्व सेन की भावना भारतीय लिक जीवन की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति है| जायसी के विवाह संकारो के वर्णन को लेखर डॉ लक्ष्मी चंद ने टिप्पणी की है " यंहा यह विचारणीय है की जायसी ने विवाह संस्कार वर्णन में लोक संस्कारो का अभिजतियाकरण किया है ये विधि- विधान अथवा रीती- रिवाज जनसमान्य में सामर्थ्य के अनुसार उसी रूप में प्रचलित है|लोक्तत्वो की दृष्टि से ये कार्यकर्म जायसी काव्य के अभिन्न अंग है जन्हा तक शाश्त्रीय और लौकिक पढ़ती का प्रश्न है कवी ने दोनों रीतियों का अनुसरण किया है विवाह पद्त्ति के समापन में सिंदूर पान वर वधु के को नर गमन लोक प्रचलित रस्म में है रत्नसेन और पद्मावती को को हबर वह स्थान जहाँ विवाह के समय कुलदेवता स्थापित किए जागते है में देखे जाने के बाद सख्यो के द्वारा दुसरे को अपना जूठा खिलाना लह्कोर कहलाता है"1

इसी तरह पद्मावत में विदाई संस्कृति का भी वर्णन है जो बहुत ही कारुणिक दृश्य होता है पद्मावती जब गौने का समाचार सुनती है तब वह दुखी हो जाती है सिंहल छोड़ने की कल्पना मात्र से उसकी आँखों में आंसू भर आते है इस दृश्य का उदाहरण रत्नसेन विदाई खंड में बखूबी देखा जा सकता है "गवनचार पद्मावती सुना उठा धसकी जिउ ओ सिरं धुना || गह्वर नैन आए भरी आंसू छड्ब यह सिंघल कविलास | छिदउ आपन सखी सहेली दुरी गवन तजि च्लिऊ अकेली

आशय यह हे की जायसी जी के काव्य में विवाह संस्कार के इसे दृश्य है जो हमारी भारतीय संस्कृति महता और उसकी विशिष्टता की और संकेत करते है इससे यह भी प्रमाणिक होता है की जायसी जी के काव्य में यह संस्कृति को भी जीवन के काव्य में यह संस्कृति उनके जीवन की धूलि -मिली संस्कृति को भी उजागर करता है पद्मावत और चित्ररेखा दोनों कृतिया इस संस्कृति संस्कार से पूरी तरह प्रभावित है|

जायसी जी भारतीय लोक जीवन से प्रचलित लोक कथाओ से परिचित थे भारतीय जन जीवन से जुडी इनकी लोक कथाओ में भारत की संस्कृति परम्परा का रूप स्पष्ट दिखाई देता है उसमे राजा भोज की कथा राजा गोपीचंद की कथा राजा विक्रमादित्य की कथा , राजा भर्तहरी की कथा , गोरखनाथ एवं मछन्दर नाथ आदि की कथा देखने को मिलती है जायसी जी ने भारतीय तीर्थो का उल्लेख भी पद्मावत में किया है जिसमे तीर्थराज प्रयाग वाराणसी , , मथुरा, वृन्दावन , केदारनाथ , सेतुबंध , रामेस्वरम , का

उल्लेख हुआ है भारतीय जन जीवन से जुड़े उनके देवी देवताओ का वर्णन है जैसे ब्रह्म , विष्णु , इंद्र सप्तऋषि यमराज कुबेर , लक्ष्मी, कामदेव, शिव , गणेश , सूर्य , अग्नि चन्द्रमा , हनुमान , शेषनाग , कामदेव , सरस्वती, का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है जायसी के काव्य में बसंत पंचमी की पूजा जो एक भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित है इसका वर्णन बड़े मनोयोग से किया है इस दिन स्त्रिया पूरी तरह सज धज कर गौरी और शिव की पूजा करने जाती है पूजा करने की विधि और मन्नत मागने की पद्धति के साथ साथ अनेक रोको चारो का वर्णन भी पद्मावत में देखने को मिलता है जायसी ने स्पष्ट लिखा है की " श्री पंचमी या बसंत पंचमी के आते ही पद्मवती ने अपनी सखियों को बुलाया और कहा की सभी सज धज कर जल्दी तैयार हो जाओ, हम लोग शिव मंडप में गौरी और शिव की पूजा करने चलेंगे जायसी ने आगे लिखा है की ' मन्दिर के समीप पहुचते ही स्त्रियों ने ढोल और भेरी बजाने शुरू कर दिए कुछ मर्दल तुरही और झांझ बजाने लगे कुछ बासुरी और महार के स्वर निकलने लगे और कुछ मधुर गीत गाने लगे ये बलाए उमग में भर कर सिंदूर भी एक दुसरे पर फेकने लगे ये कभी उछल कूद मचाते कभी ठहर कर रास का नृत्य करती और आनंद क्रीडाये करती'३ अत: इस प्रकार सभी बलाए ,स्त्रियाँ शिव मंडप में पहुचती है पद्मावती ने शिव की प्रतिमा के सामने जाकर प्रणाम फिर दूसरी बार प्रणाम किया और तीसरे प्रणाम के साथ पूजा चढाई सरे मंडप में फल फुल भरवा दिए और चन्दन, अगर (सुगन्धित वृक्ष) से देवता को स्नान कराया फिर इस तरह परम्परा चलती रही जायसी के पद्मावत में बंसत पंचमी की पूजा का लोक आचार का वर्णन करती है तथा भारतीय संस्कृति के प्रति अपनी निष्ठां आदि संकेत स्पष्ठ करती है|

इसी प्रकार जायसी के काव्य में एक और जिसे कहा जाता है अंतिम संस्कार का भी वर्णन है|मध्यकालीन समाज में शव को जलाया करते थे और आज भी जलाते है बच्चो के शवो को दफनाया जाता था मुस्लिम लोग शव को जमीन म दफन करते थे जायसी जी ने मृतक संकार का लोक प्रचलित रूप स्वीकार किया है उन्होंने 'बादशाह दुति खंड'में इस लोक विश्वास को चित्रित किया हिया की काशी में मरना पुन्य का प्रतीक था| वास्तव में अंतिम संकार का चित्र प्रस्तुत करना भातीय संस्कृति परम्परा को स्पष्ट करता है|

जायसी लोक जीवन और लोक संस्कृति से गहरे के साथ जुड़े हुए थे उनके काव्य में लोक जीवन की उनके स्थितियों चित्र यथार्थ रूप में देखने को मिलते अत: पद्मावत को देखे तो उसमे बारहमासा का वर्णन भी सामने आता है जो एक प्रकार से लोक संस्कृति तथा लोकधर्मी रूप की और भी संकेत करता है बारहमासा वर्णन के माध्यम से जायसी ने ग्राम्य जीवन में व्याप्त स्थितियों अवधारणाओ पर ग्राम्य संस्कृति के अनेक पक्षों की और संकेत किया है, बारहमासा की परम्परा का मूल जन गतियो की उन्मुक्त भावना से है जिनकी भावधारा में वियोगिनियो की व्यथा के साथ परिवर्तित होती काल रूप और उसकी वयोग की प्रतीक्षा मिलकर आई है|

अत: कह सकते है की जायसी के काव्य में भारतीय संस्कृति बड़ी सुन्दरता के साथ परिलक्षित हुई है क्योकि जायसी भारतीय संस्कृति के प्रति गहरा अनुराग रखते थे उनका श्रेष्ठ काव्य पद्मावत भारतीयों संस्कृति का अनुपम महाकाव्य है इसमें इश्वर की सर्वव्यापकता तो व्यक्त है ही साथ ही अन्य सांस्कृतिक मूल्यों की और भी संकेत है उदारहण – सत्य का महत्व , दान की महिमा , उच्चता की महिमा, धन की निंदा ,नारी महत्ता ,और उसका गौरव नारी की पति परायणता , योग से सिध्धि प्राप्त करना , तपस्या से मनोवांछित फल की प्राप्ति करना , देवता की उपासना में आस्था रखना , गुरु की प्रति श्रद्धा, कमजोर के प्रति करुणा भावना , अदृश्य शक्ति में विश्वास रखना आदि|

इन सबके अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है जायसी भारतीय संस्कृति भारतीयों जनजीवन और लोक सांस्कृतिक से जुड़े थे उन्हें गहरा ज्ञान था और यही मूल्य अनेक काव्य से हमे स्पष्ट से उजागर होते है|

संदर्भ सूची

1 डॉ लक्ष्मी चंद- कबीर और जायसी ग्राम संस्कृति , पृष्ट- ११९

२ जायसी पद्मावत पृष्ठ- १८३

३ जायसी पद्मावत पृष्ट - १८५

४ डॉ रघुवंश- प्रक्रति और हिंदी काव्य पृष्ठ ४०६

५ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल- जायसी ग्रंथ्वाली की भूमिका पृष्ठ ४४

६ प्रो हरिमोहन - मालिक मोहम्मद जायसी गौतम बुक कम्पनी जयपुर ३०२००४ पृष्ठ -२०१२

७ शिव कुमार शर्मा - जायसी के काव्य में अर्प्रस्तुत विधान संजय प्रकाशन दरियागंज नि. दी ११०००२ पृष्ठ -२००८

८ डॉ नारायण प्रसाद वाजपेयी- सूफी महाकवि जायसी वेदांत और रहस्यवाद ,अमित प्र गाजियाबाद यू.पि पृष्ठ -१९७१

९ संपा श्री परशुराम चतुर्वेदी- सूफी काव्य हिंदी साहित्य सम्मलेन प्रयाग, सं -२०००

१० पं शिव सहाय पाठक -ज्यासी और उनका काव्य ग्रन्थम पृष्ठ ,कानपूर , सं- १९६४

हिन्दी में आदिवासी विमर्श

-डॉ.राज कुमार मीणा
सहायक प्राध्यापक,
हिन्दी विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
Email-rajmeena@bhu.ac.in
सम्पर्क नं : 7217683870

आदिवासी विमर्श से पहले हिन्दी में विमर्शों की शुरूआत कोई 70 के दशक के समय से हो गयी थी और 90 के दशक तक आते–आते स्त्री–विमर्श एवं दलित विमर्श ने अपनी स्वतंत्र पहचान बना ली। अन्य विमर्शों के लिए एक पृष्ठभूमि तैयार कर दी। आदिवासी विमर्श विभिन्न रूपों में स्त्री व दलित विमर्शों से भिन्न है फिर भी इन विमर्शों से इसने प्रेरणा ग्रहण की है। चूँकि इन समाजों की तरह ही आदिवासी समाज के सामने भी शोषणकारी व्यवस्था एक ही है। परन्तु यहाँ स्पष्ट कर देना जरूरी है कि हिन्दी में आधुनिक आदिवासी विमर्श की पहचान भले ही स्त्री व दलित विमर्श के बाद हुई हो लेकिन आदिवासी समाज का शोषणकारी शक्तियों से विरोध बहुत पुराना है। उस विरोध को तथाकथित साहित्यकारों–इतिहासकारों ने अपने साहित्य एवं इतिहास में या तो जगह ही नहीं दी या फिर उसे संकीर्ण दृष्टि से गलत रूप में लिखा गया। इससे एक तरफ उनके अस्तित्व और पहचान को नकारा तो दूसरी तरफ उनमें हीनता बोध पैदा किया। रामदयाल मुण्डा ने ठीक ही लिखा है कि ''किसी विजयी जाति ने जब भी इतिहास लिखने की कोशिश की है, उसने विजित जाति के प्रति अपना रोब जमाने की कोशिश भी की है। भारतीय आदिवासी जातियों के इतिहास के संबंध में भी यह बात बहुत अंशों में लागू की जा सकती है।''[1]

90 के दशक बाद व्यापक पैमाने में लागू की गयी वैश्विक उदारीकरण– बाजारीकरण की नीतियों के फलस्वरूप आदिवासी समाज के सामने अस्तित्व और पहचान की समस्या अधिक भयावह हुई। विस्थापन, बेगारी, भुखमरी जैसी समस्याओं ने उनको घेर लिया। पूँजीवादी व्यवस्था ने उनको जल, जंगल, जमीन से विस्थापित कर शहरों–कस्बों एवं महानगरों की कच्ची बस्तियों में भटकने के लिए मजबूर कर दिया। ऐसे हालातों में अपने अस्तित्व को बचाने के लिए प्रतिरोध भी तेज हुआ। विमर्शों की दुनिया में आदिवासी प्रतिरोध की आवाज को सुना जाने लगा। स्वयं आदिवासी समाज के पढ़े–लिखे लोग एक तरफ जन–आन्दोलनों के माध्यम से तो दूसरी तरफ लिखित साहित्येतिहास के माध्यम से अपनी आवाज को बुलन्द करने लगे। कुछ गैर आदिवासी लेखकों ने भी ईमानदारी से इस मुहिम में साथ दिया। अतः 21वीं सदी के आरम्भ से ही हिन्दी में आदिवासी साहित्य एवं विमर्श ने भी अपनी स्वतंत्र पहचान बना ली। आदिवासी एवं गैर आदिवासी साहित्यकार आदिवासी समाज के मुद्दे पर निरन्तर लिखने लगे। 20वीं सदी के अन्तिम दशकों में नाम मात्र के लिए मुख्य धारा की कुछ पत्रिकाओं ने आदिवासी साहित्य को जगह दी थी। आदिवासी समाज की कुछ पत्रिकाएँ अरावली उद्घोष, आदिवासी सत्ता आदि जरूर आदिवासी मुद्दों को निरन्तर उठा रही थी। लेकिन 21 वीं सदी के आरम्भ से ही मुख्यधारा की कुछ पत्रिकाओं ने भी आदिवासी मुद्दों पर केन्द्रित लेखन को छापना प्रारम्भ किया। अब से पहले प्रकाशन भी आदिवासी साहित्य को छापने से कतराते थे लेकिन अब आदिवासी विमर्श आधारित रचनाओं को छापने में रूचि लेने लगे। देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में आदिवासी साहित्य एवं विमर्श पर शोध की संख्या लगातार बढ़ने लगी। अतः कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि 20वीं सदी के अन्तिम दशकों में आदिवासी समाज पर सबसे अधिक अत्याचार होने लगे जिसके फलस्वरूप आदिवासी समाज का अपने अधिकारों के लिए प्रतिरोध भी तेज हुआ। इसको हम हिन्दी आदिवासी विमर्श के रूप में देख सकते हैं। यहाँ ये कहने का मतलब बिल्कुल भी नहीं है कि 90 के दशक के पहले आदिवासी समाज का शोषण भी नहीं हुआ था और उसका विरोध भी नहीं किया जा रहा था या उस पर साहित्य भी नहीं लिखा जा रहा था। पहले भी शोषण हो रहा था और विरोध भी लगातार किया जा रहा था लेकिन उसका स्वरूप उदारीकारण की नीतियों से भिन्न था।

संसार में मानव समुदाय का विकास वहाँ की सामाजिक–सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक व भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार हुआ। ये परिस्थितियाँ दुनिया के प्रत्येक हिस्से में अलग–अलग रही हैं और उसके अनुसार ही मानव का विकास भी भिन्न–भिन्न रहा है। किसी एक क्षेत्र का मानव समुदाय किसी दूसरे क्षेत्र के मानव समुदाय से किन्हीं मामलों में आगे भी रह सकता है तो पीछे भी रह सकता है। लेकिन जब कोई मानव समुदाय भौतिक दृष्टि से किसी अन्य समुदाय से किन्हीं राजनीतिक या भौगोलिक कारणों से पिछड़ जाता है तो उसे ''निम्न अवस्था''[2] में समझा जाता है, ''भले ही वह मानव समुदाय सभ्यता–संस्कृति के अन्य आयामों में उस भौतिकवादी समाज से श्रेष्ठ हो। वहाँ यह भी नहीं देखा जाता कि वे परिस्थितियाँ कहीं षड़यंत्रों द्वारा तो पैदा नहीं की गयी थी।''[3] आज विश्व के आदिवासी समाज को भी निम्न दृष्टि से देखा जाता है क्योंकि वे तथाकथित सभ्य संस्कृति के लोगों की तरह भौतिकतावादी नहीं है। जबकि मानवीय मूल्यों की दृष्टि से आज भी आदिवासी संस्कृति विश्व की श्रेष्ठ संस्कृति है। भारत में आदिवासी समाज वर्तमान समय में सबसे अधिक पीड़ित समाज है। भौतिकतावादी व्यवस्था ने उसकी प्राकृतिक संस्कृति को छिन्न–भिन्न कर दिया है। आदिवासी संस्कृति आज खतरे में है। आदिवासी संस्कृति को बचाना ही आदिवासी विमर्श का मुख्य उद्देश्य है। आदिवासी विमर्श के अन्तर्गत में आदिवासी कौन, आदिवासी साहित्य, आदिवासी समाज, आदिवासी जीवन मूल्य, भाषा, संस्कृति आदि विभिन्न विषयों पर अध्ययन किया जा रहा है। मैं भी यहाँ उपरोक्त बिन्दुओं पर हिन्दी में आदिवासी विमर्श को समझने की कोशिश करूँगा।

राष्ट्रीय–अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आदिवासी समुदाय को विभिन्न नामों आदिवासी (ऍबोर्जिनल), देशज (इंडिजिनस पीपुल्स), मूल निवासी (नेटिव), आदिम (प्रिमिटिव), भोला–भाला (नैव), जंगली (सेवेज), जनजाति (ट्राइबल), वनवासी, गिरिजन, बर्बर आदि से पुकारा जाता है। ''लेकिन जब हम इस समाज की अपनी इच्छा और अस्मिता की बात करे तो पायेंगे कि ये स्वयं को देशज या आदिवासी कहलाने में गर्व महसूस करते हैं। जिस प्रकार 'अनुसूचित जाति' के लिए 'दलित' शब्द अपनी जातीय अस्मिता तथा जातीय पहचान का पर्याय है उसी प्रकार आदिवासी समाज के लिए 'आदिवासी' नाम अस्मिता, अस्तित्व, पहचान और चेतना का वाहक है।''[4]

''रिजले, लेके, ग्रियर्सन, सोबर्ट, टैलेंटस, सेल्जनिक, मार्टिन, ए.बी. ठक्कर ने इन्हें 'आदिवासी' नाम से पुकारा है तो सर बेन्स ने इन्हें 'पर्वतीय जनजातियों' (हिल–ट्राइब्स) की संज्ञा दी है।''[5]

''हट्टन ने इन्हें, 'आदिम जातियाँ' तथा गाँधी जी ने इन्हें 'गिरीजन' के नाम से पुकारा है। भारतीय संविधान में इन्हें 'अनुसूचित जनजाति' के नाम से सूचीबद्ध किया गया है।''[6]

''1891 की जनसंख्या रिपोर्ट में जनसंख्या आयुक्त जे.ए.बेन्स ने जनजातियों को उनके परम्परागत व्यवसाय के अनुसार वर्गीकृत किया। 'कृषक व चरवाहा जनजातियों' की श्रेणी के तहत उसने 'वन्य जनजातियों' के नाम से पृथक उप–शीर्षक बनाया।... सन् 1901 की जनसंख्या रिपोर्ट में उन्हें 'पहाड़ी व वन्य जनजातियों' का नाम दिया गया। सन् 1931 की जनसंख्या रिपोर्ट में उन्हें 'आदिम जनजाति' कहा गया। भारत सरकार अधिनियम, 1935 में जनजातीय जनसंख्या रिपोर्ट में उन्हें 'पिछड़ी जनजातियों' का नाम दिया गया। सन् 1941 की जनसंख्या रिपोर्ट में उन्हें केवल 'जनजातियाँ' कहा गया।''[7] आजादी के बाद संविधान में भी आदिवासी समाज को 'अनुसूचित जनजाति' नाम से पहचान दी गयी। आदिवासी समाज को अलग–अलग नामों से जो पहचान दी गयी है उसके पीछे एक अर्थ बोध छिपा हुआ है, जिसे जानने की आवश्यकता है।

भारतीय संविधान में 'अनुसूचित जनजाति' को विशेष रूप से परिभाषित नहीं किया गया है। जबकि यह नाम आदिवासी समाज के प्रतिनिधि जयपाल सिंह मुण्डा की असहमति के बाद दिया गया है। संविधान में 'अनुसूचित जनजाति' को एक वर्ग विशेष के रूप में मानते हुए लिखा है कि– ''संविधान के अनुच्छेद 366: 25 के अनुसार, अनुसूचित जनजाति का तात्पर्य वे जनजातियाँ अथवा जनजातीय समुदाय अथवा इस प्रकार की जनजातियों अथवा जनजातीय समुदाय के अंशों अथवा समूहों से है, जो कि संविधान के अनुच्छेद 342 के तहत अनुसूचित जनजातियों के रूप में माने गए हैं।''[8] और अनुच्छेद 342 में किसी भी समुदाय को अनुसूचित जनजाति में जोड़ने के लिए राष्ट्रपति को अधिकार है– ''संविधान के अनुच्छेद 342 के तहत राष्ट्रपति के द्वारा आम सूचना के तहत अनुसूचित जनजाति को उल्लेखित किया जा सकता है। संसद किसी भी राज्य अथवा संघ शासित क्षेत्र के किसी भी जनजातीय समुदाय अथवा उसके अंश को कानूनन अनुसूचित जनजातियों की सूची से निकाल सकती है अथवा उसमें जोड़ सकती है।''[9]

'अनुसूचित जनजाति' समुदाय के लिए संविधान में जो प्रावधान किए गए हैं उनमें भी इस समुदाय की कोई निश्चित परिभाषा नहीं की गयी है। लेकिन संविधान के अलग–अलग खण्डों में 'अनुसूचित जनजाति' के लिए जो मापदंड स्वीकार किए गये हैं उन्हें रूपचंद वर्मा के शब्दों में इस तरह जाना जा सकता है ''1. किसी निश्चित भौगोलिक क्षेत्र पर पारंपरिक अधिकार, 2. विशिष्ट संस्कृति, जिसमें जनजातीय जीवन–यापन का संपूर्ण चित्रण, जैसे–भाषा, प्रथाएँ, परम्पराएँ, धार्मिक विश्वास, कला व दस्तकारी आदि शामिल हैं, 3. व्यावसायिक ढांचा, अर्थव्यवस्था आदि को दर्शाने वाली आदिकालीन विशेषता तथा 4. शैक्षिक व तकनीकी आर्थिक विकास की कमी।''[10] इनमें कही भी उनकी विशेष संस्कृति एवं पहचान को रेखांकित नहीं किया गया है। ये मापदंड तो गैर आदिवासी समुदायों पर भी लागू किये जा सकते हैं।

बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने आदिवासी समाज को 'आदिवासी' शब्द की बजाय 'अनुसूचित जनजाति' नाम से जो पहचान दी उससे उनके समकालीन आदिवासी प्रतिनिधि जयपाल सिंह मुंण्डा असहमत थे। क्योंकि वे आदिवासी समाज के लिए 'आदिवासी' शब्द के अन्तर्गत निहित व्यंजना एवं अर्थ गंभीरता को समझते थे। उनको पता था कि 'जनजाति' शब्द आदिवासी समाज की प्राचीन संस्कृति–सभ्यता और उसकी पहचान को अर्थ देने में सक्षम नहीं है। आज तक भी आदिवासी समाज अपनी मूल पहचान 'आदिवासी' शब्द के लिए संघर्षरत है। आदिवासी विमर्श के मुख्य मुद्दों में उसकी पहचान का (जिसे वे 'आदिवासी' शब्द में ही मानते हैं) मुद्दा प्रमुख है। जयपाल सिंह 'अनुसूचित जनजाति' शब्द के बरक्ष 'आदिवासी' शब्द के पुरजोर समर्थक थे। जयपाल सिंह इस बात से भली भाँति परिचित थे कि उसके समाज को बैकवर्ड ट्राइब्स, क्रिमिनल ट्राइब्स आदि अनेक हीन नामों से पुकारा जाता है। लेकिन वे अपने आपको आदिवासी होने पर गर्व महसूस करते थे। जयपाल सिंह अपने समुदाय के मूल निवासी होने एवं आजादी लड़ाके होने पर गर्व करते हैं। वे 'आदिवासी' शब्द के निहितार्थ को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखते थे।

जयपाल सिंह आदिवासी समुदाय एवं उसकी संस्कृति का प्रकृति से नाभि–नाल का संबंध मानते थे। भारत के जल, जंगल, जमीन पर पहला अधिकार आदिवासियों का मानते हुए वे आदिवासियों को पिछड़ा समुदाय या 'माइनोरिटीज' और वंचित वर्ग कहने का विरोध करते हैं। उन्होंने संविधान सभा की बहस में कहा कि ''सभा में 'पार्टीज' और 'माइनोरिटिज' को लेकर इतनी अधिक बहस हो गई है कि मेरा मन ि खन्न हो गया है। मैं हमारे आदिवासी समाज को माइनोरिटीज नहीं मानता। सदन में वैसे भी सुबह से सुन चुका हूँ कि आदिवासियों को वंचित वर्ग मानना चाहिए। अगर आप आदिवासियों को, जो इस देश के मूल निवासी हैं, उनके साथ भूमिहीन और सामाजिक रूप से बाहरी जातियों को जोड़ना चाह रहे हैं, तो हम इसका विरोध करेंगे, क्योंकि आदिवासी माइनोरिटी या वंचित वर्ग कदापि नहीं है। किसी भी सूरत में हम आदिवासियों का हक़–हकूक इस देश पर पहला है, जिसे खारिज करने का अधिकार किसी को नहीं है।''[11]

इस तरह से हम देख सकते हैं कि संविधान निर्माण के समय से ही आदिवासी शब्द के बजाय 'जनजाति' शब्द के लिए विरोध किया जा रहा था। 'जनजाति' शब्द आदिवासी पहचान को इसलिए भी बताने में सक्षम नहीं है क्योंकि जनजाति शब्द 'जाति व्यवस्था' का बोध कराने वाला शब्द है। इस संबंध में रमणिका गुप्ता लिखती है कि ''यह शब्द उनकी अस्मिता को दिग्भ्रमित ही नहीं करता, बल्कि उनकी पहचान पर भी एक सवाल पैदा करता है। आदिवासियों की कोई जाति नहीं होती, तो वे 'जनजाति' कैसे बना दिए गए। उन्हें कबीला कहा जा सकता है लेकिन जाति नहीं।''[12] अतः 'जनजाति' शब्द के लिए निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि यह आदिवासी समाज और संस्कृति का वाहक शब्द नहीं है। भले ही इसे संविधान से मान्यता मिली हुई हो। भले ही इस 'शब्द' के निहित आदिवासी समाज को 'विशेष वर्ग' मानते हुए आरक्षण की सुविधा मिली हुई है।

आदिवासी समाज को देशज (इंडिजिनस), आदिम (प्रिमिटिव), मूल निवासी (नैटिव) आदि नामों से भी पहचाना जाता रहा है। लेकिन आदिवासी (आदि+वासी=आदिवासी। आदि का अर्थ है मूल तथा 'वासी' का अर्थ होता है रहने वाले अर्थात् मूल निवासी) शब्द ऐसा शब्द है जिसमें 'आदिम जाति', (मूल या प्राकृतिक लोग) 'आदिम अवस्था' 'आदि समय', मूल निवासी आदि शब्दों को समावेशित किया जा सकता है। इसलिए उपरोक्त सभी शब्दों की जगह आदिवासी समुदाय को 'आदिवासी' शब्द से ही पहचाना जाना चाहिए। ''सबसे महत्वपूर्ण तो यह है कि स्वयं समाज के लोग 'आत्म पहचान' केवल और केवल 'आदिवासी' शब्द से ही पाते हैं। यह उनकी भावनाओं के अनुरूप है। यह उन्हें स्थायित्व प्रदान करता है जबकि 'जनजाति' शब्द से राष्ट्रपति जब चाहे तब किसी भी आदिवासी समाज को बाहर कर सकते हैं।'' [13]

'आदिवासी' शब्द का सबसे पहला प्रयोग कब हुआ ये तो नहीं बताया जा सकता है। पर यह महत्वपूर्ण है कि ''19वीं, 20वीं सदी के आदिवासी विद्रोहों और संघर्षों की प्रक्रिया से ही आदिवासी शब्द उपजा है। आदिवासी शब्द का पहला इस्तेमाल छोटा नागपुर इलाके में

1930 के दशक में हुआ था, जब एक आदिवासी महासभा का गठन किया गया था। इसके बाद से देश भर में अलग–अलग समुदायों, जैसे मुंडा, करिया, भील आदि ने अपनी आत्म पहचान आदिवासी के रूप में की।''[14]

आदिवासी शब्द के आधुनिक रूप में व्यापक प्रयोग पर अश्विनी कुमार पंकज ने कहा कि ''30–31 मई 1938 के सभी संगठनों ने दो दिवसीय एकता सम्मेलन बुलाया और सर्वसहमति से एकजुट होकर एक नए संगठन 'अखिल भारतीय आदिवासी महासभा' की घोषणा की।''[15] ''बाद में 20 जनवरी 1939 ई. को जयपाल सिंह मुण्डा इस आदिवासी महासभा के अध्यक्ष चुने गए। 'आदिवासी महासभा' के गठन के साथ ही 'आदिवासी' शब्द का प्रचलन एक वर्ग–विशेष के रूप में व्यापक रूप से प्रारंभ हुआ।''[16]

आजादी के पहले ही आदिवासी समाज के लिए 'आदिवासी' शब्द व्यापक पहचान के रूप में स्वीकार किया जा चुका था। इसके बावजूद भी संविधान में 'अनुसूचित जनजाति' शब्द प्रस्तावित किया जाना दुःखद घटना है। आजादी के पहले से लेकर आज तक 'आदिवासी' शब्द से खुद को कानूनी एवं सामाजिक पहचान दिलाने के लिए आदिवासी समाज संघर्षरत है। आदिवासी विमर्श एवं साहित्य का यह प्रमुख मुद्दा है। डॉ. गंगा सहाय मीणा इस संबंध में लिखते हैं कि ''ऐतिहासिक और सामाजिक–राजनीतिक संदर्भ में देखे तो भारतीय परिप्रेक्ष्य में 'आदिवासी' सर्वाधिक उपयुक्त शब्द है। जैसे 'अनुसूचित जाति' की जगह 'दलित' शब्द गहरे अर्थ रखता है, वैसे ही 'अनुसूचित जनजाति' केवल आरक्षण या नौकरियों में हिस्सेदारी के संदर्भ में प्रासंगिक हो सकता है, आदिवासी एकता और संघर्षों की परम्परा का बोध नहीं करा पाता। 'आदिवासी' शब्द उस चेतना का भी प्रतीक है जिसकी मदद से उन्होंने अपने दुःख दर्दों को समझा है और जो उन्हें मुक्ति की राह में आगे बढ़ा रही है। 'आदिवासी' पद में एक आन्दोलन धर्मिता है, जो जनजाति में नहीं है।''[17]

आदिवासी विमर्श आदिवासियों की अपनी वास्तविक पहचान को सुरक्षित रखने के लिए प्रयासरत है। आज आदिवासियों के सामने विकास के बदले विस्थापन की समस्या ने जल, जंगल, जमीन की संस्कृति के खात्मे का संकट खड़ा कर दिया है। आदिवासी विमर्श आदिवासी संस्कृति के संकट के संघर्ष करने के साथ–साथ उसे सुरक्षित बचाये रखने के लिए प्रयासरत है। आदिवासी विमर्श 'आदिवासियों के प्राचीन गौरवशाली इतिहास एवं संस्कृति को वर्तमान एवं आनेवाली पीढ़ी के लिए दर्ज कर रहा है। आदिवासी विमर्श एक तरफ व्यवस्था द्वारा किये जाने वाले शोषण एवं उसके कारणों को उजागर कर रहा है तो दूसरी तरफ आदिवासियों के संघर्ष एवं प्रतिरोध को दर्ज कर रहा है। आदिवासी विमर्श आदिवासी जिजीविषा का प्रतिबम्ब है।

1. डॉ. रामदयाल मुण्डा, आदिवासी अस्तित्व और झाखण्डी अस्मिता के सवाल, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, संस्करण 2009, पृष्ठ 13
2. कार्ल मार्क्स / फ्रेडरिक एँगेल्स, संकलित रचनाएँ, खंड–3, भाग–2, (परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति), प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1978, पृष्ठ 28
3. राज कुमार मीणा, संजीव की कहानियों में अभिव्यक्त आदिवासी समाज, लघु शोध प्रबंध (एम.फिल्), जे.एन.यू., नयी दिल्ली, सन्–2012, पृष्ठ 1
4. राज कुमार मीणा, संजीव की कहानियों में अभिव्यक्त आदिवासी समाज, पृष्ठ 2
5. डॉ. हरिश्चन्द्र उप्रेती, भारतीय जनजातियाँ : संरचना एवं विकास, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, संस्करण 2002, पृष्ठ 1
6. उदय सिंह राजपूत, आदिवासी विकास एवं गैर–सरकारी संगठन, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, संस्करण 2010, पृष्ठ 27
7. रूपचंद वर्मा, भारतीय जनजातियाँ, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, द्वितीय संस्करण 2003, पृष्ठ 6
8. रूपचंद वर्मा, भारतीय जनजातियाँ, पृष्ठ 7
9. रूपचंद वर्मा, भारतीय जनजातियाँ, पृष्ठ 7
10. रूपचंद वर्मा, भारतीय जनजातियाँ, पृष्ठ 7
11. अश्विनी कुमार पंकज, मंरड. गोमके जयपाल सिंह मुंडा, पृष्ठ 138
12. दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे (संपादक), हाशिये का वृत्तांत, स्त्री, दलित और आदिवासी समाज का वैकल्पिक इतिहास, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा) संस्करण 2011, पृष्ठ 353
13. राज कुमार मीणा, संजीव की कहानियों में अभिव्यक्त आदिवासी समाज, पृष्ठ 6
14. समकालीन जनमत, सितम्बर 2003, वर्ष 22, अंक 23, पृष्ठ 49
15. अश्विनी कुमार पंकज, मरंड. गोमके जयपाल सिंह मुण्डा, पृष्ठ 54
16. वीरेन्द्र कुमार मीणा, आदिवासी की अवधारणा
17 डॉ. गंगा सहाय मीणा (संपादक), आदिवासी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिकेशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण, पृष्ठ 27–28

*****

जन आंदोलनकारी कविता

डॉ अर्चना त्रिपाठी

सारांश: जन आंदोलन से प्रभावित कविताओं के यदि विस्तार और महत्वपूर्ण पक्ष और ठोस पक्ष की बात की जाए तो जन आंदोलनकारी कविताओं के साथ प्रतिबंधित साहित्य को जोड़कर देखा जा सकता है, जिसमें जन आंदोलन से प्रभावित कविताओं की तरह आक्रोश और जन जन को शोषण के प्रति विरोध करने का आवाह्न हुआ है।

मुख्य शब्द:
जन आंदोलन, कविता, शोषण, सामाजिक सांस्कृतिक मूल्य, दासता इत्यादि।

वह आंदोलन जो जनता के हित में किया जाए जन आंदोलन है। यदि जन को व्यापक अर्थ में समझा जाए तो जन का अर्थ है समाज का वह मेहनतकश मजदूर जो भौतिक मूल्यों का उत्पादन करता है। यह भारत का शोषित वर्ग है, इसी जन की वर्ग चेतना जिस पल अपनी मांगों को व्यक्त करना शुरू करती है वही पल एक आंदोलन की रूपरेखा की भी होती है। पूंजीवादी समाज में जन दुर्दशा तथा उत्पादन की शक्तियों के हाथों उसकी दासता को लगातार देखा जा रहा है। यह वही जन वही मेहनतकश मजदूर है, जिसके लिए नागार्जुन लिखते हैं -

" पूरी स्पीड में है ट्राम
खाती है दचके पे दचका
सटता है बदन से बदन
पसीने से लथपथ।

कुली मजदूर हैं
बोझा ढोते हैं, खींचते हैं ठेला
थके मांदे जहां तहां हो जाते हैं ढेर
कत्थई दांतों की मोटी मुस्कान
सच सच बतलाओ
घिन तो नहीं आती है?
जी तो नहीं कुढ़ता है? 1

यही जन जब एकजुट होकर व्यवस्था के खिलाफ खड़ा होता है तो उसे जन चेतना कहते हैं। जन चेतना का विकास जन आंदोलन पर निर्भर है और यह आंदोलन का रूप लेता है। मजदूर, छोटे किसान, दलित की एक जुटता से। यही जन मिलकर जन आंदोलन और जन चेतना का निर्माण करते हैं।आगे चलकर यही जन, चेतना का साहित्य रचती है और परिवर्तन की एकजुट मांग करती है -

जन आंदोलनकारी कविता को दो मुख्य रूपों में देखा जा सकता था.

1. वह कविता जो समाज में हो रहे परिवर्तन की मांग से उत्पन्न आंदोलन या क्रांति से प्रभावित होकर लिखी जाती है।2. वह कविता जो कवि के मन में सामाजिक उथल पुथल से उत्पन्न चेतना के द्वारा लिखी जाती है और वे बाद में आंदोलन के नारों के रूप में तब्दील हो जाती है।

उदाहरण स्वरूप रामधारी सिंह दिनकर की कविता " सिंहासन खाली करो कि जनता आती है"

जे पी के संपूर्ण क्रांति का एक प्रमुख नारा था। ऐसे ही शंकर शैलेन्द्र, गोरख पांडे की कविताएं आज भी परिवर्तन की मांग में सहायक हैं। शंकर शैलेन्द्र की कविता" तू ज़िंदा है तो ज़िंदगी की जीत में यकीन कर

और गोरख की कविता ' समाजवाद बबुआ धीरे धीरे आई.." पूरे राग में गाई जाती है, जो कि समाजवादी पार्टी पर व्यंग्य के रूप में गोरख की समाजवाद की कविता को देखा जा सकता है।

स्पष्ट है कि जन आंदोलन, सामाजिक या नव सामाजिक आंदोलन होने के केंद्र में शोषण निहित होता है, शोषण और शोषक वर्ग के खिलाफ जनता गोलबंद होकर इन शोषकों का असली चेहरा सामने लाती है और ' यह दुनिया बदल देनी चाहिए ' की मांग करती है। किसी भी जन आंदोलन या जन आंदोलनकारी कविता के पीछे उस समय की राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक परिस्थितिया जिम्मेदार हैं।

जन आंदोलनकारी कविता की पूरी बानगी देखी जा सकती है नागार्जुन की कविता 'वह कौन था"।

तेलंगाना आंदोलन में किसानों को जेल में डाल दिया गया था, उन पर तरह तरह की यातनाएं की गईं, नागार्जुन लिखते हैं - " बूचड़ों की कैद में है भाइयों साथी हमारे

तोड़कर हम जेल का फाटक
उन्हें आज़ाद करने जा रहे हैं। 2

वहीं मुक्तिबोध अपनी दूरदृष्टि में देख रहे संघर्ष को बिल्कुल अलग व्यक्त करते हैं।

"हमारी हार का बदला चुकाने आएगा..."

इन पंक्तियों में शोषण ख़त्म करने के प्रति एक आशा जताई जा रही है और नागार्जुन सीधे कार्यवाई करने की बात करते हैं -" हम छुड़ाने जा रहे हैं..."

जन आंदोलनकारी कविता लिखने में उर्दू शायर कवियों का भी स्थान है। उर्दू शायर मखदूम एक तरफ तेलंगाना आंदोलन से जुड़े भी रहे और दूसरी तरफ आंदोलन के समर्थन में कविता भी लिखते रहे।

" फिरने वाली खेत की मेड़ों पर बल खाती हुई
कंगनों से खेलती औरों से शर्माती हुई
अजनबी को देखकर खामूश मत हो गाए जा
हां तेलंगन गाए जा, बाकी तेलंगन गाए जा"

जन आंदोलनकारी कविता को हमेशा रूखी, नीरस रूप में ही देखा जाता रहा है। जबकि उपर्युक्त पंक्तियों में अन्य कविताओं की तरह पूरी संवेदना देखी जा सकती है। जहां संवेदना भी है, ओज भी है और सामाजिक परिवर्तन की बेचैनी भी। सही रूप में जन आंदोलनकारी कविता एवं कवि को शुष्क श्रेणी में रखने के बजाए इन कवियों के अन्य और कविताओं पर ध्यान देने की जरूरत है।

उदाहरण स्वरूप - आलोक धन्वा एक तरफ " गोली दागो पोस्टर लिखते हैं दूसरी तरफ अन्य संवेदनशील मुद्दे " भाषी हुई लड़कियां, जनता का आदमी, ब्रूनो की बेटियां पर भी लिखते हैं और लिखते लिखते " शरद की रातें, सफेद रात जैसे कोमल मिजाज की कविता भी लिखते हैं।

आलोक धन्वा सफेद रात में लिखते हैं -

" पुराने शहर की इस छत पर
पूरे चांद की रात
याद आ रही है वर्षों पहले की
जंगल की एक रात" 4

इसी तरह अत्यंत संवेदना से अनुगुम्फित कविता नागार्जुन की पैने दांतों वाली, गुलाबी चूड़ियां और हरिजन गाथा जैसे मुद्दे को कटाक्ष रूप में समाज के सामने बड़ी आसानी से रख देते हैं। भोजपुर कविता में लिखते हैं - " धूप में पसरकर लेटी है
मोटी तगड़ी अधेड़
मादा सूअर
अखरती नहीं है
भरे पूरे थनो की खींच तान
दुध मुंहे छौनों की रग रग में मचल रही है
आखिर मां की ही तो जान! "5

नागार्जुन जन आंदोलन पर कविता लिखते समय अत्यंत भावावेग के समय भी कविता के रूप और सौंदर्य का ध्यान रखते हैं। अत: इनकी कविताएं खरी खरी बात कह देने के बावजूद भी शुष्क और नीरस नहीं लगती।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ' इस मृत नगर में ' शीर्षक कविता में अत्यंत आसानी से इतनी बड़ी बात कह देते हैं -

इस मृत नगर में
रात दिन मैं चलता हूं
और अंत में वहीं पहुंच जाता हूं
जहां से चलना शुरू करता हूं! " 6

जन आंदोलनकारी कवि और कविता की यह खासियत है कि या तो मुद्दे को पूरे चेतावनी भरे शब्दों से पिरोया जाए या फिर सहज सरल शब्दों में कटाक्ष करते हुए बात रखी जाएगी।" मैंने आवाज दी है" कविता शीर्षक के माध्यम से सर्वेश्वर जी उस विद्रूप व्यवस्था की तरफ इशारा करते हैं जो मनुष्य को जीते जी तो लाश बनने पर मजबूर करती ही है और मृत्यु हो जाने पर उस व्यक्ति को लावारिश लाश घोषित कर वहां आना मुनासिब नहीं समझती। एक लाश की मन: स्थिति के माध्यम से हर उस मनुष्य की आवाज है यह कविता , जिसने भी समाज में सिर्फ संघर्ष किया बदले में उसे कुछ नहीं मिला। जिसने सिर्फ दिया और लिया कुछ भी नहीं -

" मैने आवाज़ दी है कोई अभी आएगा
लाश को मेरी वही खींच के ले जाएगा
रास्ते पर पड़ा हूं इसका बुरा मत मानो! " 7

ये कविताएं समाज के हर पहलू को सामने लाती है जिससे समाज को और नजदीक से देखा जा सकता है।

सर्वेश्वर की एक और कविता उन लोगों के लिए है जो युग जागरण के गीत तो लिखते हैं पर आराम से सोकर, ऊंघकर। कटाक्ष करती हुई कविता आगे बढ़ती है -

" मुझे नींद आ रही है
सोने दो
मेरे सामने कागज़
और मेरे हाथ में
स्याही से भरी कलम

रात भर रहने दो
सुबह आना
तुम्हें युग जागरण का गीत मिल जाएगा।" 8

इसी तरह कवि कुमार विकल की एक कविता है जिसमें वे क्लर्क के संघर्ष के बारे में अपनी स्पष्ट सोच रखते हैं -

"मुझे लड़नी है एक छोटी लड़ाई
एक झूठी लड़ाई में मैं इतना थक गया हूं
कि किसी बड़ी लड़ाई के काबिल नहीं रहा
मुझे लड़ना है
जनतंत्र में उग रहे वनतंत्र के ख़िलाफ़! " 9

जन आंदोलन के आदमियों को बहला फुसलाकर NGO में भेजने की प्रक्रिया के साथ आंदोलन को भी राजनीतिक बनाया गया। इसीलिए कवि अपने संघर्षों में एक और संघर्ष को जोड़ता है और कहता है ' मुझे लड़ना है जनतंत्र में उग रहे वनतंत्र के ख़िलाफ़..!

सन साठ के मोहभंग के बाद कविताएं अलग रूप में सामने आईं। आलोचक नामवर सिंह ने जहां आजादी के बाद के 1950 के दशक को हिंदी साहित्य की दृष्टि से नव - रोमांटिक उत्थान का दौर कहा वहीं 60 के दशक को उन्होंने मोहभंग का दौर कहा।

मैनेजर पाण्डेय ने नामवर सिंह द्वारा प्रयुक्त मोह और मोहभंग की शब्दावली और धारणा तथा उसके उत्प्रेरक तत्वों की पहचान के प्रति बुनियादी मतभेद प्रकट किया। उन्होंने कहा कि सवाल यह है कि स्वप्न भंग ,मोह, भ्रम के शिकार लोग कौन थे? क्या नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध, यशपाल, अमरकांत आदि के साहित्य से ये सिद्ध होता है?

इस तरह हिंदी साहित्य में अनेक विधाओं में इस तरह की परिस्थिति देखने को मिल जाती है। कविता के पक्ष में ये बातें थोड़ी और नजदीक की प्रतीत होती हैं, जहां इन आलोचकों की शब्दावली उनकी मान्यताओं को जल्दी समझा जा सकता है।

लेकिन यदि समाज के व्यापक फलक में साहित्य को देखा जाए तो 1962 के चीन युद्ध में भारत की पराजय का प्रभाव भारत के सभी वर्ग के व्यक्तियों पर पड़ा, पराजय के बाद हुए मोहभंग को अन्य महत्वपूर्ण लेखको में देखा जा सकता है। चाहे साठोत्तरी कविता हो, अस्सी के बाद की कविता हो या फिर नब्बे के बाद सामने आई कविता हो। जिसमें समकालीनता का सवाल भी खड़ा होता है। इस दौर की कविताएं उनका आकलन सिर्फ कुछ चुनिंदा कवियों या लेखकों से ही तय नहीं होता। सन साठ के बाद जो कविताएं लिखी जाने लगीं, वे अधिक उग्र, साहसपूर्ण, विद्रोहात्मक , व्यंग्यपूर्ण और उत्तेजक स्वरों से भरी पूरी थीं। अभिव्यक्ति की तीखी प्रणाली आने के मूल में साठ के बाद का विशद परिवेश रहा, चाहे वह आर्थिक , राजनैतिक, सामाजिक या सांस्कृतिक भी रहा हो, अत: जब वर्ण्य विषय बदलता है तो शिल्प प्रणाली या अभिव्यक्ति प्रणाली का बदलना स्वाभाविक होता है। साठ के बाद की कविता निश्चित रूप से अपनी एक अलग और सार्थक पहचान कायम करती है।

उपर्युक्त उल्लेख को न सिर्फ जनांदोलनकारी कवियों के संदर्भ में जोड़कर देखा जाना चाहिए। बल्कि उन उन कविताओं को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए जिसमें जीवन संघर्षों की अनुगूंज है।

संदर्भ -

1. खिचड़ी विप्लव देखा हमने: नागार्जुन, यात्री प्रकाशन, दिल्ली
2. नागार्जुन कविताएं: चयन एवं संपादन: मैनेजर पाण्डेय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
3. मखदूम मोहिउद्दीन, बिसात ए रक्स, अदबी ट्रस्ट, हैदराबाद
4. दुनिया रोज़ बनती है, धन्वा आलोक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
5. नागार्जुन - प्रतिनिधि कविताएं, संपादक - सिंह नामवर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
6. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, कविताएं, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
7. वही
8. वही
9. वही
10. संपूर्ण कविताएं, कुमार विकल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

*****

प्रेम और प्रतिशोध पर आधारित उपन्यास 'शिखण्डी'

- कंचन चौहान,
पीएच.डी.(हिंदी), शोधार्थी
दिल्ली विश्वविद्यालय
ईमेल-kanchanc518@gmail.com

'महाभारत' को महाकाव्य के रूप में लिखा गया जो भारत का ऐतिहासिक व दार्शनिक ग्रंथ माना जाता है | यह विश्व का सबसे बड़ा महाकाव्यात्मक ग्रंथ है | महाभारत का एक छोटा-सा हिस्सा मात्र है- 'गीता' | महाभारत में वेदों और अन्य हिन्दू ग्रंथों का सार निहित है | महाभारत को महर्षि वेदव्यास जी ने लिखा था | जैसा की हम सब जानते है कि महाभारत का युद्ध कौरवों और पांडवों के बीच लड़ा गया | महाभारत युद्ध में १८ की संख्या का अत्यंत महत्त्व है | ऐसा इसलिए क्योंकि महाभारत ग्रंथ में कुल १८ अध्याय हैं, श्री कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को १८ दिन गीता का ज्ञान दिया था, महाभारत का युद्ध भी १८ दिन तक चला था, कौरवों और पांडवों की सेना में मिलाकर कुल १८ अक्षोहिणी योद्धा थे, इस युद्ध के सूत्रधार भी १८ थे और इस युद्ध के अंत में कुल मिलाकर १८ लोग ही बचे थे |

आप लोगों के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हो रही होगी कि विषय तो 'प्रेम और प्रतिशोध पर आधारित उपन्यास शिखण्डी' है लेकिन मैं महाभारत का वर्णन क्यों कर रही हूँ | वैसे तो आप सभी पाठक वर्ग को पता ही होगा, फिर भी मैं बता देना चाहती हूँ कि 'शिखण्डी' महाभारत का एक बहुत महत्त्वपूर्ण पात्र है जो भीष्म पितामह की मृत्यु का कारण बनता है | लेखक ने बड़ी ही कुशलतापूर्वक कहानी के द्वारा धर्म-अधर्म का विवेचनापूर्ण वर्णन किया है | क्या अम्बा का हठ धर्मपर्यन्त है या कामनासूचक ? क्या भीष्म की प्रतिज्ञा स्वधर्म थी या उसकी परिधि बड़ी थी; यदि भीष्म परिस्थितियों के कारण अपनी प्रतिज्ञा भंग करते हैं तो उससे समाज और धर्म पर क्या असर पड़ता ? लेखक ने कुंती और धर्मराज (युधिष्ठिर) के वार्तालाप से माँ और नारी के अंतर को बहुत ही सुंदरता से दर्शाया है | लेखक ने द्युत क्रीड़ा, युद्ध, भीष्म पितामह का अर्जुन के हाथों बाणों की शैय्या पर लेटाना, लेकिन यह सिर्फ शिखण्डी के कारण ही संभव हो पाता है | इन सभी घटनाओं में धर्म क्या है और अधर्म के मायने क्या है ? न्यायसंगत क्या है और अन्याय की परिभाषा क्या है ? उपन्यास इन सभी प्रश्नों पर सोचने के लिए पाठक को प्रोत्साहित करता है |

हिन्दी साहित्य में आधुनिक 'महाकाव्यात्मक उपन्यास' की विधा को प्रारंभ करने का श्रेय नरेंद्र कोहली को ही जाता है | पौराणिक एवं ऐतिहासिक चरित्रों को चुनकर और उनकी गुथियों को सुलझाते हुए उन्हें आधुनिक समाज के समक्ष प्रस्तुत करना कोहली जी की अन्यतम विशेषता है | कोहली जी के अनुसार पुराकथाओं की प्रमुख विशेषता ही यह है कि लेखक उनके मूल रूप में हेर-फेर किए बिना भी यथास्थान कल्पना का प्रयोग कर अपनी बात कह सकता है- " मेरी दृष्टि में 'मिथक' या 'पुराकथा' में सबसे बड़ा गुण यही है कि उसे उलट-पुलट कर सकते हैं उसके स्वरूप को बनाए रखते हुए |"[१]

"पौराणिक आख्यान और विश्वास के लिए अंग्रेज़ी में 'मिथ' या 'मिथालॉजी' शब्द प्रचलित है |"[२] ग्रीक शब्द में इसका उद्गम 'मथोस' से स्वीकार किया गया है | "कोई भी कथा मिथ है, क्योंकि उसका सम्प्रेषण मौखिक है |"[३] इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि मिथ ग्रीक शब्द 'mythos' से बना है – जिसका अर्थ है- मुँह से निकला हुआ, अत: इसका संबंध कथा से जुड़ गया क्योंकि कथा भी सुनी सुनाई जाती है | एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति को एक कथा बताते वक्त उसमें कुछ-न-कुछ नया जोड़ ही दिया जाता है | इसी प्रकार के मिथक के केंद्र का पात्र बनता है- 'शिखण्डी' | अलग-अलग लोगों द्वारा अलग-अलग बात बताई गई है| कुछ लोगों का मानना है कि वह पुरुष है, कुछ लोगों का मानना है वह स्त्री है, यहाँ तक कि कुछ लोगों का मानना है वह न पुरुष है और न ही स्त्री | इसी तरह के प्रश्नों का समाधान यह उपन्यास बड़ी खूबसूरती से प्रस्तुत करता है | हमेशा ही हमारे पौराणिक या ऐतिहासिक पात्रों के लिए लोगों द्वारा कोई-न-कोई मिथ बना ही दिए जाते हैं |

'शिखण्डी' उपन्यास के रचनाकार नरेंद्र कोहली है | शिखण्डी उपन्यास 22 अध्यायों में विभाजित 240 पृष्ठों का एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है | यह उपन्यास सन् 2020 में वाणी प्रकाशन से प्रकाशित हुआ | यह उपन्यास महाभारत के एक पात्र 'शिखण्डी' के प्रेम और प्रतिशोध पर आधारित है | उपन्यास में नारी के समर्पण और संकल्प की कथा है | यह अम्बा और शिखण्डी के देह में अवस्थित एक आत्मा के दृढ़-संकल्प की गाथा है, जो दो जन्मों के दौरान अपने लक्ष्य को पूरा करती है, जिसे बहुत रोचक ढंग से लिखा गया है | शिखण्डी की कहानी श्राप-वरदान और बदले से जुड़ी है | महाभारत में सबसे रहस्यमयी पात्र कोई था तो वह है- शिखण्डी | महाभारत युद्ध में पांडवों की जीत सुनिश्चित करने वाला योद्धा भी शिखण्डी था |

धर्मे च अर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ | यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्कवचित् || अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के संबंध में जो कुछ 'महाभारत' में कह दिया गया है, उसके बाद कहने को कुछ शेष नहीं रह जाता | वास्तव में महामुनि वेदव्यास कृत 'महाभारत' में जीवन के सभी सार समाए है | प्रख्यात लेखक नरेंद्र कोहली ने अपने लेखन में इन तत्वों को बखूबी समेटा हैं | उन्होंने महाभारत की पूरी कथा के अतिरिक्त उसके कई पात्रों पर भी कलम चलाई है | इस महत्त्वपूर्ण कड़ी में उन्होने 'शिखण्डी' की जीवन गाथा को उपन्यास के रूप में प्रस्तुत किया है | वास्तव में शिखण्डी एक पात्र के दो जन्मों की गाथा है | उपन्यास का आरंभ काशी में हो रहे स्वयंवर से होता है | एक नहीं, तीन-तीन कन्याओं का | काशीराज की तीन पुत्रियाँ थी | ज्येष्ठ पुत्री 'अम्बा', दूसरी पुत्री 'अम्बिका'

और तीसरी पुत्री 'अम्बालिका' थी | अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका का स्वयंवर होने वाला था | भीष्म पितामह भी स्वयंवर में जाते हैं; लेकिन उन तीनों कन्याओं का हरण करने के लिए ताकि वह उनका विवाह अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य से करा सकें | उनके स्वयंवर में जाकर अकेले भीष्म ने वहाँ पर आए समस्त राजाओं को परास्त कर तीनों कन्याओं का हरण करने में सफल होते हैं | भीष्म को निडरता, निर्भीकतापूर्वक, वीरता एवं बहादुरी से लड़ते देख अम्बा उन पर मोहित हो जाती है | सभी राजाओं को परास्त कर वह उन तीनों कन्याओं का हरण करके हस्तिनापुर ले आते हैं, जहाँ पर तीनों बहनों को सत्यवती के सामने प्रस्तुत किया जाता है ताकि उनका विवाह विचित्रवीर्य के साथ सम्पन्न हो जाए | अम्बा को जब इस बात का पता चलता है कि उनका विवाह भीष्म, जिन्होंने उनका हरण किया उनसे न होकर विचित्रवीर्य से होगा तो वह भीष्म पर बहुत ज्यादा क्रोधित होती है| अम्बा भीष्म को बताती है कि वह राजा शाल्व को मन से अपना पति मान चुकी है, तभी भीष्म अम्बा को आदर सहित शाल्व के पास भिजवा देते हैं | विचित्रवीर्य की शादी अम्बिका और अम्बालिका से हो जाती है | शाल्व अम्बा को स्वीकार नहीं करता है और कहता है – "जिस क्षण भीष्म ने स्वयंवर मंडप में मेरी बाँह पकड़ मुझे अपने रथ पर बैठाया मैं उसी क्षण से स्वयंवर में जीती हुई भीष्म की वीर्यशुक्ला पत्नी हो गयी | जो धर्मत: भीष्म की पत्नी है, उसे धर्मराज सौभराज शाल्व अपनी पत्नी के रूप में कैसे स्वीकार कर सकते हैं ?"[४] अत: वह हस्तिनापुर लौट कर भीष्म से कहती है- आर्य ! आप मेरा हरण करके लाये थे; अतएव आप मुझसे विवाह करें | भीष्म अम्बा को बताते हैं कि यह संभव नहीं है क्योंकि मैंने आजीवन ब्रह्मचर्य के पालन की प्रतिज्ञा की है | अम्बा क्रोधित होकर भीष्म से कहती है, "मैं तुम्हारी प्राण भी हूँ और विनाश भी | तो क्या सोचा है मेरे लिए ?"[५] राजकुमारी, तुम्हारी इच्छा इस जन्म में तो पूरी नहीं कर पाऊँगा | अम्बा कहती है तो फिर मुझे शैखावत्य मुनि के आश्रम तक पहुंचवाने की व्यवस्था करे, ताकि में हस्तिनापुर के विनाश का प्रबंध कर सकूँ | वहाँ उनको परशुराम भी मिलते हैं और उनको अपनी सारी व्यथा सुनाकर, उनसे न्याय मांगती है | भीष्म परशुराम के शिष्य थे | परशुराम ने भीष्म को बुलावा भेजा | भीष्म को बड़ी खुशी होती है कि वह अपने गुरु से मिलेंगे | वहाँ पहुँच भीष्म को पता चलता है कि वहाँ अम्बा भी उपस्थित है | भीष्म को सारी बातें समझ आ जाती है | परशुराम भीष्म से कहता है कि न्यायार्थ तुम्हें अम्बा को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार करना होगा | तुमने उसका हरण किया था, उसमें अम्बा का क्या दोष है ? बहुत ज्यादा वाद-विवाद होने पर भी भीष्म अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़-संकल्प रहते हैं | भगवान परशुराम के हस्तक्षेप के बावजूद अडिग भीष्म द्वारा उपेक्षित अम्बा अपने जीवन का त्याग कर देती है | उससे पहले अम्बा, भीष्म से कहती है, "मरूँगी भी तो यह कामना लेकर कि अगले जन्म में तुम्हारे इस शरीर को नष्ट कर दूँ, जो तुम्हारा यह शरीर, जितनी जल्दी विलीन हो जाए, उतना ही अच्छा....."[६]

अगले जन्म में अम्बा का जन्म राजा द्रुपद के घर में **'शिखण्डी'** के रूप में हुआ | शिखण्डी का जन्म पांचाल नरेश द्रुपद के घर एक कन्या के रूप में होता है | किवदंती है कि, उसके जन्म के समय एक आकाशवाणी हुई थी कि उसका लालन-पोषण एक पुत्री नहीं वरन् एक पुत्र के रूप में किया जाए | लेकिन उपन्यास में ऐसी किसी बात का वर्णन नहीं हैं | उपन्यास में शिखण्डी को एक रहस्यमयी पात्र माना गया है | शिखण्डी पुरुष नहीं स्त्री है यह केवल शिखण्डी की माँ को ही पता होता है | शिखण्डी के युवा होने पर राजा द्रुपद उसकी शादी हिरण्यवर्मा की पुत्री से करा देते हैं | विवाह के बाद शिखण्डी की पत्नी को पता चल जाता है कि वह पुरुष नहीं स्त्री है | हिरण्यवर्मा की पुत्री अपनी दासियों के माध्यम से यह सूचना अपने पिता तक पहुँचाती है | हिरण्यवर्मा यह सूचना अपने विशेष दूत के माध्यम से पांचाल नरेश द्रुपद के पास भिजवाते है, पांचालराज ने उनके साथ कपट किया है | यह उनके लिए कष्टप्रद भी है और अपमानजनक भी | द्रुपद कहते हैं लेकिन मैंने ऐसा कुछ नहीं किया जिससे उनका अपमान हो | दूत कहता है, "महाराज यह कहने के लिए मुझे क्षमा करें, किन्तु हिरण्यवर्मा को यह सूचना मिली है कि आपका पुत्र, पुरुष न होकर स्त्री है |"[७] द्रुपद क्रोधित होकर कहता है कि इस तरह की झूठी सूचना किसके द्वारा दी गई है ? मेरा पुत्र पुरुष है या स्त्री, क्या यह हमें नहीं पता होगा | किसके द्वारा यह सूचना दी गई है ? द्रुपद के पूछने पर दूत बोलता है आपकी पुत्रवधू ने यह सूचना दी है कि- शिखण्डी पुरुष शून्य पुरुष, क्लीव, नपुंसक अथवा निवीर्य नहीं, पूर्ण स्त्री है- स्त्री | हिरण्यवर्मा महाराज ने कहा है कि आप या तो शिखंडी के पुरुष होने वाली को साबित करें नहीं तो हमें पांचालों से धोखा मिलने के कारण उन से युद्ध करना पड़ेगा | यह सुनकर राजा द्रुपद परेशान हो जाते हैं और दूत को विश्राम करने के लिए बोलकर अपने कक्ष में चले जाते हैं और रानी मनस्विनी को बुलवाते हैं | द्रुपद के पूछने पर रानी कहती है- मुझे क्षमा कीजिए महाराज ! इतने सालों से मैनें आपसे सच छिपा कर रखा कि- शिखण्डी स्त्री है | मुझे डर था कि आपको जब पता चलेगा की मैंने कन्या को जन्म दिया है तो आप मुझे छोड़ देते क्योंकि आपने अपनी पहली पटरानी को केवल पुत्र संतान न होने पर ही मुझसे दूसरा विवाह किया था | आपने उस समय मुझसे कहा था- मुझे पुत्र की तीव्र आकांक्षा है | मेरा पुत्र नहीं होगा तो उस कुरु-वृद्ध भीष्म का वध कौन करेगा ? इसीलिए मैंने किसी को भी सच नहीं बताया | उसके बाद शिखण्डी की माँ काफी समय तक शिखण्डी से उसके शरीर के बारे में बात करती है और बताती है कि पुत्र तुम बचपन से स्त्री हो लेकिन मेरे स्वार्थ के कारण तुम्हें अपना पूरा जीवन एक पुरुष की तरह बिताना पड़ा | उसके बाद आहत शिखण्डी अपने पिता के लिए एक पत्र छोड़ कर जंगल में चला जाता है | वह एक वृक्ष के नीचे, यह संकल्प कर पद्मासन लगा कर बैठ जाता है कि- मृत्यु की प्रतीक्षा में मैं ईश्वर का ध्यान करूंगा | वह अपने संकल्प पर दो दिन तक अडिग रहा | तीसरे दिन एक यक्ष उसके पास आता है और उसकी समस्या को सुन कर बोलते हैं इसका समाधान संभव है | वह शल्यक्रिया के द्वारा शिखण्डी को पुरुष बना देते है | लेकिन कहीं-कहीं किवदंतियां है कि, शिखंडी आत्महत्या करने वाली थी तभी यक्ष उसे बचा लेते हैं और उसका लिंग परिवर्तन कर उसे अपना पुरुषत्व दे देते हैं | यक्ष की इस हरकत से यक्षपति नाराज हो जाते हैं और उस यक्ष को श्राप दे देते हैं कि शिखण्डी के जीते जी उसे अपना लिंग वापस नहीं मिल पाएगा | लेकिन उपन्यास में इस तरह की कोई चर्चा नहीं की गई है | इस प्रकार शिखण्डी एक पुरुष बनकर पांचाल वापस लौट आता है और अपने पिता को सारी घटना के बारे में बताते हैं | अब वह अपनी पत्नी के साथ सुखी वैवाहिक जीवन बिताते है |

जिस समय शिखण्डी वापिस पांचाल नगर आता है उस समय उसकी बहन, द्रुपद की राजकन्या – कृष्णा (द्रौपदी) के स्वयंवर की तैयारियाँ चल रही थी | कृष्णा के स्वयंवर में कौरव और बड़े-बड़े योद्धा शामिल होते हैं | इस स्वयंवर में पांडव भी शामिल होते हैं लेकिन भेष बदलकर आते हैं | स्वयंवर में एक घोषणा की जाती है- जो वीर पाँच बाणों से एक साथ, इस घूमते यंत्र में से ऊपर टंगी मत्स्याकृति का चक्षु-वेधन कर देगा, राजकुमारी अपने पति के रूप में उसका वरण करेंगी | जब सभी कोशिश करके हार जाते हैं तब अर्जुन आते हैं और मत्स्याकृति का चक्षु-वेधन कर विजयी होते हैं | कृष्णा का विवाह अर्जुन से हो जाता है | सभी को पता चल जाता है कि पांडव अभी तक जीवित है, जिसे दुर्योधन ने षड्यंत्र से जला कर मारने की कोशिश की थी | विदुर काका ने कुंती और उनके पुत्रों के प्राणों की रक्षा की थी | द्रुपद विदुर का आदर सत्कार करते हैं | पांडवों को उनका राज्य दिलवाने की योजना पर विदुर द्रुपद से कहते हैं- द्रौणाचार्य इस समय पांडवों को , कौरवों का आधा साम्राज्य दिलवाने का प्रयत्न कर रहे हैं | भीष्म पितामह मानते हैं कि हस्तिनापुर के राज्य पर दुर्योधन का नहीं, युधिष्ठिर का अधिकार है | जब पांडव हस्तिनापुर आते हैं तो उन्हें धृतराष्ट्र द्वारा 'खांडवप्रस्थ' (वर्तमान दिल्ली) का राज्य दिया जाता है | वहाँ जाकर पता चलता है कि वहाँ तो खंडहरों के अलावा कुछ भी नहीं हैं | पांडव खांडववन को 'इन्द्रप्रस्थ' के नाम से पुन: बसाते है | कुछ समय बाद कौरवों द्वारा पांडवों को अपने यहां आमंत्रित कर, पांडवों द्वारा शतरंज के खेल में अपना राज्य और पत्नी को दाव पर लगा कर हार जाना, पांडवों को दासत्व-मुक्ति के प्रतिशोध से बारह वर्षों तक वनवास के लिए भेजना | दुर्योधन कहता है तुम्हें तभी पूर्णत: मुक्त माना जाएगा, जब तुम 12 वर्षों का वनवास सफलतापूर्वक पूर्ण कर और एक वर्ष अज्ञातवास करोंगें | वनवास में जाने से पहले द्रौपदी अपने पुत्रों को अपने पिता और भाई शिखण्डी के पास शिक्षा के लिए छोड़ जाती है और बोलती है यह तुम्हारे गुरु है | कृष्ण, द्रौपदी के चीर हरण को होने से रोकते हैं और पांडवों को वनवास में जाने से पहले उनका मार्ग-दर्शन करते हैं | 13 वर्ष वनवास के पश्चात् श्रीकृष्ण पांडवों के शांति दूत बनकर कौरवों के पास भी गए ताकि उन्हें उनका 'इन्द्रप्रस्थ' दिलाकर युद्ध को टाला जा सके, लेकिन जब युद्ध नहीं टल सका तो श्रीकृष्ण ने अर्जुन का सारथी बन युद्ध में पांडवों का मार्गदर्शन किया | भीष्म पितामह कौरवों के पक्ष से पांडवों के सेना से युद्ध कर रहे थे | भीष्म पितामह द्वारा पांडवों की सेना का लगातार वध करते देख पांडव भयभीत हो जाते हैं | युद्ध के बाद पांडव और कृष्ण भीष्म के पास आते हैं और समर में उनके शौर्य का वर्णन करते हैं | पांचाल सेना तो आपके सामने त्राहि-त्राहि कर उठी थी | युधिष्ठिर, भीष्म पितामह से कहता है – लेकिन हमारी विजय कैसे होगी ? सत्य तो यह है कि हम लोग युद्ध में आपसे त्रस्त हो रहे हैं और आपसे इसी विषय में चर्चा करने आये है | भीष्म हँसते हुए कहते हैं, "यदि मैं तुम्हारी विजय के मार्ग में खड़ा हूँ तो मुझे हटाना तो तनिक भी कठिन नहीं हैं | मैंने इस युद्ध से पूर्व दो प्रतिज्ञाएँ की हैं | आपको भी पता होगा-

पाँचों पांडव का वध नही करूंगा |
शिखण्डी (स्त्री) से युद्ध नहीं करूंगा |"[८]

भीष्म कहते हैं कि, मैं जिस उद्देश्य से इस युद्ध में शामिल हुआ था; वह अब पूर्ण नहीं हो सकता इसलिए मैं युद्ध में निरस्त होना चाहता हूँ | क्षत्रिय हूँ इसलिए पीछे नहीं हट सकता | अत: मेरी सहायता करना चाहते हो तो पुत्र मेरा वध करो | द्रुपद और उनके दोनों बेटे मेरा वध करना चाहते हैं | तुम उनका विरोध कर मेरी रक्षा नहीं कर पाओगे | पितामह बड़े उत्साह से कहते हैं, 'तुम लोग जानते ही हो कि तुम्हारी सेना में मेरे वध के लिए कौन सबसे उत्कंठित है- शिखण्डी' ! सारे पांडव सहमत थे | पितामह हँस पड़े, "अम्बा ने पुनर्जन्म लिया है | वह अंतिम बार विदा होते हुए कह गई थी कि वह उस जन्म में मेरी हत्या न कर पायी तो दूसरा जन्म लेगी | लगता है वह शिखण्डी के रूप में आयी है, नहीं तो मुझसे क्या इतनी शत्रुता है शिखण्डी की? प्रेम नहीं मिला तो शत्रुता पाल ली | शिखण्डी मेरी ओर खिंच रही है |..... शिखण्डी या शिखण्डिनी |....."[९] पितामह बताते हैं- शिखण्डी को आरंभ में अनेक लोग स्त्री ही मानते रहे हैं | मैं आज भी उसे स्त्री रूप ही मानता हूँ | कुछ देय है मेरी ओर | अम्बा को उसका देय नहीं दे पाया | शिखण्डिनी को दूँगा | उसकी कामना पूरी करूँगा | उसे कामनापूर्ति का वर देता हूँ | कुरुक्षेत्र के युद्ध में 10 वें दिन अर्जुन के सारथी के रूप में शिखण्डी को रखा जाता है | भीष्म ने उसके रूप में अम्बा को पहचान लिया और अपने हथियार नीचे कर लिए | भीष्म पितामह पर शिखंडी के बाणों का असर नहीं होता है | तब उसी समय अर्जुन भीष्म पितामह पर बाणों की वर्षा कर देता है और वह परास्त हो जाते हैं | इस प्रकार शिखंडी अपना प्रतिशोध भीष्म से ले लेती है | अश्वत्थामा को जैसे ही अपने पिता की मृत्यु का पता चलता है तो वह बहुत व्याकुल हो जाते हैं और वह पांडवों और पांचालों की मृत्यु के लिए षड्यंत्र रचते है | अश्वत्थामा एक उल्लू को देखता है और सोचते हैं कि वह भी उल्लू की तरह दिन में पांडवों और पांचालों को मार नहीं सकता, किन्तु छल से तो वह भी उनका वध कर सकता है | अश्वत्थामा कृपाचार्य से कहता है, " मैं अपने दिव्य धनुष और देवास्त्रों के होते हुए भी, अपने पिता के वध का प्रतिशोध न ले सकूँ तो वीरों को क्या मुँह दिखाऊँगा |"[१०] एक दिन रात में अश्वत्थामा द्वारा पांचालों के शिवर में घूस कर पांडवों की बजाय द्रौपदी के पाँचों पुत्रों की हत्या कर दी जाती है और चारों तरफ आग लगा दी जाती है | इन सबमें शिखण्डी की भी मृत्यु हो जाती है |

अंत: निष्कर्ष रूप में कह सकते है कि- शिखण्डी एक पात्र के दो जन्मों की जीवन गाथा है | काशीराज की कन्या अम्बा का राजा द्रुपद के घर शिखण्डी के रूप में अगला जन्म होता है | इसमें लेखन ने शिखण्डी के जीवन से जुड़े खास प्रसंगों का समावेश कर उसे रोचक रूप में प्रस्तुत किया है | ये घटनाएँ भले ही अम्बा-शिखण्डी के जीवन में घटी हो, लेकिन उनकी धुरी कहीं-न-कहीं भीष्म ही है और वह भी इस उपन्यास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण पात्र के रूप में उपस्थित है | यह कथा कन्या हरण, भीष्म के प्रति अम्बा के अनुराग, प्रतिज्ञाबद्ध भीष्म द्वारा उन्हें इंकार, भगवान परशुराम के हस्तक्षेप के बावजूद अडिग भीष्म द्वारा उपेक्षित अम्बा द्वारा जीवन का त्याग, तदुपरान्त द्रुपद के यहाँ जन्म, महिला होते हुए भी पुरुष रूप में जीवन बिताना, आक्षेप लगने पर यक्ष के माध्यम से लिंग-परिवर्तन और कुरुक्षेत्र में अपने लक्ष्य की पूर्ति होने पर शिखण्डी जीवन के सभी अहम पड़ावों को पार करते हुए विराम लेती है | महाभारत की कथा में प्रत्येक पात्र महत्त्वपूर्ण है और शिखण्डी की महत्ता इसी से समझी जा सकती है कि भीष्म की मृत्यु का निमित्त बनने का उनका संकल्प ही पांडवों की जीत का मंत्र था | वास्तव में यह अम्बा और

शिखण्डी की देह में वास करने वाली एक आत्मा के दृढ़-संकल्प की गाथा है | यह उपन्यास अम्बा-शिखण्डी को सशक्त पात्र के रूप में भी प्रस्तुत करता है | चाहे भीष्म के प्रति अपनी प्रेम भावनाएँ व्यक्त करना हो या फिर शिखण्डी रूप में अपनी पत्नी के प्रति शारीरिक आकर्षण का मुखर प्रदर्शन हो या फिर भीष्म की मृत्यु का कारण बनने के लिए किए जाने वाले सभी उपक्रम हो | द्रौपदी ने भी शिखण्डी के लिए कहा था- 'शिखण्डी भैया आरंभ से ऐसे ही रहे हैं | उनके संकल्प इतने भयानक होते है कि सामान्य जन उनका वेग भी नहीं झेल सकता |'

यह पुस्तक 'महाभारत' के एक पात्र का गहराई से परिचय कराने के साथ ही इस कथा के अन्य अहम किरदारों के साथ उसके संबंधों की कड़ियाँ खोलता है |

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. यादव, हितेन्द्र, सुनीता सक्सेना, पौराणिक उपन्यास, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 2000, पृष्ठ. 176
2. चंदेल, उमापति राय, पौराणिक आख्यानों का विकासात्मक अध्ययन, वाणी प्रकाशन, द्वितीय संस्करण : 2017, पृष्ठ. 27
3. डॉ. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन,छठा संस्करण : 2020, पृष्ठ. 283
4. कोहली, नरेन्द्र, शिखण्डी, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 2020, पृष्ठ. 57
5. कोहली, नरेन्द्र, शिखण्डी, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 2020, पृष्ठ. 61
6. कोहली, नरेन्द्र, शिखण्डी, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 2020, पृष्ठ. 91
7. कोहली, नरेन्द्र, शिखण्डी, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 2020, पृष्ठ. 94
8. कोहली, नरेन्द्र, शिखण्डी, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 2020, पृष्ठ. 204
9. कोहली, नरेन्द्र, शिखण्डी, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 2020, पृष्ठ. 206
10. कोहली, नरेन्द्र, शिखण्डी, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 2020, पृष्ठ. 226

यादव, हितेन्द्र, सुनीता सक्सेना, पौराणिक उपन्यास, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 2000, पृष्ठ. 176

चंदेल, उमापति राय, पौराणिक आख्यानों का विकासात्मक अध्ययन, वाणी प्रकाशन, द्वितीय संस्करण : 2017, पृष्ठ. 27

डॉ. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन,छठा संस्करण : 2020, पृष्ठ. 283

कोहली, नरेन्द्र, शिखण्डी, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 2020, पृष्ठ. 57

कोहली, नरेन्द्र, शिखण्डी, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 2020, पृष्ठ. 61

कोहली, नरेन्द्र, शिखण्डी, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 2020, पृष्ठ. 91

कोहली, नरेन्द्र, शिखण्डी, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 2020, पृष्ठ. 94

कोहली, नरेन्द्र, शिखण्डी, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 2020, पृष्ठ. 204

कोहली, नरेन्द्र, शिखण्डी, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 2020, पृष्ठ. 206

कोहली, नरेन्द्र, शिखण्डी, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 2020, पृष्ठ. 226

अमृतराय के उपन्यासों में हास्य और व्यंग्य : एक अध्ययन

-डॉ.प्रीति राय
असिस्टेंट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय,लखनऊ

अमृतराय के उपन्यासों के शिल्प तत्व की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता उनमें प्राप्त होने वाला सामाजिक हास्य और व्यंग्य का स्वरूप है। अमृतराय ने यथार्थ के उद्घाटन के लिए प्रायः सभी उपन्यासों में हास्य और व्यंग्य का सहारा लिया है। इस दृष्टि से उनके 'हार्थी के दांत' और 'जंगल' अद्भुत उपन्यास हैं जिनमें हास्य और व्यंग्य की मिली जुली धारा प्रवाहित हुई है। इन उपन्यासों की पंक्ति–पंक्ति व्यवस्था की परतों को निर्ममता से उद्घाटित करती है– जंगल उपन्यास में अमृतराय ने राजेश्वर दयाल के माध्यम से सामाजिक एवं सामन्ती विकृतियों पर तीखा व्यंग्य किया है। राजेश्वर के माध्यम से अमृतराय आज के नेताओं के निर्मम व्यवहार पर तीखा व्यंग्य करते हुए कहते हैं–"आबादी घटाने के अब तक दो ही तरीके दुनिया को मालूम है– जो फिलहाल, उनको मारो और नयों को पैदा मत होने दो। अपने बड़े लोग इस वक्त पूरे जी–जान से इसी चीज में लगे हैं और इसलिए लगे है कि वह हिन्दुस्तान की बेहतरी चाहते है। करोड़ों लोग भूखों मरें, इससे अच्छा है कि करोड़ों लोग बिल्कुल मर जायँ और जो सौ पचास लोग बचे वह अच्छी तरह खायें–पिये, आराम से रहें, अच्छी–अच्छी बाते करें देश की चौतरफा उन्नति करें और एक बार फिर हिन्दुस्तान का डंका दुनिया में बजा दें।"[1] सेठों और पूँजीपतियों के दोहरे–चरित्र पर व्यंग्य करते हुए राजेश्वर दयाल कहता है– "राजों–नवाबों खानदानी रईसों की हैसियत जिस तरह इस बात से नापी जाती है कि उसने अपनी जिन्दगी में कितनी बार दीवाला निकाला है"[2] वैलेटिना तेरेश्कोवा द्वारा अपने पुरूषों साथियों के साथ चन्द्रमा की साहसिक यात्रा करने पर कम्युनिस्टों द्वारा की जा रही प्रसंशा पर व्यंग्य करते हुए राजेश्वर दयाल कहता है– "बड़ा हड़वांग मचाया साहब मेरे कुछ कम्युनिस्ट दोस्तों ने जब उस रोज रूस की वह ढीठ औरते वैलेटिना तेरेश्कोवा पता नहीं के दिन–रात मर्दो के साथ राम जाने कहाँ किस आसमान का चक्कर लगाती फिरी, जहाँ आदमी न आदमजाद, बस यह एक लड़की और तीन मर्द एक कोठरी में बन्द ..... आखिरी वहीं हुआ जो होना था। जमीन पर लौटकर आने के कुछ रोज बाद, उन्हीं तीनों में से एक के साथ उसकी शादी हो गयी। कहने को वह चांद के सफर की तैयारी थी मगर सच पूछों तो इन लोगों का शादी के पहले का हनीमून था।"[3] पूंजीवादी व्यवस्था में व्यक्ति नितान्त व्यक्तिवादी एवं स्वार्थी होता जा रहा है। समाज के प्रत्येक वर्ग के नैतिक मूल्यों में लगातार ह्रास हो रहा है। डाक्टर जिसे भगवान का दूसरा अवतार स्वीकार किया गया है। इस पूंजीवादी व्यवस्था में वह भी अपने पवित्र कर्मों से व्युत हो गया है। वह अपने व्यवसाय को पैसे की तुला पर तौलने लगा है। डाक्टरों के इसी विकृत स्वरूप पर व्यंग्य करते हुए राजेश्वर दयाल कहता है– "डाक्टर चाहे गरीब आदमी का डाक्टर और चाहे सेठ महाजन का डाक्टर, कभी किसी का निरोग बतला ही नहीं सकता और कैसे बतलायें? रोग बतलानेके लिए ही तो वह बैठा है, वर्ना बैठा और किसलिए है। वहीं कुर्सीवाली बात, जिसके चलते मैंने अमलबोस का स्टिक्रप्ट रंग दिया। जहाँ सीधी आँख से उसको रोग नहीं दिखाई देगा। वहाँ खुर्दबीन लगाकर वह कोई न कोई रोग तो पकड़ ही लेगा। अर्जुन और भीम भी डॉक्टर के यहाँ पहुँच जायँ तो एक सर्वनाशी बिमारी का पूर्जा लेकर लौटे।"[4] राजेश्वर दयाल सेठ राधा किसन जैसे सेठों का बड़ा ही हास्यपूर्ण चित्र प्रस्तुत करता हैं, जो शारीरिक श्रम के नाम के नाम पर कुछ भी नहीं करते हैं। केवल गद्दी पर बैठकर गरीब और अबोध जनता के शोषण करने से उनका शरीर कितना शिथिल हो गया है, उसका एक दृश्य राजेश्वर दयाल इस प्रकार प्रस्तुत करता है– "गाड़ी चलते ही सेठ जी तोद हिलने लगी, और तोंद हिलते ही नींद आने लगी। बैठे–बैठे पहले थोड़ी जम्हाइयाँ और झपकियाँ लेने लगे। उखड़ी हुई तबीयत को संभालने क लिए नींद से अच्छी कोई चीज नहीं मगर तोंद के हिलने और नींद का ऐसा सम्बन्ध मेरे देखने में पहले नहीं आया था।"[5] राजेश्वर के माध्यम ये लेखक ने धार्मिक कठमुल्लों का यर्थाथ उद्घाटित किया है। उनके ढोंगी व्यक्तित्व से ठगे जा रहे धार्मिक अनुयायियों पर व्यंग्य करते हुए राजेश्वर दयाल कहता है– "हमारे प्राचीन ऋषियों ने इस चीज को देख लिया था और कहा कि इस मुर्दा मिट्टी के ऊपर से उठकर उस ऊर्ध्वलोक में पहुँचना चाहते हो तो पहले इस संज्ञा को मारना होगा

जिसने तुम्हारे पैरों को इस धरती के कदम से बांध रखा है इसलिए वे सोमरस पीते थे, भाँग–धतूरा खाते थे, गांजा का दम लगाते थे। पश्चिम के पास यह अन्तर्दृष्टि कहाँ! वह तो पोप की झोली में अशर्फिया डाल–डालकर स्वर्ग में अपनी सीट रिजर्व कराते रहे और सदियों वह पोप उन्हें इसी तरह ठगता रहा और भेड़–बकरियों की तरह उसके पीछे यहाँ वहाँ निषेधों की घ ाटी में फिरते रहे।''[6]

'हाथी के दांत' उपन्यास में लेखक ने सामन्ती मनोवृत्ति और भ्रष्ट सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था के यथार्थ स्वरूप को उद्घाटित करने के लिए भी व्यंग्य का सहारा लिया है। स्वामी परमानन्द जैसे विलासी मनोवृत्ति के लोगों की जीवन शैली के वास्तविक पक्ष के उद्घाटन में लेखन ने व्यंग्य का माध्यम अख्यितार किया है। उनके व्यक्तिगत जीवन का विश्लेषण करते हुए उपन्यासकार कहता है– ''स्वामी जी को कुल मिलाकर चौदह संतानें हुई जिनमें पाँच का तो कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, भगवान ने उठा लिया और नौ जीवित थी। इन नौ में सबसे बड़े कन्हैया जी थे जिनकी उम्र इस समय छत्तीस–सैंतीस की होगी और सबसे छोटी कन्या थी मीनाक्षी जो अभी साल भर की नहीं हुई थीं सन्तानों की यह तगड़ी फसल परमानन्द को एक ही खेत से नहीं प्राप्त हुई थी। उन्होंने अब तक पाँच ब्याह किये थे और उनकी वर्तमान पत्नी सुकेशी अभी केवल चौबीस वर्ष की थी और उनकी बड़ी लड़की शकुन्तला से ज्यादा नहीं आठ साल छोटी थी।''[7] जनता की भावना और संवेदना को ठगकर विधान सभा में पहुँचे भारतीय राजनेताओं की निष्क्रिय कार्य–पद्धति पर व्यंग्य करते हुए अमृत राय कहते है– 'नींद मालूम हुई तो ऊँघ लिये और भी ज्यादा नींद मालूम हुई तो उठकर विश्राम कक्ष में आ गये और अच्छी तरह टाँग फैलाकर सोये। यहाँ हर बात का आराम है। कदाचित् इसलिए धारा–सभा की सीटों को इन सम्मानित राजपुरूषों का भार अधिक नहीं वहन करना पड़ता है। असल भारवाही पशु विश्राम–कक्ष का वह कमरे भर में फैला हुआ विराट तख्त है जिस पर मोटा–सा गद्दा रहता है।''[8] घ ारा–सभा में बहस के दौरान पैसे के बल पर जीत कर गये भारतीय राजनेताओं की राजनीतिक अज्ञानता के वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित करते लेखक कहता है–'' जो थोड़ी सी मूतियाँ सभा भवन में दिखाई दे रही थीं उनके बारे में भी यह सोचना भूल होगी कि वे वहाँ उपस्थित है। क्योंकि सच बात यह है कि केवल उनकी लाश वहाँ पर है, वे कहीं स्वप्न लोक में है। उनकी आँखें अगर मूंदी हुई तो किसी गम्भीर चिन्तन में नहीं तन्द्रा के मारे जो बीच–बीच में हिल जाता है वह भी तन्द्रा में न कि किसी बात की दाद देने के लिए।

ये सब लोग छोटे–मोटे नेपोलियन हैं जो लड़ाई के मैदान में घोड़े की पीठ पर सोने का अभ्यास कर रहे है। बस कुर्सियाँ जाग रही है क्योंकि वे नेपो. लियन नहीं है।''[9]

'बीज' उपन्यास में व्यंग्य उतना धारदार नहीं है जितना कि वह 'हाथी के दांत' और 'जंगल' में द्रष्टव्य है। लेकिन तथाकथित कांग्रेसी नेताओं तथा पुलिस प्रशासन के मूर्खतापूर्ण व्यवहार के वास्तविक स्वरूप के उद्घाटन में लेखन ने व्यंग्य का सहारा लिया है। स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान कुछ कांग्रेसी नेता जनता के समक्ष अपनी देश–भक्ति प्रदर्शित करते हैं, लेकिन वास्तव में ब्रिटिश सरकार की दलाली करते थे। इस तरह के दोहरे व्यक्तित्व वाले कांग्रसियों के यथार्थ को उद्घाटित करते हुए लेखक कहता है– ''व्यक्तिगत सत्याग्रह का ध्यान आता तो उसके साथ उन कांग्रेसी नेताओं का ध्यान आये बिना न रहता जो मजिस्ट्रेट को टेलीफोन करके कि मै घर पर हूँ आप आ कर मुझे गिरफ्तार कर लीजिए और मजे में गले में जयमाल पहनकर पान चबाते हुए मन ही मन अपने आपको बड़ा क्रान्तिकारी समझाते हुए इत्मीनान के साथ पुलिस की वैन वर्मा अक्सर मजिस्ट्रेट की निजि कार में बैठकर कृष्ण मन्दिर का रास्ते लेते है।''[10] समाजवादी एवं क्रान्तिकारी गतिविधियों में सक्रिय रहने के कारण ब्रिटिश सरकार प्रफुल्ल बाबू के परिवार को अपनी काली सूची में रखती है और प्रायः उनके घर की तलाशी लिया करती है प्रफुल्ल बाबू के घर की तलाशी ले रही पुलिस प्रशासन के मूर्खतापूर्ण व्यवहार का बड़ा की व्यंग्यात्मक चित्र लेखक ने प्रस्तुत किया है– ''वर्ना यह भी कोई पुलिस इन्. सपेक्टर का काम है? किसी कत्ल के सिलसिले में किसी वैश्या के घर में छापा मारना हो, किसी बदनाम जुए के अड्डे पर छापा मारना हो, किसी को थाने पर बुलाकर मुर्गा बनाना हो, एक मिनट में एक सौ बीस गालियों की अपनी बातचीत की माला के गुँथना हो, रिक्शेवालो की मॉ बहन को याद करना हो किसी से रिश्वत की मोटी रकम उड़ानी हो–ये है असल काम पुलिस इन्सपेक्टर के और किसी को अगर देखना ही है तो इसमें उसके कमाल को देखें। यह क्या फिजुल की असलेट लग गयी। इन्सपेक्टर साहब अलग रोते हैं अपनी किस्मत को और किताबें भी अलग रोती होगी अपनी किस्मत को, कि किस जानवर के पल्ले पड़ी।''[11]

सुख–दुख जैसी गहरी संवेदना वाला उपन्यास भी लेखक के व्यंग्य के समूचे

पैनेपन को स्पष्ट करता है। गहरी पीड़ा और अवसाद के बीच उभरने वाला यह भी व्यंग्य बहुत मार्मिक और प्रभावशाली है। गिरीश के पुत्र हरीश की शादी में सरीक–बाराजियों के शरारती व्यवहार पर लेखक ने गिरिश पर लेखक के माध्यम से तीखा व्यंग्य किया है– ''सिन्हा साहब आसानी से किसी को ऐसा सर्टीफिकेट देने वाले आदमी नहीं है। मगर वहीं क्यों हमारे साथ तो एक से एक घाघ बाराती थी, घाट–घाट का पानी पिये हुए, जिन्हें खुश करना ब्रह्मा के बस की भी बात नहीं। उनका काम ही है बारात में जाना और लड़की वालों के नाक में दम करना। उन्हें कोई भला कभी खुश कर सकता है। लाख जतन करो मगर एक न एक शिकायत उन्हें रही जाती है। खाना बड़ा फटीचर था या मिठाई सड़ी हुयी थी। चाय वक्त पर नहीं मिली और जब मिठी ठंडी मिली, या फिर इतनी गर्म की ऑवले पड़ जाये मुँह में। सजावट दो कौड़ी की थी या बैंड न मारा बहरा कर दिया.....।''[12]

'भटियाली' उपन्यास में अमृत राय ने समाज पर तीखा व्यंग्य किया है। शहर में रहने वाले लोगों के यथार्थ को उद्घाटित करते हुए लेखक कहता है ''शहर जितना ही बड़ा हो उतना ही निर्वैयक्तिक हो जाता है, किसी को काई मतलब नहीं होता, हर आदमी भीड़ में है और अकेला है और अपने काम से काम रखता है। छोटे शहर में हर आदमी के पैजामें में अपनी टांग घुसेड़े रहता है। हर आदमी के घर के भीतर झांक रहा होता है''[13] होमियोपैथी डॉक्टरों के मूर्खतापूर्ण इलाज पर व्यंग्य करते हुए लेखक कहता है। '' ख्याल यह था कि होम्योपैथी की मीठी गोलियाँ बॉटते होंगे, वहीं एक सिस्टम है जिसमें विधिवत ट्रेनिंग की जरूरत नहीं पड़ती, एक मेटीरिया मेडिका और दवाइयों का एक बॉक्स लेकर कोई भी डॉ0 बन सकता है।''[14]

''नागफनी का देश' उपन्यास में पारिवारिक त्रासदी पर व्यंग्य किया गया है। धुऑ में मार्क्सवादी विचारधारा के खोखलेपन, सत्ताधारी वर्ग और सुविधा भोगी वर्ग, जीवन की त्रासद स्थितियों पर तीखा, व्यंग्य किया गया है। समग्रतः समाज के सामाजिक एवं राजनैतिक अन्तर्विरोधी सामन्तों एवं पूँजीपतियों के यथार्थ स्वरूप के उद्घाटन में अमृतराय का व्यंग्य बहुत सफल हुआ है।

संदर्भ :

1–जंगल–अमृतराय– पृ0सं013

2–जंगल–अमृतराय पृ0सं025

3–जंगल–अमृतराय पृ0सं067

4–जंगल–अमृतराय पृ0सं0211

5–जंगल–अमृतराय पृ0सं0220

6–जंगल–अमृतराय पृ0सं084

7–हाथी के दांत–अमृतराय पृ0सं086

8–हाथी के दॉत–अमृतराय पृ0सं047

9–हाथी के दांत–अमृतराय पृ0सं060

10–बीज–अमृतराय पृ0सं023

11–बीज–अमृतराय पृ0सं0181

12–सुख–दुःख–अमृतराय पृ0सं08

13–भटिययाली–अमृतराय पृ0सं011

14–भटित्यायी–अमृतराय पृ0सं052–53

*****

तिलक युग की महिला पत्रकारिता (1900-1920)

-डॉ. समर विजय
अतिथि प्रवक्ता
NCWEB
दिल्ली विश्वविद्यालय

'दि ओरियन'(1893), 'दि आर्कटिक होम इन दी वेदाज' (1903), 'गीता- रहस्य' (1915) के लेखक साथ ही 'केसरी' और 'मराठा' के संपादक बालगंगाधर तिलक एक प्रखर राष्ट्रवादी थे। वे स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा और स्वराज के प्रबल समर्थक और भारत के राजनीतिक स्वतंत्रता के आग्रही थे। ध्यातव्य है कि तत्कालीन भारत अंग्रेजों का उपनिवेश था, और इस उपनिवेश से मुक्ति हेतु भारत में दो धाराएँ चलायमान थीं, पहली धारा समाज- सुधार के बल पर भारत का उद्धार करना चाहती थी वही दूसरी धारा राजनीतिक स्वतंत्रता को महत्वपूर्ण मानती थी। तिलक दूसरी धारा के राहगीर थे, राजनीतिक स्वतंत्रता उनका मुख्य ध्येय था। वे भारत के निर्माण में अंग्रेजियत का पुट बिल्कुल नहीं चाहते थे। वे भारत का निर्माण भारतीयता को केंद्र में रखकर करना चाहते थे। उनका मानना था कि भारतीय प्रथाओं में जो श्रेष्ठ है उसके आधार पर राष्ट्र का उत्थान हो, भारत की प्रगति हो। 1900 से 1920 के कालखंड में तिलक भारतीय मानचित्र पर छाए रहे। यह कहना गलत नहीं होगा कि राजनीतिक स्वतंत्रता के पक्षधर तिलक समाज सुधार के विरोधी नहीं थे अपितु वे शिक्षा के प्रबल समर्थक थे, उन्हें भारतीय समाज और उसकी स्थितियों का ज्ञान था,इस समाज की महिलाओं की दयनीय दशा का भी उन्हें भान था।

भारतीय समाज में महिलाओं की दयनीय दशा को देखते हुए तिलक ने कुछ प्रस्ताव 1889 में पूना के तुलसी बाग़ में आयोजित सभा के सम्मुख प्रस्तुत किया था, जिसके अनुसार "1. लड़की की शादी सोलहवें वर्ष से पहले न हो, 2. लड़के की शादी बीस वर्ष से पहले न हो, 3. चालीस वर्षों के बाद पुरुष का विवाह न हो, यदि हो तो विधवा के साथ, 4. शराबबंदी हो, 5. दहेज़ प्रथा बंद की जाए, 6. निजी धन का दसवाँ भाग सामाजिक कार्यों में दिया जाए, 7. विधवा का मुंडन न हो।"[1] सुधारों के ये प्रस्ताव अपने आप में प्रगतिशील विचार थे। तिलक के ये विचार अगर सर्वमान्य हो जाते तो भारत की तस्वीर में बदलाव अवश्य हो जाता।

महिला पत्रकारिता जिसके चिंता और चिंतन के केंद्र में महिलाओं का सर्वांगीण विकास होता है, इसका सूत्रपात 1874 ई. में भारतेंदु द्वारा प्रकाशित 'बालाबोधिनी' से हुआ। तिलक युग तक आते- आते इसके प्रभाव में वृद्धि होने लगी और एक क्रमबद्ध महिला पत्रकारिता की शुरुआत हो गयी। इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि तिलक युग की महिला पत्रकारिता पर तिलक के विचारों का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस काल की महिला पत्रकारिता शिक्षा, स्वराज, स्वदेशी, समाज सुधार के लक्ष्यों से अनुप्राणित थी। यह सच्चाई है कि औपनिवेशिक भारत में महिलाओं की दशा चिंतनीय थी। भारतीय समाज में महिलाओं को 'मनुष्योचित स्थान' दिलाने को महिला पत्रकारिता कटिबद्ध थी। इस युग की प्रमुख पत्रिकाओं में ***'भारत- भगिनी'***, ***पांचाल- पंडिता'***, ***स्त्री- दर्पण'***, ***'गृहलक्ष्मी'***, '***स्त्री- धर्म- शिक्षक'***, ***अबला- हितकारक, आर्य- महिला*** आदि महिला पत्रिकाओं का उल्लेख किया जा सकता है।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध का काल भारतीय इतिहास में नवजागरण का काल है। यह वही काल है जब भारतीय मनीषियों ने भारत के समाज सुधार के निमित्त अपने प्रयासों को विस्तार दिया। भारतीय मनीषियों ने भारतीय समाज के गलित रूढ़ियों को पहचान कर उसको समाज से उन्मूलन के प्रयास में लग गए। समाज को स्वच्छ और प्रांजल बनाना अब सुधारकों का लक्ष्य बन चुका था। इस समाज- सुधार के लक्ष्य में स्त्रियों की दयनीय स्थिति की

ओर भी समाज- सुधारकों की दृष्टि गयी। बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में भारत में मध्य वर्ग का उदय हुआ। इस संक्रमणकालीन दौर में मध्य वर्ग जो कि भारतीय संस्कृति से तो जुड़ा हुआ था ही परंतु कुछ नया सीखने का प्रबल आग्रही था। इस मध्य वर्ग में शिक्षा का व्यापक प्रचार- प्रसार हुआ, और यही से भारतीय समाज में जागरूकता के व्यापक प्रयास भी होने लगे। स्त्रियों की दयनीय स्थिति के परिवर्तन के निमित्त तो प्रयास उन्नीसवीं सदी में प्रारम्भ हुए थे, शनैः- शनैः इसने नारी- आंदोलन का रूप अख्तियार कर लिया। इस दौर में स्त्रियाँ अपने दशा में सुधार हेतु स्वयं लामबंद होने लगी। महिलाओं के अखिल भारतीय स्तर पर संगठन के निर्माण होने लगे। 1910 ई. में 'भारत स्त्री महामंडल' अस्तित्व में आया, हालांकि इसे विशेष सफलता नहीं मिल पायी। तत्पश्चात 1917 ई. में एनी बेसेंट के उद्योग से 'विमेंस इंडियन एसोसिएशन' का गठन हुआ, जो स्त्रियों के अधिकारों के लिए कार्य करती थी। रामेश्वरी नेहरु के प्रयत्नों से हिंदी पट्टी में 'प्रयाग महिला समिति' का गठन हुआ। बीसवीं सदी के आरंभिक दो दशकों का महत्त्व इस बात में भी है कि महिलाओं ने 'संघर्ष के भीतर संघर्ष' के लिए अपने आप को तैयार करने की कवायद तेज कर दिया था। ध्यातव्य है कि उस दौर में महिलाओं के भी दो वर्ग थे- शिक्षित और अशिक्षित। शिक्षित महिलाओं ने नारी- जागरण का कार्य अपने हाथों में लिया, और महिला उद्धार का शंखनाद कर दिया। नारी- जागरण का मुख्य शस्त्र बना पत्रकारिता। इस दौर में महिला पत्रिकाओं की संख्या में वृद्धि आई। महिला- पत्रकारिता ने समाज में स्त्रियों की दशा को पहचानकर उनके उद्धार हेतु प्रवृत्त हुईं। महिलाओं के शिक्षा के प्रति विशेष आग्रह रखने वाली ये पत्रिकाएँ बाल- विवाह, अनमेल विवाह, दहेज़- प्रथा, जाति- प्रथा, विधवा की समस्या, परदा- प्रथा के साथ- साथ महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी तथा आर्थिक स्थिति पर भी धारदार लेखनी चलायी।

स्त्री- शिक्षा

अबला- हितकारक के फरवरी- मार्च 1913 के अंक में एक आंकड़ा छपा है, इस आंकड़े के अनुसार तत्कालीन समय में ब्रिटेन में 18 विश्वविद्यालय थे, अमेरिका में 134, फ्रांस में 15, जर्मनी में 22 तथा इटली में 21। दिए गए आंकडे के हिसाब से इन पाँच देशों की कुल जनसंख्या(उस दौर में) 248583321 थी। यानी 25 करोड़ और वहाँ सम्मिलित रूप से 210 विश्वविद्यालय थे, वही दूसरी ओर भारत की जनसंख्या 31 करोड़ थी और यहाँ पर मात्र पाँच विश्वविद्यालय ही थे, इससे भारत में शिक्षा की दयनीय स्थिति का पता चलता है।

इस दौर में भारतीय समाज में स्त्री- शिक्षा को लेकर जागरूकता देखने को मिलती है। पर यहाँ पर एक विवाद उभरकर सामने आता है कि स्त्री- शिक्षा का स्वरुप कैसा हो। इस प्रश्न को लेकर भारतीय बुद्धिजीवियों में पर्याप्त मतभेद देखने को मिल जाते हैं। स्त्री- धर्म- शिक्षक के जून 1916 के अंक में 'स्त्रियों की आवश्यक शिक्षा' नामक लेख छपा। इस लेख के हवाले से बात की जाए तो लेखक ने स्त्री- शिक्षा की डगर क्या होगी इस पर प्रकाश डाला है। लेखक ने कुछ प्रश्न उठाए हैं, जैसे कि क्या स्त्रियों को पाश्चात्य शिक्षा देकर उच्च- शिक्षा के माध्यम से वकील, डॉक्टर, इंस्पेक्टर आदि बनाया जाए या फिर उन्हें स्त्रियोचित शिक्षा देकर आदर्श गृहिणी और माता बनाया जाए। लेखक ने स्त्री- शिक्षा पर अपने विचार कुछ इस प्रकार से व्यक्त किये हैं "पुरुषों के तुल्य स्त्रियाँ बनाने से समाज की रोचकता नष्ट हो जायेगी, क्योंकि प्रकृति ने प्रायः समस्त बातों में स्त्रियों पुरुष कौटिगत गुणों से कुछ न्यून ही रखा है। अतः प्रकृति के अनुकूल उस न्यूनता को दूर करने करने में व्यर्थ प्रयत्न मत करो। शारीरिक, मानसिक आदि सभी बातों में वे अनादिकाल से पुरुषों की अपेक्षा पीछे ही रही हैं, आगे नहीं बढ़ी और उनका आगे न बढ़ना ही समाज के कल्याण का हेतु है।.....यह निर्विवाद है कि स्त्रियों को ऐसी शिक्षा दी जाए, जिसके द्वारा वे अपने गृह- प्रबंधन में दक्ष होकर संसार की पुरुष- स्त्री रुपी जीवन गाड़ी को संसार पथ से सफलतापूर्वक खींच कर पार लगा दे।"[2] इसी लेख में लेखक

ने स्त्रियों को क्या पढना और क्या पढ़ाना चाहिए यह भी बताया है, उनके अनुसार स्त्रियों को मातृभाषा के धर्मग्रन्थ, घर के आय- व्यय का का हिसाब और मितव्ययता की शिक्षा, संस्कार देने वाली शिक्षा, गृहप्रबंधन विज्ञान, शिशु-रक्षा – शिक्षा आद्यन्त आदि पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए।

इस लेख के आधार पर बात की जाए तो इस लेख से लेखक की पुरुषसत्तात्मक मानसिकता की स्पष्ट झलक मिलती है। लेखक के अनुसार स्त्रियों को शिक्षा दो परंतु घरेलू वस्तुओं की। ऐसी शिक्षा जिससे उनका दायरा घर और शिशुपालन तक ही सीमित होकर रह जाए। मातृत्त्व स्त्रियों का विशेष गुण है और यह गुण इनको महान भी बनाता है, परंतु ऐसी शिक्षा का क्या लाभ जिससे उनका दायरा घर तक ही सिमट कर रह जाए। स्त्री- शिक्षा से संबंधित स्त्री- दर्पण के दिसम्बर 1917 में रामेश्वरी नेहरु का लेख छपा जिसका शीर्षक था 'स्त्री- शिक्षा की आवश्यकता'। इस लेख में लेखिका ने स्त्री- शिक्षा संबंधित अपने विचार कुछ इस प्रकार रखे "स्त्री की शिक्षा इन लक्ष्यों को सामने रखकर होनी चाहिए- प्रथम मनुष्यत्व, द्वितीय स्त्रीत्व। स्त्री केवल स्त्री ही नहीं है, वह स्त्री होने से पूर्व मनुष्य है, अर्थात् मानव समाज का एक अंग है। इसलिए उसकी शिक्षा उसके इस पद के उपयुक्त होनी चाहिए। बालपन से उसके सिर में यह भरने के बदले कि वह स्त्री है, इस बात का उद्योग होना चाहिए वह इस बात को भूल जाए कि वह स्त्री है, और केवल इसी बात को याद रखे कि वह मनुष्य है- मानव समाज का एक अंग है। उसमें इस बात की शक्ति पैदा करनी चाहिए कि वह अपने इस पद को स्वतंत्र रूप से निभा सके; अपने देश, अपने समाज, समस्त संसार के प्रति मनुष्य का जो कर्त्तव्य है, उसको पूर्ण रूप से पालन कर सके; समाज पर एक भार स्वरुप होकर उसको नीचे गिरानेवाली नहीं, परंतु उसको ऊपर उठानेवाली बने। ऐसी शिक्षा के लिए आवश्यक है कि ज्ञान- विज्ञान के द्वार बिना संकोच के उसके सामने खोल दिए जाएँ। जिस स्त्री की जितनी मानसिक शक्ति हो, उसके अनुसार बिना रोक- टोक के उसको मनुष्योचित शिक्षा ग्रहण करने में सहयता दी जाए, सामाजिक बंधन उसको अपनी ज्ञान- पिपासा के बुझाने में कहीं पर भी रोक न सकें।"[3]

इस दौर के महिला पत्रिकाओं में जितने भी स्त्री-शिक्षा संबंधी लेख देखने को मिलते हैं, उनमे यह बात तो द्रष्टव्य है कि सभी ने स्त्रियों की शिक्षा की वकालत की है। परंतु इस वकालत के साथ- साथ महिलाओं को क्या पढाया जाए इस पर सभी के विचार भिन्न- भिन्न हैं। अधिकांश पुरुष लेखकों ने स्त्री- शिक्षा को गृहप्रबंधन और शिशु पालन तक ही सीमित रखने का प्रयास किया है। कुछ तो स्त्रियों को देवी बनाने के पक्ष में खड़े दीखते हैं, उनके अनुसार स्त्रियों को धर्मग्रंथों तक ही सीमित रखना चाहिए, और सामने सीता, सावित्री आदि महिलाओं का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। दूसरी ओर स्त्री लेखिकाओं ने स्त्रियों के लिए व्यापक फलक की हिमायती हैं। उनका मानना है, स्त्रियों की शिक्षा पुरुषों से किसी भी तरह से कम नहीं होनी चाहिए। अगर स्त्री मानसिक रूप से उच्च शिक्षा के योग्य है तो उसे उच्च शिक्षा मिलनी चाहिए। यहाँ ध्यातव्य है कि तत्कालीन समाज एक बंद समाज था, स्त्रियों को यह समाज बोझ ही मानता था। स्त्रियों को 'पराए घर का कूड़ा' समझा जाता था। वह समाज स्त्रियों को उतनी ही शिक्षा देने का हिमायती था जिससे स्त्रियाँ घर की देखभाल तथा शिशु पालन ठीक से कर सकें। महिला पत्रकारिता की महिला विदुषियों ने इसी चलन के खिलाफ हल्ला बोला तथा स्त्रियों की उच्च शिक्षा हेतु अपना स्वर बुलंद किया।

विधवा-समस्या

उस दौर में समाज में विधवाओं की स्थिति भयावह थी। उन्हें समाज के मुख्यधारा से अलग हटकर एक साध्वी की भांति जीवन- यापन करना पड़ता था। अबला-हितकारक के अप्रैल 1912 के अंक में 'हा! ईश्वर।।' शीर्षक एक निवेदन प्रकाशित हुआ है, जिसके लेखिका के रूप में 'एक दुखी विधवा' का नाम छपा है। इस निवेदन के माध्यम से विधवाओं की पीड़ा अभिव्यक्त हुई है। इस निवेदन में लिखा है कि "हाय, हा? ईश्वर अब हम कहाँ जायें, किससे

अपना हाल कहें, हमारी कौन सुनेगा।। हे परमात्मन हम अबला अनाथ मझधार में डूब रही हैं। चारों तरफ अंधकारमय दीख पड़ता है। हे सर्व शक्तिमान प्रथम की तरह किसी वीर को प्रेरणा करो जो हमारा सभी दुःख दूर हो जावे।.....ऐ! भारतवासियों ऐ ! आर्य संतान कहलाने का दावा रखने वालों तनिक हमारी तरफ भी देखो हम भी उन्हीं महर्षियों की संतान हैं जिनकी संतान होने का तुम्हें घमंड है, फिर क्या कारण है कि हमारी सुधाई नहीं होती।"[4]

कहने का आशय है कि तत्कालीन भारतीय समाज में विवाह संस्था स्त्रियों के अत्याचार का माध्यम बन गया था। विवाह के नाम पर स्त्रियों पर तमाम तरह के अत्याचार हो रहे थे, जैसा कि इन लेखों से स्पष्ट भी होता है। समाज का एक वर्ग इस विवाह संस्था का विरोधी था, उनका मत था कि स्त्रियाँ स्वावलंबी बने तथा स्वतंत्रता की आकांक्षी हों। विवाह संस्था से कटाव और स्वावलंबन का यह भाव नारीवाद का प्रथम सोपान के रूप में देखा जाना चाहिए, जो बाद के वर्षों में यह विचारधारा नारीवाद के प्रमुख विशेषता के रूप में परिणत हुई। महिला पत्रिकाओं के विभिन्न अंकों के विभिन्न लेखों से यह ज्ञात होता है कि विधवा- विवाह के हिमायती कुछ लोग थे, परंतु उनकी संख्या बहुत थोड़ी थी। अधिकतर लोगों का यह मानना था कि विधवाओं को उनकी दयनीय स्थितियों से उबारा जाए तथा उनके सुगमतापूर्वक जीवन निर्वहन हेतु विधवाश्रमों की व्यवस्था की जाए। अगर स्त्रियों के मंतव्यों को देखा जाए तो यहाँ भी विधवा पुनर्विवाह को लेकर मतभेद ही देखने को मिलता है, स्त्रियाँ स्वयं भी विधवा पुनर्विवाह की हिमायती नहीं हैं, उनका मत है कि स्त्रियाँ सामाजिक कार्यों में लगें। विधवाश्रमों में रहकर अपना जीवन यापन करें। दूसरा वर्ग ये मानता है कि पुनर्विवाह से जीवन बदल जायेगा ऐसा कुछ निश्चित नहीं है। इसीलिए स्त्रियों को स्वतंत्र और स्वावलंबी बनने की ओर बढ़ना चाहिए।

बाल- विवाह

तत्कालीन समाज अगर अशिक्षा, बिधवा- समस्या, महिला- स्वास्थ्य आदि समस्याओं से ग्रस्त था तो उसके मूल में बाल- विवाह एक मजबूत कारण के रूप में देखा जा सकता है। अल्पायु में स्त्रियों और पुरुषों का विवाह कतई तर्कसंगत नहीं है। बाल- विवाह के कारण ही स्त्रियों में अशिक्षा का प्रसार हुआ। शारीरिक और मानसिक रूप से एक जहालत भरी ज़िन्दगी के लिए स्त्रियाँ अभिशप्त हुई। कारण कि समाज की मानसिकता यह बनी हुई थी कि स्त्रियाँ तो 'पराए घर की कूड़ा' हैं, और समाज की यही मानसिकता स्त्रियों में अशिक्षा और बालपन में ही विवाह के मुख्य कारण जान पड़ते हैं। स्त्री- दर्पण के मई 1920 के अंक में विद्यावती खन्ना के लेख 'बाल- विवाह और उससे जाति की हानियाँ' के हवाले से बात की जाए तो "आज हमारे देश में 10507 विवाहित कन्याएं हैं जिनकी आयु एक वर्ष से कम है और जो अभी माता का दूध पीती हैं। चार वर्ष की आयु की कन्याओं की संख्या 2,58,760 है और पाँच से नौ वर्ष की उम्र की विवाहिता कन्याओं की संख्या 2,21,404 है और 10 से 14 वर्ष वालियों की संख्या 60,16,759 है।"[5] बाल- विवाहित स्त्रियों की यह संख्या चिंताजनक है।

सती- प्रथा

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में सती- प्रथा का भारतीय समाज में अंदर तक पैठ था। जैसा कि आनंद वाई. यांग ने मुखोपाध्याय की पुस्तक 'सती इन बंगाल' से उद्धरण लिया है, इस उद्धरण के अनुसार "1815 से से 1824 के इस दस वर्षों की अवधि में बंगाल, बम्बई और मद्रास के सूबों में सम्मिलित रूप से 6,632 सती के मामले दर्ज किए गए, जिसमें 5,997 मामले केवल बंगाल के थे।"[6] सरकार 33 इन्हीं घटनाओं को संज्ञान में लेते हुए भारत के गवर्नर जनरल लॉर्ड विलियम बेंटिक ने 4 दिसम्बर 1829 को बंगाल में सती- प्रथा पर प्रतिबंध लगा दिया, यह प्रतिबंध धीरे- धीरे भारत के अन्य सूबों में भी लागू कर दिया गया। इस प्रतिबंध के बावजूद भी भारतीय समाज की घटनाएँ सुनाई पद जाती थीं, कारण कि भारतीय समाज की बनावट और बुनावट कुछ इस प्रकार की है जिसमे सती स्त्रियों को बहुत महत्त्व दिया गया है। महिला- पत्रकारिता में सतियों के

महत्त्व का पता स्त्री- दर्पण के मई- जून 1919 के अंक में प्रकाशित लेख 'सतीधर्म' से चलता है। इस लेख में सतीत्व का गुणगान कुछ ऐसे हुआ है "सती का कैसा उच्च सम्मान है। सती का कैसा गौरव और उसकी कैसी निर्मल बड़ाई है। सचमुच सतीत्व कोहनूर से भी अधिक मूल्यवान और अमृत से भी अधिक स्वादिष्ट है। आर्य महिलाएं बराबर इस धन की अधिकारिणी रह कर राज- राजेश्वरियों से भी अधिक सुख सौभाग्य भोगा करें, यह जगत दैवी ज्ञान से उनके पवित्र चरणों पर प्रणाम करता रहे, और उन पर भक्ति प्रीति की कुसुमंजलि चढ़ाता हुआ सती और सतीत्व की गौरव कथा गला- फाड़कर मुक्त कंठ से – घोषित करता हुआ। कृतार्थ होता रहे।"[7]

हालांकि इन महिला पत्रिकाओं में सतीत्व का गुणगान अधिक मिलता है, बजाए कि इस कुरीति के विरोध के। कानूनन रूप से सती- प्रथा पर प्रतिबंध था, परंतु यह प्रथा प्रचलन में थी, कम अनुपात में ही सही। महिला-पत्रिकाएँ सतियों के महिमा-मंडन वाली घटनाएँ प्रकाशित करके इस प्रथा को प्रचारित करने का कार्य ही कर रही थी, उनकी नियत ऐसी नहीं हो पर परोक्षतः ऐसा हो रहा था। पति के मृत्यु के पश्चात् आत्मघात करना कहीं से भी सराहनीय कदम नहीं है, उसके बाद भी जीवन है, ऐसी बातें इन पत्रिकाओं में आनी चाहिए थी, परंतु विरले ही आई है|

भारतीय राजनीति से महिलाओं का क्रमबद्ध रूप में जुड़ाव बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों से स्पष्ट रूप में परिलक्षित होता है। इस काल में भारतीय राजनीति में महिलाओं की दखल की झलक स्पष्ट देखने को मिलती है। बंगाल विभाजन के पश्चात स्वदेशी आन्दोलन ने जोर पकड़ा, इस आंदोलन में महिला सहभागिता को लेकर आशारानी व्होरा लिखती हैं कि "इस आन्दोलन में महिलाओं की विशेष भूमिका रही। बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब की महिलाएं अधिक ही सक्रिय थीं। उन दिनों घोर अशिक्षा के कारण महिलाओं में विशेष जागृति नहीं थी। फिर भी इस अवसर से वे पीछे नहीं रहीं। गाँव- गाँव के घर - घर में महिलाएँ चरखा चलाती ही थीं, अब उनका प्रचार जोरों से होने लगा। राष्ट्रीय फंड में पैसा और आभूषण दान किया जाने लगा। घर- घर मुट्ठी- भर अनाज के रूप में भी आंदोलन फंड जमा हो रहा था।"[8] कहने का आशय है कि राजनीतिक जागृति अब छान- छनकर महिलाओं तक पहुँचने लगी थी, और इस जागृति को और ज्यादा प्रचारित और प्रसारित करने का कार्य उस दौर के महिला पत्रकारिता ने किया। ऐसा शायद ही कोई राजनीतिक घटना हो, राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय जो महिला पत्रकारिता की पैनी नजरों से बच पाया होगा|

स्वराज

महिला पत्रिकाओं ने स्वराज्य के लक्ष्य में महिलाओं के स्वराज की आवाज़ को भी समावेशित कर दिया। स्त्री-दर्पण के अगस्त 1917 के अंक में एक समतावादी का लेख छपा जिसका शीर्षक था 'स्त्रियाँ और स्वराज्य'। इस लेख में स्वराज्य का अर्थ बताते हुए लिखा गया है कि "स्वराज्य के अर्थ अपने राज्य के हैं, अर्थात् जो राज्य यानी हुकूमत अपने हाथों और अपनी इच्छा से हो उसे स्वराज्य कहते हैं। किसी देश का स्वराज्य- झलक शासन, देशनिवासियों की इच्छा से ही होता है। किसी व्यक्ति विशेष समुदाय विशेष अथवा जाति विशेष की इच्छा से नहीं। प्रत्येक मनुष्य की राय लेकर जो शासन होता है वही वास्तविक स्वराज्य है। जो शासित होते हैं उनकी ही इच्छानुसार शासन होना स्वराज्य का नाम है।"[9] इस लेख में स्वराज्य के हवाले से स्त्रियों के स्वराज्य पर भी प्रकाश डाला गया है "किसी देश के किसी प्रकार के शासितों से स्त्रियाँ भिन्न नहीं, वे शासन के नियमों से मुक्त नहीं, स्वतंत्र नहीं। उनको भी शासन- व्यवस्था के नीचे सिर झुकाना पड़ता है, इसलिये स्वराज्य- शासन में उनकी राय लेनी आवश्यक ही नहीं वरन उचित तथा अनिवार्य है, अन्यथा वह शासन स्वराज्य- शासन नहीं।"[10] यहाँ ध्यातव्य है कि उस दौर में अपने अधिकारों के लिए विश्व के अनेक राष्ट्रों में स्त्रियाँ अपने अधिकारों को लेकर संघर्षरत थीं और उन्हें सफलता भी प्राप्त हो रही थी मिसाल के तौर पर फ्रांस और स्विट्ज़रलैंड में स्त्रियों को मताधिकार मिल चुका था,

इंग्लैंड में भी स्त्रियों को समता का अधिकार मिल चुका था। अमेरिका और चीन में भी स्त्रियाँ उभर कर पटल पर आ रही थी, परंतु भारत में राजनीतिक स्थिति स्पष्ट नहीं थी। इस लेख की चिंता भी यही है "भारतीय स्वराज्य के उद्योग में स्त्रियों का ही हाथ प्रबल है न? फिर उन के लिए आप कौन सी व्यवस्था सोच रहे हैं, आप अपने मंतव्यों में, सुधारों में उन के लिए क्या करने धरने जा रहे हैं, झगडे की बात नहीं है और न वादाविवाद करने की ही आवश्यकता है। जरा से विवेक की बात है, उदारता और सहायता की मिहरबानी न कीजिये पर न्याय की दृष्टि तो रखिये स्त्रियाँ आपके काबू में आपके शासन के नीचे क्यों रहें? क्या उनमें विद्या नहीं, बुद्धि नहीं, या आप जैसे भारतीय अलल बछेड़ो का सा बल नहीं।....हमें इस समय भी आप स्वराज्य में समता दे सकते हैं, हमें आप पहिले स्वराज्य आंदोलन में समता में ही समता दीजिये, हम से काम लीजिये।....हमें भी स्वराज्य के न्याययुक्त भाग का सन्देश फैलाने में साथी बनाइये, कुछ बन चुकी हैं, बाकि रही सही स्त्रियों में भी इसका प्रचार कराइये।....फिर देखिये हम दोनों के सम्मिलित प्रयत्नों से कितनी जल्दी स्वराज्य मिलता है।"[11] कहने का आशय है कि स्वराज्य का कठिन लक्ष्य स्त्रियों और पुरुषों के सम्मिलित प्रयासों से ही संभव था। इस लेख का मंतव्य भी यही है। आधी आबादी की शक्ति को परे रखकर किसी भी राष्ट्र को सफलता के सोपान पर चढने में कठिनाईयों का सामना करना पड़ सकता है।

स्वास्थ्य

स्वास्थ्य कमोबेश सभी महिला पत्रिकाओं का लक्ष्य रहा है, कारण कि औपनिवेशिक भारत में भारतीयों की स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता अल्प थी, खासकर महिलाओं में। महिला पत्रकारिता का लक्ष्य महिलाएँ थी, परंतु इन पत्रिकाओं के दायरे में पुरुष स्वास्थ्य भी था। सभी महिला पत्रिकाओं ने स्वास्थ्य को केंद्रीय महत्त्व दिया है। इन पत्रिकाओं ने भारतीय जनमानस का स्वास्थ्य की ओर ध्यान आकृष्ट तो किया ही साथ ही स्वास्थ्य रक्षा और स्वास्थ्य के महत्त्व पर सुझाव देने का भी कार्य किया।

स्त्री- दर्पण के अगस्त 1917 के अंक में श्री के. एन. टंडन का लेख 'आरोग्यता' प्रकाशित हुआ। इस लेख में लेखक ने आरोग्यता के महत्त्व को बताया है साथ ही अच्छे स्वास्थ्य के लिए सुझाव भी दिए हैं, लेखक ने बताया है कि सर्वप्रथम आरोग्यता के लिए उचित खाद्य पदार्थ का सेवन अति महत्त्वपूर्ण है। लेखक ने बताया है कि जबतक भूख न लगे तबतक खाना नहीं चाहिए, बाहर की बनी वस्तुएँ जैसे पूरी, मिठाई आदि का सेवन नहीं करना चाहिए, पीने के लिए हमेशा शीतल जल का ही प्रयोग करना चाहिए. व्यायाम को अपने जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग बनाना चाहिए, शरीर पर हवा और धूप लगने देना चाहिए, सोने के लिए ऐसे स्थान का चुनाव हो जहाँ खूब हवा आती हो, लघुशंका और शौच जिस समय आवश्यकता हो उस समय अवश्य जाना चाहिए, शरीर में तेल की मालिश करनी चाहिए आदि। आरोग्यता के लिए लेखक ने लिखा कि "ईश्वर ने तीन नौकर हमलोगों की सफाई के लिए उत्पन्न किये हैं- वे धूप, हवा व पानी हैं। हमारे जीवन के लिए हवा, पानी, धूप अत्यंत आवश्यक हैं। भोजन बगैर तो हम कुछ दिन जी भी सकते हैं, परंतु इनके बिना कुछ ही पल में मर जायेंगे। बहुत से सूक्ष्म कीड़े जो हमारी आरोग्यता के बाधक हैं, धूप से मर जाते हैं। पहरने, ओढ़ने, बिछाने के कपड़ों को धूप दिखाना अत्यंत ही आवश्यक है।....सदैव प्रसन्न रहना आरोग्यता के लिए सबसे अधिक आवश्यक है। प्रसन्न रहने से शरीर के अवयव भी अच्छी प्रकार कार्य करते हैं और चित्त का शरीर के ऊपर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि मनुष्य जैसा सोचता है, वैसा ही हो जाता है।"[12] इस लेख में लेखक ने आरोग्य रहने के उपायों का विस्तार से वर्णन किया है, जो आज के समय में भी बहुत महत्त्व का हो सकता है।

सौंदर्य

महिला पत्रिकाओं में महिलाओं के सौंदर्य पर बल है, परंतु यहाँ शारीरिक सौंदर्य के अपेक्षाकृत मानसिक सौंदर्य के विकास पर बल अधिक है। स्त्री- दर्पण के जुलाई 1918 के अंक में श्रीमती उमा नेहरू का लेख 'हमारी सूरत' नामक

लेख प्रकाशित हुआ। इस लेख के माध्यम से लेखिका ने स्त्री के शारीरिक सौंदर्य के कवायद का मखौल ही उड़ाया है। लेखिका समाज की संरचना जिसमें स्त्री- पुरुष रहते है, इस विषय में वे लिखती हैं "स्त्री का अन्नदाता पुरुष होता है। संसार ने विवाह को स्त्री की जीविका निश्चय कर रक्खा है। और जीविका का प्रश्न हर व्यक्ति के लिए जीवन मरण का प्रश्न होता है। फिर आश्चर्य क्या यदि खूबसूरती जो हमारी जीविका के प्रश्न को सहज में हल कर देती है, हमारी जिन्दगी का एक अति उत्तम लक्षण मानी जाने लगी हो? फिर आश्चर्य क्या अगर हमारी दिली और दिमागी उन्नति, बल्कि हमारा सर्वस्व केवल शारीरिक सौंदर्य को भेंट कर दिया जाता हो?"[13] लेखिका ने यहाँ तीखा व्यंग्य किया है कि जब जीविका सुंदरता पर ही चल रही हो तो अन्य उद्योग से क्या लाभ। तत्कालीन समाज में स्त्रियों का खूबसूरत होना महत्त्व का विषय था, इसलिए वे अपने रंग-रूप के निखार हेतु सदैव प्रयत्नशील थीं, परंतु यह लेखिका का भी ध्येय नहीं है और ना हीं उस दौर की महिला पत्रकारिता का। लेखिका लिखती हैं कि "हमारी सम्मति में पुरुष की सौन्दर्य- पूजा और स्त्री की सौन्दर्य बढ़ाने की चेष्टा- दोनों- मानवी समाज के लिए बड़े हानिकारक आदर्श हैं। हम इस लेख में अपने पाठकों को इन आदर्शों की हीनता दर्शाना चाहती हैं, और यह दिखाना चाहती हैं कि जीवन के अत्यंत महत्त्वपूर्ण विषयों में भी पुरुष ने बुद्धिमानी से काम नहीं लिया। इसका स्वार्थ सदा इसके साथ रहा और इस स्वार्थ ने स्त्री का नाश कर स्वयं पुरुष के आत्मिक विकास के मार्ग में भी विघ्न डाला।"[14] लेखिका शारीरिक सौंदर्य की भर्त्सना करती हैं, वह कहती हैं कि शारीरिक सौंदर्य और सौंदर्य उपार्जन की विशेषता स्त्री के के लिए आनंददायिनी नहीं है अपितु यह कष्ट का कारण है क्योंकि स्त्री किसी अन्य का सुखपात्र बन जाती है। यदि स्त्री के सौंदर्य को सदैव महत्त्व मिलता तो स्त्रियों को अधिकार भी मिलते, स्त्रियाँ परमुखापेक्षी बनकर जीवन व्यतीत नहीं करती।

कहने का आशय है कि तत्कालीन दौर के महिला पात्रिकाओं ने महिलाओं के भीतर व्याप्त सौंदर्य के पैमाने को ध्वस्त करने का कार्य किया। क्योंकि उस समय में आम धारणा यह थी स्त्रियों को खूबसूरत होना चाहिए, और इसी भावना से परिचालित होकर स्त्रियाँ अपने रूप को बनाने सँवारने, निखारने की कवायद में जुट जाती थीं, देशकाल परिधि और देशकाल वातावरण से अनभिज्ञ। महिलाओं में देश के हालातों के प्रति चेतना और स्त्रियों का सामाजिक राजनीतिक सुधर इन महिला पत्रिकाओं का मुख्य लक्ष्य था, ये पत्रिकाएँ स्त्रियों के स्त्री होने रूढ़ीवादी धारणाओं से मुक्त करना चाहती थी। इन पत्रिकाओं का लक्ष्य था की स्त्रियों को समाज में वह अधिकार मिले, जिसकी वे अधिकारिणी हैं, और ऐसी चेतनासंपन्न स्त्रियाँ देश के विकास में सहायता प्रदान कर सकती थीं।

भाषा का प्रश्न

एक सशक्त भाषा एक मजबूत राष्ट्र का निर्माण करती है। भाषा वह माध्यम है जिसके द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्र एक सूत्र में बंध सकता है। औपनिवेशिक भारत में सुधारकों तथा साहित्यजीवियों ने एक सशक्त भाषा की ज़रुरत महसूस की, क्योंकि भाषा उन्नति का प्रर्याय भी है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से भाषा को लेकर कवायद शुरू हुई। अनेक विद्वानों के नज़र में हिंदी ही वह भाषा थी जो सम्पूर्ण राष्ट्र को जोड़ने का काम सफलतापूर्वक कर सकती थी, और फिर हिंदी के प्रचार- प्रसार के यत्न- प्रयत्न आरम्भ हुए। हिन्दी भाषा के प्रचार में पत्रकारिता ने महत्ती भूमिका निभायी। भारतेन्दु और उनके मंडल ने हिंदी भाषा के उन्नयन हेतु प्रयास प्रारम्भ हुए। तत्पश्चात द्विवेदी युग में हिंदी को नए संस्कार मिले तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा उनकी पत्रिका 'सरस्वती' ने हिंदी को नयी बुलंदियों पर पहुँचाया। इन प्रयत्नों के बीच बीसवीं सदी के आरंभिक दो दशकों की महिला पत्रकारिता भी इन प्रश्नों से बेखबर नहीं थी। महिला पत्रिकाओं ने भी भाषा के प्रश्न को बेबाकी और शक्तिशाली ढंग से उठाया है।

स्त्री- दर्पण के अक्टूबर 1918 अंक के संपादकीय में रामेश्वरी नेहरू ने लिखा कि "हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनना चाहिए यही सम्मति इस समय लगभग सभी लोगों की है।

एक प्रान्त के रहनेवाले दूसरे प्रान्तों के साथ सहज में अपने मनोभाव प्रकाशित कर सकें इसके लिए एक मात्र हिन्दी भाषा ही उपयुक्त पायी गयी है।"[15] संपादिका ने आगे यह प्रश्न उठाया है कि हिन्दी भाषा की कौन सी बोली राष्ट्रभाषा बनकर अच्छी तरह से कार्य कर सकती है – संस्कृत मिली हुई हिंदी या फिर उर्दू मिली हुई हिंदी। संपादिका अपने विचार रखते हुए कहती हैं कि बंगाली तथा महाराष्ट्र वालों को संस्कृत मिली हुई हिंदी सहज होगी। दूसरी ओर पंजाब तथा युक्त प्रान्त के बहुतेरे लोगों को फारसी की तोड़ उर्दू का प्रयोग करते हैं तथा संस्कृत मिली हिंदी से दूर रहते हैं। लेखिका लिखती हैं कि "इससे फल यह निकलेगा कि राष्ट्रभाषा के दो स्वरुप बने रहेंगे, एक मुसलमानी हिन्दी, दूसरी पंडितऊ हिन्दी। इस लिए विद्वदसमाज को चाहिए कि वे बीचोबीच में एक राह निकाल कर चलें जिससे उनके लेखों को आदर्श मान कर दोनों ओर के राष्ट्र-भाषा प्रेमी लोग दोनों ही स्टाइलों को धीरे धीरे समझने और उससे काम लेने का अभ्यास किया करें। हिन्दी भाषा का विस्तार इतना लम्बा चौड़ा है कि कभी किसी समय में इसका एक मात्र रूप बन जाना असंभव है।"[16] लेखिका ने अपने इस संपादकीय आलेख में यह भी स्वीकार किया है कि भाषा की राहों में कठिनाइयाँ तो अवश्य हैं परंतु कुछ वर्षों में ये कठिनाईयाँ समाप्त हो जायेंगी। लेखिका ने यह भी बताया है कि गाँधीजी जैसे लोग हिन्दी उर्दू को एक ही मानने लगे हैं। संपादिका लिखती है कि अन्य प्रान्तवालों को हिन्दी की ओर उन्मुख करने के लिए हम सबको कुछ स्वार्थ त्याग करना पड़ेगा, पंडितऊ हिन्दी या मौलवी हिन्दी पर अड़े रहना उचित नहीं होगा। इस आलेख से यह भी सूचना मिलती है कि बंगाल में अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा समिति का गठन हुआ है तथा इसके महामंत्री यतीन्द्रनाथ चौधरी नियुक्त हुए हैं तथा महात्मा गाँधी इसके उप- सभापति बने हैं।

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि तिलक युगीन महिला पत्रकारिता का भारतीय समाज तथा इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। तिलक युगीन महिला पत्रिकाओं में 'भारत-भगिनी','पांचाल-पंडिता', 'अबला- हितकारक', स्त्री-दर्पण', स्त्री-धर्म- शिक्षक'. 'गृहलक्ष्मी', आर्य- महिला आदि पत्रिकाएं प्रमुख थीं। बीसवीं सदी के आरंभिक दो दशकों में महिला चेतना में बढोत्तरी हुई। इस चेतना की वाहक बनीं इस दौर की महिला पत्रिकाएँ। इस दौर की महिला पत्रिकाएँ समाज में स्त्रियों को 'मनुष्योचित स्थान' दिलाने को संकल्पित थीं। ध्यातव्य है है कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से भारतीय समाज में सुधार का कार्य प्रारंभ हुआ, भारतीय मनीषियों द्वारा समाज में फैली कुरीतियों तथा अंधविश्वासों को उखाड़ने की कवायद प्रारंभ हो चुका था। महिलाओं की दयनीय स्थिति की ओर भी इनका ध्यान आकृष्ट हुआ। बीसवीं सदी के आरम्भ होते ही भारत में चेतना के स्तर पर एक क्रांति हुई, शिक्षा के कारण भारत में मध्यवर्ग मजबूत हुआ। भारत में तिलक के नेतृत्व में राष्ट्रवाद की आँधी चली। इन परिस्थितियों में महिलाओं का एक वर्ग शिक्षित हुआ परंतु यह वर्ग स्वयं शिक्षित होकर संतुष्ट नहीं रहा अपितु संपूर्ण भारतीय नारी जाति शिक्षित तथा जागरूक करने के प्रयत्नों में जुट गया। इस दौर में शिक्षित महिलाओं ने पत्रिकाओं का संपादन अपने हाथों में लिया, क्योंकि पत्रकारिता ही जनजागृति का महत्त्वपूर्ण माध्यम बन सकता है। हालांकि पूर्व के वर्षों में भारतेंदु द्वारा महिलाओं की पत्रिका 'बालाबोधिनी' के प्रकाशन से हिंदी में महिला पत्रकारिता का सूत्रपात हो गया था। मीरा ने लिखा 'घायल की गति घायल जाने' उस दौर में स्त्री होने की पीड़ा को स्त्रियों से ज्यादा कोई नहीं समझ सकता था। वह समाज स्त्रियों को 'पाँव की जूती', 'पराये घर का कूड़ा' समझता था, उस मानसिकता से लोगों को उबारने तथा महिलाओं में व्यापक शिक्षा के प्रचार के लक्ष्य को लेकर महिला पत्रकारिता ने अपने कदम बढाए। बीसवीं सदी के आरंभिक दो दशकों की महिला पत्रकारिता ने अपने कलेवर में सामाजिक, राजनीतिक सरोकारों के साथ- साथ स्त्रियों के स्वास्थ्य, सौन्दर्य के साथ-साथ उस दौर के भाषा के प्रश्नों को भी स्थान दिया है। समाज में व्याप्त अशिक्षा, विधवा-समस्या, परदा प्रथा, बाल विवाह आदि विषयों पर महिला

पत्रिकाओं ने बेबाक टिप्पणियाँ की हैं। तत्कालीन दौर की राजनीति भी इनकी पैनी नज़रों से बच नहीं पायी है- स्वराज्य, स्वदेशी, मताधिकार आदि मुद्दों पर भी इन्होंने अपने विचार को पटल पर रखा है, इसके साथ ही अंतर्राष्ट्रीय घटनाएँ जैसे प्रथम विश्वयुद्ध, की घटनाओं पर भी इनकी दृष्टि थी। बीसवीं सदी के आरंभिक दो दशकों की महिला पत्रकारिता ने महिलाओं के विकास तथा उनके उज्ज्वल भविष्य की नींव रखने का कार्य किया है।

संदर्भ सूची

1. देशपांडे, भीमराव गोपाल, लोकमान्य तिलक (जीवन चरित्र), वर्धा, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, प्रथम संस्करण - जुलाई 1956, पृष्ठ. 36
2. वेंकटेश, स्त्रियों की आवश्यक शिक्षा, स्त्री धर्म शिक्षक, जून 1916, पृष्ठ 161
3. नेहरु रामेश्वरी, स्त्री शिक्षा की आवश्यकता, स्त्री दर्पण, दिसंबर 1917, पृष्ठ 312-13
4. एक दुखी विधवा, हा ! ईश्वर, अबला हितकारक, अप्रैल 1912, पृष्ठ 101
5. खन्ना, विद्यावती, बाल विवाह और उससे जाति की हानियाँ, स्त्री-दर्पण, मई 1920,पृष्ठ 276
6. सरकार, सुमित, विमेन एंड सोशल रिफॉर्म्स इन मॉडर्न इंडिया, रानीखेत, परमानेंट ब्लैक, प्रथम संस्करण 2011, पृष्ठ 33
7. श्री, सती धर्म, स्त्री-दर्पण, मई-जून 1919, पृष्ठ 274
8. व्होरा, आशारानी, महिलाएं और स्वराज, दिल्ली, प्रकाशन विभाग , तृतीय संस्करण 2012,पृष्ठ 91
9. समतावादी, स्त्रियाँ और स्वराज्य, स्त्री दर्पण, अगस्त 1917, पृष्ठ 65
10. वही, पृष्ठ 65
11. वही,पृष्ठ 67-68
12. टंडन, के.एन, आरोग्यता, स्त्री दर्पण, अगस्त 1917, पृष्ठ 203
13. नेहरू उमा, हमारी सूरत, स्त्री दर्पण जुलाई 1918 पृष्ठ 30
14. वही, पृष्ठ 31
15. वही, पृष्ठ 36
16. सम्पादकीय, स्त्री दर्पण, अक्तूबर1918 पृष्ठ 210

आदिवासी ट्रांसजेंडर जीवन ,मलयालम सिनेमा उडलाषम में

-जिष्णा राघव,
शोधार्थी,
हिंदी विभाग ,कुसाट,-
ई मेल -Jishna8078289150@gmail.com

भूमिका ;-

आदिवासी ट्रांसजेंडर जीवन पर अब तक चर्चाएं नही हुआ हैं। इस सिनेमा में अत्यंत गंभीर दंक से उनके संदर्भ में विचार किया गया हैं। जिस पर बात करना अत्यंत आवश्यक हैं। अपने आलेख के माद्यम आदिवासी ट्रांसजेंडर जीवन पर अप्रस्तुत पर्थोम् को खोलने का प्रयास किया गया है।

बीज शब्द:-

. किन्नर कोन है, सिनेमा परिचय, आदिवासी समस्या ,किन्नर समस्या,निष्कर्ष

मुख्याम्श;- 'ट्रैन्ज़्जेन्डर' शब्द एसे समाज केलिए प्रयुक्त होता है। जो लौगिक रूप से न नर होते है न मादा। मलयालम सिनेमा जगत में बहुत प्रसिद्ध सिनेमा है उडलाषम केरल के पणिया आदिवासी समाज को केंद्र में रखकर आदिवासी ट्रैन्ज़्जेन्डर की समस्या, आदिवासियों का विविध समस्याओं को डायरेक्टर उन्निकृष्णंन आवलां ने चित्रित किया। मणी,रम्या वलसला,अनुमोल,इंद्रनस,सजिताम़डत्तिल,जॉय माथ्यू और निलंबूर आईश आदि ने विविध कतापात्र बनकर इस सिनेमा को सफल बनाया।

'गुलिकन' और 'माती' नामक कतापात्र है केंद्र रूप में। उनकी कहानी है इस सिनेमा में। गुलिकन ट्रैन्ज़्जन्डर आदिवासी का प्रतीक है। और माती आदिवासी नारी का। एक ट्रैन्स्जन्डर व्यक्ति सहन करनेवाले समस्याओं के साथ कथा की शुरुआत होती है।

सिनेमा की शुरुआत में चीख कर रोने वाले गुलिकन को हम देख सकते है। आगे कहानी गुलिकन क्यों इस प्रकार चिल्लाते है गुलिकन की इस हालत का कारण क्या ही इनकी बातों की व्यक्त किया गयाहै। गुलिकन का शरीर पुरुष का है लेकिन मन स्त्री का है। बचपन में उसकी शादी माती से हो गई। आदिवासी समाज में यह व्यवस्था है की एक लड़के का जन्म होते ही समय उसका रिश्ता तय कर देती है। इस प्रकार माती उसकी पत्नी बनगयी। दोनों जंगल के आदिवासी गाव में पत्ते और लकड़ी से बनाए हुए छोटटी सी झोपड़ी में जी रहे थे। गुलिकन अपने जीवन बिताने केलिए विविध स्थरों पर विविध काम करके पैसा कमाते हैं। जैसे झोंकों को

पकड़कर लीच तेरपीकेलए शहर के अस्पताल में डॉ। को देना, इर्द कंपनी में काम करना ,होटल में काम करना ,दूसरों के घर पर काम करके पैसा कमाना आदि लेकिन समस्या यह है की एक निम्न जाती और ट्रांजेनडेर होने के कारण सही वेदन नही मिलता। विविध गाव और शहर में काम करने के कारण अन्य समुदाय के अनेक व्यक्तियों के साथ संपर्क बनजाते है। इसी कारणवश बहुत से कथापत्र को हम फिलिम में देख सकते है। जैसे मछली भेजने केलिए आनेवाले ढिककु समाज का मछुआरे ,शोध करने केलिए आदिवासी गाव में आनेवाली शोधार्थी लड़की ,अधिकार के नाम पर जंगल पर रोंप करनेवाले पुलिस और फॉरेस्ट गार्डआदि। जीवन जीने केलिए पैसा की जरूरत है, पैसा मिलने केलिए काम करना चाहिए। गाव में अच्छी काम नही है इसलिए गुलिकन काम तलाश कर अन्य गाव में चल जाते है। एक ट्रैन्ज़्जेन्डर होने के कारण गाव के जो ढिककु लोग है वे गुलिकन का यौन शोषण करते है। शुरू में एक दृश्य है जो गुलिकन माती से बताते है कि "मुझे कुछ लोग जैसे कामुक लोग वो हमेशा मेरा शोषण करते है"।

एक निम्न जाती होने के कारण विरुद्धावाज़ उड़ाने में धैर्य नही था। एक बार जंगल से जाते वक्त कुछ कामुक लोग गुलिकन का शारीरिक शोषण करते है। उसी समय कुछ ढिककु समाज के कुछ लोग वहां कार्ड खेल रहे थे। वे लोग इस घटना को जानकर हस्ते है। उस घटना के बारे में ज्ञान होते भी कोई उसकी मदद नहीं करता। यहां ट्रांसजेंडेर के प्रति समाज का दृष्टिकोण दिखाती है। उस वक्त वहां पुलीस लोग आते है। उन लोगों ने कार्ड खेलने वालों को पकड़ते है। वे भी गुलिकन के प्रति ध्यान नहीं देता। इस प्रकार त्यौहार के समय भी गुलिकन इसी प्रकार का अमानवीय व्यवहार का शिकार बनता है। गुलिकन ट्रान्सजेंडर होने के कारण अपने समुदाय से भी बहुत आरोपों सहन पड़ता है। जिसके कारण यह दुखी हो जाता है। एक बार बाहर काम करते वक्त गुलिकन को एकपुरुष के साथ प्रेम हुआ जब उनके बारे में वहां के लोगों का पता चलता है तो गुलिकन का अपमान कर उसे वहां से धक्का देकर बाहर निकाल दिया। बाद में

शहर के होटल में काम मिला। वहां के गेस्ट को चाय देते वक्त गुलिकन का रंग और व्यवहार देखकर गस्ट कहते हैं कि क्या यहाँ चाय देने के लिए कोई और नहीं है? फिर होटल मालिक गुलिकन को ढाढकर होटल के बाहर का कटिंन काम देते हैं, लेकिन गुलिकन के लिए वहां रहना कष्टदायक था, इसलिए वहां का काम छोड़ देता है। अपनी दयनीय अवस्था का कारण गुलिकन कई बार अकेला बैठकर रोते है और भगवान से पूछते हैं कि" ईश्वर क्यों मुझे इस प्रकार बनाया"। अपनी पत्नी के प्रति उसे प्यार है, लेकिन बच्चे का पिता बनने में वह असमर्थ है। इसलिए वह दोनों दुखी है। एक पति के दायित्व को पूर्ण करने में वह असमर्थ था। गुलिकन के स्त्री रूपी मन को दिखाने का दृश्य फिल्म में है। जैसे लड़की के समान काजल डालते हैं आंखों में , शिंकार से बिंदी डालते हैं। लेकिन बात यह है कि उनको ट्रांसजेंडर के रूप में स्वीकार और स्वीकार करने वाले लोग उनके आस-पास है।

जैसे डांस टीचर, रमेश नमक कथापात्र आदि। गुलिकन ट्रान्सजेन्डर होने के कारण उसकी पत्नी माती मच्छुआरे के साथ यौवन संबद्ध स्थापित करती हैं। जंगल में माती और मछुआरे के शारीरिक क्रीड़ा का वीडियो फोरस्ट गवार्ड द्वारा बनाया जाता है। वह वीडियो के सहारे मच्छुआरे को डराता है और माती को अपने साथ शारीरिक संबंध करने के लिए मजबूर करता है। लेकिन माती इसे अस्वीकारती है इसके कारण फोरस्ट ग्वार्ड ने वह वीडियो वहां के मोहल्ले वाले को दिखाते हैं और आदिवासी गांव जाकर माती को भगा दिया। मूवी के पहले दृश्यइसी घटना से है| इसी फॉरेस्ट ऑफिसर ने आदिवासी गांव पर रिसर्च करने के लिए आने वाली लड़की के साथ सेक्सअल अब्यूस की बात किया था। लेकिन लड़की ने उसे निषेध किया। इस सारी समस्याओं के बाद यही मछुआरा आदिवासी गांव के दूसरी लड़की के साथ अपनी मीठी वाणी के माध्यम और मछली ज्यादा फ्री देकर उन्हें भी अपने जाल में फंसने की कोशिश करता है।नारी संबंधी समाज का दृष्टिकोण इस संदर्भ में हम समझ सकते हैं। नारी को केवल भोग वास्तु के रूप में देखने वाले मानव का प्रतीक है। मछुआरा और फोरस्ट ग्वार्ड इससे संबद्ध डांस टीचर की बात भी महत्वपूर्ण है। " मेरा नृत्य केवल मेरा शरीरहै ।लोग मेरे शरीर को देखने के लिए आता है। क्या मैं केवल एक शरीर हूं। दूसरे संदर्भ में शरीर के संबंध गुलिकनअपने दोस्त से कहते है। "ईश्वर ने मुझे केवल नारी का मन दिया। शरीर नहीं," तब उसका दोस्त कहता है " कुछ लोगों के लिए शरीर एक शाप है। इस प्रकार शरीर संबंध कई मान्यताएं व्यक्त है।कुट्टी चोप्पन इस फिल्म के एक और प्रमुख पात्र है। वो आदिवासी युवक है। अपने गरीबों के कारण अपनी शिक्षा पूरा नहीं कर पाया। वह अपने गांव के स्थिति को व्यक्त करता है। वर्षा काल में गांव में नहीं रह सकते क्योंकि वह बाढ़ का खतरा रहता है। उस समय किसी की मृत्यु यदि हो तो उन्हें दफनाने के लिए कोई जगह नहीं है। यदि इसे गोद कर दफनाना तो भी गड्ढे में फिर से पानी पर जाएगा और शव ऊपर तैरने लगेगा।

अभी दिक्कु लोगों के प्रभाव कारण कब्रिस्तान पर पूरा रबर पेड़ है और वे लोग जंगल जाकर वनोपधियों लेते हैं। इस संबंध में गुलिकन की बात महत्वपूर्ण है। "हम जंगल में रहता है कहने का कोई मतलब नहीं है। जीवन का खुसारा करने के लिए न लकड़ी ना जोकू " यहाँ जोंकू आदिवासी और ट्रांसजेंडर का प्रतीक माना जाता है। अपने आवश्यकता के लिए इस्तेमाल किया जाता है।जिसके कारण धीरे-धीरे उनका सामाजिक उन्मूलन होना लगता है। संक्षिप्त में देखे तो मूवी में गुलिकन शोषण का शिकार बनते हुए नजराते है। अपने परिवार का सहारा बनने के लिए गांव छोडते हैं और कितनी भी काम करने पर भी पैसा पूरा नहीं मिलते हैं। एक ट्रांसजेंडर होने के कारण उनके प्रति होने वाले कुरीतियों पर अधिकारीयाँ ध्यान नहीं देते हैं। इस व्यवहार के कारण उसकी पत्नी दूसरे व्यक्ति के साथ शारीरिक संबंध रख दिया। अपने घर वालों का भी घृणा पात्र बनना पड़ता है। ना वह एक पिता बन सकता है जिसे प्यार किया था उसे व्यक्ति के साथ रह नहीं सकते। दो तरह के समूहों के बीच में रहने वाले अवस्था, समाज द्वारा अस्वीकृती आदी ।

निष्कर्ष;- यहाँ जंगल है, शहर है, और सागर है लेकिनमेंइनमें कहाँ हूँ? यह प्रश्न गुलकन को परेशान करता है।यह वास्तव में काल्पनिक कथा नहीं जीवन का यथार्थ है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताएँ आह से उपजा गान हैं

-प्रवीन वर्मा
पीएच.डी. शोधार्थी
हिंदी विभाग
अम्बेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली
मोबाइल न. -9899670330
ई.मेल-vermapraveen452@gmailcom

साहित्य की सबसे सशक्त और लोकप्रिय विधा कविता है। यह बात उस समय कह रहा हूँ। जिस समय कविता के संकट का भ्रम हमारे सामने भ्रमाया जा रहा है, किन्तु आज हम इक्कीसवीं सदी के तीसरे दशक में प्रवेश कर चुके हैं और इस दौर में कविता धड़ल्ले से लिखी और प्रकाशित हो रही है तथा अनुसंधान व मंच पर भी पढ़ी जा रही है। हमारे सामने संकट कविता का नहीं, बल्कि दलित कविता की आलोचना का है। यह हिंदी आलोचना की विडंबना ही है जो मुख्यधारा के कवियों और उनकी कविताओं का तो उल्लेख किया, मगर दलित कविताओं को कोई स्थान नहीं दिया। आज साहित्य जगत में दलित कविताओं का जो स्थान हैं वह स्वयं दलित कवियों द्वारा अर्जित हैं आलोचना की सौगात नहीं। दलित कविता में सबसे पहले स्वीकृति ओमप्रकाश वाल्मीकि ने साहित्यिक स्वीकृति प्राप्त की जोकि उन्होंने स्वयं अर्जित की थी, अन्य दलित कवियों ने इस परंपरा को आगे बढ़ाया। ओमप्रकाश वाल्मीकि के चार कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जो इस प्रकार है- 'सदियों का संताप', 'बस्स! बहुत हो चुका', 'अब और नहीं' और 'शब्द झूठ नहीं बोलते'।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने साहित्य जगत के आठवें दशक में दस्तक दी। इस समय मुख्यधारा के तमाम कवि लिखते रहे। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताएँ मुख्यधारा की कविताओं से भिन्न हैं। वाल्मीकि की कविताएँ प्रेम, पेड़-पौधों, नदियाँ, झरनों और पहाड़ों का उल्लेख नहीं करती। इनकी कविता किसी तरह का प्रशस्तिगान भी नहीं है। इनकी कविताएँ आह से उपजा गान हैं। जिसमें उनका जीवन संघर्ष है, इतिहास और वर्तमान का अपमान, अत्याचार, दमन एवं शोषण का युद्धगान है। इसके साथ इनकी कविताएँ स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व का भाव रखती है तथा लोकतंत्र की पोल भी खोलकर रखती है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'ठाकुर का कुँआ' कविता सर्वप्रथम मैंने सोशल मीडिया पर पढ़ी। उसके बाद उनकी कविता यात्रा शुरु की। यह कविता वाल्मीकि ने प्रेमचंद की कहानी 'ठाकुर का कुँआ' से प्रभावित होकर लिखी। प्रेमचंद ने जहाँ प्राकृतिक संसाधन पानी पर वर्णवादी समाज का कब्जा दिखाया है, वहीं वाल्मीकि ने इसे हर प्रकार के संसाधनों पर वर्णवादी समाज का कब्जा दिखाया है, जिसमें गाँव व शहर दोनों शामिल है। यह कविता वर्णवादी भारतीय समाज का पर्दाफाश करती है-

"चूल्हा मिट्टी का
मिट्टी तालाब की
तालाब ठाकुर का।
भूख रोटी की
रोटी बाजरे की
बाजरा खेत का
खेत ठाकुर का।
बैल ठाकुर का
हल ठाकुर का
हल की मूठ पर हथेली अपनी
फसल ठाकुर की।
कुँआ ठाकुर का
पानी ठाकुर का
खेत-खलिहान ठाकुर के
गली-मुहल्ले ठाकुर के
फिर अपना क्या ?
गाँव ?
शहर ?
देश?"[1]

इन पंक्तियों से यह भाव स्पष्ट होता है कि किस तरह दलित, सवर्ण की गुलामी में पिसता चला जा रहा है, क्योंकि धरती की मिट्टी सबकी है मनुष्य धरती पर ही जन्म लेता है, लेकिन उनकी मिट्टी पर ठाकुर का कब्जा कैसे? सब कुछ खेत-खलियान के काम दलित मजदूर करता है, फिर भी मिट्टी, पानी, खेत, ठाकुर का कैसे ? दलित के जीवन में रोटी, पानी, कपड़ा आदि का अभाव रहा है। दलितों को न संपत्ति अर्जित करने का अधिकार है न प्राप्त करने का। यह सभी सवर्णों के लिए बताए गए हैं। इस कविता के संदर्भ में मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं, "ठाकुर का कुँआ, 'कुँआ' नहीं बल्कि सारा हिंदू समाज है। जिसमें अछूतों को डूब मरने की तो सुविधा है पीने के लिए पानी लेने की नहीं।"[2] ओमप्रकाश वाल्मीकि ने इस तरह के दर्द को बचपन से झेला है। बचपन से ही जातिगत भेदभाव और अस्पृश्यता का शिकार हो चुके थे। उनका सारा जीवन दर्द की अनुभूति है। उनकी कविता का एक-एक शब्द हृदय की पीड़ा है। यह रक्तरंजित होकर कागज़ पर उतरी है। इनकी कविता का उद्भव ही अमानवीयता के चलते हुआ है। हजारों वर्षों का अपमान, उत्पीड़न, शोषण, सामाजिक विद्वेष, धार्मिक प्रतिबन्ध, मानवीय अधिकारों से वंचना और दीन-हीन-दलित जीवन के पक्ष में न धर्म, न ईश्वर, न साहित्य और न ही विद्ववान लोग थे। वह न गाँवों में रह सकते थे, न गलियों में दूसरे नागरिकों की तरह चल फिर सकते थे। आधुनिक हिंदी दलित कविता में ओमप्रकाश वाल्मीकि ने सबसे पहले लोगों की घावों,

फफलों पर ध्यान आकृष्ट कराने का काम किया। इनकी कविता में जो दर्द है वह सवाल में परिवर्तित हो जाता है। उनके सवाल कोरी कल्पना की उपज नहीं, बल्कि भोगा हुआ यथार्थ है। चाहे 'ठाकुर का कुँआ' कविता हो या 'वह दिन कब आएगा' दोनों कविताओं में कवि सवाल पूछता है-

" मेरी माँ ने जने सब अछूत ही अछूत
तुम्हारी माँ ने सब बामन ही बामन ।
कितने ताज्जुब की बात है
जबकि प्रजनन क्रिया एक ही जैसी है।
वह दिन कब आयेगा
जब बामनी नहीं जनेगी बामन
चमारी नहीं जनेगी चमार
भंगिनी भी नहीं जनेगी भंगी ।।"[3]

इन पंक्तियों से जाहिर होता है कि भारतीय समाज में जाति किस कदर हावी है। परंपराएँ जाति के नाम पर बन और बढ़ रही हैं। आज़ादी के इतने वर्षों के बाद भी समाज में जाति व्यवस्था कायम है। इतने वर्षों का लेखा-जोखा दलित चिंतक भगवान दास व्यक्त करते हैं, "गाँवों में ऊँची जाति के भूमिधर लोग दलितों को अच्छे कपड़े पहनने, निर्भय होकर मतदान करने, शादी के जुलूस में घोड़े पर चढ़ने, सार्वजनिक कुओं से पीने का पानी लेने और ऊँची जाति के आदमी के खड़े रहने पर सामने चारपाई पर बैठने की इजाजत नहीं देते ।"[4] इस दर्द का दर्शक मात्र गैर-दलित रचनाकार है । दलित एक जाति नहीं, बल्कि एक अनुभूति है जिसमें समाज के निचले लोगों के अनुभव, खुशियाँ और संघर्ष शामिल हैं। दोनों के लेखन में लंबा फासला है जिसे पार करना विकास के लिए पहला मुनासिब कदम होना चाहिए । इस चिंता को ओमप्रकाश वाल्मीकि सामने रखते हैं-

"मैं जानता हूँ
मेरा दर्द तुम्हारे लिए चींटी जैसा
और तुम्हारा अपना दर्द पहाड़ जैसा
इसीलिए
मेरे और तुम्हारे बीच
एक लंबा फासला है
जिसे लम्बाई से नहीं
समय से नापा जायेगा ।। "[5]

जाति-व्यवस्था अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, भाईचारे की भावना समता के हमेशा विरोध में ही रही हैं, दलित कविता की अतःधारा में जो बेचैनी, विद्रोह, नकार, आक्रोश दिखाई देता हैं, वह इसी जाति व्यवस्था ने जो दंश दिए हैं, उसका ही प्रतिरोध 'लावा' कविता में हैं-

"मैं बेचैन हूँ
क्यों नहीं उगला ज्वालामुखी
मेरी हथेली पर
क्यों नहीं फूट पड़ता
उबलता लावा मेरे सीने से
हर रोज़ लड़ना पड़ता है
निहत्थे ही गुप-चुप युद्धों से!"[6]

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में जातीयदंश बहुत गहरा हैं, क्योंकि नब्बे के दशक से पहले दलित कविता अपनी पहचान के लिए संघर्ष कर रही थी। इनके संघर्ष का ही फल है जो साहित्यिक दुनिया से इनको अब दरकिनार नहीं किया जा सकता। जाति के नाम पर सदियों से दलितों ने अत्याचार, शोषण का संताप सहा है। इसी कारण ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में 'जाति' और उससे उपजे यातनापूर्ण जीवन के विरुद्ध मुखरता ज्यादा गहरी है। दलितों के लिए जाति एक भयानक सत्य है। जिसे हिंदी साहित्य ने अनदेखा किया और निरपेक्ष भाव से जाने-अनजाने जाति-व्यवस्था की जड़े गहरी करने की साजिश में लगा रहा। एक दलित के भीतर 'जाति' को लेकर गहरी वेदना और घृणा भरी होती है। गैर दलितों द्वारा निर्मित बड़ी से बड़ी मान्यताओं पर विश्वास नहीं करता है-

"स्वीकार्य नहीं मुझे
जाना,
मृत्यु के बाद
तुम्हारे स्वर्ग में।
वहाँ भी तुम
पहचानोगे मुझे
मेरी जाति से ही ।"[7]

दलित वर्ग युगों-युगों तक शोषण का शिकार हुआ है और यह शोषण इक्कीसवीं सदी में भी जारी है। ऐसा कोई दिन नहीं गुजरता जब अखबार में दलितों के साथ हो रहे अन्याय पढ़ने को नहीं मिलते । सामाजिक शोषण के नाम पर लादी गई मर्यादाएँ, बंधन, दलित जीवन की विपन्नताएँ बनकर रह गए हैं । सवर्ण जब दलितों का शोषण करता है तो इतिहास भी खामोश हो जाता है। इतिहास और धर्मग्रंथ लिखने वाले दलितों के शोषण के प्रति चुप्पी साध लेते हैं। उच्च-नीच का भाव, धर्म की झूठी संकल्पनाएँ मनुष्य में असमानता की नीति समाज में व्याप्त है । जिससे पर्दा उठाने का काम ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताएँ करती हैं। 'वे नहीं जानते' कविता के इतिहास सृजन करने वाले लेखकों की खामोशी को कवि व्यक्त करता है-

" इतिहास खामोश है
खामोश है
पहाड़ों से टकराती ताजा हवाएँ भी
जो इन बस्तियों से निकल जाती हैं
चुपके-चुपके
किसी अभिजात्य नेता की तरह ।"[8]

इतिहास की खामोशी को लेकर विद्धजन अलग-अलग तर्क देते हैं यह तर्क कितने अर्थहीन है इससे कवि अनभिज्ञय नहीं है, इसलिए दलितों को अन्याय सहने की आदत के विरुद्ध लड़ने और सतर्क रहने को कवि कहते हैं -

"छदमवेशी शब्दों का प्रलाप जारी है
सुन चुके अर्थहीन तर्क भी
बहुत दिन जी चुके हताशा और नैराश्य के बीच
कलाबाजियों और चतुराई भरे शब्दों का
खेल हो चुका

अब और नहीं

तय करना होगा

कहाँ खड़े हो तुम

साये या धूप में। "[9]

कवि जानता है यह लड़ाई अकेले नहीं लड़ी जा सकती। अकेले व्यक्ति का वही हश्र हो सकता है जो शबूंक, एकलव्य का सभ्यता और संस्कृति के नाम पर हुआ। रोजाना यही अश्र असंख्य लोगों का होता है । अम्बेडकरवादी विचारों से ही दलितों को मरने से बचाया जा सकता हैं। जाति और अर्थहीन तर्क से युद्ध करने का प्रबल शस्त्र समानता ही है। जिसका कवि स्वप्न देखता है, कवि स्वप्नधर्मी होता है इसलिए कवि स्वप्न में शंबूक से संवाद करता है -

"शंबूक, तुम्हारा रक्त जमीन के अंदर
समा गया है जो किसी भी दिन
फूटकर बाहर आयेगा
ज्वालामुखी बनकर। "[10]

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने इतिहास के मिथकों का वर्तमान चित्र खींचा है। कवि ने मिथकों को उस तरह स्वीकार नहीं किया। जिस तरह अक्सर स्वीकार किया जाता है। इसका सटीक उदाहरण 'किष्किंधा' कविता है। इस कविता में बालि की हत्या का अर्थ वो नहीं है जो तुलसी के यहाँ है। तुलसी के यहाँ बालि की हत्या पर सुग्रीव समेत समस्त लोग उत्साहित होते हैं। वाल्मीकि बालि की हत्या पर दुःख प्रकट करते हैं वे जानते हैं बालि की हत्या छल है। सुग्रीव छल से ही किष्किंधा का राजा बनाया गया। वाल्मीकि ने बालि को नायक के रूप में उद्घाटित किया है। दलित वर्ग भी सदियों से ऐसे ही छला जा रहा है। उनके भीतर भी असंख्य बालि है। जिसकी ओर कवि इशारा कर रहा है-

"मेरे अंतस की गुफा में
बंद पड़े हैं असंख्य बालि
जो बाहर आयेंगे किसी दिन
अवरोधक हटाकर।"[11]

इससे स्पष्ट है कि वर्तमान, इतिहास और धर्मग्रंथ में दलित ही छला गया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता में अकुलाहट, संवेदना भारतीय समाज में सबसे नीचे बसर करने वाले मेहनतकश व्यक्ति के प्रति हैं। इनकी कविताएँ उस का विरोध दर्ज करती हैं, जिनकी तमाम उपलब्धियों पर जो छींटाकाशी की जाती है। अनपढ़, बंजर को स्वरूप और सृजन करने वालों को जो रसूखदार हिकारत से निहारते हैं, उनकी कविता 'वर्तमान, अतीत का ही प्रतिफल होता है' इसे दोहराने से परहेज करने की नसीहत देती है-

"ओ, वर्णाश्रम के किलेदार
उस वक्त खोजते फिरोगे
उस काले -कलूटे, दरिद्र
प्रताड़ित मानव को
जिसे दुत्कार कर खड़ा कर दिया बाहर
तुम्हारे पुरखों ने
बंजर खेतों से उठती लपटों से
सिहर उठेंगे देवता
मृत्यु के विकराल जबड़ों में फँसी
संस्कृति की तमाम आत्मवंचनाएँ
सिसक-सिसक कर
दुहराएँगी अतीत की
कुटिल आत्मघाती उक्तियाँ "[12]

वर्णभेद ने अस्पृश्यता को जन्म दिया है जो प्राचीन काल के दासत्व से भी ज्यादा भयानक है। संविधान निर्माता बाबा साहब अम्बेडकर ने अस्पृश्यता और नीग्रो दास प्रथा की तुलना करते हुए अस्पृश्यता को ज्यादा खतरनाक बताया है, "दासता की स्थिति समाज में व्यक्ति पर कोई कलंक नहीं लगाती । दास स्पृश्य था और यहाँ तक कि सम्मानित भी । अस्पृश्यता दासता से बदतर है, क्योंकि दास का समाज में व्यक्तित्व होता है। जबकि यह पूरी तरह स्पष्ट है कि अछूत का कोई व्यक्तित्व नहीं होता.... अस्पृश्यता दासता से बदतर है, क्योंकि उसमें दासता की भाँति जीवन-मरण की कोई सुरक्षा नहीं होती ।"[13] ओमप्रकाश वाल्मीकि वर्णव्यवस्था को आदिम सभ्यता का हथियार मानते हैं, जो व्यक्ति के विकास और उन्नति के रास्ते का रोड़ा है इस पर वे लिखते हैं-

"जाति आदिम सभ्यता का
नुकीला औज़ार है
जो सड़क चलते आदमी को
कर देता है छलनी
एक तुम हो
जो अभी तक चिपके हो जाति से।"[14]

कवि जाति और वर्ण के ठेकेदारों को सतर्क करता है कि जाति - पाँति को मानते रहेंगे तो रूढ़िवादी मानसिकता में जकड़े रहेंगे जिससे अपना ही नुकसान करेंगे और विदेशी लुटेरे पूँजीवादी देश सब कुछ लूट कर भाग जाएँगे।

ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी कविताओं में लोकतंत्र की सच्चाई उजागर करते हैं। लोकतंत्र की नींव मताधिकार पर ही रखी जाती है। प्रत्येक व्यस्क नागरिक को बिना भेदभाव के मताधिकार दिया जाए, जिस देश में वयस्क नागरिक को मताधिकार होगा वह देश उतना ही जनतांत्रिक होगा | बाबा साहब अम्बेडकर ने वयस्क नागरिक को मतदान दिलाने के लिए अथाह संघर्ष किया। जिसका फल प्रत्येक भारतीय वयस्क नागरिक को मिला, लेकिन परवर्ती नेताओं ने लोकतंत्र को सत्ता की लालसा की दृष्टि से देखा फिर हमारे सामने लोकतंत्र की दूसरी तस्वीर सामने आने लगी। उस तस्वीर में दलित का चेहरा धुंधला ही नज़र आया । लोकतंत्र में वह 'जाति' के नाम पर ठगा गया। दलित योग्य होने पर भी चुनाव, शिक्षा, नौकरी और सम्मान से वंचित रहा। इसके बदले में उसे शोषण, घृणा और अपमान का शिकार होना पड़ा। भारतीय लोकतंत्र की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि नीचे पायदान के व्यक्ति का नाम जानने से पहले उसकी जाति को जाना जाता है।

इस अन्याय को ओमप्रकाश वाल्मीकि ने स्वयं भोगा है तभी वह 'लोकतंत्र या.....?' कविता में कहते हैं-

" जाति या उपनाम
उपनाम यानि गोत्र, वंश कुल
यानि वर्ण
यानि चौक-चौबंद व्यवस्था
यानि ऊँची-नीची पायदान
यानि इंसान होने की शर्त
यह कैसा लोकतंत्र है भाई,
जहाँ चुनाव, नौकरी, इज्जत
योग्यता, शिक्षा
सब जाति तंत्र तय करता है।"[15]

इक्कीसवीं सदी में भी यह नाटक जारी है। लोकतंत्र में पूंजी को स्नेह और श्रम को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। जिसके पास जितनी पूंजी है वह उतना ही ताकतवर है। यह घिनौना सच हमें 'भोपाल कांड' कविता में देखने को मिलता है जहाँ एक जाति को नहीं बल्कि, सभी जाति को अपनी मृत्यु से कीमत चुकानी पड़ती हैं-

अखबार का दफ्तर भी
हो जाता है गूँगा - बहरा
या थक कर ऊँघता रहता है
रात भर जागा है
'ब्यूटी क्वीन' प्रतियोगिता में
जिसका उत्तेजक, मादक संगीत
अभी तक गूंज रहा है कानों में
विदेशी सोमरस की खुमारी अभी बाकी है
इसीलिए,
मुश्किल होता है
सुन पाना बल्लू, कल्लू और रमेसर की
रूंधी आवाज़े।"[16]

लोकतंत्र का चौथा स्तंभ अखबार है। आज जिस पर सम्पत्ति का खुमार बढ़ -चढ़कर बोल रहा है जो पूँजी और तंत्र का बखान चौबीस घंटों करता है। गरीबों की चीखों को अनदेखा कर देता है। जिस चौथे स्तंभ को लोक का पक्षधर होना चाहिए वह तंत्र के हाथों नियंत्रित है।

अंत: ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी कविताओं के माध्यम से रूढ़िवादी मानसिकता, परंपरा पर करारी चोट और चेतनावनी दी है। वही दलित समाज को जागने और सतर्क करने का काम भी करते हैं।

सन्दर्भ ग्रंथ-

1. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, सदियों का संताप, गौतम बुक सेंटर, संस्करण-2021, पृष्ठ 13
2. कुमार, रमन (संपादक), हिंदी दलित कविता: आंदोलन और जाग्रति की पक्षधर, सिद्धार्थ बुक्स, प्रथम संस्करण - 2021 पृष्ठ 161
3. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, बस्स! बहुत हो चुका, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2017, पृष्ठ 103
4. शर्मा, श्यामबाबू, दलित हिंदी कविता का वैचारिक पक्ष, अनुज्ञा बुक्स, प्रथम संस्करण - 2017, पृष्ठ 50
5. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, अब और नहीं, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण - 2018, पृष्ठ 17
6. वही, पृष्ठ 71
7. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, बस्स! बहुत हो चुका, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2017, पृष्ठ 78
8. वही, पृष्ठ 88
9. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, अब और नहीं, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण - 2018, पृष्ठ 105
10. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, सदियों का संताप, गौतम बुक सेंटर, संस्करण - 2021, पृष्ठ 27
11. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, अब और नहीं, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण - 2018, पृष्ठ 23
12. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, बस्स! बहुत हो चुका, वाणी प्रकाशन, संस्करण - 2017, पृष्ठ 74
13. शर्मा, श्यामबाबू, दलित हिंदी कविता का वैचारिक पक्ष, अनुज्ञा बुक्स, प्रथम संस्करण - 2017 पृष्ठ 58
14. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, अब और नहीं, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण - 2018, पृष्ठ 20-21
15. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, शब्द झूठ नहीं बोलते, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, प्रथम संस्करण-2012, पृष्ठ 32-33
16. वही, पृष्ठ 71-72

*****

The importance of the Upanishad in the teachings of the Bhagavat Gita

-Prof. (Dr.) Deepika Dhand
deepikadhand@ymail.com
Pro-vice chancellor
MATS University Raipur

Abstract

The Upanishads are known as one of the oldest philosophical texts in the world that form the foundation of Hindu philosophy. The Bhagavad Gita is the core text of Hindu philosophy and is known as a text that summarizes the key philosophies of the Upanishads with a major focus on the philosophy of karma. There is a distinct feature of Hindu religious and philosophical texts that they are written by several readers rather than by one individual. The Upanishads are considered one of the world's oldest philosophical texts that highlight the transition from the archaic ritualism of the Vedas into new religious ideas and institution. They are an addition to the Vedas and portray facts of meditation, philosophy inner realization, consciousness and anthological mysteries that form the foundation of Hindu philosophy. Philosophy begins with the Bhagavad Gita, the core text of Hinduism. The text summarizes the critical philosophies of the Upanishads with a strong focus on 'Karma'. The essence of the Upanishad between ceremonies norms values and heavenly abodes and the human being. These texts have been translated into many languages and there exist studies about themes and topics that are prominent. The Bhagavad Gita is part of the Mahabharata, which is one of the oldest and largest epics written in verse in the Sanskrit language. The Bhagavad Gita is known as a concise summary of Hindu philosophy with a major focus on the concept of 'Karma'. Indian philosophy and history are rooted in the Upanishads, a collection of philosophical texts from ancient India. There are 108 Upanishads, which had their importance thousands of years ago. The essence of the Upanishad is embedded in the Brahma Sutra which is known to be the eternal and everlasting philosophy of universal truth. Both the Bhagavat Gita and the Upanishads were originally presented in the Sanskrit language.

Keywords: Upanishad, Bhagavat Gita, Karma, rituals

The Bhagavad Gita and the Upanishads are two of the most important works in Hinduism, and they are deeply intertwined with each other. The Bhagavad Gita is a part of the Mahabharata epic, in which the warrior Arjuna is faced with a difficult moral dilemma. Thus, many of the concepts found in the Bhagavad Gita - such as reincarnation, dharma (duty), karma (action) and moksha (freedom from rebirth) - directly stem from ideas found in the Upanishadic tradition. Together, these two texts lay out the pattern for living a righteous life in Hinduism.

Bhagavat Gita

The Bhagavat Gita is essentially a "question and answer" dialogue about every aspect of life, between the first-person Lord Krishna, and the second-person warrior prince Arjuna. The dialogue is seen and heard telepathically by the third person, the advisor and charioteer Sanjaya, who narrates the story to the fourth person, the blind King Dhritarashtra. The Bhagavat Gita enunciates a very lively conversion between the warrior prince, Arjuna, and Lord Krishna about every aspect of life. It takes place prior to the outbreak of the Mahabharata War, which was fought between two families, the Pandavas and Kauravas, on the battlefield of Kurukshetra. Kurukshetra is the region of the Kuru Dynasty. There is no mention of the Atharva Veda in the Gita. The Bhagavad Gita only mentions the first three Vedas: Rig Veda, Yajur Veda, and Sama Veda.

There is a story in the Mahabharata that tells the story of the war between the Pandavas and the Kauravas. This epic is 220,000 verses long, divided into 18 Parvas, or chapters, making it longer than Homer's Odyssey, and it consists of episodes, dialogues, tales, discourses, and sermons with many epics in them. Among the many epics that make up this epic, one of the most popular is The Bhagavad Gita.

The Bhagavad Gita is considered by many to be the "essence" of all the Vedas. It is stated in a poem called the "Gita Dhyanam" (the invocation to the Bhagavad Gita) that is frequently attached to the Bhagavad Gita, that "If all Upanishads are considered cows, then the Bhagavad Gita is considered milk." The "Gita Dhyanam" isn't part of the main Bhagavad Gita but it is often published together with it as a Preface, but it is referred to in the Bhagavad Gita as a whole. Gita Dhanyam was written by a Hin-

du philosopher, Madhusudana Sarasvati (1540 - 1640). The Bhagavad Gita has also been compared to the Sermon on the Mount and the Buddhist Dhammapada by some people.

The Bhagavad Gita addresses every problem a man or woman may face throughout his or her life. It gives us all the freedom to live the kinds of life we choose. In the Bhagavad Gita, Lord Krishna never judges or orders Arjuna. Arjuna is only informed of the pros and cons of every issue, leaving it up to him to decide whether or not he is able to follow Krishna's teachings.

Arjuna's free will was not even influenced by Lord Krishna in any way. Arjuna was entitled to accept everything, for the Bhagavad Gita it was according to him the most systematic and profound statement of perennial philosophy available to anyone. In addition to winning the admiration and interest of such intellectuals as Von Humboldt and Emerson, this scripture has also influenced thinkers like Hegel and Schopenhauer. Robert Oppenheimer, the first chairman of the Atomic Energy Commission, stunned the world when he quoted Gita after seeing the first atomic explosion in New Mexico on July 16, 1945. He later told the Congress that nuclear bombs reminded him of Vishnu, who said, "I am death, devourer of all."

Lord Krishna does not judge or order anything throughout the Bhagavad Gita, and He does not even influence Arjuna's free will. The Upanishads are Hindu culture's knowledge base. Upanishads are composed of three words: upa (near), ni (down), and shad (sit). The three words together make up an Upanishad. During the transmission of the Upanishads from masters to students, the students sat very close to the masters so that nobody could overshadow the teachings of the Upanishads, which are testing documents announcing ultimate truths revealed from the perspective of different saints in the Upanishads. According to the Upanishads, there is only one God, Brahman, and that all things are subject to him one of us is part of the immortal soul, Atman, which is also Brahman.

Whatever is contained in the Upanishads is also contained in the Bhagavad Gita of Hinduism. But whatever is contained in the Bhagavad Gita does not exist in a single Upanishad or Veda. Upanishads truly are great philosophical treats that inulepersdently deal with different aspects of spirituality contained in the Bhagavad Gita!

For gaining enlightenment, the jnana (wisdom) contained in the Bhagavad Gita contemplation of the jnana (wisdom) contained in various Upanishads was of great help. Hinduism consists of many Upanishads... totaling almost 180. But the primary Upanishads were most referred to. Some Upanishads contained examples that facilitated understanding of the deep philosophical underlying meaning.

There are a total of 108 Upanishad of which the primary nine Upanishads consisted of Katha Upanishad, Kena Upanishad, Isa Upanishad, Prashna Upanishad, Mundaka Upanishad, Mandukya Upanishad, Aitreya Upanishad, Taittiriya Upanishad and Shwetashwatara Upanishad. Apart from the above nine Upanishads, Chandogya Upanishad and Brihadarankya Upanishad are also very important. The Upanishads teach men that there is only one God, Brahman, and that every one of us is part of the immortal soul, Atman, which is also Brahman.

The Bhagavad Gita and the Upanishads (independent treatises) of Hinduism are integrally connected. Practically all the Upanishads deal with the mystical philosophical concepts detailed in the Bhagavad Gita. After the advent of Bhagavad Gita by Lord Kishna different sages and saints of different eras contemplated on the precepts of spirituality detailed in Bhagawad Gita resulting in the compilation of Upanishads. Every Upanishad rotates around a particular spiritual topic, detailing everything related to that subject.

The Mahabharata War was not a bloody war of relatives killing relatives; instead, it was a symbolic war between right and wrong, good and evil symbolic of everyday life.

Arjuna	Symbolizes	Jeevatman or the immortal soul within the body.
Lord Krishna	Symbolizes	God of Paramatman
Kurukshetra	Symbolizes	Field of action: life
Five horses	Symbolizes	Five sense organs
Pandavas	Symbolizes	Positive spiritual thoughts
Kauravas	Symbolizes	Negative destructive thoughts

The Ramayana was written by Sage Valmiki. It is the story of Lord Rama and princess Sita. Lord Rama is one of the avatars of Lord Vishnu, and the Ramayana preaches Hindu ideals of life. Sage Valmiki wrote the whole Ramayana as the narration of a crying dove who just lost her lover to a hunter's wicked arrow. This eloquent poem consists of 24,000 verses. There are many versions of the Ramayana. The Hindi version was written by Sage Tulsidas. The Malayalam version (the language of the Indian state of Kerala) was created by Tuncattu Eluttacchan.

Within the Vedas, there are four kinds of texts: Samhitas: are the basic texts for hymns to deities, formulas and chants. The Sanskrit word Sam-

hita means "put together." Brahmanas: are the descriptions of rituals, as well as the directions for performing them. The word originated from the word Brahmin. Brahmins are the original Hindu priests, and they follow the Brahmanas to conduct rituals. Aranyakas: contain mantras and interpretations of rituals. These writings are also known as "forest books," since they were used by saints who meditated in the forests.

Conclusion

The primary goal of the study was to link the teachings from the Upanishads with the Bhagavad Gita. The representation of the low-dimensional embeddings presented in this work reveals much overlap between the Upanishads and the Bhagavad Gita's essence, which adds to our objective of demonstrating the Bhagavad Gita's relationship with the Upanishads. Given the importance of religious literature to a community, employing computational models to verify any of its old and traditional spiritual principles demonstrates the scientific nature of literature and religion. In spite of the fact that the Gita is an essential extract from the Upanishads, it has been researched and written for generations in ancient Indian philosophical literature. In spite of this, computational and scientific methods have not been used to support this claim. By using deep learning-based methods, we are able to apply these methods to centuries-old philosophical narratives. It is also interesting to observe how sentiment polarity changes for Arjuna and Lord Krishna over time. Initially, Arjuna was pessimistic, but after Krishna imparted Hindu philosophy and Karma Yoga, he became optimistic. In addition to the knowledge imparted by the philosophy of 'Karma and Dharma', the polarity of the sentiments expressed over time could explain why the Bhagavad Gita is viewed as a book about psychology, management, and conflict resolution. Besides the Vedas, other texts and verses are recited today on auspicious occasions based on their deep roots in the Vedic tradition and Bhramic scripts and the Upnishad..

References

Sargeant, Withrop. The Bhagavad Gita; Aleph Book Company, 2016

Abas, P & Singh, A. (2016). The Bhagavad Gita teachings for promoting resilience and optimism among school children: A narrative overview. Indian Journal of Positive Psychology, 7(2), 232.

Doyle, Aislinn. (2015).Hargreaves and Funk; Sustainable Leadership: A Cross Cutting Conversation In Education. Retrieved June 12, 2020, from http://blog.uvm.edu/cessphd/2015/12/21/review-of-sustainable-leadership-by-andy-hargreavesand-dean-fink//

Garg, Parul & Sharma, Akanksha (n.d.).A Study On Ethical Principles Of The Bhagavad Gita For Sustainable Leadership:Academia.edu .Retrieved July 3rd 2020, from AVAD_GITA_FOR_SUSTAINABLE_LEADERSHIP

Verma, Nidhi. (2014). Stress Management and Coping Embedded in the Bhagawat Gita. Indian Journal of Health and Well-Being

Mehta, J.M. The Wisdom of the Gita; V&S Publications, 2013

Elevation to Krsna Consciousness. (2017). (n.p.): The Bhaktivedanta Book Trust International, Inc..

Theodor, Exploring the Bhagavad Gita: Philosophy, Structure and Meaning. Evanston, IL, USA: sRoutledge, 2016.

R. Pandey, ''Economic interpretation of the philosophy of the Bhagavad Gita: A descriptive analysis,'' Econ. J. Develop. Issues, vol. 23, pp. 77–101, Jan. 2018.

Yang, H. Alamro, S. Albaradei, A. Salhi, X. Lv, C. Ma, M. Alshehri, I. Jaber, F. Tifratene, W. Wang, T. Gojobori, C. M. Duarte, X. Gao, and X. Zhang, ''SenWave: Monitoring global sentiments under the COVID-19 pandemic,'' 2020, arXiv:2006.10842.

Campos, V. Mangaravite, A. Pasquali, A. Jorge, C. Nunes, and A. Jatowt, ''YAKE! Keyword extraction from single documents using multiple local features, Inf. Sci., vol. 509, pp. 257– 289, Jan. 2020.

K. Rajput, B. Ahuja, and M. K. Riyal, ''A statistical probe into the word frequency and length distributions prevalent in the translations of Bhagavad Gita,'' Pramana, vol. 92, no. 4, pp. 1–6, Apr. 2019.

Bhawuk, D. P. S. (2011). Spirituality and Indian psychology: Lessons from the Bhagavad-Gita. New Delhi: Springer.

Bansal, J. L. (2013), Srimad Bhagavadgita (The Vedanta Text), JPH, Jaipur, India, ISBN 978-14- 9230-465-4

Ramsukhdas Swami (vol. 1 & 2) , Eleventh Reprint (2014): Gita Press, Gorakhpur,India

Ruhela S.P.& Nayak R.K.(2011) : Philosophical and sociological foundation of Education Agrawal Publication, Agra Pp191,141 to 151 ISBN 978-93-8112407-9

*****

Dr. Ambedkar's Perspective of Social Exclusion and Distinction in Indian Society

-Dr Archana
Associate Professor
Department of English
MMV, BHU

Abstract

Human Rights provided new social and political ideas to human civilization. In India, democratic political order materialized the nations of similarity among social people. But Indian society is the society of dissimilarity. It is classified among castes and sub-castes. Diversity is Indian individuality. Lower sections of society suffer social cruelty by the upper caste. They are not only the targets but women are also the bigger victimized group. They are doubly tortured at homes and outside their homes. Being composed of various castes, tribes, ethnic and religious communities, with their cultural and religious practices, the Indian society is divided chiefly along different belief system, customs, religious, etc. In India, the Hindu social system is strictly divided into various castes and sub-castes. This division is created on basis of hierarchy and graded inequality. Since the Hindu caste system is embedded with various castes and sub-castes, each one is placed in the higher and lower systems in the hierarchy constructed on the perception of purity and pollution which is invariably assisted by the economic and political authority. Not only that, but the members of each caste discriminate those of the other caste in terms of the commensal relations for social interaction and relations of both sacred or religious and even secular in nature. Hence, social stratification and hierarchy give rise to inequality, discrimination, injustice and exclusion in the extreme form. The uniqueness of discrimination practiced in the caste system can be seen as based on the pursuits of occupations which are clearly categorized as clean and unclean.

Keywords: Perspective, Social Exclusion, Distinction, Untouchability, Injustice, Indian Society.

The issue of social justice is affected by numerous developmental policies and social welfare programmes. Ambedkar's perspective of social exclusion gives new thoughts and develops our knowledge about the nature of Indian society particularly that of social exclusion and distinction in Indian society. Ambedkarian perspective evaluates the social exclusion and distinction in connection to caste system. Caste system is a special characteristic of Indian society. It creates a close relation between the notion of caste and social exclusion. Ambedkarian perspective takes the notion of caste as capability deprivation and not poverty as it is result of caste system. The Ambedkarian belief of social exclusion means a community or a man is being excluded from social connections due to lower caste. Social exclusion is a situation of a man or community non-appearances in public with self-esteem due to inferior caste. Therefore caste is the basic reason of distinction and exclusion. Ambedkarian understanding does not relate poverty as the cause of discrimination. It criticizes socialist assertion that equalization of poverty is the only actual reform. It supports that social reform is the fundamental work for frugal proliferation. Instead of redefining the Indian History, Ambedkar attempted to recreate the Indian society by eradicating discriminative social structures. Ambedkar explodes poverty based social exclusion and gives current theoretical social actualities i.e. caste based inequalities. The Indian social discriminations are remarkable due the presence of caste system. Caste is not a division of labour but workers. In context to the Indian society, social exclusion is directly connected to inequalities. It is nothing but a caste system. Untouchability is the higher degree of social distinction in the Indian society to separate poor section of society in the name of caste. It should not be taken that caste system is only to do with untouchability. The foundation of caste system is social inequality of communities. The intention is not to blame any religion or community. It is an evaluation of Ambedkar's contribution in terms of social activities and intellectual step on numerous issues connected to the lower section of the society.

Untouchability is one of the dominant practices of India. It discriminates a particular section of the society which is constitutionally recognized as Schedule Castes. Lower caste people have not only lowest ritual status but also the lowest socio-economic status. They were connected to means of livelihood which were less rewarding and socially less valued. In order to develop social economic condition it was difficult to get rid of Untouchability. Ekalavya and Sambukh during Mahabharat and Ramayana period

had to face difficulties for challenging codes of conduct. The constitution of India has already declared untouchability as an offence punishable by law, but the concept of untouchability has not been explained. The protection of Civil Right Act (PCRA) 1955 failed to give the concept of untouchability. It is very difficult to understand whether the provided act constitute untouchability or not.Therefore, in the Indian context, knowledge of the process of social exclusion completely based on economic issues that would give incomplete scene. For comprehensive knowledge of the practice of social exclusion, it is important to evaluate birth based practices like untouchability and other aspect of social exclusion. Birth based forms of social exclusion maybe seen as a precondition for marginalization which is consequence of social exclusion and ignore the untouchables. The economic status was pitiable not simply because they were born is poor family but it was because of their ritual discrimination. They had very restricted right to collect assets and property. Sarat Babu writes:

> Girish Karnad in the plays, *Tale-Danda* points out how the high caste Hindus most inhumanly massacre the Sharanas of Basavanna only because they have performed a marriage between a Brahmin girl and a Harijan boy. Commenting on th contemporary relevance of the play, he remarks. It seems 800 years have solved no problems.
>
> (SaratBabu34)

The conscious existence of Ambedkar is full of social struggle against the present inequalities that aimed to create poor section of the society socially deprived forever. Thus Ambedkar struggled to ensure economic and educational progress of the lower section of society. He protested against excluded social system called as caste system. He revealed the drawback of the caste system by his work 'Annihilation of Caste'. Some of the constitutional provisions which aimed at positive inequalities are: Article 17: Abolition of untouchability and creating its practices in any situation a punishable offence. Article 46: promotion of educationaland economic interests. Article 16 and 335 preferential treatment in matters of employment in public services. Articles 330 and 332 Reservation of seats in the Lok Sabha, Rajya Sabha and State Assemblies. Badal Sircar in his play *StaleNews* remarks:

> Three-There were 3019 cases of atrocities on the Harijans in the first nine months of 1978. 175 Harijans were killed, 129 Harijan Women were raped, there were 289 cases of arson.....
>
> (Sircar 134)

Education can change and improve the condition of society. Dr. Ambedkar advocates the concept of Universal Education. He believed education as the most powerful medium to bring desired changes in the society and it is a essential for systematic attempt for launching any social motion in the modern age. For him education was an effective way to emancipate people from domination, cruelties, religious bigotryand injustice. Therefore, he provided highest priority to education in his fight for the emancipation of lower caste people from the age-old tradition. He also began educational institutions through voluntary attempt and institutions but he considered that educational organizations should under the control of state. It is the accountability of the state of give education to the people in irrespective of caste and gender in the country. The main architect of the Constitution of India believed that education should be available free of charge and that attendance in academic institutions should be compulsory for all students up to the age of 14 years as incorporated in Article 45 of the Directive principles of State Policy.

The article 46 makes a commitment to protect scheduled castes and scheduled tribes from social injustice and all shapes of domination. All the above provision signifies a clear commitment to provide freedom and dignity to Indian. Females are still deprived of primary education. Therefore, a solid commitment to the equitable provision of primary education is the first need of rapid proliferation in abolishing educational deprivation in country. This is not the only case of India, but scared resources are also given disproportionately as lesson basic education and more on higher education. The consequence of such spending is that, those who are already educated they get more advantages of government's expenditure policy on education and disadvantaged people are affected adversely. Therefore, it is obvious that upper class people get benefits of government's expenditure policy on education than disadvantaged classes. There has been an important development in overall literacy rates and school participation rates across the nation since the early 1990s. Social and Gender inequalities have also declined with an overall development in school attendance. This is fixed by the data from census report 2011. A number of causes have contributed to the developing enrollment rate including the commencement of mid-days meals, opening of alternate schools, enhancing the participation of parent teacher Associations and enrollment drives. A constitutional amendment was passed in 2002. Creating free and

elementary education a fundamental right for students aged 6-14years. The national and state government give the schemes Sarva Shikha Abhiyan, which focuss to get universal compulsory education. The quality of education remains a major concern. Discrimination in primary education can be observed between students from different economic groups, castes, sex, rural, urban and between different regions in India. These different shapes of distinction does not work in isolation. The most disadvantaged students would suffer from multiple shapes of exclusion.

Dr. Ambedkar considered that one ruins the society if provides all luxurious facilities but does not provide education. On the other hand, one develops the society if provides education. He considered that education is the definite guarantee of social alteration. Proliferation of socially excluded communities is a commitment enshrined in the constitution and education is the most effective medium of social empowerment. Ambedkar has correctly points out:

> Caste system is not merely a division labourers – which is quite different from division of labourers- it is an hierarchy in which the divisions of labourers prevents them from being united and makes them exploitable. Moreover Manu, the Hindu law-giver, says; A Brahmana may compel a Shudra, whether bought or unbought, to do servile work for he is created by the Creator to be the slave of a Brahmana.
> (Ambedkar 148)

Inhis realistic portrayal of the novel, *Untouchable*(1935), Anand was deeply moved by the suffering of the sweepers. As Anand points out:

> From that time onwards my protest about the human predicament, under the empire and in the atmosphere of our own decay, often resulting from blind acceptance of bad habits and the taboos of the sage Manu and the Hadith tradition of Islam, became self-conscious.... In this way, I sensed the pain of life, which the more privileged took out of the weaker members of the flock.
> (Anand 20-21)

Anand himself describes in the novel that the novel is for world's continuance. It is urged by the wish to express oneself in uneasy syntax, in dim perspectives and from vague feelings of those who seek to break the shackles of serfdom. It is inspired by the urge for many freedoms, bulked by the demons of power. It is against the insults, injuries, deceits, lies, hypocrisies, the mortifications and murders, brought by men become monsters and for the celebrations of the simple pleasures of the miracle that is life... which we have often exalted and frequently degraded.

Injustice is everywhere. Injustice and caste distinction are one of the contemporary issues. Ambedkar did a motion amongst marginalized communities. His idea of injustice generated from the French revolution of 1789. Dr Ambedkar addressed in constituent assembly that:

> ....the third thing we must do is not to be content with mere political democracy. We must make out political democracy a social democracy as well. Political democracy cannot last unless there lies at the base of til social democracy. What does social democracy mean? It means a way of life which recognizes liberty, equality and fraternity as the principles of life.
> These principles of liberty equality and fraternity are not to be treated as separated items in a trinity.
> They form a union of trinity in the sense that to divorce one from the other is to defeat the very purpose of democracy.
> (Larbeer 64)

Ambedkar's notion of social justice is based on social democracy which consists of three ideas of justice namely liberty, equality and fraternity. Ambedkar considered that the rights are equal and common to all humans. Larbeer remarks that:

> ....rights are protected not by law but the social and moral conscience of society. If social conscience is such that it is prepared to recognize the rights, which law chooses to enact, rights will be safe and secure. But if the fundamental rights are opposed by the community, no law, no parliament, no judiciary can guarantee them in the real sense of the word.
> (Larbeer 73)
> Ambedkar's concept of social justice is based on equal rights and human dignity through legal structure. As a consequence of his opinion, Indian constitution gives equal rights to all. Raphael also accepts it:
> ... justice and liberty are the two basic ideas of all political thought. Every society needs some sort of concept. Concerning that structure. Justice is the basic concept of social values; it is what holds a

society together.

(Raphael 68)

He was the first mentor who demanded separate reservation and electorates order in favour of lower caste in round table conference hence three round table conferences failed. Ambedkar felt that the affirmative deed is only medium for development of lower caste communities which safeguards through legal organizations. Ambedkar did not give importance to the aspiration of caste system within India and caste system gives inhuman practice among communities. Kazeha remarks:

> Caste is the monster that crosses your path, you cannot have political reform, and you cannot have economic reform, unless you kill this monster.
>
> (Kazeha 7)

Ambedkar considered that economically lower caste people are unable to get social, political and economic power. Ambedkar's conceptions are based on sustainable improvement of lower caste people through constitutional provisions and also by organizing them for struggle for fundamental rights. These are restricted by upper community in India and crime increased against them. Ambedkar believed Dalit presentation into mainstream of political field which produces lower caste movement in numerous Indian states for emancipation and justice. He also considered that law is a significant powerful medium to struggle against inequality. Lower caste and higher cast communities shall come forward to understand of his concept. Ambedkar's concept of social justice is important in contemporary completing Indian society in just society within structure of constitutional and legal techniques.

Gopal Guru said that Ambedkar's opinion of Hindu religion is that:

> Hindu law is that law of the established order and was made by the touchables. The untouchables had nothing to do except to obey it and respect it. The untouchables have not rights against the touchable. For them there is no equal right, not justice which is due to them and nothing is allowed to them. Nothing is due to them except what the touchable are prepared to grant.
>
> The untouchables mush not insist on rights. They should pray from mercy and favour and rest content with what is offered.
>
> (Guru 41)

Works Cited

Ambedkar, Dr. Babasaheb. *Writing* and *Speeches*.Bombay: Government of Maharashtra, 1987.

Anand, MulkRaj. "The Sources of Protest in My Novels" *TheIndianNovelwithaSocialPurpose*.Ed. K. Venkata Reddy and P. Bayapa Reddy. New Delhi: Atlantic Publishers and Distributors, 1999.

Guru, Gopal, "Ambedkar's Idea of Justice" *DalitsandtheState* .Ed. Ghanshyam Shah. New Delhi: Concept Publishing Company, 2002.

Kazeha, K.S. "B.R. Ambedkar, the Architect of the Constitution" *AmbedkarandNationalBuilding*. Ed. Shyamlal & Sazena. Jaipur : Rawat Publication, 1988.

Larbeer, P. Mohan. *AmbedkaronReligion* : *ALiberativePershpective*. Delhi: ISPCK 2003.

Raphael, D.D. *MoralPhilosophyofB.R. Ambedkar*. New Delhi : Rawat Publication, 1986.

Sarat Babu, Manchi. "Social Deformity in Anand's *Untouchable*", *TheIndianNovelwithaSocialpurpose* .Ed K. Venkata Reddy and P. Bayapa Reddy. New Delhi: Atlantic Publishers and Distributors, 1999.

Sircar, Badal. *ThreePlays*. Calcutta: Seagull Books, 1985.

*****

Poverty in India: Preventive, Curative and Collaborative Methods to Combat

-Jyoti Rani
Student,
Delhi School of Economics

Abstract- *India has registered a significant decline in multidimensional poverty in India from 29.17% in 2013-14 to 11.28% in 2022-23, but figures are still to be concerned of. Addressing poverty in India requires a comprehensive approach that tackles these underlying causes and promotes inclusive economic growth and social development.*

Keywords- Poverty, Inequality, Backwardness, Multidimensionally poor.

Introduction

World Bank describes Poverty as a situation of "pronounced deprivation in well being" and being poor as "to be hungry, to lack shelter and clothing, to be sick and not cared for, to be illiterate and not schooled...Poor people are particularly vulnerable to adverse events outside their control. They are often treated badly by institutions of the state and society and excluded from voice and power in those institutions".

It's a multifaceted problem encompassing hunger, inadequate shelter, limited access to healthcare and education, and vulnerability to various social and economic hardships. Hence it is the root cause of other problems. One of the ironies of our rapidly developing and increasingly progressive world is that poverty continues to remain widespread and rampant, and the vulnerable population seems to have grown ever more vulnerable. Using income as a measure of poverty, the World Development Report states that a fifth of the world's population live on less than $ 1 a day.

Various economics, social and other factors perpetuate poverty. These factors are interconnected and often reinforce each other.

Addressing poverty is a complex challenge requiring a multifaceted approach. So there is a need to focus on Economic Growth and Job Creation, Social Safety Nets, Targeted Poverty Alleviation Programs, Policy Reforms etc.

Data

More than half of India's population (55%) was multi-dimensionally poor in year 2005-06 and the intensity of poverty was also as high as 55 per cent. In India, the poverty line lies at 1,286 rupees per month for urban areas and 1,059.42 rupees per month for rural areas, which is very less.

Head count ratio The World Bank data indicates that the poverty headcount ratio at $2.15 a day (2017 PPP) is at 11.9% in 2021 in India. According to the World Inequality Report 2022, men in India capture 82% of the labour income while women earn just 18%.

Preventive Aspect

Efforts must be made to equip the marginalised and underprivileged sections of society with skills that empower them to fight, prevent or overcome poverty. Poverty is a gendered experience. Gender norms define women's role as largely confined to the home, as mother and caretaker, and men's role as responsible for productive activities outside the home. This leads to inequalities in the inheritance and division of family assets, sharing of household work and responsibilities towards other family members (especially children and the elderly).

Unpaid care work, which prevents women from participating in labour markets and, when they do work, prevents them from attaining well-paying positions. One measure could be to Quantify the value of women's unpaid household work. This will enable a better assessment of their contributions to economic growth and nation-building, earning them their due share of social respect and financial security. When paid and unpaid work are combined, women's contribution to work increases dramatically, making the female labour income share even more unfair.

Women are largely restricted to working in the informal sector. 75% of women in developing countries work in the informal economy- they are less likely to

have employment contracts, legal rights or social protection, and are often not paid enough to escape poverty. Also there is huge pay disparity, with women earning significantly less than men for doing the same work in many industries. A report by Oxfam estimates that on a global level, women earn 24% less than men, hence at the current rate of progress, it will take 170 years to close this gap. Equality of opportunity in employment and remuneration when women get empowered and hold jobs leads to tangible improvements in the status of their families and societies. An educated mother can take better care of her children, vastly improving their chances and cognitive abilities. Gender equality is needed to be achieved in the society. A Working women tend to financially invest in the well-being of their families on priority, improving their material conditions and financial security.

Chronic under-nutrition of women across generations is of great concern, since it is a key determinant of the quality of future generations, as only a healthy woman can give birth to healthy babies with good cognitive abilities. Gender budgeting, which refers to gender-based assessment of budgets to increase gender equality is a tool to achieve gender mainstreaming. Advantages of gender budgeting include improved economic growth as a result of improvements in women's education or employment. Apart from this, Providing transaction accounts to women who currently aren't part of the formal financial system. will enable them to store money, send and receive payments and to better manage their financial lives.

Business is traditionally thought as men's world. Helping women via soft loans enable and encourage their participation in economic activities. Microfinance also benefits women. Microfinance services lead to women's empowerment by positively influencing women's decision-making power and enhancing their overall socio-economic status. As such, micro-finance has the potential to promote sustainable livelihoods and better working conditions for women.

Poverty in India has always been underpinned by the age-old divisions of caste. Patterns of poverty and underdevelopment show consistent intergroup differences over time. India's class differentials have historically mirrored the traditional caste differentials. Forward castes have been the traditional decision makers through their ownership of land and capital, while castes at lower strata have more often worked as landless labourers. Indigenous tribal groups were often set apart geographically and socially from the rest of India, so have typically been the poorest of the poor. Despite aggressive affirmative action policies by the Government of India and despite substantial improvements in incomes among all Indians, poverty continues to be concentrated among these most traditionally disadvantaged groups. These classes are often characterised by high levels of illiteracy, exploitation of labour and non-representation in government services. They also have inadequate representation in the field of trade, commerce and industry. The Global Multidimensional Poverty Index, released by the United Nations Development Programme (UNDP) and the Oxford Poverty & Human Development Initiative (OPHI) states that in India, five out of six multidimensionally poor people are from lower castes or tribes. Thus, Human resource development and management, through capability building and social security measures shields people from descent into poverty.

Curative Aspect

The majority of poor people still live in kutcha houses, which are extremely exposed to environmental risks like fire, wind, and rain. Pradhan Mantri Gramin Awaas Yojana (2016), which intends to give households living in kutcha and decaying homes as well as those who are homeless, a pucca house with all basic amenities, such as toilet, electricity connection, drinking water connection, LPG connection etc. Most rural roads in the nation are in poor condition, are full of potholes, and cannot support the weight of large agricultural equipment, which lowers the quality of life for the population and makes it more difficult for farmers to carry their goods to market. Furthermore, only 33% of India's complete network of rural roads

is surfaced; the remainder are kutcha roads, which are extremely dangerous and impassable, especially during the rainy season. Even while there are schools in remote areas, they are often under-equipped in terms of classrooms, access to safe drinking water facilities, restrooms, modern education tools. Similarly, the health infrastructure is underdeveloped. Even if it exists, there are no qualified doctors because of the poor connectivity in rural areas, which prevents medical professionals or other skilled health workers from travelling there. Presence of basic infrastructural facilities for all could
reduce the problem significantly.

Another rising disaster of climate change and occurrence of extreme weather events inflicts those who are already vulnerable. Poor people are more often affected by natural hazards because they often have to settle in risky areas. Even at-risk areas become attractive for the poor if they offer economic opportunities, public services or direct amenities, and higher productivity and incomes. Only poor people live in dwellings which are frequently exposed to natural hazards such a floods, landslides etc. First, natural disasters affects transportation, drinking water, power, and the availability of food and fuel. It also has economic repercussions because the lack of transportation or flooded roads causes impacted households to miss workdays, which results in a loss of income, productivity, and even jobs. Second, natural disasters inflict diseases on families. Inadequate sanitation, a lack of potable water, and weak health infrastructure are further problems.

Good quality healthcare and nutrition should be available in an accessible and affordable form to all. There is lack of access to health facilities in rural areas. In rural India, only 37 % of people have access to In- Patient Department (IPD) facilities within a 5 km distance and only 68% have access to an Out -Patient Department (OPD). Lack of good health reduces the productivity of an individual, adversely impacts employment opportunities and, when poor health forces a break from work, can even cause unemployment. High out-of-pocket expenditure, which refers to payments made directly by individuals for services which are not covered under any financial protection scheme is a big concern. Approximately 65% of the total health expenditure in India is incurred by the public. Out-of-pocket expenditure is typically financed by household revenues and pushes many families into poverty.

Collaborative aspect

There is Limited access to resources, human and financial, available to the govt. along with limited innovation in resource management and outreach and capacities of govt. agencies, for instance in generating employment. Thus, private sector institutions should be leveraged in promoting resource mobilisation, corporate social responsibility, EWS housing schemes etc.

An enhanced contributions by the private sector in generating jobs, providing affordable goods and services etc. can alleviate financial or budgetary restrictions of the govt. and mobilise greater resources for human resource investment. Such a public- private partnership would enhance the efficiency of the govt. in providing social services such as education, health, nutrition, population control, science and innovation etc. According to the Asian Development Bank (ADB), a participation by private sector has predicated rapid economic growth driven by innovation, structural reform, and the application of private sector solutions in the public sector in many countries.

On a centre- state relation, there is limited financial resources of states along with lack of technical expertise among states to holistically address multi-dimensional poverty. Central govt. must provide financial resources and technical hand-holding to state governments in poverty reduction programs. Spatial disparities in poverty require a unified and nation-wide approach. Central govt. schemes must act as a template for state governments to model their respective schemes, after factoring local variations and needs. Integrated Rural Development Programme (IRDP), Development of women and children in rural areas, Supply of Improved Toolkits to Rural Artisans (SITRA), Rozgar Yojanas , Training of Rural Youth for Self-Employment (TRYSEM) and skill development programmes for workers in informal sector are some of the initiatives taken by government.

A nation by itself cannot develop a multi-dimensional approach to combatting poverty. Trade, which is vital

to generate employment and prosperity, requires international cooperation. Nations can benefit immensely from the experiences of others, in terms of challenges faced as well as the solutions adopted. This saves a country from the opportunity cost of having to deal with the issue completely on its own. So there is a need for global cooperation for poverty reduction amongst international communities. Expand the scope for poverty reduction assistance, by engaging with other countries and organizations.

Focus should be on strengthening experience sharing. Poverty-reduction experience sharing is important to carry out international cooperation in poverty reduction. Practice has proved that forum discussions, exchange of visits, capacity-building, policy advice, cooperative research, and information exchange among countries play an important role in promoting global poverty reduction. Participate in global poverty management. Global poverty management is an important part of global governance. Strengthening international cooperation in poverty reduction worldwide and sharing experiences in poverty reduction are vital. On this note, India joined the UN's Alliance for Poverty Eradication, concentrating to strengthen the world economy in the wake of the COVID-19 epidemic. The United Nations' international financial institution and specialised agency known as IFAD has been working on many rural development projects in India.

Conclusion

The materially poor are often viewed as inferior in worth and dignity in comparison to the wealthy. This leads to neglect, exploitation and enslavement in one form or the other. Poverty erodes or nullifies economic and social rights such as the right to health, adequate housing, food and safe water, and the right to education. The same is true of civil and political rights, such as the right to a fair trial, political participation and security of the person. Poverty is self-sustaining. Once a person is caught in its trap, it is hard to escape the cycle of poverty. It destroys self-confidence and the capacity to organise collective action and response. Globalisation has led to the privatisation of state resources and functions, and the introduction of charges even for the most basic needs reinforce the cycle of poverty by cutting off possibilities of social mobility. A powerful economic and political class has emerged, with little interest in social reform, creating further obstacles to equitable distribution of resources. In this way, poverty leads to social exclusion. The global ranking of India on various platforms shows that India is very backward compared to the other western nations. Unless strong and immediate measures are taken the poverty in India will become unrestrained. So, the government has to bring about valuable changes in its policy structures and its implementation.

References

Deaton, Angus (2013). Great Escape: Health, Wealth and the Origins of Inequality. USA: Princeton University Press.

Mundra, Dr Sheetal. "A REVIEW OF INDIAN GOVERNMENT INCLUSIVE INITIATIVES: POVERTY ON THE DECLINE." Humanities & Social Sciences Reviews 7, no. 1 (July 20, 2019): 324–31

Report of the Expert Group on Estimation of poverty Chaired by *Rangarajan and Dev,* POVERTY IN INDIA: MEASUREMENT, TRENDS AND OTHER ISSUES.

Himanshu and Abhijit Sen (2013). "In-kind Transfers: Impact on Poverty", Economic and Political Weekly 48(45-46).

Dr. P. JAYASUBRAMANIAN, Dr P. JAYASUBRAMANIAN, and N. SASIKUMAR. "Rural Poverty& Poverty Allivation Programmes in India." Indian Journal of Applied Research 4, no. 8 (October 1, 2011): 607–9.

Poverty in India - Wikipedia: https://en.wikipedia.org/wiki/Poverty_in_India

Grafiati: 'Poverty; India' - https://www.studocu.com/in/document/university-of-delhi/bcom-hons/literature-review-on-poverty-in-india/28867726

World Inequality Report

UNHDR Report, https://www.undp.org/

Sen. Amartya, Development as Freedom, Oxford

MULTIDIMENSIONAL POVERTY IN INDIA SINCE 2005-06, NITI Aayog Report

*****

The Interplay of Surrealism and Magic Realism in Ruskin Bond's *Fosterganj*

-Dr Neeta Lalwani
Guest Lecturer in English
Govt. D. B. Girls P.G College]Raipur

Abstract
Ruskin Bond's *Fosterganj* is a literary exploration of the intersections between surrealism and magic realism, set in the quiet yet enigmatic backdrop of a Himalayan village. This paper delves into the narrative techniques Bond employs to intertwine surrealism—manifested in fragmented perceptions of time, dreams, and memory—with magic realism, which integrates supernatural elements into the everyday lives of his characters. By referencing critical frameworks from André Breton's surrealist theories and Gabriel García Márquez's interpretations of magic realism, this paper situates *Fosterganj* within a global literary tradition, underscoring Bond's unique contribution to these genres in Indian literature.
Keywords: Ruskin Bond, *Fosterganj*, surrealism, magic realism, supernatural, Himalayan literature, narrative techniques

Introduction
Ruskin Bond, one of India's most beloved authors, has consistently explored the beauty and mystique of India's hill stations in his writing. In *Fosterganj*, Bond takes readers on a journey beyond the visible and tangible, crafting a world that defies the norms of realism. The novella's setting—a remote Himalayan village—is more than a backdrop; it is a liminal space where dreams and reality merge, and where the boundaries of the natural and the supernatural are fluid.
"Fosterganj wasn't just a village; it was a state of mind," the protagonist reflects, encapsulating the surreal and magical dimensions of the story (Bond 10). This evocative statement sets the tone for a narrative that blurs the distinctions between imagination and reality. The paper explores Bond's use of surrealism and magic realism as narrative devices that transform the mundane into the extraordinary, creating a literary experience that is both immersive and thought-provoking.
Drawing on the works of Breton, Márquez, and other literary theorists, this analysis positions *Fosterganj* within the broader frameworks of these genres. The study further demonstrates how Bond's storytelling techniques resonate with readers by drawing them into a world where the ordinary is intertwined with the mystical.

Surrealism in *Fosterganj*
Surrealism in *Fosterganj*: A Detailed Exploration
Surrealism in *Fosterganj* is a defining feature of Ruskin Bond's narrative style, creating a world where the subconscious and the tangible interact in profound and often unsettling ways. This literary technique, rooted in the surrealist movement pioneered by André Breton, emphasizes the dream-like, irrational, and unexpected aspects of human experience. In *Fosterganj*, Bond draws upon these principles to transform the Himalayan village into a surreal realm, where time, space, and perception are fluid and elusive.
Non-linear Time and Fragmented Perception

One of the most prominent surrealist elements in *Fosterganj* is the manipulation of time. The village seems to exist outside the constraints of chronological order, where past, present, and future blur into a single, indistinct stream. The protagonist frequently reflects on this phenomenon:
"In Fosterganj, days didn't end, and nights didn't begin. It was as though time itself had paused, unsure of its next step" (Bond 53).
This sense of timelessness not only disorients the protagonist but also immerses the reader in a reality where the conventional markers of time lose their significance. This disruption mirrors the protagonist's inner turmoil and longing for a life unbound by the demands of modernity. The fluidity of time also evokes the surrealist idea of breaking free from logical structures, allowing the narrative to unfold as a series of fragmented and dream-like experiences.
Dreamscapes and Subconscious Imagery

Bond frequently employs dream-like sequences to heighten the surreal quality of *Fosterganj*. The protagonist's dreams often blur into his waking life, creating moments of confusion and wonder. In one vivid instance, the protagonist dreams of a storm that uproots trees and floods the village, only to wake and find himself in a calm, sunlit forest. He muses:
"The dream lingered, as though it had seeped into the morning air. I couldn't tell where it ended, or if it had ended at all" (Bond 58).
This blending of dream and reality is quintessentially surrealist, reflecting the movement's focus on the subconscious as a source of meaning and truth. The recurring motif of water in the protagonist's dreams—

streams, floods, and rain—acts as a symbolic representation of his unarticulated fears and desires. The ambiguity of these dreamscapes invites readers to interpret their meaning, emphasizing the surrealist idea that understanding lies beyond the surface of rational thought.

Blurring of Reality and Fantasy

The surreal in *Fosterganj* is not confined to the protagonist's internal experiences; it permeates the external world of the village as well. Bond's descriptions of the natural environment often evoke a sense of otherworldliness. For example, the forest is portrayed as a sentient entity, capable of observing and reacting to the protagonist's presence:

"The trees seemed to close ranks behind me, their branches knitting together as though to trap me in their shadowy embrace" (Bond 66).

This anthropomorphic depiction of nature challenges the reader's perception of reality, creating a setting that feels alive and responsive in ways that defy logical explanation. The village itself becomes an enigmatic character, described as a place where "the ordinary laws of nature didn't apply, and reality bent to the whims of the unknown" (Bond 73).

Isolation and the Surreal Mindscape

The protagonist's sense of isolation in Fosterganj further amplifies the surrealist atmosphere. Alone in a remote village, his thoughts and perceptions begin to shape his reality. Bond captures this psychological dissonance through moments of heightened sensory awareness and inexplicable occurrences. In one scene, the protagonist hears a voice calling his name in the middle of the night, though no one is there:

"It wasn't a voice I recognized, yet it felt familiar, as though it had been whispering in my ear all my life" (Bond 71).

This experience is never explained, leaving the reader to question whether it is a hallucination, a supernatural event, or a manifestation of the protagonist's subconscious. Such ambiguity is a hallmark of surrealism, which seeks to unsettle and provoke introspection rather than provide clear answers.

The Surreal Atmosphere of Fosterganj

The village of Fosterganj itself embodies surrealism through its mysterious and mutable nature. Bond describes it as a place where "the air carried voices no one could place, and shadows stretched longer than they should" (Bond 66). These elements create a sense of unease and wonder, drawing readers into a world that feels both familiar and alien.

The recurring presence of animals with seemingly human traits further enhances the surreal quality of the setting. A monkey that appears to understand the protagonist's thoughts, a dog that seems to predict danger—these moments imbue the narrative with a subtle, surreal humor that balances its darker, more enigmatic undertones.

Surrealism as a Reflection of Inner States

Ultimately, the surrealist elements in *Fosterganj* serve as a mirror to the protagonist's internal struggles. His feelings of displacement, nostalgia, and longing are externalized through the dream-like quality of the narrative and the strange, inexplicable occurrences in the village. Bond's ability to intertwine the protagonist's emotional journey with the surrealist atmosphere creates a deeply immersive experience that resonates on both a psychological and symbolic level.

As Breton states in his *Manifesto of Surrealism*, "The marvelous is always beautiful, anything marvelous is beautiful, in fact only the marvelous is beautiful" (Breton 14). In *Fosterganj*, Bond achieves this marvel through his poetic prose and his ability to craft a world that is at once unsettling and enchanting.

Distorted Time and Space

In *Fosterganj*, time does not adhere to conventional linear progression. Instead, it operates as a fluid and malleable entity, creating a sense of disorientation and timelessness. This distortion is not just a narrative technique but a reflection of the protagonist's fragmented inner world. As Ruskin Bond writes, "The years didn't pass in Fosterganj; they simply folded over each other like layers of mist" (Bond 53). This poetic description encapsulates the surreal experience of being in a place that exists beyond ordinary temporal boundaries, where past, present, and future intermingle.

The disruption of time mirrors the protagonist's nostalgia and emotional displacement. Memories surface unpredictably, weaving into the fabric of his present experiences. For example, a fleeting sight of a flowering tree triggers vivid recollections of childhood, blurring the line between memory and reality. This narrative structure reflects the surrealist tradition of disrupting temporal continuity to mirror the subconscious. As David Cunningham observes, "surrealism in literature often seeks to disrupt the reader's perception of temporal continuity, reflecting the fragmented nature of human memory and experience" (Cunningham 68). Bond's portrayal of Fosterganj embodies this principle, inviting readers to engage with the protagonist's fractured perception of time.

Moreover, the timelessness of Fosterganj adds to its mystical allure. The village becomes a liminal space, suspended between worlds and untouched by the rapid changes of the outside world. This timeless quality gives the narrative a dream-like aura, enhancing the surreal experience for both the protagonist and the

reader.

Dream-like Imagery

Bond's vivid, fantastical imagery transforms the natural world of Fosterganj into a surreal dreamscape. The sensory descriptions of the environment often evoke feelings of wonder and unease, immersing readers in the protagonist's subconscious. For example, Bond writes, "The forest whispered secrets in a language only the wind understood, and shadows danced on the ground without a source" (Bond 61). Such imagery blurs the boundaries between reality and imagination, creating a world that feels alive and imbued with hidden meanings.

Dream sequences play a pivotal role in heightening this surreal atmosphere. In one particularly evocative scene, the protagonist dreams of a stream whose roar grows deafening, culminating in an overwhelming sensation of being consumed by the water. Upon waking, he finds himself by an actual stream in the forest. He reflects:

"It felt as though the dream had pulled me from my bed and placed me here, as if reality were just an extension of sleep" (Bond 75).

This blending of dream and reality is a hallmark of surrealism, showcasing Bond's ability to explore the inner workings of the human mind. The dreamscape in *Fosterganj* serves as a metaphor for the protagonist's emotional state, with the recurring motif of water symbolizing his unresolved fears and desires. By intertwining dream-like imagery with the narrative, Bond creates a multilayered text that invites readers to explore the subconscious realms of his characters.

Magic Realism in Fosterganj

Magic realism in *Fosterganj* is characterized by the seamless integration of supernatural elements into the mundane fabric of daily life. Unlike surrealism, which disrupts reality, magic realism normalizes the extraordinary, presenting it as an inherent part of existence. As Gabriel García Márquez explains, "The extraordinary is not an exception but a feature of the ordinary" (Márquez 210). Bond adopts this perspective, crafting a narrative where the mystical coexists naturally with the everyday.

The Supernatural as Everyday Reality

In *Fosterganj*, the supernatural is not treated as extraordinary; it is accepted with quiet resignation by the villagers. When the protagonist encounters a ghostly figure near the forest, his reaction is one of acknowledgment rather than fear:

"He didn't seem threatening, just…there, like the trees and the mist" (Bond 67).

This portrayal aligns with the magic realist tradition, where supernatural phenomena are woven into the narrative without disrupting the characters' sense of normalcy. The villagers themselves exhibit this attitude. One casually mentions seeing a spectral figure near the old church and remarks, "It's been there longer than any of us. Why should it leave now?" (Bond 81). This matter-of-fact acceptance of ghosts and otherworldly occurrences reinforces the idea that the extraordinary is an intrinsic part of Fosterganj's reality.

Nature as a Living Presence

Bond's depiction of the natural world in *Fosterganj* is another hallmark of magic realism. The hills, forests, and streams are not mere backdrops; they possess a sentience and agency that influence the lives of the villagers. The protagonist observes:

"The hills seemed to watch and listen, their silence heavier than words" (Bond 74).

This anthropomorphic portrayal of nature aligns with Stephen Slemon's analysis of magic realism, which often portrays the natural world as alive and interconnected with human existence (Slemon 409). The forest, in particular, is depicted as a mystical entity, capable of revealing truths and guarding secrets. The interplay between humans and nature in *Fosterganj* creates a world where the boundaries between the physical and the metaphysical are blurred, enriching the narrative with a profound sense of wonder.

Ordinary Lives, Extraordinary Settings

The characters in *Fosterganj* contribute to its magic realist charm. Their lives, though rooted in the mundane, are touched by the extraordinary. A farmer speaks to his crops as if they understand him, a villager's dream foretells an actual event, and animals behave in ways that defy explanation. These moments are never treated as anomalies but as natural extensions of life in the village. Bond's ability to merge the magical with the everyday creates a narrative that feels both fantastical and deeply authentic.

Interplay of Surrealism and Magic Realism

Bond masterfully blends surrealism and magic realism in *Fosterganj*, crafting a narrative that is both disorienting and deeply immersive. While surrealism emphasizes the dream-like and irrational aspects of the protagonist's experience, magic realism roots these phenomena in a world that feels tangible and lived-in. Together, these techniques create a rich, multifaceted text that captures the complexity of human perception and the mysteries of existence.

In *Fosterganj*, Bond invites readers to step into a world where time bends, dreams merge with reality, and the extraordinary becomes ordinary. This interplay challenges readers to question their own perceptions of reality, making the novella a profound and enduring exploration of the human experience.

Conclusion

Ruskin Bond's *Fosterganj* seamlessly intertwines surrealism and magic realism, creating a rich and layered narrative that challenges conventional perceptions of time, reality, and human experience. The surrealist elements of the story—distorted time, dream-like imagery, and the blending of memory and reality—reflect the protagonist's psychological state and transport readers into a world where the ordinary laws of existence do not apply. Bond captures this essence when he writes, "The years didn't pass in Fosterganj; they simply folded over each other like layers of mist" (Bond 53). This disorientation mirrors the protagonist's internal conflict, drawing the reader deeper into the dream-like atmosphere of the narrative.

Simultaneously, Bond's use of magic realism integrates the supernatural into the everyday fabric of life in Fosterganj. The villagers' acceptance of ghosts, premonitions, and the living presence of nature exemplifies the hallmark of magic realism, where the extraordinary is treated as an intrinsic part of the ordinary. As one villager remarks about a ghostly figure, "It's been there longer than any of us. Why should it leave now?" (Bond 81). This nonchalant attitude toward the mystical normalizes the extraordinary and enriches the narrative with cultural and philosophical depth.

The interplay between these two techniques allows Bond to craft a world that feels simultaneously real and otherworldly. Nature becomes a character, time becomes fluid, and dreams become extensions of reality. These elements resonate with the magic realist notion, articulated by Gabriel García Márquez, that "the extraordinary is not an exception but a feature of the ordinary" (Márquez 210). Furthermore, the surrealist disruption of linear time and logical continuity reflects what David Cunningham describes as "the fragmented nature of human memory and experience" (Cunningham 68), emphasizing the profound connection between the protagonist's internal struggles and the external world of Fosterganj.

By weaving these literary traditions together, Bond creates a narrative that transcends its immediate setting and becomes a meditation on the universal human condition. *Fosterganj* is not merely a village in the hills; it is a liminal space where reality and imagination converge, offering a profound exploration of memory, identity, and the mysteries of existence. The novella's enduring appeal lies in its ability to transport readers into a world where the boundaries of the real and the magical dissolve, leaving them with a sense of wonder and introspection.

References

- Bond, Ruskin. *Fosterganj*. Rupa Publications, 2013.
- Cunningham, David. "Surrealism and the Fragmented Experience of Time." *Journal of Modern Literature*, vol. 32, no. 3, 2010, pp. 65–78.
- García Márquez, Gabriel. "The Art of Fiction No. 69." Interview by Peter H. Stone, *Paris Review*, no. 82, 1981, pp. 200–213.

Slemon, Stephen. "Magic Realism as Postcolonial Discourse." *Canadian Literature*, vol. 116, 1988, pp. 409–417.

*****

Dalits and bir Ambedkar role on dalits movement : an analysis

-Priyanka Gogoi
Guest faculty , D.D.R. College, Chabua
gogoipriyanka881@gmail.com
7896045790

Abstract : Social stratification or division is a particular form of social inequality. In most societies recognise every person as superiority , inferiority , minority and other's etc. In India the root cause of social inequality in India lay in the Hindu caste system. The caste system was maintained through Brahministic Hindu ideology die to the inherent caste - non - caste divisions in the four caste (Brahmins, Kshatriyas, Vaishya and Shudras) Indian Hindu Society . The lowest caste in caste system of Hindu society in India , below them is a social class known as the " Dalits ". This paper focuses on the Dalits and their problems, how Dr. Bir Ambedkar role play on Dalits movement .

Keywords : Dalits , Untouchable , Ambedkar, Social order, Human rights, Indian Context.

Methodology : This paper is basically prepared on analytical method based on secondary sources of data -- Books, Journals, Magazines, Newspapers, Internet and all other.

Introduction

The caste system has flourished in Indian society since early period. This system categories people into difference groups based on their birth , occupation and social status. It is hierarchical system that follow for centuries and had a profound impact on Indian society. This way some class create in the society like Dalits. Definition of 'Dalits' is both highly important and complex matter. The term Dalit refers to any person of s wide range of social groups that were historically marginalized them in Hindu caste society.

' Dalits ' means 'broken ' or 'crushed' or ' scattered ' . They also known as ' Untouchable ' because Dalits were once who considered to be so polluted that they couldn't touch people of higher castes. Brahmins is the highest rank / position in India caste society. They perform temple ceremonies and doing other religions activities. The second rank held by Kshatriyas - They govern in time of peace and fight as warriors during war. The Vaishyas are the third highest caste in the system and consists of the trade - commerce. Shudra are the lowest rank of the Indian caste system society. They carried out the job duties of cleaning and sweeping within the homes of the individuals , belonging to upper castes and other public places m These job duties were regard as impure. The upper castes (Brahmins, Kshatriyas, Vaishyas) maintained social distancing form and called them ' Untouchable '. Their primary duty is to serve the other three castes, namely the Brahmins, Kshatriyas and Vaishyas.

Objectives of the study :

This study basically is an exploratory study which is based on the secondary data of information for systematisation , analysis and conclusion.

(a) Trace the history of Dalits group.

(b) Impact of Dr. B. R. Ambedkar Movement on the development of present Dalit.

(c) To known awareness of human rights of Dalits in present time

Indian Context - Social Stratification :

According to social historians , the most important and distinctive feature of Indian society is that it is based on caste and race.. These caste dominated the Aryan society of India from around 1000 B.C. Apart from those four castes, the 5th caste developed as an untouchability caste within the 3rd and 6th centuries A. D. . The caste system emerged in society amidst the caste system associated with various occupations in society that distinctions were made between castes and a discriminatory and classified Indian society.

The nation occupational groups have been defined in modern India and number of these occupational groups or castes is about 3000. The nation was divided into upper and lower classes according to social status. In the discriminatory Indian society, the lower caste had to live bitter lives as Brahmins in women's residence of the exploiters. The life, social relationships, marital relationships , workplace etc of every Hindu were controlled by the caste. They were always willing to maintain social distance by looking down on the lower caste as the religion and culture of the higher Brahmins were recognised as superior in society. There has been a declaration of social, cultural and civil rights which is practiced through religious sanctions and sanction of the law book or the ' Dharmashastras' . According to Manusmriti , the untouchables had not only religious and cultural disabilities but they were simultaneously not allowed to have possession of wealth since Shudra could torture a Brahmin.

Although these discrimations varied from place to place, caste discrimination polluted society to s greater or lesser extent throughout India. There was always the thought of the upper castes being touched by the untouchables. In south India , even the shadow of an untouchable was considered ' unholy '. Therefore, if they knew that a Brahmin was coming to the street , then untouchables had to stay away from the streets. Even the water from the wells used by the higher caste was not allowed to be drawn by the untouchables , so they had to drink the dirty water of pond's or canal's. Untouchables were not even allowed to enter temples and were refused to acquire

knowledge in same roof with upper caste students in schools. They usually plow other people fields or work as day laborers as they don't own land. They have to live their lives. Violence and sexual assault are used by non - Dalits as a control mechanism for humiliating Dalit communities. Instances of rape , torture and harrasment are all common atrocities against dalit women. People say they were unclean and shun. In the contemporary times, untouchability continues to be practiced today against dalits. In everyday life , situation untouchables subjected to segregation , insult , humiliation and frustrations.

B.R. Ambedkar and Anti untouchability Movement or Dalits Movement :

Dr. B.R. Ambedkar was born in 1891 to a socially untouchable family in India. From childhood, he faced prejudice and ostracism from the upper caste. Despite his many desire, he suffered various social injustices such as not having the opportunity to learn sanskrit because he belonged to a lower caste or community. Despite his higher education, he suffered humiliation in the workplace. He left his workplace in shame and started a new struggle to end the humiliation of Dalit untouchables.

According to Ambedkar, the people of the lower caste accepted the excellence of the upper caste. They imitated their behaviour and accepted the uneven structure of Indian society as the creation of God. Therefore, he hold the glorious social history of the untouchables by giving sociological arguments to awaken a sense of unity among the untouchables. At that point, he felt that there was no chance of liberation for the oppressed within the boundaries of Hinduism. It was with this belief that Ambedkar opposed the imitation of the upper caste and separated himself From hinduism.

When Ambedkar launched the Dalit movement during that time the anti - colonial movement also gained momentum. It wasn't possible for a sensitive statesman to stay away from the movement. He realised that opposition to the caste system it will not be possible to win the support of upper caste Indian nationalists. On the otherhand , the success of the nationalist movement requires s greater self - identity above religion, caste and race. Ambedkar was hesitant and confused about this.

In 1924 , Ambedkar led the formation of the 'Bahishkrit Hitkari Sabha' in Bombay just because to take positive steps on education and economic development provision among the under developed communities and also publish some mouthpiece. The ' Mahar Satyagraha ' led by Ambedkar over the water system in Kolar district of Maharashtra had a significant impact on the national movement.

Ambedkar had demanded separated electoral systems for the underdeveloped communities before the Simon Commission. He think that many problems would be solved if the Dalits were not seen as a marginalized group in Hindu society but as part of the working class from this idea he founded the independent 'labor party' . He introduced a bill in the Bombay legislative assembly to discuss the Kothi Bill , which exploited agricultural labourers. He campaigned in Kolab, Batugiri, Satar, Nashik and other districts of Maharashtra when the Kothi Bill was not discussed in the Bombay legislative assembly. A huge procession of thousands of agricultural labourers marched towards the Bombay council. He also founded unions for Bombay Municipal workers in 1937. To bring together the dalit groups that had already founded in different parts of India and give them an organisational form in 1942 ' Scheduled Caste Federation ' formed.

He believed that the root cause of social inequality or stratification in India lay in the Hindu caste system. The inherent caste - non - caste divisions in the four caste Indian society made it impossible to establish equality and the caste system existed through Brahministic Hindu ideology. This is why Ambedkar faced criticise of Brahministic Hindu ideology when he tried to criticize the Hindu caste system. He believed that as long as Brahministic Hindu ideology survived in India, if would not be possible to destroy the Hindu caste system. In his book ' Annihilation of the Caste '(1935) , strongly critised the Hindu caste system. He had a disagreement with Gandhi on this issue. Gandhiji had different views on the caste system. According to Gandhi, the caste system was the foundation of the Indian nation. Attempts to weaken this long - standing system can backfire. Therefore, Gandhiji's didn't destroy the caste system but emphasised on social and religious reforms of this system. It can be said that Gandhiji was a reformer on caste system while Ambedkar was in favour of abolition of caste system.

J. L.Nehru refers post colonial India will show it's modernity by standing above religion, caste and community. Nehru's thought that there was a special need to modernize the old Indian society . In order to implement the plan , the Prime Minister of India felt the need for the imaginary modern state. On the otherhand Ambedkar acknowledged the role of the state would one day become an instrument of the upper caste. Therefore , he doesn't describe the state as modern but as a field of social struggle. Sometimes struggle , sometimes understanding ,ideals, real thoughts - Ambedkar, tired of these struggles , converted in his last life the need for unity for social struggle in his last days. Ambedkar survived only as a protest icon in the multi - faced Dalit movement. Ambedkar went deep into the problem of untouchability and spoke of an institutional solution, he tried to establish his ideas atleast by giving his life in the interest of the Dalits.

In this kind of society, many reformer's right from the Gautama Buddha, have worked against the caste system and untouchability. He challenged the validity of caste and Brahminism. Meanwhile other social reformers like Jyotiba Phule , Periyar, Santh Ravidas , Sri Narayanaguru in Andhra Pradesh Vemana and Pothuluri Vera Brahman are the social reformers who fought against caste system.

Thus , the conversion of Dr. B.R. Ambedkar came as a new path for the Dalit movement. This further provided an opportunity to the Dalit society to convert to a new religion. Due to this changing scenario the Dalit movement also got a new direction. He was the 1st to advocate social, political and economic rights for the Dalits in India. But the one Dalit leader who has played the role of bringing a big change in Indian politics and Dalit society by taking forward his ideology is Kashiram. Kashiram found-

ed a political party 'Bahujan Samaj party ' in 1984. Kashiram created 'Bahujanism'. The combination he made for scheduled castes, scheduled Tribes and other backward classes was a new experiment for Indian politics. He was successful to a great extent in establishing the Dalits to power through the Dalit movement and organisation.

Impact of the dalit movement in society :

Due to his seminal role in the framing of the Indian constitution, Dr. B.R. Ambedkar is popularly known all over India as the chief architect of the Indian Constitution. His efforts to eradicate social evils were remarkable and that is why he is called the "messiah"of the Dalits and downtrodden in India. He was appointed the chairman of the Constitution Drafting Committee. The work prepared by Ambedkar provided constitutional guarantees and protections for a wide range of civil liberties for individual citizens, including freedom of religion, the abolition of untouchability and outlawing all forms of discrimination. He argued for extensive economic and social rights for women , and also won the Constituent assembly's support for introducing a system of reservations of jobs for members of the SC and ST .

Dr. B. R. Ambedkar was not only a learned scholar and an eminent jurist but also a revolutionary who fought against social evils like untouchability and caste restrictions. Throughout his life, he battled social discrimination while upholding the rights of the Dalits and other socially backward classes.

According to Constitution, no citizen may be subjected to discrimation on the bases of their religion, race, caste, place of birth, or any other factor. The state government promote with special care the educational and economic interests of the Scheduled Castes/ Tribes and shall safeguards them from social injustice and all types of exploitation. The government has taken a number of measures to protect untouchables in compliance with these constitutional provisions.

Dalit movement through transformation in the caste structure of Indian society and emphasized the fight for self dignity. The present reservation system is the outcome of Dalit movement. Dalit Movement must reconsider its stance on problems like the state, religion and other forms of exploitation as well as culture. It has to define it's goal in more concrete terms : to create a society founded on liberty, equality and fraternity. The Indian constitution makers were fully aware of the social evil of castism, hence they tried to bring these dalit people in the mainstream of society by making constitutional provisions, which are not only protecting but developing also. Fundamental rights under Indian constitution article 14,15,16,17,19,21,21(A),23,24 are important to give them their social, economic rights. The directive principles from part IV of the constitution are also important in social democracy to bring equality and giving social justice. Those provisions bringing the equality, to give social, political and economical rights to downstream people who were denied to live as a human being. Some important enactment for protecting the rights of these people --

The Protection of Civil Rights Act, 1955 -

The first important legislation, for the removal of disabilities and improving social status of Dalits is - The Untouchability (offences) Act ,1955 which was in 1976 named as the Protection of Civil Rights Act,1955. This act provides punishment for enforcing any social, religious disabilities arising out of untouchability.

The Scheduled Caste and Scheduled tribes (Prevention of Atrocities) Act 1989 -

This act is popularly known as the SC/ST act ,POA ,or simply the 'Atrocities Act '. Section 3 under of this act uses the word atrocity and gives some acts that falls under atrocity. Offences against human dignity like forcing like substances.

In this context, the dalit rights initiative provides legal aid and right awareness to members of Dalit communities and uses the law to ensure that the violation of dalit rights are addressed through the legal system.

Human rights of Dalits :

The history of mankind is marked by efforts to ensure respect for the dignity of human beings. Human rights enable individual to fully use their spiritual and other needs . All the rights available to the men are also equally applicable to the women.Numerous international legal documents, including the Universal Declaration of Human Rights (UDHR) , India has taken significant steps to advance the rights of Dalits . UDHR , India was adopted many measures emphasizing that all people are born free with equal rights.

Conclusion

India has a hierarchical caste system in the society. Within Indian culture, whether in the north or the south , Hindu or Muslim, urban or village, virtually all things, people and groups of people are ranked according various their essential qualities. Throughout India, individuals are also ranked according to their wealth and power. Even in business or academic setting, where colleagues may n't openly espouse traditional observance of caste or class ranking behaviour , they may set up fictive kingship relation, addressing one another by kingship terms reflecting family or village style hierarchy. Simultaneously, Untouchability has played an important role in Indian history and still affects many millions of Indians. The untouchables focuses on its connections with poverty and state politics, with a primarily political and historical focus, but also looks at its social construction and effects on the lives of individuals. It's a long running debate over the nature of untouchable identity and it's relationship with Hindu Culture.

Findings and Results

1) The Dalit Movement was socially based movement aiming at replaced the old hierarchical Indian Culture with democratic values.

2)Dalit Movements have realised problems related to the identity of dalits and the notions of reservation for dalits in political posts and government jobs have strongly op-

posed the practice of discrimination and Untouchability. Reserved seats in Central and State legislatures, guaranteed Representation.
3) All the benefits which go to the agriculture community also apply to dalits who are mostly farmers.
4) The dalit Movements brought their demands into the mainstream of politics and made them occupy important administrative positions in different parts of the country.
5) Some literature and intellectuals to claim their rights and maintain their identity in the hierarchical society.
6) Dalit Movement has been the consolidation of dalit identity. The pressure created by the mobilisation of the dalits has led to amelioration of their social condition.
7) The present conditions of the dalits with the conditions a decade ago, the social and economic position has relatively improved a lot.
8) The emancipation of dalits is essentially linked with their freedom from the bondage to the existing economic systems. As the economic system is still monopolished by the upper castes, their position in the caste as well as class system continues to be at the lower end.
9) The growth and spread of all dalit Movements reflect the increasing self - consciousness of the group.

Suggestions

1) Providing education among dalit communities is crucial for breaking the cycle of poverty and discrimination. Access to quality education can empower dalit individuals with knowledge, skills and opportunities for socio - economic advancement.
2) Implementing policies and programs to ensure equal access to employment opportunities for Dalits. Creating job training programs, skill development initiatives, and promoting entrepreneurship among dalit communities can help uplift their economic status.
3) Addressing issues of land ownership and redistribution to provide land to landless dalit families. Land reform policies can ultimately help empower Dalits providing them with a means of livelihood and asset ownership.
4) Promoting dalit representation in political institutions and decision - making bodies at all stages. Empowering Dalits politically can help address their concerns and interests effectively and advocate for policies that benefit their communities.
5) Conducting awareness campaigns and sanitization programs to challenge caste - based prejudices and promote social inclusion and equality. Awareness efforts can help foster greater empathy, understanding and solidarity with Dalit communities.
6) Ensuring access to quality healthcare services for dalits, including preventive care, treatment and health education.
7) Implementing community development programs that address the specific needs and challenges faced by dalit communities, including infrastructure development, sanitization, clean water access and social welfare initiatives.

References

1) Bajwa , G. S. : Human Rights in India: Implementation and Violations , Anmol Publishers , New Delhi, (1995)
2) Benarjee , Biswajit and J. B. Knight : Caste Discrimination in Indian Urban Labour Market, Journal of Developing Economic ; 1985
3) Bisra , Dr. D. N. : Ambedkar and Indian Constitution , published by Shikhar Publication, Kaushik Enclave , Burari , Delhi - 84 . First Published, 2017.
4) Freemen , J.M : Untouchables : An Indian life History, George Allen and Unwin, London (1965)
5)Joshi , R. Barbara : Untouchable ! : voices of the Dalit Liberation Movement , Zed Books ; C1986
6) Khan , Mumtaaz Ali : Human Rights and Dalits, Uppal Publishing House, New Delhi(1995)
7) Kshirsagar, R.K : Dalit Movements in India and it's leaders, M.D. Publishers, New Delhi.1994
8) Omnedt, Gail : Dalits and the Democratic Revolution - Dr. Ambedkar and the Dalit Movement in Colonial India , Sage Publications
9) Report of the Commissions for SC,ST ,1998;, Commission for SC/ST , Delhi.
10) Samaddara , Ranabira : Dalits Identity and Politics , Sage Publications ; c2001
11) Shukla, K.S. and Verma B.M. : Development of Scheduled Castes and Administration, Upper Publishing House, New Delhi
12) Srinivas, M.N. : Caste in Modern India and Other Essay, Asia Publishing House, Bombay(1962)
13) Tripathy, R.B. : Dalits: A Sub - Human Society, Ashish, Delhi. Venkateswarlu, D. 1990. Harijan Upper Class Conflict, Discovery, Delhi .
14) Vyas , C. Dharam : life history of Dr. Bhimrao Ambedkar, published by G.S. Rawat for Cyber Tech Publications, New Delhi. First Edition, 2008.

*****

Birsa Munda: Today's Adivasi National Icon

-Joseph Bara
Formerly with Jawaharlal Nehru University, New Delhi
Contact: *jebara2003@gmail.com*
Mob. 9910771528

Birsa Munda, a late nineteenth century Adivasi freedom fighter of Chhotanagpur, represents the Adivasi shade in the variegated freedom struggle of India. Highly adored today by the Indian nation, his stature as a national hero has grown phenomenally in the last few decades. He is unusually honoured by two memorials in the Parliament of India, and his birthday, 15 November, is observed by the Government of India as '*Janajati Gaurav Diwas*'. The President and the Prime Minister of India spare time to visit his birth-place to pay him homage.

Adivasis as Relentless Fighters

The Indian freedom struggle was one of the longest in the colonial world, where Adivasis fought relentlessly from the beginning to the end, making them one of most noticeable protesting groups. As they resorted to armed struggle frequently, violence is seen as the Adivasi trademark. Violence was actually an act of desperation since authorities least cared to communicate with the Adivasis on their grievances. Adivasis, like others, employed other methods as well. The Mundas and the Uraons of Chhotanagpur and the Gonds of central India adopted Gandhian way of protest since the Non-Cooperation movement. Even Birsaites, violent earlier, became Gandhian. Much earlier, since 1858, the Mundas and the Uraons experimented with the constitutional method of agitation, i.e. by petitions, depositions and judicial cases, for four decades under the Sardari Larai movement.

Frustrated with constitutionalism ultimately, the Munda and the Uraon agitators reverted to violence under Birsa Munda-led revolt, called *Ulgulan* (1895 -1900). Though violence-based, the *Ulgulan* had also a messianic face. Incidentally, the *Ulgulan* coincided with the mainstream nationalist struggle, led by Western educated elite under the Indian National Congress banner, standardizing petitioning to the British authorities as an agitation method. But the Adivasis had lost faith in it. A decade later, in 1910, the *Ulgulan* resonated in the *Bhumkal* of Bastar, another Adivasi heartland.

While fighting by multifarious means, the Adivasis had their own vision for a *disum* or rule where the society would be just, free from dominance or exploitation. The protest moves were, therefore, premeditated and actions devised accordingly. In comparison to preceding protests in Chhotanagpur, Birsa Munda's *Ulgulan* was a bigger outburst, indicating Adivasis' accumulated anger. Birsa's adroit leadership characterized it a concerted action. Besides moving tirelessly to convince the masses on the Adivasi cause and holding nocturnal meetings at strategic places, he organized three levels of loyal disciples.

Legacy in Essence

The *Ulgulan* lasted only five years. Adivasis' fight by primeval means like bow and arrow did not stand the mighty British arms. Yet, it shook the colonial hold and sent a strong message to the authorities that the century-old Adivasi problem needed urgent redressal. A 'thorough' survey of land tenure holdings and related matters was ordered and, as 'final' settlement, a slew of colonial measures ensued, culminating in the Chotanagpur Tenancy Act, 1908, considered the Magna Carta of Adivasis' traditional agrarian rights. In vogue even today, the Act signified a model measure for protecting the Adivasis elsewhere.

Birsa's intervention gave a new twist to the Adivasis' destiny. Though an illusion, the Adivasis believed that land issue was now settled. The settle-

ment actually deprived them of most of their fertile land. The situation pushed the Adivasi mind to explore life beyond agriculture. Administrative expansion in Chhotanagpur and Bihari-Bengali wrangle over education-based employment sensitized the Adivasis for this option. Pressure was put on the government and the Christian missionaries to revamp education, hitherto restricted to middle schooling, which led to regeneration of the Adivasi society in the following years.

Birsa Munda was a true grassroot leader, acceptable to Adivasi masses of indigenous faith, Hindu and Christian following. Beginning from the Munda belt of the present Khunti district and with Birsa's religious agenda of healing and preaching, the Adivasis' land issue, the mainstay of Adivasi cultural life, became the central cause and the *Ulgulan* spread far and wide among other Adivasi groups. Besides influenced by Christian teachings, popular Vaishnavite Hinduism and Adivasi belief swayed Birsa's personality, which reflected in his leadership style and action.

Birsa framed his foes clearly. While Whiteman authorities and the missionaries, who informed them about Birsa's activities, were the arch-enemies, the zamindars and their associates, called *Dikus*, were considered frontline agents of colonialism. Neo-Christian Adivasis, initially attacked as enemy missionaries' minions, and ordinary non-Adivasis masses living in Adivasi villages were assured no harm.

Unfair History

Such significant role and legacy of Birsa Munda is poorly treated in history. For half a century since his demise in 1900, Birsa Munda was in the nation's limbo. Only local Adivasis cherished his memory and admired his leadership and heroics for protecting them from British injustice. He appeared before the nation only in 1939-40, somewhat dramatically, afforded by the launching of Adivasi Mahasabha, an Adivasi movement for administrative autonomy of Chhotanagpur and Santhal Parganas, and the annual session of the Indian National Congress at Ramgarh (near Ranchi). The Adivasi Mahasabha invoked Birsa Munda as a cult figure to strengthen the Adivasi movement, whereas the Congress wanted to use him for expanding its base among the Adivasis.

The episode stirred historian's curiosity on Birsa Munda. Within general neglect of Adivasis' role in the freedom struggle, Birsa Munda is privileged. A volume by the Government of Bihar, K.K. Datta (ed) *History of Freedom Movement in Bihar* (1957), contained a chapter on Birsa Munda. The first by a historian, Datta's chapter stoked detailed investigation in the life and work of Birsa Munda. The Bihar Tribal Research Institute conducted a study, resulting in the publication of *Life and Times of Birsa Bhagwan* by S.P. Sinha (1964). Another poetic title *Dust-storm and the Hanging Mist: A Study of Birsa Munda and his Movement in Chhotanagpur* by Suresh Singh (1966) followed, emerging from author's doctoral study at the University of London.

These publications fixed the place of Birsa in the annals of freedom struggle of India. However, our knowledge and understanding of the persona of Birsa remains incomplete. The volume by Datta gives Birsa Munda an appendix treatment, sparing him only a tiny space. Datta, and Sinha likewise, attempt to dovetail Birsa's role to the mainstream nationalist struggle, neglected so far and now impelled by the presence of assertive Adivasi voice, led by Jaipal Singh, in the national politics. The works essentially show Adivasi revolt in the mainstream nationalism's shoe. Like in nationalist political consciousness, a forerunning socio-religious movement is fallaciously explained paving way for the Adivasi political move. The fact is that whatever socio-religious fermentation occurred in the Adivasi society was locally fashioned and intertwined with the protest sequences.

Supported by a medley of local primary data, Suresh Singh's *The Dust-Storm and the Hanging Mist* presents intimate details on Birsa's life and the *Ulgulan*. It describes the uprising's local origin and own direction, but abjures to put the subject on the anvil of historical critique. No attempt is made to relate it to the broader concept of nationalist struggle. This key question becomes pertinent since a stream of later scholarship either denies Birsa Munda the status of an anti-colonial freedom fighter, rating him

instead only as a fighter for mundane agrarian rights of the Adivasis; or, while recognizing his nationalist face, estimates him as a leader of secondary importance.

Baseless Highlights

The literary-type diction of Suresh Singh's story elicited literati's interest on Birsa Munda. Distinguished writer Mahasweta Devi was inspired to publish a Sahitya Akademi award-winning novel on Birsa, *Aranyer Adhikar* (in Bengali, *Jangal Ke Dawedar* in Hindi) (1977). Even film makers came forward to produce Birsa Munda documentaries. By the turn of twentieth century, Birsa was a prominent freedom fighter figure of the country.

Meanwhile, even as he is a freedom fighter ideal, historiographical gap on Birsa Munda lingers. Later writings either iconize Birsa Munda or reiterate subordinate status of his role. In the first case, noted theorist historians, Michael Adas and Ranajit Guha, cite Birsa Munda case liberally to explain millenarianism and subaltern school respectively. This tweaks Birsa as an international historical figure. In the other case, historians first depict Adivasi protests as constituents of nationalist struggle and even commend the Adivasi agitators as pioneering and indefatigable. But soon they turn to question the Adivasi protest method and leadership quality and argue that Adivasi protests were in need of Congress model of coordination and stewardship. Adivasi protests, including Birsa's *Ulgulan*, are, in other words, shown playing second fiddle to the mainstream freedom struggle. The stance stems from the prejudiced racist view of Adivasi people being backward sub-humans.

Sandwiched between the two and hyped politically, today Birsa Munda is improperly appreciated. Various interest groups scramble to use the name as a political windmill. Historical facts are distorted blatantly for partisan ends, sullying Birsa's salient persona as a secular mass leader. The earliest commentators described Birsa as a religious 'fanatic', and when first noticed by the mainstream nationalism at the time independence, he was portrayed as anti-Christian staunch Hindu. Somehow the tendency continues today.

In reality, Birsa was not partisan. When the question of protecting the Adivasi land and society came, Birsa's first followers were the Sardari Larai cadres, mostly neo-Christian Adivasis. Under Vaishnavite sway, Birsa was non-vegetarian and wore *janeyu*. But in 1898, he did not hesitate to sacrilege the Ram Temple of Chutia (Ranchi), the official shrine of the Maharaja of Chhotanagpur, at midnight. He did this for seizing a copper plate there, supposedly the Maharaja's authority of *zamindari* in Chhotanagpur. Today, Birsa is recognized as a national hero, but, simultaneously, assigned a communal tag. The whole honour he receives day in, day out by the nation is, this way, hollowed.

*****

Mapping Case Study Method for Teaching Communicative English

-Dr Abnish Singh
Professor (English) & Principal, BIUCHJ
Bareilly International University
Bareilly–243006 (U.P.) India
E-mail: abnishsinghchauhan@gmail.com

Abstract :
Traditional teaching places too much emphasis on the teacher's role in the classroom setting, where the learners, most of the time using one-way communication, observe and listen to the teacher without giving any response or involving in productive interaction, and eventually acquire rote learning rather than student-centered and task-based learning of communicative English. In such a situation, the set curriculum is only completed in the classroom for achieving course outcomes and resultantly hasty assessment is made to complete the quorum. Therefore, an innovative method, especially case study, for teaching communicative English is strongly desired in the present time for sharpening communicative abilities of the learners. If it is practised, the teachers can get opportunity to upgrade their teachings and provide platforms to the learners to apply their communication skills to real -world scenarios through task-based teaching-learning activities in English. The case study method in the communicative English classroom helps the learners learn practical aspects of the subject, while also improving their ability to gather or create and discuss suitable cases, participate in two-way communication, comprehend genuine concepts, and absorb useful vocabulary, sentence patterns and grammatical structures. The method, when implemented in the CE classrooms, becomes highly beneficial to the learners as well as the teachers in promoting active learning, augmenting group dynamics, encouraging rational and emotional discussions, imbibing communication skills, enhancing critical thinking and other personality traits. Hence, the results of this study may be of value to the institutions in India and other countries of the world as well.

Keywords: Communicative English, CEC– Communicative English Classroom, Case Study Method, Case Study, Teaching Method (Teaching Technique), TBL–Task-based Learning

Introduction

"Cases are stories with a message. They are not simply narratives for entertainment. Theyare stories to educate" (Herreid 41). According to this definition, a case study is both— a narrative and a teaching method to educate the learners. But here the question may arise— 'What happens in the story that can educate the learners?' The answer to this question is that stories have persuasive and motivational messages to capture the attention of the learners. Therefore, valuable and effective stories, including songs, poems, news reports, newspaper articles, pictures, online videos, discussions, dialogues, feedbacks, examples, samples or situational patterns, could be used as cases to make it easier for the learners to learn about and analyze the real-world experiences. Jeremy Hsu (2008) opines that "perhaps because theory of mind is so vital to social living, once we possess it we tend to imagine minds everywhere, making stories out of everything."

In today's education system of India, there are some challenges in teaching communicative English in the classroom— neglecting the purpose of teaching communicative English, traditional method of teaching, lack of effective teachers, the increasing attraction of students and teachers towards the digital platforms and the distraction generated by them, teaching and learning for completing the syllabus and qualifying the examination, lack of sufficient time for study and teaching due to the increasing usefulness of teachers in clerical works, increasing number of non-academic activities in the institutions, non-attendance of students

and lack of command over communicative English. In such a situation, classroom teaching and learning has become monotonous and less effective, significantly hurting creativity and productivity. Consequently, the questions arise: how the students should do their study and how the students should be taught communicative English by the teachers in the classroom. Hence, it seems appropriate to use case study method to teach communicative English, which will attract the attention of the students, awaken their interest in listening, speaking, reading and writing activities, cultivate their critical thinking and develop their specific qualities and abilities to learn and grow in the fast changing world of new technologies.

Mapping Case Study Method

Mapping is the process or activity of making an outline or creating an image that conveys information; whereas case study is a method of gathering, recording and presenting a case for mutual learning. The case study method is also referred to as "a case, case method" (Popil 205). The term was first used by the Harvard faculty in the 1870s and "it has been used for many years in business and law schools at Harvard University" (Kaddouro 7). A case study is one of the most widely used research methods in the fields of humanities and social sciences. Concomitantly, it is a way of teaching that encourages the learners to be involved in the learning process by having discussions and practicing critical thinking, communication skills and group dynamics. A teacher can use this technique to teach communicative English through a real-world or imaginary situation in which the learner is presented with a problem and is motivated to find a solution. This technique, since its inception, has also been adopted by some other disciplines due to its progressive nature. Nitin Nohria (2021) proclaims that "cases teach students how to apply theory in practice and how to induce theory from practice. The case method cultivates the capacity for critical analysis, judgment, decision-making, and action."

Communicative English

Communicative English is the act of sharing or exchanging information between two parties using the tool of English language. Learning communicative English is not just about getting good grades in the examination, becoming eligible for the employment and fulfilling career aspirations. Instead, it needs to support the learners in getting command over productive and receptive skills— listening, speaking, reading and writing (LSRW) for effective communication with a variety of individuals from various spheres of social and professional life. Furthermore, communicative English learning gives learners confidence and courage to express their ideas about various streams of knowledge and wisdom. "Achieving success in the workplace is closely associated with the ability to communicate effectively, both in the workplace and with outsiders" (Raman and Singh 3). Consequently, the teachers can play an important role in assisting the learners in acquiring proficiency in communicative English through the case study method.

Literature Review

This research paper proposes a new way to look at the issues faced by the learners of communicative English as they are not using practical approach for learning the course. The findings indicate that appropriate teaching techniques, motivation, and emotional balance could play a significant role in the learning process of communicative English. Hence, it is important to figure out what the learners need, work on their needs and provide them instructional material to create a successful teaching and learning environment in the classroom. In view of that, the paper looks at the need of case study method for teaching (and learning of) communicative English effectively.

Thousands of teachers of various subjects around the world have been using case study method for many years. This learner-oriented method allows students to understand with the cases discussed in the communicative English classrooms. In addition, the students remain engaged in this activity-based learning model, which helps them develop their thinking capacity, discussion ability and communication skills for seeking information, getting conclu-

sions, forming opinions or making decisions. Jo-Ann (Jodi) Crandall (2000) remarks, "Teaching case studies provides a means of bridging theory and practice" (41). Manas Ranjan Tripathi (2009) writes, "Case method is a form of qualitative and descriptive research; it looks intensely at an individual, a group or event and draws conclusion in a specific context" (660). William Hatcher et al. (2018) note that a "good case is one that achieves its learning objectives by means of a story and a critical analysis of the situation" (276).

The case study method encourages students to engage in discussions that allow them to observe, analyze, discuss, ask question, make assessment, connect to the inherent ideas and use ideas to solve the problems and present their point of view convincingly. Since the method has been included in the teaching methodology of humanities and social sciences, it inspires the students to practice and improve their communication skills in English language. Moreover, the case study method promotes the professional development of the teachers and accelerates academic growth of the students as well. This method works effectively if the teachers and the learners work together to break up the monotony and to enjoy creative learning and capability development during the sessions of communicative English. Similarly, when the case study is applied to classroom teaching, it turns the teachers as well as the students into the participants of the interactive classroom activity and thus it leads the activity to the desired outcomes.

Practical Application of Case Study Method

Inception

Studies have demonstrated that doing case study in smaller or larger groups considerably enhances students' thinking capacity and perceptual learning. It indicates two things— first, they start thinking on a higher level than just remembering facts or just repeating what someone tells them during the communication, and then they perceive right message through the process of selecting, organizing, and interpreting information received through their case study. It all comes down to how well the teachers present cases for study, infuse knowledge, motivate the students for active participation, assess their performance and guide them for further study.

Before the session starts, the teachers need to figure out what is the purpose of teaching communicative English and accordingly what kind of concept they should teach to the students. Subsequently, they need to decide what kind of learning the students want to get out of it. For example, if the teachers want their students to do well at business letter writing, they need to give them the instructions and two different case studies that show what they did well and what they didn't do. The teachers also need to give them necessary details or content for the case studies so that they can do their communication well.

Procedure

Preparation of the Case

Teachers have two options when it comes to preparing necessary details or content for case studies— they can do it themselves or they can choose the right content or data from some authentic learning resources. Either way, they have to make sure the content is useful and effective and fulfills the needs of the learners.

Topics to Write a Case Study

A case study is more than just a report on a project or product. It is a narrative about a problem and its solution. That's why the teachers are required to select or create and teach case studies, identifying problems that are relevant to the subject taught, interesting and useful as per the educational need and good enough to develop skills and expertise of the learners in the CE classroom. It is relatively easy, especially for the teachers of communicative English, to produce original case studies that may be related to current topics of socio-cultural importance and intended to facilitate the dissemination of knowledge and comprehension of the issues. They can also gather some explicit topics for their case studies from various online or offline resources for learning communication skills, such as— 'A Comprehensive Reading of the Text', 'Communication

Problems and Mistakes in English', 'A Job Application of a Professor', 'A Reader's Letter to the Editor', 'A Tale of an Interviewee', 'Developing Presentation on Goal-setting', 'A Conversation on the Usage of Whatsapp' or any other relevant topic of personal or professional world for sharing ideas or information. Omar Rabeea Mahdi et al (2020) write, "Similarly, case studies facilitate interdisciplinary learning and can be used to highlight connections between specific academic topics and real-world societal issues and applications" (297-98).

Shaping the Environment

The teachers are required to make sure that their classrooms are set up for the kind of class they want. They should start by rearranging the room so that each learner can be involved. They should also think about how many student chairs they need and if these chairs are movable into a "U" shape so that the learners can see and communicate with one another.

Presentation of the Case

The teachers are required to create and manage groups of the learners, introduce the topic of the relevant case, present background of the study, explain difficult words and phrases, elucidate sentence patterns and grammatical structures, elaborate the conceptual aspects of the content and communicate the problem areas and learning objectives to the learners through narrative form, problem-solving technique, links to source material or group or class discussions so that they can understand the meaning and spirit of the case given to them. Kevin M. Bonney (2015) remarks, "This has been reported to increase student motivation to participate in class activities, which promotes learning and increases performance on assessments." It clearly reveals that in a classroom setting, case studies typically emphasize speaking and listening exercises, reading comprehension and writing activities for developing mutual understanding.

Learner's Participation

Students naturally listen to their teachers considerately and then start reading case studies attentively, as their goal is to learn the process of receiving a case, conduct the discussion effectively and respond accordingly in the communicative English classroom. For example, at the beginning of each class, the teachers outline the objectives of the study in order to have an open and engaging discussion in which all participants are involved and advise the students to jot down needful suggestions for assisting the groups of students in achieving these objectives. The suggestions could be orally communicated, displayed on the classroom board or distributed to all students in the class. When the learners feel that they are involved from the outset, they are more likely to work together to increase participation and learning outcomes. This is where the learning process takes place. By understanding the content through case study method, the learners can become proficient and assertive in English communication.

Making Assessment

The other important part of using case study method in the classroom of communicative English is to evaluate the performance of the students and give the feedback to them. Because it instructs students on how to read, argue and understand the content, how to think about what they have read, listened, discussed, or written and how to analyze it, interpret it, evaluate it, reflect on it, and find a productive and effective solution to the problem. However, prior to the process of communication or role-play performance, the teachers must explain to students how rubrics determine their performance assessment and how the feedback is given on the basis of their performance. Hence, the combined efforts of the teachers and the students can bring deeper learning outcomes.

Acting as the Facilitator

The teachers, who use case study method in the classroom of communicative English, are actually working as the facilitators in order to assist, direct and provide support to the learners in their educational journey. Acting as the facilitators, the teachers must concentrate exclusively on providing the knowledge of communicative English to the learners and then assess their proficiency. This approach is highly motivating for the learners and encourages

them to be more communicative. Furthermore, the teachers must observe the discussion, provide feedback and suggest strategies to enhance student performance. When teaching methodically, this process helps to break down the barriers of non-native learners of communicative English.

Recognizing Learners Contribution

In order to ensure that the learners are actively engaged in the activity, it deems fit to recognize the contribution of the learners and highlight their shared ideas for appreciating their efforts. The teachers should also express that they have taken into account and valued the input of the learners by referring back to the statements from a previous discussion. During this process, they can take notes of significant points, make some specific records of what worked well and determine those areas, which still need improvement.

Advantages

The case study method helps the students learn by taking part in the learning process by gathering information, using it to solve problems, and talking about what they have learned. It also gives the teachers the opportunity to observe how the students are doing in the classroom of communicative English. Therefore, the advantages of utilizing the case study method in the classroom of communicative English are manifold. This provides them with the opportunity to enhance group communication, develop their personality, hone their task-based problem-solving abilities, improve their critical thinking and analytical skills (quantitative and/or qualitative depending on the situation), expand their power of decision-making in intricate situations, resolve ambiguities in understanding the subject and thereby increase their applicable knowledge for getting job opportunities and career development.

Challenges

Both teachers and students encounter certain challenges with this instructional method. For teachers, one of the primary difficulties is selecting the most suitable case for their students, as this requires careful consideration of content and linguistic features that are appropriate for the learners. This process demands hard work and ample time from the teachers and the learners. If teachers do not strive to innovate communicative English teaching and engage students in a focused manner, the method may fail to achieve its intended outcomes. Additionally, there is the challenge of understanding the complexities inherent in communicative English. Non-native speakers may find it difficult to grasp the meaning and spirit of English words, phrases, idioms or some other references. Despite the challenges, the advantages of this method surpass its limitations.

Model Case Study

Situation: How to do a comprehension exercise?

A comprehension exercise is assigned to the students to develop their communicative English. The teacher provides an overview of the exercise, offering guidance on how to effectively read and interpret the material, as well as the associated questions. Additionally, the teacher shares strategies for formulating written responses to these questions, encourages verbal participation when inquiries arise, and promotes engagement in group discussions related to the exercise.

Student Assessment Form

It is essential to consider various factors that contribute to the overall assessment of each student. Therefore, the following table will provide a comprehensive framework for determining the standings of students: 1. Very Poor; 2. Below Average; 3. Average; 4. Above Average; 5. Excellent

Listening Skills					Speaking Skills					Reading Skills					Writing Skill				
1	2	3	4	5	1	2	3	4	5	1	2	3	4	5	1	2	3	4	5
Remarks					Remarks					Remarks					Remarks				

In Communicative English Classroom, the students engage in the activity with enthusiasm and simultaneously develop their listening, speaking, reading, and writing (LSRW) skills. The teachers observe and evaluate the learners, guiding them in their use of communicative English with accuracy and precision.

Conclusion

The case study method employed in teaching communicative English significantly contributes to the acquisition of communicative skills by prioritizing a learner-centered and task-oriented framework. This method encourages students to learn the 'two-way' affairs of communicative English, which help them enhance their language skills, retain the concepts of the learning material, and foster a stronger relationship with their teachers. It also fosters an interactive learning environment and allows students to connect theoretical knowledge with practical skills, making the learning process more engaging and effective.

Works Cited:

Bonney, Kevin M. "Case Study Teaching Method Improves Student Performance and Perceptions of Learning Gains." *Journal of Microbiology & Biology Education*, vol. 16, no. 1, 2015, pp. 21-28. https://doi.org/10.1128/jmbe.v16i1.846

Crandall, JoAnn (Jodi). "Language Teacher Education." *Annual Review of Applied Linguistics*, vol. 20, 2000, pp. 34-55. https://doi.org/10.1017/S0267190500200032

Hatcher, William, Bruce D. McDonald & L. A. Brainard. "How to write a case study for public affairs." *Journal of Public Affairs Education*, vol. 24, no. 2, 2018, pp. 274-285. https://doi.org/10.1080/15236803.2018.1444902

Herreid, Clyde Freeman. "What is a Case? Bringing to Science Education the Established Teaching Tool of Law and Medicine." *Start with a Story: The Case Study Method of Teaching College Science*, edited by Clyde Freeman Herreid. NSTA Press, 2007, pp. 41-44

Hsu, Jeremy. "The Secrets of Storytelling: Why We Love a Good Yarn: Our love for telling tales reveals the workings of the mind." *Scientific American*, August 1, 2008. www.scientificamerican.com/article/the-secrets-of-storytelling/

Kaddouro, Mahmoud A. "Critical Thinking Skills of Nursing Students in Lecture-based Teaching and Case-based Learning." *International Journal for the Scholarship of Teaching and Learning*, vol. 5, no. 2, 2011, pp. 1–18. https://doi.org/10.20429/ijsotl.2011.050220

Mahdi, Omar Rabeea, Islam A. Nassar & Hashem Ali Issa Almuslamani. "The Role of Using Case Studies Method in Improving Students' Critical Thinking Skills in Higher Education." *International Journal of Higher Education*, Vol. 9, No. 2, 2020, pp. 297-308.

Nitin Nohria. "What the Case Study Method Really Teaches." *Harvard Business Review*, Dec 21, 2021. www.hbr.org/2021/12/what-the-case-study-method-really-teaches

Popil, Inna. "Promotion of critical thinking by using case studies as teaching method." *Nurse Education Today*, vol. 31, no. 2, 2011, pp. 204–207. https://doi.org/10.1016/j.nedt.2010.06.002

Raman, Meenakshi and Prakash Singh. *Business Communication*. Oxford University Press, 2016.

Tripathi, Manas Ranjan. "Case Methodology in Teaching & Research: A Critical Review." *The Indian Journal of Industrial Relations*, vol. 44, no. 4, 2009, pp. 660-671

*****

Challenges To E-Governance In Rural India: Today

-Dr. Seema Devi(Asst. Prof),

Km. Mayawati Government Girls P.G. College (Badalpur),

Pincode- 203207.

Affiliated to Chaudhary Charan Singh University, Meerut, UP (India)

Abstract : E-governance holds significant potential for transforming rural India by enhancing accessibility, transparency, and efficiency in public services. Today, in rural India, the endeavour to implement e-governance, as advocated by the Modi government's Digital India initiative, faces numerous challenges. This research paper delves into these hurdles, encompassing issues such as limited internet access, technological constraints, socio-economic disparities, and bureaucratic obstacles. The COVID-19 pandemic has heightened the urgency for improved digital services while highlighting the existing barriers to accessibility. Moreover, the emergence of technologies like Artificial Intelligence (AI) introduces both opportunities and complexities. Through a review of existing literature and analysis of government data, this paper aims to illuminate these challenges and propose strategies for overcoming them. Ultimately, the aim is to foster more inclusive and effective governance in rural areas, realizing the vision of Digital India for all.

Introducation : India, with its vast rural demographic, has "two-thirds of its population and 70% of its workforce residing in rural areas. The rural economy plays a vital role, contributing nearly 50% of the national income."1 Therefore, the growth and development of rural populations are essential for the overall progress and inclusive development of the nation. Rural households in India, much like those in other parts of Asia, Latin America, and Africa, require better standards in sanitation, housing, drinking water, electricity, education, healthcare, and employment. Addressing these needs is crucial to curb migration from rural to urban areas. Governments globally, including India, have initiated numerous development programs supported by e-governance measures to tackle these issues. The Digital India Programme has highlighted the potential of Information and Communication Technologies (ICT) to enhance rural development initiatives. Various ICT systems and infrastructures, such as Telecentres in villages, have been deployed to support government schemes targeting rural areas. However, the effectiveness and impact of these rural e-governance initiatives need thorough assessment. Several frameworks exist to measure the readiness and e-governance effect, including the UN E-Government Development Index, the EU E-Government Benchmark, and the OECD Digital Government Transformation. In India, the National e-Governance Service Delivery Assessment (NeSDA) framework evaluates service portals across states and central ministries on parameters such as accessibility, ease of use, and information security. However, these frameworks often lack specific tailoring for the nuanced challenges faced in rural areas. TRAI's consultation paper highlights various gaps in "digital inclusion, including mobile internet usage disparities, rural-urban divide, and gender gaps. Prioritizing inclusion can lead to a more equitable digital economy. However,

rapid technological advancements, especially with 5G and AI/ML services, may widen the digital divide, particularly for marginalized communities. Unequal access to infrastructure, low digital literacy, and affordability issues could exacerbate disparities"[2]

E-governance in rural India encompasses ICT infrastructure development wherein under "The Electronic Manufacturing Clusters (EMC) scheme has approved 19 Greenfield EMCs and 3 Common Facility Centres (CFCs) across 15 states in India, covering 3,464 acres with a total project cost of Rs. 3,732 crore, including a Government Grant-in-aid of Rs. 1,529 crore"[3]. MeitY has introduced the Modified Electronics Manufacturing Clusters (EMC 2.0) Scheme to strengthen the country's electronics industry infrastructure and deepen the electronics value chain. Though there appears to be significant amount of work done in the field of infrastructure development there is failiure in government outreach.

This research paper aims to explore the challenges to e-governance in rural India, focusing on the effectiveness of initiatives like Common Service Centers (CSCs). CSCs are pivotal to the National e-Governance Plan, providing a range of digital services to rural populations. This study examines how CSCs have contributed to technological knowledge, advancement, and awareness among the rural populace, particularly in Kerala, a state known for its pioneering e-governance efforts. By leveraging secondary data from government reports, journals, and other sources, this paper seeks to provide insights into the role of e-governance in enhancing the technological landscape of rural India.

Internet Accessibility in Rural India

Internet accessibility in rural India has been a critical focus area for the government and various stakeholders in recent years. The Ministry of Communications reports that "India had 336.60 million internet subscribers in rural areas and 497.69 million in urban areas as of September 2021 which is result of approximatetly 31,529 crore rupees which have been allocated/disbursed over the past five years to expand broadband services."[4] Despite significant progress in urban areas, rural regions have faced challenges in accessing reliable and high-speed internet services. However, several initiatives have been implemented to bridge this digital divide and improve internet accessibility in rural India.

The government has launched various programs and schemes to extend internet connectivity to remote villages. One such initiative is the BharatNet project, aimed at providing broadband connectivity to all Gram Panchayats (GPs) and beyond. This project involves laying optic fiber cables to connect even the most remote villages, thus enabling them to access high-speed internet services. "Between 2015 and 2021, India saw a remarkable 200% surge in internet subscriptions in rural areas and a 158% rise in urban areas. This growth is largely credited to the 'Digital India' program initiated in 2015."[5] Ongoing initiatives like the Bharat Net Project aim to enhance digital accessibility, affordability, connectivity, and inclusivity nationwide. "The BharatNet project, with an expenditure approval of Rs 42,068 crore, has faced significant hurdles, leading to a revised implementation strategy. Recently, the government approved expanding the project to 16 states through a Public-Private Partnership (PPP) model, increasing the budget to Rs 61,109 crore. Despite

substantial investment, only 60% of Gram Panchayats (GPs) are currently service-ready, with merely 34% equipped with Fibre to the Home (FTTH) connections."[6] Technical glitches, inadequate maintenance, and affordability issues have marred the project, while private sector involvement has fallen short. Additionally, a report by the Comptroller and Auditor General of India highlighted concerns like non-transparent bidding processes and delays in appointing officials. Outdated technology and ineffective implementation models have further compounded challenges. While the transition to a PPP model aims to address some issues, there are lingering concerns regarding maintenance, project deadlines, and Right of Way.

Internet accessibility in rural India presents a critical challenge for the country's digital inclusion efforts and overall socio-economic development. Despite significant progress in expanding connectivity through initiatives like BharatNet and PM-WANI, several obstacles persist. Prof. Santishree Dhulipudi Pandit Vice Chancellor (JNU) has asserted that "Current obstacles include connectivity issues and restricted bandwidth. The expansion of internet access often correlates with a nation's social advancement. Despite the persistent challenge of unequal internet accessibility, India's significant progress in internet usage and device adoption reflects substantial strides made in narrowing these disparities over recent years." [7]Affordability remains a barrier, with high data costs relative to income levels. Additionally, limited digital literacy and the lack of locally relevant content further impede internet adoption. Ensuring reliable connectivity, improving affordability, and enhancing digital literacy are essential for bridging the digital divide and fostering inclusive growth in rural India. Collaborative efforts between government, private sector, and civil society are crucial to address these challenges effectively.

Economic Disparities and the Future of E-Governance in Rural India

Economic conditions play a crucial role in determining the accessibility and efficacy of e-governance services in rural India. Despite the government's efforts to promote digital inclusion, economic disparities continue to hinder the widespread adoption of these services. According to the National Sample Survey Office (NSSO), rural households have a significantly lower average monthly income compared to urban households. "According to the NSSO's 2022-2023 Household Consumption Expenditure Survey (HCES), the average monthly per capita expenditure (MPCE) was Rs 3,773 in rural areas and Rs 6,459 in urban areas of India." [8]This disparity affects the ability of rural residents to afford smartphones, computers, and internet services, which are essential for accessing e-governance services.

However, there has been transformative change in the internet usability in rural areas. "According to Nielsen's India Internet Report 2023, as of December 2022, there were over 700 million active internet users in India. Rural India accounted for 425 million of these users, which is nearly 44% more than the 295 million active internet users in urban areas. The report also highlighted significant potential for growth in rural markets, as nearly half of the rural population is not actively using the internet."[9] The potential for market expansion and economic growth in rural India is immense, particularly in areas like e-commerce, digital payments, education, and skill development. Online educational resources

and e-learning platforms can significantly improve educational outcomes. In agriculture, internet access provides farmers with real-time information on weather, crop prices, and modern techniques, enhancing productivity and profitability. Healthcare services can also benefit through telemedicine, offering remote consultations and diagnostics, and online platforms that disseminate vital health information. However, several challenges need to be addressed. Infrastructure limitations, such as unreliable connectivity and inconsistent electricity supply, hinder internet use in many rural areas. Digital literacy remains low, requiring widespread educational programs to teach basic internet skills and online safety. Affordability is another issue, as the cost of devices and data plans can be prohibitive for many rural households, compounded by lower incomes in these areas.

Establishing the necessary infrastructure for e-governance in rural areas is economically challenging. "As of 2023, the BharatNet project has connected 212,229 Gram Panchayats (GPs) in India with broadband connectivity. 685,501 Km of Optical Fiber Cable (OFC) has been laid, and 995,546 Fibre-To-The-Home (FTTH) connections have been commissioned. Additionally, 104,675 Wi-Fi hotspots have been installed for last-mile connectivity."10 However Challenges such as technical glitches, maintenance issues, and affordability persist. Despite substantial investment and efforts, only 60% of GPs are currently service-ready, with 34% equipped with FTTH connections. Maintenance costs and the need for constant upgrades further strain the limited budgets of rural administrations. This often leads to unreliable service, deterring residents from relying on e-governance. Collaboration between government, private sector, and civil society is crucial to overcome these challenges and achieve universal broadband connectivity in rural India.

Administrative and Political Challenges

Bureaucratic inefficiencies in rural governance often stem from outdated systems, resource constraints, inadequate training, and complex regulations. Many rural areas still rely on manual, paper-based processes, which are slow and prone to errors. The lack of sufficient funding and infrastructure further hampers efficient administration, while local officials often lack the necessary training in modern practices and technology. Additionally, overly complex and rigid regulatory frameworks can impede quick decision-making and responsiveness, leading to delays in project approvals and service delivery. An article publsihed in The Wire asserts that the Bureaucratic system, particularly "the Indian Administrative Service (IAS), is ill-equipped to effectively address the multifaceted challenges of rural development. For a fundamental shift in approach, advocating for the establishment of a dedicated Rural Administration Service."[11] This proposed service would comprise professionals with specialized knowledge of rural issues, including architects, urban designers, environmental experts and especially rural e-governance.

Corruption is another significant challenge, severely undermining the implementation of e-governance in rural areas. It leads to the misallocation of funds, with resources meant for digital initiatives often being siphoned off through corrupt practices, resulting in incomplete or substandard implementations. It skews project priorities towards those that offer personal gain for officials, while inflating costs and re-

ducing accessibility, thereby limiting the benefits of e-governance for the rural population. This erodes trust in digital systems, as citizens doubt the integrity and security of e-governance services. While initiatives like e-Kranti aim to streamline processes and reduce corruption, loopholes persist. For instance, in "the case of the computerized interstate check posts in Gujarat, initial success was marred by incomplete implementation and lack of sustained leadership commitment. Similarly, the Bhoomi project in Karnataka faced challenges in fully eliminating corruption in land administration due to resistance and lack of change in certain processes."[12] These cases underscore the importance of effective leadership, stakeholder involvement, and comprehensive training to mitigate corruption loopholes in e-governance. Lessons from successful initiatives, like "the OPEN system in Seoul, emphasize the need for mandatory adoption, stakeholder engagement, and harmonization of administrative procedures to achieve transparency and accountability. It ensured transparency, enhanced credibility, and improved citizen access to government services. Through the OPEN system, citizens could follow their petitions online, leading to a significant decrease in corruption cases among public officials."[13]

Conclusion

The e-governance landscape in rural India faces a myriad of challenges despite the promising potential it holds for transforming governance and improving public services accessibility. Internet accessibility emerges as a critical hurdle in rural areas, despite significant government efforts to bridge the digital divide. Initiatives like the BharatNet project aim to extend broadband connectivity to remote villages, yet technical glitches, maintenance issues, and affordability constraints persist, hindering widespread adoption. Additionally, economic disparities pose a significant barrier, as lower income levels in rural households limit their ability to afford essential devices and internet services. Administrative and political challenges further exacerbate the situation, with bureaucratic inefficiencies, corruption, and complex regulatory frameworks impeding the effective implementation of e-governance initiatives. Outdated systems, resource constraints, and inadequate training hinder efficient administration, while corruption undermines the integrity and credibility of digital systems. Drawing insights from successful international models like the OPEN system in Seoul, which prioritized transparency, accountability, and citizen engagement, this paper underscores the importance of mandatory adoption, stakeholder involvement, and streamlined administrative procedures. Moreover, it emphasizes the need for dedicated efforts to address rural-specific challenges and promote inclusive growth through collaborative endeavors between government, private sector, and civil society stakeholders.

In conclusion, while e-governance holds immense promise for rural India's development, overcoming the myriad challenges requires concerted efforts, innovative strategies, and sustained commitment from all stakeholders. By addressing issues related to internet accessibility, economic disparities, administrative inefficiencies, and corruption, rural e-governance can truly realize its transformative potential and contribute to the vision of Digital India for all.

Reference

1. Chand, R., Srivastava, S. K., & Singh, J. (2017, November). Changing Structure of Rural Economy of India: Implications for Employment and Growth [Discussion paper]. National Institution for Transforming India, NITI Aayog. Retrieved from https://www.niti.gov.in/sites/default/files/2021-08/11_Rural_Economy_Discussion_Paper_0.pdf

2. Ministry of Communications. (2023, September 14). TRAI releases Consultation Paper on "Digital Inclusion in the Era of Emerging Technologies" [Press release]. Retrieved from https://pib.gov.in/PressReleasePage.aspx?PRID=1957411

3. Ministry of Electronics & IT. (2022, December 23). Azadi Ka Amrit Mahotsav: Achievements Made under Digital India Programme [Press release]. Retrieved from https://pib.gov.in/PressReleaseIframePage.aspx?PRID=1885962

4. TELECOM REGULATORY AUTHORITY OF INDIA. (2022, January 10). Information Note to the Press (Press Release No. 2/2022). New Delhi. Retrieved from https://www.trai.gov.in/sites/default/files/PR_No.02of2022.pdf

5. Mitter, S. (2023, January 31). Economic Survey 2023: India clocked 200% increase in rural internet subscriptions in six years. Business Today. https://www.businesstoday.in/economic-survey/story/economic-survey-2023-india-clocked-200-increase-in-rural-internet-subscriptions-in-six-years-368250-2023-01-31

6. Suvarna, P. (2021, August 9). BharatNet: Digital India's biggest miss. Deccan Herald. Retrieved from https://www.deccanherald.com/india/bharatnet-digital-indias-biggest-miss-1015076.html

7. Pandit, S. D. (2023, January 25). Tech-driven education in India: Bridging the gap [Blog post]. Retrieved from https://blogs.pib.gov.in/blogsdescrI.aspx?feaaid=54

8. National Sample Survey Office. (2023). Household Consumption Expenditure Survey: 2022-23 Fact Sheet (August, 2022 - July, 2023). Government of India, Ministry of Statistics and Programme Implementation. Retrieved from https://www.mospi.gov.in/sites/default/files/publication_reports/Factsheet_HCES_2022-23.pdf

9. Farooqui, J. (2023, March 16). Report says over 700 million active internet users in India as of December 2022. The Economic Times. Retrieved from https://economictimes.indiatimes.com/tech/technology/report-says-over-700-million-active-internet-users-in-india-as-of-december-2022/articleshow/98673654.cms?utm_source=contentofinterest&utm_medium=text&utm_campaign=cppst

10. Universal Service Obligation Fund, Department of Telecommunications, Ministry of Communications, Government of India. (n.d.). BharatNet Project. Retrieved from https://usof.gov.in/en/bharatnet-project

11. Sabikhi, R. (2021, January 11). Forget the IAS, India Needs a Rural Administration Service. The

Wire. https://thewire.in/government/india-ias-rural-administration-service

12. Das, B. (2016). E-Governance as an Anti-Corruption Strategy In India: Successes, Scope and Challenges. Public Affairs and Governance, 4(2). Retrieved from https://papers.ssrn.com/sol3/papers.cfm?abstract_id=3037299

13. Seoul Solution. (2016, December 23). e-Government of Seoul opens a new chapter of transparency, efficiency and public participation. Retrieved from https://seoulsolution.kr/en/content/e-government-seoul-opens-new-chapter-transparency-efficiency-and-public-participation

14. Fennell, S., Prashant, S., Charles, A., Ravindran, D., Kaur, P., & Jhunjhunwala, A. (2016). Internet Access for Rural India.

15. Kumar, S. K. A., Ihita, G. V., Chaudhari, S., & Arumugam, P. (2022, January). A survey on rural internet connectivity in India. In 2022 14th International Conference on COMmunication Systems & NETworkS (COMSNETS) (pp. 911-916). IEEE.

16. Fennell, S., Kaur, P., Jhunjhunwala, A., Narayanan, D., Loyola, C., Bedi, J., & Singh, Y. (2018). Examining linkages between Smart Villages and Smart Cities: Learning from rural youth accessing the internet in India. Telecommunications Policy, 42(10), 810-823.

17. GV, I., & Chaudhari, S. (2021). A Survey on Rural Internet Connectivity in India. arXiv preprint arXiv:2111.10219.

18. Yadav, N., & Singh, V. B. (2013). E-governance: past, present and future in India. arXiv preprint arXiv:1308.3323.

19. Haque, M. S. (2002). E-governance in India: Its impacts on relations amongcitizens, politicians and public servants. International Review of Administrative Sciences, 68(2), 231-250.

20. Lal, R., & Haleem, A. (2009). A structural modelling for e-governance service delivery in rural India. International Journal of Electronic Governance, 2(1), 3-21.

*****

उत्तराखण्ड की शाक्त परम्परा में महिषांकन प्रतिमाएँ

-नेहा खोलिया
शोधार्थी
चित्रकला विभाग,
एस.एस.जे. परिसर अल्मोडा
कुमाऊँ विश्वविद्यालय (नैनीताल)

उत्तराखण्ड धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक परम्पराओं से सम्बन्धित 'देवभूमि' के गौरव से गौरवा. न्वित यह राज्य मध्यहिमालय के भू–भाग में अनादिकाल से ही शांत वातावरण, जैव विविधता, प्राकृतिक सौन्दर्य, विभिन्न धर्म सम्प्रदायों एवं संस्कृति के कारण सभी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता है। 'देवभूमि' कहे जाने की सार्थकता देवालयों से नहीं है अपितु पग–पग पर अवस्थित देवताओं की विद्यमानता से अधिक संगत है। प्राचीन काल से ही 'शाक्त' परम्परा में देवी शक्ति की पूजा का महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन ग्रन्थों में देवी की शक्तियाँ सर्वदर्शी, सर्वव्यापी एवं सर्वशक्तिमान कही गई हैं। देवी मूर्तियों को मूर्तिशिल्प में दो वर्गों में विभाजित किया है ; सौम्य तथा उग्र स्वभाव की मूर्तियां। देवी के स्वभाव के आधार पर उसे भिन्न–भिन्न नामों से पुकारा जाता है। "शाक्त सम्प्रदाय की प्रमुख देवी उत्तर वैदिक कालीन ग्रन्थों में अम्बिका, उमा, दुर्गा, काली महाकाली नामों से उल्लेखित है। महाभारत एवं हरिवंश की दुर्गास्तुति में दुर्गा को महिषासुरमर्दिनी, मधु मांसादि भि क्षणी, नारायणप्रियतमा, वासुदेव भगनी, विंध्यवासिनी आदि नामों के साथ वर्णन किया गया है।"[1] शाक्त परम्पराओं के साथ जीवांकन का प्रभाव भी प्रदर्शित है। ये जीवांकन देवी के वाहन के रूप में तथा मातृपट्टकाओं में प्रदर्शित हैं।

शाक्त परम्पराओं के मूर्तिशिल्प में जीवांकन के रूप में महिष का अंकन मुख्य रूप से किया है। महिष अर्थात (भैंस) का अंकन उत्तराखण्ड के मूर्तिशिल्प में अंकित है। महिष का रंग काला, अधिक भोजन करने वाला बुद्धिविहीन पशु होने के कारण इस जीव को असुर की श्रेणी में माना जाता है। महिषासुर महिषी तथा रंभ का पुत्र था। पौराणिक कथाओं के अनुसार महिष यमराज के वाहन हैं। "महिष को पुराणों में यम तथा वाराही का वाहन माना जाता है।"[2] शाक्त प्रतिमाओं में महिष का अंकन महिषासुरमर्दिनी की प्रतिमाओं में तथा मातृपट्टकाओं में वा. राही के वाहन के रूप में प्रदर्शित हैं।

महिषासुरमर्दिनी में महिषांकन– शाक्त परम्परा की देवी माँ दुर्गा ने जब रौद्र (उग्र) रूप प्रकट किया उनका यह अवतार महिषासुरमर्दिनी के नाम से विख्यात है। माँ दुर्गा के इस रूप का वर्णन 'मार्कण्डेयपुराण' के अंश 'देवीमाहात्म्य' में भी मिलता है। महिषासुरमर्दिनी की प्रतिमाओं में महिष का अंकन उत्तराखण्ड के विभिन्न मू. र्तिशिल्प में यत्र–तत्र प्राप्त होता है। इन प्रतिमाओं में देवी के भावों को भी भिन्न–भिन्न रूपां में अभिव्यक्त किया है। महिषासुर राक्षस का वध करने पर देवी के मुख में शांत, वीर, रौद्र भाव के मूर्तिशिल्प प्रदर्शित हैं। "देवी वध की घ ोर क्रिया में रत होने पर भी उसके मुख पर अमिट शान्ति विराजमान है, कठोरता की छाया तक नहीं है। मानो असुर तो नाशवान है तथा देवी निमित्त मात्र।"[3]

महिषासुर राक्षस ने शाक्त 'शक्ति' के साथ युद्ध में कई अवतार जैसे– सिंह, गज, हथियारधारी मानव तथा अन्त में महिष का रूप धारण किया, जिसमें देवी द्वारा उसका वध त्रिशूल से किया गया। पौराणिक कथाओं के अनुसार माना जाता है कि महिषासुर ब्रह्मा जी का परम भक्त था। उसे वरदान प्राप्त था कि कोई भी देवता तथा दानव उसका वध नहीं कर सकता है। इस वरदान के कारण महिषासुर ने पूरी पृथ्वी, आकाश तथा इन्द्रलोक में उत्पात मचा कर अपनी उद्दंडता से सभी को परेशान कर दिया था। जिस कारण देवताओं के आग्रह पर माँ दुर्गा ने महिषासुर राक्षस का वध किया। इस युद्ध में सभी देवताओं ने महिषासुर का संहार करने के लिए अपनी–अपनी शक्तियाँ जैसे– शिव ने त्रिशूल, विष्णु ने चक्र, इन्द्र ने वज्र, सूर्य ने किरणों से भरा ढाल देवी को दिया तथा सिंह

सवारी के रूप में देवी के साथ रहा। माना जाता है कि नवरात्रि के नौ दिन तक यह युद्ध चलता रहा तथा दसवें दिन महिषासुर राक्षस का वध देवी द्वारा कर दिया गया तब से देवी की पूजा महिषासुरमर्दिनी के रूप में की जाती है।

महिष का अंकन उत्तराखण्ड के मूर्तिशिल्प में पशुरूप अथवा पशु के छिन्नसिर निष्क्रान्त मानव रूप में है। पहले प्रकार की प्रतिमा में महिष देहधारी निरूपित है तथा दूसरे में महिष देहधारी असुर की कटी गर्दन मानव रूप में प्रदर्शित है। महिषासुर के पशुअंकन मूर्ति में महिष का मुख देवी के चरणों में दायीं ओर तथा पृष्ठभाग देवी द्वारा हस्त से पकड़कर पुच्छ को ऊपर उठाये हुए प्रदर्शित है। देवी द्वारा प्रत्यालीढ़ मुद्रा में दक्षिण हस्त से त्रिशूल महिष की ग्रीवा में टिकाये अंकित है। मानवमुख महिषासुर प्रतिमा में महिष का मुख वाम ओर है, देवी अपने वाम हस्त से मानवरूप असुर के केश ग्रहित किए अंकित है। परन्तु कुछ प्रतिमाओं में पशुमुख भी वाम ओर निरूपित किए हैं। शाक्त परम्परा में महिषांकन की महत्वपूर्ण कृतियां इस प्रकार हैं–

• लाखामण्डल शिव मन्दिर की बाह्य दीवार में अंकित महिषासुरमर्दिनी की प्रतिमा में महिष देह प्रदर्शित है। महिष का मूर्तिशिल्प लयात्मक रूप से अंकित है। महिष का मुख देवी के वाम पैर पर अंकित है तथा पृष्ठ भाग (पूँछ) देवी के द्वारा अधोवाम हस्त से पकड़े हुए है। दायें हाथ से देवी ने त्रिशूल द्वारा महिष की ग्रीवा में प्रहार किया है, तथा महिष मरणासन्न अवस्था में प्रदर्शित है। "ग्रीवा पर प्रहार होने पर 'पूर्ण पशुरूप' महिषासुर का बल–शैथिल्य अत्यन्त ही निपुणतापूर्वक चित्रित है।"[4] लाखामण्डल के गर्भगृह में संग्रहित प्रतिमाओं में महिष देहधारी असुर की कटी हुयी गर्दन से मानवदेहधारी असुर निकलते हुए दर्शाया है गया, महिष के पृष्ठ भाग में देवी के वाहन सिंह द्वारा भी प्रहार किया जा रहा है। देवी की मुद्रा षट्भुजा में निरूपित है। प्रतिमा में महिष के पैर आसनस्थ मुद्रा में तथा उसके दो खुर (पैर) व पूँछ के पीछे का भाग भी निरूपित किया है।

लाखामण्डल गर्भगृह में संग्रहित

• उत्तराखण्ड के चमोली जनपद में स्थित आदिबदरी मन्दिर समूह में काली मन्दिर के गर्भगृह में महिषासुरमर्दिनी की प्रतिमा स्थापित है। इस प्रतिमा में देवी का दक्षिणपाद, पशु महिष की पीठ (पृष्ठ भाग) में अंकित है, तथा दक्षिण अधोहस्त में धारण त्रिशूल द्वारा महिष की ग्रीवा में प्रहार करते हुए प्रस्तर में शिल्पांकित किया है। महिष आसनस्थ मुद्रा में तथा महिष का मुख देवी के वामहस्त में होने के कारण महिष की गर्दन ऊपर की ओर खिची हुयी निरूपित की है।

आदिबदरी चमोली में संग्रहित

जोशीमठ चमोली के पास तपोवन नामक पुरास्थान में महिषासुरमर्दिनी की अष्टभुजा प्रतिमा में भगवती प्रत्यालीढ़ मुद्रा में त्रिभंग खड़ी प्रदर्शित है। देवी का दक्षिणपाद पशुमहिष के पृष्ठ भाग पर तथा वामपाद सीधा पीछे संस्थित है। देवी द्वारा दोनों अग्र हस्तों से त्रिशूल धारण कर महिष की ग्रीवा छिन्न कर दी गई है। और अधोवामहस्त से मानवदेह असुर के केश ग्रहितकर उसे पराभूत कर दिया है। महिष का छिन्नसिर अलग होता अर्द्धनिष्क्रान्त अवस्था में प्रदर्शित है।

• अल्मोड़ा जनपद में स्थित जागेश्वर मन्दिर समूह में माँ पुष्टि देवी के मन्दिर में महिष का अंकन माँ के चरणों में प्रदर्शित है। देवी के मुखमण्डल के अतिरिक्त शेष भाग को वस्त्र से लपेटा गया है। यह प्रतिमा स्लेटी प्रस्तर में उत्कीर्ण की है। देवी के चरणों में अंकित महिष का मुँह दायें ओर है। महिष के नेत्र बन्द, मुँह नीचे की ओर लटका हुआ, तथा जीभ बाहर की ओर प्रदर्शित है। आसनस्थ मुद्रा में महिष का अग्र पैर उसके मुँह के बगल में अंकित है, महिष चौकी के ऊपर तथा पीछे पैर के बीच में उसकी दबी हुयी पूँछ निरूपित की है। पृष्ठ भाग में देवी का वामपाद तथा देवी का वाहन सिंह प्रहार करते प्रदर्शित है।

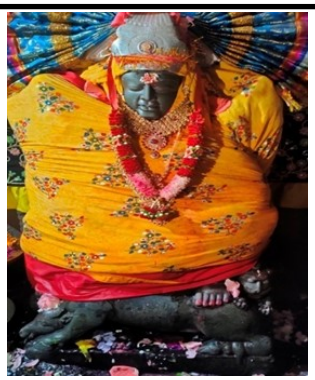

पुष्टि माता देवी में महिषांकन

• कासनी पिथौरागढ़ जनपद तथा जागेश्वर पुरातात्विक संग्रहालय से प्राप्त महिष की प्रतिमा में देवी द्विभुजी मुद्रा में दाहिने पैर से महिष की पीठ में आघात करते हुए तथा दायें हाथ से त्रिशूल से प्रहार करते प्रदर्शित है। महिष प्रतिमा में आसनस्थ मुद्रा से उठते हुए भयभीत मुद्रा में निरूपित किया है। देवी के वाम हस्त से महिष के मानवदेहरूपी केश ग्रहित किये हैं। महिष की पूँछ पीठ में घूमी हुयी पीछे की ओर अंकित है। ये प्रतिमा प्रस्तर में उत्कीर्ण की है। "पिथौरागढ़ जनपद से ही एक अन्य धातु निर्मित महिषासुरमर्दिनी की प्रतिमा, सिंह पर आरूढ़, महिष का वध करती हुई, अष्टभुजी दुर्गा के रूप में अंकित है।"[5]

• कटारमल सूर्य देव मन्दिर के गर्भगृह में संग्रहित प्रतिमाओं में मुख्य प्रतिमा 'सूर्य' के बायीं ओर महिषासुरमर्दिनी की प्रतिमा में महिष का मानवदेहरूप प्रदर्शित है। इस प्रतिमा में देवी के वस्त्रों में सुन्दर अलंकरण सुशोभित है। महिष आसनस्थ मुद्रा में है, महिष का शरीर अन्य प्रतिमाओं की तुलना में कमजोर प्रदर्शित है।

• बैजनाथ बागेश्वर से प्राप्त अष्टभुजी मुद्रा में महिष का मर्दन देवी द्वारा त्रिशूल से किया है। महिष के गर्दन से निकले हुए महिषासुर खड्ग लेकर देवी पर आक्रमण करते दिखाया गया है। प्रतिमा में युद्ध की ओजस्विता प्रदर्शित है। तथा देवी के मनोभाव में भी वीरता का प्रभाव अभिव्यक्त है।

• आंठवी शताब्दी में बाजपुर से प्राप्त तथा वर्तमान में गोविन्द बल्लभ पन्त संग्रहालय अल्मोड़ा में संग्रहित प्रतिमा में देवी के दायें हस्त से महिष की ग्रीवा में प्रहार तथा बायें से उसकी पूँछ पकड़े हुये है। प्रतिमा में वक्राकार रेखाओं का प्रभाव देवी में तथा महिष में अंकित है। महिष का मूर्तिअंकन महिषासुरमर्दिनी प्रतिमाओं में बाड़ाहाट, चम्पावत, बैजनाथ आदि स्थानों में है।

महिष अंकन की ये महिषासुरमर्दिनी प्रतिमाएँ मुख्यतः शैव सम्प्रदाय के देवालयों में संग्रहित है। महिष का अंकन प्रतिमाओं में खण्डित अवस्था में भी है। वर्तमान समय में परम्परागत रूप से चली आ रही धार्मिक परम्पराओं में महिष बलि का प्रचलन है। लोक देवी 'नन्दा देवी' के उत्सव नन्दाष्टमी में महिष बलि में माँ नन्दा को महिषासुरमर्दिनी स्वरूप ही माना गया है। महिष का अंकन, महिषासुरमर्दिनी में, बुराई के अन्त का प्रतीक माना जाता है।

महिष को यमराज का वाहन माना जाता है। हिन्दू धार्मिकता के अनुसार माना जाता है, कि यमराज मृत्यु के देवता हैं। वे दक्षिण दिशा के दिक्पाल माने जाते हैं। लाखामण्डल के गर्भगृह में स्थित मूर्तियों में महिषासुरमर्दिनी के दाहिने ओर यमराज के साथ महिष का अंकन किया है। यमराज के पीछे महिष खड़ा है। महिष की गर्दन आगे की ओर घूमी हुयी तथा गले में घण्टी, नासिका फूली हुई, सींग वक्राकार तथा कर्ण पीछे की ओर प्रदर्शित हैं।

मातृकापट्ट में महिष का अंकन– देवियों की प्रतिमाएं देवों के साथ, युगल मूर्तियों में भी मिलती हैं। किन्तु एक समूह में प्रदर्शित होने के कारण देवियों के इस समूह को मातृका कहा गया है। मातृकापट्ट में मातृकाओं की संख्या दो, तीन, सात तथा सोलह तक होती है। यह माना जाता है कि इस मातृकापट्ट में देवों ने अपनी शक्तियाँ देवी के रूप में प्रस्तुत की हैं। "ब्रह्मा की शक्ति ब्राह्मी,(ब्रह्माणी) विष्णु की शक्ति वैष्णवी, शिव की शक्ति माहेश्वरी, कुमार की शक्ति कौमारी, वराह की शक्ति वाराही, इन्द्र की शक्ति इन्द्राणी, यम की शक्ति चामुण्डा व नृसिंह की शक्ति नारसिंही कहलाती हैं।"[6] मातृका पट्ट में अंकित मातृकाओं में जीवांकन का भी विशेष महत्व है। मातृकाओं को द्विभुजी तथा चतुर्भुजी मुद्रा में अपने–अपने वाहनों के ऊपर ललितासन मुद्रा में प्रदर्शित किया है। कुछ भद्रासन, सुखासन, पद्मासन मुद्राओं में भी दर्शायें हैं। मातृकाओं में वाराही देवी के वाहन महिष है।

विष्णु के वराह अवतार की देवी को वाराही कहा गया है। देवी वाराही का शीर्ष भाग वराह (सूअर) का, धड़ स्त्री का है। वाराही का अंकन उत्तराखण्ड के मातृकाएं पट्ट में स्वतन्त्र तथा संयुक्त रूप में किया है। "वाराही में शूकरमुखी देवी भैंसे में बैठी है।"[7] लाखामण्डल के प्रवेश द्वार के अन्दर बायें ओर की दीवार में प्रस्तर में उत्कीर्ण मातृकापट्ट स्थापित है, जिसमें आठ मातृकाएं तथा उनके साथ गणेश का अंकन किया है, इसी अंकन में वाराही देवी भी अंकित है। बागेश्वर बागनाथ से प्राप्त मातृका पट्ट में वैष्णवी, वाराही, तथा इन्द्राणी प्रदर्शित हैं। इसमें वाराही देवी, वैष्णवी तथा इन्द्राणी के मध्य में महिष के ऊपर ललितासन मुद्रा में निरूपित की है। महिष आसनस्थ मुद्रा में है तथा उसके पीठ में कमल पंखुडियों के ऊपर देवी बैठी है। महिष के सींग अर्द्धवृत्त के समान है तथा कर्ण पत्तिनुमा और नेत्र नीचे की ओर देखते हुए अंकित हैं। इसी प्रकार का एक मातृका पट्ट नारायण काली अल्मोडा में भी प्रदर्शित है। बैजनाथ से प्राप्त मातृकापट्ट में द्विभुजी वाराही दक्षिण हस्त में मीन (मछली) लेकर उसे खाती हुई प्रदर्शित है। "गा. पेश्वरं–संग्रह की वाराहीमूर्ति महिषारूढ़ा है तथा उसके मुख के वाम ओर एक अतिरिक्त वराह मुख प्रदर्शित है।

शिव मन्दिर बाणेश्वर की मूर्ति उत्कुटिकासन में महिषासना एवं द्विमुखी है।"[8]

मातृकापट्ट में महिषांकन (बागनाथ)

उत्तराखण्ड के शाक्त परम्परा में देवियों के साथ अंकित जीवांकन में महिष का अंकन महिषासुरमर्दिनी की प्रतिमाओं में महिषासुर राक्षस के अवतार के रूप में मानवदेह तथा पशुरूप में प्रदर्शित है। देवताओं के वाहन के रूप में महिष को, यमराज तथा वाराही देवी के साथ निरूपित किया है। महिष एक असुर जाति का जीव माना जाता है। शाक्त परम्परा में इसका अंकन दैत्यों के संहार तथा देवताओं के कल्याण को प्रदर्शित करता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1 श्रीवास्तव, ब्रजभूषण (2010) : प्राचीन प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ0 132।

2 सिंह शरद (2006) : खजुराहों की मूर्तिकला के सौन्दर्यात्मक तत्व, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी पृ0 94।

3 कठोच यशवन्त (2003) : मध्य हिमालय की कला, विनसर पब्लिशिंग कम्पनी देहरादून, पृ0 165।

4 कठोच यशवन्त (2003) : मध्य हिमालय की कला, विनसर पब्लिशिंग कम्पनी देहरादून, पृ0 166।

5 उनियाल हेमा (2005): कुमाऊँ के प्रसिद्ध मन्दिर (धर्म, संस्कृति एवं वास्तुशिल्प) तक्षशिला प्रकाशन, 98–ए, हिन्द पार्क, दरियागंज नई दिल्ली पृ0 153–154।

6 श्रीवास्तव, ब्रजभूषण (1990) : प्राचीन प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ0 109–110।

7 उपाध्याय वासुदेव (1982) : प्राचीन भारतीय मू. र्ति–विज्ञान, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी पृ0 110।

8 कठोच यशवन्त (2003) : मध्य हिमालय की कला, विनसर पब्लिशिंग कम्पनी देहरादून, पृ0 171

मैत्रेयी पुष्पा की कथा-प्रस्तुतिकरण की शैली

-नीरज कुमार
सहायक प्रोफेसर हिन्दी
कु.मायावती राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविदयालय,
बादलपुर,गौतम बुद्ध नगर उ.प्र.

'शैली' शब्द के सामान्य अर्थ हैं– ढंग, तरीका, पद्धति, विधि और प्रणाली। अर्थात विचार प्रकट करने का ढंग या पद्धति शैली कहलाती है। कुछ विद्वान इसे 'कथन का तरीका' या 'अभिव्यक्ति का ढंग' भी कहते हैं। प्रस्तुतिकरण की पद्धति ही एक साहित्यकार को दूसरे से विशेष या अलग बनाती है। एक ही विषय पर लिखने वाले अपनी शैली की मौलिकता एवं विशिष्टता के कारण सामान्य एवं महान जैसी उपमाओं से नवाजे जाते हैं। कभी गालिब ने कहा था–

हैं और भी दुनियाँ में सुखनवर बहुत अच्छे।
कहते है कि गालिब का है अंदाज–ए–बयाँ और।।

यहाँ गालिब ने 'अंदाज–ए–बयाँ' को अर्थात बयान करने, कहने के निराले और अनोखे अंदाज को अपनी सबसे बड़ी विशेषता कहा है। कहने का अलग अंदाज ही शैली है, जिसे अंग्रेजी में स्टाइल (Style) कहा जाता है। प्रत्येक रचनाकार की अपनी अलग शैली होती है जो उसकी पहचान होती है। इसी कारण आला. `चक शैली को रचनाकार के व्यक्तित्व का आइना मानते हैं। जिस रचनाकार का जैसा व्यक्तित्व होता है उसकी शैली भी वैसी ही होती है। शैली की महत्ता बताते हुए भगवती चरण वर्मा लिखते हैं– ''क्या लिखा जाता है? कला इसमें नहीं है, कैसे लिखा जाता है? इसमें कला है। अतः कला का मूलाधार शैली है।''[1] प्रत्येक रचनाकार अप. ने व्यक्तित्व के अनुरूप एक नई रचना पद्धति का निर्माण करता है, जो कालांतर में उसकी पहचान बन जाती है। उषा यादव कहती हैं कि– ''शैली वह भाषिक वैशिष्ट्य है जो किसी रचनाकार के भावों एवं विचारों को यथातथ्य प्रकट करती है। किसी रचनाकार की कृति में वे विशेषताएँ जब बार–बार मिलती हैं तभी शैली का रूप ध ाारण करती है।''[2]

मैत्रेयी की शैली सहजता एवं सरलता की शैली है। मैत्रेयी कहती हैं– ''सरल भाषा के साथ सहज शैली मैं लेखन के लिए अनिवार्य मानती हूँ कि किसान ही नहीं किसान स्त्रियाँ पढ़े, मजदूर स्त्रियाँ पढ़े। जिस रचना को ये पढ़कर समझ सकते हैं, उससे बड़ी कलात्मक रचना मेरे लिए कोई नहीं।''[3] शैली के विषय में मैत्रेयी का मानना है कि पठनीयता शैली की अन्यतम विशेषता होती है। रचना का लक्ष्य आम पाठक होता है न कि विद्वान आलोचक। मैत्रेयी प्रश्न करती हैं– ''आप अपनी रचना में किस वर्ग के पाठक को संबोधित कर रहे हैं? मुट्ठी भर शिष्ट संभ्रांत पाठकों को या अपने देश के उस बड़े वर्ग को, जिसे लोक कहते हैं?''[4] जाहिर है मैत्रेयी अपने उपन्यासों में लोक को संबोधित करती हैं। अपनी शैलीगत विशेषताओं के विषय में स्वयं मैत्रेयी कहती हैं– ''पाठक को रचना में तल्लीन रखकर मुद्दे की बात कहना कठिन काम है। हम किन शब्दों में, किस मुहावरे में कहानी कहते जाएँ कि पाठक को वह अपनी बात लगे। हमारे लिखे में उसकी अपनी जिंदगी उभरती जाए। यह तो निश्चित बात है कि आम पाठक न आपका दर्शन समझना चाहता है, न उपदेश सुनने का आदी होता है। वह लंबे–लंबे वाक्य और उद्धरण भी नहीं चाहता, वह कहानी के बीच कतई नहीं चाहता कि लेखक बोलने लगे। जो कुछ हो, पात्रों के संवादों, संकेतों और रहन–सहन से व्यक्त हो क्योंकि वह भी उनमें से एक होकर साथ–साथ चलना चाहता है।''[5]

मैत्रेयी के सभी उपन्यासों में मैत्रेयी की उक्त शैलीगत विशेषताएँ विद्यमान है। इसके बावजूद मैत्रेयी अपने हर उपन्यास में शैलीगत परिवर्तन करती हैं। पात्र, परिवेश और कथ्य के परिवर्तन एवं संयोजन से प्रत्येक उपन्यास दूसरे से अलग और अनोखा दिखाई पड़ता है। मैत्रेयी कहती हैं– ''शैली को हम बदलते हैं, नहीं बदलते तो दोहराव के शिकार होते हैं। कथ्य जीवन मूल्यों का ही रूप है, संवेदना और संभावना द्वारा अपनी रचनात्मकता बनाए रहने वाला तत्त्व कभी यात्रा का प्रस्थान बिन्दु बनता है तो कभी सफर का लक्ष्य।''[6]

उक्त वक्तव्य में मैत्रेयी ने अपनी एक चिरपरिचित शैली की ओर संकेत किया है। इसके अन्तर्गत कथा का आरम्भ कथा के चरम उत्कर्ष से होता है, तत्पश्चात पूरा कथाचक्र स्मृति के आधार पर पुर्नसृजित होता है। जैसे 'अगनपाखी' उपन्यास में कथा का आरम्भ कचहरी में भुवनमोहिनी द्वारा दायर हलफनामे से होता है। यह कथ. ावस्तु का चरम बिन्दु है सभी घटनाएँ इसके पूर्व घट चुकी है। अर्थात उपन्यास 'कैसे' से 'क्या' की ओर गतिशील नहीं होता बल्कि 'क्या' से 'कैसे' की ओर बढ़ता है। इसे पूर्वदीप्ति शैली कहा जाता है। कुछ विद्वान इसे

पृष्ठावलोकी शैली भी कहते हैं। इसी प्रकार 'विजन' उपन्यास में भी कहानी के चरम उत्कर्ष बिन्दु से कथा आरम्भ होती है। 'कही ईसुरी फाग' का आरम्भ भी शोध ा–निर्देशक के अस्वीकृति पत्र से होता है, जबकि पूरा उपन्यास ऋतु के शोध संघर्ष के माध्यम से अभिव्यक्ति पाता है।

पूर्वदीप्ति शैली की सबसे रोचक बात यह है कि यह कथातत्त्व की सबसे मूल विशेषता अर्थात आक. स्मिकता पर विशेष जोर देती है। उपन्यास को रोचक और रोमांचक बनाने में यह शैली अत्यंत कारगर सिद्ध होती है। कौतुहल, विस्मय और जिज्ञासा को आत्मसात करने वाली यह शैली पाठक को सहज ही बाँध लेती है। उपन्यासों के मध्य में भी मैत्रेयी इस शैली के दूसरे रूपों का भरपूर प्रयोग करती हैं। पात्रों के अतीत और काल की मानसिकता को बताने के लिए मैत्रेयी इस शैली का प्रयोग बहुतायत से करती हैं। फ्लैशबैक नामक यह शैली वैसे तो सिनेमा में इस्तेमाल की जाती है, किन्तु साहित्य भी इससे कम लाभान्वित नहीं हुआ है। मैत्रेयी अपने उपन्यासों के पात्रों की स्मृति तरंगों को शब्दबद्ध कर उनके जीवन के अतीत को पाठकों के समक्ष चित्रित करती हैं। 'चाक' उपन्यास में सारंग अपने बचपन और गुरूकुल की स्मृतियों को इसी फ्लैशबैक शैली के जरिए कथानक का हिस्सा बनाती है। 'अल्मा कबूतरी' में भूरी कबूतराओं के इतिहास एवं परतंत्र भारत की स्थिति को इसी शैली से अभिव्यक्त करती है। 'गुनाह–बेगुनाह' के तमाम पात्र इसी पूर्वदीप्ति शैली के द्वारा अपने अतीत को खंगालते हैं। 'फरिश्ते निकले' उपन्यास में भी बेला बहू तथा अन्य पात्र स्मृति जन्य वर्णनों से उपन्यास को रोचक एवं पठनीय बनाने में योगदान देते हैं।

मैत्रेयी पुष्पा अपने उपन्यासों में अनदे खे–अंजाने यथार्थ और पात्रों की सृष्टि करती हैं। परिवेशगत विशेषताओं के साथ मैत्रेयी इन पात्रों एवं समुदायों का ऐतिहासिक परिपेक्ष्य भी विस्तार से वर्णित करती हैं। जिससे घटनाओं, कथा तथा पात्रों को विश्वस. नीयता प्राप्त होती है। पाठकों के जीवनानुभवों से भिन्न होने के बावजूद इसी कारण ये उपन्यास लोकप्रियता हासिल करते हैं। विवरणों की प्रामाणिक अभिव्यक्ति मैत्रेयी के सभी उपन्यासों की विशेषता है। यहाँ मैत्रेयी का जीवनानुभव उनकी पूँजी के रूप में सामने आता है। प्रत्येक रचना के पहले मैत्रेयी अपना होम वर्क भी करती हैं, जिससे उपन्यासों के विवरण इतिहास सम्मत बन जाते हैं। 'अल्मा कबूतरी' ऐसा ही उपन्यास है जो उपन्यास के कलेवर में कबूतरा जनजाति का पूरा ऐतिहासिक ब्यौरा पाठकों को उपलब्ध करा देता है। 1871ईŒ के अपराधी जनजाति अधिनियम से लेकर 1952 ईŒ में विमुक्त घ ोषित होने के संवैधानिक अधिकारों सहित कबूतराओं की उत्पत्ति, विकास, रीति–रिवाज, धार्मिक मान्यताएँ, सांस्कृतिक विशेषताएँ, रहन–सहन, पहनावा, खान–पान, दिनचर्या, पेशा, वर्तमान समस्याएँ, इत्यादि सभी विवरण इस उपन्यास में मिल जाते हैं। विवरणों के वर्णन की यह शैली मैत्रेयी के सभी उपन्यासों में पाई जाती है। उदयन वाजपेयी मैत्रेयी की शैली को 'चाक' के माध्यम से रे खांकित करते हैं। वे इसे गजेटियर शैली कहते हैं– ''हिन्दी में उपन्यास लेखन की कई पद्धतियाँ रही हैं, ले. किन उनमें से एक अपने में विलक्षण पद्धति रही है।..... इसे अगर कोई नाम देना ही हो तो सहजता से उसे उपन्यास की 'गजेटियर शैली' कह सकते हैं, क्योंकि इस पद्धति से लिखे उपन्यासों में पात्रों के अंतर्द्वन्द्व, जीवन–मृत्यु से उनका नाता, कथानक, भाषा की लय आदि की आड़ में दरअसल, गजेटियर ही लिखा जाता है। इन उपन्यासों के माध्यम से सुधी पाठकों को किन्हीं इलाकों (बुंदेलखण्ड अथवा ब्रज), किन्हीं समुदायों (मुसलमान अथवा ब्राह्मण समाज) आदि के बारे में रोचक ढंग से सूचनाएँ दी जाती हैं। 'चाक' इसी विलक्षण गजेटियर पद्धति से लिखे उपन्यास का प्रारूपिक उदाहरण है।''[7]

मैत्रेयी पुष्पा अपने उपन्यासों में विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग भी करती हैं। इसके अन्तर्गत अनेक घ ाटनाओं और विचारों का विश्लेषण किया जाता है। 'त्रिया हठ' में मैत्रेयी ने देवेश के माध्यम से उर्वशी के जीवन का विश्लेषण किया है। ऐसे ही अनेक पारम्परिक मान्यताओं और विधानों का मैत्रेयी के उपन्यासों में विश्लेषण मिलता है। 'कस्तूरी कुण्डल बसै' में मैत्रेयी लिखती हैं– ''ज्यादातर त्यौहारों में व्रत अनिवार्य होती है, जो भुखमरी को मात देने का नायाब तरीका है। कस्तूरी सुहाग के व्रतों में रेशम कुँवर की कहानी पढ़ती है। सती का अर्थ समझाती है और कहती है– जलकर मर जाने का कैसा व्रत? भस्म हो जाना भी कोई धर्म है? मरने के बाद पूजें, इसलिए जिंदगी खत्म कर दो।''[8] इसी प्रकार 'गुड़िया भीतर गुड़िया', 'फरिश्ते निकले' और 'गुनाह–बेगुनाह' में भी विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग किया गया है।

मैत्रेयी के उपन्यासों में आँचलिक शैली का प्रयोग बहुतायत से मिलता है। सर्वप्रथम फणीश्वर नाथ 'रेणु' ने इस शब्द का प्रयोग किया था। उनका 'मैला आँचल' उपन्यास आज भी आँचलिक उपन्यासों के क्षेत्र में मील का पत्थर माना जाता है। राजेन्द्र यादव लिखते हैं– ''अगर मैं कहता हूँ कि स्वतंत्रता के बाद रांगेय राघव और फणीश्वर नाथ 'रेणु' के साथ मैत्रेयी तीसरा नाम है जो कथा साहित्य में धूमकेतु की तरह आया है। मैं न तो किसी पर अहसान कर रहा हूँ। न ही नए नक्षत्र की खोज का श्रेय लेना चाहता हूँ। सिर्फ उस लेखन से जुड़ना चाहता हूँ जो हिन्दी के संकुचित फलक का विस्तार कर रहा है।''[9] ब्रज और बुंदेलखण्ड अँचल अपनी सम्पूर्णता में मैत्रेयी के

उपन्यासों में अभिव्यक्त हुआ है। उदयन वाजपेयी मैत्रेयी की आँचलिक शैली को इस प्रकार व्यक्त करते हैं– ''चाक' को पढ़ते हुए कहीं–कहीं मैला आँचल की गंध सी आने लग सकती है, खासकर हर अध्याय के पहले वाक्य में, लेकिन जैसे ही थोड़ा करीब से पढ़ने की कोशिश होगी, यह महसूस होता है जैसे सारा उपन्यास कम्प्यूटर पर प्रोग्राम किया गया हो। ऐसा क्यों न हो, यह कम्प्यूटर युग का गजेटियर जो है। इस कम्प्यूटर प्रोग्राम में मैला आँचल समेत तमाम तथाकथित सफल आँचलिक शैलियाँ, तमाम स्वीकार्य विचार फीड किए हैं।''[10]

मैत्रेयी की सभी रचनाओं पर ऐसे आक्षेप लगते रहे हैं। यदि मैत्रेयी के उपन्यास कम्प्यूटर प्रोग्राम हैं, तो प्रश्न उठता है कि मैत्रेयी जैसा कोई दूसरा रचनाकार और ऐसी रचनाएँ और कहीं क्यों नहीं मिलती, क्यों कि कम्प्यूटर तो आज घर–घर में पाया जाता है।

मैत्रेयी ने आँचलिक शैली को अपनाया जरूर है लेकिन वे आँचलिकता की पैरोकार नहीं है। उनका अपनी हर रचना में परिवेशगत बारीकियों पर जोर अवश्य रहता है किन्तु मैत्रेयी का उद्देश्य अँचल विशेष के वैशिष्ट्य तक सीमित नहीं रहता। आँचलिक उपन्यासों में अँचल ही नायक होता है। सभी घटनाएँ, पात्र इत्यादि अँचल को रेखांकित करने का माध्यम होते हैं। मैत्रेयी के उपन्यासों में हमें अँचल का नायकत्व दिखाई नहीं पड़ता। उनका उद्देश्य स्त्री–दृष्टि से स्त्री की समस्याओं का अंकन करना है। मधुरेश लिखते हैं– ''अपने परिवेश यथार्थ के प्रति यह खुली और समावेशी दृष्टि उनकी सबसे बड़ी पूँजी है।..... आँचलिकता के किसी आग्रह के बिना भी अपने लिए चुने गए क्षेत्र की राई–रत्ती की उनकी सघन पहचान और उसकी भाषा का सर्जनात्मक उपयोग उन्हें गाँव की पृष्ठभूमि पर लिखने वाले बहुत से लेखकों से अलग करता है।''[11]

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों की लोकप्रियता का एक बड़ा कारण उनकी विशिष्ट कथन–पद्धति है। विद्वान इसे किस्सागोई शैली कहते हैं। कथाप्रवाह में निमग्न करने वाली उनकी यह शैली पाठकों से निरंतर बोलती–बतियाती, सवाल–जवाब करती है। पाठक के पास रचना से विमुख होने का कोई चांस ही नहीं रहता। डॉ॰ वेद प्रकाश अमिताभ लिखते हैं– ''लेखिका ने उपन्यास में जिस कथन पद्धति को अपनाया है, वह किस्सागोई का नया प्रारूप लगती है। वर्णन के साथ विश्लेषण के कई अवसर आए हैं। विश्लेषण की भाषा और पद्धति दोनों ही संवेदना को जगाने में सक्ष्म हैं।''[12] उक्त कथन के उदाहरणार्थ 'बेतवा बहती रही' में पुनर्विवाह के पश्चात उर्वशी और मीरा की मुलाकात का क्षण दृष्ट्व्य है– ''सहसा चेतना देह में संवेदना का तीव्र संचार। रोम–रोम उससे लिपट जाने को आतुर। अपमान, उर्वशी का या इस धरती पर जन्मी हर औरत का, पता नहीं, भीतर कोई शिला भारी होती जा रही है।''[13]

निरंतर संवाद करती मैत्रेयी की कथा–शैली घटनाओं एवं चरित्रों के कार्य व्यवहार को तर्क पद्धति अर्थात कार्य–कारण सिद्धान्त से पुष्ट करती है। मैत्रेयी चाहे जिस विषय पर लिखें उनके भाषाधिकार का यह कमाल है कि वे परिवेश, वातावरण एवं पात्रानुकूल शैली व भाषा का व्यवहार करती हैं। पात्रों के मनोविज्ञान अथवा मानव मनोविज्ञान की गहरी समझ मैत्रेयी के उपन्यासों की सफलता का बड़ा कारण है। सभी पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को मैत्रेयी बड़ी आत्मीयता से किस्सागोई शैली में व्यक्त करती हैं। पाठक सहज ही इन पात्रों से तालमेल स्थापित कर लेता है। मानव मन की आंतरिक चिंतन प्रक्रिया, मनोभावों के उतार चढ़ाव, अनुभूतियों की क्रिया–प्रतिक्रिया आदि का अतिसूक्ष्म वर्णन मैत्रेयी प्रस्तुत करती हैं। मैत्रेयी की लेखन शैली की इसी विशेषता के कारण उनके पात्र स्टीरियों टाइप नहीं है, बल्कि हमारे आसपास के जीवंत व्यक्तित्व जान पड़ते हैं। 'इदन्नमम' की मंदा का आत्म संघर्ष, 'विजन' की डॉ॰ नेहा का अन्तर्द्वन्द्व, 'चाक' की सारंग का मानसिक संघर्ष और न जाने कितने पात्रों के मानसिक द्वन्द्व को मैत्रेयी सफलतापूर्वक अभिव्यक्त करती हैं। खगेन्द्र ठाकुर लिखते हैं– ''एक खूबी यह है कि मैत्रेयी पात्रों के अंतर्जगत में प्रवेश करके वहाँ रह नहीं जाती, बल्कि निकलकर समाज को बताती है कि किस पात्र के अंतर्जगत में क्या है? इस अंतर्जगत और बाह्य जगत के अंतर्संबंध और अंतक्रिया का चित्रण कुशलता से किया है मैत्रेयी ने और इस चित्रण में भाषा की बहुविध छटा दिखाई पड़ती है।''[14]

मैत्रेयी अपने उपन्यासों में शैलीगत विविधता के साथ–साथ भाषाई विविधता का भी ध्यान रखती हैं। ब्रज, बुंदेलखण्ड, विंध्य अँचल, हरियाणा, राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र और चंबल के बीहड़ इत्यादि परिवेश अपनी भाषाई पूर्णता के साथ पाठकों के समक्ष उपस्थित होते हैं। पात्र, परिवेश के बदलते ही मैत्रेयी की भाषा भी बदल जाती है। वेद प्रकाश अमिताभ लिखते हैं– ''अपने समाजबोधी और क्रांतिधर्मी कथ्य को बयान करने में मैत्रेयी पुष्पा ने असाधारण भाषाधिकार का परिचय दिया है। पात्रों, स्थितियों, मनः स्थितियों के अनुरूप शब्दों–वाक्यों के चयन–गठन में सहज सतर्कता के दर्शन होते हैं। विंध्य अँचल के बहुत से शब्द ताजगी और आत्मीयता लिए हुए भाषा में पूरी तरह खप गए हैं। सिर्रिन, बावरी, मातौन, डुकरो, मोंड़ी, मताई, ओली, पक्यात, सुआटा, बिन्नू, हिरकाँप आदि अनेक शब्द संप्रेषण में समस्या नहीं बनते हैं। बऊ और कुसुमा की भाषा में एक खास तरह की मिठास है, जिसे प्रत्यक्ष अनुभव के अभाव में कोई उपन्यासकार अर्जित नहीं कर सकता।''[15]

मैत्रेयी ने उपन्यासों में आत्मकथात्मक शैली का प्रयोग भी किया है। आत्मकथाओं में मैत्रेयी इस शैली का प्रयोग करती हैं। अन्य उपन्यासों जैसे 'झूला नट', 'इदन्नमम', 'चाक' 'कही ईसुरी फाग' इत्यादि में भी आत्मकथ्यात्मक शैली प्रयुक्त हुई है। जहाँ पात्र अपनी आपबीती सुनाते हैं वहाँ यह शैली मिलती है। 'झूला नट' की कथा भी बालकिशन के माध्यम से व्यक्त होती है। यहाँ महत्वपूर्ण यह है कि इस शैली में भी भाषाई विविधता देखने को मिलती हैं। जहाँ मैत्रेयी अपनी आपबीती सुनाती हैं, वहाँ तत्सम बहुल खड़ी बोली का प्रयोग करती हैं। जबकि अन्य पात्रों की आपबीती उनकी (पात्रों की) परिवेशगत भाषा में अभिव्यक्त होती है। पात्रानुकूल भाषा मैत्रेयी की अन्यतम विशेषता है। उनकी प्रत्येक रचना में परिवेशगत वातावरण स्थानीय भाषा के द्व ारा व्यक्त हुआ है। स्थानीय लोकोक्तियों, मुहावरों और लोकगीतों का मैत्रेयी ने स्वाभाविक और प्रभावशाली प्रयोग किया है। स्थानीयता के आग्रह के बिना उन्होंने स्थानीय रंगों की प्रमाणिक अभिव्यक्ति अपने उपन्यासों में की है। जाहिर है स्थानीय भाषा के कुशल प्रयोग के बिना यह संभव नहीं होता। अनंत विजय 'अगन पाखी' के विशेष संदर्भ में लिखते हैं– ''अपनी भाषा में मैत्रेयी ने बुंदेलखण्ड की बोली, स्थानीय मुहावरे व लोकोक्तियों का ऐसा प्रभ. ावोत्पादक प्रयोग किया है, जो समकालीन उपन्यासकारों में जरा कम ही मिलता है। यहाँ भाषा का वैविध्य अनेक स्तरों पर दिखाई देता है। लोकभाषा जैसी सरल तथा आम बोलचाल की भाषा का प्रयोग इतने स्तरों पर हिन्दी में जो थोड़े लेखक कर पाते हैं, निश्चय ही मैत्रेयी उनमें से एक हैं। उपन्यास में लोक गीतों का सटीक और सार्थक प्रयोग इसे न सिर्फ अपने समकालीन उपन्यासों बल्कि अपने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों से भी विशिष्ट बनाता है।''[16]

मैत्रेयी सहज और सरल भाषा एवं शैली की पैरवी करती हैं। बावजूद इसके उनके उपन्यासों में काव्यात्मक औदात्य दिखाई पड़ता है। कलात्मक श्रेष्ठता के सारे पैमाने उनके उपन्यासों में जगह–जगह विद्यमान हैं। 'कही ईसुरी फाग' काव्यात्मकता का श्रेष्ठ नमूना है। जहाँ कही श्रृंगार के दृश्य आए हैं, वहाँ मैत्रेयी की भाषा का सौन्दर्य, कलात्मकता आंलकारिकता, बिम्बों, प्रतीकों और उपमानों की योजना असाधारण है। 'अल्मा कबूतरी' का एक दृश्य गौरतलब है– ''गेहूँ के पौधे हरे थे और घने भी, एक दूसरे से भिड़े हुए। कदम की छातियों से ओढ़नी की तरह लिपट गए। वह जहाँ खड़ी थी, पौधे भी खड़े थे। लेट गई तो संग बिछ गए। ठंडे और नरम..... कदम बाई सु ख सेज पर पौढ़ी थी। चंद्रमा माथे पर था, सारा रंग सुनहरा हो चला। सरग से उझकती तरइयाँ, कदमबाई लजा गई।..... हवा का झोंका आया और उसने पास खड़े पौधे ओढ़ लिए। पौधों पर ओस थी। कदम के बदन पर मोती बिखर रहे थे। जुगनू बाँहों जाँघों पर चमके, चंद्रमा आकाश में तैरता हुआ पास आ गया।''[17]

नाटकीयता मैत्रेयी के उपन्यासों में जगह–जगह विद्यमान है। मैत्रेयी पात्रों की शारीरिक एवं वाचिक हाव–भावों का स्पष्ट उल्लेख करती चलती हैं। इससे पात्र पाठक के मन पर दीर्घजीवी प्रभाव डालते हैं। मैत्रेयी के उपन्यासों के घटनाक्रम भी नाटकीयता से भरपूर होते हैं। कई उपन्यासों का आदि एवं अन्त अत्यंत नाटकीय है। 'अल्मा' कबूतरी' में अल्मा का विधान सभा उपचुनाव में प्रत्याशी घोषित होना, 'चाक' की चुनावी गहमा–गहमी, 'अगन पाखी' में भुवन का कचेहरी में हलमफनामा दाखिल करना एवं मौत को चकमा देना, 'झूला नट' में बालकिशन का सीता की मूर्ति को शीलो समझ लेना इत्यादि घटनाएँ अत्यंत नाटकीय है। मैत्रेयी रंग–संकेतों का भी भरपूर प्रयोग करती हैं। पात्रों के परिचय में उन्होंने रेखाचित्रात्मक शैली को अपनाया है। इस प्रकार उन्होंने अपने उपन्यासों में शैलीगत अनेक प्रयोग किए हैं तथा विधा की सीमाओं का अतिक्रमण भी किया है। 'कस्तूरी कुण्डल बसै' के सन्दर्भ में राधा रमण वैद्य लिखते हैं– ''कथा का प्रवाह कहीं वर्णन, कहीं संवाद और कहीं नाटकीय अंदाज में हुआ है, जिसमें पाठक तल्लीनता से उलझा रहता है और उपन्यास जैसी सरसता में डूबता उतरता आगे बढ़ता जाता है। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक स्थितियों का तो आभास भर यह औपान्यासिक आत्मकथा देती है, पर स्त्री की मानसिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक परतें खूब उघ ाड़ी गई हैं। इसमें विधाओं की बँधी बंधाई सीमाएँ टूटी हैं।''[18]

मैत्रेयी ने अपनी आत्मकथाओं को प्रथम पुरूष के स्थान पर तृतीय पुरूष की शैली में लिखा है। अर्थात मैं के स्थान पर वह के रूप में लिखती हैं। यही कारण है कि वे अपनी माँ कस्तूरी के चरित्र को तटस्थ ढंग से चित्रित कर पाई हैं। संवाद शैली के प्रयोग में मैत्रेयी को अत्यधिक सफलता मिली है। परिवेश गत बारीकियों के साथ पात्र एवं प्रसंगानुकूल संवादों के द्वारा मैत्रेयी ने अपने उपन्यासों की रोचकता में कई गुना वृद्धि की है। ये संवाद कथा को गति तो प्रदान करते ही हैं साथ ही पात्रों के मनोभावों एवं चरित्र को भी उजागर करते हैं।

मैत्रेयी ने व्यंग्य शैली के प्रयोग में विशेष सफलता प्राप्त की है। जहाँ कहीं वे स्त्री विरोधी सामाजिक, ध ार्मिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओं से टकराती हैं, वहाँ उन्होंने इस शैली का सर्वाधिक प्रयोग किया है। 'इंदन्नमम' में मंदा और कुसुमा भाभी के संवाद इसी शैली का जीवंत नमूना है। इसी प्रकार 'चाक' उपन्यास में रेशम की हत्या के बाद सारंग का निम्न कथन दृष्टव्य है– ''मेरे ससुर गजाधर सिंह, चचिमा ससुर खूबराम, ग्राम प्रधान फतेहसिंह, वरदार, चरनसिंह बोहरे, सेठ भवानीदास तमाम बड़े–बूढ़े

गुमसुम क्यों रह गए? या धिक्कार के? हम शीश झुकाकर सारी अवस्था काट देते हैं, इनके सम्मान में, क्यों? आज मुझसे कोई उत्तर नहीं बन पा रहा तो ये भी क्या बताएंगें कि ये लोग हमारी हत्याओं के गवाह नहीं, तमाशबीन बनकर क्यों रह जाते हैं? ये गूंगे बहरे संरक्षक।''[19]

सामाजिक विद्रूपताओं, विसंगतियों, रूढ़ियों, आडम्बरों इत्यादि को मैत्रेयी ने व्यंग्यात्मक शैली में अभिव्यक्त किया है। 'विजन' उपन्यास का यह कथन बानगीभर है– ''बेटों के एलीजीबेल होने तक पोस्ट खाली है। साले हैड ऑफ दी डिपार्टमेंट है या रूलिंग पार्टी के अध्यक्ष? सारे डिपार्टमेंट्स में एड हॉक अपांइट्मेंटस हुए इकलौता नेत्र विभाग अपने वारिस सलीम की राह देखता रहा।''[20]

मैत्रेयी ने कहीं–कहीं पत्र–शैली एवं डायरी शैली का प्रयोग भी किया है। स्वप्न–शैली का प्रयोग मैत्रेयी ने 'झूला नट' उपन्यास में किया है। बालकिशन के नींद के स्वप्न और जाग्रत अवस्था के स्वप्न उसकी दुविधाग्रस्त मनोदशा के परिचायक हैं। इस प्रकार मैत्रेयी के उपन्यासों में हम विविध शैलियों से साक्षात्कार करते हैं। विविध शैलियों के साथ–साथ हमें भाषाईं एवं शिल्पगत वैविध्य भी मैत्रेयी के उपन्यासों में मिलता है। राजेन्द्र यादव लि खते हैं– ''किसी कथा लेखक की रचना में विषय वस्तु और चरित्र बड़ी बात होते हैं। मैत्रेयी की रचनाओं की दुनिया हिन्दी साहित्य के लिए बिल्कुल नई है। बहुत से शब्द, मुहावरे, जो हिन्दी साहित्य में नहीं थे या जिन्हें भुला दिया गया था, पुनः सामने आए। लोक साहित्य और शिष्ट साहित्य का मिश्रण मैत्रेयी की रचनाओं की सबसे बड़ी शक्ति है।''[21]

शिल्प की दृष्टि से मैत्रेयी के उपन्यास समकालीन संदर्भों से टकराकर एक नया कलेवर प्राप्त करते हैं। कथानक, पात्र, चरित्र, संवाद, देशकाल और वातावरण और किस्सागोई की दृष्टि से मैत्रेयी के उपन्यास उत्कृष्ट कोटि के हैं। स्वयं मैत्रेयी अपने उपन्यासों की शैली को सहज एवं सरल मानती हैं। लेखन के सरोकार उनके लिए कलात्मक मानदण्डों से ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। मैत्रेयी कहती हैं– ''बताइए मैं शैलीगत प्रयोग कब सोचूँ, कब अपनी लेखकीय सजावट–सिद्ध कुशलता दिखाऊँ? मेरा समय अभी तक मुझे इतनी मोहलत नहीं दे सका कि मैं साहित्य की तमीज–तहजीब के साथ सौंदर्यशास्त्र पर विचार कर सकूँ। जब–जब ऐसे सवाल खड़े होते है, मेरी समझ में यही आता है कि स्त्री ने कथा की राह चलकर दी गई दमघोंटू स्थितियाँ महान संस्कृतियाँ और बताए गए धर्म में मानक सतियाँ..... इन सबसे इनकार करते हुए, स्त्री के लिए धर्म और संस्कृति एवं समाज के बदल. ाव का जो रूप दिया है, वही नया कथा धर्म भी है और बदलती जाती संस्कृति भी।''[22]

मैत्रेयी की स्वीकरोक्ति के बावजूद हम कह सकते हैं कि मैत्रेयी के उपन्यास शिल्प की दृष्टि से अभिधा प्रध ाान है। कथावस्तु को प्रस्तुत करने की उनकी विशिष्ट शैलियाँ, भाषाधिकार, संघर्ष की सघनता, काव्यात्मकता, यथार्थ का नाटकीय चित्रण, व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति, मानव मनोविज्ञान की गहरी समझ, मुहावरों, लोकोक्तियों, लोकगीतों और लोक तत्वों ने उनके उपन्यासों को कालजई बना दिया है।

सन्दर्भ सूची

1.भगवती चरण वर्मा, साहित्य की मान्यताएँ, पृ 112

2.ऊषा यादव, हिन्दी महिला उपन्यासकारों की मानवीय संवेदना, पृ.207

3.मैत्रेयी पुष्पा, मेरे साक्षात्कार, पृ. 108

4.मैत्रेयी पुष्पा, मेरे साक्षात्कार, पृ. 106

5.मैत्रेयी पुष्पा, मेरे साक्षात्कार, पृ. 112

6.मैत्रेयी पुष्पा, मेरे साक्षात्कार, पृ. 22

7.स.दया दीक्षित, मैत्रेयी पुष्पा तथ्य और सत्य, पृ. 63

8.मैत्रेयी पुष्पा, कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ. 21

9.स.दया दीक्षित, मैत्रेयी पुष्पा तथ्य और सत्य, पृ. 64

10.स.दया दीक्षित, मैत्रेयी पुष्पा तथ्य और सत्य, पृ. 63

11.स.दया दीक्षित, मैत्रेयी पुष्पा तथ्य और सत्य, पृ. 62

12.स.दया दीक्षित, मैत्रेयी पुष्पा तथ्य और सत्य, पृ. 49

13.मैत्रेयी पुष्पा, बेतवा बहती रही, पृ. 123

14.स.दया दीक्षित, मैत्रेयी पुष्पा तथ्य और सत्य, पृ. 37

15.स.दया दीक्षित, मैत्रेयी पुष्पा तथ्य और सत्य, पृ. 139

16.स.दया दीक्षित, मैत्रेयी पुष्पा तथ्य और सत्य, पृ. 67

17.मैत्रेयी पुष्पा, अल्मा कबूतरी, पृ. 21–22

18.स.दया दीक्षित, मैत्रेयी पुष्पा तथ्य और सत्य, पृ. 186

19.मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ. 14

20.मैत्रेयी पुष्पा, विजन, पृ. 36

21.स.दया दीक्षित, मैत्रेयी पुष्पा तथ्य और सत्य, पृ.270

22.मैत्रेयी पुष्पा, मेरे साक्षात्कार, पृ. 109–110

*****

गढ़ी.गढ़ी काढ़े खोट
एक शिक्षक की आपबीती

प्रस्तुतकर्ता.
डॉ अमित कुमार पाण्डेय

शीर्षक के बारे में

गुरु कुम्हार शिष्य कुंभ है गढ़ी.गढ़ी काढ़े खोट।
भीतर हाथ सहाय देए बाहर मारे चोट।।
कबीरदास

यह ध्यान देने वाली बात है कि बाहर से देखने में गुरु या शिक्षक हमारे अध्यापक कितने भी कठोर प्रतीत होते हों लेकिन अंदर से उनके समान प्रेम करनेवाला उनके जैसा शुभेच्छु कोई नहीं है। वे चोट करते हैं कठोर लगते है इसलिए कि वे आपको आपके व्यसन दोष.दुर्गुणों और अहं भाव से मुक्त करना चाहते हैं।

जिस प्रकार खदान से निकले हुए सोने से गहने.जेवर तब तक नहीं बनाए जा सकते जब तक कि मिट्टीयुक्त स्वर्ण को भट्टी में पका न लिया जाए और जब पकाया जाता है तो मिट्टी और सोना अलग हो जाता है तथा अब सोना कीमती हो जाता है। ठीक इसी तरह कुम्हार के द्वारा बनाए गए बर्तन आवे में चढ़कर ही उपयोगी बनते हैं। मलिन कपड़े पर रंग नहीं चढ़ता और वस्त्र को साफ होने के लिए एक निर्धारित प्रक्रिया से गुजरना ही पड़ता है। जो विद्यार्थी अपने शिक्षक के निर्देशों सुझावों को नजरंदाज करते है उनके आदेशों की अवज्ञा करते है उसमें मीन.मेख निकालते है तर्क.वितर्क करते है उन्हें अभीष्ट तक पहुंचने में बहुत लंबा समय लगता है।

जीवन में अनुभव का स्थान

हमारा जीवन एक यात्रा है और जीवन की इस यात्रा में नित नए अनुभवों से हमारा साक्षात्कार होता रहता है। ये अनुभव भी हमारे गुरु होते है जो हमें सोचने. समझने सीखने और परिस्थितियों से सामंजस्य बिठाने का बेहतर माध्यम प्रदान करते हैं। सीख और अनुभव का महत्व जीवन में कमतर नहीं है क्योंकि ये हमारे लिए नए मार्ग प्रशस्त करते हैं और हमें अपार समृद्धि और प्रगति के राह पर ढकेलते हैं। शिक्षा मनोविज्ञान भी इसे महत्वपूर्ण मानता है। किसी विचारक ने सही ही कहा है कि जो कुछ भी आपने देर से सीखा अपने बच्चों को जल्दी सिखाएं।

हम सभी को उन रास्तों पर चलने का प्रयास करना चाहिए जहां हम अपने स्वयं के प्रयासों सीख से आगे बढ़ते है जहां हम नई सीमाओं को छूने और स्वयं को परिवर्तित करने का साहस दिखाते हैं और नए कीर्तिमान स्थापित करते हुए अपने जीवन को मूल्यों और आनंद से सराबोर कर देते हैं। जब हम नई बातें सीखते है तब हमें नए ज्ञान और अनुभव को प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त होता हैं। इन अनुभवों से हमें आसन्न समस्याओं और चुनौतियों का सामना करने नए दृष्टिकोण विकसित करने और स्वयं को समृद्ध करते हुए स्वयं को समाज में स्थापित करने की क्षमता प्राप्त होती है। जीवन की इस यात्रा में हम अनुभव से एक और महत्वपूर्ण तत्व प्राप्त करते है जो हमारी भावुकता को प्रभावित करता है। हमारे पास जो अनुभव होते है वे हमारे जीवन को रंगीन और उत्साहजनक बनाते हैं। जब हम किसी बात को सीखते हैं और उसे अपने जीवन में लागू करते है तो हम आत्मविश्वास का एक नया स्तर प्राप्त करते हैं। यह हमें सकारात्मक दिशा में आगे बढ़ने की क्षमता देता है और हमारे मन को उत्साहित करता है। जीवन का यह संघर्षमय सफर हमारी खुद की कार्यक्षमता को चुनौती देता है और हमें प्रगति के लिए उत्साहित करता है। जितना अधिक हम सीखने का प्रयास करते है अनुभवों को संजोते हैं उतना ही हमारी सामाजिक मानसिक आर्थिक और आध्यात्मिक उन्नति में नवीनता आती है। हमारे अपने अनुभव हमें समझने बदलने और स्वयं को समृद्ध करने का अवसर देते हुए हमें पहले से अधिक एक संवेदनशील और आत्म.परिवर्तन की गहरी अनुभूति प्रदान करते हैं। अनुभवों को महसूस करना हमें अपने आसपास के लोगों की भावनाओं को समझने में मदद करता है। जब हम दूसरों के साथ अनुभव साझा करते हैं तब हम उनके भावों सोच और परिस्थितियों को समझने की कोशिश करते हैं। इससे हम आपसी व्यवहार में लोगों के साथ संवेदनशीलता और समरसता विकसित कर सकते हैं जो हमारे संबंधों को और अधिक गहरा बना सकता है। यह हमें अनुभवों को और अधिक सार्थक और परिपूर्ण बनाने में मदद करता है।

महान शिक्षा शास्त्री रूसो ने भी माना है कि सीख से मिले अनुभव स्थाई होने के साथ हमारे लिए आवश्यक भी होते हैं। ये हमें नई प्रेरणा और चुनौतियों का सामना करने में सहयोग प्रदान करते हैं जिससे हम अपने जीवन को बेहतर बनाते हैं। जब हम कुछ नया सीखते हैं और नए अनुभव प्राप्त करते है तब हम अपने संघर्षों से जीत हासिल करने की क्षमता प्राप्त करते हैं। इसलिए हमेशा सीखने के लिए खुद को तैयार रखते हुए अनुभवों का सम्मान करना चाहिए। यह हमारे जीवन को सामर्थ्यपूर्ण बनाने के साथ ही साथ हमें एक समृद्ध और उन्नत भविष्य की ओर आगे बढ़ाएगा।

हम सभी जीवन में प्राप्त हुए अपने अनुभव नए ज्ञान की प्राप्ति कराते है हमारी दृष्टि को बदलते हैं और हमें सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही रूप से प्रभावित करते हैं। इन अनुभवों के माध्यम से हम सकारात्मक जानकारी प्राप्त करते है जो हमें अपने मनोवैज्ञानिक और भावनात्मक विकास में सहायता प्रदान करते हैं और परिस्थितिजन्य नकारात्मक अनुभव हमें पहले से अधिक सतर्क रहने अपनी गलतियों को सुधारने तथा अवसर का सदुपयोग करने की क्षमता प्रदान करते हैं।

अभी तक का शिक्षण अनुभव

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि आप जिस तरह बोलते है बातचीत करते है उसी तरह लिखा भी कीजिए। भाषा बनावटी नहीं होनी चाहिए। मैने भी ऐसा ही कुछ प्रयास किया है। आज शिक्षा में मनोविज्ञान के व्यापक हस्तक्षेप के बावजूद मै बिना किसी महिमामंडन के कह सकता हूं कि शिक्षक का कार्य शिक्षार्थी पर अपनी सत्ता को स्थापित होते हुए देखने

की पराकाष्ठा है। शायद इसीलिए व्यक्तिगत जीवन में चाहे जितनी भी समस्याएँ हों कक्षाकक्ष में आते ही उनका दबाव कम हो जाता है लेकिन अगर नहीं कम हुआ तो फिर समझ लीजिए कि आज का कालखंड ऐतिहासिक बनने वाला है।

एक विचारक जिम हैरिसन हुए हैं। वे कहते हैं कि लोग अपनी अंतरात्मा की आवाज़ बहुत साफ़.साफ़ सुन पाते हैं। और वे जो सुनते हैं उसी को जीते हैं। ऐसे लोग पागल हो जाते हैं या फिर महान। भगवान महाकाल की कृपा से उत्तर प्रदेश के एक स्ववित्तपोषित कालेज से मेरे अध्यापक जीवन की शुरुआत हुई । हमारे यहां बहुत कम कालेज सरकारी होते हैं और अधिकतर बिना अनुदान के निजी प्रबंधन में चलते हैं । निजी प्रबंधन वाले इन कालेजों के लिए अध्यापकों का चयन प्रबंधक करते हैं। हमारा महाविद्यालय संत कबीर नगर जनपद की धनघटा तहसील के नाथनगर के समीप स्थित है। अभी यही हमारा शिक्षण कार्य चल रहा है। कहने के लिए सम्मान अध्यापक को मिलता है लेकिन ऐसे कालेजों के अध्यापक को कालेज से लेकर विश्वविद्यालय तक नौकरशाही के हाथों लगातार अपमानित होना पड़ता है ।

जीवन के लंबे चालीस बसंत कैसे बीत गए बड़ा अजीब लगता है। मन कभी.कभी गीले साबुन की तरह छूटकर पूरे चालीस बरस पीछे चला जाता है। वाकई ये बरस फूलों की खुशबू पर सवार थे। भीनी.भीनी और हौले.हौले चलती हवाओं में खुशबू और वक्त रंग.बिरंगी तितली बन गया था। उसके परों पर ये बरस केसर की क्यारियों में धुलते रहे। ये बरस न बोझ बने न चट्टान की तरह काटने पड़े मुस्कुराहटों लोरियों अपनेपन के मोरपंख से रास्ता बनाते रहे। हालांकि ये बरस आसान नहीं थे। ये वक्त के कठोर और चट्टानी चुनौतियों पर उगी हुई हरी घास थी। ये घास आश्वस्त करती थी कि अभी संभावनाओं के फूल उम्मीदों की तितलियांए होठों पर मुस्कुराहट के अंकुर फूटने बाकी हैं। हमारे कर्म भूमि के विषय में यह कथ्य शत प्रतिशत सटीक बैठता है जिसमे कहा गया है कि सड़क तुम अब आई हो गांव जब सारा गांव उठकर शहर जा चुका है। मने एकदम मानव रहित क्षेत्र। आंकड़ों में तो हर 2किमी पर डिग्री कालेजों का जाल बिछा है लेकीन स्थानीय आबादी शिक्षा से दूर है। स्थानीय आबादी कृषि एवं पशुपालन पर आश्रित है। बाऊ लोग किसान भी बहुत अच्छे हैं और पशुपालक भी।

अगर आप किसी आदर्श की धारणा के साथ किसी स्कूल शिक्षण संस्थान में प्रवेश करते हैं तो आपको यह लगता है कि शिक्षण संस्थान अन्य सभी संस्थाओं की ही तरह नहीं है। प्रसिद्ध अमेरिकी शिक्षा शास्त्री जान डीवी ने इसे समाज का लघु रूप कहा है और यह तथ्य चरितार्थ भी होता है। समाज के हरेक प्रतिरूप के दर्शन यहां उपलब्ध है अच्छे से अच्छे और बुरे से बुरे। यहां लोगों के अपने.अपने गुटतंत्र भी सक्रिय होते हैं जो कि अपनी प्रासंगिकता बनाए रखने के लिए यदा.कदा बनते काम को बिगाड़ने अथवा बिगड़ते काम को बनाने में महारथ रखते हैं। प्रसाद जी ने सही ही कहा है कि संसार तो दूसरे को मूर्ख बनाने के व्यवसाय पर चल रहा है। निजी कालेजों में अध्यापन कार्य हेतु शिक्षकों की कमतरी को लेकर विश्वविद्यालयों के शिक्षक इतना गंभीर रहते हैं कि कालेज से विश्वविद्यालय आ जाने पर उन्हीं अध्यापकों के बारे में तमाम किस्म की शिकायतें करते रहते हैं। हमने भी महसूस किया कि विश्वविद्यालयी जीवन में भी शिक्षणेतर कर्मचारियों के प्रति अध्यापकों और विद्यार्थियों के बीच अत्यंत संघर्ष है। स्वयं शिक्षकों के भीतर भी स्थायी और अस्थायी के दो मोटे वर्गों के अतिरिक्त स्थायी के भीतर लेक्चररए रीडर और प्रोफ़ेसर के विभाजन बहुत स्पष्ट हैं । अब तो अस्थायी अध्यापकों की भी अलग अलग श्रेणियों का निर्माण हो रहा है ।

अभी तक का हमारा अपना जीवन भावना प्रधान रहा है लेकिन रेणु जी ने इसे खतरनाक बताया है। उन्ही के शब्दों में भावुकता का दौरा भी एक ख़तरनाक रोग है। जिंदगी बड़ी अजीब भी है और सख्त भी लेकीन कभी कभी इसमें बालपन का मुस्कुराहट और किलकारी भी गूंजता है। मैं शिक्षक बनकर बच्चों के बीच औपचारिक रुप में 2009 से आया था अपने बीएड का प्रशिक्षण पूरा कर। अत्यंत घुमावदार खड़ंजा खेतों के बीच से गुजरते हुए लू.लपट के बीच महाविद्यालय परिसर में आ गया था। मुझे जरा.सा भी परायापन अनजानापन अपरिचय महसूस ही नहीं हुआ था ऐसा इसलिए कि यह वही संस्थान था जहां हमने अपना प्रशिक्षण प्राप्त किया था। 2008 में ही अपना प्रशिक्षण पूर्ण करके हम अपने घर गए थे। यहां के छात्रावास महाविद्यालय के भवन कक्षा.कक्ष इंटर कॉलेज और इसके विस्तार क्षेत्र में उसके पटाव में कोई नयापन नहीं दिखा। छात्रावास के छज्जे पर कबूतर गुटूरगूं कर रहे थे। वही पीपल का पेड़ और उसके नीचे टंगी घंटी और लगभग 7 फीट का बाबा इत्यादि। उस दिन मुझे यही महसूस हुआ था कि था कि मैं यहीं से कुछ दिनों के लिए कहीं गया था और फिर अपनों के बीच लौटा हूं। शायद यही अपनापन मेरे अंतस से उमड़.घुमड़कर बाहर आ गया थाए मैं उन्हीं गुटूर गूं और किलकारियों में समा गया था। अपने मित्र और शिक्षक साथी भाई चंद्रकांत के साथ हमारे अध्यापन जीवन का यह पहला क्षण था जो पगडंडी बनकर सरपट भागने लगा था। एक अल्हड़ बालक की तरह मैं उन्हीं का हिस्सा हो गया। पहले शिक्षण कार्य और बाद में प्रवेश कार्य का भी जिम्मा मिला और इसी के साथ शिक्षक और शिक्षणेत्तर कर्मी दोनों की भूमिकाएं तैयार हो गई। ऐसे संस्थानों में अध्यापक क्लर्क भी होता है। ऐसे जगहों पर एक अध्यापक बच्चों को क्या दे सकता है बल्कि धीरे धीरे उसकी छवि बालकों के मन में विरोध का स्थान ग्रहण करने लगती है। एक खूबसूरत दुनिया का सपना दे सकता है। फिर भी अभिभावकों की वही अपेक्षाएं होती थी जैसी एक अमेरिकी राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने अपने पुत्र के शिक्षक को पत्र लिखकर कहा था

अध्यापक महोदय

मेरे बच्चे को पढ़ाना। उसे दुःख में हँसना सिखाएँ और बताएं कि आंसुओं में कोई शर्म की बात नहीं होती उसे सिखाना तुनकमिजाजों को लताड़ना और चाटुकारों से सावधान रहना। उसे अपनी बुद्धि और बाहुबल से भरपूर कमाना सिखायें परन्तु यह भी सिखायें कि अपने हृदय और आत्मा की कीमत न लगायें।

अधीर होने का साहस भी उसमें उत्पन्न करना और बहादुर होने का धैर्य भी। उसे सिखाना कि वह सदैव अपने आप में उदात्त आस्था रखे

क्योंकि तभी वह मनुष्य जाति में उदात्त आस्था रख पायेगा।

मैंने अपने पत्र में बहुत कुछ लिखा है देखें इसमें से क्या करना संभव है। वैसे मेरा बेटा बहुत प्यारा और अच्छा बच्चा है।

मै जिन मनीषियों से प्रभावित रहा हूं उनमें स्वामी विवेकानंद जी प्रमुख हैं। शिक्षक.छात्र संबंधों पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि *पौधा अपनी प्रकृति का विकास आप ही कर लेता है। बस ऐसे ही बालक की शिक्षा के बारे में है। बालक स्वंय अपने आपको शिक्षित करता है। समस्त ज्ञान मनुष्य के अंतर में अवस्थित है उनसे केवल जागृति केवल प्रबोधन की आवश्यकता है और यही शिक्षक का कार्य है। हमे बालकों के लिए वही करना है कि वे अपने हाथ पैर कान और आँखों के उचित उपयोग के लिए बुद्धि का प्रयोग करना सीखें। वह शिक्षा जो जनसमुदाय को जीवन संग्राम के उपयुक्त नहीं बनाती जो उनकी चारित्रिक शक्ति का विकास नहीं करती जो उनमें करुणा.दया का भाव और सिंह का साहस पैदा नहीं करती क्या हम उसे भी शिक्षा का नाम दे सकते हैं हमें तो ऐसी शिक्षा चाहिए जिससे चरित्र बने मानसिक बल बढ़े बुद्धि का विकास हो और जिससे मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सके।*

हमारा छात्रावास

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।

हम सब एक साथ चले एक साथ बोले हमारे मन एक हो यही भाव छात्रावास का रहा है। हमारे प्रशिक्षण काल में इसके लिए भी व्यय करना पड़ता था लेकिन बदली परिस्थितियों में छात्र हित और कुछ अपने व्यक्तिगत प्रयासों से हमने छात्रों को सहूलियत दिलवाया। यहां आकर हर कोई एक परिवार बन जाता है और जाने के बाद यहां की स्मृतियों को मिटाना कत्तई मुश्किल होता है। सभी के बीच मेरा भी निवास अंक 8। कुछ विशेषज्ञों ने सही कहा है कि कार्यस्थल पर अपना आवास नहीं बनाना चाहिए इसे मै फिर दोहरा रहा हूं। *बालक बानर एक समाना* के बाबजूद अनुशासन व्यवस्था कुछ हद तक सुधरी रहती थी। लेकिन साथ रहने से और नजदीक से लोगों को देखने.समझने का अवसर मिला।

एक प्रशिक्षक के रूप में

एक अध्यापक बच्चों को क्या ही दे सकता है कठोर दुनिया से टकराकर चूर.चूर होती उम्मीदें तिलतिल.बिखरते सपनों को निरंतर जोड़ते हुए बच्चों की उम्मीदों को थपकियां दे सकता है। हर बार बच्चों के टूटते सपनों को एक आशा की डोर से बांधकर दूर गगन में उड़ाता है। पूरे पंद्रह बरस इनकी आपाधापी में रहा मासूम और भोलेपन की दुनिया में रहा। इनके निर्दोष आंखों की चमक में रहा कभी उनके उदास और आंसुओं से भरी पलकों में रहा। ये जब मुस्कुराते थे तो लगता था तपते रेगिस्तान में ठंडी हवा का झोंका आ रहा है। वे कुछ कहते थे मैं सुनता था उन शब्दों में कितना अपनापन कितनी बड़ी दुनिया समाई होती थी। शिक्षा दर्शन के पाठ और पाठ योजनाओं के अक्षर.अक्षर शब्द.शब्द जीवंत हो उठते थे। वाकई वह कक्षा सिर्फ कक्षा नहीं होती थी वह मुस्कुराहट और उमंग से भरी डलिया होने के साथ साथ एक प्रेशर कूकर भी होती थी। लेकिन कोरोना काल के बाद आज उन लंबी किलकारियों हंसते.खेलते मुस्कुराते बच्चों की दुनिया खत्म हो गई है। कितना सूना और सन्नाटा.सा मैं अपने चारों तरफ पा रहा हूं। छात्रों के बैच के बैच निकलते गए बचते तो हम। किसी ने ठीक ही कहा है कि

इक जनाजे की तरह रक्खा हूं मै
देखिए और आगे बढ़ते जाइए

आज हमारे पढ़ाए हुए सैकड़ो छात्र.छात्राएं अपने अपने क्षेत्रों में सिरमौर बने हुए हैं सबसे अधिक तो शिक्षा जगत में। इनके द्वारा दिए गए मान.सम्मान को उससे ज्यादा अपनेपन को महसूसता हूं जिन्होंने मुझे ठेठ अपना समझा जैसे रिश्तों की डोर से बंधे रहे एक पारिवारिक वातावरण में सामाजिक जवाबदारियों में रहे। इनके नजदीकी संबंधियों ने भी अपना समझा और निरंतर मान.सम्मान दिया। उनके प्रति आभार के कुछ शब्द कहकर अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। शिक्षक जीवन में अनुभवों का विशाल गुलदस्ता मिला है। तल्खी भी प्यार भी लेकिन बच्चों के बीच जाकर शिक्षक सबकुछ भूलकर वह सिर्फ छात्र का हो जाता है। इन वर्षों में उनकी मुस्कुराहट हंसी उम्मीदों के लिए निरंतर लगा रहा। उदासी और आंसूभरी आंखों में सपनों के आकाश दिखाता रहा। क्या पता कितना सफल रहा कह नहीं सकता। मै चाहे जहां रहूं इनसे मिले अपनत्व को मैं कभी नहीं भूल सकता।

हमारे लिए अत्यंत सौभाग्य की बात रही कि मुझे एक स्कूल में शामिल होने का अवसर मिला। एक ऐसा वातावरण जो पारंपरिक मानसिकता से प्रगतिशील मूल्यों की ओर पुराने ढर्रे से अज्ञात रास्तों की ओर परिवर्तित हो रहा था। इसके लिए मुझे अपनी धारणाओं अपनी मान्यताओं पर सवाल उठाने और जीवन को नए सिरे से देखने की आवश्यकता थी। इसने मुझे खुद का सामना करने अपने अंदर झाँकने अपने अंतरतम मूल्यों को खोजने और पहली बार शांति पाने के लिए प्रेरित किया। मैंने अपने अंदर एक शिक्षक की खोज की। शिवसायुज्य को प्राप्त हो चुके हमारे बाबा जी की भी हार्दिक इच्छा रही कि मैं उच्च शिक्षा में अपना भविष्य संवारूं। इसके लिए वो समय समय पर उचित मार्गदर्शन भी प्रदान करते थे। वे एक प्रज्ञापुरुष थें। जिनके दिखाए मार्ग का अनुसरण करने का हर संभव प्रयास किया करता हूं।

हमारा शैक्षिक जीवन एक परिवर्तनकारी जीवन यात्रा रही है और मुझे लगता है कि जब से मैं एक व्यक्ति के रूप में विकसित हो रहा हूं। मैंने अपने जीवन में जुड़ाव प्रवाह और मौन की भूमिका का पता लगाया। मैं कई प्राचीन भारतीय ग्रंथों साहित्य से जुड़ा जिन्होंने मेरी खोजों की पुष्टि की। मुझे अपने काम में अर्थ और प्रवाह मिला। यह एक कलाकार का काम था मैं पूरी तरह तल्लीन था और सृजन में आनंद पा रहा था। हम एक अलग तरह की कक्षा बना रहे थे एक अलग तरह की कक्षा जहां शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच की सीमाएं धुंधली हो गईं। हमने स्वयं को महत्व दिया और इससे हमारे बच्चों को स्वयं जैसा बनने में मदद मिली। परिणामस्वरूप हमारी कक्षाओं में एक प्रामाणिक वातावरण का उदय हुआ। इसका मतलब ये नहीं कि मुझे चुनौतियों का सामना नहीं करना पड़ा। दूसरी ओर बड़ी बाधाएँ थीं जिनसे पार पाने के लिए साहस की

आवश्यकता थी। मुझे अपने अंदर साहस विश्वास और लचीलापन मिला जो कई वर्षों से छिपा हुआ था। इस रास्ते ने मुझे और अधिक के लिए तरसा दिया। मैं अपनी कला में बेहतर होना चाहता था जहां मुझे आत्म.संदेह न हो कोई अनिर्णय न हो पल.पल के प्रति चौकस रहूं।

सप्ताह में शनिवार का दिन सांस्कृतिक गतिविधियों के लिए होता था। इसमें छात्रों के साथ लेखन कविताए अंताक्षरी खेल और हास्य पर काम करते समय एक शिक्षक के रूप में मुझे अपनी सृजनात्मक शक्तियों को विकसित करने का मजबूत आधार मिला। हमारे अपने अनुभव में बच्चों से जुड़े बिना शिक्षण सफल नहीं हो सकता। यह सृजन की एक प्रक्रिया है जिसमें स्नेह देखभाल और विश्वास का वातावरण तैयार किया जाता है ऐसा वातावरण बनाना जहां छात्र सीखना सीखें प्रयोग करने और गलतियाँ करने से न डरें एक साझा स्थान बनाना जहां सहयोग स्वयं और व्यक्तिगत पहचान विकसित करने का मार्ग प्रशस्त करता है अपनी और अपनी दुनिया की समझ पैदा करना। यह एक मानवीय प्रक्रिया है जिसे यंत्रीकृत नहीं किया जा सकता और न ही यंत्रीकृत किया जाना चाहिए।

ऐसे कई प्रश्न थे जिनके बारे में मैं एक शिक्षक के रूप में आगे जानना चाहता था। हम अपने बच्चों को उच्चतम की आकांक्षा करने में कैसे मदद कर सकते हैं हम अपने बच्चों को वह जीवन जीने के लिए कैसे प्रेरित करें जिसके लिए वे बने हैं उत्तर मुझे तब मिले जब मैं स्वयं से जुड़ा। इससे पहले कि मैं अपने बच्चों से इसकी अपेक्षा कर सकूँ एक शिक्षक के रूप में मुझे यह पहले करना था। मुझे एहसास हुआ कि एक शिक्षक के रूप में मुझ पर हमारे सपनों की एक नई दुनिया बनाने की ज़िम्मेदारी है। मुझे सबसे पहले आकांक्षा रखनी थी और वैसा जीवन जीना था जैसा एक शिक्षक को चाहिए।

छात्रों की दृष्टि में शिक्षक एक ऐसा महत्वपूर्ण इंसान होता है जो अपने ज्ञानए धैर्य स्नेह और देखभाल से उसके पूरे जीवन को एक मजबूत आकार देता है। एक शिक्षक वो व्यक्ति होता है जो अपने विद्यार्थी को सबसे बेहतरीन शिक्षा उपलब्ध कराने के द्वारा प्रत्येक के भविष्य को आकार देता है। हर विद्यार्थी की शिक्षा में एक शिक्षक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। शिक्षक के पास बहुत सारे गुण होते हैं और वो अपने विद्यार्थी के जीवन को सफल बनाने में पूरी तरह से दक्ष होता है। शिक्षक अच्छे से जानता है कि विद्यार्थी का ध्यान पढ़ाई की ओर कैसे लगाना है। पढ़ाई के दौरान शिक्षक रचनात्मकता का इस्तेमाल करता है जिससे विद्यार्थी एकाग्र हो सके। शिक्षक ज्ञान का भण्डार होता है और उसके पास बहुत धैर्य और विश्वास होता है जो विद्यार्थियों के भविष्य की जिम्मेदारी लेता है। शिक्षक हरेक बच्चे की क्षमता का अवलोकन करता है और उसी अनुसार उस बच्चे को पढ़ाई में मदद करता है। शिक्षक ज्ञान समृद्धि और प्रकाश का एक बड़ा स्त्रोत होता है जिससे कोई भी जीवनभर के लिए लाभ प्राप्त कर सकता है। वो हरेक के जीवन में वास्तविक प्रकाश के रुप में होते हैं क्योंकि वो जीवन में उनका रास्ता बनाने के लिये विद्यार्थियों की मदद करते हैं। वो किसी व्यक्ति के जीवन में प्रभु का दिया हुआ एक उपहार होते हैं जो बिना किसी स्वार्थ के हमें सफलता की ओर उन्मुख करते हैं। वास्तव में शिक्षा के माध्यम से हमारे राष्ट्र के चकित कर देने वाले भविष्य के निर्माता के रुप में हम उन्हें बुला सकते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षक बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं जो एक अच्छे व्यवहार और नैतिकता के व्यक्ति के लिए बहुत अच्छे से विद्यार्थी को शिक्षित करते हैं। वे विद्यार्थी को अकादमिक रुप से बेहतरीन बनाते हैं और जीवन में हमेशा अच्छा करने के लिये प्रोत्साहित करते हैं। वो विद्यार्थी को ज्ञान कौशल और सकारात्मक व्यवहार से सज्जित करते हैं जिससे विद्यार्थी कभी खोया हुआ महसूस नहीं कर सकता और आगे बढ़ता है। स्पष्ट नजरिए और विचारों के माध्यम से शिक्षा के उनके लक्ष्य के बारे में वो विद्यार्थियों को हमेशा समझाते रहते हैं। बिना शिक्षक के जीवन में कोई भी मानसिक सामाजिक और बौद्धिक रुप से विकास नहीं कर सकता है। शिक्षक बच्चों के जीवन को बनाने की महत्वपूर्ण जिम्मेदारी लेता है। अपने विद्यार्थियों को सही दिशा में शिक्षित करने के द्वारा एक शिक्षक अच्छा एहसास आत्मस्लाघा और खुशी की अनुभुति कराता है। वो कभी भी अपने अच्छे और बुरे विद्यार्थियों में भेदव नहीं करता है बल्कि अपने प्रयासों से कमजोर बच्चों को भी सही रास्ते पर ले आता है। वो सभी विद्यार्थियों को अच्छा बनाने के लिये आगे बढ़ाता है। शिक्षक सीखने की प्रक्रिया को बहुत रोचक और रचनात्मक बना देता है। पढ़ाई की ओर सकारात्मक रुप से प्रेरित करने के द्वारा शिक्षक सभी विद्यार्थियों को सही रास्ते पर लाने के लिये अपना उत्तम प्रयास करते हैं। अच्छा शिक्षक एक अच्छा प्रभाव बच्चों पर छोड़ता है।

यदि शिक्षक शिक्षा की बात करें तो इन सबके फलस्वरूप शिक्षण प्रशिक्षण हेतु अधिक प्रभावशाली माडूल्य तैयार करने का एक आधार मिलता है। इन सभी बिंदुओं पर कार्य करते हुए प्रशिक्षुओं को इंटर्नशिप हेतु अलग.अलग स्कूलो में भेजता रहा। जहाँ वे अलग अलग चुनौतियों का सामना करते हुए कुछ अधिक अच्छे व्यक्ति से मिलते या कुछ अधिक रूखे परंतु सभी से अधिक ज्ञान और प्रोत्साहन ग्रहण कर आत्मसात करने का कार्य करते थे यहां के लिए उन्हें मैं सचेत करता था कि *ज्ञानरंजन के शब्दों में मतवाले लोगों से कभी मत उलझना वे तुम्हें काम नहीं करने देंगे।* इंटर्नशिप इसलिए आवश्यक है कि दुनिया इतनी तेजी से बदल रही है कि अगर आप किसी एक ही नजरिए का दामन थामे रहोगे तो आगे नहीं बढ़ सकते।

बातें तो बहुत हैं लेकिन शब्दों की मर्यादा का भी ध्यान आवश्यक है। अंत में मैं यह कहना चाहता हूं कि प्रत्येक मनुष्य अपने द्वारा कि गए कार्य का अच्छा परिणाम चाहता है। इसके लिए वह विभिन्न प्रकार के प्रयत्न भी करता है। कार्य का नियोजन उसे पूरा करने की प्रक्रियाए संसाधनों का समुचित प्रयोग तथा समय.समय पर कि गए कार्य का मूल्यांकन ये सभी उस कार्य को पूरा करने के उपक्रम हैं। कार्य का परिणाम कैसे मिला क्या वह अपेक्षित परिणाम था यदि अपेक्षानुकूल परिणाम नहीं मिला तो कारण क्या थे अपेक्षित परिणाम न मिलने पर कारणों का पता कर उनका निवारण किया निवारण पश्चात् फिर आकलन किया क्या अंत में परिणाम कैसा रहा एक अच्छा कार्य करने वाले व्यक्ति के सम्मुख ये प्रश्न आते ही हैं।

*****

हिन्दी समकालीन साहित्यिक विमर्श और वृद्ध: एक संबंधात्मक विश्लेषण

-प्रीतिका. एन.
शोधार्थी, हिंदी विभाग
कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय- 682022
केरल
मो नं.- 9746182124
ईमेल- preethikanv1998@gmail.com

भूमिका

सहित सूचक साहित्य अपने शाब्दिक अर्थ की हर क्षण प्रतिपुष्टि करते हुए समाज के हित अनुरूप कार्य करने में समर्थ एवं सक्षम है। यही साहित्य व समाज के संबंध की सच्चाई है। इसी सच्चाई की अभिव्यक्ति है, हरेक साहित्यिक विचारधारा व विमर्श एवं उनसे जुड़े रचनाएँ। तत्कालीन समाज में घटित एवं व्याप्त घटनाओं व समस्याओं का विवेचनात्मक विश्लेषण कर साहित्यिक परिकल्पना के माध्यम से सामाजिक यथार्थ को समाज के समक्ष उसके परिपूर्ण वास्तविकता और विश्वसनीयता के साथ चित्रित करने के प्रयत्न का परिचायक है, समकालीन साहित्यिक विमर्श। जिन पर अक्सर साहित्यिक चर्चाएँ होती रहती हैं। लेकिन इन चर्चाओं में इन विमर्शों पर पृथक - पृथक दृष्टि से विचार किया जाता है। लेकिन आज स्थिति बदल चुकी है। वृद्ध साहित्य का महत्वपूर्ण विषय बन गए हैं। ऐसे में वृद्ध जीवन दृष्टि से इन विमर्शों पर समन्वय व संबंधात्मक विश्लेषण अनिवार्य है।

बीज शब्द

स्त्री, वृद्ध, विमर्श, संबंध, दलित, आदिवासी, पुरुष आदि

मुख्यांश

साहित्य समाज के उस यथार्थोन्मुखी अभिव्यक्ति का सृजनात्मक प्रतिबिंब है, जिसमें सम्पूर्ण समाज की व्यक्त - अव्यक्त छवि झलकती है। यह छवि सामाजिक जड़ता की नहीं अपितु गतिशील सक्रियता की ओर इशारा करती है। "अभिव्यक्ति की ताकत यदि मनुष्य को पशु से भिन्न बनती है तो साहित्य उसे दिशा देता है और अहसास दिलाता है कि वह मनुष्य अकेला नहीं है बल्कि एक समाज का अंग है प्रतिबद्ध साहित्य समाज को गतिशील बनाता है -जड़ नहीं।"[1] समाज के इसी गतिशील साहित्यिक प्रस्तुति में ही समस्त साहित्य का अस्तित्व निहित है। इसलिए ही साहित्य व समाज का संबंध अपार गहन है। "साहित्य समाज की माँ है, मछली का जल है, चाँद का सूरज है, देह का प्राण है। समाज के बगैर साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती है, साहित्य को समाज का प्रतिबिंब माना जाता है।"[2] हिन्दी साहित्य, साहित्य जगत का अत्यंत विशाल व बहुस्तरीय फलक है। हिन्दी साहित्य कई उतार -चढ़ावों से गुज़रते हुए आज अपने उच्छृंखल शिखर पर आ खड़ा है। इस शिखर की सबसे बड़ी कसौटी है, समकालीन साहित्य विमर्श। तत्कालीन समय विमर्श का है। युग, विमर्श का है। इसलिए साहित्य भी आज विमर्श केंद्रित है। अर्थात् समकालीन दौर में हरेक सामाजिक समस्या एवं घटना पर चर्चा - परिचर्चाएँ होती रहती है। ये चर्चाएँ विमर्श के आधार हैं। जो खुद परिचर्चाओं का प्रतीक हैं, उस पर अनेक विद्वानों द्वारा चर्चाएँ हो चुकी है। तबादला -ए -ख्याल, परामर्श, तर्क, समीक्षा, ज्ञान, विवेचन, विचार विनिमय, सोच विचार आदि विमर्श के उल्लेखनीय पर्यायवाची शब्द व अर्थ हैं। इन सभी अर्थों के तहत विमर्श आज एक गंभीर विषय बनकर समकालीन हिन्दी साहित्य में उभरता है। विमर्श, समकालीन साहित्य का आधार स्तम्भ है। एक ऐसा स्तम्भ जो सामाजिक वास्तविकता का जीवंत प्रतिफलन है। विमर्श अपने आप में पूर्ण तथा पुष्ट है। इस पूर्णता में जीवन के प्रत्येक क्षणों को संजोने का प्रयास है। आदिवासी, दलित, विकलांग, किन्नर, पारिस्थितिक, स्त्री, किसान, वृद्ध, पुरुष आदि विमर्शों के समावेश से ही यह प्रयास अपने चरम को छु सकता है। इसलिए समकालीन साहित्यिक विमर्श इन विविधवर्त्ति विमर्शों का मिला -जुला रूप है। समकालीन विमर्श की नज़र अत्यंत परखी है। समाज का यथार्थ युक्त परख इसमें निहित है। इसलिए समकालीन साहित्य सर्वाधिक यथार्थवादी है। आदर्श और कल्पना से परे हटकर हिन्दी साहित्य को एक नवीन पहचान दिलाने में समकालीन विमर्शों का महत्वपूर्ण योगदान है। इस दृष्टि से हरेक विमर्श विशेष उल्लेखनीय हैं।

आदिवासी, दलित, नारी आदि विमर्श सामाजिक यथार्थ की

सच्ची साहित्यिक प्रस्तुति हैं। लेकिन समकालीन दौर में हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कई ऐसे विमर्शों का भी आगमन हुआ है, जो अन्य विमर्शों के नाम से प्रसिद्ध हैं। जिनमें वृद्ध विमर्श, विकलांग विमर्श, पुरुष विमर्श आदि प्रमुख हैं। परंतु चर्चा का विषय विमर्शों के अंतर या अलगाव का नहीं बल्कि वृद्ध समाज की दृष्टि से इनके परस्पर संबंध का विश्लेषण है। साहित्य चर्चाओं व गोष्ठियों में हमेशा इन विमर्शों पर अलग -अलग चर्चाएँ होती रहती हैं। लेकिन आज का वक्त या साहित्य किसी नयी सोच व विषय की मांग करता है। इसलिए इन विमर्शों के समानता पर विचार करना चाहिए क्योंकि सभी विमर्श समकालीन यथार्थ के द्योतक है। आज का युग संक्रमण का है। बिना किसी पूर्व अनुमान के आज अचानक बहुत कुछ होने लगता है, बहुत कुछ बदलने लगता है। इसी बदलाव का पर्याय है, आधुनिक समाज। यह बेहद गतिमान है। हर क्षण होनेवाला परिवर्तन इसका अहम तत्व है। जिसके कारण आज भूमंडलीकरण, वैश्वीकरण आदि के चलते में आदर्श, मूल्य, संस्कृति आदि कहीं घुम से गए हैं। "वैश्वीकरण ने प्राचीन एवं परंपरागत भारतीय समाज की बुनियादी आस्था को झकझोरकर रख दिया है। भारत में व्यक्ति, परिवार, समाज और संस्कृति के समक्ष पुर्नपरिभाषा का संकट उत्पन्न हो गया है। ... बहरहाल, तेज़ी से हो रहे सभी सामाजिक, सांस्कृतिक परिवर्तनों का विश्लेषण भारत में भूमंडलीकरण के सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रभाव के अध्ययन के लिए आवश्यक हो जाता है।"[3] इस प्रकार भूमंडलीकृत आधुनिक दौर ने समाज के समक्ष एक नवीन संस्कृति एवं सभ्यता का चित्र खींचने का सार्थक परिश्रम किया है। जिसने सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में उथल -पुथल मचा दी है। सब कुछ बदलने लगा है। रिश्ते -नाते बदलने लगे हैं। कल जो समाज के संस्थापक थे, वही आज अनुपयोगिता के प्रतीक बन गए हैं। "अपनी संस्कृति को हम धीरे-धीरे भूलते जा रहे हैं। उसके आदर्शों से परे चले जा रहे हैं। आधुनिक समाज में रिश्ते नाते ढीले होते जा रहे हैं।... बढ़ते व्यक्तिवाद और निजी स्वतंत्रता के भावों के कारण ही संयुक्त परिवारों का विघटन हुआ।... आधुनिक युग में प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति अवश्य हुई है किन्तु इस उन्नति को पाने के लिए मनुष्य अपनों से निरंतर दूर होता जा रहा है।"[4] इस प्रकार आज स्वार्थलिप्सा ने मनुष्य को चारों ओर से घेर लिया है। इसी के कारण आज इंसान हरेक चीज़ को उससे होनेवाले लाभ और हानि के दृष्टि से देखने लगा है। उपयोगिता से उपजी अर्थ लिप्सा तत्कालीन समाज का आधार बनता जा रहा है। जो सम्पूर्ण समाज के दिशाहीनता का कारण है। "... अन्याय बढ़ रहे हैं, असमानता भीषणतर होती जा रही है, अज्ञान फैलता जा रहा है, विपन्नता बढ़ रही है। वही मनोविगलित लोग जो मंगल ग्रह पर उसकी चट्टानों के अध्ययन के लिए मशीनें भेज रहे हैं, भूख से होने वाली लाखों मौतों के प्रति उदासीन भाव अपनाए हुए हैं... इन शक्तियों में शामिल हैं बहुराष्ट्रीय और अन्तर्महाद्वीपीय निगम जिनकी सत्ता पूर्णतया अलोकतांत्रिक है और जिन्होंने कभी जनतंत्र के रहे आदर्शों को नकार दिया है।"[5] इस तरह आज हम सांस्कृतिक नाश की ओर बढ़ रहे हैं। एक ऐसा बढ़ाव जिसमें मूल्य का नामोनिशान नहीं है।

'वृद्ध', समाज का ऐसा वर्ग जिसका सम्पूर्ण अस्तित्व ही आज नकारा जा रहा है। समाज से तिरस्कृत वृद्ध अपने आप में सिमटने के लिए विवश बना दिए जा रहे हैं। उनका समाज में अब कोई उपयोगिता नहीं रही। वे कमज़ोर, शिथिल समाज का वह हिस्सा है, जो सक्रिय कहलानेवाले पीढ़ी के लिए 'बेकार वस्तु' मात्र है। इस सामाजिक - पारिवारिक अस्वीकार के कारण वृद्धों की दशा बिगड़ती जा रही है। उन्हें न समाज में सम्मान मिलता है न परिवार का स्नेह। महत्व हीनता के बोझ तले वे दबते जा रहे हैं। यह दबाव उनके लिए अभिशाप बन गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि, जैसे उनका जीवन मिट्टी में सनकर बिखर सा गया हो। भला अस्तित्व खोकर इंसान कब तक जी सकता है। अस्तित्व हीनता व्यक्ति की सबसे बड़ी उलझन है। जो इंसान को अंदर से धीरे-धीरे खाने लगता है। उसके नाश का कारण बनता है। यही आज वृद्ध समाज की स्थिति है। "जैसे-जैसे मनुष्य अपने आपको वृद्ध मानने लगता है, वह कमज़ोर महसूस करने लगता है तथा सहानुभूति अर्जित करने की इच्छा रखता है। ... प्रायः यह देखा जाता है कि जब तक व्यक्ति परिवार के लिए कमाने का यंत्र है तब तक उसकी चलती है लेकिन जैसे ही उसका शरीर उसका साथ देना छोड़ देता है वैसे ही परिवार के सदस्यों के लिए वह एक 'बेकार चीज' बन जाता है। ऐसे में उसका अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाता है। ऐसी स्थिति में उनका कुंठित होना स्वाभाविक है।

भारतीय परंपरा के परिप्रेक्ष्य में वृद्धजनों की स्थिति दयनीय नहीं कही जा सकती। यहाँ बड़ों का मान -सम्मान किया जाता रहा है। यह भी कहा गया है, "अभिवादन शीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः/चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलः"। (अर्थात प्रतिदिन बुजुर्गों को प्रणाम करने और उनकी सेवा करने वाले व्यक्ति की आयु, विद्या, कीर्ति और शक्ति की वृद्धि होती है) लेकिन आजकल यहाँ भी स्थितियाँ बदल रही हैं। मूल्य बदल रहे हैं। परिवार का विघटन हो रहा है। वार्धक्य समस्या बनने लगा है। ... बदलती परिस्थितियों में, वृद्धों के मनोविज्ञान को समझना भर

काफी नहीं है बल्कि आज के परिप्रेक्ष्य में उनके पुनर्वास का प्रश्न प्रबल हो उठा है।"[6] इस परिवर्तित माहौल में वृद्ध व उनके जीवन से जुड़ी हरेक पहलू समकालीन साहित्य का महत्वपूर्ण विषय बन रहा है। जिसकी साहित्यिक पेशकश है, वृद्धावस्था विमर्श या वृद्ध विमर्श। वृद्धावस्था जीवन की अभेद सत्य है। जिसने धरती पर जन्म लिया है, एक न एक दिन उसका वृद्ध होना भी पहले से तय रहता है। लेकिन कोई भी इंसान वृद्ध बनना नहीं चाहता, क्योंकि इस अवस्था में इंसान को पाई -पाई के लिए दूसरों का मोहताज होना पड़ता है। केवल आर्थिक नहीं, स्नेह, सम्मान, आदि का भी मोहताज। यहाँ तक उसका अस्तित्व व अस्मिता भी बलि चढ़ने लगते हैं। लेकिन कोई इस सत्य को रोक नहीं सकता । इसलिए ही वृद्ध या वृद्धावस्था का संबंध हर किसी से है। स्त्री, पुरुष, दलित, आदिवासी, किन्नर, किसान, आदि समाज के सभी वर्ग की सच्चाई है, वृद्धावस्था। इसी सच्चाई में इनका परस्पर संबंध निहित है। हिन्दी समकालीन विमर्श और वृद्ध एक महत्वपूर्ण विषय है। समकालीन विमर्शों का वृद्ध से गहन संबंध है, क्योंकि ये विमर्श मनुष्य जीवन की ही चर्चा करते हैं, और वृद्धत्व मनुष्य जीवन की वास्तविकता है। "काल की गति क्षिप्र है। वह इतनी शीघ्रता से चला जाता है कि उस पर किसी की दृष्टि नहीं जाती । एक नवजात शिशु कब अपनी शैशवावस्था छोड़कर युवावस्था में पहुँचा और कब वृद्धावस्था में, यह पता ही नहीं चलता। वृद्धावस्था से कोई बच नहीं सकता। यह जीवन का सत्य है लेकिन मनुष्य वृद्धावस्था की कल्पना से ही डर जाता है, निराश हो जाता है और सब चीजों से कटा हुआ महसूस करता है। कहा जाए तो वह केंद्र से परिधि की ओर चला जाता है। उपेक्षित हो जाता है; समाज से, परिवार से और यहाँ तक कि अपने आप से।"[7]

स्त्री व पुरुष समाज के दो अभिन्न अंग है। लेकिन स्त्री समाज का अभिन्न अंग होते हुए भी अपने अधिकारों से वंचित है। स्थिति इतनी दयनीय है कि, आज स्त्री का स्त्रीत्व ही नकार के कसौटी पर आ खड़ा है। घर, परिवार, समाज कहीं भी स्त्री सुरक्षित नहीं है। वे जीना चाहती है, लेकिन समाज की थोपी हुई बोझनुमा मजबूरियाँ के कारण वे जी नहीं पाते। शोषण सहते-सहते स्त्री का संपूर्ण वजूद ही एक प्रश्न चिन्ह सा बन गया है। परंतु अपने दयनीयता को समझ आज स्त्री अपने हक के लिए लड़ना चाहती है, लड़ रही है। स्त्री विमर्श इसी क्रांति की ज्वलंत अभिव्यक्ति है। इस प्रकार सदियों से चली आ रही शोषण का जवाब आज स्त्री, स्त्री विमर्श को हथियार बनाकर दे रही है। वह जिन चाहती है, अपने अस्तित्व को कायम रखना चाहती है, "मैं घर को जीना चाहती हूँ, बरदाश्त करना नहीं,... मैं सिर्फ गृहिणी नहीं हूँ ...एक स्त्री भी हूँ ..."[8] इस तरह स्त्री विमर्श स्त्री के विद्रोह का सृजनात्मक स्वर है। जिसने स्त्री को शक्ति एवं बल प्रदान किया। स्त्री के कई रूप हैं। उन रूपों की अपनी-अपनी अलग-अलग समस्याएँ भी हैं। अक्सर स्त्री के बाल, किशोर व यौवन आदि अवस्थाओं पर चर्चा होती है, लेकिन स्त्री का एक अनदेखा पहलू भी है, वृद्ध। इसी अनदेखीयत में स्त्री विमर्श और वृद्ध का संबंध छिपा है। इसलिए इस संबंध की गहराई को समझते हुए स्त्री विमर्श के तहत वृद्ध और वृद्ध विमर्श के तहत स्त्री की चर्चा आवश्यक है। वृद्धावस्था एक गंभीर समस्या बनाया जा रहा है। स्त्री पहले ही शोषण की शिकार है। ऐसे में बिना किसी चर्चा के हम वृद्ध स्त्री के स्थिति को भलीभाँति समझ सकते हैं। कभी अपने संतान तो कभी पति ,वृद्ध स्त्री का जीवन दिशाहीनता का जीवंत दस्तावेज़ है। जिसकी अभिव्यक्ति हम कई हिन्दी समकालीन रचनाओं में देख सकते हैं। शेष कादंबरी, फिर लौटते हुए आदि उपन्यास इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। रूबी दी और लक्ष्मी देवी, लक्ष्मी देवी की माँ जैसी वृद्ध महिलाओं को कभी अपने अस्तित्व के लिए, अपने संतानों से, पति से तो कभी अपने आपसे लड़ना पड़ता है। "कोई अपने जीवन के लिए वजह खोज रहा है, तो इसमें कुछ गलत नहीं है, किसी भी उम्र में यह गलत नहीं है। अपने से बड़ी उम्र के लोगों की जिंदगी तुम लोगों के लिए फिजूल हो जाती है, पर हर उम्र में अपनी जिंदगी हर आदमी के लिए उतनी की उतनी जरूरी बनी रहती है।"[9] इस प्रकार अपनों के बीच पिसती स्त्री अपने वजूद को ही कोसने लगी है; " लक्ष्मी ने फिर विलाप करना शुरू कर दिया,"हाए वे मेरया जीवन साथिया, मैंनू एत्थे क्यों छड़ड़ गया?... वे मैंनू वी नाल क्यों नी लैग्या?... हाए वे मैं हुन की करां?... कित्थे ढूंडां तैनू मैं औरत जात।"[10] वहीं विकलांगता वृद्धावस्था की एक और बड़ी समस्या है। विकलांग विमर्श आज साहित्य का महत्वपूर्ण विषय है। वृद्धावस्था को कुछ लोग विकलांगता की दृष्टि से ही देखते हैं। उस पर यदि एक व्यक्ति पहले से ही विकलांग हो तो वृद्धत्व उसके लिए दोहरा अभिशाप बन जाता है। इसकी करुण अभिव्यक्ति है, फिर लौटते हुए उपन्यास की अंधी माँ । लक्ष्मी देवी की माँ अंधी है और वृद्ध है। दकयानूसी परंपरा के कारण वे अपनी बेटी की सहायता भी नहीं ले सकती। इसलिए अपने मजबूरी के आगे विवश उस अंधी वृद्ध महिला को कई परेशानियों का सामना करना पड़ता है। "सोने से पहले रेणु ने लक्ष्मी के सामने एक आशंका रखी, "दादी माँ, आप जब देख रही थीं कि आपकी माँ अलोन ही नहीं ब्लाइण्ड भी हैं तो आपने उन्हें शैल्टर आई मीन सहारा क्यों नहीं दिया?... "आप अपनी

तरफ से भी डाटर होने के नाते कुछ मिला देती होंगी। " -ना-ना बेटी, अपनी माँ का धरम भ्रष्ट करने का कोई कम्म मैं नी करती थी। जान परमात्मा को देनी है, एहोजेहा पाप मैं क्यों करूँ?" लक्ष्मी ने अपने दोनों हाथ कानों को लगाए और आँखें बन्द कर लीं।

रेणु समझ गई कि दादी माँ के साथ तर्क से बात नहीं की जा सकती। सिर्फ जानकारी ली जा सकती है कि लोग अपने ही बनाए वैचारिक दोजख में कैसे जिन्दगी जीते हैं और इस जिन्दगी की तकलीफों को सहन करने की ताकत उन्हें कहाँ से मिलती है।"[11] यह कथन वृद्ध विकलांगता और खोखली परंपराओं की ओर इशारा करता है। इसप्रकार किन्नर, दलित, किसान आदि विमर्श भी वृद्धत्व की दृष्टि से प्रमुख है। ये सभी वर्ग शोषित एवं उपेक्षित हैं। कोई अपने आत्म पहचान के लिए, कोई अपने अस्मिता के लिए तो को अपने खेत खलिहान केलिए मारता और लड़ता है। लेकिन फिर भी वे तिरस्कृत है; "समाज का अंग होते हुए भी क्यों उन्हें 'मनुष्य' नहीं समझा जाता है? क्यों उन्हें तिरस्कार, अपमान और घृणा की नज़र से देखा जाता है? क्यों वे अस्पृश्यों से भी अस्पृश्य समझे जाते हैं?"[12] " कुछ नहीं होनेवाला... हम गरीबों की इज्जत यूँ ही लुटती रहेगी... दलित होता तो कलंक है ही... उस पर दलित औरत होना और भी बुरा है... हर आदमी हम लोगों की बहन-बेटियों को बुरी नज़र से देखता है।"[13] "खेती या तो किसान अपनी ज़मीन पर कर सकता है, या मजदूर बनकर दूसरे की जमीन पर।... किसान के लिए वह सिर्फ ऐसी ज़मीन है जो उसकी होते हुए भी उसकी नहीं,... दरअसल वह सिर्फ भ्रष्ट कार्यकर्ताओं और उनसे भी ज्यादा भ्रष्ट सरकारी कारकुनों की संपत्ति है।"[14] इस प्रकार के शोषण के शिकार इन वर्गों के लिए वृद्धावस्था किसी शाप से कम नहीं है। वृद्धत्व में इनकी समस्याएँ कम होने की बजाए और अधिक बढ़ जाती है। वहीं आदिवासी वृद्धों की दशा इससे भिन्न नहीं है। लेकिन आदिवासी समाज के लिए वृद्ध उनके गायता है, यानी मुख्या। आज भी मुख्य ही है, जिनके निर्देश के बगैर आदिवासी समाज में कोई निर्णय नहीं लिया जाता। "गायता बुद्धिमान था। सारे गाँव का वह नेता था। उसकी अंगुलियों के इशारे पर पूरा गाँव का गाँव आग में कूद सकता था। उस पर सबको अटूट भरोसा था। यही कारण है कि गाँव के किसी आदमी ने कभी अदालत नहीं देखी। गाँव के सारे झगड़े गायता बड़ी होशियारी से निपटा देता है। उसने कभी किसी का पक्ष नहीं लिया।"[15] इस प्रकार आदिवासियों के बीच वृद्ध संबंधी अलग धारणा देखने मिलती है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं की वृद्ध आदिवासियों का शोषण नहीं होता। बाहरी हस्तक्षेपों से वे भी प्रताड़ित है।

निष्कर्ष

इस प्रकार हिन्दी समकालीन साहित्य के हरेक विमर्श में कहीं-न-कहीं वृद्ध विद्यमान है, क्योंकि वृद्धावस्था के बिना इंसान की परिकल्पना मुमकिन नहीं है। इसलिए समकालीन सभी विमर्श वृद्धत्व से संबंधित है। जिस प्रकार मनुष्य के विकास की चर्चा वृद्धावस्था के बिना अधूरा है उसी भांति वृद्धत्व के बिना समकालीन साहित्यिक विमर्श भी अपूर्ण है। जब इस अपूर्ण को पूर्णता की प्राप्ति होगी तभी समकालीन साहित्यिक विमर्श और वृद्ध का संबंधात्मक विश्लेषण सफल साकार होगा।

सन्दर्भ

1)रमणिका गुप्ता (सं.), आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,2002,पृ. 6
2)श्यौराज सिंह बेचैन, उत्तर सदी के कथा साहित्य में दलित विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2014, पृ.42
3)अमित कुमार सिंह, भूमंडलीकरण और भारत परिदृश्य और विकल्प, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ.82
4)शिवकुमार राजौरिया, वृद्धावस्था विमर्श और हिन्दी कहानी, अद्वैत प्रकाशन, दिल्ली, 2017, पृ.19-20
5)गिरीश मिश्र, भूमंडलीकृत समाज में साहित्य, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ.31
6)शिवकुमार राजौरिया, वृद्धावस्था विमर्श और हिंदी कहानी, अद्वैत प्रकाशन, दिल्ली, 2017, शुभाशंसा से
7)शिवकुमार राजौरिया, वृद्धावस्था विमर्श और हिंदी कहानी, अद्वैत प्रकाशन, दिल्ली, 2017, शुभाशंसा से
8)चित्रा मुद्गल, एक ज़मीन अपनी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ.19
9)अलका सरावगी, शेष कादंबरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, पृ. 11
10)राकेश वत्स, फिर लौटते हुए, राजपाल एंड संज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली, 2003, पृ.35
11)राकेश वत्स, फिर लौटते हुए, राजपाल एंड संज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली, 2003, पृ.26-28
12)भीष्म महेंद्र, मैं पायल, अमल प्रकाशन, कानपुर, 2016, भूमिका से
13)प्रेम कपाड़िया, मिट्टी की सौगंध, भारतीय सामाजिक संस्थान, नई दिल्ली,1995, पृ.8
14)श्रीलाल शुक्ल, बिस्रामपुर का संत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998, पृ.40
15)राजेन्द्र अवस्थी, जंगल के फूल, राजपाल एंड संस, नयी दिल्ली, 1996, पृ.14

*****

अवधी के पुरिखा : संत तुलसीदास

-डॉ.बालेन्द्र सिंह यादव
एसोसिएट प्रोफेसर-हिन्दी
डॉ.अम्बेडकर राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ऊँचाहार-रायबरेली
ईमेल- bsyadavjnu@gmail.com

महर्षि वाल्मीकि की 'रामायण' के श्रीराम को जन–जन का राम बना देने वाले गोस्वामी तुलसीदास जन–जन के महाकवि और कविराज है। ऐसा माना जाता है कि तुलसीदास महर्षि वाल्मीकि के ही अवतार थे। वाल्मीकि की 'रामायण' देवभाषा संस्कृत में पाँचवीं सदी ईसा पूर्व से पहली सदी ईसा पूर्व के बीच रची गई मानी जाती है। तुलसी ने इसी 'रामायण' के आधार पर जनभाषा अवधी में 'रामचरितमानस' महाकाव्य की रचना की। उन्होंने जब श्रीराम को पंडों की परिधि देवभाषा संस्कृत से बाहर निकाल कर जन–जन की जुबान तक पहुँचाया तो काशी के पंडे तुलसी से नाराज हो गये। नाराज पंडों ने आरोप लगाया कि तुलसी ने श्रीराम को देवभाषा से अलग कर दिया। उन लोगों के द्वारा रामच. रितमानस की पांडुलिपि नष्ट करने की कोशिश भी की गयी। पंडों के विरोध से सावधान तुलसी ने अकबर के दरबार के नवरत्नों में से एक वित्त मंत्री टोडरमल को रामचरितमानस की एक पांडुलिपि दे दी थी ताकि सुरक्षित रहे। आरंभ में रामकथा आचार्यों ने भी संस्कृत भाषा के प्रभाव के चलते 'रामचरितमानस' को रामायण का ही छोटा संस्करण मानकर स्वतंत्र महाकाव्य के रूप में उसे वो मान्यता नहीं दी जिसकी ये हकदार थी। पर तुलसी की लोकप्रिय विशिष्ट शैली एवं सरल भाषा के प्रयोग ने जल्दी ही 'रामचरितमानस' को इतनी अधिक प्रसिद्धि दिलाई की यह रामायण पर भारी पड़ गयी। आज भी देशभर में 'रामचरित मानस' को एक महान ग्रंथ के रूप में बड़े ही आदर और सम्मान के साथ देखा जाता है।

तुलसी ने अपने समय की लोकप्रिय दोनों हिन्दी बोलियों– अवधी और ब्रज में रचना की थी। उनकी अधि ाकांश रचनाओं की भाषा अवधी है। लोकप्रियता के संदर्भ में अवधी और तुलसी एक दूसरे के पर्याय बन गये हैं। अर्धमागधी प्राकृत (अपभ्रंश) से निसृत अवधी पूर्वी हिन्दी की तीन प्रमुख बोलियों (अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी) में से एक है जो उत्तर प्रदेश के अवध क्षेत्र और पश्चिमी नेपाल के तराई क्षेत्र में बोली जाती है। उत्तर प्रदेश के अवध क्षेत्र में लखनऊ, रायबरेली, सुल्तानपुर, बाराबंकी, उन्नाव, हरदोई, सीतापुर, लखीमपुर, अयोध्या, जौनपुर, प्रतापगढ़, प्रयागराज, कौशाम्बी, अम्बेडकरनगर, गोंडा, बस्ती, बहराइच, बलरामपुर, सिद्धार्थनगर, श्रावस्ती तथा फतेहपुर जनपद आते हैं। कहीं कहीं अवधी को कैथी और बैसवाड़ी के नाम से भी जाना जाता है, परंतु कैथी और बैसवाड़ी संपूर्ण अवधी न होकर उसकी उपबोली मात्र हैं। उत्तर–मध्य भारत की अधिकांश जनता ने मध्यकाल में अपनी मनोवृत्ति और अनुभूति प्रकट करने के लिए अवधी भाषा का ही प्रयोग किया है। भाषा के रूप में अवधी का पहला स्पष्ट उल्लेख अमीर खुसरो की रचना 'खालिक बारी' में मिलता है। तब से पूरे मध्यकाल में अवधी एक प्रमुख भाषा रही है। मलिक मुहम्मद जायसी कृत 'पद्मावत' एवं तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' महाकाव्य अवधी बोली की प्रमुख देन है। जायसी और तुलसी ने अपनी रचना शक्ति के माध्यम से अवधी को समृद्धि प्रदान की। इनके द्वारा रचित ग्रंथों में अवधी के अनेकों शब्दों ने अपनी सार्थकता प्राप्त की है। तुलसी के यहाँ तो अनेक अवधी शब्द, जैसे खाना को खनवा, पानी को पनिया, घोड़े को घोड़वा, भोजन को जेउना, लेटने को पौड़ना, सोने को सुतना, माँ को महतारी, ननिहाल ननियाउर आदि बहुलता के साथ प्रयोग किये गये हैं। नामवर सिंह ने अपने एक व्याख्यान में कहा भी था कि तुलसी ने अपनी रचनाओं में संस्कृत, फारसी, अरबी और तुर्की के कुछ शब्दों के साथ अवधी और ब्रज के करीब 22 हजार शब्दों का भरपूर इस्तेमाल कर अद्भुत छन्द रचना की है।

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम के अनन्य भक्त तुलसीदास का जीवन सफर कष्टों से भरा हुआ रहा। एक अनाथ एवं आम रामबोला से गोस्वामी बनने तक तुलसी बहुत कुछ सहा, सुना और भोगा था। पर उन्होंने जीवन की मुसीबतों से हार मानने के बजाय तमाम कठिनाइयों का डटकर मुकाबला किया। 1532 ईस्वी (7,श्रावण विक्रमी संवत् 1589) में उत्तर प्रदेश के बांदा जिले के राजापुर गांव में जन्मे तुलसीदास के बारे में कहा जाता है कि उन्हें रामभक्ति की प्रेरणा अपनी पत्नी से प्राप्त हुई थी। पत्नी के धिक्कारने पर वो सांसारिक मोहमाया से विरक्त हो गये। इसके विपरीत अधिकांश तुलसी भक्त और विद्वान मानते हैं कि तुलसी को राम भक्ति की प्रेरणा पत्नी की प्रताड़ना/धि ाक्कार से नहीं अपितु शैशव के संस्कारों से प्राप्त हुई थी। बचपन से ही तुलसी साधुओं एवं संतों के प्रति सेवा का भाव रखते थे और अपने इसी भाव के चलते सांसारिक मोह माया से विरक्त होकर संन्यासी अर्थात जितेन्द्रिय हो गए थे। तुलसी भक्तों और विद्वानों ने तो तुलसी को

विवाहित ही नहीं माना। वे अपनी तुलसी विषयक बाह्य एवं अंतः साक्ष्यों की समीक्षा के आधार पर उनके अविवाहित होने को सिद्ध करने की कोशिश भी करते हैं। उनका मानना है कि यदि वे विवाहित होते और पत्नी प्रेरणा से विरक्त एवं भक्त हुए होते तो कम से कम नाभादास अपने 'भक्तमाल' में इसका संकेत अवश्य करते। 'भक्तमाल' के जितने भी पुराने व नये रूप मिलते हैं उन सबमें चरित नायकों के दोष दर्शन एवं परवर्ती उत्कर्ष के लोक हितकारी प्रेरक संकेत यथास्थान अवश्य किये गये हैं। स्वयं तुलसी भी अपनी भक्तिप्रपत्ति निरूपण में अपने जन्म से अभागे और अयोग्य होने की भांति अपनी विवाह. जन्य विरक्ति का उल्लेख प्रायः अपरिहार्य दोष दर्शन प्रकरणों में अवश्य करते। मतलब न तो तुलसीदास के समसामयिक प्रशंसकों या शिष्यों– नाभदास, रहीम, रामू द्विवेदी आदि में से किसी ने भी उनके विवाहित होने का कोई संकेत किया और न ही स्वयं तुलसीदास ने अपने विवाहित होने का कोई संकेत दिया। वो तो तुलसी के कई दशक बाद की कल्पित एवं अप्रमाणिक 'गोसाईंचरित' (वेणीमाधवदास) एवं 'तुलसीचरित' (रघुवरदास) के आधार पर विवाह कथा को तूल दे दिया गया जिसे अमृतलाल नागर ने 'मानस का हंस' में पुत्ररत्न तारक या तारापति तक कल्पित कर लिया। सच्चाई जो भी हो पर राम भक्त तुलसी की आध्यात्मिक यात्रा की शुरुआत तभी से हो जाती है जब वे अपने गाँव (शूकर क्षेत्र) में आये संत नरहरिदास से राम कथा के बारे में सुनते हैं। संत नरहरिदास ने ही तुलसी को आगे के जीवन की राह दि खाई। राम कथा से प्रभावित तुलसी ने उन्हें अपना गुरु स्वीकार कर उनसे दीक्षा–शिक्षा ग्रहण की। गुरु नरहरिदास से दीक्षा लेने के बाद तुलसीदास ने राम कथा में ही सुखद समाज की कल्पना करते हुए इसे आदर्श जीवन का मार्ग दिखाने का माध्यम बना लिया। गुरू द्वारा सम्यक् शिक्षित–प्रशिक्षित और गहन आत्मचिंतन के अनंतर ही तुलसीदास ने रामचरित मानस लिखकर राम भक्ति को स्थिर जीवन–दर्शन बनाया।

तुलसी ने लोकभाषा अवधी में रामचरितमानस, रामलला नहछू, रामाज्ञा प्रश्न, बरवै रामायण, पार्वती मंगल एवं जानकी मंगल तथा ब्रज में कवितावली, दोहावली, विनय पत्रिका, कवित्त रामायण, वैराग्य संदीपनी एवं हनुमान बाहुक की रचना की थी। किन्तु उन्हें सर्वाधिक ख्याति रामचरित मानस के जरिये ही मिली। रामचरितमानस 1,073 दोहों और 12,800 चौपाइयों के साथ सात कांडों में विभाजित एक महाकाव्य है जिसके लिखने की शुरुआत साल 1574 ई0 (विक्रम संवत 1631) के रामनवमी के दिन से अयोध्या में की थी और चित्रकूट एवं वाराणसी में इसे पूरा किया। इस अवधि के दौरान भारत मुगल सम्राट अकबर (1556–1605 ई0) के अधीन था। कहा जाता है कि अकबर ने तुलसीदास को भी अपने नवरत्नों में शामिल होने के लिए अब्दुर्रहीम खान खाना के वास्ते प्रस्ताव भेजा था। खानखाना ने तुलसी से कहा था कि "मेरी इच्छा है कि आप जैसे महात्मा महाकवि को राज्य संरक्षण मिलना चाहिए। मैं यदि शहंशाह को आपको कोई जागीर प्रदान करने के लिए लिखूँ तो क्या आप उसे स्वीकार करेंगे?'' तुलसी ने आदरपूर्वक उनके प्रस्ताव को ठुकरा दिया और हँसते हुए कहा कि ''आपकी बड़ी कृपा है खाना खान साहब पर मेरी चाकरी का पट्टा राम के दरबार में लिखा जा चुका है। तो अब भला किसी मनुष्य की मनसबदारी क्या करूँगा :–

हम चाकर रघुवीर के, पटौ लिखो दरबार।
तुलसी अब का होहिंगे, नर के मनसबदार।।

भगवान राम और हनुमान भक्ति के पर्याय बने गोस्वामी तुलसीदास ने सत्य और परोपकार को सबसे बड़ा धर्म तथा त्याग को जीवन का मूलमंत्र माना है। उन्होंने रामचरित मानस के रूप मनुष्य के संस्कार की कथा लिखकर रामकाव्य को भारतीय संस्कृति का प्राण तत्व बना दिया। उनके प्रयत्नों से ही राम जनमानस के जन्म, मरण, वाह, आह, उत्साह, स्याह सब में रच–बस गये। तुलसी ने समस्त भारतीय समाज को भगवान श्रीराम के रूप में ऐसा दर्पण दिया है कि जिसके सामने हम बड़ी आसानी से अपने गुण–अवगुणों का मूल्यांकन करते हुए अपनी मर्यादा, करुणा, दया, शौर्य, साहस और त्याग का आकलन कर श्रेष्ठ इंसान बनने की ओर प्रवृत्त हो सकते हैं। वे नैतिकता, मानवता, कर्म, त्याग द्वारा लोकमंगल की स्थापना करने का प्रयास करते हैं। आचार्य शुक्ल ने लिखा है, ''पहले भगवान का हँसता–खेलता रूप दिखाकर सूरदास ने हिन्दुओं की निराशा जनित खिन्नता हटाई, जिससे जीवन में प्रफुल्लता आ गई। पीछे तुलसीदास जी ने लोक मंगलमय रूप दिखाकर आशा और शक्ति का अपूर्व संचार किया. अब हिन्दू जाति निराश नहीं है।'' तुलसी और सूरदास के कारण तब हिन्दुओं की निराशा कितनी खत्म हुई, इस पर बहस हो सकती है, लेकिन इसमें कोई दो राय नहीं कि तुलसीदास ने अपनी रचनाओं के माध्यम से असत्य, पाखंड, ढोंग और अंधविश्वास में डूबे समाज को जगाने का हर संभव प्रयास किया। भारत के पूर्व राजनयिक और भारतीय समाज के साथ संस्कृति पर गहरी नजर रखने वाले पवन कुमार वर्मा रामचरितमानस को दुनिया की महान साहित्यिक रचनाओं में से एक मानते हैं। अपनी किताब 'द ग्रेटेस्ट ओड टु लॉर्ड रामः तुलसीदास रामचरित मानस' में वे लिखते हैं कि ''रामचरितमानस में न केवल तुलसीदास की शानदार कविताई है, बल्कि गहरे दर्शन, सहज ज्ञान और इन सबके ऊपर महान भक्ति भाव भी है। 'रामचरितमानस' गेय शैली में रचित वैसे तो तुलसी की एक महान साहित्यिक कृति है, लेकिन राम के प्रति समर्पित भक्ति और हिन्दू धर्म दर्शन

की गूढ़ता के चलते इसे उत्तर भारत में हिन्दुओं के बीच धर्मग्रंथ की भी प्रतिष्ठा हासिल है।'' शायद इसीलिए प्रोफेसर पुरुषोत्तम अग्रवाल मानते हैं कि रामचरितमानस की महिमा साहित्य से आगे की है। हम भले इसे साहित्य कहते रहें, लेकिन जनमानस में यह धार्मिक ग्रंथ का रूप ले चुका है। राम किसी नायक की तरह पूरे जनमानस में हैं। ऐसे में तुलसी और रामचरितमानस की चर्चा ज्यादा लाजिमी है।

तुलसी के ईष्ट भगवान् राम के नाम पर समाज को बाँटा गया है। इसलिए तुलसी आलोचकों के निशाने पर आसानी से आ गये। वैसे तो तुलसी के राम एक योद्ध ा होने के साथ साथ हाड़–मांस के बने बहुत ही सौम्य पुरुष भी हैं। वह सीता की खोज में पशु–पक्षियों से पूछते हैं और उनके सामने रोते हैं। पर आधुनिक भारत की चुनावी राजनीति में जब सामंती विचारधारा ने राम के केवल योद्धा रूप को पेश कर अपनी तरह से उसका दुरुपयोग करना शुरू किया तो दूसरी विचारधारा ने तुलसी की ही कुछ चौपाइयों का हवाला देकर अहसास कराया कि तुलसी ने रामचरितमानस में वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थन कर ब्राह्मणों की श्रेष्ठता स्थापित की है और दलितों एवं स्त्रियों को नीचा दिखाकर उनकी प्रतिष्ठा को नकारा है। वर्तमान में बिहार के शिक्षा मंत्री चंद्रशेखर और उत्तर प्रदेश के पूर्व मंत्री स्वामी प्रसाद मौर्य ने रामचरित मानस को स्त्री और दलित विरोधी मानते हुए कहा कि इससे समाज में नफरत फैल रही है। चंद्रशेखर ने तो बताया कि बाबा साहेब आंबेडकर ने कहा था कि "एक युग में मनुस्मृति, दूसरे युग में रामचरितमानस और तीसरे युग में गुरु गोलवलर की बंच ऑफ थॉट नामक ग्रंथ हमारे देश और समाज को नफरत में बांटती हैं।''

राजनीतिक आलोचना और साहित्यिक आलोचना में फर्क है। राजनीतिक आलोचना का मकसद ध्यान भटकाने और समाज को बाँटने के सिवा और कुछ नहीं है। जबकि साहित्य में आलोचना समाज को प्रगतिशील और बेहतर बनाने के लिए होता है। अगर रामचरितमानस को साहित्यिक रचना के रूप में देखा जायेगा तो साहित्य की आलोचना स्वाभाविक है। तुलसी को दलित और स्त्री विरोधी मानने के संदर्भ में निम्न तीन चौपाईयों का उल्ले ख अक्सर किया जाता है– "अधम जाति मैं बिद्या पाए। भयउँ जथा अहि दूध पिआए।।

यानी नीच जाति के लोगों को शिक्षा हासिल करने का अधिकार नहीं था।

'ढोल, गंवार शूद्र, पशु, नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी।'
पूजहि विप्र सकल गुण हीना। शुद्र न पूजहु वेद प्रवीणा।।

यानी ब्राह्मण भले अवगुणों से भरा है, लेकिन उसकी पूजा करनी चाहिए लेकिन शूद्र वेद का ज्ञाता है तब भी पूजा नहीं करनी चाहिए।

रामकथा वाचक अखिलेश शांडिल्य से पूछे जाने पर उन्होंने कहा कि ''यदि इन दोहों– चौपाइयों के संदर्भ और प्रसंग से हटाकर स्वतंत्र रूप में देखेंगे तो बिल्कुल यही लगेगा कि रचनाकार अपने मंतव्य में स्त्री और दलित विरोधी हैं। जो इन दोहों–चौपाइयों का इस्तेमाल तुलसीदास को घेरने के लिए करते हैं, वे पूरा संदर्भ उड़ा देते हैं।'' आज के समाज में तुलसीदास की रामचरितमानस से हजार गुना ज्यादा स्त्री और दलित विरोधी सोच है। हमारे राजनेताओं को चाहिए कि वे रामच. रितमानस को संपादित करने के बजाय समाज से इन बुराइयों को खत्म करें।

पहली चौपाई– 'अधम जाति मैं बिद्या पाए, भयउँ जथा अहि दूध पिआए' का प्रसंग यह है कि रामचरितम. ानस के उत्तर कांड में गरुड़ और काकभुशुण्डि के बीच संवाद हो रहा है। काकभुशुण्डि मतलब कौवे से है। काकभुशुण्डि खुद स्वीकार करते हुए कहते हैं कि उन्होंने थोड़ी विद्या क्या हासिल कर ली कि अपने गुरु की अवज्ञा कर बैठे। दरअसल, वह विनम्रता से अपने घमंड को स्वीकार करने के लिए खुद को अधम यानी नीच बता रहे हैं। कौवे की प्रतिष्ठा गरुड़ के सामने तो कुछ भी नहीं है। काकभुशुण्डि अपने भटकाव को स्वीकार रहे हैं और इसी क्रम में खुद को अधम बताते हैं।'' हिन्दी साहित्य के जाने–माने आलोचक दिवंगत प्रोफेसर नामवर सिंह ने भी अपने एक व्याख्यान में गरुड़ और काकभुशुण्डि संवाद का जिक्र किया है। गरुड़ देवताओं के वाहन थे। देवतुल्य थे। काकभुशुण्डि कौवा हैं। कहाँ कौवा और कहाँ गरुड़। ले. किन तुलसीदास ने काकभुशुण्डि को श्रेष्ठ दिखाया क्योंकि वो भक्त थे। भले काकभुशुण्डि पक्षियों में क्षुद्र थे। काकभुशुण्डि जीतते हैं और गरुड़ हारते हैं। उन्होंने कहा किद्द "ज्ञान बनाम भक्ति का तर्क देखना है तो काकभुशुण्डि और गरुड़ संवाद से बेहतर कुछ नहीं हो सकता। तुलसीदास ने गरुड़ और काकभुशुण्डि संवाद के रूप में ज्ञान और भक्ति में क्या संबंध है? दोनों में क्या महत्वपूर्ण है और भक्ति क्यों ज्ञान से श्रेष्ठ है उसे बताया है।" अि खलेश शांडिल्य कहते हैं, ''प्रसंग से काटकर इस चौपाई को ऐसा पेश किया जाता है मानो तुलसीदास ने दलितों के बारे में खुद ही कहा है। यह वैसा ही है कि मैं अपने गुरु को कहूँ कि आपके चरणों की धूल के बराबर भी नहीं हूँ और मेरी जाति देख गुरु पर तोहमत लगाना शुरू कर दिया जाए कि वह दलितों को पैरों की धूल के बराबर भी नहीं समझते हैं।''

दूसरी चौपाई– ढोल, 'गंवार शूद्र, पशु, नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी।। का इस्तेमाल तुलसीदास और रामचरितमानस को घेरने के लिए सबसे ज्यादा किया जाता है। गाँवों में तो लोग इसे स्त्रियों और दलितों के ि खलाफ की जाने वाली हिंसा को जायज ठहराने के लिए भी कर लेते हैं। पर जब इसको संदर्भ के साथ देखें तो पाते हैं कि राम लंका के रास्ते में हैं। बीच में समंदर पड़ता है। तीन दिनों से समंदर से रास्ता मांग रहे हैं ले.

किन समंदर सुन नहीं रहा। नाराज राम समंदर को सु खाने के लिए अग्निबाण निकालने हुए कहते हैं–

विनय न मानत जलधि जड़, गए तीनि दिन बीति।
बोले राम सकोप तब, भय बिनु होइ न प्रीति।।

अग्निबाण छूटने से पहले ही समंदर राम के सामने प्रकट हो कहता है, 'प्रभु हम तो जड़ हैं। प्रार्थना समझ में नहीं आती है।' यहाँ तक तो बात समझ में आती है पर उससे भी एक कदम आगे इसी प्रसंग में समंदर का राम से यह कहना कि– 'ढोल, गंवार शूद्र, पशु, नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी।' आप्रसंगिक प्रतीत होता है। हालांकि शांडिल्य जैसे अधिकांश तुलसी समर्थक इसे समंदर की अपनी कंडिशनिंग बता रहे है। वैसे भी किसी साहित्यिक रचना का हर पात्र विवेकशील बात करे यह जरूरी नहीं। कोई भी साहित्य अपने समय और समाज के बीच ही पनपता है और उसकी झलक रचना में साफ दिखती है। न तो तुलसीदास कह रहे हैं और न ही राम। प्रेमचंद का कोई पात्र सामंती है तो इसका मतलब यह नहीं है कि प्रेमचंद खुद सामंती सोच के हैं और उनकी रचना इस सोच को खाद–पानी दे रही है।''

तीसरी चौपाई– का प्रसंग है कि राम सीता की तलाश में हैं और रावण जटायु को मार देता है। इसी बीच कबंध राक्षस आ जाता है और राम उस पर गुस्से में तीर चला देते हैं। कबंध पहले गंधर्व थे और ऋषि दुर्वासा ने उन्हें छेड़खानी को लेकर राक्षस बनने का श्राप दिया था। राम ने जब तीर मारा तो कबंध फिर से गंधर्व बन गए। राम का तीर तो कबंध के लिए उद्धार था। कबंध के पुनः गंधर्व बनने के बाद ही राम ने कहा थादृ पूजहि विप्र शील गुण हीना। शुद्र न पूजहु वेद प्रवीणा।। यहाँ भी अचरज होता है कि राम ने जिस व्यक्ति का उद्धार किया, उसके बारे में ऐसा क्यों कहेंगे?

तुलसीदास भाषा, साहित्य और दर्शन के लिहाज से एक सच्चे साधक का जो ओहदा रखते हैं, उसमें ऐसी कुछ चौपाई या दोहों का होना समझ से परे लगता है। शांडिल्य कहते हैं, ''साहित्य में कोई भी चरित्र आता है तो अपने परिवेश और समय की पूरी जटिलता के साथ आता है। दुनिया के सारे महान कवियों की रचना और उनके जीवन में झांकिए तो विरोधाभास मिलते हैं। अहम यह है कि साहित्य को कैसे पढ़ें? ऐसा लगता है कि रामचरितमानस में कई चीजें बाद में जोड़ दी गई हैं। मुझे स्वयं कई दोहों और चौपाइयों को लेकर हैरानी होती है। जाने–माने कवि अरुण कमल कहते हैं कि उन्हें तुलसीदास की किसी चौपाई पर हैरानी नहीं होती है। पर कवि और आलोचक अरुण कमल कहते हैं, ''तुलसीदास भारत के हृदय हैं। दुनिया के महानतम कवि हैं। उनकी कोई भी पंक्ति पर सवाल उठाने से पहले यह ध्यान रखना चाहिए कि कौन कह रहा है, कब कहा जा रहा है और कहाँ कह रहा है। जो इसका ध्यान नहीं रखते हैं, उन्हें साहित्य पढ़ने नहीं आता है। जो सवाल उठाते हैं, उन्हें तुलसी के दोहे से ही जवाब देना चाहता हूँ– जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।।'' यहाँ तुलसीदास के राम वेद के ज्ञाता शूद्रों की पूजा नहीं करने की बात कर रहे हैं, पर यही राम मानस के उत्तरकांड में कहते हैं कि भक्ति और भाव से युक्त अति नीच कहा जाने वाला प्राणी भी मुझे अपने प्राणों के समान प्रिय है। ऐसी मेरी वाणी है–

भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहिं प्रानप्रिय अस मम बानी।।

सूर्पनखा प्रसंग में जब कहा जा रहा है कि 'नारी सुंदर पुरुष को देखने के बाद व्याकुल हो जाती है, वो पुरुष चाहे भाई हो, पिता हो या पुत्र. स्त्री अपने मन को रोक नहीं पाती है। जैसे सूर्य के ताप से रवि मनि द्रवित हो जाता है।'–

भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी।।
होइ विकल सक मनहि न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहिं बिलोकी।।

किसी रचना को बर्बाद करना है तो उसे बेकार घ ोषित कर दो. दूसरा तरीका है कि लाल कपड़े में बांध दो, अगरबती दिखाओ और पढ़ो मत. एक तुलसी का बिना पढ़े विरोधी हैं और दूसरे तुलसी के भक्त हैं। वर्णव्यवस्था तुलसीदास ने नहीं बनाई थी। औरतें घर में रहेंगी ये तुलसीदास ने नहीं बनाया था। तुलसीदास ने विद्वेष फैलाया ये बात गलत है। कथाकार अमृतलाल नागर कहते हैं कि तुलसीदास ने वर्णाश्रम व्यवस्था से समझौते किए थे, लेकिन पूरी तरह से हथियार नहीं डाल दिए थे। उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास के जीवन पर 'मानस का हंस' उपन्यास की भूमिका में लिखा है, ''समाज संगठन–कर्ता की हैसियत से सभी को कुछ न कुछ व्यावहारिक समझौते भी करने पड़ते हैं। तुलसी और हमारे समय के गांधी जी ने भी वर्णाश्रमियों से कुछ समझौते किए पर उनके बावजूद इनका जनवादी दृष्टिकोण स्पष्ट है। तुलसी ने वर्णाश्रम ध र्म का पोषण भले किया हो पर संस्कारहीन कुकर्मी ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि को लताड़ने में वे किसी से पीछे नहीं रहे। तुलसी का जीवन संघर्ष, विद्रोह और समर्पण से भरा है। इस दृष्टि से वह अब भी प्रेरणादायक हैं।''

प्रोफेसर आशीष त्रिपाठी कहते हैं, कोई भी भक्ति आंदोलन का कवि पूर्णतः न तो क्रांतिकारी है और न ही यथास्थितिवादी। कबीर आडंबरों के बहाने धर्म की ब्राह्मण सत्ता का विरोध तो करते हैं। पर अपने समय में राजा और सामंतों के बारे में कुछ नहीं कहते। कबीर की तरह जायसी और सूर भी अपने जमाने की राजसत्ता और धर्मसत्ता का विरोध नहीं किया। पर तुलसी ने राजसत्ता और धर्मसत्ता दोनों का विरोध किया है। तुलसी

वर्णव्यवस्था के समर्थन के बावजूद कर्मपथ से हट जाने वाले ब्राह्मणों को काफी बुरा भला कहा है–

जाके नख अरु जटा विसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला।।
विप्र निरछर लोलुप कामी। निराचार सठ वृषली स्वामी।।

स्त्रियों के मामले में कबीर, जायसी और तुलसी तीनों एक तरह हैं. जबकि इन तीनों से आगे सूरदास के यहाँ महिलाएं अपने–अपने पतियों को छोड़ स्वतंत्र होकर प्रेम करती हैं। लेकिन हम उन्हें आज के संघर्षों में नहीं देख सकते हैं।कबीर के यहाँ ऐसे कई दोहे हैं, जिनमें महिलाओं को बुराई की तरह पेश किया गया है। मिसाल के तौर पर एक दो दोहे देखे जा सकते हैं, जैसे–

नारि नसावै तीनि सुख, जा नर पासैं होइ।
भगति मुकति निज ग्यान मैं, पैसि न सकई कोइ।।

इस दोहे में कहा गया है कि नारी के प्रति आसक्ति तीन सुखों से वंचित कर देती है। जो भी पुरुष नारी से आसक्ति रखता है, वह भक्ति, मुक्ति और ज्ञान से दूर हो जाता है।

नारी कुण्ड नरक का, बिरला थंभै बाग।
कोई साधू जन ऊबरै, सब जग मूँवा लाग।।

कबीर कह रहे हैं कि औरत नर्क के कुंड समान है और इससे शायद ही कोई बच सकता है। कोई संत ही इससे उबर सकता है। बाकी संबंध जोड़कर मरते हैं।

कामणि काली नागणीं, तीन्यूँ लोक मँझारि।
राग सनेही ऊबरे, बिषई खाये झारि।।

कबीर इस दोहे में कह रहे हैं कि नारी काली नागिन के समान है जो तीनों लोकों में मौजूद है। राम से स्नेह करने वालों को तो मुक्ति मिल जाती है, लेकिन विषय विकार में लिप्त लोग नष्ट हो जाते हैं।

कबीर पर चर्चित किताब 'अकथ कहानी प्रेम की' लिख चुके जे0एन0यू0 के प्रोफेसर पुरुषोत्तम अग्रवाल कहते हैं, ''कबीर के यहाँ पचासों बातें स्त्री विरोधी हैं। जब आप यह भूलकर पढ़ते हैं कि वह किस समय के थे तब आप किसी को भी टारगेट कर सकते हैं। तुलसीदास इसलिए टारगेट किए जाते हैं कि रामचरितमानस को ध ार्मिक ग्रंथ के रूप में लिया जाता है। छात्र भी रामच. रितमानस को कविता के रूप में नहीं पढ़ते नहीं हैं। जबकि रामचरितमानस बहुत ऊंचे दर्जे की साहित्यिक कृ ति है। हमें जो बातें आज आपत्तिजनक लगती हैं, वो हर धर्म में हैं। चाहे बाइबल उठा लीजिए या कुरान। सब में आज की दृष्टि से आपत्तिजनक चीजें हैं। हर धार्मिक ग्रंथ में लोकतांत्रिक मूल्यों का विरोध है।'' पुरुषोत्तम अग्रवाल कहते हैं अगर आप तुलसीदास को कुछ दोहों के आधार पर नारी विरोधी कहते हैं तो नारी के समर्थन वाली चौपाइयों को भी नहीं भूलना चाहिए। तुलसीदास ने कुछ प्रसंगों में नारी की निंदा की है। हालांकि नारी के प्रति ऐसे निंदा वाक्य अधिकतर तुलसीदास के खलनायक चरित्रों द्वारा कहे गए हैं। पर इन निंदा वाक्यों को नारी के प्रति तुलसीदास की मनोवृत्ति नहीं मान लेना चाहिए। संभव है कि ऐसे प्रसंग से केवल तप और निवृत्ति में नारी को बाधक बताया गया हो। तुलसी परिवार में नारी के लिए सुरक्षा भाव उत्पन्न करने के पक्ष में हैं पर नारी की विवशता, परतंत्रता पर गहरा आक्रोश व्यक्त करते हैं–

अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुन सठ कन्या सम ये चारी।।
इन्हहि कुदिष्टि बिलौके जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई।।
कत बिधि सृजीं नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं।।

यानी तुलसीदास कह रहे हैं कि विधाता ने संसार में स्त्री को क्यों पैदा किया? पराधीन को सपने में भी सुख नहीं मिलता।

तुलसीदास को उनकी कुछ चौपाइयों को लेकर दलित विरोधी कह सकते हैं, लेकिन उन्होंने यह भी कहा है–

धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूतु कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों, बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगाड़ न सोऊ।
तुलसी सरनाम गुलामु है राम को, जाको, रुचौ सो कहै कछु ओऊ।
माँगि कै खैबो, मसीत को सोईबो, लैबो को, एकु न दैबे को दोऊ।।

कवितावली की इस चौपाई में तुलसीदास कहते हैं– चाहे कोई मुझे धूर्त कहे अथवा परमहंस कहे, राजपूत कहे या जुलाहा कहे, मुझे किसी की बेटी से तो बेटे का ब्याह करना नहीं है, न मैं किसी से संपर्क रखकर उसकी जाति ही बिगाड़ूँगा। तुलसीदास तो श्रीराम का गुलाम है, जिसको जो लगे सो कहे। मैं तो मांग के खा लूंगा और मस्जिद (देवालय) में सो लूंगा, न किसी से एक लेना है, न दो देना है। नामवर सिंह ने अपने एक व्याख्यान में कहा था कि तुलसीदास का जीवन कबीर से ज्यादा संघ र्षपूर्ण रहा और उन्हें बनारस के पंडों ने जमकर निशाना बनाया। तुलसीदास इस दोहे में जो कुछ भी कह रहे हैं, यह उनका भोगा हुआ यथार्थ है। इस तरह की बात कबीर दास भी नहीं कह पाए कि मस्जिद में सो लेंगे।

प्रोफेसर अग्रवाल कहते हैं, ''साहित्य में हम कुछ को मानेंगे और कुछ को नहीं मानेंगे। कबीर दास के यहाँ जाति व्यवस्था और ऊँच–नीच की आलोचना है जबकि वह नारी के नारी होने की निंदा करते हैं। मैं कबीर के इस प क्ष को नहीं मानता। तुलसीदास प्रतिक्रियावादी कवि थे, लेकिन प्रतिक्रियावाद के साथ उनमें मानवीयता भी है। नारी की पराधीनता को लेकर भी वह संवेदनशील रहते

हैं। इस नाते वह बहुत बड़े कवि हैं। इसलिए रामचरितम. ानस को धार्मिक ग्रंथ नहीं एक साहित्यिक कृति के रूप में पढ़ा जाए तब अच्छा रहेगा। नहीं तो लोग पूछेंगे कि रामचरितमानस को घेरने वाले कुरान के बारे में क्यों चुप हैं? इस पर प्रत्युत्तर करती प्रोफेसर हेमलता कहती हैं, ''हम किसी भी धर्मग्रंथ से डरते नहीं हैं। पर जिस व्यवस्था से पीड़ित होंगे उसका विरोध करेंगे। हम कुरान से पीड़ित नहीं वर्णाश्रम व्यवस्था से पीड़ित हैं और रामच. रितमानस इस व्यवस्था का महिमामंडन करती है। इसके विपरीत कबीर ने दलितों को नीचा नहीं दिखाया है। कबीर के दोहों में स्त्री विरोधी बातें हैं। इस नाते वो भी आलोच्य हैं पर उन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था की पोल खोलते हुए ब्राह्मणों के पाखंड का खुलकर विरोध किया है।'' अि खलेश शांडिल्य कहते हैं, ''विमर्श संस्कृति का हिस्सा है, लेकिन ढेला (पत्थर) फेंक कर भागना विमर्श नहीं है। कोई भी रचना आलोचना से परे नहीं है। जब आप पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर कुछ करेंगे तो न्यायोचित नहीं होगा। आलोचना के औजार अच्छे होने चाहिए। इस पर निर्भर करता है कि तुलसी में से आप क्या निकालते हैं। गोमुख से गंगा निकली है। आपने बनारस में पानी निकाला और गंगा को कोसना शुरू कर दिया लेकिन गंगा को गोमुख में भी देखना चाहिए।''

तुलसीदास भक्तिकाल की राम काव्यधारा के प्रति. निधि कवि हैं। तुलसी ने रामचरितमानस के जरिए भगवान राम की भक्ति को घर–घर तक पहुँचाया है। जहाँ तुलसी का साहित्य भक्ति–भावना जागृत करता है वही सामाजिक चेतना का भी प्रसार करता है। तुलसीदास की सामाजिक और लोकवादी दृष्टि मध्यकाल के अन्य कवियों से कहीं अधिक व्यापक और गहरी है। उन्होंने अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक स्थिति को अनदेखा नहीं करते। उनके समय के समाज में सामंती मूल्यों से ग्रस्त वर्ण–व्यवस्था का कठोर प्रचलन था। नारी की स्थिति भी अच्छी नहीं थी। इन पारम्परिक मूल्यों से कई जगह तुलसी भी प्रभावित हुए हैं पर ऐसे कुछ अप. वादों को छोड़ दें तो उस सामंती समाज में भी तुलसी नए मूल्यों को स्थापित करने की कोशिश करते हैं। भक्ति के स्तर पर तुलसी वर्ण–व्यवस्था को बिल्कुल स्वीकार नहीं करते। शायद इसलिए 'शंबूक वध' प्रसंग को अपनी 'रामचरितमानस' में स्वीकार नहीं किया। और शबरी जैसी वनवासिनी को 'भामिनि' कहकर संबोधित किया है।–

नव महु एकौ जिन्ह के होई।
नारि पुरुष सचराचर कोई।।
सोई अतिसय प्रिय भामिनि मोरे।
सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे।।

भक्तिकाल के अधिकतर कवि राजनीति से दूर रहते थे। लेकिन तुलसीदास एकमात्र ऐसे रचनाकार हैं जो अपने समय की राजनीतिक विसंगतियों की कटु आलोचना करते हैं और राजा के लिए दंड की व्यवस्था भी करते हैं–

''गोढ़ गँवार नृपाल महि, जमन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दण्ड कराल।''
''जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवस नर्क अधिकारी।।''

तुलसीदास सिर्फ राजनीतिक विसंगतियों को उजागर करके ही नहीं रुक गए, उन्होंने तत्कालीन समाज की आर्थिक समस्याओं की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। उन्होंने गरीबी, अकाल, बेरोजगारी की समस्याओं पर वर्णन अपनी रचनाओं में किया है।

''नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।
संत मिलन सम सुख जग नाहीं।।''
''कलि बारहिं बार दुकाल पड़ै।
बिनु अन्न दुखी सब लोग मरैं।।''
''खेती न किसान को, भिखारी को न भीख,
बलि, बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका बिहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों, 'कहाँ जाई, का करी?।।

तुलसी के काव्य की कुछ विशेषताएँ निम्नवत हैं–

1. तुलसी के राम शील, शक्ति और सौंदर्य का समन्वय है। उनके राम वैसे तो परम ब्रह्म स्वरूप हैं। पर वे पाप विनाश और धर्म उद्धार के लिए युग युग में अवतार लेते हैं।

2. तुलसीदास उच्च कोटि के समन्वयवादी थे। जीवन और जगत के सभी क्षेत्रों में समन्वय स्थापित करने का सुंदर और सफल प्रयत्न उनकी काव्य रचनाओं में मिलता है। निर्गुण और सगुण में समन्वय स्थापित करते हुए भी लिखते हैं–

अगुनहि–सगुनहि कछु नांहि भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।
अगुन प्ररूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सुगन सो होई।

3. राम भक्त कवि राम के शील, शक्ति और सौंदर्य पर मुग्ध है। इनकी रचनाओं में श्रीराम के प्रति अनन्य भाव का प्रेम व दास्य भाव की भक्ति प्रकट हुई है। भक्ति रस को राम काव्य का अंगीरस कहा जा सकता है। तुलसीदास कभी तो बालक श्रीराम तो कभी उनके तीनों भाइयों भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न को अपने हृदय में बिठाना चाहते हैं–

अवधेस के बालक चारि सदा, तुलसी मन मंदिर में बिहरै।

4. तुलसीदास के राम काव्य में राम एक मर्यादा में बंधे दिखाई देते हैं। वे अपने स्वार्थ, सुख आदि को भी त्याग देते हैं ताकि वे अपनी मर्यादा का निर्वाह कर सकें। वे आदर्शवादी पुत्र हैं, पति हैं, भाई हैं, आदर्श राजा और भक्तवत्सल हैं।

5. लोक कल्याण की दृष्टि से राम काव्य अत्यंत महत्वपूर्ण एवं उपादेय है। साहित्य में जीवन की अनेक उच्चारण भूमियां प्रस्तुत की गई है। इन्होंने गृहस्थ जीवन की उपेक्षा नहीं की बल्कि गृहस्थ जीवन में रहते हुए आदर्श और मर्यादित जीवन स्तर स्थापित करने का प्रयास किया है। राम और सीता का चरित्र लोक कल्याण की भावना से जुड़ा हुआ है।

6. एक सजग व अच्छा साहित्यकार कभी भी अपने युग इन परिस्थितियों की अवहेलना नहीं कर सकता। तुलसीदास ने अपनी सामाजिक समस्याओं को केवल समझा ही नहीं बल्कि उन्हें दूर करने का प्रयास भी किया है। तुलसीदास ने अपने समय के कटु सत्यों से जनमानस को अवगत करवाते हुए आदर्श विहीन, संस्कृति–रहित और मर्यादा–पतित जनता को सही मार्ग दिखाने का प्रयास किया।

7. तुलसी के राम काव्य में हमें काव्य रचनाओं के विविध रूप देखने को मिलते हैं। भारतीय काव्य में प्रयुक्त होने वाली अधिकांश काव्य शैलियाँ केवल तुलसीदास की रचनाओं में ही देखी जा सकती है–

कविता करके तुलसी न लसै, कविता लसी पा तुलसी की कला

निष्कर्षतः तुलसी कभी किसी वाद के चौखटे में परिबद्ध नहीं रहे, क्योंकि वे सत्यग्रहणलक्षी साधक थे। उनका साहित्यिक दृष्टिकोण कलालक्षी नहीं, जीवनलक्षी था। उन्होंने उस भक्ति को आदर्श स्वरूप माना, जिसमें श्रेय एवं प्रेय का समन्वय हो। इसलिए वे मनुष्य की केंद्रीय स्थिति एवं जीवन की सार्थकता विषयक एक समन्वित दृष्टिकोण 'रामचरितमानस' में प्रस्तुत कर सके। विविध आदर्शों एवं समन्वयात्मक दृष्टि के कारण ही तुलसी का लोकनायकत्व स्वयं सिद्ध होता है। महाकवि तुलसीदास की विराट प्रतिभा के बारे में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'अग्निपुराण' के वचन ''नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या सुदुर्लभा, कवित्वं दुर्लभं तत्र, शक्तिस्तत्र दुर्लभा'' का उल्लेख करते हुए कहा है कि तुलसी को उक्त चारों विभूतियाँ प्राप्त थीं जिनका सदुपयोग उन्होंने 'सर्वजन हिताय' ही किया है

सन्दर्भ ग्रन्थः–

1.द्विवेदी,हजारी प्रसाद : हिन्दी साहित्य की भूमिका (2008) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

2.द्विवेदी, हजारी प्रसाद : हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास (2009)राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

3.त्रिपाठी, विश्वनाथ : लोकवादी तुलसीदास (1991)राधा कृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

4.प्रकाश, जयः तुलसीदास : नये साक्षात्कार (1977) ऋषि प्रकाशन, कानपुर।

5.त्रिपाठी, राममूर्ति : तुलसी (मूल्यांकन) लोक भारती, प्रकाशन, प्रयागराज।

6.सिंह, राजदेव : संतों की सहज साधना (1976) लोक भारती, प्रकाशन, प्रयागराज।

7.ग्रोस, फ्रेडरिक सैल्मन : तुलसी दास की रामायण (संशोधित संस्करण) (1914)राम नारायण लाल प्रकाशक, इलाहाबाद।

8.तुलसीदास, कवितावली गीता प्रेस, गोरखपुर।

9.हांडू, चंद्र कुमारी तुलसीदास : सोलहवीं शताब्दी के कवि, संत और दार्शनिक (1964)ओरिएंट लॉन्गमैन, मुंबई।

10.मिश्रा, ज्वालाप्रसाद : श्री गोस्वामी तुलसीदास जी कृत रामायण (सितंबर 2010) ओरिएंट लॉन्गमैन, मुंबई।

11.पांडे, राम गणेश : तुलसी जन्म भूमिः शोध समीक्षा (2008) भारती भवन प्रकाशन, चित्रकूट, उ0प्र0।

12. पोद्दार, हनुमान प्रसाद : दोहावली दोहा संग्रह (1996) गीता प्रेस, गोरखपुर।

13.पोद्दार, हनुमान प्रसाद : विनयपत्रिका विनम्रता की याचिका (1997)गीता प्रेस, गोरखपुर।

14.प्रसाद, राम चंद्र : तुलसीदास की श्रीरामचरितमानसः राम के कृत्यों की पवित्र झील (2008)मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

15.रल्हन, ओ.पी. : सिखों के महान गुरु, खंड 1 (1997)अनमोल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।

16.रामभद्राचार्य, स्वामी श्रीरामचरितमानस–भवार्थबोधिनी हिन्दी टीका (2008).जगद्गुरु रामभद्राचार्य विकलांग विश्वविद्यालय, चित्रकूट।

17.शुक्ला, उषा देवीः ''गोस्वामी तुलसीदास और रामचरितमानस'' (2002) मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली।

18.सिंह, उदय भानु : तुलसी काव्य मीमांसा (2005).राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।

19.त्रिपाठी, शिव कुमार तुलसीदास कौन और क्या थे (2004) लोक भरती प्रकाशन, इलाहाबाद।

****

अंचल में नारी विमर्श

-डॉ.विनीता उपवंशी लोधी
अतिथि व्याख्याता
महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट,सतना (म.प्र.)

शोध सारांश

भारतीय समाज आंचलिकता से भरा है। सभी समुदाय एवं क्षेत्रों के लोगों का जीवन–यापन अधिकांश ग्रामीण अंचल में ही हुआ है। देश की लगभग 80% जन. संख्या अंचल में ही निवास करती है। अंचल में विभिन्न ध र्म, जाति, वर्ग, समुदाय के लोग निवास करते हैं। अंचल जनमानस का जीवन स्तर निम्नता तथा समस्याओं से घि रा रहता है। अंचल का उत्तरोत्तर विकास ही भारत का उत्तरोत्तर विकास माना जाता है। अंचल में अधिकांश जन. संख्या अपने जीवनयापन के लिए कृषि पर निर्भर है। इन सब में पुरुषों, बच्चों के साथ– साथ नारियों का भी योगदान अहम रहा है। आंचलिक उपन्यासों में नारी विभिन्न रूपों में शोषित हुई है, तो कहीं–कहीं पूजी गई है। जिसका विस्तृत प्रतिबिंब अंचल में दिखाई देता है। नारी जीवन को अनेक आंचलिक उपन्यासों में चित्रित किया गया है।

मुख्य शब्दः अंचल, आंचलिक उपन्यास, नारी जीवन, शोषण, प्रथा।

अंचल शब्द का अर्थः

अंचल शब्द संस्कृत के 'अच्' धातु से 'अलच्' प्रत्यय लगाने से बना है। अंचल शब्द का अर्थ 'वस्त्र', 'साड़ी का पल्ला' या 'छोर, 'किनारा', 'तट', सीमा के सम. वर्ती, भू–भाग, 'जनपद', 'प्रदेश', 'देश का', 'प्रांतर' भाग है।[1]

'हलयुध' कोष में अंचल शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्या इस प्रकार दी है–

''अंचलः पु. (अंचति प्रांत भागं गच्छति अंच्+अलच्)

वस्त्र प्रांत भागः अंचल इति भाषा

उरू कुरङ्ग का दृशश्चकंचलचेलांचलो भाति''

इति साहित्य दर्पणे।

कर्पास वादरं प्रोक्तं वस्त्रयान्तों मतेऽअंचल''[2]

डॉ. आदर्श सक्सेना अंचल को एक इकाई मानते हुए लिखते हैं– ''कोई भी विशेष भाग जिसकी अप. नी संस्कृति हो, अपनी एक भाषा हो, अपनी समस्याएँ हो, संक्षेप सामान्य देश भी जहाँ विशिष्टतां का आभास दे, अंचल कहा जा सकता है।''[3] अंचल में सामाजिक मान्यताएँ, प्रथाएँ, परम्पराएँ, उत्सव, लोकनृत्य, लोक–गीत का चित्रण होता है, जिसमें अंचल की विशेष भाषा होती है। आंचलिक समाज पुरुष प्रधान समाज है, जिसमें अनेक कमजोरी के साथ–साथ समस्याएँ भी हैं। जैसे – विधवा समस्या, अवैध यौन संबंध, बलात्कार, वेश्यावृत्ति, नारी शोषण, नारी परित्यक्ता, अंधविश्वास प्रमुख है।

अंचल में नारी का स्वरूप : प्राचीन काल में नारी शिक्षा क्षेत्र से वंचित थी, विभिन्न चुनौतियों का सामना करना पड़ता था। नारी को गुलाम बनाना प्रमुख प्रवृत्तियाँ रही हैं, जिसे अंधकार युग कहा जाता है, क्योंकि समाज में नारी का शोषण अधिक हुआ है। ग्रामीण आंच. लिक नारी जीवन शोषित एवं प्रताड़ित रहा है। समाज के उच्च कुलीन जमींदार तथा अमीर वर्ग नारी को प्रताड़ित करते रहे हैं।

संजीव द्वारा रचित 'धार' उपन्यास में आदिवासी स्त्रियाँ अमीरों के हवस का शिकार बनती रही हैं। जेल से छूटते ही मैना मंगर को बताती है– ''आपको विश्वास न

होता हो तो जेल भी चलने को तैयार है, जेल में जेलर ने हमारे साथ जबर्दस्ती किया, उसी खातिर बच्चा उसका मुँह पर मार के हम चला आया।''[4]

'अल्मा कबूतरी' मैत्रेयी जी द्वारा रचित उपन्यास में कबूतरा जनजाति की स्त्रियों का शोषण उच्च एवं सभ्य समाज के लोग करते हैं, वे लोग औरतों पर अपना अधिकार जमाते हैं। मंसाराम कदम बाई को अपनी हवस का शिकार बनाता है, कमजोर स्त्रियॉं विरोध नहीं कर पाती है, इसका वर्णन करती हुई लेखिका डॉ शीला पटेल लिखती है कि ''हाय सदा घाघरा उतारता आता था।''[5]

'कसप' मनोहर श्याम जोशी द्वारा लिखित उपन्यास में बेबी गुलनार, बबली–दी, शास्त्राणी दया और गुडिया आदि नारी पात्र है। गुलनार अपने सौतेले पिता से शोषित है। वह अपनी शोषित कथा सुनाती हुई कहती है– ''मैं जानती हूँ कि इस नुस्खे का मर्द किस तरह उपयोग करते हुए आये हैं, औरत के शोषण के लिए''।[6] इस प्रकार की घटनाआये दिन समाचार पत्रों एवं संचार माध्यमों में पढ़ने तथा सुनने में आती है, सौतेले पिता या भाई अपनी बहु–बेटियों के साथ शारीरिक शोषण करते हैं, इसकी प्राथमिकी भी कई थानों में दर्ज हुई है। साथ ही शोषित नारी को न्याय भी मिला है।

'कसप' उपन्यास में मनोहर जोशी लिखते है कि एक भोली लड़की एक दलित युवक से प्रेम करती है। वह अपने प्रेमी के साथ भाग जाना चाहती है। वह युवक उसकी भावना के साथ खेलता रहता है, किंतु भागने के लिए तैयार नही होता है, तब वह लड़की आत्महत्या करने के लिए मजबूर हो जाती है, इस प्रकार नारी का कई रूपों में शोषण तथा धोखा हुआ है। शोषण एवं धोखा कई लोगों का धंधा बन चुका है।

'पहाड़ चोर' सुभाष पंत द्वारा लिखित उपन्यास में नारी शोषण को वर्णित किया है, जिसमें पुनिया का छोटा भाई जीत्ते, रधिया को चोट पहुँचाते हुए भाग जाता है। गाँव में पुलिस आती है, पुनिया के प्रति दरोगा जी सहानुभूति दिखाते हैं। तलाशी लेने के बहाने पुनिया को घ ार के अंदर बुलाते हैं। इस प्रकार यहाँ शोषण का इरादा स्पष्ट होता है– ''वहीं तो नहीं छिपा बैठा हरामी'? मैं तलाशी लेकर आता हूँ, वहीं छिपा होगा। चल लड़की किध ार है तेरा घर?'' इस प्रकार दरोगा की ओछी नियत प्रदर्शित होती है। नारी हमेशा भारतीय समाज में उपेक्षित रही है तथा शोषित हुई है। वर्तमान में भी नारी शोषित दि खाई पड़ती है।

अंचल में अवैध यौन सम्बंध :

ग्रामीण अंचल में सबल वर्ग के व्यक्ति दुर्बल वर्ग की औरतों से अवैध सम्बंध रखते हैं, जबकि सजातीय विवाह आदर्श माना जाता है, किंतु इसका उल्लंघन करते हैं। जमीदारों द्वारा दुर्बल नारी को रखैल रखने की प्रवृत्ति पाई जाती रही है। डॉ. विमलाशंकर नागर लिखते हैं कि ''जो पुरुष अथवा महिला सजातीय विवाह का पालन न कर विजातीय महिला अथवा पुरुष से यौन सम्बंध स्थापित करता है, उसे समाज दण्डित करता है तथा कभी –कभी शारीरिक एवं आर्थिक दण्ड भी दिया जाता है।''[8] आंचलिक जनजीवन में अवैध यौन सम्बंधों की समस्या उभर रही है। स्त्री –पुरुष के सम्बंधों को लेकर नैतिकता का ह्रास ग्राम चित्र नए कथा साहित्य में अंकित हुए हैं। ग्रामांचल में गरीबी के कारण यह काम मजबूरी में करना पड़ता है जो उपन्यास में चित्रित हुआ है।

अंचल में नारी शोषण :

अंचल में नारी शोषण की डरावनी तथा ज्वलंत समस्या रही है। भारतीय समाज पुरुष प्रधान है, जिसके कारण स्त्री का स्थान गौण है। भारतीय संविधान में नारी को समान अधिकार उपलब्ध करा दिया है किंतु इसका लाभ अधिकांश केवल शहरी एवं पढ़ी–लिखी नारियों को ही मिलता है। ग्रामीण और मजदूर स्त्रियाँ इससे उपेक्षित

रही हैं। नारी शिक्षा का प्रचार प्रसार का लाभ भी गरीब नारियों को नहीं मिल सका है। भारतीय समाज में नारी का जीवन घर तथा घर से बाहर तक शोषित एवं प्रताड़ित रहा है। वर्तमान में नारी का शोषण घर से लेकर बाहर तक सभी स्तरों पर दिखाई दे रहा है। समाज का उच्चकुलीन जमीदार, अमीर वर्ग सताता एवं शोषित करता है। इस संदर्भ में **श्री गोपालराय** के मतानुसार – ''बलात्कार, पति द्वारा पत्नी का मानसिक – शारीरिक उत्पीड़न परम्परागत नारी संहिता को स्वीकार करने की स्त्री की मजबूरी, स्त्री को आर्थिक– राजनीतिक आविष्कारों से वंचित रखने की साजिश आदि नारी शोषण और दमन के प्रमुख रूप है।''[9] इस प्रकार नारी का शोषण होता रहा है। नारी हमेशा अत्याचार, अनाचार और वासना का शिकार बनती रही है। हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में नारी शोषण की स्थिति ने घर से बाहर तक अशान्ति और बेचैनी का माहौल बना दिया है। इसे आंच. लिक उपन्यासों में भली–भांति उजागर किया गया है।

मैत्रेयी पुष्पा लिखित 'चाक' उपन्यास में स्त्रियों के शोषण को प्रदर्शित किया गया है। यहाँ धर्म और संस्कृति के नाम पर नारी शोषण के माध्यम से नारी की दयनीय स्थिति को उजागर किया गया है। रूक्मणि का फाँसी लगना, रामदेई का कुएँ में कूदना, नारायणी का करबन नदी में कूदना, नारी शोषण के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ''इस गाँव के इतिहास में दर्ज दास्ताने बोलती हैं, रस्सी के फंदे पर झूलती रूक्मणी, कुएँ में कूदने वाली रामदेई, करबन नदी में समाधिस्थ नारायणी....ये बेबस औरतें सीता मइया की तरह 'भूमि प्रवेश' कर अपने शील–सतीत्व के लिए कुरबान हो गई। ये ही नही, और न जाने कितनी।''[10] इस प्रकार नारी अनेक स्थानों पर उपेक्षित की गई हैं।

अंचल में बाल विवाह :

देश के विभिन्न ग्रामीण क्षेत्रों में बसे पिछड़े अंचलों में बाल विवाह का अत्यधिक प्रचलन पाया गया है। ''राजस्थान में आखातीज पर 30–40 हजार बालविवाह एक दिन में सम्पन्न हो जाते हैं। मजेदार बात यह है कि इन बाल विवाहों में मंत्री और सरकारी अधिकारी भी उपस्थित होकर बाल विवाह के नासूर को बढ़ाते हैं।''[11] सोनामाटी उपन्यास में करइल अंचल की निम्न जाति के लोगों में बाल विवाह कराना आम बात है। हलवाहा दिपवा, गरीब, अशिक्षित और अज्ञानी है। यही कारण है कि अपनी लड़की भंगरी की शादी बचपन मे ही सम्पन्न कराकर उत्तरदायित्व से मुक्त होता है, ''इसकी शादी तब हो गयी जब यह माँ की गोद मे थी''[12] बचपन मे ही उनके माता–पिता अपने बच्चों के सपने तथा जीवन को कैद कर देते हैं। यह सभी अशिक्षा एवं अज्ञानता के कारण होता है। नाबालिग ससुराल में समायोजन करने में असमर्थ पायी जाती है तथा उनका जीवन अंधकारमय हो जाता है। आंचलिक जीवन में अशिक्षा, परंपरा, अज्ञानता अनेक मानसिकताओं के कारण बाल विवाह किये जाते हैं, जिससे नारियां शोषित हो जाती है। वर्तमान में शिक्षा के प्रचार प्रसार एवं कड़े कानून से बाल विवाह करने में कुछ कमी आई है। कानून का कड़ाई से पालन किया जा रहा है। बाल विवाह पर अंकुश लगा है फिर भी कई अंचलों में आज भी बाल विवाह प्रचलित है।

अंचल में विधवा विवाह :

प्रारंभिक काल में भारतीय जीवन में विधवा का पुनर्विवाह निषिद्ध था। यदि बचपन में विधवा हो जाए तो नारी को राती होना पड़ता था, अर्थात पति के साथ मरना पड़ता था अथवा आजीवन उपेक्षित अभिशप्त जीवन जीना पड़ता था। **'विकल्प'** उपन्यास में सुरती चौबे का विधवा, राजपूतानी से प्रेम हो जाता है। अपनी जाति एवं बिरादरी के बंधनों से आतंकित है। इसी कारण से पलायन कर विध ावा के साथ शादी करते हैं। ''राजपूत परिवार की जवान विधता से चौबे की आसनाई हो गई। दोनों कहीं भाग

गये।''[13] वे अपनी पहली पत्नी को त्याग देते हैं। इस प्रकार नारी के साथ धोखा तथा शोषण होता है। दो या दो से अधिक विवाह करना प्राचीन समय में भी प्रचलित था। वर्तमान में भी कहीं–कहींदो पत्नी का चलन दिखाई देता है।

अंचल में दहेज प्रथा :

भारतीय समाज विभिन्न कुरीतियों से भरा है। उनमें से एक विकराल एवं ज्वलंत समस्या है– दहेज प्रथा। दहेज के कारण बालिका के जन्म लेते ही उसे परिवार के लोग आगे की दहेज सम्बन्धी समस्या को देखते हुए बालिका के जीवन का अंत करने का दुष्कृत्य कर देते हैं। यह नहीं सोचते कि उस बालिका का जीवन कितना महत्वपूर्ण है। ''आज के युग में दहेज ने सुरसा का मुँह बना लिया है।, वर्तमान में यह एक सौदा हो गया है।''[14] शिक्षित युवा दहेज का विरोध करने के बजाय किसी अन्य बहाने से दहेज लेने के पक्षधर होते हैं। लड़कियों की शादी अच्छे परिवार में न होने के कारण कई लड़कियां आत्महत्या तक कर लेती हैं। दहेज प्रथा सभी धर्म एवं जातियों में विद्यमान है। कहीं इसका विकराल रूप प्रकट होता है तो कहीं छिपा हुआ है। इसमें अमीर–गरीब, शिक्षित–अशिक्षित, हिन्दू मुसलमान सभी शामिल हैं। उच्च वर्गीय परिवार 'धारा' उपन्यास में महेन्द्र बाबू अपनी लड़की मनोरमा की शादी अच्छे सम्पन्न परिवार के एक एस. पी. लड़के से करना चाहते हैं। दहेज में दस लाख रुपये की मांग होती है। यह सुनकर महेन्द्र बाबू की पत्नी स्तब्ध होकर कहती है–''दस लाख! बाप ना देखलस, आजा ना देखलस! ई देखी जमाता के हाल! दस–दस लाख तिलक दहेज! अ काल्हिए लड़की के जरा के मार डालें।''[15]

आंचलिक समाज में नारी का स्थान निम्न कोटि का रहा है। हमेशा नारियाँ प्रताड़ित होती रही हैं। घर संभालने के बावजूद उसे कोई अधिकार एवं स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है। नारी का जीवन अतिशोचनीय, दयनीय तथा असुरक्षित है। ''शोषण के विरूद्ध उठा सकना भी उसके बस की बात नहीं है।''[16] अन्याय एवं अत्याचार सहना उसकी नियति एवं आदत में है। 'महर ठाकुरों का गांव' उपन्यास में पहाड़ी अंचल में रुग्ण मानसिकता के कारण नारी का स्थान निम्न है। इनकी दुनिया घर एवं कृषि तक ही सीमित है। बरसों से नारी को अबला और असहाय समझकर शोषित करते आ रहे हैं। गांव एवं अंचलों में इसके भयावह दर्शन होते हैं। ''भारत के सरकारी आंकड़े बताते हैं कि हर 61 मिनट में एक औरत का बलात्कार होता है, हर 54 मिनट में एक औरत के साथ आपराधिक जघन्य कुकृत्य होता है और हर 21 मिनट में एक औरत दहेज के कारण जलाकर मार दी जाती है या उसे आत्महत्या के लिए प्रेरित किया जाता है।''[17] यह सत्य है कि नारी चाहते हुये भी अपने आपको सुरक्षित नहीं रख पाती है। नारी पूर्ण रूपेण असहाय हो चुकी है। फिर भी कई स्थानों पर नारी पूजनीय है। नारी को समानता का अधिकार प्राप्त है।

नारी जीवन में चेतना का संचार :

नारी की प्रकृति हमेशा से ही सहनशील एवं योगशील रही है जहाँ तक हो वह पीड़ा सहती रहती है किन्तु बर्दाश्त के बाहर होने पर उसकी प्रतिक्रिया का ज्वालामुखी प्रस्फुटित होता है, वह विकराल रूप धारण करती है। वर्तमान नारी अपने अस्तित्व एवं अधिकार के प्रति सजग हो गई है। शिक्षा ने उसे नई मानसिकता प्रदान की है। उसकी दशा में परिवत.'न और दुनिया में विस्तार हो गया है। परंपरागत और शोषित जीवन को वह अब नहीं मानती और सहती बल्कि उसका विरोध करने लगी है। गांव तथा पिछड़े अंचलों की नारी भी अपने अधिकार एवं अस्तित्व के प्रति सचेत हो रही है। ''ग्रामीण नारी अपने कार्य व्यवहार एवं वैचारिक चिंतन में नई मानसिकता लिए हुए हैं। परंपराओं के सारह.

ीन संदर्भ आज उसे मान्य नहीं। वह जीवन के विविध क्षेत्रों में अपनी निजता का अहसास निरंतर जगा रही है। भारत के वज्र देहातों या उन जनजातियों की नारियाँ भी जहाँ शैक्षणिक चेतना का प्रसार अभी नहीं हो पाया है, अपने मानवीय अधिकारों के प्रति जागरूक दृष्टिगत होती हैं।''[18]

अंचलों में नारी शिक्षा की गति अत्यंत धीमी है। उच्च वर्ग एवं उच्च जातियों में परिवर्तन पाया जाता है लेकिन निम्न वर्ग और आदिवासी नारी शिक्षा से अछूती पाई जाती हैं। अशिक्षा के कारण उसे अनेक समस्याओं से जूझना पड़ता है। लोग कमजोरी का नाजायज फायदा उठाकर शोषित करते हैं।

निष्कर्ष :

आंचलिक उपन्यासों में प्रदर्शित नारी का जीवन बहुत चिंताजनक एवं यातना से भरा रहा है। नारी की अस्मिता की धज्जियां विभिन्न रूपों में धनी वर्ग, जमींदार, बड़े अफसर, पुलिस प्रशासन आदि के द्वारा उड़ाई गई है, किंतु आज की नारी के हृदय में समानता की भावना पायी जाती है। आधुनिक युग में अंचल की नारियों में अपने अधिकारों के प्रति जागृति आ गई है तथा वह पुरुष के समान ही सामाजिक, शैक्षणिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में समानता की माँग करने लगी है, क्योंकि वह अपना अधिकार समझ चुकी है। आज नारी का जीवन क्षेत्र विशाल और व्यापक हो गया है। ग्रामीण महिला विभिन्न क्षेत्रों में विकास करना चाहती है, प्रयास भी कर रही है। डॉक्टर, इंजीनियर, टीचर बनना ही नही यहाँ तक कि विमान चालक, रेल चालक, मोटर, बस चालक और कंडक्टर भी बनना चाहती हैं। जागरूक नारी जटिल परिस्थितियों में पूर्ववर्ती नारी के समान घुटने टेकने की बजाय प्रतियोगिता की भावना जागृत कर चुकी है। अपार बल एवं शक्ति से समस्या का निराकरण करते हुए अपने जीवन को सुखमय बनाने में प्रयासरत है। कई महिलाएं पुरूषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चल रही हैं। कई क्षेत्रों में सफलता प्राप्त कर आसमां छू चुकी है। अतः ''छू लो आसमां किसने रोका है''? कारगर हो रहा है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. उपाध्याय, मृत्युंजय, हिन्दी के आंचलिक उपन्यास, पृष्ठ 996
2. जोशी, जयशंकर, हलायुध कोश, पृ. 11
3. सक्सेना, डॉ. आदर्श, हिंदी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प विधि, पृ. 20
4. संजीव 'धार' उपन्यास पृष्ठ 12
5. पटेल, डॉ. शीला, हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में युगबोध पृ. 28
6. जोशी, मनोहर श्याम 'कसप' पृष्ठ 159
7. पंत सुभाष, 'पहाड़ चोर' पृ. 194
8. नागर, डॉ. विमलाशंकर, हिन्दी के आँचलिक उपन्यास : सामाजिक एवं सांस्कृतिक सन्दर्भ।
9. अक्षय, गोपालराय, बीसवीं सदी के अंतिम दशक में हिन्दी उपन्यास, मार्च–अप्रैल, 2003
10. पुष्पा, मैत्रेयी, चाक उपन्यास, पृ. 7
11. माहेश्वरी,रामगोपाल, नवभारत बुधवार, 14 अप्रैल 1999 (सुरुचि)(18 अप्रैल अक्षय तृतीया पर, सुशील कुमार वर्मा)
12. विवेकीराय, 'सोनामाटी' उपन्यास, पृष्ठ 268
13. शुक्ल, रामदेव, 'विकल्प' उपन्यास
14. आहूजा, डॉ. राम, 'भारतीय सामाजिक व्यवस्था',पृष्ठ 180
15. संजीव, 'धार' उपन्यास, पृष्ठ 166
16. डॉ. निरूपमा
17. यादव, डॉ. –कालीचरण, मड़ई–11 पृ. 141 (लोक में नारी जीवन की व्यथा–कथा, डॉ. सूरज पालीवाल)
18. गुप्त, डॉ. ज्ञानचंद, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना, पृ. 133

****

हिंदी नवजागरण के विकास में अनुवाद की भूमिका

-कविता
अनुवाद विभाग,
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, दिल्ली,
Kavichauhan322@gmail.com
मो. 7503561010

शोध सार : नवजागरण काल में पाश्चात्य साहित्य और ज्ञान विज्ञान ने विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है | नवजागरण की चेतना का आरंभ यूरोप से देखने को मिलता है | नवजागरण के दौर में होने वाले सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों के साथ-साथ राजनैतिक चेतना के विकास में अनुवाद की अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका है | भारतीय भाषाओं के बीच वैचारिक आदान-प्रदान में भी अनुवाद ने अहम् भूमिका निभाई | जिस कारण हिन्दी साहित्य का संवर्धन हुआ और देश को एकसूत्र में बांधने का प्रयास किया | इस राष्ट्रीय और सांस्कृतिक नवजागरण में अनुवाद ने युगांतकारी भूमिका निभाई |

बीज शब्द : यूरोप, प्राचीन, संवाद, पारदर्शी, पुनर्जागरण, नवजागरण, अनुवाद, औद्योगिक, संग्राम, स्वतंत्र, बुद्धिवाद, अनूदित, आधुनिकीकरण, साहित्य, ज्ञानोदय आदि |

भारत एक बहुभाषी देश है, भारत की विभिन्न भाषाएँ देश की समृद्धि का प्रतीक हैं और इन भाषाओं में रचे जा रहे साहित्य में संवाद स्थापित कर भारत की संस्कृति को पारदर्शी बनाना जरूरी है और यह संवाद अनुवाद के सेतु से संभव है | ऐसा नहीं है कि भारतीय भाषाओं में रचे जा रहे साहित्य को अनुवाद के माध्यम से परस्पर बनाना जरूरी है | अनुवाद आज अपने सैद्धांतिक संदर्भ में बहुआयामी और प्रयोजन में बहुमुखी हो गया है, किन्तु अनुवाद की सार्थकता और व्यावहारिकता में जो संवर्धन हुआ, उसी अनुपात में उसके सिद्धांतों पर गहराई से चिंतन नहीं हुआ है |

बदलाव की व्यापक प्रक्रिया के फलस्वरूप ही आधुनिक हिंदी साहित्य का स्वरुप निर्मित हुआ | अंग्रेजी सत्ता के स्थापित हो जाने से देश की केवल राजनीतिक व्यवस्था ही परिवर्तित नहीं हुई, अपितु सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक स्वरुप में भी परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारंभ हुई | पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव और ईसाई धर्म में बढ़ते प्रभाव की प्रतिक्रियास्वरुप धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन का उदय हुआ, जिसको पुर्नजागरण के नाम से भी अभिहित किया गया है |

यूरोप में नवजागरण की शुरुआत चौदहवीं शताब्दी से देखने को मिलती है | ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो पाँचवीं सदी के उत्तरार्ध में रोमन साम्राज्य ध्वस्त हो गया यूरोप का प्राचीनकाल समाप्त हुआ और मध्यकाल आरंभ हुआ | पंद्रहवीं सदी के पूर्वार्ध तक, लगभग एक हजार साल तक, यह मध्यकाल बना रहा है फिर पुनर्जागरण काल आता है | यूरोप प्राचीनकाल में इटली नगर सभ्यता का केंद्र था, इटली में नगर सभ्यता के ह्रास के बावजूद उसके अवशेष बने रहे, इसलिए अन्य देशों की अपेक्षा नए सिरे से उस सभ्यता का विकास करने में सुविधा हुई |

पाँचवीं सदी से पंद्रहवीं सदी तक मध्यकाल वास्तव में सामंती अर्थतन्त्र का समय है | छोटे पैमाने का उत्पादन छोटे-छोटे क्षेत्रों में लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति, खेती से कारीगरी का अलगाव, कारीगरी की शाखाओं का विशेषीकरण- ये उस अर्थतन्त्र की विशेषताएँ है | पंद्रहवीं सदी के उत्तरार्ध से अठारहवीं सदी के पूर्वार्ध तक नगर सभ्यता के पुनर्विकास का समय है | मशीनी उत्पादन के साथ औद्योगिक क्रान्ति शुरू हुई | यह आधुनिक काल का दूसरा चरण है | इससे पहले के चरण में व्यापारिक क्रान्ति शुरू हो चुकी थी | उत्पादन के पुराने तरीकों के सहारे ही बिकाऊ माल का उत्पादन, नई-नई व्यापारिक मंडियों की स्थापना, घरेलू और बाहरी बाजार का निर्माण, विनिमय का विकास, यह सब व्यापारिक पूंजीवाद की विशेषताएँ हैं | यूरोप का पुनर्जागरणकाल इसी व्यापारिक पूंजीवाद की अवधि में आता है | इस अवधि को टुकड़ों में न बाँट कर उस पूरे कालखंड के आर्थिक राजनीतिक और सांस्कृतिक पक्षों का एक साथ अध्ययन करना उचित होगा | नवजागरण के लिए प्राय: कई पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया गया, जैसे – पुनर्जागरण, पुनरुत्थान, नवजीवन, नवजागृति, नवोत्थान आदि | यदि आधुनिक संदर्भ में देखे तो अंग्रेजी शब्द रेनेसाँ जोकि नवजागरण का पर्यायवाची माना जाता है | भिन्न भिन्न देशों में नवजागरण की अवधारणा का विकास, विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों, विभिन्न कालखण्ड के रूपों में हुआ|

नवजागरण एक अवधारणा है | नवजागरण की कल्पना के प्रचार का श्रेय स्विस विचारक 'बर्कहार्ट' को है | अंग्रेजी में रेनेसाँ शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम फ्रांसीसी इतिहासकार 'मिशेसेट' ने उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में किया | रेनेसाँ प्राय: पश्चिमी यूरोप जिसमें इटली, फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी जैसे देश आते हैं इनकी सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रगति का कला, संगीत विज्ञान के क्षेत्र में परिवर्तन हुआ | सर्वप्रथम पुनर्जागरण का आरम्भ इटली से माना जाता है | किन्तु इटली की भांति अन्य देशों में भी नई सभ्यता के युग को पुनर्जन्म कहा गया | यूरोपीय संदर्भ में देखे तो यूरोप में नवजागरण की जगह पुनर्जागरण अधिक तर्कसंगत मालूम पड़ता है | यूरोप के रेनेसाँ को पुनर्जागरण कहने का मुख्य कारण यह है कि यूरोप ने लंबे अंधकार युग और सामंती मध्यकाल से छुटकारा पाया था | "यूरोप का एक प्रकार से नया जन्म हुआ और कारण उस युग को नवजन्म या पुनर्जन्म के या पर्यायभूत नवजागरण या पुनर्जागरण का अभिधान प्रदान किया गया है |"[१]

पुनर्जागरण का यूरोप के अन्य देशों पर भी प्रभाव पड़ा | जिसके कारण यूरोप में औद्योगिक क्रांति की शुरुआत हुई | इसी कारण से दर्शन, कला, साहित्य, विज्ञान का नए युग में प्रवेश कर सके | सुरेश कुमार ने कहा भी है कि, "यूरोप में पुनर्जागरण युग में अनुवाद की धारा एक गौण प्रवृति हुई |

इस युग के अनुवादकों में अर्थ की प्रधानता के साथ पाठक के हितों की रक्षा की प्रवृति दिखाई देती है |"[२] पुनर्जागरण चेतना से सम्पूर्ण यूरोप में एक नई क्रांति का संचार हुआ | इटली के साथ-साथ अन्य देशों में जैसे- इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, स्पेन आदि में भी परिवर्तन दिखाई देने लगा | इटली में जहां दांते, पैटार्के, बुकचियों आदि ने नवजागरण के बीज बोये, वहीं इंग्लैंड में शेक्सपीयर, मिल्टन ने | जर्मनी में मार्टिन लूथर जैसे सुधारवादी नेता, फ्रांस में रोबर्ट गागिन जैसे मानवतावादी विचारकों और स्पेन में इरासमस ने नवजागरण की मशाल को जलाए रखा |

नवजागरण के प्रभावस्वरुप ही भारतीय साहित्य नवीनता और आधुनिकता की ओर अग्रसर हुआ | हिंदी साहित्य भी मध्यकाल की जड़ता, रुढ़िवादिता और शृंगारिकता को त्यागकर सामान्यजन की समस्याओं से जुड़ा एवं भाव, भाषा, शैली, विषय आदि में नवीन स्वरुप ग्रहण करने की ओर अग्रसर हुआ | "नई यूरोपीय वैज्ञानिक संस्कृति और पुरानी भारतीय धार्मिक संस्कृति की टकराहट के फलस्वरूप जिस नवजागरण का उदय हुआ |"[३] उसमें संस्कार, परिष्कार और विरोध की व्यापक प्रक्रिया फलीभूत हुई | सुधार की व्यापक प्रक्रिया के फलस्वरूप ही आधुनिक हिंदी साहित्य का स्वरुप निर्मित हुआ |

"सोहलवीं शताब्दी में काफी संख्या में अनेक प्रकार के अनुवाद हुए तथा अनुवादकों ने अपने-अपने अनुवाद सिद्धांतों का खुलकर प्रतिपादन भी किया | इसके बाद काउले से एलेक्जेंडर पोप तक के समय को एमोस आर फ्लोरे ने 'अंग्रेजी अनुवाद का स्वर्णिम युग' माना है |"[४] इस दौरान अनुवाद सिद्धांतों पर विस्तृत चर्चा भी हुई है | "सत्रहवीं सदी के यूरोप में जहां व्यापारिक पूंजीवाद का विकास हुआ, वहाँ राज्यसत्ता ने विशेष व्यापार नीति अपनाई | इसे वाणिज्यवाद का नाम दिया गया |"[५]

19 वीं शताब्दी में भारत के सामाजिक सुधार के आंदोलनों के आरंभ करते हैं | सामाजिक सुधार के आंदोलन को कुछ विद्वानों के द्वारा 'भारतीय पुनर्जागरण' भी कहा जाता है | भारतीय पुनर्जागरण का विचार विवादित मुद्दा रहा है | भारत में सांस्कृतिक जागृति का केंद्र अधिकतर बंगाल तक सीमित था | यह भी सच है कि भारत की निम्न जातियाँ, उड़ीसा और मध्य भारत की जनजातियाँ भी सामाजिक सुधार की प्रक्रिया से गुजर रही थी | हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि भारतीय पुनर्जागरण शास्त्रीय ज्ञान के पुनर्जीवित होने के अलावा सामाजिक सुधार के आंदोलन का भी काल है |

नवजागरण यदि "दो जातीय संस्कृतियों की टकराहट से उत्पन्न रचनात्मक ऊर्जा है |"[६] अनुवाद ही वह माध्यम है जो संस्कृतियों से संपर्क और टकराहट को संभव बनाता है | आश्चर्य नहीं की नवजागरण की चेतना के पीछे अनुवाद की प्राय: केन्द्रीय भूमिका रही है | "अनुवाद के गहरे परतों से नवजागरण की भूमि उर्वक हुई |"[७]यह बात सिर्फ नवजागरण के लिए ही नहीं नवजागरण मात्र के लिए कही जा सकती है | भारतीय नवजागरण में संस्कृत एवं अंग्रेजी से हुए अनुवादों की वहीं भूमिका थी जो यूरोपीय पुनर्जागरण के संदर्भ में ग्रीक एवं लैटिन के अनुवादों की थी | ग्रीक एवं लैटिन परम्पराएं न सिर्फ भिन्न सभ्यता से उत्पन्न हुई थी बल्कि कई अर्थों में परस्पर विरोधी सांस्कृतिक रूपकों का प्रतिनिधित्व करती थीं |

19 वीं शताब्दी ने भारत विद्या (इंडोलोजी) भारत के पुनर्जागरण के साथ तुलनात्मक भाषाशास्त्रीय अध्ययन का भी भाग था | 19 वीं शताब्दी के पहले भाग में भारत विद्या का ज्ञान प्राचीन भारतीय पुस्तकों पर आधारित था | 19 वीं शताब्दी में जब विलियम जोन्स से लेकर मैक्समूलर जैसे प्राच्यवादियों ने प्राचीन भारतीय पुस्तकों की खोज की और उन्हें अंग्रेजी तथा जर्मन में अनूदित किया तो इससे यूरोप में वैचारिक क्रांति आई, जिसे रेमंड श्वाब ने 'प्राच्यवादी पुनर्जागरण' कहा था | इन अनुवादों से उस भारत का प्रस्तुतीकरण हुआ जिसकी पारलौकिकता दुरूह बनी हुई थी और जहां के लोग अकर्मक और शासक निरंकुश थे | इस तरह के चित्रण से प्रत्यक्ष रूप से औपनिवेशिक और उनकी सभ्यता की श्रेष्ठता स्थापित करने के प्रयास हुए और उपनिवेश न्यायोचित ठहराया गया | हिन्दू धर्म दर्शन पर अध्ययन के द्वारा भी भारत के प्रतीकात्मक भाव को 'विवेकी' पश्चिमी सभ्यता के विरुद्ध दर्शाया गया | अनुवाद को भारतीय सभ्यता संस्कृति के अध्ययन के एक भाग के रूप में एक प्रकार कार्यान्वित किया गया था कि अंतत भारत की छवि सभ्यताओं की श्रेणी में नीचे दिखाई जा सके | भारतीयों ने इस तरह के अनुवाद का प्रतिरोध भी किया था |

भारत में नवजागरण की शुरुआत उन्नीसवीं सदी के दूसरे दशक में आया | हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु युग को जनजागरण का पहला दौर माना जाता है | जनजागरण की शुरुआत तब होती है जब भारत में बोलचाल की भाषाओं में साहित्य रचा जाने लगा | सामंती प्रथा का अंत अवकाशभोगी वर्ग का उदय, नए महाद्वीपों को खोज, भूकेन्द्रक ज्योतिष से सूर्य केंद्रक ज्योतिष की ओर जाना तथा दासप्रथा का अंत आदि विशेषताएं पुनर्जागरण के अंतर्गत शामिल की जाती है | इस समय की रचनाओं के पीछे वैचारिक आग्रह थे | इस प्रक्रिया में आगे महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनके सहयोगियों का कार्यकाल हैं | सन् 1900 में सरस्वती पत्रिका का प्रकाशन आरंभ हुआ और 1920 में द्विवेदी जी उससे अलग हुए |

हिंदी नवजागरण भारतीय समाज के सांस्कृतिक, सामाजिक पुनर्जागरण का युग था, जिसमें अनुवाद ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई | अनुवाद ने हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में अनेक महत्वपूर्ण बिन्दुओं को केंद्र में रखा | हिंदी साहित्य लेखन की परम्परा में समाज की विभिन्न समस्याओं और विषयों को केंद्र में रखकर रचनाएँ हुई, जिनमें से कई तो अनुवाद के माध्यम से संभव हो सकीं | भारतेंदु ने हिंदी साहित्य को देश की सामासिक संस्कृति और पश्चिम की वैज्ञानिक सोच से जोड़ा | अनुवाद ने विभिन्न भाषाओं और संस्कृतियों के साहित्य को हिंदी में लाकर एक समेकित रूप प्रदान किया | नवजागरण अनुवाद के माध्यम से रचनात्मक ऊर्जा उत्पन्न कर सका | यह प्रक्रिया केवल साहित्यिक विकास तक सीमित नहीं रही, बल्कि समाज के सांस्कृतिक और राजनीतिक दृष्टिकोण को भी उन्नत किया | भारतेंदु युग की सांस्कृतिक राष्ट्रीय भावना का ही एक रूप देश की दयनीय अवस्था से प्रेरित होकर 'ईश कृपा की प्रार्थना है' | ये बड़ी करुण पुकार करते हैं | भारतेंदु जी ने 'नीलदेवी' की प्रार्थना में अपने युग की प्रार्थना सुनाई है |

भारतेंदु जी ने अपने युग की चेतना को प्रबुद्ध किया | वे सत्कवि, देशप्रेमी, राष्ट्रीय भावनाओं से पूर्ण और सहृदय कोटि समाज सुधारक भी थे | भारतेंदु स्वदेशी आन्दोलन के ही अग्रदूत न थे, समाज सुधारक में भी थे | स्त्रीशिक्षा, विधवा-विवाह, विदेश यात्रा आदि के वे समर्थक थे | इससे भी बढ़कर महत्त्व की बात यह कि भारतीय महाजनों के पुराने पेशे सूदखोरी की उन्होंने कड़ी आलोचना की थी |

महावीरप्रसाद द्विवेदी जिन्होंने हिन्दी प्रदेश में नवीन सामाजिक चेतना का प्रसार किया | सरस्वती के माध्यम से उन्होंने लेखकों का ऐसा दल तैयार किया जो नवीन चेतना प्रसार कर सके | महावीरप्रसाद द्विवेदी ने वैज्ञानिक ढंग से हिन्दी समाज की अनेक समस्याओं का गहराई से विवेचन किया | राजनीति और अर्थशास्त्र के साथ उन्होंने आधुनिक विज्ञान का भी परिचय प्राप्त किया | द्विवेदी जी ने कहा है कि, " खड़ी बोली के साहित्य के केंद्र में आना और गद्य की विभिन्न विधाओं का प्रारंभ अथवा कविता के लिए खड़ी बोली का अपनाया जाना, यह सब अनुवाद की प्रक्रिया के द्वारा ही सम्पन्न हुआ |"[८] भारत के प्राचीन दर्शन और विज्ञान का अध्ययन कर यह जानने का प्रयत्न किया कि भारतीय कहाँ पिछड़े हुए है | भारतेन्दु युग में पुरानी व्यवस्था को बदलने की मांग अधिक सुनाई देती है, द्विवेदी युग में वह मांग अधिक उग्र हो जाती है और इसके पीछे आचार्य द्विवेदी की कर्मठता व साधना रही है |

भारतीय नवजागरण में संस्कृत एवं अंग्रेजी के अनुवादों की एक समान भूमिका कहीं उस प्रवृति का प्रतिफलन तो नहीं जिसे इतिहासकारों ने दुचित्तेपन की प्रवृति कहा है | खड़ी बोली के शुरुआती समय में सिर्फ अंग्रेजी से अनुवाद करने वाले या सिर्फ संस्कृत से अनुवाद करने वाले कोई महत्वपूर्ण अनुवादक नहीं दिखाई पड़ते | भारतेन्दु ने अगर 'पाखंड विडंबन', धनंजय विजय', 'कपूर मंजरी', 'मुद्राराक्षस' जैसे संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद किया तो शेक्सपीयर के 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' को भी अनूदित किया | जोसेफ एडिसन के 'केटो' के विख्यात अनुवादक तोताराम वर्मा ने 'वाल्मीकि रामायण' को भी अनूदित किया | लाला तोताराम जिन्होंने शेक्सपीयर के ग्यारह नाटक अनूदित किए; भवभूति के 'महावीरचरित', 'उत्तररामचरित', मालती माधव', कालिदास के 'मेघदूत', 'कुमार संभव', 'रघुवंश' 'मालतीविकाग्निमित्र', शूद्रक के 'मृच्छकटिक' एवं हर्षदेव के 'नागानंद' के भी अनुवादक हैं | गोल्डस्मिथ, थॉमस ग्रे, लांगफेलो एवं पार्नेल के प्रसिद्ध अनुवादक श्रीधरपाठक, कालिदास के 'ऋतुसंहार' के अनुवादक हैं | महावीरप्रसाद द्विवेदी जयदेव की 'विहारवाटिका', कालिदास की 'ऋतुतरंगिणी', पंडितराज जगन्नाथ की 'गंगा-लहरी' के ही अनुवादक नहीं हैं बल्कि जे. एस. मिल की 'ऑन लिबर्टी' का अनुवाद 'स्वाधीनता' (1905) एवं फ्रांसिस बेकन के लेखों के भी अनुवाद 'बेकन-विचार-रत्नावली' (1900) नाम से किया | तुलसीदास द्वारा रचित विश्वविख्यात क्लासिक महाकाव्य 'रामचरितमानस' का अनुवाद लगभग सभी भारतीय भाषाओं में ही नहीं हुआ, वरन् अंग्रेजी, रूसी, फ्रांसीसी, चीनी आदि अनेक विदेशी भाषाओं में भी हुआ है | आधुनिककाल में भी भारतीय भाषाओं में भी 'मानस' के अनेक अनुवाद हुए हैं | भारत की विभिन्न भाषाओं में मानस का सर्वप्रथम अनुवाद असमिया में मिलता है | मलयालम में टी. के. रामन मेमन द्वारा अनूदित 'तुलसी रामायणम्' प्रकाशित हुआ | सिंधी में लोकराम पेसूमल डोडेजा ने तुलसी रामायण नाम से गद्यानुवाद प्रकाशित किया | हरियाणवी में भी रामेश्वर दयाल शास्त्री ने मानस का पद्यानुवाद प्रकाशित किया | ये अनुवाद भी अंत:भाषिक अनुवाद अथवा अन्वयंतरण कहलाते हैं |

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अनेक भाषाओं में हिन्दी अनुवाद कार्य दिए, बीस से अधिक पुस्तकों का अनुवाद किया | जिसमें हर्बर्ट स्पेंसर की 'एजुकेशन' का 'शिक्षा', जे.एस. मिल के ग्रंथ 'लिबर्टी' का अनुवाद 'स्वाधीनता' नाम से और फ्रांसीसी बेकन के निबंधों का अनुवाद महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'बेकन-विचार-रत्नावली' नाम से किया | इन निबंधों का अनुवाद आकस्मिक नहीं हुआ था बल्कि यह द्विवेदी जी के चिंतन का प्रतिफलन था | द्विवेदी जी के साथ विष्णुशास्त्री चिपलूणकर के मराठी निबंधों को 'गंगाप्रसाद अग्निहोत्री द्वारा अनूदित 'निबंधमालादर्श' महत्त्वपूर्ण कृति है | उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में इन दोनों ग्नंथों को हिन्दी में लाने का अर्थ बांग्ला नवजागरण के 'भावुकतावाद' की कमियों एवं बुद्धिवाद की सार्थकताओं को पहचानना था | यह बांग्ला निबंधों की उस शैली से भी उभारने का सार्थक प्रयास था |

अनुवाद की यह परम्परा गद्य विधाओं के विकास तक ही सीमित नहीं रही अपितु खड़ी बोली कविता के विकास में भी इसका अहम योगदान देखा जा सकता है | श्रीधर पाठक द्वारा रचित खड़ी बोली काव्य की प्रथम कृति 'एकांतवासी योगी' ऑलिवर की 'द हरमिट' का काव्यानुवाद है | श्रीधर पाठक ने गोल्ड स्मिथ कृत 'डिजर्टेड विलेज' का उजड़ ग्राम नाम से ब्रजभाषा में अनुवाद किया | 'द ट्रैवलर' का 'श्रांत पथिक' नाम से तथा टामस ग्रे कृत 'शेफर्ड एंड द फिलासोफर' का गड़ेरिया और आलिम' नाम से नूतन-पद्धति में अनुवाद किया | श्रीधर पाठक ने 'एपिटैफ; का 'शिलालेख' नाम से अनुवाद भी किया है |

आधुनिक भारत के नवजागरण काल में अन्तर्राष्ट्रीयता की एक भावना पल्लवित हुई थी- उसकी एक जीवंत परम्परा को इस अनुवाद कार्य के भीतर मौजूद पाया जा सकता है | भारतेंदु एवं द्विवेदी युग का कोई भी विचारक या लेखक इस अनुवाद-कार्य में पीछे नहीं है | इन कालों में जो हिंदी-भाषी प्रदेशों में अनेक विचारधाराओं की अनुगूँज सुनाई पड़ती है, उसके पीछे अनुवाद से प्राप्त पश्चिम ज्ञान-विज्ञान का भी बड़ा हाथ देखा जा सकता है | पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान से अपने देश को समृद्ध करने का अनुवाद से बढ़कर और कोई दूसरा उपयोगी रास्ता न था | मार्च 1901 ई. में 'सरस्वती' में सिद्धेश्वर वर्मा का अंग्रेजी से अनूदित 'जापानी साहित्य' लेख प्रकशित हुआ |

हिंदी के पहले आधुनिक आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचनादृष्टि का निर्माण भारतीय सांस्कृतिक- सामाजिक नवजागरण

की चेतना में हुआ है | शुक्ल अनुवाद के द्वारा विदेशी ज्ञान-विज्ञान को हिंदी में लाने के लिए लगातार प्रयत्नशील रहे हैं | किन्तु इनमें विदेशी ज्ञान को भी अन्य बहुत से लेखकों की भांति विदेशी दृष्टि से ही देखने का आग्रह न था | वे विदेशी ज्ञान-विज्ञान को अपनी भारतीय दृष्टि से परखकर ग्रहण करने के पक्षपाती थे | शुक्ल जी का मानना था कि "विदेशी भाषा साहित्य एवं विज्ञान से नए ज्ञान की सामग्री लानी चाहिए, लेकिन यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि यह ज्ञान-विज्ञान भारतीय सन्दर्भ में विशेषकर हिंदी के सन्दर्भ में कितना हितकर हो सकता है |"[९]

हिन्दी साहित्य के युग निर्माता रामचंद्र शुक्ल उन महान साहित्यकारों में से है जिन्हें पाकर हिन्दी साहित्य कृतकृत हो गया | शुक्लजी एक सतत जागरूक एवं कालदृष्टा साहित्यकार थे | हिन्दी के साहित्यकारों में उनका नाम अग्रगण्य है | शुक्ल ने अपने मौलिक और अनूदित ग्रन्थों के माध्यम से हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया | शुक्ल संस्कृत, पालि, प्राकृत, अंग्रेजी, उर्दू, बांग्ला आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे | शुक्ल ने सर एडविन आर्नल्ड के काव्यग्रंथ का अनुवाद 'The Light Of Asia' का ब्रजभाषा में अनुवाद किया गया | यह काव्यानुवाद 'बुद्धचरित' नाम से किया गया | शुक्ल जी हिंदी के मौलिक एवं नवीन समीक्षाशास्त्र को विकसित करने में उनकी यह दृष्टि कभी भी उनसे छूटने न पाई है | शुक्ल की इस मानसिकता पर नवजागरण एवं सुधार युग का भी प्रभाव कहा जा सकता है कि जिसमें इस देश को एक नया व्यक्तित्व देने की आकांक्षा बेहद बलवती रही है |

इस युग में पत्रिकाओं का भी विशेष योगदान रहा है | द्विवेदी जी की पत्रिका 'सरस्वती' हिंदी में इतिहास, भूगोल, विज्ञान, साहित्य आदि ज्ञान -विज्ञान के अनूदित निबंधों को स्थान देती रही | उपाध्याय बद्रीनारायण चौधरी की पत्रिका 'आनंदकादम्बिनी' यह कार्य करती ही आ रही थी 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का प्रकाशन हुआ जिसमें इतिहास भूगोल, मनोविज्ञान, विज्ञान, दर्शन, साहित्य आदि विभिन्न विषयों पर विचारपूर्ण निबंध प्रकाशित हुए | इस समय तमाम अनुवाद-कार्य इन पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित होते रहे |

रवीद्रनाथ टैगौर ने राजा राममोहन राय को पहला आधुनिक व्यक्ति माना है | 1828 ई. में राजा राममोहन राय में ब्रह्मसमाज की स्थापना द्वारा आधुनिकीकरण की नींव डाली | इस्लाम, ईसाइयत और उपनिषदों से वे काफी प्रभावित थे | उनके समाज का मूलाधार वेदान्त था | वे धर्माडम्बर के विरुद्ध थे | सती प्रथा बंद कराने में उनकी मुख्य भूमिका थी | राजा राममोहन राय तथा ईश्वरचंद विद्यासागर जैसे समाज-सुधारकों ने सामाजिक सुधार आंदोलन को उचित ठहराने के लिए अक्सर धार्मिक ग्रन्थों का ही उपयोग किया | हालांकि 19 वीं शताब्दी के मध्य के पहले चरण में सामाजिक सुधार आंदोलन का संबंध धार्मिक पुनर्जागरण से ही नहीं, बल्कि आधुनिकीकरण से भी था | कई समाज सुधारकों ने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के शिक्षण तथा उपयोग पर काफी ज़ोर दिया | ईसाई धर्म को शासकों का अप्रत्यक्ष समर्थक था, परंतु साथ ही समानतावादी एवं मानवतावादी विचारों ने भारतीय युवा वर्ग को प्रभावित किया | इसके साथ-साथ अंधविश्वासों, रुढ़िवाद एवं अमानवीय रीति-रिवाजों पर हमला कर उन्हें दूर करने के लिए ज्ञानोदय का प्रयोग किया गया था |

संदर्भ सूची :-

1. डॉ. अमरनाथ, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृष्ठ 397
2. डॉ. सुरेश कुमार, अनुवाद सिद्धांत की रूपरेखा, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1986, पृष्ठ- 39
3. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तेइसवानं संस्करण 2012, पृष्ठ- 81
4. कृष्णकुमार गोस्वामी, अनुवाद विज्ञान की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, चौथा संस्करण 2023, पृष्ठ 17
5. रामविलास शर्मा, भारतीय नवजागरण और यूरोप, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण 1996, पृष्ठ 190
6. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1986, पृष्ठ 94
7. डॉ. रमन सिन्हा, अनुवाद और रचना का उत्तर जीवन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2002, पृष्ठ 37
8. भारत यायावर, महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली, किताबघर प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1995, पृष्ठ 397
9. कृष्णदत्त पालीवाल, आचार्य रामचंद्र शुक्ल का चिंतन जगत, आर्य प्रकाशन मंडल, संस्करण 2016, पृष्ठ 123

*****

सौन्दर्य तत्व की कलात्मक आनन्दानुभूति

-डॉ.सुनीता मीना
संस्कृत विभाग
रामजस कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय,दिल्ली

शास्त्रीय दृष्टिकोण से सौन्दर्य एक ऐसा तत्त्व है जिसका स्वरूप बाह्याभ्यान्तर उपभयविध है। वह एक ओर जहाँ बाह्येन्द्रियानुभूतजन्य होता है वहीं दूसरी ओर उसकी अनुभूति अन्दरिन्द्रिय द्वारा भी संपाद्य होती है। सौन्दर्य विषय पर संस्कृत वाङ्मय में कोई स्वतंत्र ग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं होता पर सामान्य रूप से वेद पुराण तथा धर्म–दर्शन एवं व्याकरण आदि विषयक शास्त्रों में तथा विशेष रूप से साहित्य एवं साहित्यशास्त्र की कृतियों में इसका निरूपण किया गया है।

चरकसंहिता में बताया है कि सौन्दर्य के आधायक तत्व चार होते हैं – पहला वय अर्थात् अवस्था, दूसरा रूप अर्थात् आकृति की बनावट, तीसरा वचः अर्थात् बोली तथा चतुर्थ हाव अर्थात् क्रिया–कलापों के माध्यम से प्रकट होने वाले विलास जिन्हें आज की पदावली में अदायें कहते हैं –

वयोरूपवचोहावैखशिस्थ प्रियङ्गना।
प्रविशत्याशु हृदयं दैवाद्वा कर्मणाऽपिवा।।[1]

वास्तव में सौन्दर्य दृष्टि के समस्त आचार्यों ने चरक की इस उक्ति से प्रेरित होकर समस्त कलाओं के निरूप्यभाषा विषयों का ग्रहण इन चार तत्त्वों से कर लिया है। नृत्य कला का सर्वस्व तत्त्व वय है, क्योंकि वह भावाश्रय होता है, ऐसा दशरूपककार धनञ्जय ने कहा है – 'अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम्।'[2] और भाव का आविर्भाव युवस्थामत यौवन का कार्य है। इसीलिये नृत्याङ्गना स्वयं युवती ही होती है। और वह संयोग, विप्रलम्भ, उपालम्भ एवं भक्ति आदि जिन भावों की अभिव्यक्ति अपनी नृत्य कला से करती है, वह युवा प्रकृति में ही संभव होते हैं। चित्रकला रूप को अपना विषय बनाती है तो मूर्ति कला में हावों की अभिव्यञ्जना सुचारू रूप से की जाती है। संगीत भी वचः की ही कलात्मक परिणति है। साहित्य एक ऐसी कला है, जिसमें वय, रूप, वचः और हाव चारों का समावेश स्वयं सिद्ध होता है। इसलिये साहित्य में ही सौन्दर्य तत्व की मीमांसा भी समाहित हो जाती है। इनके स्वरूप का निरूपण यहाँ आवश्यक है।

वय अवस्था अर्थात् उम्र को कहते हैं। प्रत्येक सजीव वस्तु या व्यक्ति के जीवन में एक समय ऐसा आता है जब उसके अंग–प्रत्यंग एवं बाह्याभ्यन्तर सभी तत्त्व अपने उत्कर्ष के चरम बिन्दु तक पहुँचते हैं। उस समय उसकी सहज अभिव्यक्तियों में एक विशेष प्रकार का आकर्षण होता है जो दर्शक के मन को हठात् मोहकर अपनी ओर आकर्षित करता है। उसमें एक मस्ती का समागम हो जाता है और व्यक्ति अनजान में ही जो कुछ करता है वह भव्य एवं दृश्यग्राही होता है। अन्य शेष तत्त्व व्यक्ति के यौवन से अनुप्राणित होकर ही प्रायः सुन्दर हो उठते हैं। इसीलिये इसको उक्त चारों में प्रमुख स्थान मिला है

और उसकी गणना सर्वप्रथम की गई है। किसी पर्यवेक्षक की यह उक्ति अत्युक्ति बिल्कुल नहीं है –

'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे शूकर्यप्यप्सरायते।।'

सौन्दर्य का आधान यौवनव के अतिरिक्त वय में भी संभव है। बालराम या बालकृष्ण की छवि तथा उनके पैजनी पहनकर ठुमक ठुमक कर चलना अपने आपमें ही अति मनोहर है। तथा बाणभट्ट की कादम्बरी में जाबालि की वृद्धावस्था का वर्णन किसी भी प्रकार का आकर्षण नहीं है पर युवती चाण्डाल कन्या का निरूपण जितना अधिक हृद्य हो उठा है वह पात्र युवावस्था के ही कारण है। कवि कहता है **''मन्यै अस्पृशतेयमुत्पादिता प्रजापतिना अन्यथा कथमियमक्लिष्टता लावण्यस्य। न हि करतल स्पर्शक्लेशितावयवानामीदृशी भवति कान्तिः।।''**[3]

लगता है कि प्रजापति ब्रह्मा ने इसे विना हाथ से छुए मात्र संकल्प से ही पैदा कर दिया है, अन्यथा हाथ से बनाने पर तो उंगमिलयों का तनिक भी स्पर्श हो जाने पर उसके शरीर की कान्ति कहीं न कहीं मलिन अवश्य हो गयी होती। अंगों की कोमलता एवं उनके विलक्षण कान्ति का आधान यौवन की ही कृपा का फल है जो उसे अनयास मिल गया है।

कालिदास मेघदूत में यक्ष की प्रिया का वर्णन करते हुए कहते हैं –

तन्वीश्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्येक्षामा चकित हरिणी–प्रेक्षणानिम्ननाभिः।
श्रोणीभारदलसगमना स्तोकनम्रास्तनाभ्यां।।
या तत्र स्यातयुवति–विषये सृष्टिराद्येव धातुः।।[4]

यहाँ तन्वी तो विशेष्य पद है जिसका अर्थ तनु अस्यास्तीति की व्युत्पत्ति से है कि यदि शरीर किसी को है तो इसी को है पर विशेषण प्रथम पद श्यामा है जो नायिका की अवस्था सोलह साल की है यह बताने के कारण क्यों वाची है – श्यामा षोडश वार्षिकी। पद्य में प्रयुक्त शिखरिदशना पद वचन को इंगित करता है क्योंकि व्यक्ति जब कुछ बोलने का उपक्रम करता है तभी उसका मुँह खुलता है और दाँतों के केवल अर्धभाग ही दिखाई देने का अर्थ है कि उसके वचन मधुर हैं। कर्कश वचन के उच्चारण में व्यक्ति को जोर अधिक लगाना पड़ता है तथा जिसके परिणामस्वरूप मुँह जरूरत से कुछ ज्यादा ही खुल जाता है। फिर वह शिखरि खिले हुए उस पुष्प के समान है जिसका आघ्राण अभी भौरों तक ने भी नहीं किया है। वह तो हाल के निकले हुए उस कोमल पल्लव के समान है, जिसे वृन्त से तोड़कर ऊपर लेने की सहज लालसा भी कोई नहीं कर पाया है, वह खान से निकले हुए शाणोल्लीढ़ उस मणि के समान है, जिसे धारण करने के लिए किसी ने उसमें छेद नहीं किया है तथा वह तो मधुमक्खियों के द्वारा छत्ते में जुलाई गई उस शहद के समान है, जिसका नारीवाद अभी उन मधुमक्खियों ने भी नहीं किया है। पता नहीं विधाता ने किस भाग्यवान् को उसके पुण्यों के कारणवश इस फल को उत्पन्न किया है जो अपने किये गये पुण्य के अखण्ड फल के रूप में इसका उपयोग करेगा –

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै–
रनाविद्धं रत्नं मधुनवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं किमिह समुपस्थास्यति विधिः।[5]

कलाओं के माध्यम से होने वाली सौन्दर्यानुभूति क्या है इसके विषय में आचार्यों के विविध मत उपलब्ध होते हैं। आचार्य महिमभट्ट ने उसे वस्तु के ही विशिष्ट स्वरूप की

अनुभूति बनाया है। उनकी मान्यता है कि प्रत्येक बाह्य वस्तु का स्वरूप दो प्रकार का होता है। एक वह जो सव. ंसामान्य को दृष्टिगोचर है तथा उसके दूसरे स्वरूप का साक्षात्कार कलाकार को तब होता है जब वह विशेष प्रकार की एक कलात्मक मनःस्थिति में होता है उस समय अपनी मनःस्थिति के अनुरूप अभिव्यक्ति का माध्यम अप. नाने की खोज में उस का चित्त एक क्षण के लिए एकाग्र हो जाता है और एक क्षण के लिये उसकी बुद्धि में वस्तु के विशिष्ट स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है उसे ही कलाकार की कलात्मक प्रज्ञा कहते हैं, जिससे वह तीनों लोक के किसी भी विषय या वस्तु का साक्षात्कार कर लेता है। कलाकार की वह प्रज्ञा शिव के तृतीय नेत्र के समान होती है।

रसानुगुणशब्दार्थ चिन्तास्तिमित चेतसः।
क्षणं स्वरूप स्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः।।
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः।।[6]

इस प्रकार महिमभट्ट की दृष्टि से वर्ण्यवस्तु के स्वभाव का ही अनुभवात्मक साक्षात्कार सौन्दर्य का अनुभव है, जिसका आस्वाद सुखात्मक होता है। किन्तु लौकिक्र सुखों के आस्वाद से यह भिन्न इसलिये होता है कि इसमें दुःख का लवलेश तक नहीं होता इसीलिये इसे अलौकिक आस्वाद कहते हैं। पक्वविम्बाधरोष्ठी, मध्येक्षामा तथा चकितहरिणी लोचना जहाँ उसके रूपजन्य सौन्दर्य के बोधक हैं तो स्तोकनम्रास्तनां एवं श्रोणीभारादलसगमना उसमें हावजन्य सौन्दर्य का अभाव करते हैं। इस प्रकार इस एक ही पद्य में कालिदास ने सौन्दर्य के आधायक इन चारों तत्त्वों का सपावेश बड़े ही मञ्जुल ढंग से कर दिया है।

साहित्य के अतिरिक्त अन्य कलाओं में यद्यपि इनमें से किसी एक ही तत्त्व को लेकर उसका सांगोपांग निरूपण किया गया है पर वह सब अन्य तत्त्वों से सर्वथा रहित हो जाता है ऐसी बात नहीं है। चित्र में तो रूप के अतिरिक्त वय और हाव स्पष्ट रूप से अंकित होते हैं और जहाँ वय, रूप एवं भाव एक साथ चित्रित हो वहाँ वचः (बोली) की यथास्थिति व्यंग्य रूप से ग्राह्य होती है तभी कहना पड़ता है कि लगता है कि चित्रस्थ व्यक्ति अभी बोल देगा। इसी प्रकार हाव को ही मुख्य रूप से निरूपित करने वाली मूर्ति कला में वय और रूप तो स्पष्ट रूप से उभरकर आ ही जाते हैं। कला में प्रवीणता मानी जाती है जब लगे कि मूर्ति प्रसंगानुरूप कुछ कहने ही जा रही है। संगीत कला की भी मात्र वचः का निरूपक नहीं मानना चाहिये। संगीत की धुनें, मात्रायें एवं मूर्च्छनायें ऐसी निबद्ध होती हैं कि जब वे अभिव्यक्ति के पथ पर अवतरित होती हैं तो उनसे अनुकार्य वय के साथ–साथ अनुपम छवि और मनोहारी अदाओं की अभिव्यंजना सुतरां उत्कृष्ट तौर पर होने लगती है और तभी रसिक समाज भाव विभोर हो फूल उठता है। भरत ने नाट्यशास्त्र में इसी को वाङ्मयी सिद्धि कहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कलाओं के द्वारा होने वाली सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के आधायक चार ही तत्त्व है जिनका विनियोग विविध रूप में उनके होता है। विशुद्ध कलाओं की तो यही स्थिति है। प्रयोजनवती कलाओं में भी ये ही तत्त्व वस्तु या विषय में सौन्दर्य का आधान करते हैं पर प्रच्छन्न रूप से। उदाहरणतः वास्तुकला में रूप का स्थान गौण होता है पर होता अवश्य है। जिस सुषमा के द्वारा सौन्दर्य की सृष्टि होती है वह भवन या मन्दिर के तत्तद् अंगों के स्वरूप में ही प्रकट होती है। यही स्थिति

सभी प्रकार के शिल्पों की होती है। रूप अर्थात् आवृत्ति में ही सौषम्य के द्वारा सौन्दर्य का आधान होता है।

कालिदास ने नारी सौन्दर्य के आधायक के रूप में रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श का निरूपण बड़ी कुशलता के साथ किया है। शकुन्तला को देखने के बाद उसकी चर्चा करते हुए दुष्यन्त, माढव्य से कहता है कि शकुन्तला का निष्कलुष रूप ऐसा विलक्षण है कि उसका वर्णन किस प्रकार किया जाय वह तो सद्यः प्रसूत ही है। सौन्दर्यानुभूति को आत्मानुभूति से भी बढ़कर कहने वाले आचार्य भट्टनायक का कहना है कि सौन्दर्यानुभूति अनुभ. विता के अपने ही मन के सत्व भाव की अनुभूति है। कलात्मक अनुभूति के क्षण सहृदय सामाजिक के मन में रजस्, तमस् व्यक्ति के मन में हीं होता है। चूँकि सत्व गुण प्रकाशत्व एवं आनन्दात्मक होता है अतः उसका अनुभव प्रकाशानन्दमय संवित् कहलाता है जिसकी परिणति चित्त की विश्रान्ति में होती है। 'सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्वेन योगेन भुज्यते।'

भट्टनायक का सिद्धान्त है कि रसिक जन रसास्वाद्यता अवस्था में कला अमृत की एक ऐसी धारा वह चलती है जिससे सहृदय हृदय आप्लावित हो जाता है चूँकि यह सहज साध्य है अतः योगियों के द्वारा यम–नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यानपूर्वक लगायी गई समाधि में होने वाले आत्मानुभव से वह उत्कृष्ट कोटि का होता है। यौगिक क्रियाओं की अपेक्षा कलाओं के द्वारा चित्त में सत्त्वोद्रेक सरलता और सरसतापूर्वक संभव होता है –

वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसंयद्बालतृष्णया।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि यः।।[7]

आनन्दानुभूति का तीसरा पश्च महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त का है जिसका योगदान सौन्दर्याशास्त्र के लिये सर्वथा अक्षुण्ण है। अभिनवगुप्त की मान्यता है कि सौन्दर्यानुभूति आत्मानुभूति के अतिरिक्त और कुछ हो नहीं सकती। कलाओं से होने वाली अनुभूति निश्चित रूप से निर्मल पत्र में ही होती है तथा उनके विषय वस्तु के स्वभ. ाव से संवलित भी होती है पर अपनी अन्तरात्मा पक योग के बिना वह हो नहीं सकती। कलाओं के माध्यम का साधरणीकरण होने पर बोद्धा व्यक्ति को अन्तःकरण स्वतः सत्व बहुल हो जाता है तथा उसी सत्वशील अन्तःकरण से विषयवस्तु एवं आत्मा दोनों एक साथ प्रतिफलित होने लगते हैं जिससे व्यक्ति को निरतिशय आनन्द की अनुभूति होती है यही सौन्दर्यानुभूति है। इसमें दुःखात्मकता का लेश भी नहीं होता क्योंकि विषयवस्तु संवलित जिस आत्मा का अनुमान इस समय होता रहता है वह आनन्दमय है। अभिनवगुप्त इसे स्वात्मपरामर्श कहते है। यह जब होने लगता है तो व्यक्ति विगलितवेद्यान्तरमय हो जाता है। वह भूल जाता है कि वह कहाँ बैठा है या उसे और भी कुछ करना है, जिसे आत्म–विस्मृति कहते हैं।

विगलितवेद्यान्तर प्रसूत यह आत्मविस्मृति जिस साहित्य में जितना अधिक होती है वह उतना ही उत्कृष्ट माना जाता है। इसका पूर्ण परिपाक साहित्य, उसमें भी नाट्य में पाया जाता है। इसीलिये कालिदास ने कहा है –

नाट्यं भिन्न रुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।[8]

नाट्य की महत्ता इस दृष्टि से भी है कि इसमें प्रायः सभी कलाओं को आत्मसात् करने की क्षमता भी है। मुनि भरत ने अपनी महनीय रचना नाट्यशास्त्र में कलाओं के नाट्यपरक विनियोग का निरूपण विस्तारपूर्वक किया है। उनका कहना है कि ऐसा कोई ज्ञान, ऐसा कोई

शिल्प ऐसी कोई विद्या या ऐसी कोई कला नहीं है जिसका विनियोग नाट्य में न होता हो –

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्ये यस्मिन् यत् न दृश्यते।।[9]

सभी कलाओं का लक्ष्य एक ही है। मानव को विश्रान्ति देना चाहे वह रोग से पीड़ित दुःखी हो, काम कर थका हुआ अधिक हो, इष्ट जन के वियोग से शोक सन्तप्त हो या विद्या अध्ययन आदि से क्लान्त तपस्वी ही क्यों न हो –

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्ति जननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति।।[10]

यहाँ 'काले' पद के प्रयोग का आशय है चित्त की यह विश्रान्ति तात्कालिक होती है तथा चिरस्थायी नहीं होती अपितु तभी तक बनी रहती है जब तक कला का योग रहता है।

कलात्मक अनुभूति यद्यपि किसी एक या दो इन्द्रियों के माध्यम से ही सम्पन्न होती है पर बोद्धा को सम्यक् रूप से तृप्ति प्रदान करती है तथा सारी इन्द्रियों को मोहित कर लेती है। वह इन्द्रिय विशेष के द्वारा दिये गये अमृत पान की तरह होती है। यह मानव मन के लिए रसायन का काम करती है। जिससे सांसारिक भावों के थपेड़े से कुम्हलाई हुई व्यक्ति की कुसुम जैसी जीवात्मा पुनः खिल उठती है –

म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि।
सन्तर्पणानि सकलेन्द्रिय – मोहनानि।
एतानि ते सुवचनानि सरोरुहाक्षि।
कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि।।[11]

इस प्रकार से प्रस्तुत शोधपत्र में साहित्य में संवलित सौन्दर्यकला की कलात्मक आनन्दानुभूति के सन्दर्भों को उद्घाटित किया गया है। साहित्य का सौन्दर्य निश्चयेन सहृदय हृदय को आकर्षित कर लेता है क्योंकि कवि अप. नी काव्यकला के माध्यम से उसमें राम–सीतादि पात्रों के द्वाव–भाव, जो सौन्दर्य के आधायक तत्व होते हैं, का सम्यक विनियोजन कर देता है। इसे पढ़कर अथवा दे खकर जो सांसारिक घात–प्रतिघात से दुःखी सहृदय जन हैं वे आनन्दानुभूति को प्राप्त किया करते हैं। सौंदर्य–कला की अनुक्रम विच्छित्ति का रहस्योद्घाटन ही इस शोधपत्र का विधेय है।

संदर्भ

1.चरकसंहिता–वाजीकरण–प्रकरण

2.दशरूपक–प्रथम प्रकाश

3.कादम्बरी कथामुखम्।

4.मेघदूतम् – उत्तरमेघ – 19

5.अभिज्ञानशाकुन्तलम् – 2/10

6.व्यक्ति–विवेक, 2/117–118

7.ध्वन्यालोककारिका–1/6 पर लोचन

8.मालविकाग्निमित्रम्–प्रारम्भिक भाग

9.नाट्यशास्त्र – 1/116

10.नाट्यशास्त्र – 1/114

11.उत्तररामचरितम् – 1/36

*****

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में राष्ट्रीयता की अवधारणा

-रेखा राठौड़,
शोधार्थी,
जय नारायण व्यास विश्वविद्यालय जोधपुर
rekharathore5533@gmail.com
M:-6376307250

राष्ट्रीयता साधारतया एक उच्च भाव है, जो राष्ट्र की रक्षा एवं उन्नति के लिए आवश्यक है। इसका संबंध बाहरी पक्ष से ना होकर आन्तरिक पक्ष से है। राष्ट्रीय चेतना एक सामूहिक भावना है, जो कि मनोवैज्ञानिक है और किसी भी परिस्थितियों का आश्रय लेकर निरंतर दृढ़तर होती जाती है। राष्ट्रीयता मनुष्य की श्रेष्ठ प्रवृत्ति हैं, जो सदैव उसमें देशभक्ति की तथा देश-प्रेम की भावना का संचार करती है। आचार्य रामचन्द्रशुक्ल, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. गुलाबराय जैसे श्रेष्ठ रचनाकारों ने हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीयता से संबंधित अपने विचार व्यक्त किए। शुक्ल की मान्यता के अनुसार-''साहित्य मनुष्य के हृदय को स्वार्थ, संबंधों के संकुचित मण्डलों से ऊपर उठाकर लोक सामान्य की भावभूमि पर ले जाता है, जहाँ जगत की विभिन्न गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है।''[1] डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार ''राष्ट्रीयता का अर्थ यह कि प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र का अंश है और इस राष्ट्र की सेवा के लिए इनको धन-धान्य से समृद्ध बनाने के लिए, प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार के त्याग और कष्टों को स्वीकार करना चाहिए।''[2] इसी भाँति धर्म, भाषा, इतिहास, परम्परा की समानता के लिए हुए मनुष्यों में ही राष्ट्रीयता संबंधी अपने विचार व्यक्त करते बताया कि ''एक सम्मिलित राजनीतिक ध्येय में बंधे हुए किसी विशिष्ट भौगोलिक इकाई के जन समुदाय के पारस्परिक सहयोग और उन्नति की अभिलाषा से प्रेरित उस भू-भाग के लिए प्रेम और गर्व की भावना को राष्ट्रीयता कहा जाता हैं।''[3] इस प्रकार सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के इतिहास में राष्ट्रीयता एक ऐसा गुण है, जो प्रत्येक युग के साहित्य में कुछ भिन्नता लिए हुए है। राष्ट्रीयता की विचारधारा हिन्दी साहित्य में आदिकाल से लेकर आधुनिककाल तक अविरल गति से बहती रही है। प्रत्येक युग में राष्ट्रीयता के स्वर मुखरित होते है।

आदिकालीन साहित्य में हमें न्यूनाधिक मात्रा में राष्ट्रीयता के तत्त्व मिलते है। इसलिए राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप इस युग में संकीर्ण था। हिन्दी साहित्य के किसी भी युग को हम देख सकते है। जिसमें हमें प्रत्येक भारतीय में राष्ट्रीयता की भावना देखने को मिलती है। इस युग में विभिन्न आक्रमणकारियों के कारण सम्पूर्ण भारत भिन्न-भिन्न राज्यों में स्थापित हो चुका था उसमें राजनैतिक निर्बलता, अवश्य आई परन्तु कभी भी देश की स्वतंत्रता के लिए मर मिटने की उमंग का ह्रास नहीं हुआ। वे वीर थे और वीरतापूर्वक शत्रु का मुकाबला करते रहे। इस युग में राजपूत वीरों से टक्कर लेना कोई आसान कार्य नहीं था क्योंकि वे अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए सदा ही हँसते-हँसते बलिदान होते रहे परन्तु उनके जीते जी उनकी मातृभूमि पर किसी दूसरे का हस्तक्षेप उन्होंने चुपचाप कभी सहन नही किया।

इतिहास बताता है कि ''परस्पर की घरेलु लड़ाइयाँ बनी रहने पर भी जब कोई बाहर का शत्रु देश या राज्य-विशेष पर आक्रमण करता तो छोटे-छोटे प्रायः सभी राज्य मिलकर उसका सामना करते।''[4] इस प्रकार सिर्फ एक ही नहीं अपितु, अनेक प्रमाण मिलते हैं जिसमें विदित होता है कि भारतीय वीर थे, वे वीरता से शत्रु का सामना करते रहे और अपने प्राणों का मोह त्यागकर, स्वराज्य-रक्षा के लिए रणक्षेत्र में जूझते थे। प्रारम्भिक सामंतवादी वीरता ने ही आने वाली शताब्दियों में उन्हें शत्रु के सम्मुख अपना शौर्य दिखाते हुए वीर-गति को प्राप्त होना सिखाया। अतः इस युग की रचनाओं में एक ओर जहाँ सामंत नायकों की वीर विरूदावलियाँ उपलब्ध हैं, वहाँ उन संकेतों की भी कमी नहीं जो सम्पूर्ण जाति के गौरव को उत्तेजना देते हैं। इसलिए उन कवियों का उपकार भुलाया नहीं जा सकता, जिनकी काव्य रचनाओं के ओजस्वी एवं पराक्रमपूर्ण संदेशों ने युगों तक जाति की जीवन-शक्ति को विनष्ट होने से बचाया है। इस युग की विभिन्न रचनाओं का राष्ट्रीय भावनाओं को उद्बुद्ध करने में विशेष योगदान रहा हैं।

इस काल का प्रत्येक साहित्य जैसे अपभ्रंश एवं रासों साहित्य जिनमें

लिखी गयी रचनाओं में हमें राष्ट्रीय चेतना की भावना देखने को मिलती है। अपभ्रंश भाषा जो कि देश की अधिकांश जनता द्वारा बोली एवं समझी जाती थी, सामान्य जनता अपने विचार-विनिमय एवं व्यवहार के लिए इसी भाषा का प्रयोग करती थी। स्वयंभू और पुष्पदन्त जैसे महान कवियों ने अपनी महान् कृतियाँ हमें प्रदान की है उनमें राष्ट्रीयता की भावना, देशप्रेम, प्राणोत्सर्ग की भावना हमें विभिन्न रूपों में देखने को मिलती है। इस युग की प्रत्येक रचना का अपना विशेष महत्त्व है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बताया कि-''इस काल की कोई भी रचना अवज्ञा या उपेक्षा का पात्र नहीं हो सकती। साहित्य की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से या सामाजिक गति की दृष्टि से उसमें किसी न किसी महत्त्वपूर्ण तथ्य के मिल जाने की संभावना होती है।''[5] इसीलिए इस युग में वह सामग्री उपलब्ध होती है जो जातीय जीवन को स्फूर्ति देने वाली है ।

स्वयंभू एक ऐसे रचनाकार है जो अपभ्रंश काल के प्रथम महाकाव्य लेखक माने जाते है। इनके लिखे हुए तीन ग्रंथ है - परमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ, स्वयंभूछंद। 'पउमचरिउ' महाकाव्य है जो जैन धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार रामायण पर लिखा गया है। इस रचना में कवि ने विभिन्न ऐसे प्रसंगों का चित्रण किया जिनमें वीर रस का सुंदर चित्रण जगह-जगह पर हुआ है। सामूहिक चेतना के विकास के लिए शत्रु पर विजय पाने के इच्छुक वीरों की गर्वोक्तियाँ कितनी उत्साहवर्धक हैं उसी को उन्होंने अपनी रचना में उजागर किया है। धन-वैभव का लोभ छोड़कर स्वयं को स्वामी के कार्य के लिए समर्पण कर यश प्राप्ति की अभिलाषा सैनिकों के मन में दिखाकर कवि ने जाति के लिए एक भिन्न आदर्श प्रस्तुत किया। कवि ने अपनी जन्मभूमि को मातृमूर्ति के रूप में चित्रित कर एक राष्ट्रीय भावना को व्यक्त किया। पुष्पदंत अपभ्रंश भाषा के श्रेष्ठ कवियों में से एक थे। इनके द्वारा रचित काव्य ग्रंथ-महापुराण, जसहरचित इत्यादि है। महापुराण रचना में उन्होंने वीर-रस वर्णन में शत्रु के विरूद्ध एक अदम्य उत्साह की सुंदर जातीय व्यंजना की है।

कवि ने बताया कि किस प्रकार एक योद्धा अपनी मातृभूमि की रक्षा हेतु शत्रु को खण्डित करने की प्रबल उमंग रखता है। यदि सिर भी कट जाए तो धड़ ही शत्रु विनाश के लिए संघर्ष करता रहेगा। कवि ने भारत की वीर नारी के उज्ज्वल एवं यशस्वी चरित्र की भी अच्छी झलक दिखाई है, जिन्हें वीर पुरुषों के समान ही कभी युद्ध का भय नहीं हुआ। वो पति को अक्षत का टीका लगाना नहीं चाहती बल्कि शत्रु के हाथियों के मोतियों से टीका लगाने की उमंग रखती है। जिससे जनमानस में राष्ट्रीय भावनाओं का निर्माण होना जायज है। हेमचन्द्र ने अपनी प्रसिद्ध रचना प्राकृत-व्याकरण में राष्ट्रीयता के विभिन्न प्रसंगों को नारी के माध्यम से प्रस्तुत किया। कवि बताते है कि भारत माँ की पुण्य कोख से जन्मी इन वीर बालाओं को शक्ति का अवतार मान कर कौन इनके सम्मुख आदर से नत -मस्तक नहीं होता होगा, जो नारी युद्ध भूमि में अपने प्राणोत्सर्ग करने वाले पतियों पर गर्व करती हुई प्रसन्नता से कह उठती हैं-

''भल्ला हुआ जु मारिया बहिणी महारा कंतु।
लज्जेजं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरू एंतु ।।''[6]

शारंगधर द्वारा रचित 'हम्मीररासो' में राष्ट्रीयता की भावना मिलती है। कवि ने हम्मीर की शक्ति एवं साहस का वर्णन करते हुए एक कुण्डलियों में उत्साह, वीरता, राष्ट्रप्रेम की झलक प्रस्तुत की है जब हम्मीर युद्ध के लिए प्रस्थान करते हैं, तब उनकी पत्नी चरण छूती है। परन्तु वह वीर योद्धा है, अतः कहता है कि तुम चरण छोड़कर खड़ग दो, मैं शत्रु को मारकर अवश्य तुम्हारे दर्शन करूँगा। जिसको कवि ने अपने शब्दों में कहलवाया है-

मंचहि संदरि पाव अप्पहि हसिऊण सुम्महि खंग्ग मे।
कप्पिय मेच्छा सरीर पेच्छाइ, वऊणाइ तुम्ह घुह हम्मीरो ।।[7]

हम्मीर की गणना राष्ट्रीय वीरों की कोटि में की जाती है। अतः उनकी प्रशंसा में रचित काव्य में राष्ट्रीय भावों को स्फूर्ति देने की शक्ति विद्यमान रहती है। रचनाओं के इसी क्रम में युग में लिखा गया 'रासो साहित्य' जिसमें वीरता की भावना, देश-प्रेम, राजभक्ति, निर्भयता, साहस, आत्माभिमान का चित्रण देखा जा सकता है। पृथ्वीराज रासो, बिसलरासो, खुमानरासो, परमालरासो, आल्हखण्ड जैसी विभिन्न रचनाएँ जिसमें राष्ट्रीयता की भावना उजागर हुई है। वीर काव्यों में सबसे प्रसिद्ध और विशालकाय ग्रंथ चन्दबरदाई द्वारा रचित 'पृथ्वीराज रासो' है। इस रचना में पृथ्वीराज हमारे सम्मुख एक वीर, पराक्रमी, तेजस्वी तथा अन्य गुणों से सम्पन्न नायक के रूप में आते है, जिसकी विजय यात्रा सबको

आतंकित करने वाली है-

''वज्जिय घोर निसान राज चौहान चलौं दिस।
सकल सूर सामन्त समरि बल जंत्र मंत्र तिस।
उठि राज प्रिथीराज जाग मनो लग्न वीर नट।
कढ़त तेग मनवेग लगत मनो बीजु भट्ट घट।।''[8]

इस ग्रंथ में केवल पृथ्वीराज की शूरता एवं वीरता का ही नहीं अपितु कई वीरों के बल का प्रदर्शन भी सफलतापूर्वक किया गया हैं जो जातीय गौरव की वस्तु है। वे पराक्रमी वीर अपनी स्वामी-भक्ति एवं देश-भक्ति से प्रेरित होकर अपने स्वाभिमान, राष्ट्र की रक्षा करते हुए युद्धभूमि में जूंझ जाया करते थे। इस युग के रचनाकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से स्वतंत्रता की बलिवेदी पर मर मिटने का एक अमर सन्देश भी दिया है जिससे भारतीयों की राष्ट्रीय चेतना को सदा बल मिलता रहेगा। 'आल्हखंड' इस युग की सर्वश्रेष्ठ वीर रस प्रधान रचना मानी जाती है। यह एक ऐसी अमर कृति है जो सम्प्रर्ण जनमानस को राष्ट्रीय संदेश देने में सफल सिद्ध हुई। इसमें वीरोचित गर्वपूर्ण उक्तियाँ, स्वामीहित, देशप्रेम, राष्ट्रप्रेम, क्षत्रियोचित निर्भयता तथा स्वाभिमान की रक्षा हेतु सहर्ष परलोक सिधारने की ऊँची साध है। ''कहा जाता है कि प्रथम महायुद्ध के समय भारतीय सैनिकों को बीच सरकार की ओर से आल्हा गवाया जाता था और उससे उनमें उत्साह की उमंग और वीरता का जोश लहरें लेने लगता था। इससे तो स्वयं सिद्ध है कि 'आल्हखंड' में वीरता की भावना कूट-कूट कर भरी है। और उससे वीरोचित कार्यों के लिए अदम्य प्रेरणा प्राप्त होती है। अतः उसमें प्रत्यक्षतः कोई उद्देश्य भले ही न दिखाई पड़ें किन्तु परोक्ष रूप से वीरता की भावना को प्रबुद्ध और पुष्ट करना ही उसका लक्ष्य है। इस महा उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही आल्हाखंड की प्रत्येक गाथा का विधान हुआ।''[9] इस प्रकार जब-जब इस देश की राष्ट्रीय स्वतंत्रता का इतिहास दोहराया जाएगा, तब-तब इस युग के कवियों द्वारा रचित रचनाओं में वीरों एवं वीर काव्यों को सदा महत्त्वपूर्ण स्थान मिलता रहेगा। निसन्देह वीर काव्य भारतीय समाज की अक्षय निधि है। जो जनमानस में राष्ट्रीय भावनाओं को जाग्रत करने में अपना विशिष्ट योगदान रखता है।

सन्दर्भ सूची –

1. आचार्य रामचन्द्रशुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1929 ई. पृ. 23

2. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1952, पृ. 395

3. बबू गुलाबदाय: राष्ट्रीयता, गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा, 1961, पृ. 3

4. पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : राजपूताने का इतिहास, प्रथम भाग, वैदिक यंत्रालय, अजमेर, वि. सं. 1982, पृ. 75

5. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1952 ई. पृ. 25

6. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2018, पृ. 35

7. शारंगधर : प्राकृत पिंगल, पृ. 127

8. रामनरेश त्रिपाठी : कविता कौमुदी, प्रथम भाग, 1980, पृ. 113

9. डॉ. शंभूनाथसिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ. 369

******

औपनिवेशिक काल में प्रतिबन्धित हिंदुस्तानी साहित्य

-डॉ. निधि वर्मा
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग
भारती विश्वविद्यालय, दुर्ग,
छत्तीसगढ़- 491001
मो०.- 7771999988

साहित्य तत्कालीन समाज का दर्पण होता है। समाज के बदलाव की क्रमागत परिस्थितियाँ तो साहित्य में रेखांकित होती ही हैं, कई बार साहित्य समाज को बदलने की भी पहल करता है। जब कभी वह शासक वर्ग के विरुद्ध जोर-जोर से आवाज उठाता है तो, उस पर पाबन्दी लगा दी जाती है। भारतीय अभिलेखागारों में कई ऐसी साहित्यिक रचनाएँ हैं, जो कभी प्रतिबन्धित की गई थीं। हिन्दी साहित्य में उन्हें शामिल करने पर हिंदी साहित्य के इतिहास की रूपरेखा में बेहद परिवर्तन आ सकता है। जिससे की वर्तमान समय में भी ब्रिटिश कालीन भारतीय साहित्य को हम सब आसानी से समझ सकते हैं। उस समय जो भारतीय जन मानस के अंदर कहीं न कहीं जन-चेतना जगाने का कार्य कर रही थी।

प्रतिबन्ध का सामान्य अर्थ निषेध होता है, लेकिन राजनीतिक परिपेक्ष्य में इसका अर्थ उस वैधानिक कार्यवाई से है जो प्रकाशन, संगठन, सभा आदि को गैरकानूनी घोषित कर दमनात्मक रुख अपनाता है। जिससे आम जनता के अंदर स्वयं के प्रति और समाज के प्रति जीने की महत्वाकांक्षा जाग उठती है और उसे लगने लगता है की वह सच में किसी के आधीन अपना स्वांस ले रहा है। कई बार भाषण, यात्रा आदि पर भी निषेधाज्ञा लागू कर दी जाती है। यह कार्रवाई सत्ताधारी उनके विरुद्ध करता है, जो उनके द्वारा किए गए अन्याय और अत्याचार का खुलासा करता है, उनकी दुर्व्यवस्था के विरुद्ध जनता को जागरूक करता है और अपने हक की लड़ाई के लिए प्रेरित करता है। साम्राज्यवादी शक्तियों के सन्दर्भ में इसे स्पष्टता से समझा जा सकता है। साम्राज्यवादी शक्ति अपना वर्चस्व कायम रखने के लिए उन गतिविधियों का नष्ट करना चाहती है, जो गुलामों में स्वतन्त्रता की चेतना भरती है। साहित्य में जब जन-चेतना जाग्रत करने की प्रेरणा दिखाई देती है, उसे प्रतिबन्धित कर दिया जाता है। जिससे की लोगों के अंदर स्वतंत्रता की चेतना मर सी जाती है।

प्रतिबंधित साहित्य को हम देखे तो इनमें कविता, उपन्यास, कहानी , नाटक और निबंध इत्यादि शामिल हैं। जिससे कि जन चेतना में काफी तेजी से फैलने का काम करती है इसी कारण से औपनिवेशिक काल में जो साहित्य ब्रिटिश कालीन हुकूमत के खिलाफ आवाज उठाती थी या उन्हें लगता था कि यह मेरे खिलाफ है तो उसे तुरंत बंद कर दिया जाता था और उस साहित्यकार के ऊपर मुकदमा दायर कर दिया जाता था और उसके प्रेस को बंद कर दिया जाता था और उसके ऊपर जुर्माना भी लगा दिया जाता था।

प्रतिबंधित साहित्य में हिंदी कविता और लोकगीतों का स्वर साम्राज्यवादी विरोधी टैक्स के रूप में बेहद रूप से उभर कर आता है। औपनिवेशिक काल की पत्रिका सर सुधा निधि के संपादक लिखते हैं - "प्रजा की दुर्व्यवस्था का कारण क्या है? "प्रजा की दुर्व्यवस्था का कारण सिवाय गवर्नमेंट स्थापित राजस्व संग्रह प्रणाली के कुछ और नहीं हो सकता।"[1] औपनिवेशिक काल में सबसे ज्यादा आर्थिक शोषण की पहचान हमें गहरी रूप से देखने को मिलता है। कोई भी सत्ता अपने साम्राज्य को कायम रखने के लिए उसे देश की सभ्यता संस्कृति और इतिहास को अपने हाथों में रखता है।

न्गुगी वा 'थ्योंगो की एक बात यहाँ द्रष्टव्य है। वह लिखते हैं कि "उपनिवेशवाद का वास्तविक उद्देश्य जनता की संपत्ति पर नियंत्रण रखना था। उन्हें इस पर भी नियंत्रण रखना था कि जनता किस चीज़ का उत्पादन करती है, किस तरह उत्पादन करती है और इसका वितरण किस तरह होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वास्तविक जीवन की भाषा के समूचे साम्राज्य पर उसे नियंत्रण रखना था। उपनिवेशवाद ने भौतिक सम्पदा के सामाजिक उत्पादन पर सैनिक विजय के जरिए अपना नियंत्रण रखा और राजनीतिक अधिनायकवाद द्वारा उसे परिपुष्ट किया। लेकिन प्रभुत्व का इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र उपनिवेश की जनता का मानसिक जगत था जिस पर उस संस्कृति के जरिए नियंत्रण न तो कभी पूरा हो सकता है। और न कारगर । जनता की संस्कृति पर नियंत्रण का मतलब दूसरों के सन्दर्भ में खुद को परिभाषित करने के उपकरणों पर नियंत्रण करना है।

"उपनिवेशवादियों की इस प्रक्रिया में दो पहलू निहित थे जनसंस्कृति का विध्वंस अर्थात जनता की कला, नृत्य, धर्म, इतिहास, भूगोल, शिक्षा, मौखिक साहित्य और लिखित साहित्य का विध्वंस अथवा जानबूझकर जनसंस्कृति के महत्व को कम करके आंकना । इसका दूसरा पहलू था उपनिवेशवादियों की भाषा को सचेत ढंग से काफी विकसित भाषा के रूप में प्रस्तुत करना । गुलाम देशों की जनता के मानसिक जगत पर

प्रभुत्व कायम करने के लिए यह बुनियादी शर्त थी कि जनता की भाषा पर उपनिवेशवादी देशों की भाषा का प्रभुत्व हो।"[2]

अभी तक के जानकारी के अनुसार 54 कहानियों को ब्रिटिश कालीन हुकूमत के द्वारा प्रतिबंधित किया गया। प्रेमचंद की सोजे वतन 1908 में प्रकाशित हुई और इसके ऊपर प्रतिबंध लगा दिया गया। इसी क्रम में पांडेयबेचन शर्मा उग्र की ऐसी होली खेली लाल! मुनीश्वरदत्त अवस्थी की बागी की बेटी, ऋषभचरण जैन की कहानी हड़ताल और यशपाल के दोस्त इत्यादि कहानी के ऊपर प्रतिबंध लगा दिया गया था। इन सभी में प्रेमचंद के साहित्य में स्त्रियां समाज में सबसे आगे निकलकर स्वतंत्रता आंदोलन में सबसे आगे लड़ती हुई दिखाई देती है।

प्रेमचंद ही अपनी एक कहानी में दिखाते हैं कि "मिसेज सक्सेना ने प्रधान से पूछा-शराब की दुकानों पर औरतें धरना दे सकती हैं ?....

प्रधान ने सर झुका कर कहा- मैं आपके साहस और उत्सर्ग की प्रशंसा करता हूँ, लेकिन मेरे विचार में अभी इस शहर की दशा ऐसी नहीं है कि देवियाँ पिकेटिंग कर सकें। आपको खबर नहीं, नशेबाज कितने मुंहफट होते हैं। विनय तो वह जानते ही नहीं। मिसेज सक्सेना ने व्यंग्य-भाव से कहा तो क्या आपका विचार है कि कोई ऐसा ज़माना भी आएगा, जब शराबी लोग विनय और शील के पुतले बन जायेंगे ? यह दशा तो हमेशा ही रहेगी। आखिर महात्माजी ने कुछ समझ कर ही तो औरतों को यह काम सौंपा है। मैं नहीं कह सकती कि मुझे कहाँ तक सफलता होगी; पर इस कर्तव्य को टालने से काम न चलेगा।....

मिसेज सक्सेना ने जैसे विनय का आलिंगन करते हुए कहा- मैं "आपके पास फरियाद लेकर न आऊँगी कि मुझे फलां आदमी ने मारा या गाली दी। इतना जानती हूँ कि अगर मैं सफल हो गयी, तो ऐसी स्त्रियों की कमी न रहेगी जो इस काम को सोलह आने अपने हाथ में न ले लें।"[3]

औपनिवेशिक काल में जब साहित्यकार समाज को जागरूक करने के लिए उसके हक की लड़ाई के लिए प्रेरित करता था तब उसे समय की तानाशाही सरकार लेखकों को विस्थापित कर देती थी या किसी किसी को निर्वासित होना पड़ता था नहीं तो कितने लेखक को मृत्यु चुनना पड़ जाता था। निर्वासन के बारे में एडवर्ड सईद लिखते हैं कि "चिंतन के एक विषय के रूप में निर्वासन जितना ही आकर्षक लगता है, अनुभव के स्तर पर यह उतना ही भयावह होता है। निर्वासन नाम है उस टूटन का जो किसी मनुष्य और उसकी जन्मभूमि, उसके अपने स्व और इस स्व के वास्तविक आश्रय के बीच घटित होता है। यह एक ऐसा घाव होता है जो कभी भी भर नहीं पाता इसके अंतर्तम में छिपी व्यथा से पार पाना असम्भव होता है।"[4] औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश कालीन हुकूमत भारतीय साहित्यकार को देश से बाहर कर देती थी। जिससे कि देश में रहकर उनके खिलाफ कोई रचना ना रची जा सके।

मैनेजर पाण्डेय की यह बात सही जान पड़ती है। एकांकी कला के हिसाब से यह एकांकी नाटक भले ही कमजोर दिखे लेकिन विषय-वस्तु के रूप में रूस की बोल्शेविक क्रांति को ठीक से रेखांकित किया गया है। इस एकांकी में उग्र अपनी साम्राज्यवाद विरोधी चेतना और विचारधारा को भी स्पष्ट करते चलते है। उन्होंने ज़ार से कहलवाया है कि "क्रांति-क्रांति-क्रांति। मुझे स्वप्न में भी ऐसी आशा नहीं थी कि मेरे साम्राज्य में क्रांति के भयंकर पैर पड़ेंगे। रूस की जनता की नज़रों में मैं सभी कुछ बड़ा था पर क्रांति के दर्शन करते ही मेरी सम्पूर्ण शक्तियाँ लुप्त हो गई ! क्रांतिकारियों ने बोल्डोगोई स्टेशन के आगे की लाइनें उखाड़ दीं। सम्राट का रथ रोक दिया गया! किस सम्राट का ? जो अपनी भू-भंगिमा मात्र से लाखों प्रजा की हत्या कर सकता था, जिसके इशारे से देश में प्रलय का दृश्य उपस्थित किया जा सकता था ! (कुछ ठहरकर) कल जिस समय यहाँ पर जनरल रस्की आया था उस समय मैंने स्वतन्त्रता की घोषणा लिखकर और उस पर राजकीय मुहर लगाकर रख दी थी- मैं प्रजा को पूरी स्वतन्त्रता देने को तैयार बैठा था पर जनरल ने कहा, "अब, सब व्यर्थ है, बहुत देर हो गई सम्राट ! क्रांतिकारी स्वतन्त्रता चाहते हैं पर मेरी दया से नहीं - अपने बल से !"[5]

देवदत्त की एक प्रचलित रचना है जिसका नाम शासन की पोल है। यह नाटक औपनिवेशिक काल 1922 में लिखा गया था। इसका लिखने का समय हिंदी साहित्य के इतिहास में प्रसाद युग और हिंदी कविता के इतिहास में छाया वाद युग का दौर चल रहा था। जब हिंदी नाटक एक अन्तराल के बाद से फिर से नए उर्जा के साथ उपस्थित हुआ था। जिनमें बहुत सारी नाटक लिखे जाने लगे और बहुस्पष्टवादी रूप से बातें रखी जाने लगी तब बच्चन सिंह ने लिखा है कि "प्रसाद का अविर्भाव हिंदी नाट्य साहित्य में एक नया अध्याय जोड़ता है। उनके पहले के नाटककारों ने वर्ण्य वस्तु को न तो श्रमपूर्वक उपलब्ध किया और न उनकी पुनर्रचना की। उन्होंने मुख्यतः नाटकों को विचारों या भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम माना । फलस्वरूप नाटकों का साहित्यिक मूल्य नहीं बन पाया। नाटकीय तकनीक अधिकतर पुरानी ही रही। अपने रोमैंटिक दृष्टिकोण के कारण प्रसाद ने हिंदी नाटकों का नया विन्यास किया।"[6] जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों की कथा वस्तु भारतीय अतीत को चुना और उन्होंने उसे वर्तमान समय से मिश्रण कर दिया इसके सन्दर्भ में भी बच्चन सिंह ने लिखा है कि "जीवन के गहन द्रष्टा होने के कारण प्रसाद ने उसकी जटिल समस्याओं को आँकने में अधिक दिलचस्पी रोमैंटिक ली । जीवन के बिखराव को बिखरा हुआ नाट्य-विधान ही अभिव्यक्त कर सकता था। मूलतः रो होने के कारण बाह्योपचार की उपेक्षा करना स्वभाव के अनुकूल था पर भारतीय संस्कृति के प्रति अटूट आस्था ने उनके रोमानी दृष्टि-कोण को एक सीमा तक नियंत्रित भी किया। इसलिए प्रसाद की नाट्य- कृतियों का आकलन करने के लिए किसी

शास्त्रीय माप का प्रयोग गुनाहे बेलज्जत है।"[7]

'भारत में अंगरेजी राज' पुस्तक के प्रथम खंड में भारत पर हुए सभी विदेशी हमले को ऐतिहासिक क्रम में विवेचित किया गया है। वहीं दूसरे भाग में भारत में सत्ता संघर्ष या युद्धों का विवरण है। इस पुस्तक के बारे में एक प्रसंग में सुन्दरलाल लिखते हैं कि, "इस जब्ती के होते हुए महात्मा गाँधी ने मुझे आज्ञा दी कि मैं पुस्तक का एक सेट कहीं से उन्हें लाकर दूँ।"[8]

इस प्रकार नवजागरण और आधुनिकता दोनों ही 'मुक्ति' और 'ज्ञान' से सम्बंधित है। जिसे "हेबरमास मुक्ति की अवधारणा को संवाद और संप्रेषण की स्थिति से जोड़ते हैं। वे कहते हैं कि यह सच है कि आधुनिकता औद्योगिक समाज में उपयोगिता मूलक तर्क पद्धति का वैयक्तिक जीवन पर नियंत्रण बढ़ता गया है, फिर भी एक जीवन जगत (life world) है, जो चेतना और सम्प्रेषण की कार्यवाई का इलाका है। हेबरमास के पूर्ववर्ती कार्य का एक बड़ा हिस्सा इसी 'जीवन जगत' के ढांचे को व्याख्यायित करने से जुड़ा हुआ है। इसमें वे भाषा, सम्प्रेषण की कार्रवाई और नैतिक चेतना के आपसी सम्बन्धों को तलाशते हैं। वे कहते हैं कि समस्त जीवन जगत मुक्ति के सरोकारों से जुड़ा हुआ है। केवल एक कुतर्क से भरी विकृत भाषा ही इसे समझने में व्यवधान खड़ा करती है। हेबरमास का आदर्श वाक्य है 'सारे सामाजिक जीवन का मूल आधार मुक्ति की कामाना है।"[9]

औपनिवेशिक काल का प्रतिबंधित साहित्य हिंदी साहित्य के लिए हिंदी साहित्य का इतिहास है। जो हमारे लिए जानना जरूरी है की गुलामी की जंजीरों में जब हमारा देश जकड़ा हुआ था तब उसे जंजीर को तोड़ने के लिए समाज को जगाने के लिए हमारे साहित्यकारों ने किस प्रकार अपने कलाम के जादू को निखारा की हमारे साहित्यिक रचनाओं को अंग्रेजों द्वारा बंद करना पड़ा और उन पर करवाई करने की जरूरत पड़ गई। उन समय की जो भी प्रतिबंध साहित्य की रचनाएं हैं उन्हें पढ़कर आज भी लगता है कि अंतर्मन की चेतना जागृत हो गई है।

संदर्भ:

1. प्रेमचंद, शराब की दुकान, बलराम अग्रवाल (सं.) साक्षी प्रकाशन दिल्ली, 2015, पृ. 104
2. न्गुगी औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति ग्रंथ, आनंद स्वरूप वर्मा, (अनुवादक) शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010 पृ. 77
3. दक्षिणापथ प्रज्ञा और गवर्नमेंट, सदानंद मिश्रा, नवजागरण कालीन पत्रिका भाग-1
4. वर्चस्व और प्रतिरोध, एडवर्ड सईद, (रामकीर्ति शुक्ल, अनु.), नयी किताब, दिल्ली, 2015, पृ. 376
5. 'लाल क्रांति के पंजे में', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय नई दिल्ली, 2010, पृ. 357
6. हिन्दी नाटक, बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ. 50
7. वहीं, पृष्ठ: 51
8. 'भारत में अंगरेजी राज', (भूमिका से) सुन्दरलाल प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, द्वितीय खंड, पंचम संस्करण, 2016 पृ. 02
9. अँधेरे समय में विचार, विजय कुमार, संवाद प्रकाशन, मेरठ, 2010, पृष्ठ 68

*****

भूमंडलीकरण और किसान : फाँस उपन्यास

अनामिका

शोध सार

औपनिवेशिक काल में कर–प्रणाली, भूमि व्यवस्था, बेगार, बंधुआ मजदूरी इत्यादि के माध्यम से शोषण की गाथा लिखी गई। उत्तर–औपनिवेशिक काल में पूँजीवादी ताकतें, बाजार, बीज, उर्वरक, कीटनाशक, भूमि अधिग्रहण, नकदी फसल इत्यादि के माध्यम से अपनी जड़ें जमाए हुए है।

बीज शब्द– संस्कृति, कॉरपोरेट कल्चर, कॉरपोरेट सोशल रिस्पांसिबिलिटी, भूमंडलीकरण, कर्ज की समस्या।

मूल आलेख

गाँधी जी ने कहा था– भारत की आत्मा गाँवों में बसती है। श्रेष्ठ कवि सुमित्राानंदन पंत जी का भी मानना है कि भारतमाता ग्रामवासिनी है। पूरे विश्व का भरण–पोषण ग्रामीण व्यवस्था पर ही टिका हुआ है। ग्रामीण व्यवस्था के मूल में कृषि व्यवस्था है। कृषि व्यवस्था जहाँ ग्रामीण समाज का भरण–पोषण करती है। वहीं ग्रामीण समाज कृषि के लिए आवश्यक आधरभूत संरचना एवं श्रम प्रदान करता है।

विकसित राष्ट्रों में अपनी जड़ें मजबूत करने के लिए सबसे पहला प्रहार प्राकृतिक संसाधनों पर किया। ग्रामीण एवं कृषि व्यवस्था का विनाश औपनिवेशिक शासन के मूल में है। औपनिवेशिक काल से लेकर आज तक यह विनाश–लीला किसी न किसी रूप में जारी है।

औपनिवेशिक शासन के मूल में है– प्राकृतिक संसाधन की लूट। इस लूट ने भारत को कृषि प्रधन देश से आत्महत्या का देश बना दिया। औपनिवेशिक काल में जमींदारों के माध्यम से भारत में कृषि–व्यवस्था पर निर्भर जन–समुदाय का शोषण किया गया। उत्तर–औपनिवेशिक काल में पूँजीपतियों के माध्यम से विकसित देशों द्वारा किसानों का शोषण किया जा रहा है। उपन्यास 'पफाँस' में सजीव अपनी पत्राकार दृष्टि से महाराष्ट्र के बनगाँव और उसके आस–पास के सभी गांवों में किसानों की आत्महत्या और उसके कारणों पर प्रकाश डालते हैं। बी.टी. कॉटन, विदेशी गाय, वर्षा, सूखा, बाढ़, कर्ज, पफसल का दान, बीज का दाम, विवाह, त्यौहार इत्यादि सभी समस्याओं को उपन्यास में दिखाया गया है। इन सभी प्राकृतिक तथा मनुष्य जनित समस्याओं ने किसानों के जीवन को किस प्रकार प्रभावित किया है कि वह खेती छोड़ने को ही मजबूर हो गए हैं यह इस उदाहरण से समझा जा सकता है– ''ये फिल्म वाले, ये धरम वाले, ये कॉरपोरेट वाले, ये बिल्डर्स और दूसरे पैसे वाले सेठ देश की सारी लाभ देने वाली ज़मीन खरीद चुके हैं। आने वाले दिनों में खेती भी कॉरपोरेट घराने वाले करेंगे, किसान का नमा ही मिट जाएगा, ओले शायद बश्ख दें, टिड्डियाँ हमें बख्श दे मगर ये टिड्डियों से भी खतरनाक हैं ये लोग कुछ भी नहीं छोड़ते।''[1]

कृषक संस्कृति प्रकृति के साहचर्य की संस्कृति है। इसमें केवल मनुष्य से ही नहीं सामंजस्य बैठाया जाता है, बल्कि मनुष्येत्तर प्राणी से भी आत्मीय रिश्ता विकसित होता है। 'पूस की रात' का झबरा हा[2], 'अकाल और उसके बाद'[3] के चूहे, छिपकली हो या 'बाज़ार में रामधन'[4] के 'बैल' हो या उपन्यास फांस के मोहन बाघमरे का बैल हो। ''बैलों की हाट ने अपना 'भाई' लेकर आया है बाघमारे।''[5] यही कृषक संस्कृति अब धीरे–धीरे आत्महत्या की संस्कृति बनती जा रही है। इसका सबसे बड़ा कारण है पूंजीवादी या विक. ासवादी संस्कृति का कृषक संस्कृति पर कब्जा। पूंजीवादी संस्कृति ने विकास की अवधरणा को एक रेखीय कर दिया।

'फाँस' उपन्यास का उदाहरण हैं– ''उदारीकरण के चलते सरकार का रवैया ही कॉरपोरेट वाला हो चुका है– बिल्कुल ठुस्स यांत्रिक। कारपोरेट कल्चर या बहुराष्ट्रीय कंपनियां जाहिर तौर पर किसी बड़ी पूंजी की प्रसूत होती हैं, बड़ी पूंजी बाज़ार में लाभ कमाने के उद्देश्य से आती है। उसकी सामाजिक जिम्मेवारी सिर्फ इतनी होती है कि ग्राहक या उपभोक्ता जिंदा रहे। इन्हें और इनके प्रतिनिधि नेताओं को जमीन की गुणवत्ता, सिंचाई की प्रकृति और पैदावार से कोई मतलब नहीं।''[6] इस आधर पर कहा जा सकता है कि कृषि को पारंपरिक उत्पादन तकनीक से हटाकर मशीनों और बाज़ार से जोड़ दिया गया। हल–बैल, पारंपरिक खाद के स्थान पर अब ट्रैक्टर, मशीन, कीटनाशक आ गए हैं। कारपोरेट सोशल रिसपांसिबिलिटी (CSR) के नाम पर बड़ी–बड़ी कंपनियां अपने मुनापेफ के लिए प्राकृतिक संसाध्नों का दोहन कर रही है।

1990 के बाद की नई व्यवस्था ने विकासशील राष्ट्रों की जड़ों को ही हिला दिया है। भूमंडलीकरण की विश्व–ग्राम की अवधरणा के तहत पहले से स्थापित गाँवों की अवधरणा को ही खत्म कर दिया गया। गाँवों को नगर बनाने की एक लहर चल पड़ी है। गाँवों में जीवन के मूल में किसान व कृषि व्यवस्था है। इस व्यवस्था को खत्म करना नई वैश्विक व्यवस्था के मूल में है। फाँस में संजीव लिखते हैं–

''कोई महामारी या कोई ऐसी विपत्ति नहीं आयी है कि भारत सहित दुनिया–भर के किसान बेमौत मारे जा रहे हैं। यह वैश्विक अर्थव्यवस्था का वह रूप है जिसमें किसान को हाशिये पर धकेला जा रहा है। आत्महत्या एक संक्रामक व्याधि की तरह देश के उन राज्यों में भी पैफलती जा रही है, जहाँ अब तक नहीं थी।''[7]

कृषि सिर्फ फसल उगाने और बेचने मात्रा व्यवस्था नहीं हैं कृषि किसी भी समाज के अस्तित्व के मूल में है। गाँवों की संस्कृति के मूल है। ग्रामीण–जीवन में पर्व–त्यौहार, दुःख–सुख, शादी–ब्याह, सभी कृषि–व्यवस्था या पफसल की पैदावार पर ही निर्भर करते हैं। संपूर्ण ग्रामीण संस्कृति के केंद्र में किसान और पफसल ही हैं। उदारीकरण, निजीकरण, भूमंडलीकरण ने इस मूल को ही नष्ट कर दिया। ग्रामीण संस्कृति में प्रकृति तथा मनुष्य के साहचर्य तथा परस्पर निर्भरता को खत्म कर दिया गया है। उपन्यास का यह अंश दृष्टव्य है–

''विदेशी बीज, विदेशी कर्ज, विदेशी गाय, विदेशी नीति और यहाँ का सूखा किसान और सूखी ध्रती।''[8] बी. टी. कॉटन, बैंकों द्वारा लोन, मनमोहिनी गाय, हरित क्रांति के द्वारा थोपी गई नीतियों द्वारा भारतीय समाज और ग्रामीण संस्कृति को नष्ट किया जा रहा है। मजबूरीवश किसान खेती छोड़ रहे हैं। उपन्यास में लेखक लिखते हैं–

''इस देश के सौ में से चालीस शेतकारी आज ही खेती छोड़ दे अगर उनके पास कोई दूसरा चारा हो। 80 लाख ने तो किसानी छोड़ भी दी।''[9]

किसान बी.टी. कॉटन का विदेशी बीज लेता है, जो न तो मनचाही पफसल देता है, न ही ध्रती के लिए उपयुक्त है। विज्ञापनों के माध्यम से ठगा गया किसान जब कर्ज लेने जाता है तो विदेशी बैंकों द्वारा एक नई व्यवस्था देखने को मिलती है–''कुल सत्ताईस हजार लेकर चल पड़े बैंक का कर्ज लौआने शिबू और शकुन। साथ में थे शुभा के पति अमर। बैंक मैनेजर ने एक बाबू की ओर इशारा किया। रजिस्टर खुले, कम्प्यूटर खुले। टप–टप की ताल पर दिल ध्ड़का–'उनत्तीस हजार नौ सौ साठ!''

क्लर्क ने निर्लिप्त भाव से कहा।

''क्या कहा सर...उनत्तीस हजार...?'' शिबू को करंट सा लगा।

''उनत्तीस हजार नौ सौ साठ।''

''लेकिन सर, मैंने तो सिर्फ पच्चीस हजार ही लिये

थे।''

''इतने दिनों का सूद और मूल मिलाकर हुए... ।''[10]

आजादी से पहले साहूकारों द्वारा कर्ज लेकर किसान, मजदूर बन जाते थे। 'प्रेमचंद गोदान में होरी के माध्यम से हमें बताते हैं।' आजादी के बाद बैंक द्वारा लिया गया लोन चुकाते–चुकाते ही किसान का जीवन स्वाहा हो रहा है। उपन्यास की पात्रा शकुन कहती हैं–

''इस देश का किसान कर्ज में ही जन्म लेता है, कर्ज में ही जीता है, कर्ज में ही जीता है, कर्ज में ही मर जाता है।''[11] इन मौतों की जिम्मेवादी लेने वाला भी देश में कोई नहीं है। मीडिया, अखबार, रेडियो, टीवी कहीं पर भी इसकी खबर तक नहीं होती। उपन्यास की पात्रा छोटी (कलावती)कहती है–''पिछले बरस सात हजार किसानों ने आत्महत्या की थी। अखबार, रेडियो, टी.वी. सबने अफीम खा ली, खबर तक न हुई।''[12]

कृषि में स्त्री किसानों की भूमिका उपन्यास को और महत्वपूर्ण बनाती है। अब तक किसानी को पुरुष वर्चस्वी पेशा समझा जाता है। 'फाँस' में संजीव ने स्त्री की भूमिका को उभारा है। 'फाँस' में स्त्राी की सामाजिक भागीदारी लगभग पुरुषों के बराबर है। उपन्यास की पात्रा 'आशा' कापूस की फसल उगाने से लेकर, सूखे, कम दाम में बिकने का गम, और अंत में बारिश की मार सहते हुए फसल के बचाने की कोशिश करते–करते हार मानकर आत्महत्या कर लेती है। आशा की बेटी कहती है–''यही कापूस कफन बन गया हमारे लिए।''[13]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आधुनिक सभ्यता के लिए कृषि आत्महंता बन गई है। विज्ञान का प्रकृति को अपने वश में करने का जो अभियान जारी है वह मनुष्य के वजूद के लिए सबसे बड़ा खतरा है। प्रकृति और मनुष्य का साहचर्यमूलक रिश्ता ही विनाशर और तबाही को रोक सकता है। नई आर्थिक व्यवस्था में जिन नीतियों को अपनाकर कृषि व्यवस्था को नष्ट किया जा रहा है उन पर ध्यान देने की अत्यंत आवश्यकता है क्योंकि अन्न का उत्पादन फैक्ट्री में नहीं किया जा सकता है।

अतः कहा जा सकता है कि भूमंडलीकरण ने सिर्फ आर्थिक क्षेत्र में ही हस्तक्षेप नहीं किया है। हर क्षेत्रा में उसकी दूर तक पहुंच है। गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक का इस विषय में यह कहना एकदम सत्य है कि हमारे लिए यह चिंता का विषय है कि उत्तर–औपनिवेशिक भारत तथा उसका हृदय जनकल्याणकारी चरित्रा, कितना हाशियों, आदिवासियों, किसानों, मजदूरों के प्रति असंवेदनशील है।

संदर्भ

1-संजीव, पफाँस, वाणी प्रकाशन, पृ. 205
2.प्रेमचन्द, पूस की रात, राजकमल प्रकाशन
3.अकाल और उसके बाद, नागार्जुन, राजकमल प्रकाशन
4.बाजार में रामधन, कैलाश बनवासी
5.संजीव, पफाँस, वाणी प्रकाशन, पृ. 49
6.वही, पृ. 111
7.संजीव, पफाँस, वाणी प्रकाशन, पृ. 197
8.वही, पृ. 69
9.संजीव, पफाँस, वाणी प्रकाशन, पृ. 17
10.वही, पृ. 63
11.संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन, पृ. 15
12.वही, पृ. 15
13.वही, पृ. 145

*****

कुडमालि भाषा क्षेत्र में हिन्दी का प्रवेश एवं प्रभाव

--पाण्डव महतो
शोधार्थी
बिनोद बिहारी महतो कोयलांचल विश्वविद्यालय,
धनबाद

(बीज शब्द : कुड़मालि क्षेत्र, आदिम, राड़–सभ्यता, राढ़ि, जनगोष्ठी, जनजातीय, पछमाहा, पैठ,संस्कृतिकरण,

धर्म–प्रचारक, मैदानी, पठारी, मिशनरी।)

कुड़मालि भाषा क्षेत्र मुख्यतः छोटानागपुर के पठार एवं इसके समीपवर्ती क्षेत्रों विशेषकर पूर्वोत्तर उड़ीसा एवं पश्चिम बंगाल के जंगल. महल क्षेत्र से लेकर राजमहल की पहाड़ियों तक विस्तृत हैं। अंग्रेज काल में छोटानागपुर क्षेत्र से असम के चाय बागानों में काफी संख्या में कुड़मि सहित अन्यान्य जनजाति गोष्ठी के कामगारों को ले जाकर बसाये जाने के कारण असम में भी लगभग छः लाख से अधिक कुड़मालि भाषी लोग पाये जाते हैं। इस कारण कुड़मालि को कई विद्व ानों ने अंतर्राजकीय भाषा भी कहा है। कुड़मालि मात्र एक भाषा ही नहीं वरन् एक आदिम संस्कृति व सभ्यता का नाम है। कुड़मालि भाषा क्षेत्र की इस सभ्यता का एक लोकप्रिय नाम 'राड़–सभ्यता' है जो मूख्यतः दामोदर और स्वर्णरेखा नदी के मध्य क्षेत्र में पल्लवित पुष्पित हुई थी। वर्तमान दौर में कुड़मालि–संस्कृति सभ्यता की अवशेष अत्यल्प मात्रा में ही क्षीण अवस्था में दृश्यमान होने के कारण है कुड़मालि क्षेत्र में हिन्दी सहित अन्यान्य भाषाओं का आगमन एवं शासन तंत्र में कुड़मालि भाषा की अस्वीकार्यता। एक समय जब निचले मैदानी क्षेत्रों से छोटानागपुर पठार की उच्च भूमि के जनजातीय समुदायों का संपर्क नहीं हो सका था उस समय यहाँ की अलग–अलग जनजातीय कबिलों की अलग–अलग स्वतंत्र सामुदायिक भाषा सृजित एवं विकसित हुई थी। इसी तरह संथाल समुदाय की भाषा– 'संथाली', मुंडा समुदाय की भाषा– 'मुंड़ारी', कुड़मि की भाषा– 'कुड़मालि' एवं हो की भाषा– 'हो' इत्यादि के रूप में जानी जाती है। चारों ओर से यह उच्च क्षेत्र सघन वनों से घिरे होने के कारण तथा अन्य भाषा–भाषी समुदायों के संपर्क नहीं होने के कारण आदिम काल से लेकर मध्ययुग के राजतंत्र काल तक शेष भारत से यहाँ का अधिकांश पठारी क्षेत्र लगभग अछूता रहा था। मगध क्षेत्र से निकट होने के कारण कुड़मालि भाषा के साथ सर्वप्रथम मगही–हिन्दी भाषा का संपर्क हुआ तथा मगही शैली में शनै–शनै पश्चिमोत्तर 'राड़–क्षेत्र' की कुड़मालि भाषा का उच्चारण किया जाना आरंभ हुआ। डा. वीर भारत तलवार के शब्दों में, ''हिन्दी के साथ–साथ बँगला, उड़िया जैसी आधुनिक भाषाओं का विकास निरंतर करती आ रही है। पिछले सात–आठ सौ सालों के दौरान ये भाषाएँ कही भी सरकारी भाषा के पद पर नही रहीं।''[1]

12वीं सदी के पहले मगही भाषी के कई जातियाँ यथाः 'कोइरी', 'कुम्हार', 'तेली', तथा 'बनिए' जैसी व्यावसायिक जातियाँ छोटानागपुर पठार में प्रवेश करने में कामयाब रही और उनकी भाषा–संस्कृति के साथ उच्च भूमि के वन क्षेत्र में बसे जनजातीय समुदाय में उनकी पैठ बनने लगी। इनके यहाँ के भूमिपुत्रों के बीच एक सम्पर्क होने के फलस्वरुप हिन्दी–मगही एवं कुड़मालि के मिश्रण से एक अन्य मिश्रित भाषा का सृजन होना आरंभ हुआ जिससे 'नागपुरी' कहते है। वस्तुतः गांव के अधिकांश लोग इसे 'सादरी' या 'सदानी' कहते है, वही पढ़े–लिखें लोगों ने इसे नागपुरी नाम दिया।[2] संभवत कुछ इसी तरह 'खोरठा' एवं पंचपरगनियाँ भाषा भी लोकप्रिय हुई। उक्त भाषा ने यहाँ के लिए सेतु का काम किया। संपर्क भाषा के रूप में इस क्षेत्र में तेजी से विस्तार होते हुए देखा गया । मगही भाषा के अलावा हिन्दी के साथ अन्य बिहार प्रांतों की भाषा का आगमन काफी बाद में हुआ, जब कुड़मालि भाषा क्षेत्र में औद्योगिक स्थापनाओं का दौर आरंभ हुआ। सर्वप्रथम 1907 ई. में स्थापित टाटा का लौह–इस्पात कारखाना ने देशभर के लोगों को यहाँ लाने व बसाने का कार्य किया। इससे पूर्व छोटानागपुर का पठारी भू–भाग बंगाल की नवाब के अधीन रहने के कारण यहाँ के कुड़मालि भाषी क्षेत्र पर बंगला भाषा ने भी अपनी पैठ बनायी। कुड़मालि भाषा के सम्मिश्रण से कुड़मालि–बंगला मिश्रित एक स्थानीय संपर्क भाषा 'राड़–बंगला', 'राढ़ी–बंगला' या 'मानभुंयाँ' नाम से भी लोकप्रिय हुई जो वर्तमान में कुड़मालि क्षेत्र के पूर्वी एवं दक्षिणी क्षेत्र आज भी फल–फूल रही है।[3] इस क्षेत्र में विशेषकर सिंहभूम एवं जंगलमहल क्षेत्र के जिला के अलावा धनबाद, जामताड़ा आदि जिले भी सम्मिलित है।

इस प्रकार कुड़मालि भाषी क्षेत्र में अंग्रेजी शासन काल में जब जन शिक्षा का प्रचार–प्रसार का दौर आरंभ हुआ तो यहाँ के मु ख्यतः कम्पनी केन्द्रों में बसने वाली बहिरागत व्यापारियों ने शिक्षा केन्द्रों की स्थापना की और वर्नाकुलर शिक्षण व्यवस्था से यहाँ के लोगों का परिचय हुआ जिसके तहत मुख्यतः यहाँ बंगला एवं अंग्रेजी

तथा कहीं कहीं उर्दू एवं अंग्रेजी के शिक्षण संस्थाओं में लागू किया गया। यह समय कुड़मालि क्षेत्र में शैक्षणिक विकास की पहली सीढ़ी बनी। 1922 ई. में पहली बार हिंदी भाषा को शिक्षण व्यवस्था में जोड़ा गया लेकिन उस समय तक स्थानीय बोलियों का अनेक भू–भाग उर्दू में समाहित होकर एक जनप्रिय रूप में प्रचलित शिक्षण माध्यम बन चुकी थी। उस दौर के प्रख्यात साहित्यकार 'प्रेमचंद' भी उर्दू के सिद्ध–हस्त लेखक के रूप में स्थापित हो चुके थे। पर उर्दू में लिखने का मतलब यह नही था कि उनकी कहानी के किस्से इस्लाम से जुड़े हों। स्थानीय एवं लोक–चरित्रों को धुरी पर रखकर उन्होनें कई लोकप्रिय उपन्यास रचे, पर बाद में हिन्दी में उनका लेखन–कार्य उर्दू से भी अधिक लोकप्रिय साबित हुआ। हिन्दी लेखन में 'द्विवेदी युग' और 'प्रेमचंद युग' की अहमियत सर्वाधिक रही। रामधारी सिंह 'दिनकर' भी उसी दौर के सशक्त साहित्यकार के रूप में हिन्दी जगत में प्रसिद्ध हुए। लेकिन ये सारी घटनाएँ मैदानी भारत की साहित्यिक हलचलें थी। उच्च पठारी क्षेत्र में भारतीय शिक्षा व्यवस्था का पदार्पण अंग्रेजों के आगमन के समय से आरंभ होता है।

अंग्रेजी शिक्षा का दौर आरंभ होने के पहले तक सार्वजनिक शिक्षा का प्रचलन नहीं रहने के कारण छोटानागपुर पठारी क्षेत्र में बसने वाले तमाम जनजाति समुदायों के बीच सिर्फ उनकी अपनी भाषा ही आपस में अभिव्यक्ति का माध्यम बनी हुई थी। उर्दू, अंग्रेजी एवं हिन्दी का प्रचलन राज–काज संबंधी आवश्यकताओं के कारण लागू की गयी। ये भाषाएं लिखी और पढ़ी जा सकती थी। लेकिन जनजातीय भाषाएं सिर्फ बोली और सुनी जा सकती थी, इन्हे लिखने का प्रचलन बिलकुल नहीं था। आज भी कमोबेश यह स्थिति बनी हुई है। इसका एक मुख्य कारण प्रचलित लिपियों यथा कैथी, नागरी, रोमन इत्यादि में इन जनजातीय भाषाओं के शब्दों का सटीक उच्चारण न हो पाना है। यह समस्या अभी तक वर्तमान है। पठारी क्षेत्र के जनसामान्य से संपर्क के क्रम में सर्वप्रथम कैथी लिपि में थोड़ी बहुत यहाँ की शब्दावलियों का लेखन–कार्य यहाँ आकर बसनेवाले व्यापारी वर्ग ने आरंभ किया था। कैथी लिपि 'काइथ' या 'कायस्थ' जाति द्वारा विकसित की गई लिपि थी। इस लिपि में यहाँ की विशेषकर जमीन एवं व्यापार संबंधी नामों का उल्लेख मिलता है। परन्तु कैथी राज–काज की लिपि नहीं थी। अतः उर्दू और अँग्रेजी के आगे कैथी नहीं बढ़ पायी और मात्र व्यापारिक गतिविधियों का लेखन–कार्य तक में सिमट कर रह गयी। फारसी और रोमन लिपि के राजकीय संरक्षण के बावजूद हिन्दी ने जनसाधारण के साथ जुड़ने के सफल प्रयास किया। इसका एक मुख्य कारण हिन्दी में स्थानीय एवं प्रचलित शब्दों का समावेश होना आसान था जबकि उर्दू और अंग्रेजी में ये बात संभव नहीं थी। हिन्दी शब्दों के देशज शब्दों में प्रयुक्त अनेक शब्द कुडमालि से लिये गये हैं। जैसे– बोहनी, जातरा, पारन, उपास, बेरा आदि।

इस क्षेत्र में हिन्दी का यह प्रयोग आशातीत रूप से सफल रहा और छोटानागपुर उच्च भूमि क्षेत्र की जनभाषाएं यथा कुड़माली, संताली, हो, मुड़ारी भाषी जनजातियाँ भी अस्वाभाविक रूप से इन सबों के प्रति अनुरक्त होती चली गई। इस प्रकार हिन्दी का प्रभाव और वर्चस्व दिनों–दिन बढ़ता चला गया। फलस्वरूप कालांतर में कुड़माली के साथ–साथ अन्य जनजातीय भाषा–संस्कृतियों पर हिन्दी का बहुत प्रभाव पड़ा। 'झारखंड के इतिहासकारों का मानना है कि झारखंड अनार्य कबिलों का प्रदेश रहा है। यहाँ निवास करने वाले ज्यादातर जनगोष्ठियाँ कबिला के रूप में रहते थे, जिनकी अपनी निजभाषा के साथ–साथ कबिलाई संस्कृति हुआ करती थी।'[4] आज भी झारखंड के संथाल, कुड़मि, हो, मुंडा, भूमिज आदि गांवों में जन्म एवं विवाह संस्कारों का पूर्ण रूप से संस्कृतिकरण नहीं हो पाया है। परन्तु इससे इनकार भी नही किया जा सकता है कि इनके संस्कृति में बाह्य संस्कृति का प्रभाव नही हुआ।

'उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक संपूर्ण छोटानागपुर का पठारी क्षेत्र मंदिर विहीन देखा गया है।'[5] 'छोटानागपुर में आर्य परंपरा के वाहक पर्वो खासकर होली, दिवाली, छठ, रामनवमी आदि जो हिन्दी भाषी मैदानी क्षेत्रों के मुख्य पर्व थे, उनका आगमन बीसवीं सदी के आरंभ में होने की पुष्टि होती है।'[6] ठीक इसी प्रकार बंगाल से दुर्गापुजा एवं कालीपुजा ने एवं उड़ीसा से रथयात्रा एवं जन्माष्टमी जैसे पर्वों ने भी यहाँ पर आकर उपस्थिति दर्ज की। इन पर्वो को व्यापक प्रचार प्रसार के उद्देश्य से छोटानागपुर के जनजातीय क्षेत्रों मे भव्यता के साथ मनाये जाने की परंपरा विकसित की गई ताकि जनजातीय समुदाय भी इस ओर अधिक से अधिक आकर्षित हो सके। इस प्रकार छोटानागपुर पठारी क्षेत्र की कुड़माली–संस्कृति के सरहुल, जाँताड़, करम, बाँदना(सोहराइ) और टुसु जैसे पर्वो पर आर्य संस्कृति के परबों को हावी करने की सफल कोशिश की गई। परंतु कहा जा सकता है कि बहिरागत लोगों ने यहाँ की भाषा को तो अपनाया पर इनकी संस्कृति को अस्पृश्य माना।

कुड़माली भाषा क्षेत्र में हिन्दी का प्रवेश से तात्पर्य वृहत छोटानागपुर में निवास करने वाले कुड़माली भाषी के द्वारा जिस दौर में दैनिक जीवन में हिन्दी भाषा का प्रयोग करना आरंभ किया गया

अर्थात जिस कालक्रम में कुड़मालि भाषियों ने हिन्दी का व्यवहार करना शुरू किया, निस्संदेह वही समय कुड़मालि भाषा क्षेत्र में हिन्दी का प्रवेश माना जा सकता है। समकालीन विज्ञ इतिहासकार वीर भारत तलवार के अनुसार– हिन्दी का चलन यहाँ (कुड़मालि भाषी क्षेत्र) मध्यकाल में शुरू हुआ। कुछ हिन्दू एवं द्रविड़ कबीला यहाँ आकर बस गये।

परन्तु इससे पूर्व किसी भाषा के क्षेत्र की सीमा को रे खांकित करना अत्यावश्यक है। इस संबंध में डॉ. भोलानाथ तिवारी ने कहा है– ''भौगोलिक विस्तार में स्थानीय विशेषताओं की दृष्टि से किसी क्षेत्र की भाषा का अध्ययन ही भाषा–भूगोल या क्षेत्रीय भाषा विज्ञान है।''[7] अर्थात बोली जाने वाली भाषा या बोलियों आदि में ध्व नि, सुर, शब्द–समूह, रूप, वाक्य–गठन तथा मुहावरे आदि की दृ ष्टि से कहाँ–कहाँ, क्या–क्या अन्तर या विशेषताएँ है। इस प्रकार अध्ययन में किसी क्षेत्र के अनेक स्थानों की भाषा का वर्णनात्मक अध्ययन किया जाता है और फिर उन विभिन्न स्थानों की भाषा विषयक विशेषताओं का तुलनात्मक अध्ययन कर यह निश्चय किया जाता है कि कितने स्थानों की भाषा लगभग एक–सी है और स्थ. ानीय अन्तर प्रायः नहीं के बराबर है तथा किस–किस स्थान से भाषा में अन्तर आने लगा है और वह अन्तर कहाँ थोड़ा है और कहाँ अधिक। साथ ही कहाँ से भाषा में इतना परिवर्तन आरम्भ हो गया है कि एक क्षेत्र का व्यक्ति दूसरे क्षेत्र की भाषा को समझ न सके। इन बातों का निर्धारण हो जाने पर यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि उस क्षेत्र में इतनी भाषाएँ है और उनके क्षेत्र अमुक स्थान तक है। साथ ही, प्रत्येक भाषा के अंतर्गत आने वाली बोलियों और बोली के अन्तर्गत आने वाली उपबोलियों एवं उनके क्षेत्रों तथा एक–दूसरे से अलग करने वाली प्रमुख विशेषताओं आदि का भी निर्धारण किया जाता है।

छोटानागपुर पठारी क्षेत्र में हिन्दी भाषा का पदार्पण पहली बार राँची क्षेत्र में हुआ। सर्वप्रथम ईसाई मिशनरियों ने इसे हिन्दी पत्रिका के रूप में शुरुआत की थी। इसके पीछे ईसाई धर्म का प्रचार करना था, पर उसमे इसके अलावे स्थानीय समाचार के साथ–साथ देश–विदेश की खबर भी हुआ करता था। 'वर्ष 1872 ई. में लिथो प्रेस की स्थापना हुई और उसी समय हिन्दी एवं स्थानीय भाषा में 'घर बन्धु' नाम की धार्मिक पत्रिका का प्रथम अंक प्रकाशन हुआ था, जिसका आज भी प्रकाशन कार्य हो रहा है।'[8]

'झारखंड की एक महिला जिस समय महिला को बाहर भेजना गुनाह समझा जाता था, उस समय सुशिला नाम की आदिवासी लड़की ने 1932 ई. में 'विनोदिनी' एवं 1934 ई. में 'विदूषी' उत्तीर्ण की थी। वह उस समय एकमात्र आदिवासी महिला थी जिसे हिन्दी में विदूषी का गौरव प्राप्त हुआ। आगे जाकर उन्होने 'आदिवासी' एवं 'चाँदनी' नामक हिंदी पत्रिका का संपादन भी किया।' [9]

कुड़मालि, संताली, हो खड़िया, कुडुख, मुड़ारी आदि में से कुड़मालि ही बहिरागतों द्वारा थोड़ी बहुत समझने लायक रहने के कारण आव्रजित लोग यहाँ के क्षेत्र में पदार्पण कर टिक पाए। कालांतर में कुड़मालि के साथ मगही का संयोग होने से उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक यह संपर्क भाषा के नये रूप में उभरा जिसे ' खोरठा' नाम से जाना जाने लगा। कुड़मालि भाषा क्षेत्र में खोरठा के माध्यम से हिन्दी के प्रचार–प्रसार को और अधिक बल मिला और हिन्दी को राजभाषा घोषित होने पर धीरे–धीरे हिन्दी का प्रचलन सर्वमान्य स्वरूप लेने लगा। इससे कुड़मालि भाषी क्षेत्र में हिन्दी एवं इसपर आधारित संस्कृति का भी पदार्पण हुआ। हिन्दी क्षेत्र के लोगों को उस काल में कुड़मालि भाषी लोगों द्वारा एक विशिष्ट नाम 'पछा' या 'पछमाहा' नाम से जाना जाता था। 22 मार्च 1912 ई. में बंगाल से बिहार राज्य के अलग हो जाने के पश्चात हिन्दी बिहार की राजभाषा बनी और समस्त सरकारी कामकाज हिन्दी में होने आरंभ हुए। छोटानागपुर का मुख्य पठारी क्षेत्र भी बिहार राज्य के अंतर्गत रह गया। इसे सामान्यतः दक्षिण बिहार का क्षेत्र कहकर पुकारा जाता था। बिहार सरकार के सरकारी विद्यालयों में हिन्दी भाषा को माध्यम बनाये जाने के कारण कुड़मालि भाषी बच्चों का सामना इस नयी भाषा से हुआ।

12 जुलाई 1960 ई. में राँची में विश्वविद्यालय की स्थापना होने पर दक्षिण बिहार में उच्च शिक्षा के द्वार खुले। इस प्रकार छोटानागपुर के जनजातीय क्षेत्रों में हिन्दी का साधिकार प्रवेश और प्रचार–प्रसार ने जनजातीय जीवनशैली को हिन्दीमय किया तथा हिन्दी भाषा के साथ–साथ हिन्दी क्षेत्र के संस्कृति ने भी पैठ बनानी शुरू कर दी। इस प्रकार बिहार सरकार के सानिध्य में हिन्दी क्षेत्र से आये अधिकारियों ने कुड़मालि क्षेत्र में हिन्दी को स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

कुड़मालि भाषा के शब्दों पर हिन्दी का प्रभाव :

संसार में अनेक भाषा, उपभाषा एवं बोलियाँ पाई जाती है। सभी भाषाओं की अपनी मौलिक शब्द है। उसी मौलिक शब्द समूह

के कारण वह अलग भाषा के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करती है। मौलिक शब्द का आधार उद्भावना से जुड़ा होता है जिसका अपना एक सिद्धांत होता है। डॉ. भोलानाथ तिवारी ने रचना के आधार पर शब्दों को 'रूढ़', 'यौगिक' एवं यौगरूढ़ ये तीन भेद का उल्लेख किया है।''[10]

कुड़माली में अनेक स्थानापन्न हिन्दी शब्दों का प्रयोग देखा जा सकता है, जो निम्नलिखित है –

संज्ञा शब्दों पर प्रभाव :–

कुड़माली	**हिन्दी**	**कुड़माली**	**हिन्दी**	**कुड़माली**	**हिन्दी**
खेरइ	खलिहान	साँकार	कचड़ा	नेहर	प्रार्थना
चास	खेती	हड़	मनुष्य	सँखडि	जूठन

क्रिया शब्दों पर प्रभाव :–

कुड़माली	**हिन्दी**	**कुड़माली**	**हिन्दी**	**कुड़माली**	**हिन्दी**
अना	सुनना	सँड़हा	पीना	आन	लाना
सँड़गा	सोना	ढकना	निगलना	कांदा	रोना

इस प्रकार देखा गया कि हिन्दी भाषा से प्रभावित होकर कुड़माली के क्रिया–पद के स्थान पर हिन्दी के क्रिया पद व्यवहृत होने लगे है। यही नहीं हिन्दी के प्रभाव से कुड़माली के विशेषण शब्द के स्थान पर हिन्दी के विशेषण शब्दों का प्रयोग भी आरंभ हुआ।

विशेषण शब्दों पर प्रभाव :–

कुड़माली	**हिन्दी**	**कुड़माली**	**हिन्दी**	**कुड़माली**	**हिन्दी**
दड़ह	तगड़ा	टुना	नाटा	नुनछा	नमकीन
अदा	गीला	घिसटा	गंदा	भालअ	अच्छा
ढाँगा	लम्बा	चड़का	सादा	गुड़िअ	मिठा

इसी तरह कुड़माली भाषा में हिन्दी शब्दों का प्रचलन शनै–शनै सामान्य सा होने लगा है। हिन्दी का प्रभाव यही तक सीमाबद्ध नही रहा, बल्कि कुड़माली के जनजातीय संस्कृति का भी आंशिक संस्कृतिकरण हुआ है।

नाम संबंधी प्रभाव :–

हिन्दी से केवल कुड़माली भाषा–संस्कृति ही नही अपितु कुड़माली से संबद्ध विभिन्न वस्तु, व्यक्ति, स्थान, रिश्ते–नाते आदि के नामों में भी परिवर्तन आया है।

वस्तु के नाम संबंधी प्रभाव :

कुड़माली	**हिन्दी**	**कुड़माली**	**हिन्दी**	**कुड़माली**	**हिन्दी**
पेछिआ	टोकरी	आड़सि	दर्पण	माइछ	मछली
झला	थैला	बाड़िन	झाड़ु	पइना	डंडा
गरू	बैल	सड़प	सड़क	काँकुआ	कंघी
भात	चावल	कपाट	दरवाजा	जालना	खिड़की

व्यक्ति के नाम संबंधी प्रभाव :

कुड़माली–संस्कृति में नामकरण करने का आधार चारों ओर फैले प्रकृति वस्तुओं के नाम, गुण–धर्म, समय, घटना, दिन–माह एवं बाद में हिन्दी भाषा व संस्कृति के प्रभाव से नामों में परिवर्तन आया है। लड़का–लड़कियों का नामकरण अधिकतर पेड़, फूल–फल साग–लता, आदि के नाम से रखा जाता था। जैसे – सुरूज, पलास, अघनु, चइतु, पुसा, बुटन, खडुआ, मुकुल, पड़कु, काँदन, गेंदा, फुला, चम्पा, कुसुम, चेथरि, महुआ, पानपति, लता, हेमलता, भादरी, बुधुआ, रबनि, सुकरि, शनिचरि, मेघु, बैशाखी, पुष्पा, संध्या, बेला, चाँदमनी, तारा, इत्यादि। वही हिन्दी भाषा–संस्कृति के प्रभाव से नामों में शिष्टता आयी है। इस तरह वर्तमान समय में लड़का–लड़कियों के नाम कुछ निम्न प्रकार से देने का प्रचलन बढ़ा है– पाण्डव, महादेव, राकेश, लक्ष्मीकांत, मधुसुदन, लम्बोदर, राजीव, पंकज, सीता, गीता, राधा, नितु, मनिषा, प्रियंका, लक्ष्मी इत्यादि। इसी तरह रिस्ते–नाते संबंधी नामों में भी प्रभाव आया है।

स्थान के नाम संबंधी प्रभाव :

कुड़माली	हिन्दी	कुड़माली	हिन्दी	कुड़माली	हिन्दी
धानबाइद	धनबाद	पाइड़ाजारा	पिण्ड्राजोरा	पुरूइला	पुरलिया
परधनखुंटा	प्रधानखंता	बेकारबांध	राजेन्द्रसरोवर	पेटरबाइद	पेटरवार

रिस्ता–नाता के नाम संबंधी प्रभाव :

कुड़माली	हिन्दी	कुड़माली	हिन्दी	कुड़माली	हिन्दी
भाटु	जीजा	खुड़ा	भतीजा	काका	चाचा
गुँगु	ताऊ	फुफु	बुआ	आजि	दादी
भेसुर	जेठ	गतनि	जेठानी / देवरानी	आजा	दादा
दादा	भैया	भाइ	भाई	बहिन	बहन
माञ	मैया	पुता	बेटा	धिइआ	बेटी

सांस्कृतिक प्रभाव :–

भारतीय विद्वान मजुमदार के शब्दों के अनुसार– ''सांस्कृतिक उत्पाद सामाजिक ढाँचे एवं लक्षणों का कुल योग है।''[11] यह ज्ञानार्जन में महत्वपूर्ण योगदान देती है। अतः संस्कृति से तात्पर्य उन सभी भौतिक तथा भौतिक वस्तुओं से है जिसका संबंध ा मानव समाज के साथ हैं कृषि, उद्योग, सामाजिक संगठन, भाषा, साहित्य कला, विश्वास, परंपराएं, धर्म, दर्शन, रीति, आदर्श आदि संस्कृति में समाहित है। प्रत्येक समुदाय की अपनी संस्कृति होती है जो निरंतर संस्कारित होकर स्वरूप बदलती रहती है। ध्यातव्य है कि प्रत्येक संस्कृति में सांस्कृतिक तत्व विद्यमान होती है। ''कुड़माली–संस्कृति के प्रमुख तत्व कुछ इस प्रकार है– पर्व–त्यौहार, पूजा–अर्चना, नित्य–नियम, गीत–संगीत, सहित विभिन्न प्रकार की संस्कार (जन्म, मृत्यु एवं विवाह) आदि।

पर्व–त्यौहारों में प्रभाव :–

पर्व–त्यौहार मनुष्य के जीवन में अपनों के बीच रिश्तों को मजबूत करने के साथ–साथ सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक मूल्यों की पहचान कराते है। इसके जरिए लोग अपने प्रियजनों से मिलकर अपने जीवन की तनाव को कम कर एक दूसरों को सुख–दुख बाँटते है। अक्सर देखा गया है कि वर्षो पुरानी मनमुटाव या एक–दूसरे के विरोधी लोग पर्व–त्यौहार के समय एक साथ मिलजूल कर कार्यक्रमों में भाग लेते एवं खाना–पीना करते। उनकी वर्षो पुरानी दुश्मनी भी पर्व–त्यौहार के कारण दोस्ती में बदलते देखा गया है। इसलिए पर्व–त्यौहार मनुष्य के जीवन में नवीन चेतना का संचार करते हुए उनकों सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक इत्यादि प्रभाव छोड़ जाते हैं।

हिन्दी संस्कृति के पर्व–त्यौहारों के संपर्क में आने के कारण कुड़माली–संस्कृति के पर्व–त्यौहारों ने काफी प्रभावित किया है जिसके कारण इनके कई पर्व–त्यौहारों में विकृति आ गई है। प्रभावित करनेवाली पर्व–त्यौहारों का विवरण नीचे दिया गया।

दीपावली का प्रभाव – हिन्दी के साथ–साथ बंगला संस्कृति ने भी कुड़माली–संस्कृति को काफी प्रभावित किया है इस संबंध में वीर भारत तलवार का कहना है– ''पश्चिम बंगाल के कुड़मि बहुल क्षेत्र में बिहा एवं बाँधना परब के गीतों में 50 प्रतिशत बंगला एवं टुसु गीतों में शत–प्रतिशत बंगला घुसी हुई है।'' [12]

कुड़माली–संस्कृति में हिन्दी संस्कृति का पर्व दीपावली ने काफी प्रभावित किया है। दीपावली हिन्दू कैलेण्डर के अनुसार कार्तिक अमावस्या को होती है जो अंधकार पर प्रकाश की जीत का उत्सव मनाया जाता है। उसी दिन सदियों से चली आ रही कुड़माली–संस्कृति में सहराइ पर्व मनाने की प्रथा है, जो कि 'कुड़माली दिनपाँजी' के अनुसार जितिआ परब के बाद से ही सहराइ पर्व की पदार्पण हो जाती है। परन्तु कार्तिक अमावस्या के दो दिन पूर्व से लेकर अमावस्या के दो दिन बाद तक प्रथागत रीति–रिवाजों के अनुसार मनाया जाता है। हिन्दू संस्कृति के प्रभाव से इस पर्व को दिवा. ली/दीपावली के नाम के चादर से सहराइ पर्व को ढकने की कोशिश की जा रही है। कहीं–कहीं मुर्ति पूजा प्रचलन में आया है। श्री वीर भारत तलवार जी ने स्पष्ट कहा है कि– ''कुड़मि समाज के कुछ धनी लोगों ने यह साबित करने की कोशिश किया है कि झारखंड के कुड़मि जाति और उत्तर भारत की हिन्दू कुर्मी जाति एक ही है। लेकिन झारखंड के कुड़मि, हिन्दूओं का प्राचीन परब दिवाली नही मानते हैं, ये सोहराइ मानते हैं जो दिवाली के आस–पास ही पड़ता है, लेकिन जो दिवाली से एकदम भिन्न पशुधन की पूजा का परब है।''[13]

जन्माष्टमी का प्रभाव – कुड़माली–संस्कृति में मनसा पूजा श्रावण संक्रान्ति के अवसर पर की जाती है तथा जिस घर में किसी कारण श्रावण संक्रांति को मनसा पूजा नही हो पाता है वे लोग भाद्र एवं आश्विन सक्रांति को करते है। 'इस पूजा में विशुद्ध रूप से पानी की आराधना किया जाता है, जिसमे बलि के रूप में बतख एवं बकरा देने की प्रथा है।'[14] परन्तु यहाँ भी हिन्दी संस्कृति (हिन्दू धर्म) के प्रभाव से पूजन–पद्धति में बदलाव देखे जाते है । जहाँ आरूआ चावल, दुबघास, दूध, घाटरा पिठा के साथ पाहुड़ बलि में बकरा एवं बतख देकर पूजा संपन्न किया जाता है। वही कुछ संपन्न परिवार में घट, सालु, नारियल एवं पैसा आदि भी चढ़ाया जाता है। साथ ही इसी समय हिन्दू संस्कृति में जन्माष्टमी का व्रत महिलाएँ रखती है जिसके कारण पाहुड़ बलि नही की जाती है। इसके कारण कई परिवार के लोग बाद में मनसा पूजा करते है। इसी तरह चैत्र माह में होने वाली रामनवमी ने भी कुड़माली–संस्कृति को कुछ हद तक प्रभावित किया है।

रामनवमी का प्रभाव – हिन्दी भाषी प्रदेशों में रामनवमी को श्री राम जी के जन्मोत्सव के रूप में मनाया जाता है। इस पर्व के समय पर झारखंड क्षेत्र में हालिया वर्षो में हनुमान झंडा स्थापित करने का प्रचलन काफी तीव्रगति से बढ़ा है। इस महावीर झंडा को आँगन में *'भुतपिढ़ा'* के सामने गाड़ा जाता है। ज्ञात होना चाहिए कि 'उस भुतपिढ़ा से सटा कर विभिन्न पर्वो में बलि दी जाने की परंपरा है।'[15] परन्तु जब हनुमान झंडा गाड़ते है, तो बलि के देने के कारण रक्त से अपवित्र न हो इसलिए कई बार बलि देने की परंपरा बंद करनी पड़ती है। कई लोग तो दोनों विधान को मानते है और उसी आँगन में भुतपिढ़ा से दूर बलि दिया जाता है।

निष्कर्ष : उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण व विवरण से स्पष्ट होता है कि कुड़मालि भाषा संस्कृति के वाहक कुड़मि जनगोष्ठी की भाषा–संस्कृति के साथ–साथ साहित्य को हिन्दी ने अपने सरलतम गुण से काफी प्रभावित किया है। इसके पीछे भारतवर्ष में भक्ति आन्दोलन, विदेशियों का आगमन, सरकारी कामकाजी व्यवस्था एवं कुड़मालि भाषी लोगों का लिखने–पढ़ने का अवसर हिन्दी माध्यम से प्राप्त हुआ। अतः इसका प्रभाव स्वाभाविक है। वस्तुतः कुड़मालि भाषा–संस्कृति को हिन्दी ने काफी प्रभावित किया हैं। अंततः यही कहा जा सकता है कि– ''किसी भी जनगोष्ठी के लिए यदि भाषा दूध है तो उनकी संस्कृति घी होगी है। अतः भाषा, संस्कृति की वाहक होती है।''

संदर्भ सूची :–

1.तलवार, वीर भारत, 'झारखंड के आदिवासियों के बीच', भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2012, पृ. सं. – 288

2-वही, पृ. सं. – 259

3. महतो, डॉ. वृन्दावन, 'कुड़मी समुदाय की सांस्कृतिक धार्मिक परम्परा', के. के. पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण– 2018, पृ. सं. – 111

4.तलवार, वीर भरत, 'झारखंड के आदिवासियों के बीच', भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली,दूसरा संस्करण, 2012, पृ. सं. – 210

5.प्लैटनर, एफ. ए., 'क्रिश्चियन इंडिया टैम्स एंड हड़सन, 1957 लंदन, पृ. सं. – 116

6.तलवार, वीर भरत, 'झारखंड के आदिवासियों के बीच', भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2012, पृ. सं. – 288

7.तिवारी, डॉ. भोलानाथ, 'भाषा विज्ञान', किताब महल, इलाहाबाद, सत्तावनवां संस्करण– 2013, पृ. सं. – 431

8.Scholarly Research Journal for Interdisciplinary Studies, Online ISSN 2278-8808, SJIF 2021 page- 17763

9.वही, पृ. सं. – 17764

10.तिवारी, डॉ. भोलानाथ, 'भाषा विज्ञान', किताब महल, इलाहाबाद, सत्तावनवां संस्करण– 2013, पृ. सं. – 398

11.महतो, पुलकेश्वर, और महतो अदित्य कुमार, 'कुड़मालि साहित्य–संस्कृति का संक्षिप्त इतिहास', मानव प्रकाशन, कोलकाता, प्रथम संस्करण–2021, पृ. सं. –122

12.तलवार, वीर भरत, 'झारखंड के आदिवासियों के बीच', भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली,दूसरा संस्करण, 2012, पृ. सं. – 601

13.वही, पृ. सं. – 396–397

14.केडुआर, डॉ. एन. सी. 'सारना और कुड़मालि पर्व–त्योहार' शिवांगन पब्लिकेशन, राँची, प्रथमसंस्करण – 2020 पृ. सं. – 167

15.वही, पृ. सं. – 171

*****

मरंगगोड़ा नीलकंठ हुआ उपन्यास का विश्लेषण

-दीपक ठाकुर
शोधार्थी
हिन्दी विभाग
बिनोद बिहारी महतो कोयलांचल विश्वविद्यालय,धनबाद

शोध सार – यह शोध पत्र डॉ महुआ माजी के उपन्यास 'मरंगगोड़ा नीलकंठ हुआ' पर आधारित है। उसमें निहित विविध पक्षों को इस पत्र में विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। विकिरण की समस्या और उससे प्रभावित होने वाले जनसमुदाय किस भाँति पीढ़ियों तक उसका दंश झेलते हैं, महुआ माजी ने उसे बखूबी प्रस्तुत किया है। साथ ही इस शोध पत्र में उपन्यास में वर्णित आदिवासी जीवनशैली, परंपरा एवं संस्कृति के भी विविध पक्षों को समझने का प्रयास किया गया है।

बीज शब्द – विकिरण, शस्यश्यामला, अभिशापित, बोरिशाइल्ला, रूब, होच:, प्रयोगशाला, रासायनिक, सिरींज, आण्विक

शस्यश्यामला उत्पन्न करने वाली धरती अभिशापित होकर कभी यदि हम सभी के जीने का आधार छीनने लगे तो हम किस ओर जाएंगे ? मनुष्य अपनी तमाम दुश्वारियों से भागते हुए अपनी ज़मीन की ओर वापसी करता है। हमने कोरोना की वैश्विक महामारी में कई लोगों को यह कहते सुना कि गांव जाकर अगर बच गए तो अपनी ज़मीन पर खेती करके भी गुज़र-बसर कर लेंगे। परंतु यदि यही ज़मीन ही ज़हर उगलने लगे, तो मनुष्य कहां जाएगा ? महुआ माझी झारखंड की एक जागरूक लेखिका, राज्यसभा सांसद और समाज सेवी के रूप में जानी जाती हैं। उन्होंने अपनी पहली ही पुस्तक "मैं बोरिशाइल्ला" से साहित्य जगत में बहुत ख्याति अर्जित की। उनके इस उपन्यास के अंग्रेज़ी अनुवाद को यूरोप के सबसे बड़े विश्वविद्यालय "सापिएन्जा युनिवर्सिटी ऑफ रोम" में 'मॉडर्न लिटरेचर' के बी.ए. के कोर्स में शामिल किया गया है। उन्हीं का दूसरा उपन्यास "मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ" 2012 में राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास जमशेदपुर से लगभग 30 - 40 किमी दूर स्थित जादूगोड़ा के 'मरंग गोड़ा' की कहानी है, जहां 1967 में यूरेनियम का खनन होना शुरू हुआ। फलस्वरुप वहां आसपास के कई गांवों के 30 हज़ार से भी अधिक लोग किसी ना किसी रूप में प्रभावित हुए थे। इसी मरंग गोड़ा के नीलकंठ होने की संपूर्ण कहानी और उसके विविध पक्षों को दिखाने के लिए उन्होंने लगभग चार सालों तक अंतरराष्ट्रीय स्तर का सामाजिक शोध किया। इसी तपस्या का परिणाम आज "मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ" के रूप में हमारे सामने मौजूद है। उपन्यास में 700 पहाड़ियों के जंगल में रहने वाले हो आदिवासियों की कहानी का वर्णन है जो क्रमश: पीढ़ी-दर-पीढ़ी युरेनियम के चपेट में आते गए और एक ऐसा समय आया कि उनकी समूची धरती ही नीलकंठ हो गया। उपन्यास विस्थापन, राजनीतिक प्रभाव, सत्ता के खेल, अंतराष्ट्रीय स्तर के शोध कार्य, भारत में विकिरणजनित कामों में बरती जाने वाली लापरवाही, विभिन्न देशों में रहने वाले आदिवासियों की समस्या जैसे मुद्दों पर बहुत ही विस्तार से चित्रण प्रस्तुत करता है। विस्थापन की समस्या उपन्यास के पात्र जाम्बीरा के मन में उठे इन प्रश्नों के माध्यम से बखूबी समझा जा सकता है-

" उनके कहने पर कैसे आ गए होंगे हमारे पूर्वज इन घने जंगल में रहनें? ... सोच-सोच कर हैरानी होती है जाम्बीरा को । कितने जहरीले सांप बिच्छुओं से... खूंखार बाघ,भालू हाथियों से लड़कर जंगल साफ किया होगा । फिर कोड़ - काड़ कर मनों पसीना बहाकर खेत बनाया होगा इस पथरीली जमीन पर। लोग कहते हैं यहां के पत्थर में लोहा है .... पर इस पथरीली जमीन पर उतनी मेहनत से खेत बनाकर भी क्या लाभ हुआ .... दिनभर खेतों में खटता रात को खा पीकर सो जाता ।... सिपाहियों द्वारा खदेड़े जाने या मारपीट किए जाने के बावजूद क्या जंगल से फल-मूल, लकड़ी-पत्तल लेना, शिकार करना पूरी तरह से बंद कर दिया हा आदिवासियों ने ? जंगल ही जिनका जीवन है लगभग हजार सालों से जिनके पुरखों की ये जमीन है , जिस जमीन की ससनदिरी (श्मशान) में आज भी उन पुरखो की निशानी के रूप में खड़े पत्थर गड़े हैं उनके लिए इस तरह बाहर से टपक आए लोगों द्वारा जबरदस्ती लाद दिए गए ऐसे बेमतलब के कानून को मानना संभव है क्या ? फिर वे खायेंगे क्या ? रहेंगे किधर ? जियेंगे कैसे ? "[1]

अनवरत यह सृष्टि अपने दायित्वों का निर्वहन करने में लगी रहती है परंतु इस सृष्टि में रहने वाले मनुष्य अपने दायित्वों के प्रति कभी संजीदा नहीं हो पाते हैं फलस्वरूप सम्पूर्ण मानवता के साथ-साथ सृष्टि में मौजूद हर प्राणी के लिए वो खतरा उत्पन्न करने का काम करता है । आदिवासी और आदिवासियत जंगलों के साथ अन्योन्याश्रित संबंध रखते हैं। उन्हें जंगलों से अलग कर जंगलों का दोहन करना आधुनिक सभ्यता की निशानी बन चुकी है । जिसके फलस्वरूप विस्थापन की समस्या तो उत्पन्न होती ही है इसके साथ ही सही ज्ञान के साथ जंगलों का रखरखाव करने वालों की भी कमी उत्पन्न होती है । जंगली जानवरों के व्यवहार,उनकी समझ और उनके साथ किस भाँति पेश आना है इसकी बेहतरीन समझ आदिवासियों के पास होती है। ये पंक्तियां स्पष्ट रूप से इस तथ्य को प्रस्तुत करती हैं -

"जंगल में खाली हाथ चलो तो ढेरों जानवर दिखेंगे मगर हाथ में हथियार हो तो न जाने कैसे उन्हें पता चल जाता है और वे सामने आने से कतराते हैं।"[2]

जंगली जानवरों और आदिवासियों के सहअस्तित्त्व को किसी भी प्रकार अलग करके नहीं देखा जा सकता है। उनकी अपनी सहजीविता प्राकृतिक अवयवों के साथ ही निखर पाती है । शायद इसीलिए

आदिवासियत का हर त्योहार प्राकृतिक अवयवों पर न्योछावर है । प्रकृति के निमित्त अपनी समस्त परंपराओं का अर्पण आदिवासियत की थाती है। इसके साथ ही आदिवासी भाषाओं को लेकर भी यह उपन्यास बहुत अच्छे रेखांकन प्रस्तुत करता है। आदिवासी साहित्य और इतिहास वाचिक हो सकता है । उसका बहुत बड़ा हिस्सा अभी तक लिखित दस्तावेजीकरण से वंचित है इस सच्चाई से भी इनकार नहीं किया जा सकता है परंतु उनकी भाषायी विविधता और उसके शब्द सामर्थ्य पर प्रश्नचिह्न नहीं उठाया जा सकता है। हिन्दी में जब हम एक शब्द के सहारे किसी क्रिया के समस्त पक्षों को रूपायित करते हैं तो उससे वो क्रिया तो स्पष्ट होती है परंतु उसके विविध पक्षों का पता नहीं चल पाता है परंतु आदिवासियत इसकी गहराई में उतरता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है -

"अगर कोई पेड़ या उसका कोई हिस्सा गिरा हो तो तुम लोग कहोगे – एक पेड़ गिर गया या टहनी टूट गयी । यानी एक बात को समझाने के लिए कई-कई शब्द ! फिर भी सुनने वाला बिना देखे , बिना जाने पेड़ की सही स्थिति का पता लगाने में असमर्थ ! लेकिन हम सिर्फ एक शब्द खर्च करके समझा सकते हैं कि पेड़ का कौन सा हिस्सा टूटा है, कैसे टूटा है और वह किस स्थिति में गिरा पड़ा है। 'रूब' यानी जड़ समेत पेड़ का उखड़कर गिरना । पेड़ पर चढ़े किसी व्यक्ति के भार से, उसके हाथ या पैर से लगकर कोई शाख टूटे तो उसे 'होच:' कहेंगे। 'चोए:' कहूं तो समझना पेड़ का तना तो जड़ समेत खड़ा है लेकिन उसके ऊपर का हिस्सा टूट कर गिर गया है। 'रापुड्' शब्द खड़े पेड़ की किसी डाली का, तने के बाहरी आवरण को छीलते हुए गिर पड़ना इंगित करता है तो 'टोय:' किसी फुनगी के तोड़े जाने का संकेत देता है।"[3]

जिस भाँति क्रियाएं भिन्न-भिन्न होंगी उसी भाँति क्रियाओं के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग भी किया जाएगा । दरअसल यह भाषायी समृद्धता का प्रतीक है। और प्राकृतिक तत्त्वों के साथ अपनापे का रेखांकन भी। इस तरह की कई विशेषता तो इस उपन्यास को अलहदा बनाती ही है परंतु इसकी सर्वाधिक विशेषता विविकरण जनित समस्याओं का चित्रण करना है । विकिरण से मरंग गोड़ा किस प्रकार प्रभावित होता है उसको ऐतिहासिक,सामाजिक,राजनैतिक और वैश्विक परिप्रेक्ष्यों के साथ जोड़कर यह उपन्यास प्रस्तुत करता है। मरंग गोड़ा में पीढ़ी-दर-पीढ़ी हो रहे अयाचित दोहन का जब कच्चा चिट्ठा समाज के सामने आता है तो सभी दंग रह जाते हैं। प्रस्तुत पंक्तिया विकिरण के प्रभाव को असर अच्छे से प्रतिपादित करती हैं -

"मरंग गोड़ा की जिन सड़कों, घरों की छतों तथा चहारदीवारी में यूरेनियम अयस्क खनन के दौरान निकले बेकार पत्थरों का उपयोग किया गया, वहां भी विकिरण की मात्रा अधिक पायी गयी। उन घरों में विकिरणजनित बीमारी से ग्रस्त लोगों की संख्या ज्यादा पायी गयी। मरंग गोड़ा की कई सड़कों पर, पेड़ पोधौं एवं झाड़ियों में....सबसे ज्यादा थेथर के पौधों में, घरो, के आसपास, नदी किनारे या पास के रेलवे स्टेशन पर भी यूरेनियमजनित प्रदूषण काफी मात्रा में पाया गया" [4]

जब तक लोग समझ पाए और अंतरराष्ट्रीय स्तर का जाँच हो पाया सम्पूर्ण मरंग गोड़ा नीलकंठ हो चुका था । इंसान,मकान,पेड़-पौधे हर अवयव विकिरणग्रस्त हो चुके थे। पीने का पानी, खाने का अनाज सबकुछ जहरीला बन चुका था और उपस्थित पारिस्थिकी आने वाली पीढ़ियों को भी जहरीले हवा में साँस लेने के लिए मजबूर कर रही थी । यह समस्या समस्त भारत के आदिवासी इलाकों में व्याप्त है । सरकारें और कंपनियाँ कुछ न कुछ तिकड़म जुटा कर उनके इलाकों को डंपिग ग्राउंड बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ती है। कचड़ा फैलाना और निपटान करना आसान है परंतु विकिरणजनित रासायनिक कचड़ो का क्या रास्ता निकाला जाए ? आखिर उससे जो धरा एक बार प्रभावित होती है वो उसमें पैदा होने वाली पीढ़ियों को भी लील लेती है।

"दरअसल हमारा खून तो तब और ज्यादा खौलने लगता है जब यह पता चलता है कि देश भर के तमाम परमाणु संयंत्रों से, आण्विक प्रयोगशालाओं से, अस्पतालों से परमाणु कचरों को लाकर इन्हीं टेलिंग डैमों में फेंका जाता रहा है। आप सोच सकती हैं कि हमारे साथ कितना बड़ा अन्याय हो रहा है? पूरे देश के आण्विक कचरों का डंपिंग स्टेशन हमारा ये मरंग गोड़ा है। इसीलिए तो जापान के प्रसिद्ध परमाणु वैज्ञानिक प्रोफेसर बोयदे को यहां के टेलिंग डैम में सीजियम जैसा खतरनाक बाइप्रोडक्ट मिला था। बाहर से लाये गये कचरों के कारण ही हमारा वातावरण और ज्यादा प्रदूषित हुआ। पहले की तरह ये डैम चारों ओर से खुले हुए होते तो आपको भी इनके अंदर से इस्तेमाल किए हुए सिरींज से लेकर अस्पतालों से फेंकी गयी कितनी ही आण्विक चीजें मिल जातीं।"[5]

दुख की बात यह है कि इन समस्याओं पर हमारा समाज मुखर नहीं हो पाता है जब भी ये समस्याएं चर्चा में आती है तो कुछ दिन लोग सड़कों पर उतरते हैं, विरोध करते है, सदन में कोई बिल बना दिया जाता है परंतु समस्या को जड़ से खत्म करने के लिए कोई ठोस प्रयास नहीं किए जाते हैं। सामान्य प्लास्टिक के कचड़े के निपटान के लिए सरकारें अनगिनत मुहिम चलाया करती है, विज्ञापन और जागरूकता के नाम करोड़ो पानी में बहा देती है परंतु कोई ठोस इच्छाशक्ति न होने के कारण प्लास्टिक आज तक हमारे समाज का हिस्सा है । इसी तरह अनगिनत समस्याएं है जिससे जिससे हमारा भारतीत समाज बुरे तरीके से जूझ रहा है परंतु न तो सराकारों की कोई इच्छाशक्ति दिखती है और न ही समाज का । हम सामाजिक इकाइयों के रूप में अनिश्चितताओं से घिरे रहते हैं। डॉ कर्मानन्द आर्य कहते हैं कि –

"मरंगगोड़ा नीलकंठ हुआ क्योंकि मरंगगोड़ा को नीलकंठ बना दिया गया वहाँ के आदिवासियों के भोलेपन का फायदा उठाकर।"[6]

क्योंकि आदिवासी सामान्यत: उतने मुखर नहीं होते हैं जितना की तथाकथित विकसित समाज। परंतु यह उनका भोलापन नहीं है, यह सहज जीवनशैली है। और उनकी जीवनशैली में कभी समाज के अपने लोग ही विनाश का कारण नहीं बने इसलिए वो पहचान नहीं पाते हैं कि मुखौटे में आया हुआ जो इंसान इतना मीठा बोल रहा है वो हमारा हित साधेगा या अहित । वो तो सामान्य तौर पर हर इंसान से मैत्री भाव ही स्थापित करना चाहते हैं। आर्य जी मरंगगोड़ा की समस्या को आधार बनाते हुए समूचे भारत में प्रभावित ऐसे समूहों और राज्यों के बारे में अपने व्यापक अध्ययन को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि -

"यूरेनियम खनन, नाभिकीय ऊर्जा उत्पादन, परमाणु बम एवं

विकिरणयुक्त कचरे की आदिवासी इलाकों में डपिम्ग-यूरेनियम विकिरण से जुड़े ये चार यक्ष प्रश्न हैं जिनका आदिवासी जीवन पर पड़ने वाले संहारात्मक कुप्रभाव, पर्यावरण विध्वंस एवं परमाणु निःशस्त्रीकरण जैसे तीन तीक्ष्ण कोणों से पड़ताल किये जाने की आवश्यकता ही मुख्यधारा ने महसूस नहीं की। इसका सबसे बड़ा कारण है कि मुख्यधारा ही इसका सबसे बड़ा उपभोक्ता है और जो आदिवासी उसके प्रहरी हैं वे चन्द चाँदी के पैसे पर बिकने वाले लोग नहीं हैं। यह केवल झारखण्ड की ही समस्या नहीं उड़ीसा का एक बड़ा हिस्सा भी इससे प्रभावित है। झारखण्ड के जादूगोड़ा, मेघालय के खासी हिल्स जिले की समस्या है, बल्कि कजाकस्तान, आस्ट्रेलिया, कनाडा, अमेरिका, लैटिन अमेरिका, रूस, उजबेकिस्तान, अफ्रीकी देशों आदि की भी कहानी यही है। हर कहीं पीढ़ियों को धीमी-घिनौनी मौत देती जनसंहार की ये अमानुषिक गतिविधियाँ जनजातीय इलाकों में सत्ता प्रतिष्ठानों द्वारा निर्लज्ज भाव से संचालित हो रही हैं।"[7]

समस्या समाज के केन्द्र में रहने वाली सामाजिक राजनितिक शक्तियों की मानसिकता से जुड़ा हुआ है । विकेन्द्रीकरण संविधान का अवयव तो है परंतु समाज कहीं न कहीं अभी तक उसे आत्मसात नहीं कर पाया है फलस्वरूप हाशिये पर गुजर-बसर कर रहा समाज और हाशिये पर जा रहा है। एकता के तमाम सूत्र सिर्फ सरकारी कार्यक्रमों में भाड़े पर लाए गए कलाकारों में दिखता है वरना समाज अपनी तमाम इकाइयों को आज भी एक सूत्र में कहाँ पिरो पाता है । हम कितना भी छाती गर्व से ऊँचा कर ले परंतु यह शाश्वत तथ्य है कि भारतीय समाज बाँटने में विश्वास रखता है । जाति के नाम पर, धर्म के नाम पर, राज्यों के नाम पर, परंपराओं के नाम पर, खाने के नाम पर हम किसी को खुद से अलग बताने का कोई अवसर हाथ से जाने देना नहीं चाहते हैं।

"आधुनिकता की बयार में जो मुख्यधारा की नवीन संस्कृति फल-फूल रही है वो अतिस्वार्थ और अहम् केन्द्रित है। आधुनिक समाज के जीवन मूल्य प्रतिस्पर्धा और संघर्ष प्रेरित हैं। ऐसे में आदिवासी जन जीवन इनसे दूर भागने का प्रयास करता है। जब हम आदिवासी समाज के जीवन-संघर्ष और चुनौतियों की बात करते हैं तो वैश्विक पटल पर बिखरे तमाम आदिवासी समूह एवं जनजातियाँ अपनी अस्मिता के लिए संघर्षरत दिखाई पड़ते हैं। आधुनिक समाज उनके सामने अधिक विकल्प नहीं छोड़ते हुए केवल दो ही मार्ग रखता है या तो वे मुख्यधारा का आधिपत्य स्वीकार कर लें या फिर अपने अत्यन्त सीमित संसाधनों में लुकछिप कर जीते हुए अपने भौतिक अस्तित्व की समाप्ति के लिए स्वयं को समर्पित कर दें।"[8]

परंतु सुखद यह है कि आज जब आदिवासियत चारों ओर से दोहन और शोषण का शिकार है उसी समाज से कुछ ऐसे साहित्यकार भी उभर रहे हैं जिन्होंने आदिवासी अस्मिता और संघर्षों को व्यापक सुर प्रदान किया है । आदिवासी उपन्यास, कविता, कहानी, नाटक हर विधा में ये लेखक अपनी आवाज को बुलंद कर रहे हैं। वंदना टेटे, जसिंता केरकेट्टा, अनुज लुगुन, निर्मला पुतुल जैसे साहित्यिक हस्ताक्षर अनवरत आदिवासी विमर्श पर अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। महुआ माजी का यह उपन्यास निश्चित तौर पर आधुनिक सबाल्टर्न इतिहास के दौर का एक सशक्त हस्ताक्षर है । उन्होंने अपनी व्यापक समझ को इस उपन्यास के माध्यम से पाठकों के समक्ष रखा है । इस उपन्यास ने आदिवासी अस्मिता और विमर्श के बिन्दुओं को तो समेटा ही है साथ ही विकिरण की समस्या को जमीनी स्तर पर ऐस स्वरूप प्रदान किया है जिससे इसके अध्ययनकर्ताओं के लिए भी यह किताब एक दस्तावेज का काम करती है । निश्चित तौर पर इस तरह के लेखकीय प्रयास स्तुत्य है ।

संदर्भ सूची –

1.. माजी,महुआ.मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ.नई दिल्ली : राजकमल पैपरबैक्स,2019,पृष्ठ- 46
2. माजी,महुआ.मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ.नई दिल्ली : राजकमल पैपरबैक्स,2019,पृष्ठ- 55
3. माजी,महुआ.मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ.नई दिल्ली : राजकमल पैपरबैक्स,2019,पृष्ठ- 11
4. माजी,महुआ.मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ.नई दिल्ली : राजकमल पैपरबैक्स,2019,पृष्ठ- 328
5. माजी,महुआ.मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ.नई दिल्ली : राजकमल पैपरबैक्स,2019,पृष्ठ- 361
6. लुगुन,अनुज(सं). आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध.दिल्ली : अनन्य प्रकाशन,2021,पृष्ठ - 99
7. लुगुन,अनुज(सं). आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध.दिल्ली : अनन्य प्रकाशन,2021,पृष्ठ – 100
8. लुगुन,अनुज(सं). आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध.दिल्ली : अनन्य प्रकाशन,2021,पृष्ठ – 101

*****

स्त्री अस्मिता के प्रश्न और हिंदी नाटक

-डॉ. अशोक कुमार मीणा
सहायक आचार्य (हिंदी विभाग)
शिवाजी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
मो : 9136104901

-डॉ. कंचन
सहायक आचार्य (हिंदी विभाग)
शिवाजी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

स्त्री अस्मिता का मुद्दा बीसवीं सदी के अंत में अपने चरम पर दिखाई देता है । स्त्री अस्मिता का संबंध महिलाओं के सम्मान और स्वाभिमान से जुड़ा है । स्त्री को आधी आबादी की संज्ञा दे दिये जाने के बावजूद भी उसके अधिकार वास्तव में उसकी समानता को छू नहीं पाये हैं । स्त्री की अस्मिता और उसके मानवीय अधिकार समाज में उसे मनुष्य के रूप में स्थापित करते हैं । लेकिन समाज में रूढ़ियों के कारण आज भी वह मनुष्य के रूप में स्वीकार नहीं की जाती है । स्त्री अस्मिता का प्रश्न वर्तमान चिंतन का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिसने हाशिये पर धकेल दी गई स्त्री को उठाकर केंद्र में स्थापित किया है । स्त्री अस्मिता का यह प्रश्न उसकी अस्मिता और उसके जीवन की महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर टिका है जो परिवार, समाज, धर्म, राजनीति, राष्ट्र, संस्कृति, एवं अर्थव्यवस्था आदि की संपूर्ण परिसीमाओं के पुनर्निर्धारण की माँग करता है । किसी शिशु को जन्म के समय यह नहीं पता होता कि वह स्त्री है या पुरुष । जैविक रूप से शिशु के स्त्री अंग लेकर पैदा होने के साथ समाज बिंदी लगाकर, चोटी बाँधकर घर की चौखट लांघने पर पाबंदी लगाकर एवं रसोई करना सिखाकर लिंग की कृत्रिम धारणा और विभाजक रेखा खींच देता है ।

स्त्रियों ने हमेशा कुप्रथाओं और रूढ़ियों से मुक्ति के लिए संघर्ष किया है । उन्होंने राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम में सहगामी की भूमिका निभाई है । स्त्रियों का अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष उतना ही पुराना है जितनी पुरानी पितृसत्तात्मक व्यवस्था है । पितृसत्ता अगर स्त्रियों को पुरुषों के अधीन रखने के लिए तमाम तरह के बंधनों में जकड़ देने का नाम है तो स्त्री-अस्मिता उन बंधनों से मुक्त होने के लिए विद्रोह करने और स्त्री-पुरुष की समानता के लिए संघर्ष करने का नाम है । इस संदर्भ में आशा व्होरा लिखती हैं "हमारे यहाँ मुक्ति का अर्थ पश्चिम के अर्थ में पुरुषों की सत्ता से मुक्ति कभी नहीं रहा । राज्य व देश की स्वतंत्रता का प्रश्न जब-जब सामने आया, पुरुषों की अनुपस्थिति में स्वयं सिर पर जिम्मेदारी से शत्रुओं को ललकारने में महिलाएँ पीछे नहीं हटी ।"[1]

भारत के इतिहास में लोपामुद्रा, अपाला, घोषा, गार्गी, मैत्रयी, सूर्या, देवयानी, शची, शाश्वती, श्रद्धा, कामायनी आदि स्त्रियों का विद्वतापूर्ण दार्शनिक-आध्यात्मिक चिंतन भारतीय स्त्री के लिए अपार संभावनाओं से युक्त रहा है । प्रागैतिहासिक काल में स्त्री के लिए अनुकूल स्थितियों का वर्णन करते हुए राजशेखर 'काव्यमीमांसा' में लिखते हैं "पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी कवि हो सकती हैं, ज्ञान का संस्कार आत्मा से संबंध रखता है, उसमें स्त्री या पुरुष का भेद नहीं है ।"[2] प्राकृत काल तक आते-आते समाज के नीति-निर्धारकों ने स्त्रियों पर रूढ़ियों और अंधविश्वासों का शिकंजा कसना शुरू कर दिया जिससे उनकी स्थिति में तेजी से गिरावट आने लगी । मध्यकाल तक आते-आते समाज में स्त्री पूर्ण रूप से पुरुष के ऊपर आश्रित हो गयी । उसका प्रथम कर्त्तव्य होता था अपने पति की सेवा और उसकी इच्छा की पूर्ति करना । इस दृष्टि से मध्यकाल स्त्री के चिर-पराधीनता का काल भी माना जाता है । एक तरफ जहाँ स्त्री को 'ताड़ना का अधिकारी' कहा गया वही दूसरी तरफ उसे 'महाठगनी' जैसे उपमाओं की संज्ञा दी गयी । उसे ईश्वर की प्राप्ति में बाधा माना जाने लगा । इस तरह सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में सम्मान न होने के कारण परिवार में भी उसका स्थान काफ़ी नीचे हो गया । सामंतों और अमीरों की विलासोन्मुख वृत्ति के लिए स्त्री केवल भोग-विलास का साधन बन चुकी थी ।

मध्यकाल में जहाँ एक तरफ स्त्रियों का शोषण अपने चरम पर था वही हिंदी साहित्य के भक्तिकाल में स्त्रियों के पक्ष में भी लिखा जा रहा था । सूरदास रचित 'सूरसागर' के 'भ्रमरगीत' में गोपियों की मुखरता और उन्मुक्त प्रेम की अभिव्यक्ति के माध्यम से स्त्री अस्मिता के चिन्ह दिखाई देते हैं । मीराबाई अपने अप्रतिम साहस और अभिव्यक्ति की अदम्य क्षमता से मध्यकालीन धर्म और समाज को खुली चुनौती देती हैं । 'देहवाद को चुनौती' देते हुए मीरा अपनी स्वतंत्रता का शंखनाद करती हैं और स्त्री के प्रति सदियों से चली आ रही झूठी मान-मर्यादा की परवाह न करते हुए खुद को 'अबला बौरानी' मानती हैं – "लोक लाज कुल मानि जगत की / ददू बहाय जस पानी / अपने घर का परदा कर ले / मैं अबला बौरानी ।"[3] मध्यकाल में मीरा, रामो, सहजोबाई सामाजिक क्षेत्र में और नूरजहाँ, मुमताज, रजिया सुल्तान राजनीतिक क्षेत्र में स्त्री उपेक्षा के प्रति अपनी अस्मिता और स्वतंत्रता का परिचय देती हैं और वे पुरुष प्रभुत्व के लिए चुनौती बनकर सामने आती हैं ।

आधुनिक काल की शुरूआत उन्नीसवीं शताब्दी से मानी जाती है । उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में नवजागरण की लहर के साथ स्त्री से जुड़े प्रश्नों पर गंभीरता से विचार किया जाने लगा । स्त्री जीवन की समस्याओं, कुप्रथाओं, सती प्रथा, बाल-विवाह, बहु-विवाह पर खुल कर प्रहार होने लगे । राजाराम मोहन राय, दयानंद सरस्वती, ईश्वरचंद विद्यासागर, महात्मा गाँधी, ज्योतिबा फुले सरीखे समाज सुधारकों ने स्त्री शिक्षा एवं जागरण के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये । विधवा पुनर्विवाह, विधवाओं की जीवन दशा सुधारने एवं औरतों में व्यवसाय के प्रसार-प्रचार

हेतु तमाम कार्य किये गये । सावित्री फुले, पंडिता रमाबाई, फ्रांसिना सोराबजी, रमाबाई पांडे, सरोजनी नायडू, विजयलक्ष्मी पंडित और एनी बेसेंट आदि महिलाओं ने स्त्री अस्मिता की स्वतंत्र एवं प्रतिनिधि आवाज बनकर उसकी अस्मिता से जुड़े प्रश्नों को दशा और दिशा प्रदान की। दूसरी ओर स्वतंत्रता संग्राम का राष्ट्रीय आंदोलन स्त्री अस्मिता के विकास का माध्यम बनकर उभरा। महिलाओं ने इसमें सक्रिय भूमिका निभाते हुए बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। इस संदर्भ में जयदेवा तनेजा लिखते हैं "राष्ट्रीय स्वतंत्रता के मद्देनजर भारत में सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों ने महिलाओं को सक्षम बनाया जिससे वे समाज और राष्ट्र निर्माण में अधिक सक्रिय और सार्थक भूमिका निभा सकें। इसने साहित्य और नाटक में महिलाओं के चित्रण में कुछ बुनियादी बदलाव के लिए नेतृत्व किया।"[4]

स्वतंत्र भारत के संविधान में मौलिक अधिकारों के रूप में स्त्री-पुरुष समानता का कानून जोड़ा गया। उत्तराधिकार अधिनियम 1956 के तहत लड़की को लड़के के समान 'सह-उत्तराधिकारी' माना गया। इसके साथ ही संविधान में स्त्रियों को 'मताधिकार' प्रदान किया गया। विवाह अधिनियम 1955 में विशेष आधार पर तलाक की अनुमति दी गई। बहुविवाह पर रोक लगाई गई। अनुच्छेद 39-51 के अंतर्गत स्त्री-पुरुष के 'समान कार्य-समान वेतन' का अधिकार दिया गया। व्यवसाय के क्षेत्र में प्रवेश से स्त्री को आर्थिक स्वतंत्रता मिली। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर संयुक्त राष्ट्र संघ ने वर्ष 1975 को 'अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष' घोषित किया। इससे स्त्री अस्मिता से जुड़े मुद्दों को नया आयाम मिला। महिलाओं के जीवन से जुड़े अनेक पहलुओं पर चर्चा हुई और एक नई सोच का जन्म हुआ। वर्तमान में स्त्री के प्रति बदलते नजरिये को रेखांकित करते हुए प्रभा खेतान लिखती हैं "आज स्त्री ने सदियों की खामोशी तोड़ी है उसकी नियति में बदलाव है उसके व्यक्तिगत जीवन का उद्देश्य, दर्शन, उसका मन-मिजाज सभी तो बदल रहा है।"[5]

साहित्य का सीधा संबंध समाज से है। समाज में जो भी कमियां होती हैं उसे साहित्य के माध्यम से उठाकर सही दिशा देने का कार्य किया जाता है। साहित्य में नाटक विधा को सबसे सशक्त माध्यम माना जाता है। यही कारण कि नाटक में तत्कालीन समस्याओं का चित्रण प्रमुखता से किया गया है। हिंदी साहित्य में नाटक की शुरूआत भारतेंदु से मानते हैं। भारतेंदु के समय समाज में स्त्रियों की दशा दयनीय थी, वह अत्यंत हीन अवस्था में थी। ऐसे में भारतेंदु ने 'नीलदेवी' नाटक के माध्यम से स्त्री स्वतंत्रता का चित्र प्रस्तुत किया। नीलदेवी उन राजपूत नारियों की तरह नहीं है जो विपत्ति के समय हाथ पर हाथ धरे अकर्मण्य बनी रहें और पुरुषों के पराजित होने पर खुद को जौहर ज्वाला में भस्म कर दे। नीलदेवी अपने पति सूर्यदेव के बलिदान का बदला लेकर जाति की स्वतंत्रता और अबलाओं के धर्म को बचाती है। इस तरह भारतेंदु ने इस नाटक में नीलदेवी के माध्यम से धर्मनीति और राजनीति का समन्वय दिखाकर स्त्री की परंपरागत छवि को बदला है।

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के माध्यम से जयशंकर प्रसाद ने स्त्री की स्वाधीनता, शोषण से मुक्ति, नारी अस्मिता एवं पहचान से जुड़े अहम प्रश्नों को उठाते हैं। प्रसाद इस नाटक में स्त्री की खोई हुई अस्मिता और गरिमा को पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास करते हैं। इस संदर्भ में प्रो. रमेश गौतम ने लिखा है "समाज के स्वस्थ विकास की कामना के साथ, नारी अस्मिता, नारी पहचान, नारी स्वातंत्र्य से जुड़े जटिल एवं ज्वलंत प्रश्नों को प्रसाद ने समसामयिक संदर्भों के अनुरूप 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में रूपायित किया है।" [6]"ध्रुवस्वामिनी' नाटक पुरुष के शोषण चक्र में नारी स्वातंत्र्य के उद्घोष में आधुनिक चेतना का पर्याय है। यही आधुनिक चेतना ध्रुवस्वामिनी के इन विद्रोही शब्दों में सामने आती है "मैं केवल यहाँ कहना चाहती हूँ कि पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु संयांत समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है। यह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, तो मुझे बेच भी नहीं सकते हो।"[7] सदियों से पुरुष प्रधान समाज में कैद भारतीय स्त्रियों को मुक्ति का स्वर ध्रुवस्वामिनी के आक्रोश में नारी की स्वतंत्र अस्मिता के रूप में व्यक्त होता है। वह अपने पति रामगुप्त द्वारा ठुकराकर उपहार स्वरूप शकराज को दिए जाने पर विद्रोही रूप में कहती है "ध्रुवस्वामिनी : (खड़ी होकर रोष से) निर्लज्ज ! मद्यप !! क्लीव !!! ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं? (ठहरकर) नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी। मैं उपहार देने की वस्तु शीतलमणि नहीं हूँ।"[8] इस तरह ध्रुवस्वामिनी के ये शब्द नारी मुक्ति व उसके अस्तित्व की स्वतंत्र प्रतिष्ठा करते हैं।

स्वतंत्रता के बाद समाज में आर्थिक बदलाव सामाजिक परिवर्तन का मुख्य कारण बना। शिक्षा और आर्थिक स्वतंत्रता ने नारी को एक नवीन दृष्टि दी, जिससे उनमें अपनी अस्मिता व अस्तित्व के प्रति जागृति आई। वह पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने में गौरव का अनुभव करने लगी। पुरुष उनके लिए अब देवता नहीं रह गया। आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ते कदम पुरुष को स्वीकार्य नहीं हुए फलस्वरूप दांपत्य जीवन में टकराव की स्थिति उत्पन्न होने लगी। नाटककारों ने स्त्री-पुरुष के बदलते संबंध को अपने नाटक का विषय बनाया। मणि मधुकर का 'दलारीबाई' नाटक समाज के पुराने संस्कार, अंधविश्वासों एवं रुढ़ियों पर करारी चोट करता है। बदलती सामाजिक-आर्थिक स्थितियों में नारी के 'चयन के अधिकार' के प्रश्न को इस नाटक में उठाया गया है। साथ ही यह नाटक नारी के विवाह, दांपत्य जीवन को लेकर रुढ़ मान्यताओं का भंडाफोड़ करता है, जिसमें नारी को केवल सतही और दिखावे की स्वतंत्रता दी गई है। मृदुला गर्ग का नाटक 'एक और अजनबी' बदलते सामाजिक-आर्थिक संदर्भों में नारी की अस्मिता के प्रश्न को एक नया आयाम देता है। नाटक में स्त्री पात्र शानी एक तरफ प्रेमी द्वारा उपेक्षित है तो दूसरी तरफ पदोन्नति के लिए पति द्वारा कंपनी के मैनेजर के सामने दाँव पर लगा दी जाती है। पुरुष समाज के लिए स्त्री सिर्फ अपनी महत्वाकांक्षा एवं शारीरिक इच्छापूर्ति का साधन रही है। इस नाटक में दो पुरुषों के बीच विभाजित एक नारी (शानी) की त्रासदी को व्यक्त किया गया है जो अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रही है। मृदुला गर्ग का यह नाटक पति-पत्नी के संबंधों के माध्यम से पुरुष सत्ता को कटघरे में खड़ा करता है।

मोहन राकेश का प्रयोगधर्मी नाटक 'आधे-अधूरे' मध्यवर्गीय स्त्री-पुरुष की विडंबना, विषमता और त्रासदी का विवेचन करता है। शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक प्रताड़ना को सहती सावित्री

कहती है "यहाँ सब लोग समझते क्या हैं मुझे ? एक मशीन, जो कि सबके लिए आटा-पीसकर रात को दिन और दिन को रात करती रहती है?" इस तरह एक स्त्री (सावित्री) आर्थिक दबाव के चलते पारिवारिक संबंधों के बीच अपने अस्तित्व व अस्मिता को खोजती नजर आती है। मन्नू भंडारी का नाटक 'बिना दीवारों के घर' अजीत और शोभा के माध्यम से ऐसे आधुनिक दंपत्ति की समस्या को प्रस्तुत करता है जो एक-दूसरे के स्वतंत्र व्यक्तित्व को सहन नहीं कर पाते हैं। दरअसल पुरुष प्रधान समाज में पुरुष स्त्री को अपनी निजी संपत्ति समझता है और उसे वह अपने विचारों के अनुसार ढालना चाहता है। परिणामतः पति-पत्नी में टकराव होता है और वे एक ही घर में अजनबी बन जाते हैं । नाटक में शोभा घर की चहारदीवारी से बाहर निकल कर अपने व्यक्तित्व और अस्मिता को पहचानती है लेकिन घर-परिवार और पति से वह हार जाती है। असल में नारी जीवन की यह त्रासदी रही है कि उसके लिए पुरुष के साथ जीना जितना कठिन होता है उससे ज्यादा कठिन उसके बिना जीना होता है। यह नाटक घर-परिवार के भीतर और बाहर अपनी अस्मिता एवं अस्तित्व के लिए संघर्ष करती स्त्री की कहानी को रुपायित करता है।

'माधवी' नाटक में भीष्म साहनी ने स्त्री के प्रति पुरुष के व्यवहार को लेकर शोषण और दमन की परंपरा एवं सामंतवादी मनोवृत्ति को यथार्थवादी शैली में प्रस्तुत किया है। 'माधवी' नाटक पौराणिक मिथक के माध्यम से हमें ठोस यथार्थ धरातल पर ले जाकर पूरी निर्ममता के साथ समाज में नारी जीवन की सच्चाईयों से साक्षात्कार कराती है । महलों में रानियों की यथार्थ स्थिति को बताते हुए माधवी गालव से कहती है "जानते हो, जिन रानियों से राजा को संतान नहीं मिली, महल की दीवारों के पीछे उनकी क्या गति हुई। उन्हें भोजन तक के लिए कोई नहीं पूछता था।" आज भी समाज और परिवार में नारी की यही स्थिति है। संतान नहीं होने पर या तो उसे छोड़ दिया जाता है या फिर तरह-तरह की यातनाएँ दी जाती हैं। आज भी नारी परिवार में इस उत्पीड़न से ऊबर नहीं पाई है। इस नाटक के संदर्भ में प्रो. रमेश गौतम लिखते हैं "भीष्म साहनी के इस नाटकीय प्रयास में सामंतीय-व्यवस्था में नारी की अस्मिताहीन तड़प और स्वतंत्रता की मौन कसमसाहट सनातन प्रश्न के रूप में कुलबुला रही है।"[11]

'कोमल गांधार' नाटक में शंकर शेष ने महाभारत के ऐतिहासिक प्रसंग के माध्यम से सदियों से शोषित-उत्पीड़ित नारी के रूप को उभारा है। राजनीतिक षड्यंत्रों के तहत गांधार और हस्तिनापुर का पुरुष वर्ग गांधारी पर अपनी इच्छा थोप देता है । गांधारी अपनी व्यथा पर आक्रोश प्रकट करती हुई कहती है "मेरी सहमति का कोई अर्थ नहीं है क्या ? क्यों नकार दिया गया मेरे अस्तित्व को पूरी तरह ? राजनीति इतनी क्रूर होती है क्या ? राजरक्त से जन्मे एक शरीर से ज्यादा कुछ नहीं समझा गया मुझे। क्यों ?"[12] यह नाटक नारी पर अत्याचार करने की प्राचीन परंपरा पर प्रहार करते हुए अनेक प्रश्न खड़े करता है और राजनीतिक हित के चलते नारी शोषण के मिथक को नये संदर्भों में उद्घाटित करता है। अपनी अस्मिता व अधिकारों के लिए पुरुष सत्ता को प्रश्नांकित करती गांधारी महाभारत युगीन नारी नहीं बल्कि आधुनिक नारी के रूप में हमारे सामने आती है। गांधारी के नारी अस्तित्व और अस्मिता के प्रश्न वर्तमान समाज में स्त्री के जीवन की सार्थकता को गहनता से प्रभावित करने वाले हैं। प्रो. रमेश गौतम ने 'कोमल गांधार' में नारी जीवन के सत्य को उद्घाटित करते हुए लिखा है "कोमल गांधार की नाटकीय संवेदना पुरुष सत्तात्मक समाज में नारी की उत्पीड़ित नियति, स्त्री-पुरुष संबंधों की टकराहट, व्यक्ति के आकांक्षा जगत, मानवीय संबंधों में संक्रमण की तरह फैलती राजनीति, मानवीय अहम, घृणा और अनास्था के परिवेश में विकसित कौरवों की 'नपुंसक अहंकार' जनित चेतना, मानसिकता आदि कई आयामों का संस्पर्श करता है।"[13]

इस तरह नवजागरण काल से लेकर समकालीन नाट्य-साहित्य में पुरुष व महिला नाटककारों द्वारा नारी अस्तित्व व अस्मिता से जुड़े अनेक प्रश्नों को उठाया गया है। इनमें बाल विवाह, बेमेल विवाह, आत्मनिर्णय की स्वतंत्रता, विधवा विवाह, आर्थिक स्वतंत्रता जैसे अनेक प्रश्न हैं, जिनके कारण स्त्री खुद को आज भी अनेक ऐसे मुहानों पर खड़ा पाती है, जहाँ वह सब कुछ पाकर भी कुछ न पाने का दर्द झेल रही है । स्वतंत्र भारत के संविधान ने भले ही उसे स्वतंत्रता, समानता और चुनाव के अवसर का अधिकार दे दिया हो लेकिन पारिवारिक स्तर पर वह आज भी इन अधिकारों से वंचित है। नारी अस्मितामूलक नाट्य-साहित्य स्त्री के इस दर्द को महसूस करते हुए सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक स्तर पर उसके अस्तित्व व अस्मिता को एक बार फिर से परिभाषित करने का विचार प्रस्तुत करता है।

संदर्भ सूची

1. नारीवादी राजनीति : संघर्ष एवं मुद्दे : साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता, पृष्ठ 10
2. काव्यमीमांसा, राजशेखर, अध्याय 10
3. मीराबाई की पदावली, परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ 76
4. हिंदी नाटकों में स्त्री, जयदेव तनेजा, रंगवार्ता, संपादक:अश्विनी कुमार पंकज, नवंबर-जनवरी 2011-12, पृष्ठ 59
5. उपनिवेश में स्त्री, प्रभा खेतान, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2004, नई दिल्ली, पृष्ठ 53
6. प्रसाद के नाटक : देश और काल की बहुआयमिता, डॉ. रमेश गौतम, पृष्ठ 138
7. ध्रुवस्वामिनी, जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ 33
8. ध्रुवस्वामिनी, जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ 35
9. आधे-अधूरे, मोहन राकेश, पृष्ठ 42
10. माधवी, भीष्म साहनी, पृष्ठ 55
11. रंगानुभव के बहुरंग, रमेश गौतम, पृष्ठ 174
12. कोमल गांधार, शंकर शेष, पृष्ठ 36
13. हिंदी नाटक : मिथक और यथार्थ, रमेश गौतम, पृष्ठ 581

*****

उत्तर आधुनिक विमर्श और हिन्दी कविता

-डॉ. नीतू शर्मा

एसोसिएट प्रोफेसर,हिन्दी विभाग,

हंसराज कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

शोध सारांश -

उत्तर आधुनिकता एक जटिल और विवादास्पद अवधारणा है जो आधुनिकता की सीमाओं और विफलताओं को दर्शाती है। यह एक ऐसी स्थिति है जो सैद्धांतिक व्याख्याओं से अधिक उदाहरणों और कर्मनिष्ठ आचरणों से समझी जा सकती है। उत्तर आधुनिकता का जन्म आधुनिकता के अतिवादों और जड़ता के कारण हुआ है, जिसने मनुष्य को उसके मूल अधिवास से दूर कर दिया है और एक यांत्रिक दुनिया में पहुंचा दिया है। समकालीन कविताओं में उत्तर आधुनिक प्रवृतियों का प्रभाव दिखाई देता है, जिसमें कविता की वस्तु और आधार बदल गए हैं। नए कवियों ने उत्तर आधुनिक समय के विभिन्न क्षेत्रों को कविता से जोड़कर परंपरा के औचित्य पर प्रश्नचिन्ह लगाया है और मनुष्य के विसंगत परिवेश को मुखरित किया है। यह कविताएं उत्तर आधुनिकता की प्रतिध्वनि हैं, जो समकालीन साहित्य में एक नए दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती हैं।

शब्द कुंजी :- उत्तर आधुनिकता, उपभोक्तावाद, अयथार्थवादिता, अपारम्परिकता, हाशिये.

मूल आलेख

उत्तर आधुनिकता की व्याख्या कई तरह से की जाती है | इसके संबंध में सभी के अपने अपने तर्क है, सभी के समाज को देखने के अलग अलग तरीके हैं | यह भी सही है कि वर्तमान समाज बड़ी तीव्र गति से बदल गया है | इस बदले हुए समाज पर आधुनिक समाज का कोई पैमाना लागू नहीं होता | समाज को समझने की स्थिति बड़ी नाजुक दौर में है | एस .एल. दोषी ने इसी दौर के संदर्भ में कहा है "यह अवधारणा एकदम लचीली है जैसे कोई रबड़ का तम्बू है | जिसे जिधर चाहो उधर खींचकर घुस जाओ और अपनी जगह बना लो | अवधारणा में कसाव की कमी भी नजर आती है | इसके उद्गम का इतिहास कोई बहुत पुराना नहीं है | व्यवस्थित रूप से इस अवधारणा पर काम कोई 1980 से प्रारंभ हुआ है " [2]

उत्तर आधुनिकता जैसा कि इसका नाम बताता है आधुनिकता के बाद के समाज का विकास है यह अवधारणा शीघ्रता के साथ आधुनिकता का स्थान ले रही है | आधुनिकतावाद की भी एक भव्यता रही है | यह भव्यता बींसवीं शताब्दी के मध्य तक रही | कला और बिम्ब में कई नए परिवर्तन आए , साहित्य के कई प्रयोग हुए | उच्च स्तर की प्रौद्योगिकी आई , मैक्स बेवर, दरखाइम ,पेरेंटो, मार्क्स और ऐसे कितने ही संस्थापक, विचारक आए | इनकी सोच ने जमाने की करवट बदल दी | इस संपूर्ण दशा को , समाज की दिशा को उत्तर आधुनिकता ने झकझोर दिया, आधुनिकता की जड़ें हिला दी | परिवर्तन संस्कृति का नियम है इतिहास का एक मोड़ ऐसा आता है जब यह परिवर्तन इतना प्रभावशाली हो जाता है कि हम अनुभव करने लगते हैं कि एक महत्वपूर्ण तब्दीली आ चुकी है | आज जिसे उत्तर आधुनिकता का युग कहा जा रहा है इसका प्रारम्भ इसी प्रकार आधुनिकता के तत्वों में तब्दीली के कारण हुआ है | हम आज कला, साहित्य, दर्शन अर्थव्यवस्था एवं तकनीकी में जो परिवर्तन देख रहे हैं उसे नए नजरिये से देखा जा रहा है और परिभाषित इस तरह किया जा रहा है कि उसे आधुनिकता के दायरे में समेटना असंभव सा हो गया है | अतः वर्तमान समय आधुनिकता के बाद का दौर बन चुका है दूसरे शब्दों में इसे उत्तर आधुनिकता का दौर माना जा सकता है |

स्वतंत्रता के पश्चात 50 के दशक में बहुत जल्द मोहभंग हुआ | अपनी परंपरा से संबंध टूटने और समाज के विघटन के दबाव के कारण लेखकों ने घोर व्यथा का अनुभव किया | 50 के दशक में अधिकतर लेखकों ने पाश्चात्य आधुनिकता के आधार पर एक भयावह बनावटी यथार्थ का चित्रण किया लेकिन भारतीय यथार्थ की व्याख्या किसी भी पाश्चात्य मॉडल के अनुसार नहीं की जा सकती | किसी भी लेखक द्वारा ऐसा प्रयास उसे यथार्थ एवं जनता से दूर कर देता है | यहाँ तक कि जो उच्च और प्रगतिशील विचार अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से पश्चिम से आए वे शहरी शिक्षित वर्ग तक ही सीमित रहे और बिना भारतीय साहित्य की परंपरा की निरंतरता का अंग बने स्वतंत्र रूप से विकसित होते रहे | फिर भी सामाजिक यथार्थ का साहित्य जो जमीन से जुड़ा हुआ था तत्कालीन भारतीय साहित्य में प्रभावी रहा | यह स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान भारतीय मध्यवर्ग एवं लोक साहित्य के लेखकों द्वारा बनाई गई राष्ट्रीय चेतना का परिणाम था|

स्वतंत्रता के बाद लेखकों में प्रगतिशील समाज की आशा दिख

पड़ती है किंतु समय बीतने के साथ सपने केवल सपने बनकर रह गए उनके साकार होने की कोई आशा भी नहीं थी | साठ के दशक में सपनों और मूल्यों को रोमान्टिक माना जाने लगा | राजनीति एवं सामाजिक सत्ता, संस्थानों और प्रतिष्ठानों के विरुद्ध विरोध उत्पन्न हुआ और प्रतिबंधक परंपराओं की अस्वीकृति अवश्यंभावी हो गयी | इस अप्रतिरोध्य स्थिति ने युवा लेखकों में विद्वेष की भावना भर दी | उनमें कुंठा आयी और उन्हें ऐसा लगा कि उनके साथ धोखा हुआ | पचास के दशक में हुए प्रयोगों के साथ साहित्य में आने वाली व्यक्तिवादी प्रवृत्ति को उन्होंने त्याग दिया | अब उन्होंने व्यथा एवं संघर्ष को विषय बनाकर आवेश के साथ लिखना शुरू कर दिया | साहित्य दलितों एवं शोषितों के अधिक करीब आया और तब उत्तर आधुनिकता ने साहित्य के परिदृश्य में प्रवेश किया | भारतीय परिप्रेक्ष्य में उत्तर आधुनिकता मीडिया संचालित एवं बाजार निर्देशित तथ्यों की प्रतिक्रिया के रूप में सामने आई | उत्तर आधुनिक साहित्य के कई रंग और रूप है | यह किसी अर्थ में आधुनिकता की पराकाष्ठा को प्रतिबिंबित करता है तो कही अयथार्थवादिता और अपारंपरिकता का प्रतिनिधित्व करता है | लेखक भी इस जटिल हुई स्थिति से अवगत हैं | वे मानते हैं कि आज कला, दर्शन, साहित्य, अर्थव्यवस्था एवं तकनीक में जो परिवर्तन दिखाई दे रहे हैं उन्हें नए नजरिये से देखा जा रहा है और परिभाषित इस तरह किया जा रहा है कि उसे आधुनिकता के दायरे में समेटना असंभव हो गया है | इसलिए इसे उत्तर आधुनिकता का दौर कहा जाने लगा है | इस दौर की मूल वजह यह है कि भूमंडलीकरण के बाजार संस्कृति युग में अपने को ये जमाए हुए है और स्वस्थ सांस्कृतिक परिवेश के बिना स्वस्थ जीवन होना असंभव है | उत्तर आधुनिकता से सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में ऐसे बदलाव आए हैं कि नए मूल्यों में जीवन की शाश्वत पहचान को स्थापित करना असहज हो गया | निश्चय ही जीवन की इन दृष्टियों ने साहित्य और साहित्यिक पाठ को प्रभावित किया | बाजार संस्कृति ने भी इस नई दृष्टि को जन्म दिया | बाजार या पूंजी की बुनियाद में ऐसे विचार फलने फूलने लगे हैं | इस युग में किसी देश का महत्त्व सामाजिक संबंध से नहीं, बाजार से आंका जाने लगा | इस बाजार की हकीकत है एक मायावी दुनिया और हमारे सपनों को खरीदने की कोशिश |

इस तरह उत्तर आधुनिक समाज में शब्द और आर्थिक स्थिति चिंताजनक है | उत्तर आधुनिकतावादी साहित्य को एक मात्र लेखन कर्म मानते हैं जिसमें लोकमंगल, जनहित, शब्द, संरचना आदि शब्दों का कोई महत्त्व नहीं है | उपभोक्तावाद का विस्फोट जीवन को ऐसे रूपों में ढाल रहा है जहाँ कला और संस्कृति का स्थान उपभोग के रोमांच ने ले लिया है | साहित्य में उत्तर आधुनिकता की स्थिति उपस्थिति जानने के लिए समकालीन साहित्य के विविध रूपों की चर्चा आज आवश्यक हो गई है | भूमंडलीकरण और उदारीकरण के इस युग ने साहित्य को हाशिए पर पहुंचा दिया है | साहित्य के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लगे हैं |

भूमंडलीकरण द्वारा इलेक्ट्रॉनिक संचार माध्यमों का सहारा लेकर राज्य राष्ट्र की पहचान को ध्वस्त करते हुए सांस्कृतिक परंपरा, रीति रिवाजों और मिथकों को निष्प्राण बनाने के प्रयत्न किए जा रहे हैं | इतिहास का अंत जैसी घोषणाओं के पीछे अपने देश, जाति, धर्म, संस्कृति की अपनी अलग पहचान छोड़कर मनुष्य को विश्वग्राम के विश्व नागरिक के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है | इस असंगति के विरोध में साहित्य का मानवतावादी दृष्टिकोण उसे खड़ा करता है | जब मनुष्य और मनुष्य की इच्छाओं, स्वप्नों पर सांस्कृतिक वैविध्य पर संकट गहरा रहा हो, साहित्य प्रतिपक्ष की भूमिका निभाकर निरंतर प्रगतिशील एवं नवोन्मेष शाली बनता रहा है | साहित्य ही व्यापक संवेदना द्वारा समाज को अपनी ओर आकृष्ट करता रहा है, प्रेरणा देता रहा है दूसरी ओर अपने विशिष्ट रूप में अपने समय की चुनौती को उठाता रहा है, इसी के साथ साहित्य की प्रासंगिकता और उपयोगिता का सवाल भी उठता रहा है | जब सब कुछ बेचा खरीदा जाता है, साहित्य को भी सवालों के घेरे में आना स्वाभाविक है| कविता को लेकर यह बहस और भी तीखी रही है | नौवें दशक की कविता की जीवन धर्मिता के कारणों में देश विदेश की राजनीतिक घटनाओं का प्रभाव स्वीकारते हुए भी इन कवियों की सामाजिक- राजनीतिक चेतना को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता | यह चेतना नेपथ्य में रहकर काव्य अभिव्यक्ति की भूमिका निभा रही थी | कविता के विषय एवं प्रकृति में आया यह परिवर्तन कविता की सही जमीन की खोज में जुटा है | मानव जीवन के चित्रों के माध्यम से ही वर्तमान प्रश्नों, स्थितियों संकटों को बताया जा सकता है |

बाजार अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मनुष्य का बखूबी उपयोग करना जानता है | बाजार का मुख्य औजार है सांप्रदायिकता | हिंदी में इस सांप्रदायिकता के जहर और संस्कृति के नए चेहरे को सामने लाने के लिए अनेक कविताएं लिखी गई हैं | जिनमें राष्ट्रीय से भी अंतरराष्ट्रीय होते हुए जाति, धर्म ,संप्रदाय के छोटे- छोटे वर्गों में बंधे हुए लोग लड़ रहे हैं | दूसरी ओर उपभोक्ता संस्कृति का पंजा कसता जा रहा है | संबंधों के बीच उगते बाजार को लेकर राजेश जोशी ने उत्तर आधुनिक समय को बाजार का समय मानते हुए कहा है :

" नदियों का नहीं
समुद्रों का नहीं
पहाड़ों का नहीं
बाजारों का समय है यह" 3

पिछले कुछ समय से बाजार पूरे समाज पर हावी है | इसी के समानांतर देश के सांस्कृतिक स्वरूप में भी परिवर्तन की चर्चाएं होने लगी | वर्तमान स्थितियों में मुक्त बाजार का बोलबाला है | उसमें विश्व के सभी देशों में न केवल वस्तुओं का आदान प्रदान ही हो रहा है बल्कि हम एक दूसरे की संस्कृति, तहजीब और रहन सहन के ढंग को भी अपना रहे हैं | बींसवीं सदी की सूचना क्रांति ने दुनिया के विभिन्न देशों को एक दूसरे के समीप ला खड़ा किया है | सारा विश्व अब गांव में तब्दील हो रहा है | बहुराष्ट्रीय कंपनियां निरंतर दुनिया के देशों की अर्थव्यवस्था और बाजार पर अपना शिकंजा कस रही है | इस उपभोक्तावादी समाज की केंद्रीय दिलचस्पी इसमें है कि वह जीवन की महत्ता और मूल्यों को वस्तुओं की संख्या में बदले | जिससे जिंदगी एक बाजार लगने लगे | पवन करण की कविता 'कहना नहीं आता' की कुछ पंक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं :

"आप मेरी भूख से ज्यादा
मेरी बीमारी पर बात करते हैं

मुझे कौन सी बीमारी है
आप यह भी ढूंढ लेते हैं
बीमारी में मेरी जरूरतें
क्या होंगी ये आपकी
कंपनियां तय कर लेती है" [4]

दरअसल बहुराष्ट्रीय कंपनियां कोई अप्रत्यक्ष संकट उत्पन्न नहीं करती बल्कि उनकी सांस्कृतिक अभिव्यक्तियां हमारे लिए खतरा है |

निलय उपाध्याय की मुझे पछाड़ दिया कविता को यहाँ उदाहरण के लिए लिया जा सकता है | नीम के गुण वाली साबुन की टिकिया से 36 साल से संबंध था लेकिन बाजार के प्रलोभन में उसे ना लाकर ऐसे साबुन की टिकिया खरीदी जाती है जिसे दो खरीदे जाने पर एक अतिरिक्त दी जाती थी |

"मैं तो गया था उसी की तलाश में
कमबख्त दुकानदार ने कहा इसे ले जाइए
जब मिल जाएगी दो के दाम में तीन
गलती मेरी थी
मुझे लगा जब मिल रही है इस तरह खैरात
कौन नहीं धो लेगा हाथ इस बहती गंगा में
और मैं ही ले आया इसे
अपनी उस टिकिया के बदले जिसके साथ
गुजरा बचपन शुरू हुआ जीवन ओह | "[5]

इस नए समाज में मनुष्य अपने को लाचार पाता है | यहाँ ब्रैंड और तत्काल की चेतना से निर्मित व्यक्ति है जिसके लिए महानता, मानवीयता, गरिमा, पूर्णतः आदि व्यर्थ और असंभव है | बाज़ार मनुष्य की इच्छाओं को संतुष्ट तो कर रहा है परंतु मीडिया के विज्ञापनों के जरिए आक्रामक भूमिका भी निभा रहा है | उपभोक्ताओं की मानसिक जरूरतें अपने अनुकूल बनाने के लिये बाज़ार न केवल उपभोग की प्रवृत्ति को बढ़ा रहा है अपितु उन सभी प्राचीन मानदंडो को तोड़ रहा है जो अपनी इच्छाओं को काबू में रखने की बात करते थे | संजय कुंदन की कविता से एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

"इतनी चीजों के बीच
खड़ा कर दिया गया हूँ
की डर लगता है
एक जैसी है हजारों चीजें
एक ही रंग एक ही ढंग.....
सीना ताने खड़ा
अपनी असंख्य आँखों से घूरता
गुर्राकर कहता हुआ
हिम्मत है तो चुनो
पसंद करो
मैं कहाँ से दाखिल होऊं इस तिलस्म में
गड़बड़ा चुका है अपनी पसंद का गणित " [6]

इस आकर्षक उपभोक्तावादी संस्कृति के ऐसे अनेक चित्र हिंदी कविता को मिलते हैं | इनके पीछे एक प्रकार का निराशा भाव दिखाई देता है | एक तरह की असहज स्थिति और व्यवस्था वर्तमान नियति बन गई है | नीलम श्रीवास्तव की 'ढूंढ रहे इस घर में' कविता सांकेतिक रूप से भारतीय संयुक्त परिवार के सभी पक्षों को उद्घाटित करती है | कविता के अंत में घर के मंदिर रूप की खोज मात्र अतीत का स्मरण नहीं रह जाती |

"अब ईंटों के पुख्ता घर में
हम एक एकाकी हैं
भावहीन रिश्तों के बस संबोधन बाकी हैं
ढूंढ रहे इस घर में
वह घर
जो एक मंदिर था "[7]

इस तरह पिछले दो दशकों की हिंदी कविता ने भूमंडलीकरण के पदचाप को सुना है , काव्य विषय बनाया है | हिंदी कविता ने यथार्थवादी प्रकृति के कारण पूँजीवादी संस्कृति के विरोध में स्वयं को प्रस्थापित किया | यही कारण है कि आठवें दशक में विचारधाराओं के अंत की घोषणा के बाद हिंदी कविता जिस जीवन राग को प्रस्तुत करती है वह बाजार संस्कृति का विरोध ही है |

उत्तर आधुनिक समय में पनपी मुक्त बाजार व्यवस्था, उदार आर्थिक नीतियों ने आदमी की जीवन पद्धति ही बदल दी | पहले जगत का नियन्ता परमात्मा माना जाता था आज इलेक्ट्रॉनिक्स की शक्ति अपने हाथों में सीमित रखने वाले ही परमात्मा बन गए | ऋण देकर खरीदने के लिए लोगों को लालायित करना इस उत्तर आधुनिक व्यवस्था की खास रणनीति है |

"उनकी पर दुख कातरता देखो
अपरम्पार करुणा
तुम्हारे केशों के झड़ने की उन्हें चिंता है
तुम्हारे केशों के पकने से वे लजाते हैं
एड़ियां फटने के मौसम में
घमौरियां उठने के मौसम में
मुंहासों की उम्र में
तुम्हारी प्यास के मौके पर
तुम्हारी आयु ओक लगाई झुकी खड़ी हैं उनके आगे "[8]

उत्तर आधुनिक समय खरीद बेच का समय है | यह शहरीकरण बेरोजगारी का सवाल ही है जो आदमी को, कवि को, लेखक को या किसी अन्य को बिकने पर मजबूर करता है | मुक्त बाजार व्यवस्था और आर्थिक नीति ने इन्हें एक नई आजादी दी है , बाज़ार से अपनी पसंद की चीज़ चुनने की आज़ादी | पर विडंबना है कि आपकी पसंद वे तय करते हैं

"जिनके पास उपकरणों का काया बल है
विज्ञापनों का माया बल है
वे आप को आजाद देखना चाहते हैं
पर यह आजादी
चीजों का गुलाम बनने की आजादी है "[9]

भारतीय समाज में आदिवासी 21वीं सदी के मुहाने पर खड़े विश्व समुदाय व भारतीय समाज के भीतर अब भी ऐसे समुदाय हैं जिन तक विकास की आरंभिक किरण नहीं पहुंची है| आदिवासियों के लिए यह

विडंबना है कि जिन तत्वों के उन्मूलन के लिए उनके पूर्वजों से टक्कर ली थी आज भी वे तत्व यथावत विद्यमान हैं | आदिवासियों के हाशिए पर जाने का एक कारण यह भी है कि हमेशा से उनकी पहचान को मिटाया जाता रहा है | भारत में आर्थिक विकास की प्रक्रिया आदिवासियों के लिए हमेशा अभिशाप सिद्ध हुई क्योंकि आर्थिक विकास की प्रक्रिया में आदिवासियों को अपनी प्राकृतिक संपदा से हमेशा विस्थापित किया | ये अपने मूल अधिकारों जंगल, जल, जमीन से वंचित किए जाते रहे हैं | आदिवासी जनजातियों की विकास समस्या, उसके पीछे की राजनीति तथा परिणामस्वरूप इस समाज पर पड़ रहे उसके दुष्परिणामों का चित्रण करती है | महादेव टोप्पो की कविता 'इतिहास तुम्हारा है' की यह पंक्तियाँ :

"तुम्हारी विजय गाथाओं
और संघर्षों के गवाह
पेड़ है नदियाँ है चट्टानें हैं
पुरखों की आत्माएँ हैं
सरस नदी है
ज़ाहिर थान है
तुम्हारे लोकगीत है
पर इन सब की गवाही, उन्हें नहीं स्वीकार
इसलिए तुम इतिहास के ग्रंथों में
हाशिए पर डाल दिए गए हों |
या कर दिए गए हों उससे बाहर'' [10]

महादेव टोप्पो की इतिहास तुम्हारा है कविता में यह दर्द आदिवासियों का यह दर्द साफ दिखाई देता है |

अतः समकालीन कविताओं में उत्तर आधुनिक प्रवृतियों पर केन्द्रित जो साहित्य आया है वह उत्तर आधुनिकता की ही प्रतिध्वनि है | कविताओं की वस्तु और आधार पूरी तरह बदल गया है | नए कवियों ने उत्तर आधुनिक समय के प्रत्येक क्षेत्र को कविता से जोड़ने एवं परंपरा के औचित्य पर प्रश्नचिन्ह लगाने और मनुष्य के विसंगत परिवेश को मुखरित करने सार्थक प्रयोग किये हैं |

संदर्भ सूची

1. उत्तर आधुनिकता: उत्तर संवाद, डॉक्टर मुक्ता, लेख _ "उत्तर आधुनिकता अतीत की ओर लौटना नहीं" गंगा प्रसाद विमल, पृष्ठ संख्या 150
2. आधुनिकता , उत्तर आधुनिकता एवं नव समाजशास्त्रीय सिद्धांत एस एल दोषी पृष्ठ संख्या 161
3. राजेश जोशी, नेपथ्य में हँसी पृष्ठ संख्या77
4. पवन करण, कहना नहीं आता, पृष्ठ संख्या60
5. मुझे पछाड़ दिया निलय उपाध्याय सहस्त्राब्दी अंक 1 पृष्ठ संख्या41
6. संजय कुंदन, कविता योजना का शहर, पृष्ठ संख्या40
7. नया ज्ञानोदय जुलाई 2004 पृष्ठ संख्या111
8. ज्ञानेन्द्रपति, मधुमति दिसंबर 2005 पृष्ठ संख्या 22
9. वही , पृष्ठ संख्या 23
10. संपादकीय रमणिका गुप्ता आदिवासी स्वर्ग और नई कविता वाणी प्रकाशन दिल्ली संस्करण 205, पृष्ठ संख्या26

अशोक के फूल के आधार पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की सांस्कृतिक दृष्टि

-राहुल कुमार
विद्यार्थी , हिंदी विभाग
ईमेल - rahulogy0@gmail.com
मो. नं. 9958396769
पता : प्लॉट नंबर 13&14, गली नंबर 4, एफ ब्लॉक, कुतुब विहार फेज 1,
साउथ वेस्ट दिल्ली 110071

आधुनिक चेतना के परिणाम स्वरूप परिष्कृत और प्रौढ़ गद्य के प्रतीक रूप में निबंध का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। यह एक कौशल है जो हमें सोचने, विचार व्यक्त करने और विषय को क्रमिक रूप में प्रस्तुत करने की क्षमता प्रदान करता है। **"यदि गद्य कवियों या लेखको की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है।"**[1] साहित्य की अक्षुण्ण परम्परा में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का निबंध अप्रतिम है। इन्होंने अपने निबंधों का फलक काफी विस्तृत रखा है। इनका निबंधकार रूप रागाकुल, शिरीष के समान अवधूत, कुटज जैसा बीहड़ और मनमौजी तथा देवदारू के समान 'व्योम केश' है। 'अशोक के फूल', 'विचार और वितर्क', 'कल्पलता', 'कुटज', 'आलोक पर्व' तथा 'विचार प्रवाह' नामक इनके छः निबंध संग्रह हैं। डॉ० नगेन्द्र कहते हैं **"उनके (द्विवेदी जी के) ललित निबंधों में सांस्कृतिक विरासत के वर्चस्व के साथ नवीन जीवनबोध, उत्कट जिजीविषा और नयी सामाजिक समस्याओं के बीच राह पाने की ललक सर्वत्र दिखाई पड़ती है।"**[2]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों में संस्कृति सर्वत्र व्याप्त है। द्विवेदी जी जिस संस्कृति की बात करते हैं वह देश -काल के बंधन से परे है उसका फलक बहुत ही व्यापक है। वे स्वयं कहते हैं, "मैं संस्कृति को किसी देश विशेष या जाति विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता । मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक समान मानव संस्कृति हो सकती है।"

'अशोक के फूल' निबंध में अशोक वृक्ष की सांस्कृतिक यात्रा के बहाने द्विवेदी जी उन सांस्कृतिक मूल्यों की खोज करते हैं जो किसी भी तत्व की शाश्वत्ता अथवा नश्वरता की कसौटी बनते हैं। निबंधकार भारतवर्ष व उसमें भी हिन्दू संस्कृति को अनेक जातियों व संस्कृतियों का मिश्रण मानता है। अशोक वृक्ष का इतिहास अत्यंत गौरवमयी व प्राचीन रहा है पर इसका भी उत्कर्ष शाश्वत नहीं रहा। इसका सम्बंध संस्कृति की प्रकृति से है। संस्कृति का परिप्रेक्ष्य द्विवेदी जी के लिए व्यापक है। संस्कृति के साथ समूची मानवता के कल्याण का भाव जुड़ा रहता है। विशेष व्यक्ति, समुदाय व धर्म से जुड़ने के बजाय समस्त मानव जाति के अनुरूप ही चलना इसका धर्म है। संस्कृति मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा से संबद्ध है इसलिए इसकी यात्रा में वही स्वीकार्य है जो सहज एवम् मानव के कल्याणार्थ हो । अशोक वृक्ष गंधर्व जाति के माध्यम से भारतीय संस्कृति में आया था। इसकी विलासिता की प्रकृति थी। भारतीय संस्कृति का मूल भाव इससे अलग है। भारतीय संस्कृति त्याग और विरक्ति की प्रवृत्ति से युक्त है। यहाँ व्यक्ति अपनी यात्रा का अंत मोक्ष के साथ मानता है। इसलिए अशोक का वृक्ष कला, काव्यात्मक सौंदर्य का माध्यम तो बन सकता है। धार्मिक उत्सवों में प्रतिष्ठा पा सकता है पर व्यापक भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग नहीं बन सकता। यह समाज के अभिजात्य वर्ग का ही प्रतिनिधि बन सका । बहुजन शोषित, दलित, पीड़ित वर्ग का प्रतिनिधि नहीं बन सका ।

निबंध के आरम्भ में अशोक के फूल को पुष्पित देख लेखक भारतीय संस्कृति से इसके लुप्त होने के बारे सोचता है। पर आगे चलकर वास्तविक कारणों से परिचित होने पर वह स्वीकार करता है, **" पंडिताई भी एक बोझ है - जितनी ही भारी होती है उतनी ही तेजी से डुबाती है"**[3] अर्थात् जब पंडिताई मृत पड़े ज्ञान का ही भार ढोने लगती है तब वह दम्भ व अज्ञान से ग्रस्त होकर बोझ बन जाती है। अतः मृतप्राय वस्तुओं व परम्परा के लिए उदास नहीं होना चाहिए।

भारतवर्ष में अनेक मानव जातियाँ आई। इन सभी जातियों में आर्य जाति सबसे पुरानी है। बाकी जितनी जातियाँ आई उन्हें आयों से संघर्ष करना पड़ा। कुछ ने युद्ध किया तो वहीं कुछ ने मित्रता का हाथ बढ़ाया या अपनी पराजय स्वीकार कर ली। जिन्होंने आर्यों की दासता स्वीकार नहीं की उसे उन्होंने राक्षस अथवा दानव कहकर सम्बोधित किया तथा जिन्होंने मित्रता का हाथ बढ़ाया उसे आर्यों ने सहर्ष स्वीकारा ।यह मानव मन का सहज स्वभाव है। हालांकि भारतवर्ष की संस्कृति में इनसब का मेल है। संस्कृति में परिवर्तन, परिष्कार व नवनिर्माण गुंजाइश बची रहनी चाहिए।

भारतीय संस्कृति में अशोक वृक्ष की महता तथा उपेक्षा के द्वारा लेखक बताता है कि जो सहज ना हो मानव मात्र के कल्याण के लिए ना हो उसका उत्कर्ष हमेशा बना नहीं रह सकता। इसके लिए द्विवेदी जी पहले अशोक की महत्ता बताते है

कि यह पुष्प गंधर्व जाति की देन है। उनके काम-देवता के पाँच पुष्प बाणों में अशोक को विशेष सम्मान प्राप्त था। यही वजह है कि इसने धार्मिक उत्सवों में अपना स्थान बना लिया। इसके लाल व सफेद फूलों ने क्रमशः काम भावना उत्पन्न किया तथा तांत्रिक क्रियाओं में सिद्धि प्राप्त करने का विश्वास जमा लिया। कामदेव का यह अस्त्र भारतीय संस्कृति में प्रभावी साबित हुआ । धीरे-धीरे इसने साहित्य के क्षेत्र में भी प्रवेश पा लिया। कवियों ने भी इसका अनेकानेक वर्णन किया। कही इसे सुंदरियों के नूपुर वाले कोमल चरणों के हल्के आघात से खिलता हुआ दिखाया तो कभी इसे कानों या बालों की शोभा बढ़ाने वाले कारक के रूप में दिखाया। परंतु इन सबके बावजूद भी इसका उत्कर्ष बना न रह सका। इसकी पहचान इतिहास के पन्नों में दब कर रह गई । कवियों द्वारा भी इसे भूला दिया गया। बाद में समस्त उत्तर भारत में लोगों ने एक निफूले पेड़ को अशोक समझ लिया। द्विवेदी जी मनुष्य की इतिहास यात्रा को रेखांकित करते हैं। इस इतिहास यात्रा में उत्थान - पतन सदैव बना रहता है। वे कहते हैं, **"मनुष्य के उत्थान पतन का इतिहास बड़ा रोचक है। न जाने कितने मूलों से मनुष्य ने अपना धर्म विश्वास संचय किया है। जाति और सम्प्रदायगत संकीर्णताओं से जर्जरित काल में यदि हम जान सकें कि मनुष्य कितना ग्रहणशील प्राणी है, वह किस निर्भयता के साथ संस्कृति के साथ चिपटे हुए सड़े छिलकों को फेंकता आया है और किस दुर्वार शक्ति से अन्य श्रेणियों के सत्य को ग्रहण करता आया है तो यह कम लाभ नहीं है।"**[4]

द्विवेदी जी भारतीय संस्कृति और इतिहास को अन्य देशों की तुलना में विशिष्ट व विचित्र मानते हैं। शुद्धतावादी संस्कृति का दम्भ भरने वालों से इतर वे हमारी संस्कृति को मिश्रित संस्कृति मानते हैं। भारतीय संस्कृति के उदय से ही भिन्न -भिन्न मानव समूह यहाँ आते रहे। आरंभ में आपसी संघर्ष और टकराव के बाद भारतीय मनुष्यों ने समन्वय और सामंजस्य का रास्ता निकाला। भारत में सामासिक संस्कृति की पुरानी परम्परा है। 'समन्वयवाद' को द्विवेदी जी ने भारतीय संस्कृति की बड़ी विशेषता माना है। जिसे शुक्ल जी 'लोकमंगल' कहते हैं, वही द्विवेदी जी के यहाँ 'लोकधर्म बन जाता है। भारतीय समाज में अनेक प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचार - विचार और पद्धतियाँ प्रचलित है, द्विवेदी जी के अनुसार, **"भारत वर्ष का लोकनायक वही हो सकता है, जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर आया हो।"**[5]

द्विवेदी जी अपने निबंधों में पेड़ - पौधों को प्रतीक रूप में लेते हैं। इन स्वीकृत प्रतीकों (पेड़ों, फूलों आदि) के माध्यम से ही वे प्राचीन संस्कृति की यात्रा करते हैं। 'अशोक के फूल' के माध्यम से ही उन्होंने कई अज्ञात अध्यायों को खोला है। हालांकि ये द्विवेदी जी की अपनी विशिष्ट शैली है। उनका उद्देश्य प्रकृति- चित्रण करना नहीं था। नामवर सिंह 'अशोक के फूल' निबंध के बारे कहते हैं', **"और सच कहा जाए तो आर्य संस्कृति की शुद्धता के अहंकार पर चोट करने के लिए ही 'अशोक के फूल' लिखा गया है, प्रकृति वर्णन के लिए नहीं।"**[6]

मानव की अदम्य जिजीविषा को रेखांकित करने वाले द्विवेदी जी ने यह माना है कि परिवर्तन संसार का नियम है। मानव की जीवनी शक्ति अनेक सभ्यताओं और संस्कृतियों को रौदते हुए आगे बढ़ जाती है। इसी से समाज और संस्कृति का रूप परिवर्तित होते रहता है। इस परिवर्तन ने किसी को शाश्वत नहीं रहने दिया। कोई भी बहुमूल्य संस्कृति सदैव नहीं बनी रह सकती। लेखक का मानना है कि अशोक आज भी मस्ती में झूम रहा है, जैसा कि वह दो हजार वर्ष पहले था। कभी भी कुछ भी नहीं बिगड़ा। जो भी परिवर्तन हुआ है वह मानव की मनोवृत्ति के बदलने के फलस्वरूप हुआ है।

भारतीय साहित्य, संस्कृति, दर्शन और इतिहास को ध्यान में रखते हुए द्विवेदी जी तत्कालीन युग की सामंत सभ्यता का चित्रण करते हैं। वे बताते हैं कि उस समय मदनोत्सव बड़े धूम -धाम से मनाया जाता था। आचार्य द्विवेदी ने अशोक वृक्ष को सामंत सभ्यता की परिष्कृत रुचि का प्रतीक माना है, जो जनमानस के शोषण से विकसित हुई थी। बाद में इन उत्सवों की धूमधाम समाप्त हो गई और अशोक के फूल के गौरवमयी अतीत को समाज भूल गया। इस निबंध में समाज व संस्कृति के बनने और बिगड़ने की प्रक्रिया पर भी चिंतन किया गया है। जगत् के परिवर्तित होने से समाज और संस्कृति भी परिवर्तित होती है। आज समाज का जो स्वरूप दिखाई देता है, उसको बनाने में कितने ही व्यक्तियों ने संघर्ष और त्याग किया है। जिस आधुनिक संस्कृति को आज हम बहुमूल्य समझ रहे हैं ये भी परिवर्तित होगी। यह भी एक नया रूप धारण करेगी। इस बनने और बिगड़ने की प्रक्रिया में लेखक ने मानव के जीवन जीने की इच्छा को सबसे महत्वपूर्ण और शुद्ध माना है। मनुष्य अपनी जीवनी शक्ति से ही समाज तथा संस्कृति का सृजन करता रहा है।

यह निबंध सांस्कृतिक बहुलता का प्रतीक है। द्विवेदी

जी के अनुसार, **"रवीन्द्रनाथ ने इस भारतवर्ष को 'महामानव समुद्र' कहा है। विचित्र देश है यह। असुर आये, आर्य आये, शक आये, हूण आये, नाग आये, यक्ष आये, गंधर्व आये - न जाने कितनी मानव जातियाँ यहाँ आयी और आज के भारतवर्ष को बनाने में अपना हाथ लगा गयीं। जिसे हम हिन्दु रीति - नीति कहते हैं, वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का मिश्रण है। द्विवेदी जी भारतीय संस्कृति और प्राचीन इतिहास के प्रति आस्थावान हैं। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति का स्वरूप संकुचित, सीमित स्थान या काल विशेष के दायरे में न आकर अत्यंत व्यापक है, जिसको किसी धर्म, जाति आदि में नहीं बाँधा जा सकता है। द्विवेदी जी जनवादी, प्रगति -शील और क्रांतिकारी संस्कृति चिंतक हैं। उन्होंने अपने संस्कृति संबंधी विचारों के माध्यम से भारतीय समाज की सांस्कृतिक जड़ता को तोड़ने में योगदान दिया और एक जनवादी संस्कृति - दृष्टि के विकास में अपना योगदान दिया। हालांकि वे मानते हैं कि जनक्रांति से भारतीय संस्कृति में बदलाव लाना असंभव है। वे कहते हैं, "इस देश के इतिहास को देखते हुए मैं उस प्रकार की जनक्रांति की बात नहीं सोच सकता जैसी कि पश्चिम के कई देशों में हुई है।"**[7]

द्विवेदी ने के सांस्कृतिक विचार पूर्णतः मानवतावादी रहे हैं। वे असली भारतीय संस्कृति उसे मानते हैं जो मनुष्य के सर्वोत्तम को उद्घाटित करे। द्विवेदी जी मृत परंपराओं को स्वीकार करने के पक्षधर नहीं थे। हालांकि आधुनिकता के अति उत्साह में उन मूल्यों का परित्याग करने के पक्ष में भी नहीं थे जो मानव - हित में हो। बच्चन सिंह कहते हैं - **"द्विवेदी जी प्रायः संस्कृति के गत्यात्मक आयामों को नवीनता से जोड़ते हैं और जो विगत हो गया है, उसके लिए हार्दिकता का भाव होते हुए भी, छोड़ना जरूरी समझते हैं। उसकी जगह पर नये बदलाव का स्वागत ही नहीं करते बाल्क उसे धार भी देते हैं।"**[8]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'अशोक के फूल' के माधाम से भारत की समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा से अवगत कराया है। भारतीय संस्कृति में अशोक के फूल के आगमन, उत्कर्ष तथा अपकर्ष के माध्यम से लेखक ने जीवन में आए उत्थान - पतन को रेखांकित किया है। भारतीय संस्कृति विशिष्ट व विचित्र भी है। शुद्धतावादी संस्कृति का दावा करने वालों से द्विवेदी जी कहते हैं कि यह किसी जाति विशेष की मौलिकता नही होती, इस प्रकार वे विश्वमानवतावाद तथा समन्वय पर भी बल देते हैं।

आ. द्विवेदी ने भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा दर्शन के प्रति आस्था अभिव्यक्त करते हुए मनुष्य की जीवनी शक्ति को महत्त्व दिया है। मानव के जीवन जीने की इच्छा शुद्ध है इसमें संस्कृति का मोह भी नहीं टिक पाता। इसलिए आरंभ में अशोक के फूल की स्थिति देख दु:ख जताने वाला लेखक अंत में मृत परम्परा को ढोना तथा पण्डिताई को बोझ मानता है।

संदर्भ सूची :-

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचंद्र शुक्ल प्रकाशक - लोकभारती प्रकाशन (पृष्ठ सं० 346)
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं.) डॉ. नगेन्द्र, डॉ० हरदयाल, प्रकाशक - मयूर बुक्स (पृष्ठ सं० - 757)
3. अशोक के फूल - आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक - सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली (पृष्ठ सं०- 10)
4. कल्पलता - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (पृ. 131)
5. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास - हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक - राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (पृष्ठ सं० - 131)
6. दूसरी परम्परा की खोज - नामवर सिंह, प्रकाशक - राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली (पृष्ठ सं.-87)
7. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड -10 (पृष्ठ सं.-318)
8. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास - डॉ. बच्चन सिंह, प्रकाशक - राधाकृष्ण प्रकाशन (पृष्ठ सं.- 500)

*****

ज्ञानरंजन की कहानियों (पिता, शेष होते हुए, संबंध) में संबंधों की जटिलता

-आस्था प्रियदर्शिनी
विद्यार्थी , हिंदी विभाग
ईमेल - astha2098@gmail.com
संपर्क सूत्र - 7004019172
पता - मकान नं. 93, गली नं. 15,
बंगाली कॉलोनी, संत नगर 110084

साठोत्तरी कहानी की सर्वोच्च उपलब्धि जिन कथाकारों में देखी जाती है, ज्ञानरंजन उनमें अग्रणी हैं। सामान्य दिख रहे विषय वस्तु से विशिष्ट भावों व संवेदनाओं को उकेरने में इनका कोई सानी नहीं है। सातवें दशक के इस महत्वपूर्ण कहानीकार ने आधुनिक हिंदी कहानी को जीवन का मुहावरा दिया है।

समकालीन कहानी में आदर्श और यथार्थ का परस्पर द्वंद्व नज़र आता है। आदर्श संस्कारगत होते हैं जो जीवन जीने के कुछ खास मूल्यों का निर्माण करते हैं। दूसरी तरफ यथार्थ घटित हो रहे का स्वरूप दर्शाते हैं। वर्तमान पीढ़ी इनके बीच उलझी सी नज़र आती है। ज्ञानरंजन का रचना संसार मध्यमवर्गीय है।

हृदयेश कहते हैं "ज्ञान की कहानियां मध्यम वर्ग के पारिवारिक सम्बन्धों, उसके युवा सदस्यों की आत्मकेंद्रीयता, स्खलन व पतन की निर्गम पड़ताल है।"

ज्ञानरंजन ने अपनी कहानियों में आज के जीवन को पहचानने और विसंगतियों को रेखांकित करने की कोशिश की है। साठ के बाद की कहानियों में स्थिति और संबंध की धारणा में परिवर्तन हुआ और इसलिए संबंधों के यथार्थ का चित्रण सातवें दशक की कहानी में भिन्न रूप से आया। इस दशक की कहानियों में मानवीय संबंधों के विविध झलक उस सामाजिक चेतना का परिणाम है जो उत्तरोत्तर विकसित हो रही है। डॉ. नरेंद्र मोहन के शब्दों में, "ज्ञानरंजन की कहानियों में संबंधों के फलक पर न तो मनोवैज्ञानिक तथ्यों की संपुष्टि का प्रयत्न है और न सम्बन्धों का सम्पूर्ण निषेध करने वाला आवेश। वह संबंधों की चीड़-फाड़ करके बिना कोई निष्कर्ष दिए, उन्हें स्थापित कर देता है।"

संबंधों में सामाजिक आर्थिक बदलाव का प्रभाव देखा जा सकता है। इन बदलावों की वजह से रिश्तों ने एक तरह से अमूर्त रूप धारण कर लिया है। दो पीढ़ियों में संवादहीनता की स्थिति उत्पन्न हो गयी है। 'पिता' कहानी के पिता-पुत्र इसी स्थिति से संघर्षरत हैं। पिता में पारिवारिक संबंधों के एक नए आयाम को उजागर करने की कोशिश दिखाई देती है। यहाँ पिता अपने संस्कारों से चिपके हुए हैं। वे किसी प्रकार के नएपन को स्वीकार नही करते हैं। संयुक्त परिवार के ढाँचे में एकल परिवार की मानसिकता के बसने से कई तरह की विसंगतियां उत्पन्न हो गयी हैं। बकौल ओम भारती, "संक्रमण समय में बुजुर्ग पीढ़ी और नई पीढ़ी अपने-अपने विश्वासों और सोच के साथ एक संवादहीनता में शीत युद्ध से लड़ रहे हैं। वृद्धों या बड़ों के पास पूर्ववर्ती पीढ़ियों द्वारा अर्जित और संचित संस्कृत का गर्व है। छोटों के पास अपने हरे स्वप्न हैं और भविष्य का एक 'रफ ड्राफ्ट' है। एक तरफ पक्की, पुष्ट, पुरानी परिपाटी है दूसरी तरफ आयातित आधुनिकता है। ज्ञान की आँख दोनों पर है। वे अमिलित आँख की आधुनिकता के विरोध में हैं और बिछड़ती रूढ़ियों तथा उनके अंधनिर्वाह के दरखिलाफ। उनमें जहां नए की हिमायत है वही पुराने के परंपरा के अच्छे का बचाव भी।"

पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी में संघर्ष तो है लेकिन फिर भी ये साथ चलती हैं। 'पिता' कहानी में पुत्र पिता से कदम- कदम पर असहमति रखता है इसके बावजूद उनसे विच्छेदित नहीं है। मध्यवर्गीय समाज में पिता - पुत्र के बीच संबंधों में एक औपचारिकता बन जाती है। इसलिए दोनों एक साथ रहने के बावजूद साथ नही हो पाते हैं। यह किसी भी दौर की प्रासंगिक विडंबना है। पुत्र कही- न - कही पिता से जुड़ने का अहसास रखता है। कहानी जीवन दृष्टि और पीढ़ीगत अंतर होने के बावजूद पिता को नकारती नहीं बल्कि स्वीकारती है। पिता पुत्र के बीच प्रेम है एक दूसरे की चिंता करने का भाव है पर उसे खुल कर जाहिर नहीं करते। ये परंपरागत और आधुनिक होते जाने के बीच उभरे द्वंद्वात्मक संबंधों का परिणाम है। कहानी में 'जेनरेशन गैप' है किंतु भावनात्मक दूरी नहीं है।

आज की परिस्थितियों और वास्तविकताओं ने संबंधों और अपनेपन पर प्रश्नचिह्न लगा कर किस हद तक उन्हें निरर्थक बना दिया है इसकी झलक 'संबंध' कहानी में मिलती है। संबंध कहानी का 'मैं' एक स्थान पर कहता है "आप यह भी देखिए कि समय मानवीय संबंधों के सिलसिले में किस तरह से काम करता है। एक लंबे समय तक जो स्त्री मेरे लिए केवल माँ थी अब कभी कभी ही माँ लगती है या माँ का भ्रम।"

कथानायक 'मैं' अपने बेरोजगारी से तंग है। उसकी दिनचर्या कभी निराशा

में तो कभी प्रसन्नता में व्यतीत होती है। तनाव एवम् निराशा भरी जिंदगी मानव - मन को एक हद तक अवसादग्रस्त बना देती है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति अपने ही पारिवारिक संबंधों के प्रति उदासीन होने लगता है। एक तरफ माँ है जो उसके और छोटे भाई के प्रति चिंतित है तो दूसरी ओर शारीरिक और मानसिक रूप से बीमार भाई है जो 'मैं' की नजर में बेकार का व्यक्ति है। कभी - कभी वह भाई के प्रति क्षणिक सहानुभूति भी जताता है। बदलते समय में हर व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत समस्याओं से आक्रांत है। कथानायक मैं सोचता है - "लेकिन हकीकत यह है कि मैं काफी देर बाद भी यही चाहता रहा कि वह आत्महत्या कर ले और एक बहुत ही घिसटती हुई समस्या का समाधान हो जाए।"

मनुष्य अपनी जीवनशैली और तेजी से बदल रहे सामाजिक मूल्यों के कारण अपनी संवेदनाओं से दिन प्रतिदिन दूर होता जा रहा है। वर्तमान समस्याएं कर्तव्य और उत्तरदायित्व में बाधा उत्पन्न कर रही हैं। इससे संबंधों में अलगाव उत्पन्न होता है। माँ अपने दोनों पुत्रों को जीवित देखना चाहती है। बीमार पुत्र के प्रति ममत्व अधिक है। भाई है जो एक दूसरे से कटे हुए हैं, एक दूसरे की पीड़ा समस्या आदि से कोई लेना देना नहीं है, छुटकारा चाहते हैं, भले ही मौत के द्वारा क्यों ना हो।

ज्ञानरंजन की कहानियों में संबंधों के स्थायित्व की बंधी - बंधाई धारणाएं टूटती हैं। 'शेष होते हुए' कहानी में परंपरागत पारिवारिक बिंबों के खंडित होते जाने की प्रक्रिया मौजूद है। घर पहुंचने पर 'मंझले' की मनोदशा, माँ, पिता, भाई, बहन, भाभी का निहायत सामान्य उबाऊ और ठंडा रुख प्रेम, वात्सल्य आदि पारिवारिक संस्कारों के ह्रास की ओर संकेत करता है। परिवार के सभी सदस्य स्वयं में सिमटे हुए हैं और एक दूसरे से कटे हुए से पड़े हैं। अधिकतर कहानियों में मानवीय संबंधों के बदलाव और विघटन का बोध होता है। सरल शब्दों में, यह महज संबंधों की कहानियां नहीं हैं बल्कि इनमें आज के व्यक्ति की मानसिकता और चिंता भी शामिल है। बाहरी तौर पर एक ही घर दिखाई देता है परंतु घर के अंदर भी कई घर हैं। सबकी पृथक मानसिकता है। कहानी के मुख्य पात्र मंझला के लिए घर का एक अलग ही रूप है। बड़े भाई, छोटे भाई, बहन अपनी अपनी सुविधा के अनुसार घर के कई भाग कर रखे हैं। प्रत्येक सदस्य एक दूसरे से ऐसे कटे हुए हैं जैसे वे एक परिवार के सदस्य ना होकर अलग - अलग परिवार के हों। उनमें अजनबीपन एवं अलगाव की प्रवृत्ति है।

सुरेश सिन्हा के शब्दों में, "परिवार में व्यक्ति आज किस प्रकार अजनबी बन जाता है और अकेलेपन में घुटा - घुटा जीवन जीता है इस सत्य को 'शेष होते हुए' में उन्होंने बड़ी सूक्ष्मता और गहन अंतर्दृष्टि से उभारा है"।

ज्ञानरंजन अपनी रचना के प्रति बहुत सजग दिखाई देते हैं। यथार्थ जीवन के बदलने के साथ- साथ मूल्यों में परिवर्तन आता है। कहानीकार मध्यवर्गीय परिवार को अपना रचना संसार बनाए हुए है। इन परिवारों में पीढ़ियों में परिवर्तन, मानवीय एवं सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन, आर्थिक संघर्ष आदि निरंतर हो रहे हैं, जिसकी वजह से आपसी संबंधों में भी एक जटिलता उत्पन्न होती है। कथाकार जानता है कि यह जटिलता सिर्फ संबंधों की नहीं बल्कि मानव मन की जटिलता भी है। इसलिए ज्ञानरंजन का सरोकार कहानी में किसी एक को सही या गलत दिखलाने से नहीं बल्कि बदल रही परिस्थितियों को रेखांकित करने से है।

संदर्भ - सूची :

1. कहानीकार ज्ञानरंजन (संपादक) सत्यप्रकाश मिश्र, पृष्ठ संख्या - 53
2. समकालीन कहानी की पहचान डॉ. नरेंद्र मोहन, पराग प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या -85
3. पल प्रतिपल - (संपादक) देश निर्मोही, पृष्ठ संख्या - 147
4. सपना नहीं ('संबंध' कहानी से) ज्ञानरंजन, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ संख्या - 153
5. हिन्दी कहानी उद्भव और विकास - सुरेश सिन्हा, पृष्ठ संख्या - 64

*****

भारतेंदु द्वारा अनूदित हिन्दी नाटकों की रंग मंचीयता

-डॉ. अभिषेक कुमार पटेल
सहायक प्राध्यापक
शासकीय शहीद कौशल यादव महाविद्यालय ,
गुण्डरदेही,जिला बालोद, छत्तीसगढ़पिन कोड 491223
मोबाईल नंबर 7869668874

नाटक और रंगमंच का एक दूसरे से घनिष्ट संबंध है। भारतेन्दु काल के सभी नाटककार इस मत के प्रबल समर्थक थे कि नाटक की पूर्णता उसकी रंगमंचीयता में ही है। भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' निबंध में भी रंगमंचीयता को महत्वपूर्ण मानते हुए लिखा है कि - "नाटक शब्द की अर्थग्रहिता रंगस्थ खेल में ही है।"[1] दरअसल भारतेन्दु युग में नाटकों की रचना उसके मंचन के लिए ही हो रहा था। नाटकों के मंचन के माध्यम से जनजागरण करना भरतेन्दु के नाट्य लेखन का मुख्य उद्देष्य था। "जगह-जगह पर हिन्दी के साहित्यिक नाटकों को प्रस्तुत किया जा रहा था। सबसे अधिक लोकप्रियता के शिखर पर थे भारतेन्दु के नाटक । भारतेन्दु के अनेक नाटकों को मंच पर प्रस्तुत किया गया। ये नाटक बनारस, कानपुर, प्रयाग आदि अनेक शहरों में प्रदर्षित हुए।"[2] इसमें भारतेन्दु के मौलिक एवं अनूदित दोनों नाटक शामिल है। साहित्यिक नाटकों को रंगमंचीय बनाने में क्रांतिकारी योगदान को रेखांकित करते हुए मोहन राकेश लिखते हैं कि "हिन्दी नाटक के उदय काल में भारतेन्दु बाबू ने दकियानूसी परम्परा हटाकर नए रंगमंच की स्थापना का प्रथम प्रयत्न किया था। परन्तु अपने सीमित साधनों और व्यापक सहयोग के अभाव के कारण उन्हें विषेष विशेष सफलता नहीं मिली। भारतेन्दु के नाटकों के रंगमंच के संबंध में उनकी स्पष्ट दृष्टि का परिचय अवश्य मिलता है। लोकरूचि और परम्परा दोनों को मान्यता देते हुए उन्होंने संस्कृत नाटक के रंगशिल्प को नए साँचें में ढालने का प्रयत्न किया। भारतेन्दु की पात्र-कल्पना तथा उनके दृष्य संयोजन जन साधारण में नाटक की स्थापना की दृष्टि को व्यक्त करते है। यह हिन्दी रंगमंच का प्रथम उत्थान था। भारतेन्दु की दृष्टि को आगे विकसित किया जाता तो अब तक हिन्दी रंगमंच का एक निश्चित रूप हमारे सामने आ गया होता।"[3]

नाटक की रचना अभिनय के लिए हुई थी। यह नाटकों की प्रस्तावनाओं से स्पष्ट होता ही है, इसके अतिरिक्त नाटकों में दिए गए रंगसंकेत और टिप्पणियाँ जिनमें अभिनय एवं रंगमंच की व्यवस्था संबंधी निर्देश दिए गए हैं, से भी प्राप्त होते हैं। अनेक नाटककारों ने अपने-अपने नाटकों में अभिनय के संकेत दिए हैं।

भारतेन्दुयुगीन नाटककारों को रंगमंच हेतु नाटक लिखने की प्रेरणा 'इन्दर सभा' और 'पारसी थियेटरों' से प्राप्त हुई थी। इन नाटकों में बाह्य तड़क-भड़क अधिक था। इनका वातावरण मुस्लिम लेखकों ने निर्मित किया था। दो विरोधी भावों को पराकाष्ठा तक ले जाकर और इस प्रकार दर्शक मंडली की हृत्तंत्री का पूर्ण प्रसार कर, पद्य का पूर्ण प्रसार कर, सत्य की असत्य पर विजय दिखा देना ही चरित्र-चित्रण का एकमात्र उद्देशय था। इन नाटकों में जिस भाषा का प्रयोग किया गया था वह उर्दू की कृत्रिमता लिए हुए थी और स्थान-स्थान पर ग़ज़लों का प्रयोग भी किया गया था। हिन्दी के आरम्भिक नाटकों को इसने प्रभावित किया। किंतु उनमें सुरूचि थी जो गंभीरता लिए थी।

भारतेन्दुयुगीन नाट्य रंगमंच जनता की इच्छा पर आश्रित था। शिक्षा का प्रसार अधिक नहीं था फलतः जनता की रूचि का स्तर निम्न था। रंगमंचीय नाटक पारसी कम्पनियों से प्रभावित थे फलस्वरूप इनकी कथावस्तु में बाह्य समाज और दिखावे की प्रवृत्ति मुख्य रही है। भाषा उर्दू थी और उनमें पद्य तथा गद्य की प्रधानता के साथ-साथ हास्य भी निम्न स्तर का रहता था।

उस युग के नाटकों में गंभीरता के साथ-साथ आदर्शवादी प्रवृत्ति भी रही जिसने सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक समस्याओं को जन्म दिया। इसके साथ ही जन-जागृति, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य, हरिजनोद्धार आदि भी दिखाई देते हैं। कला की दृष्टि से भले ही उच्चकोटि के नाटक न लिखे गये हों लेकिन उनमें नाट्य विधा का विस्तार अधिक हुआ।

अव्यावसायी मंडलियों ने प्रायः पौराणिक कथानक को ही ग्रहण किया है। संगीत की परम्परा भी साथ-साथ चलती रही और इससे काव्यत्व का विकास होता रहा। अशिक्षित जनता रामलीला और रासलीला के आदर्श को ग्रहण करने में लगी रही।

इन नाटकों की शैली और पारसी थियेट्रिकल नाटकों की शैली में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। दोनों की कथा चरम सीमा तक पहुँचते-पहुँचते प्रायः एक समान दिखाई पड़ती है। विषय को ध्यान में रखकर देखें तो पाएँगे कि जहां 'पारसी कम्पनियों' ने सस्ते मनोरंजन के विषय चुने, वहीं भारतेन्दुकालीन रंगमंचीय नाटकों के विषय पौराणिक अधिक रहे। देश को स्वतंत्र करने की लालसा में राष्ट्रीयता की भावना ही अधिक थी।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि इन नाटकों के विषय पौराणिक ही अधिक थे इसलिए चरित्रों में गंभीरता मिलना स्वाभाविक था। हास्य में भी सुरूचि स्थापित करने की कोशिश की गई थी किंतु उसमें पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी।

भारतेन्दुयुगीन नाट्य रंगमंच, लोक नाट्य परम्परा पर आधारित था। जनता की रूचि का विशेष ध्यान रखा जाता था। जहाँ की जनता अशिक्षित हो, उस पर जनता की ही रूचि को ध्यान में रखा जा रहा हो, तब ऐसे नाटकों में कलात्मक सौंदर्य की अपेक्षा रखना ही व्यर्थ है। व्यावसायिक मंडलियों के हाथों में रंगमंच चले जाने से साहित्यिक कलात्मक नाटकों का अभाव हो गया था। हिन्दी के नाटककारों के समक्ष आदर्श रूप में संस्कृत के नाटक तो थे किन्तु रंगमंच का जो स्वरूप था वह पाश्चात्य नाट्य साहित्य का था।

हिन्दी नाटकों का आरंभ भी संस्कृत नाटक के अनुवाद तथा उसी के नियमों के पालन से हुआ था रंगमंच का कोई प्रत्यक्ष स्वरूप भी नहीं था इसलिए रंगमंचीय नाटकों की रचना के लिए एक प्रश्न चिन्ह सा ही इन नाटककारों के समक्ष उपस्थित होता रहता था। इसका परिणाम यही निकला कि रंगमंचीय नाटक संख्या में भले ही अधिक लिखे गये हों लेकिन वे रंगमंचीय विशेषताओं से कमजोर थे । भारतेन्दु युग में नाट्य साहित्य बढ़ा, किन्तु रंगमंच विकसित नहीं हो पाया। इसका एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि भारतेन्दु युग के लेखकों की प्रतिभा साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में बंटती गई।

भारतेन्दु युगीन नाटकों में साहित्यक सौंदर्य के अभाव के कारणों के ओर संकेत करते हुए डॉ. भानुदेव शुक्ल लिखते हैं -"हम देखते हैं कि मुगल-शासन काल में अभिनय एवं नाट्य की स्थिति इतनी शोचनीय हो गई कि नाट्य कला हेय कला मानी जाने लगी। स्वांग, नौटंकी, आदि निम्न स्तर के अभिनयों के द्वारा रंगमंच गर्हित वस्तु बन कर रह गया। साहित्यिक नाटकों के विकास के साथ रंगमंच के पुनर्निर्माण का जब प्रश्न सम्मुख उपस्थित हुआ तो उत्साही नाट्यकार ने देखा कि उसका कार्य अछूतोद्धार के कार्य से कम कठिन नहीं है।"

'नट' शब्द में ही निरादर समा गया था। भारतेन्दु युग के पश्चात् कई वर्षों तक नट शब्द घृणा का पात्र बना रहा और उसका गौरवान्वित रूप 'अभिनेता' हो गया। अभिनय में सच्ची लगन रखने वाले उत्साहियों ने प्रयास भी किये किन्तु वे ऐसे प्रयास नहीं थे जो ठोस रूप में उभर सके हों। फिर भी अस्थायी तौर पर जहाँ-तहाँ बिखरे रंगमंच के रूप में उन्होंने कला को जीवित रखा। हिन्दी नाट्य प्रेमी साहित्यकार भी अपने आदर्शों पर आरूढ़ नहीं रह सके। वे जनता को प्रसन्न करने में लग गए। अनेक नाट्य सभाएँ पारसी नाटकों के अनुकरण पर ही चलने लगी थीं।

कहने की जरूरत नहीं कि वह एक क्रांति का युग था। उस युग में जनता का धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि का सभी रूप डांवाडोल था। हिन्दी नाटककार को नवयुग की स्थापना में इन रंगमंचीय नाटकों में दोश दिखाई देते हैं। वह युग प्रयोग का युग था। इसलिए उसमें सौंदर्य का अभाव महसूस होता है। कोई भी नवोदित चित्रकार आरंभ में ही अपनी प्रतिभा से दोश मुक्त कलाकृति प्रस्तुत नहीं कर सकता। इसी तरह यह युग भी एक 'नवउन्मेश का काल' था जिसमें साहित्य के हर क्षेत्र में नित्य नये-नये प्रयोग हो रहे थे।

नाटक दृश्य-श्रव्य विधा है । अर्थात् इसमें आंगिक, वाचिक, सात्विक तथा आहार्य सभी चेष्टायें शामिल होती हैं । ज्ञातव्य है कि नाटकों की रचना रंगमंचीय दृष्टि को आधार बनाकर भी लिखी जाती हैं । इस दृष्टि से भारतेन्दु के नाटक उल्लेखनीय हैं । पहली बार व्यवस्थित रूप से रंगमंच के लिए नाटकों की रचना भारतेन्दु युग में ही देखने को मिलती है । ज्ञातव्य है कि हिन्दी नाट्य विधा को बांग्ला नाट्य ने काफी प्रभावित किया है । साथ ही रंगविधान में भी हिन्दी नाट्यविधा ने बांग्ला प्रभाव ग्रहण किया है । सत्येन्द्र कुमार तनेजा का भी विचार है कि:-

"वस्तुतः भारतेन्दु ने नाटक के नवीन रंग विधान का अनुभव सबसे पहले बंग्ला नाटक और रंगमंच के सम्पर्क से ही ग्रहण किया । यही नहीं, इस युग के सभी नाटककारों ने नाटक के 'नवीन भेद' का अनुभव बंग्ला नाट्य जगत के सहचर्य से पाया ।"[4]

भारतेन्दु ने अपने अनूदित नाटकों में भी रंगमंचीयता का पूरा ध्यान रमा है । उनके सभी अनूदित नाटक यथा - विद्यासुन्दर, पाखण्ड विडम्बन, धनंजय विजय, मुद्राराक्षस, कर्पूरमंजरी, दुर्लभबंधु, भारत जननी आदि में रंगमंचीय संभावना स्पष्ट देखी जा सकती है । यहाँ, इन अनूदित नाटकों में रंगमंचीयता का सम्पर्क निरीक्षण अपेक्षित होगा ।

ज्ञातव्य है कि भारतेन्दु ने 'रत्नावली' नाटिका का अनुवाद किया है । 'रत्नावली' का उपलब्ध अंश बहुत थोड़ा है । इसमें नांदी प्रस्तावना तथा विष्कभंक को छोड़कर शेष भाग अप्राप्य है । अतः अनुवाद अपूर्ण होने के कारण इस नाटिका का व्यापक विश्लेषण-विवेचन असंभव है । अतः इसका रंगमंचीय दृष्टि से विवेचन कर पाना संभव नहीं है ।

रंगमंचीयता की दृष्टि से जब हम भारतेन्दु के 'धनंजय विजय' पर दृष्टिपात करते हैं तो कई तथ्य निकलकर सामने आते हैं । इसकी रंगमंचीय सफलता को लेकर विद्वानों के बीच मतभेद है । जहाँ प्रस्तुत नाटक को वीरेन्द्र कुमार शुक्ल अपनी पुस्तक 'भारतेन्दु का नाट्य साहित्य' में भारतेन्दु जी का असफल प्रयास कहा है, वहीं गोपीनाथ तिवारी जी ने 'धनंजय विजय' को सफल बताते हुए भारतेन्दु की मौलिकता बताया है । वे कहते हैं कि चूंकि यह अनूदित नाटक है अतः यदि यह रंगमंचीय दृष्टि से असफल है तो उसकी जिम्मेदारी मूल नाटककार की है । फिर, अनुदित नाटक में अभिनय संबंधी गुणदोष देखना उचित नहीं है ।

फिर, जब हम 'धनंजय विजय' की रंगमंचीयता पर दृष्टिपात करते है तो पाते हैं कि इस नाटक के संवादों में रंगमंचीय अभिनय उपयोगिता का नितांत अभाव है । अभिनय की दृष्टि से कथानक के दृश्य-व्यापार रंगमंचीय योजना के अनुपयुक्त सा प्रतीत होता है । इस नाटक की अभिनेयता पर विचार करते हुए प्रो. ए. अच्युतन कहते हैं:- "नेपथ्य कथनों की लम्बाई अभिनेयता से सौन्दर्य का ह्रास करता प्रतीत होता है ।"[5] वस्तुतः समग्रतः में देखें तो भारतेन्दु के अन्य अनूदित नाटकों की अपेक्षा प्रस्तुत नाटक को रंगमंचीय दृष्टि से सफल नहीं कह सकते हैं।

इसी प्रकार, भारतेन्दु द्वारा संस्कृत से अनूदित 'मुद्राराक्षस' नाटक की भी अनेक रंगमंचीय प्रस्तुति हो चुकी है । चूंकि भारतेन्दु ने मूलकृति से हटकर स्वतन्त्र रूप से लक्ष्य भाषा के अनुकूल नाटक का अनुवाद किया है, अतः प्रस्तुति भी हिन्दी भाषी लोगों के लिए रूचिकर बनाना स्वाभाविक है । अभिनेयता की दृष्टि से राक्षस, चन्द्रगुप्त, चाणक्य जैसे इतिहास प्रसिद्ध पात्रों को मंच पर प्रस्तुत करना आसान नहीं है । वस्तुतः सृजनात्मक एवं कल्पनाशील अभिनेयताओं की माँग करने वाला नाटक है - मुद्राराक्षस । हम देखते हैं कि नाटक में संगीत एवं ध्वनि का प्रयोग भी पात्रों की मानसिक अवस्था के अनुकूल एवं वातावरणनुमोदित है । इस नाटक के रंगमंकचीय महत्व को स्पष्ट करते हुए प्रो. ए. अच्युतन मानते हैं:-

"मुद्राराक्षस जैसे प्रसिद्ध नाटकों की प्रस्तुति अपने आप में कठिन है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ऐसे नाटकों का अनुवाद करके नाट्य प्रस्तुति के लिए राह बना दी है । इस दृष्टि से मुद्राराक्षस का योगदान महत्वपूर्ण है ।"[6]

फिर, भारतेन्दु के अन्य कई अनूदित नाटकों के समान 'कर्पूर मंजरी' नाटक के मंचन के बारे में भी बहुत स्पष्ट जानकारी नहीं प्राप्त होती है । अतः इस

नाटक के मंचीय योगदान के बारे में बहुत अधिक नहीं कहा जा सकता है। फिर भी 'कर्पूर मंजरी' नाटक के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि इस नाटक की भाषा और संवाद रंगमंच के अनुकूल है। परन्तु यह भी सच है कि नाटक में अनेक ऐसे भी दृश्य हैं, जो अभिनय में व्यवधान उपस्थित करते हैं। उदाहरण के लिए भैरवानंद द्वारा तंत्र बल से कर्पूरमंजरी का मंच पर उपस्थित होना, कर्पूरमंजरी का घनसार मंजरी हो जाना तथा उसका मंच पर आना-जाना तथा तिलक, अशोक और कुरवक में दोहद उत्पन्न करना आदि। इस प्रकार, रंगमंचीय दृष्टि से ये प्रसंग काफी समस्या पैदा करते हैं, लेकिन मंच पर सृजनशील कलाकारों के माध्यम से प्रस्तुत नाटक का मंचन हो सकता है।

इसी प्रकार भारतेन्दु का शेक्सपीयर के अंग्रेजी नाटक 'मर्चेन्ट ऑफ़ वेनिस' का हिन्दी में अनूदित नाटक 'दुर्लभ बंधु' रंगमंचीयता की दृष्टि से सफल नाटक है। अंग्रेजी में मर्चेन्ट ऑफ़ वेनिस की प्रस्तुति अनेक निर्देशकों ने की है। हिन्दी में अनुदित 'दुर्लभबंधु' की भी देशीय संस्कृति के अनुकूल प्रस्तुति संभव है। यद्यपि अभिनेताओं का कौशल इसकी प्रस्तुति के लिए आवश्यक है। प्रो. ए. अच्युतन भी मानते हैं:- "अभिनेता एवं अन्य रंगकर्मियों को, सोच समझकर और विशद पठन-पाठन करके इसकी प्रस्तुति में भाग लेना जरूरी है।"[7]

यह दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दी में 'दुर्लभ बंधु' की विख्यात प्रस्तुति अभी तक नहीं हुई है। यह बात स्पष्ट है कि इसका मंचीय योगदान अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।

'विद्यासुन्दर' भारतेन्दु द्वारा अनूदित एक अन्य नाटक है, जो मूलतः बांग्ला से अनूदित है। बांग्ला नाटक का रंगमंचीय अभिनय अनेक बार हुआ है, परन्तु रंगमंच एवं नाटक के प्रति भारतीय साहित्य में हुए अवज्ञा के कारण प्रस्तुत नाटक के रंगमंचीय योगदान के बारे में स्पष्ट विवरण नहीं मिला है। ध्यातव्य है कि प्रस्तुत अनूदित नाटक को पढ़ने से सहज ही अनुमान हो जाता है कि भारतेन्दु ने यह नाटक अभिनेयता को ध्यान में रखकर ही लिखा गया है। जैसा कि प्रो. ए. अच्युतन भी मानते हैं:-

"अभिनेयता की दृष्टि से अवश्य कह सकते हैं कि पूरे नाटक का प्रणयन एवं अनुवाद अभिनय को ध्यान में रखकर ही किया गया है। भारतेन्दु ने रंगमंच के अनुकूल ही संगीत, ध्वनी, रूपसज्जा आदि रंगशिल्प संबंधी तत्वों को संयोजित किया है।"[8]

ध्यातव्य है कि अभिनय दृश्य योजना, संगीत, ध्वनि, रूपसज्जा आदि रंगमंचीय तत्वों के समुचित समन्वय से ही किसी भी नाटक की सफल प्रस्तुति हो पाती है। बांग्ला में प्रेक्षकों ने 'विद्यासुन्दर' को स्वीकार किया है। हिन्दी में भी तत्कालीन रंगमंच पर दो-एक स्थानों पर 'विद्यासुन्दर' की प्रस्तुति हो गयी है।

संस्कृत से हिन्दी में अनूदित भारतेन्दु कृत 'पाखण्ड विडम्बन' एक अन्य महत्वपूर्ण नाटक है। हिन्दी में भारतेन्दु द्वारा अनूदित इस नाटक की रंगमंचीय प्रस्तुति हुई है अथवा नहीं ; इस बारे में कोई ठोस सामग्री नहीं प्राप्त हो पायी है। वस्तुतः हिन्दी रंगमंच के लिए 'पाखण्ड विडम्बन' का अनुवाद प्रस्तुति के लिए पहला कदम है। इस दृष्टि से 'पाखण्ड विडम्बन' के नाट्य पाठ का योगदान महत्वपूर्ण है।

हिन्दी में अनूदित 'पाखंड विडम्बन' के अध्ययन से स्पष्ट है कि यह नाटक रंगमंच के लिए सर्वथा उपयुक्त है। नाटककार ने रंगमंचीय दृष्टि से ही सम्पूर्ण सामग्रियों को संयोजित किया है। मूल नाटक के अनुसार ही प्रवेश प्रस्थान आदि के अभिनयात्मक संकेत पृथक ही दिए हैं। फिर, केवल एक ही अंक होने के कारण दृश्यसज्जा में कोई समस्या नहीं उठती है। संवाद भी सरल और पात्रानुसार हैं। संवादों में रंगमंचीय प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। भाषा रंगमंचीय दृष्टि से अनुकूल है। परन्तु ध्यातव्य है कि अनूदित नाटक के मूल्यांकन के लिए अनिवार्य तत्व है - प्रेक्षकीय अनुक्रिया। लेकिन 'पाखण्ड विडम्बन' की प्रस्तुति के बारे में स्पष्ट विवरण के अभाव के कारण प्रेक्षकीय अनुक्रिया की दृष्टि से प्रस्तुत नाटक का विवेचन असंभव सा लगता है।

भारतेन्दु द्वारा अनूदित 'भारत जननी' नाटक भी रंगमंचीय दृष्टि से उल्लेखनीय है। यद्यपि यह भारतेन्दु द्वारा ही अनुदित है, इसको लेकर विवाद है। ध्यातव्य है कि जब हम 'भारत जननी' को रंगमंचीय दृष्टि से देखते हैं तो पाते हैं कि नाटककार ने एक सफल निर्देशक की भाँति रंगमंचीय वातावरण के अनुकूल रूपक प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। यद्यपि इस नाटक की भाषा किंचित दुरूह है, जो रंगमंचीय दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है:-

"साहिब: (तर्जन गर्जन पूर्वक) रे दुराशय ! दुर्वृत्तिगण ! क्या इसी हेतु हमने तुम लोगों को ज्ञान चक्षु दिया है ?"[9]

स्पष्ट है कि संवाद अभिनय की दृष्टि से उचित नहीं है। संवादों में कलात्मक प्रौढ़ता का अभाव है। रूपक साधारण कोटि का ही है।

संदर्भ संकेत:-

1. भारतेन्दु ग्रंथावली-1, पृष्ठ-7
2. हिन्दी नाटक, रंगषिल्प, दर्षन- डॉ. विकल गौतम, वाणी प्रकाषन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2000
3. नाट्य विमर्ष - मोहन राकेश, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली, प्र.सं.-2003
4. नाटककार भारतेन्दु की रंग-परिकल्पना - सत्येन्द्र कुमार तनेजा, पृ.-28
5. नाट्यानुवाद सिद्धान्त और विवेचन - प्रो. ए. अच्युतन, पृ.-90
6. नाट्यानुवाद सिद्धान्त और विवेचन - प्रो. ए. अच्युतन, पृ.-91
7. नाट्यानुवाद सिद्धान्त और विवेचन - प्रो. ए. अच्युतन, पृ.-92
8. नाट्यानुवाद सिद्धान्त और विवेचन - प्रो. ए. अच्युतन, पृ.-89
9. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग -1 पृ.-278

*****

अरुण प्रकाश की कहानियों में ग्रामीण और नगरीय चेतना का यथार्थ

-मैना
शोधार्थी
मोबाइल नंबर-9999918497

शोध सार-

अरुण प्रकाश अपनी कहानियों में ग्रामीण और नगरीय चेतना के यथार्थ की परतों को बहुत बारीकी से पाठकों के समक्ष खोलते हैं। वे अपनी कहानियों में नगरीय जीवन की आपाधापी, स्वार्थ, प्रतिस्पर्धा और पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के साथ ग्रामीण समाज में उभरती जागरूकता और बढ़ते भाईचारे को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। यानी कि उन्होंने समकालीन ग्रामीण और नगरीय चेतना के यथार्थ को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर उनके चिंतन को विस्तार दिया है। इसी बात की परख इस शोध-आलेख में की गई है।

बीज शब्द- संयोजन, आंचलिकता, अलंकार, समकालीन, यथार्थ, छवियाँ, समाजिकता

शोध-आलेख :

अरुण प्रकाश की कहानियों में ग्रामीण जीवन और नगरीय जीवन के रंगों का दोनों का बहुत सुन्दर संयोजन हैं, जो बहुत कम लेखकों में देखने को मिलता है। प्रायः ऐसा देखा गया है कि जो शहरी कथाकार हैं वे केवल नगरीय कथा लिखते हैं। जो ग्रामीण चेतना के कथाकार हैं। वे सिर्फ ग्रामीण समस्याओं और आंचलिकता पर लिखते हैं। अरुण जी गाँव की कथा लिखते है तो ग्रामीण जीवन की परतों को खोलकर रख देते हैं यदि नगरीय जीवन की कथा लिखते हैं तो वहाँ की परतों को बहुत बारीकी से दिखाते हैं। ऐसा शायद इसलिए है कि अपनी पारखी दृष्टि होने के साथ-साथ वे वहाँ के जीवन को जीते थे। तथा वहाँ के परिवेश का अध्ययन तथा गहन शोध करने के बाद उन्हें अपने कथा लेखन का विषय बनाते थे। वे कमरे में बैठकर कहानी गढ़ने की बजाय बाहर निकलकर विषय से संबंधित सामग्री इकट्ठा करके लाते थे और उसके बाद लिखते थे।

इस कारण उनकी कहानियों में गाँव और शहर के विभिन्न रंगों का संयोजन दिखाई देता हैं। ग्रामीण चेतना की बात करें तो उन्होंने अपनी अधिकांश कहानियों का विषय गरीब, निर्धन तथा दलित समाज को बनाया है। इसके पीछे उनका मुख्य उद्देश्य व्यक्ति और समाज को सड़ी-गली रूढ़ियों की जकड़न से मूक्त करना था। कहना न होगा कि वे एक हम सफर की तरह इन वर्गों का उत्थान करना चाहते थे। इस संदर्भ में देखा जाए तो उनकी 'जल-प्रांतर कहानी का उद्देश्य स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इस कहानी में चित्रित किया गया है कि पंडित वासुदेव के बाढ़ से घिर जाने के बावजूद मंदिर छोड़कर न जाने के पीछे जहाँ एक ओर उनके संस्कार है तो दूसरी ओर उनकी यह श्रद्धा और अंधविश्वास है कि भगवान रक्षा करेंगे और भगवान को अकेला छोड़कर भक्त कैसे चला जाए यहाँ लेखक चाहता तो पंडित वासुदेव के प्राणों को बचा सकता था लेकिन उन्होंने कहानी का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए समाज में फैले अंधविश्वास पर निर्मम प्रहार किया है। जिसका उदाहरण सांप के काटने के कारण पंडित वासुदेव की मृत्यु में दिखाई देता है। जिस भगवान की खातिर पंडित मंदिर नहीं छोड़ता उसी भगवान (शिव) का अलंकार सांप पंडित को काट लेता है और वह मर जाता है। उनकी लाश गंधाती रहती है। इस संदर्भ में कहानी की कुछ पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं- ''पाहुन आप अभी चलिए माई दिन-रात रोती रहती है, मैं यहाँ ठीक हूँ बेटा ! बम भोला सबकी रक्षा करते हैं हमारी नहीं करेंगे? ... कुछ क्षणों के बाद अभय कम्पाउंडर ने क्षमा माँगते हुए कहा पंडित जी छोटा मुँह बड़ी बात! सांप-बिच्छू का कोई भरोसा है ? इसका तो स्वभाव काटने का है, काटबे करेगा। चलिए नाव पर बैठिए।".... रेलवे लाइन कैम्प के अस्थायी घाट पर डोंगी के लगते ही शोर मच गया पंडित जी मर गए। सांप ने काटा पता नहीं कब मरे। साथियों से घिरे कामरेड रामबालक ने लपककर संतोष को संभाला, सांत्वना की थपकी देते हुए कहा "संतोष धीरज रखना चाची की हालत में सुधार है... रमेशर तुम लोग लाश उठाकर ले जाओ।"[1]

निश्चित रूप से अरुण प्रकाश इस कहानी के माध्यम से आम जनता में चेतना जागृत करते हैं तथा इस बात को प्रमुखता से स्पष्ट करते हैं कि श्रद्धा और संस्कार अपनी जगह ठीक है लेकिन अंध श्रद्धा जानलेवा साबित होती है। यह व्यक्ति और समाज के पतन का कारण बनती है। वहीं अरुण प्रकाश ने अपनी कहानी 'कफन 1984' प्रेमचंद की 'कफन' कहानी से प्रेरित होकर लिखी है। इसमें वे दिखाते हैं कि प्रेमचंद कालीन ग्रामीण समाज और अरुण प्रकाश के

समकालीन समाज यानी 1984 में खास अंतर नहीं आया है। शोषक और शोषित का तरीका बदल गया है। प्रेमचंद की 'कफन' कहानी में कफ़न के पैसों को घीसू और माधव खाने-पीने में उड़ाते है। वही अरुण प्रकाश की कहानी में दिखाया गया है कि हेडमास्टर और मुखिया जी अस्पताल में पड़ी लाश लाने के लिए समाज के लोगों द्वारा इकट्ठे किए गए पैसों को ईश्वर का नाम देकर हड़प लेते है और कहते हैं कि उसकी आत्मा को शांति मिले । वह हमारा ऋण चुका कर नहीं मरा इसलिए हम उसके परलोक की चिंता करते हुए बचे हुए पैसों को रख लेते हैं। इस सन्दर्भ में कहानी की पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं- "मुखिया जी गरजे, "बोलने वाले तुम कौन होते हो। चंदा देते गाँड़ फटती थी और चले हैं हिसाब माँगने... माथे पर कर्जा लेकर बुधुआ मर गया ! वह नरक ही न जाता मास्टर साहब! अब बुधुआ कर्ज से उबर गया... तो नरक नहीं जाएगा। अब उसको स्वर्ग में जाने से कौन रोक सकता है?"

हेड मास्टर साहब मुस्कुराए "मुखिया जी आज सत्संग में भी चलना है, ग्यारह बजे से हैं। आपने मेरा डूबा पैसा भी वसूल करवा दिया!"

अरे छोड़िये यह सब तो दुनियादारी है ।" मुखियाजी विजयी भाव से गहरा कर बोले, "यह सब तो लगा ही रहता है। धरम-करम भी चलना चाहिए दोनों साथ ही सत्संग में चलेंगे।"

मुखिया जी और हेडमास्टर साहब उठ खड़े हुए ।...और दोनों खड़े होकर गाने लगे, ठगिनी क्यों नैना झमकावै! ठगिनी...।"[2] कहना न होगा कि अरुण प्रकाश ने बिना किसी लाग-लपेट के शोषित वर्ग के चेहरे को निर्ममता के साथ उजागर किया है। यह वर्ग प्रेमचंद के समय में भी धर्म की आड़ लेकर गरीब लोगों का शोषण करता है और आज भी कर रहा है।

'कहानी नहीं' में सवितरी के माध्यम से भी उन्होंने ग्रामीण मजदूर और स्त्री-पुरुष के बीच प्रेम और शोषण को सामने लाया है। किस तरह मुसहर जाति की मजदूरी करती सवितरी को फंसाकर दाल में गिरी मक्खी की तरह फेंक देते है। 'कमगोबर' में ग्रामीण समाज दो भाइयों के अलग होने और आपसी प्रतिस्पर्धा को देखा जा सकता है। दिवाकर पढ़े-लिखे होने के बावजूद दिखावे में रह जाता है और केदार कम पढ़ा लिखा है लेकिन वह अर्थार्जन कर आगे बढ़ता है। उसमें समाजिकता है और वह लोगों के सामने अपनी तारीफ नहीं करता बल्कि अपना काम करता है। दिवाकर सिर्फ बड़ी-बड़ी बाते करता है। यहाँ लेखक का सन्देश साफ है कि आगे बढ़ने के लिए तरक्की करने के लिए काम और मेहनत करनी पड़ती है और सिर्फ दिखावा करना भारी पड़ जाता है। जैसा कि केदार और दिवाकर के विषय में देखा गया। 'सुनबहरी' कहानी में लेखक भजन की बीमारी के माध्यम से बताता है कि बीमार भजन बिस्तर पर लेटा खाट के नीचे थोड़ा-थोड़ा कफ थूकता था इलाज का पैसा नहीं था लेकिन वह सफाई करके रोग को और फैलने से रोक सकते थे।

'भैया एक्सप्रेस' कहानी में भी ग्रामीण शोषक और शोषित वर्ग को देखा जा सकता है। विषुन देव कमाने गया है। वह जो रूपया पैसा भेजता है। उससे उसकी माँ महाजनों से लिए हुए ऋण को चुकाने जाती थी । इस सन्दर्भ में कहानी की कुछ पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं- "इस बार भी पंडित जी ने ही पैसों की मदद की। भैया की शादी में कर्ज चढ़ा तो मुश्किल हो गई। मूल तो मूल, सूद सुरसा की तरह बढ़ने लगा । आखिर भईया को थाली - लोटा, कम्बल, वंशी लेकर कमाने पंजाब जाना पड़ा। वहाँ से वह पैसा भेजता तो माई सीधा पंडित जी को जाकर देती। कर्ज चुकने को ही था कि अचानक सबकुछ बंद!"[3] गाँव में गरीब और गरीब, अमीर और अमीर होता जा रहा है। इसके पीछे के कारणों में से एक कारण सूद ब्याज का लेन देन भी है। जिससे गरीब जीवन भर चुकाता है । अरुण प्रकाश ने अपनी कहानियों में गाँव की छोटी-छोटी तस्वीर बहुत ही सजग दृष्टि से उतारी है।

अरुण प्रकाश ने नगरीय जीवन की जो कहानियाँ लिखी हैं वे पलायन के बाद शहर में गाँव के व्यक्ति द्वारा जीवन की तलाश करने कि स्थिति का बयान है । नगरीय जीवन से संबंधित कहानियाँ 'सनडे' 'शेष', 'साँप' और 'आखिरी रात का दुःख' इन कहानियों के कुछ अंश को देखा जा सकता है। आखिरी 'रात का दुःख' कहानी में लेखक ने एक अजीब प्रकार की मन:स्थिति का चित्रण किया है। जिसमें व्यक्ति शराब, सिगरेट का नशा कर नृत्य करके नये साल का उत्सव मनाता है। यह शहरों की ही समस्या है । गाँव में बहुत यह नाममात्र ही है। 'सनडे' कहानी में कमजोर गरीब वर्ग को दिखाया गया है कि किस तरह वे नगर के एक कमरे में जीवन बिताने को बाध्य होते हैं। विस्थापित परिवार है जो नगर में जाकर रहता है उनके पास पढ़ने के लिये ना कोई जगह है न ही बिजली बिल देने का पैसा । बेटी ट्यूशन पढ़ाती है खुद भी पढ़ती है । वही बेटा पार्क में जाकर पढ़ता है । विस्थापित लोग नगरों में जाकर रहने खाने जैसी मूलभूत आवश्यकताओं से पूरा जीवन जूझते रहते हैं। 'तुम्हारा सपना नहीं' कहानी का नायक भी जाता है मुम्बई में अभिनेता बनने लेकिन वह वहाँ अपनी खुद की खोली खरीदने और रोज के खाने के बंदोबस्त में ही रह जाता है। वह अपने सपने को खत्म कर लेता है मुम्बई जाकर । 'भैया एक्सप्रेस' कहानी में नगरीय जीवन का यथार्थ देखा जाए तो इसमें रामदेव से ट्रेन में पहनावा देखकर अलग तरह का भेदभावपूर्ण व्यवहार किया जा रहा था । तथाकथित सभ्य कहे जाने

वाले व्यक्तियों द्वारा भेदभाव किया जा रहा था इस सन्दर्भ में कहानी की पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं- "भैणचो... मरने चले आते हैं! ये रिजरवेशन का डिब्बा है। तेरा रिजरवेशन है?"[4]

नगरीय जीवन की ठेठ व्यथा को व्यक्त करती कहानी 'कथा उपकथा' है । जिसमें एक साँप घर के अन्दर घुस आता है और उसको मारने के लिए मिसेज चन्द्रा पूरा आस-पड़ोस एक कर देती है । सभी का दरवाजा खटखटाती है। कोई गेट खोलता है कोई खोलता भी नहीं। मात्र डण्डा मांगने के लिए वह घर-घर चक्कर लगाती है । यदि कोई गेट खोलता है तो वह डंडा या तो उसके पास होता नहीं लेकिन मिसेज चन्द्रा से तहकीकात काफी देर तक करता कि वाशरूम में कैसे सांप आया, फर्श पर कैसे चढ़ा। त्योहार के दिन नाग पंचमी के दिन आया है मत मारो, सांप कब आया? कैसे आया अनेक तरह की बात करते हैं लेकिन सहयोग करने कोई नहीं आता । मिसेज चन्द्रा अन्त में परेशान होकर कहती है, अच्छा है डंडा नहीं मिला नहीं तो मारने वाला ढूढ़ना पड़ता । नगरीय जीवन में किसी को किसी से मतलब नहीं, कोई सामाजिकता नहीं। यहीं गाँव होता तो गाँव भर के लोग भीड़ लगा देते और सांप को ठिकाने लगाकर ही जाते। और अंत में वह एक ढाबे पर जाती हैं । ढाबे का मालिक आकर सांप को मारता है। इस सन्दर्भ में कहानी की पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं- "किशन सिंह अपने ढाबे से बिखरा सामान समेट रहा था। राकेश रंजन और मिसेज चन्द्रा को अपनी ओर आते देख वह रुक गया। "राम-राम चौधरी।" "राम-राम बाऊ जी । कहो क्या बात हो गई? तेरा अखबार तो चल रिया है न?" "बस मामूली सी बात चौधरी । मिसेज चन्द्रा के घर में साँप घुस आया है। मारने के लिए छोटा सा डंडा चाहिए ।"

'अरे एक नहीं तीन ले जाओ बाऊ जी । आजकल साँपों का बाहर निकलने का टैम है। अच्छा रूको मैं चलता हूँ। ए जोगिन्दर, सामान जल्दी अंदर कर, मैं अभी आया।"...मिसेज चन्द्रा ने इत्मीनान की साँस ली। आखिर उन्होंने साँप मारने के लिए डंडा तो क्या मारने वाले का भी इंतजाम कर लिया था ।"[5] इस कहानी के माध्यम से महानगर की कड़वी सच्चाई का पता चलता है।

अंत में कहा जा सकता है अरुण प्रकाश ने ग्रामीण जीवन और नगरीय जीवन दोनों को देखा और जिया है। दोनों जगहों की बहुत बारीक परतों को वे पाठक के सामने उधेड़ते है । उनकी कहानियों में स्त्री की विविध छवियाँ हैं, जो किसी भी परिस्थिति से अपने आप को बाहर निकाल लेती है। हार नहीं मानती वह पाठक की प्रेरणा स्रोत हैं। इन्होंने सबसे ज्यादा कहानी निम्न वर्ग, मध्य निम्न वर्ग और महिला वर्ग के संदर्भ में लिखी है। कोई भी जन चेतना का लेखक समाज के इन्हीं वर्गों की समस्या को दिखाकर मार्ग दर्शन भी करेगा जैसाकि लेखक ने किया है।

संदर्भ सूची:-

1. प्रकाश, अरुण-प्रतिनिधि कहानियाँ, राजकमल पेपरबैक्स, पहला संस्करण- 2016, पृष्ठ- 46,47,51
2. प्रकाश. अरुण-भैया एक्सप्रेस, अंतिका प्रकाशन, प्रथम संस्करण - 1992, पृष्ठ- 57
3. वही, पृष्ठ 20
4. वही, पृष्ठ 19
5. प्रकाश, अरुण- जल-प्रांतर, अंतिका प्रकाशन, संस्करण-2013, पृष्ठ 68

*****

मोहन राकेश कृत 'आधे अधूरे' नाटक में चित्रित मध्यवर्गीय परिवार की समस्याओं का विश्लेषण

-भारती
पीएच. डी. शोधार्थी
(हिंदी साहित्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय
जेआरएफ उत्तीर्ण (हिंदी)
फोन नंबर – 9354215858
bhartimourya158b@gmail.com

सारांश

प्रसिद्ध नाटककार मोहन राकेश कृत नाटक 'आधे अधूरे' की कथावस्तु एक मध्यवर्गीय परिवार की स्थिति को केंद्र में रखकर की गई है। जहां लेखक ने पति - पत्नी के बीच गृह कलह का चित्रण करते हुए, यह बताने का प्रयास किया है कि पति के बेरोजगार व स्वाभिमान रहित व्यक्तित्व और पत्नी की अतृप्त इच्छाएं , काम कुंठाएं किस प्रकार पारिवारिक विघटन के कारण बनते हैं । और इन कुंठाओं के चलते किस प्रकार पारिवारिक जीवन क्लेशपूर्ण,अशांत व असहनीय बन जाता है।

परिवार का हर सदस्य परिवार में घुटन व ऊब का शिकार होता है। यह नाटक स्वतंत्रता के पश्चात के मध्यवर्गीय परिवार के आर्थिक विषमताओं , पारिवारिक बिखराव , मानसिक तनाव, नैतिक पतन और असंतुष्ट जीवन का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करता है।

आधे अधूरे नाटक आधुनिक भारतीय मध्यवर्गीय परिवार के संत्रास और बिखराव की कहानी है। इसमें स्त्री पुरुष के दाम्पत्य संबंधों के दोगलेपन के साथ साथ पारिवारिक विघटन के संकेतों को बहुत सुंदर ढंग से इस नाटक में दर्शाया गया है।

बीजशब्द – महत्वाकांक्षाएं, घुटन, जीवन मूल्य, अभावग्रस्तता, क्षुब्ध पीड़ा, विसंगति, अतृप्तता असार्थकता, बिखराव,त्रासदी, लगाव – तनाव का दस्तावेज, असंतुष्टता, नैतिक पतन , अधूरापन

प्रस्तावना

मोहन राकेश कृत नाटक ' आधे अधूरे ' समसामयिक समस्याओं,संवेदनाओं और त्रासद जीवन के ताने बाने में बुना गया नाटक क्षेत्र में एक नवीन व साहसिक कदम है। वास्तव में यह नाटक एक समस्या प्रधान नाटक है, जो आज मनुष्य की तथाकथित आधुनिकता से घिर आई अनिश्चितता , अधूरेपन तथा एकरसता में मानव व्यक्तित्व की एक संपूर्णता खोजने का उपक्रम है। इसमें आज के मनुष्य की अंतहीन और अनियंत्रित यंत्रणाओं के गर्भ में स्त्री मुक्ति भावना, वैवाहिक संबंधों की विडंबना , स्त्री पुरुष के अधूरेपन तथा विघटनशील जीवन मूल्यों का प्रकर्ष है।

इस नाटक में आधुनिक संदर्भों का उल्लेख करते हुए यांत्रिक सभ्यता के दबाव में मध्यवर्गीय परिवार के विघटन का यथार्थ चित्रण है। किस प्रकार उच्च जीवन स्तर की आकांक्षा ने एक मध्यवर्गीय परिवार को अनुशासनहीन और आवारा बना दिया है। नाटक में पति पत्नी के गृह कलह को आधार बनाकर पत्नी की काम कुंठाओं को तथा पति के आत्मविश्वास ,स्वाभिमान रहित ,बेरोजगार व्यक्तित्व का विश्लेषण प्रस्तुत कर यह बताया गया है कि, किस प्रकार ये कुंठाएं पारिवारिक जीवन को अशांत और असहनीय बना देती है।

महेंद्रनाथ जो नाटक की मुख्य स्त्री पात्र सावित्री का पति है, आरामतलब और घरघुसरा होने के कारण उसे कहीं काम नहीं मिल सका । वह अपनी पत्नी की कमाई पर आश्रित हो जीवन बिताने लगता है। जिसके परिणामस्वरूप उसे परिवार में अपमान का सामना करना पड़ता है । वह स्वयं अपने बारे में कहता है –

"अपनी जिंदगी चौपट करने का जिम्मेदार मै खुद हूं । तुम्हारी ज़िंदगी चौपट करने का जिम्मेदार मैं हूं। इन सब की जिंदगियां चौपट करने का जिम्मेदार मैं हूं। फिर भी मैं इस घर से चिपका हुआ हूं , क्योंकि अन्दर से मैं आरामतलब हूं घरघुसरा हूं । मेरी हड्डियों में जंग लग गया है। " [1]

सावित्री इस नाटक की प्रमुख स्त्री पात्र है, जो मध्यवर्गीय परिवार की नौकरीपेशा स्त्री है, जो विगत 10 वर्षों से अपनी नौकरी के बल पर अपने परिवार का भरण पोषण करती आ रही है। सावित्री सोचती है कि सारा उत्तरदायित्व उसी पर है । वह कहती है –

" अगर मैं कुछ खास लोगों से संबंध बनाकर रखना चाहती हूं तो अपने लिए नहीं तुम लोगों के लिए पर तुम लोग इससे छोटे होते हो तो मैं छोड़ दूंगी। कोशिश हां इतना कहकर ही की " मैं अपने अकेले के दम पर इस घर की जिम्मेदारियां उठाती नहीं रह सकती और एक आदमी है जो घर का सारा पैसा डुबोकर सालों से हाथ पर हाथ धरे बैठा है। दूसरा अपनी कोशिश से कुछ करना तो दूर मेरे सर फोड़ने से भी किसी ठिकाने लगना अपना अपमान समझता है। "[2]

सावित्री स्वयं असंतुष्ट है और प्रतिदिन अधिक टूटती जाती है। वह अपने पति को पूर्ण पुरुष नहीं मानती ,उसकी दृष्टि में वह आधा अधूरा पुरुष है इसलिए वह पूर्ण पुरुष की तलाश में रहती है और वह अनेक लोगों के संपर्क में आती है। वास्तव में सावित्री की आंतरिक पूर्णता की तलाश और वैवाहिक जीवन की विवशता पुरुष चार के शब्दों में सही रूप में अभिव्यक्त हुई हैं –

" असल बात इतनी ही है कि महेंद्र की जगह कोई और आदमी भी होता तुम्हारी जिंदगी में , तो साल दो साल बाद तुम यही महसूस करती की तुमने गलत आदमी से शादी कर ली है। उसकी ज़िंदगी में ऐसे ही कोई महेंद्र , जुनेजा या विश्वजीत या कोई जगमोहन होता जिसकी वजह से तुम यही सोचती ,यही सब महसूस करती क्योंकि

तुम्हारे लिए जीने का अर्थ रहा है – कितना कुछ एकसाथ ओढ़कर जीना । वह इतना कुछ कभी तुम्हे किसी एक जगह नहीं मिल पाता। इसलिए जिस किसी के साथ भी ज़िंदगी शुरू करती , तुम हमेशा उतनी ही खाली , उतनी ही बेचैन रहती ।"[3]

इसी आधे अधूरेपन के कारण इस नाटक के सभी पात्र अपनी स्वाभाविकता खो बैठें हैं।

वैश्वीकरण के इस दौर में स्त्री पुरुष के संबंध किस हद तक प्रभावित होते है इसकी झलक इस नाटक में होती है। आर्थिक कारणों से सामाजिक, पारिवारिक व्यवस्था के स्तंभ कहे जाने वाले स्त्री पुरुष एक दूसरे के सहयोगी न होकर विरोधी प्रतिद्वंदी प्रतीत होते हैं ।

सावित्री के माध्यम से नाटक में मध्यवर्गीय पुरुष की मानसिकता का उद्घाटन हुआ है । महेंद्रनाथ, जगमोहन , जुनेजा,सिंघानिया व अशोक आदि सभी पात्रों की मानसिकता का उद्घाटन सावित्री के माध्यम से ही संभव हुआ है।

रमेशचंद्र मिश्र आधे अधूरे के पुरुष पात्रों के संबंध में लिखते है –

" इसमें पात्रों की अमृत मनोदशा की अभिव्यक्ति है। इन पात्रों की जो आज की परिस्थितियों में विवश होकर जी रहे है। जो अभावों और कुंठाओं से अभिशप्त है। पात्रों की मन:स्थितियों और संवेदनाओं की टकराहट ही उनकी चारित्रिक विशेषता है। इनमें पात्रों का, स्वयं का अंतर्द्वंद्व ही उनकी जीवंतता है। सभी अपने पारिवारिक संबंधों से आशक्ति, क्रोध व उत्तेजना की स्थिति में है । प्रत्येक अपने एक दूसरे से अपरिचय और अजनबी की स्थिति में जी रहा है । प्रत्येक अपने आप में अधूरा है फिर भी एक दूसरे के अधूरेपन को सहने में असमर्थ है। सभी पात्र काल्पनिक पूरेपन की तलाश में प्रयत्नशील है । और ऐसा करते हुए वें एक दूसरे की जिंदगी को अभिशप्त बना रहे हैं।"[4]

वास्तव में ऐसा लगता है कि ये सभी पात्र महेंद्रनाथ के ही मुखौटे हैं। जो अलग 2 रूपों में सावित्री के पास आते हैं और अधूरे प्रमाणित होते हैं।

ओम शिवपूरी के शब्दों में – ***" यह आलेख एक स्तर पर स्त्री और पुरुष के बीच लगाव और तनाव का दस्तावेज है। महेंद्रनाथ सावित्री से बहुत प्रेम करता है। सावित्री भी उसे चाहती रही होगी । लेकिन ब्याह के बाद महेंद्रनाथ को बहुत निकट से जानने पर उसे उससे वितृष्णा होने लगी क्योंकि जीवन से सावित्री की अपेक्षाएं बहुमुखी और अनंत हैं। अब महेंद्रनाथ की बेकारी की हालत में वह और कटु हो गई। एक और घर चलाने का असहनीय बोझ तो दूसरी और जिंदगी में कुछ और भी हासिल न कर पाने की तीखी कचोट।अपने बच्चों के बर्ताव से अत्यंत तिक्त हुई सावित्री बची खुची जिंदगी को पूरे सम्पूर्ण पुरुष के साथ बिताने की आकांक्षा रखती है। यह आकांक्षा पूरी नहीं हो पाती । क्योंकि संपूर्णता की तलाश ही वाजिब नहीं।"*** [5]

सावित्री निरंतर किसी न किसी विकल्प की खोज में लगी रहती है। किंतु कोई स्थाई विकल्प नहीं पाती और अंततः हार जाती है और विकल्पहीन होकर निराशा, कुंठा,अभाव व अतृप्त जीवन जीने को विवश हो जाती है।

आधुनिकीकरण, औद्योगिकीकरण ,नगरीकरण ने न केवल सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप में परिवर्तन किया है अपितु पारिवारिक जीवन में एक क्रांतिकारी बदलाव उपस्थित किया है। पारिवारिक मूल्यों और रिश्तों में तेज़ी से गिरावट आई है। अर्थतंत्र इतना प्रभावी हो गया है कि पति पत्नी के संबंधों की मधुरता नदारद हों गई है।

इस नाटक के सभी पात्र वैयक्तिक और सामाजिक दोनों धरातलों पर अभावग्रस्त , असंतुष्ट , परावलंबी है। अशोक का दिशाहीन व्यक्तित्व ,उसके जीवन का कोई लक्ष्य नहीं । वह केवल अपना समय नष्ट कर रहा है। उसके जीवन में भयानक खालीपन है। घर की बड़ी बेटी बिन्नी केवल घर से निकलने के लिए प्रेम और शादी करती है । **डॉ. रामजन्म शर्मा** के अनुसार –

" बड़ी लड़की बिन्नी युवतियों के ऐसे वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है जो संबंधों की वास्तविकता को जाने बिना बहकावे में आकर अपना जीवन नष्ट कर लेती हैं । और सिवाय घुटन के उनके जीवन में कुछ भी शेष नहीं रह जाता ।"[6]

प्रेम में जिस गहराई , उदात्तता, विवेक और आत्मीयता की आवश्यकता होती है वह मनोज और बिन्नी के बीच नहीं है। जिसके अभाव में उसका दांपत्य जीवन नरक के समान हो जाता है । घर की छोटी लड़की किन्नी भी इसी तरह कुंठाओं का शिकार है । वह यौन कुंठाओं से पीड़ित और भयंकर रूप से चिड़चिड़ी है। उसे बातचीत करने का तरीका बिल्कुल नहीं है। वह साधारण तरीके से किसी से बात नहीं करती ।

ओम शिवपुरी अपने मत को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि –

" इसमें सावित्री ,महेंद्रनाथ, अशोक , बिन्नी और किन्नी आदि पात्रों के द्वारा मध्यवर्गीय विघटनशील, पारिवारिक और दाम्पत्य जीवन में व्याप्त आक्रोश , असंगति तथा रिक्तता के स्वर सुनाई देते हैं । यह एक पर स्त्री पुरुष के लगाव और तनाव का दस्तावेज है।" [7]

इस नाटक के सभी पात्र अहम से ग्रस्त है। महेंद्रनाथ के आर्थिक रूप से परिवार चलने में अक्षम होने के कारण उसकी परिवार की इज्जत नहीं करता है । वह अपने झूठे अहम की तुष्टि के लिए लगातार पत्नी से बहस करता है। वह अपनी पत्नी को उलाहने देते हुए कहता है – " ***पुरुष एक : आ गई दफ्तर से ? लगता है आज बस जल्दी मिल गई। "***[8]

आर्थिक विषमता किस प्रकार मध्यवर्गीय परिवार को भी बिखेर देती है , इसका यथार्थ चित्रण आधे अधूरे नाटक में देखने को मिलता है । आर्थिक विषमता के कारण न केवल पति पत्नी के संबंध ही विघटित नहीं होते बल्कि परिवार के अन्य सदस्यों के बीच भी दरार पड़ जाती है । इसके संदर्भ में **डॉ. सुषमा अग्रवाल** लिखती हैं –

" वस्तुतः राकेश ने सावित्री के रूप में एक सशक्त और जिंदादिल नारी का निर्माण किया है किन्तु अंततः वह भी भारतीय नारी ही है। " [9]

इस प्रकार महेंद्रनाथ एक भी अवसर नहीं छोड़ता है सावित्री पर व्यंग्य करने का । दूसरी ओर सावित्री भी उसे नाकारा समझती है।

यहां भी और बिन्नी और मनोज में भी यही अहम ही समस्या विद्यमान है

। अशोक भी अपने अहम के चलते सिंघानिया की बात का जवाब नहीं देता । ये सभी पात्र अपनी सीमाएं और कमियां जानते हुए भी, एक दूसरे के प्रति उग्र और क्रूर हो जाते हैं । अपना दोष दूसरे पर डालते हैं । **ओम शिवपूरी** के अनुसार – ***" एक दूसरे स्तर पर यह नाट्य कृति पारिवारिक विघटन की गाथा है । इस अभिशप्त कुटुंब का हर सदस्य एक दूसरे से कटा हुआ है। घर की त्रासदायक हवा से वें अपने और दूसरों के लिए जहरीले हो रहे हैं ।"*** [10]

इन सभी समस्याओं के कारण ये सभी पात्र अनेक विकृतियों से ग्रस्त हैं। मोहन राकेश ने अपने नाटकों में प्रायः मध्यवर्ग को चित्रित किया है । उनकें जीवन में आने वाली अनेक प्रेम समस्याओं को चित्रित किया है ।

प्रेम में तीसरे व्यक्ति का आगमन प्रेम को असफल करने वाली प्रमुख समस्या है । तीसरे व्यक्ति के आगमन के कारण ही प्रेमी प्रेमिका, पति पत्नी आदि का आनंदमई संबंध विषैला बन जाता है । मोहन राकेश ने इस समस्या का चित्रण अपने सभी नाटकों में प्रभावी ढंग से किया है ।

आधे अधूरे नाटक में भी महेंद्रनाथ और सावित्री का प्रेम विवाह हुआ है। मगर तीसरे व्यक्ति सिंघानिया के कारण पति - पत्नी का संबंध विषैला बन जाता है। घर में एक दूसरे को नफरत की दृष्टि से देखना , एक दूसरे को कोसना आदि बातें हर रोज चलती हैं। तलाक तक की नौबत आ जाती है, परन्तु किसी कारणवश एक दूसरे को छोड़ नहीं पाते । सावित्री के चरित्र पर शक करते हुए महेंद्रनाथ कहता है – " ***सिंघानिया इसका बॉस, वह नया आना शुरू हुआ है आजकल"*** [11]

उसका यह शक सही भी है । अशोक को भी सिंघानिया का घर पर आना पसंद नहीं है । वह तीसरे व्यक्ति (सिंघानिया) के संबंध को लेकर कहता है – " ***बुलाती क्यों हो ऐसे लोगों को घर पर जिनके आने से हम जितने छोटे होते है उससे और छोटे हो जाते हैं अपनी नज़र में ।"***[12]

इस प्रकार तीसरे व्यक्ति का आगमन न केवल पति पत्नी बल्कि मां बेटे के प्रेम में भी समस्या बन गया है ।

असंतोष की भावना

मानव सदैव किसी न किसी कारणवश असंतोष की भावना से घिरा रहता है।

कोई व्यक्ति अपने जीवन में पूर्ण संतुष्ट नहीं होता। इसी असंतुष्टता की तुष्टि के लिए आजीवन उसके पीछे भागते रहते हैं। सबसे अधिक असंतोष की भावना मध्यवर्गीय परिवारों में दिखाई देती है । इसी भावना के कारण यहां पारिवारिक विघटन ,तनाव आदि दिखाई देते है ।

इस समस्या को भी इस नाटक में बखूबी दर्शाया गया है । इस नाटक के सभी पात्रों में असंतोष की भावना दिखाई देती हैं। परिवार का कोई भी सदस्य आर्थिक ,सामाजिक दृष्टि से संतुष्ट नहीं । यह भावना आधे अधूरे की प्रमुख पात्र सावित्री के माध्यम से स्पष्ट रूप से चित्रित की गई है। वह सब कुछ होते हुए भी असंतुष्ट है। वह अपने पति से भी संतुष्ट नहीं है , वह कहती है – ***" मुझे भी अपने पास मोहरे की बिल्कुल ज़रूरत नहीं ,जो न खुद चलता है और न किसी और को चलने देता है ।"***[13]

असंतुष्टता के कारण ही वह बाहर सुख की खोज में भटकती है । वह पूर्ण पुरुष की तलाश में कितने ही पुरुषों के साथ संबंध रखती है । वह अपनी संतानों से भी संतुष्ट नहीं है । वह घर से भाग जाना चाहती है । मगर किसी तरह भाग नहीं पाती। इस प्रकार सावित्री अपने पारिवारिक जीवन से कभी संतुष्ट नहीं रही।

स्पष्ट है असंतुष्टता प्रेम और पारिवारिक जीवन में बाधा उत्पन्न करने वाली प्रमुख समस्या है ।

स्वभावगत भिन्नता

प्रेम में बाधा उत्पन्न करने वाली प्रमुख समस्याओं में से एक स्वभावगत भिन्नता है। और इस समस्या का चित्रण मोहन राकेश के एकमात्र नाटक 'आधे अधूरे ' में देखने को मिलती है। अगर पति पत्नी के स्वभाव में मेल न हो, दोनों के सोचने ,रहने सहने ,बात करने ,पसंद नापसंद में भिन्नता हो उसे स्वभावगत भिन्नता कहते हैं।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि आधे अधूरे मध्यवर्गीय समाज पर आधारित एक समस्या नाटक है । इसके सभी पात्र अपने आप को आधा अधूरा समझते है और पूर्णता की तलाश में रहते हैं। इसी कारण पारिवारिक विघटन और दरार जैसी समस्याएं देखने को मिलती हैं। मोहन राकेश ने इस नाटक के माध्यम से संपूर्ण मध्यवर्गीय परिवारों की विडंबना को दर्शाने का प्रयास किया है ।

संदर्भ ग्रन्थ

1. मोहन राकेश,आधे अधूरे, पृष्ठ स – 36
2. वही पृष्ठ स. 54
3. आधे अधूरे, पृष्ठ स. 108
4 दशरथ ओझा,(स) समकालीन हिंदी नाटक, पृ. स. 84
5 नाटक रंगमंच और मोहन राकेश , डॉ. सुरेंद्र यादव तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली 2 , प्रथम संस्करण 2002 , पृष्ठ स. 130
6 स्वातंत्र्योत्र हिंदी नाटक (1947 से 1984 तक) डॉ. रामजन्म शर्मा,लोक भारती प्रकाशन , प्रथम संस्करण 1984, पृष्ठ. स. 273
7. ओम शिव, आम के रंग नाटक ,पृष्ठ स. 345
8. आधे अधूरे मोहन राकेश , पृष्ठ स.17
9. डॉ. सुषमा अग्रवाल, अपने नाटकों के दायरों में मोहन राकेश, पृष्ठ स. 134
10. नाटक रंगमंच और मोहन राकेश , डॉ. सुरेंद्र यादव, पृष्ठ स. 130
11. आधे अधूरे पृष्ठ स. 36
12. वही पृष्ठ स. 69
13. वहीं पृष्ठ स. 109

*****

राजेन्द्र यादव का आलोचना-कर्म

-ज्ञान प्रकाश यादव
शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली -110007
मो. 8726531007
ईमेल – ssgpyadav1993gmail.com

शोध-सार : राजेन्द्र यादव साहित्यिक, समसामयिक एवं राजनीतिक विषयों पर बराबर लिखते रहते थे। वे मिथक, साम्प्रदायिकता और समकालीन विमर्शों पर अपनी आलोचकीय दृष्टि का परिचय बराबर देते थे। मैंने इस आलेख में उनके सम्पादकीयों के माध्यम से उनके आलोचना-कर्म पर प्रकाश डाला है।

बीज शब्द : समकालीन राजनीति, दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, मनोविश्लेषणवाद, मानवतावाद, साम्प्रदायिकता, आश्वसनाचार्य।

मूल आलेख : राजेंद्र यादव नई कहानी आंदोलन के प्रवर्तक, कहानीकार, उपन्यासकार व संपादक होने के साथ - साथ हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक भी थे। उनका आलोचना कर्म गद्य साहित्य के क्षेत्र में अधिकता से विकसित होता है। वे कहानी एवं उपन्यासों की आलोचनाओं के साथ संपादकीय में समसामयिक प्रसंगों की भी आलोचना करते थे। अपने समय के प्रभावी मुद्दों पर वे अपनी आलोचना दृष्टि का विधिवत परिचय देते हैं। राजेन्द्र यादव हिंदी साहित्य में मील के पत्थर हैं। वे नई कहानी आंदोलन से लेकर स्त्री विमर्श तक अपनी आलोचकीय प्रतिभा का परिचय देते हैं। वे समय को पहचानने वाले रचनाकार थे। यदि वे समय को न पहचानते तो नामवर सिंह जैसे अनेकों की तरह विमर्शों के दौर में विमर्शों पर अपनी स्थिति भी स्पष्ट न कर पाते।

वे अभिव्यक्ति की आजादी, मुद्रण में कागजों की समस्या पर अपनी बात रखते हुए कहते हैं कि, "मुद्रित शब्द का अस्तित्व ही जब संकट में है, तब 'बुद्धिजीवी की स्वतंत्रता', 'अभिव्यक्ति का अधिकार', 'सम्प्रेषण की समस्या', 'विरोध की आवश्यकता' जैसी धारणाओं को शहद लगाइए और ड्राइंगरूमी बहसों में चाटिए...।"[1] वर्तमान समय में किस तरह सत्ता की मुखालफ़त पर प्रतिबंध लगा है? यह तथ्य किसी से छिपा नहीं है। सरकारी संस्थाओं में सरकारी नौकरों की संख्या कम की जा रही है। उसका निजीकरण किया जा रहा है। इससे जीवन को गर्त में धकेल देने वाली महामारी बेरोजगारी का जन्म हो रहा है। स्कूली-जीवन में ही विद्यार्थियों को विद्यालयों एवं कॉलेजों में निबंध लिखवाया जाता है - बेरोजगरी एक अभिशाप है, बेरोजगारी एक बीमारी है, बेरोजगारी महामारी है, आदि विषयों पर न जाने कितनी बार देश के कोने-कोने में निबंध प्रतियोगिताएं हुई होंगी। लेकिन उनका कुछ असर हुआ है कि नहीं, यह विचारणीय है। यदि असर हुआ होता तो क्या आज भी यह महामारी इसी रूप में बनी रहती?

आजकल के सामान्य जन-जीवन में आश्वासनों का एक जाल बिछाया जाता है, जिसमें सीधी-साधी, भोली-भाली जनता आसानी से फंस जाती है। जब अपने वादों को वर्चस्वशाली लोग पूरा नहीं कर पाते तो उन्हें टाल या दूर तक ठेल देते हैं। यह टालमटोल उनकी बेशुमार आदत का स्थाई धरोहर है। इन वर्चस्वशालिओं को कबीर के निम्न दोहे से प्रेरणा लेनी चाहिए -

"काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
पल में प्रलय होयगी, बहुरि करेगा कब।।"

साहित्य राजनीति को दिशा देता है। उपन्यास सम्राट प्रेमचंद का कथन इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है - "साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफ़िल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है, -उसका दर्जा इतना न गिराइए। वह देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सचाई है।"[2] आश्वासनों की हकीकत को राजेंद्र यादव के शब्दों में देखिए - "सांस्कृतिक-बौद्धिक हो या सामाजिक-आर्थिक-हर स्तर और धरातल पर 'डेफिसिट - फाइनेंसिंग' में एक दिन को दूसरे दिन तक धकेल ले जाने वाला राष्ट्र या व्यक्ति कब तक अपने-आपको या दूसरों को झूठे आश्वासनों और घोषणाओं में जीवित रख सकता था।"[3]

वे आगे चलकर इन्हीं आश्वासनों की उलझाऊ एवं पकाऊ राजनीति को विधिवत व्याख्यायित करते हुए कहते हैं, "चूँकि देने को किसी के पास कुछ भी नहीं था (दूसरों को योग, शांति, मार्गदर्शन, पुरानी संस्कृति-जैसी वे खोखली चीजें, जिनमें खुद हमें आस्था नहीं है, भिड़ाकर हम आधुनिक होने के ठोस उपकरण चाहते थे) इसलिए हर कोई सिर्फ लेनेवाला था! हममें से हर व्यक्ति महसूस करता था कि भभूत देकर जेट खरीदने का सौदा वस्तुतः किस आधार पर टिका है। इसलिए भीषण अविश्वास और असुरक्षा में साँस लेने के माहौल में कौन, क्यों कुछ मूल्यों, आदर्शों, सिद्धांतों, दर्शनों और लक्ष्यों से चिपका रहता? इन सबको फालतू होना ही था।"[4]

राजेन्द्र यादव अपने लेखन के प्रति चिंतित रचनाकार हैं। वे समय-समय पर खुद से प्रश्न करते हैं, उत्तर तलाशने की प्रक्रिया में सतत आगे बढ़ते हैं। वे इन्हीं परिस्थितियों का खुद के सन्दर्भ में मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं, "बौद्धिकता और रचनात्मकता को ये पच्चीस-तीस वर्ष किस शुरुआत पर आकर रुक गये हैं? क्या सभी को कहीं भीतर से यही लगता है कि अभिव्यक्ति मात्र अपनी सार्थकता खो रही है? यह प्रतीक्षा आशा नहीं आतंक जगाती है।"[5] इसमें अभिव्यक्ति की सार्थकता के प्रति उनकी स्पष्टवादिता दिखायी देती है।

जनता लोकतंत्र में विश्वास, आस्था और श्रद्धा रखती है। संसद से ही लोकतंत्र की दिशा और दशा का पता चलता है। देश का सर्वोच्च एवं सर्वमान्य ग्रन्थ संविधान है। संसद में चुने हुए प्रतिनिधि (सांसद) नियम एवं कायदे बनाते हैं। 'जब सांसद खरीदे और बेचे जा रहे है' यानी देश में लोकशाही नहीं पूंजीशाही चलती है। लोकशाही में बसी यह मानवीय बुराई जनता के लिए दुर्दिन के आंसू और खून के खौलते पसीने उपहारस्वरूप भेंट करती है। इस प्रक्रिया का कितना सुन्दर यथार्थ राजेंद्र यादव ने खींचा है - "...तुम्हारे देश के प्रेसीडेंट की सालभर की तनख्वाह मेरी एक दिन की कमाई है ... मुनीम जी, बताना जरा इस बार पार्लियामेंट में कितने एम. पी. अपने हैं ... कितने राइट कितने लेफ्ट ... अरे, चलने दो इनक्वायरी, बैठने दो कमीशन ... हम भी देख लेंगे,

कोई पार्टी आये ... होगी तो आदमियों की ही न ... वे खरीदे नहीं जा सकते क्या ?"[6]

राजेन्द्र यादव विकासवाद, मनोविश्लेषणवाद एवं मार्क्सवाद का प्रभावशाली एवं साहित्यिक विश्लेषण अपनी सम्पादकीयों में करते हैं। उन्हें उदाहरणों के माध्यम से आसान बनाने की कला प्रेमचंद की विरासत में मिली है। उनके प्रत्येक विचार को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। उनकी भाषा में किसी प्रकार का बौद्धिक आतंक नहीं है। वे आधुनिककाल, मध्यकाल, और आदिकाल से होते हुए पुराणों, उपनिषदों और वेदों तक जाते हैं। वे अपनी सम्पादकीय में श्रम की सत्ता पर बल देते हैं। वे शोषण की सत्ता की मुखालफ़त के लिए जाने जाते हैं। उनका कहना है कि, "पिछले सौ-डेढ़ सौ साल के इतिहास को मनुष्य-जाति की सारी परंपरा से काट देने का श्रेय मुख्य रूप से तीन व्यक्तियों को दिया जाता है-डार्विन, फ्रॉयड और मार्क्स।"[7] यह उनका वैश्विक परिदृश्य का विश्लेषण है। वे आगे चलकर मिथकों एवं कल्पनाओं पर लिखते हैं कि, "हम भगवानों, देवताओं और विराट-पुरुषों की ऐसी संताने हैं जो दिनों-दिन छोटी, बौनी और कमअक्ल होती चली जा रही हैं, हमारे पुरखे महान मेधा और प्रचण्ड शक्तियों के स्वामी थे, अद्वितीय प्रतिभाशाली देवपुरुष थे।"[8] मिथ्याभिमान पर यह उनका अद्वितीय प्रभावशाली वाक्य है। इन मिथकों के माध्यम से एक बालक को बचपन से लेकर नौजवान होने तक इतना बांध दिया जाता है कि वह बंधे जाल से निकलने में संकोच करने लगता है। जिस प्रकार जानवर के बच्चे को नियंत्रण में रखने या गुलाम बनाने के लिए नत्थी किया जाता है, उसी प्रकार आदमी के बच्चे को मिथक-विश्वासी। जब तार्किक होकर वह विश्लेषण करता है तब उसे मिथकाचार्य दुष्ट, शैतान, राक्षस, चांडाल, पागल, 'फलाने जगह का पानी तेज होता है', 'मुस्लिम-हितैषी हो गया है', धर्मविरोधी और 'बड़े मानवतावादी बनने चले हैं' आदि न जाने कितनी चिढ़ाने वाली बचकानी मनगढ़ंत कहावते उपहारस्वरूप प्रदान करते हैं। साहित्येतर सोचने पर ये कहावते कम गालियाँ ज्यादा लगती हैं। मिथकाचार्यों से चिढ़ने या असहज होने की नहीं बल्कि मानवतावादी विचारधारा का निर्वाहन करने की जरूरत है। मानवतावादी विचारधारा समस्त प्राणियों के कल्याण पर आधारित है।

मिथकीय श्रद्धा और भक्ति ने इतना भारी नुकसान किया है कि मानवहित के विचारकों में स्वदेशी बहुत कम विदेशी ज्यादा नज़र आते हैं। मिथकीय श्रद्धा और भक्ति में धंसकर मनुष्य विवेकहीन हो जाता है। मिथकीय श्रद्धा और भक्ति का इलाज शिक्षा, तर्क और वैज्ञानिक दृष्टि है। अंधविश्वास और विश्वास के द्वंद्व में राजेंद्र यादव अपने स्पष्टवादी विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि, "इस धार्मिक अन्धविश्वास का खंडन करते हुए डार्विन ने स्थापित किया कि हर जीव की तरह हमारा भी विकास हुआ है और हमारे पुरखे बन्दर या उसके आसपास के कोई जीव थे। ... हमारे भीतर भगवान है, हमारी आत्मा परमात्मा का ही अंश है और अपने अन्दर के ब्रम्हा-साक्षात्कार द्वारा ही हम ईश्वरीय शक्तियों से जुड़ते हैं, सिद्धियों को प्राप्त करते हैं-इस धारणा का ध्वंस किया फ्रॉयड ने। उसने कहा हमारे भीतर अथाह नरक है, अचेतन में दमित और कुंठित वासनाओं के जहरीले सांप फुंकार रहे हैं और भीतर ईश्वर नहीं, यौन-भावना भरी है -हाँ, उसके उदात्तीकरण की संभावना भी है ... सांसारिक दुःख-सुख, अमीरी-गरीबी या बाहरी भौतिक परिस्थितियों के लिए कोई विधाता या भाग्य नहीं, हम खुद जिम्मेवार हैं और अपनी परिस्थितियों के साथ अपने प्रारब्ध को भी खुद ही बदल सकते हैं-यह दृष्टि हमें दी मार्क्स ने।"[9] वे आगे मानव-विकास में डार्विन, फ्रॉयड और मार्क्स के योगदानों को याद करते हुए कहते हैं कि निस्संदेह, ये तीनों मनीषी तीन विचार-क्रांतियों के जन्मदाता हैं और जिस तरह इन्होंने हमारे हजारों सालों के सोच को ही नहीं, सारी स्थितियों को बदला डाला है, वैसा बड़ी से बड़ी लड़ाइयां, तख्ता-पलट राज्य-विद्रोह या शहंशाहों की शक्तियां, हत्याएं और मौतें कभी नहीं कर पाई।

किसी भी विचारक, साहित्यकार और दार्शनिक की वैचारिक दृष्टि प्रश्नों से ही निर्मित-विकसित होती है। वैचारिक विकास की प्रक्रिया में अनगिनत प्रश्नों के समाधान हेतु उत्तर की खोज-बीन की जाती है। राजेंद्र यादव के चिंतन-केंद्र में प्रश्न हैं। वे पहले ऐसे आलोचक हैं जो खुद से बारम्बार प्रश्न पूछते नजर आते हैं। साहित्य की प्रासंगिकता आज क्या है? यह मैं क्यों लिख रहा हूँ? यह सब न लिखूं तो क्या अधूरा रह जायेगा? किस समाज मनुष्य या उसकी नियति को बदलने की दिशा के लिए मैं यह सब लिख रहा हूँ? पूरी मनुष्य-जाति के इतिहास में कब किसी कविता, कहानी, उपन्यास ने समाज को बदला है? मनुष्य की तक़दीर पर जो शासन करते हैं वे कब किसी कविता-कहानी से प्रभावित हुए हैं? कौन-से युद्ध, कौन-सी हत्याएं और कौन-से शोषण साहित्य ने रोके हैं?

वे साहित्यकारों की अस्पष्टता पर चिंतित होते हुए लिखते हैं कि साहित्य कभी कोई दिशा नहीं देता, कभी कोई क्रांति और परिवर्तन नहीं करता-वह तो औरों द्वारा किये गये विचारों और कर्मों से खुद दिशा लेता है, अपने को पैना और प्रभावशाली बनाता है-और आगे जाकर अपने-आपको जीवित रखता है।

उनकी केन्द्रीय चिंता का विषय शोषण, दमन, उत्पीड़न एवं समाज में बढ़ रही कलुषता है। वे प्रेमचंद के विषय में कई महत्वपूर्ण सवाल भी उठाते हैं। उन्हीं में से एक महत्वपूर्ण सवाल यह भी है कि प्रेमचंद की रचनाएँ पढ़कर किन समस्याओं के निदान निकाले गये? वे साहित्य-सम्राट प्रेमचंद की विरासत को सँभालने में कोई कोर कसर न छोड़ते, साथ ही वह प्रेमचंद की विरासत को पुनर्स्थापित करने की जी-तोड़ कोशिश में सफल भी होते हैं। इसी सफलता का परिणाम है-दलित-विमर्श, स्त्री-विमर्श और अंतिम समय में आदिवासी विमर्श। चोरी करने जाता हुआ चोर कुत्तों को चुप कराने के लिए रोटी फेकता हैं। सत्ता चाहती है कि लेखकीय हस्तक्षेप राजनीति में न हो। इसीलिए वह बार-बार लेखकों को राजनीति से अलग रहने की हिदायत देती हैं, जबकि संविधान में राज्यसभा में जाने का लेखकों, बुद्धिजीवियों, इतिहासकारों, साहित्यकारों और वैज्ञानिकों आदि के चुने जाने का प्रावधान है। प्रेमचंद साहित्य को राजनीति के आगे चलने की सलाह सन 1936 में दे चुके हैं। तब देश गुलाम था, अब आजाद है। आजाद भारत की सरकारों के सन्दर्भ में कुछ विद्वानों का यह मानना है कि राजनीति अर्थनीति की कठपुतली हो गई है।

साधु और नेता आश्वासन के मामले में एक जैसे ही हैं। इन दोनों का स्वभाव परस्पर-पूरक है। जिस प्रकार एक-दूसरे से धर्म और राजनीति संबंधित हैं, उसी प्रकार साधु और नेता। धर्म की शुरुआत मिथक-आश्वासनों से होती है और राजनीति की अपूर्ण-आश्वासनों से। इसका कर्त्ता-धर्त्ता, साधु-नेता का अटूट-गठबंधन है। राजेंद्र यादव आश्वासनाचार्यों के स्वभाव को पढ़ने वाले संपादक थे।

संपादन-कर्म में आलोचकीय दृष्टि की अनिवार्यता महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सिद्ध की तो राजेंद्र यादव ने उसका बखूबी निर्वाहन। उनका यह मानना है कि लेखन-मात्र व्यवस्था से विद्रोह है। लेखन संस्थाओं एवं संस्थानों पर सवाल खड़ा करता है। जब तर्क नहीं मिलते तो भारतीय जनमानस 'भगवान की

इच्छा' या 'भाग्य' कहकर तर्क तलाश देता है। क्या यही भारतीय जनमानस की वैज्ञानिकता है? देखिए न किस तरह साहित्य में 'अविगत गति' वाली तर्कातीत व्यवस्था स्थापित की गई-

"अविगत गति
कछु कहत न आवै
ज्यौं गूंगे मीठे फल कौ,
रस अंतरगत ही भावै।" (सूरसागर -सूरदास)

आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि वैज्ञानिकता के अभाव में ही 'अविगत गति' वाली तर्कातीत व्यवस्था स्थापित हो जाती है। राजेंद्र यादव की स्वीकारोक्ति है कि भगवान की इस 'अविगत गति' वाली तर्कातीत व्यवस्था के बरखिलाफ मेरी हर रचना के पीछे अपनी युक्ति और संगति है।

व्यवस्था और संस्था की निगाह में लेखक कभी भी अच्छा आदमी नहीं होता। धार्मिक, नैतिक और राजनैतिक सभी स्तरों पर वह हमेशा अनकम्फर्टेबल या बेचैन-सा महसूस कराने वाला कलाकार ही समझा जाता है। सहज एवं सरल भाषा में इतिहास एवं साहित्य बोध के साथ अपनी बात रखना उनकी अद्वितीय विशेषता है। उन्हीं के शब्दों में-"वाल्मीकि, व्यास और कालिदास की रचनाएं मनु और याज्ञवल्क्य का सीधा-सीधा विद्रूप और विरोध नहीं है ?"

हिंदी साहित्य की प्रचलित मान्यता पर राजेंद्र यादव का दृढ़ विश्वास है कि जिन साहित्यकारों के महत्त्व को उनके जीवन-काल में व्यवस्था, संस्था और समाज नहीं जान पाते बाद में वे ही ज्यादा जाने जाते हैं। यह आदिकाल में सिद्धों, नाथों, जैनों एवं बौद्धों मध्यकाल में कबीर, रैदास, सुर एवं मीरा आधुनिककाल में निराला, महादेवी वर्मा, मुक्तिबोध एवं विद्रोही के सन्दर्भ में सिद्ध हो चुका है।

दरबारी साहित्य राजाओं या शासकों की खुशामद का साहित्य है। इसमें आम-नागरिक के जीवन की विधिवत उपेक्षा की गई है। उन्होंने इसको और अधिक आधार दिया है। उनका कहना है कि रीतिकालीन साहित्य मनुष्य से कटा हुआ है।

वर्तमान परिदृश्य को देखते हुए हम कह सकते हैं कि रीतिकालीन साहित्य का रूपांतरण 'गवर्मेंट ऑफ़ मीडिया'[10] के रूप में हुआ है। राजेंद्र यादव का कहना है कि परम्परावादी आलोचक साहित्य को साहित्य की दृष्टि और परम्परा से समझना चाहते हैं, इसलिए असफल होते है। यह फ्रस्टेशन उन्हें और अधिक शास्त्रीयता में लौटा देता है। वे डॉ. नगेन्द्र जैसे आलोचकों को इसी कोटि में रखते हैं। वे साहित्य को समझने के लिए राजनीति, समाजशास्त्र, आर्थिक ढांचे और सारी सामाजिक बनावट को आवश्यक मानते हैं। अचानक ही पिछले 20-25 वर्षों के साहित्य ने समाजशास्त्रियों को आकर्षित किया। उनका यह तर्क समकालीन कविता के समय उत्पन्न समाजशास्त्रीय सौन्दर्य बोध की तरफ इशारा करता है।

जिस प्रकार मध्यकाल का मूल स्वर धर्म था उसी प्रकार आज का मूल स्वर राजनीति है। वे राजनीति को आज की केन्द्रीय शक्ति बताते हैं। बिना राजनैतिक चेतना के आज का साहित्य न लिखा और न ही समझा जा सकता है। वे प्रेमचंद की विरासत को नए रूप देने वाले अद्वितीय कलाकार हैं।

वे आइआइटी को भारत सरकार का लाडला एवं बिगडैल बच्चा कहते हैं। क्योंकि यहाँ देश की सर्वश्रेष्ठ प्रतिभाएं विदेशी आविष्कारों के लिए तराशी जाती हैं। यहाँ की प्रतिभाओं को अविकसित भारत क्या देगा? आइआइटीयनों को प्रतिष्ठा, यश और पैसा अमेरिका देता है। विज्ञान और तकनीकी का यह विश्लेषण उनके सामयिकबोध को रेखांकित करता है-"कितनी बड़ी त्रासदी है कि विज्ञान और प्रोद्योगिकी की पहचान आज सिर्फ नाश और संहार के प्रभावशाली तरीकों में सिमट गई है और उसे चलाने वाले खुद आपस में असुरक्षित, संशयग्रस्त और डरे हुए लोग हैं।"[11]

राजेंद्र यादव की चिंता के केंद्र में भूख, गरीबी, बेरोजगारी, शोषण, साम्प्रदायिकता, संघर्ष, सामाजिक न्याय, समता, परिश्रम और उत्पादन से जुड़े सवाल हैं। उनका कहना है कि श्रीलाल शुक्ल और गिरिराज किशोर दोनों ही आस्थावान प्राणी हैं। इसीलिए वे साहित्य की मूल प्रतिज्ञा को झुठला रहे हैं। साहित्य के खिलाड़ियों के सन्दर्भ में अपने विचार रखते हुए वे कहते हैं कि, "जिस साहित्य में खिलवाड़ और भाषा का खिलदड़ापन, दोनों ही एक सिरे से गायब हो गये हों वहां थोड़ी-सी 'बदपरहेजी' इतनी बुरी बात तो नहीं है।"[12]

राजेंद्र यादव स्त्री, प्रकृति और साथी मनुष्य को जन्म जीवन और समाज का स्रोत मानते हैं। इनके साथ आपस में जो संबंधों की आचार-व्यवहार-संहिता बनती है वही कालांतर में व्यवस्था कहलाती है। स्त्री के साथ परिवार बनता है, प्रकृति संसाधनों और जिज्ञासाओं का कोश है; और समाज सुरक्षा एवं प्रगति देता है। वे व्यवस्था निर्माण-प्रक्रिया में यशपाल के योगदान को स्वीकार करते हए लिखते हैं कि, "मुझे हिंदी में यशपाल उन अकेले लेखकों में लगते हैं जिन्होंने व्यापक दृष्टि और गहरे से समाज की इस त्रिआयामी सच्चाई को समझा है। उनकी रचनाएं 'व्यवस्था' के तीनों पक्षों पर फिर से विचार करने को प्रेरित करती हैं। यशपाल राजनैतिक रूप से विद्रोही, धार्मिक रूप से नास्तिक और 'नैतिक' रूप से अश्लील होने की प्रशस्तियाँ और भर्त्सनाएँ पाते रहे हैं।"[13]

वे डार्विन, फ्रॉयड और मार्क्स को विचार की दुनिया की सबसे क्रांतिकारी त्रिमूर्ति कहते थे। न लिखने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं, "उस सपाट दृष्टि से देखें तो आधी रात में ट्रेन से सामान फेंक दिया जाना, गाँधी की व्यक्तिगत समस्या थी-क्यों चढ़ा वह 'गलत' डिब्बे में? हॉस्टल में जूठे बर्तन मंजवाना या दूर बैठाकर खिलाना-जगजीवन राम, अम्बेडकर और फुले के व्यक्तिगत अपमान ही थे, उन्हें सामाजिक अन्याय के साथ देखने की जरूरत क्या? गरीबी मार्क्स की अपनी समस्या थी भाईजान! जिस बीमारी की जड़ें, सारे माहौल में होती हैं वह बीमारी व्यक्तिगत नहीं।"[14]

अज्ञेय के लेखन में व्यक्तिवाद की प्रशस्ति हुई है। इसीलिए वे अज्ञेय के लेखन में जीवन और जगत की गति न व्यापने के कारण ही 'एलिटिज्म' (आभिजात्य) कहते हैं। प्रतिभा पलायन की समस्या पर उनका कहना है कि, "जहाँ ज्यादा सुविधाएं, संपन्नता और अवसर होंगे-मध्यवर्गीय युवक वहीं जायेगा। एक निस्संकोच और निर्विरोध 'ब्रेन-ड्रेन' या प्रतिभा-पलायन पिछले 40 वर्षों की संस्कृति बन गयी।" वे सौंदर्यशास्त्र की जड़ता पर लिखते हैं कि, "सारी अभिरुचियाँ उनकी हैं, सौंदर्यशास्त्र उनके हैं, कला के मानदंड उनके हैं, उपलब्धियां उनकी हैं और वे उन्हें अपनी जरूरत या सनक के हिसाब से रोज तोड़ते-बनाते हैं।"[15]

राजेन्द्र यादव ऐसे आलोचक हैं जो प्रेमचंद के होरी की पीड़ा के दोनों पक्षों को जान लेते हैं। वे आये दिन लोगों को यथास्थिति के प्रति जागरूक करते हैं- "होरी की पीड़ा जितनी संघर्ष में हैं, उससे ज्यादा संघर्ष की मुखर अनुपस्थिति में भी है, वह हमारे भीतर संघर्ष के होने की जरूरत का अहसास कराती है।

यथास्थिति के प्रति जागरूक होना ही संघर्ष में होना है।" यथास्थितिवादी तत्व शोषण-तंत्र को बनाए रखने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ते। जब कोई इसकी मुखालफ़त करता है तो उसके खिलाफ साहित्यिक-खेल खेला जाता है। यदि यातनाओं से काम नहीं बनता तो उससे भयानक तरीके अपनाये जाते हैं।

राजेंद्र यादव अपनी संपादकीय में सत्ता की खूब खबर लेते हैं। वे सामयिक मुद्दों पर अपनी नजर बनाए रखते हैं। समाज सेवक शंकर गुहा नियोगी की गोली मारकर की गई हत्या पर वे लिखते हैं-"अगर इस तरह दो कौड़ी के मंत्रियों-प्रधानमंत्रियों और राष्ट्रपतियों से डरने लगे तो कर लिया उद्योगपतियों ने व्यापार ... कौन जाने इस हत्या में इनमें से किसकी सहमती हो। आखिर भारतीय जनता पार्टी की नीतियों के समर्थक तो नहीं थे नियोगी-उलटे विरोधी थे। मजदूरों में जागृती, संगठन, जुझारू चेतना और समाज-सुधार के कर्मठ कार्यकर्ता, पूर्व नक्सली नियोगी, हिंदू राष्ट्रवादियों के गले की हड्डी थे। जिसके एक इशारे पर हजारों मजदूर जान देने को तैयार हों। जिसके कारण छत्तीसगढ़ का शराब उद्योग समाप्ति के कगार पर आ गया हो, जो गरीबों और श्रमिकों में उनका ही परिवारी बनकर रहता हो, उसे कौन-सा उद्योगपति बर्दाश्त करेगा? और क्यों उनके बचाव की चिंता करेगी व्यापारी-पोषित भारतीय जनता पार्टी की सरकार ?"[16] जगदेव प्रसाद कुशवाहा, सफ़दर हाशमी, नियोगी, दाभोलकर, पंसारे, कलबुर्गी, अखलाक, पहलुखान, जुनैद, रोहित वेमुला, गौरी लंकेश, राजेश, जीतेंद्र, एवं दिलीप सरोज आदि की हत्या ने सारे बुद्धिजीवियों एवं अमन-पसंद नागरिको को बहुत ही गहराई से झकझोरा है।

वे प्राकृतिक एवं बनावटी मातृभूमि प्रेम का अंतर बताते हुए लिखते हैं कि, "जड़ों में जाकर धूल-धूप-कीचड़ के बीच मातृभूमि के चेहरे को संवारने और भगवे झंडे के नीचे किसी अमूर्त निराकार मातृभूमि के लिए 'नमस्ते सदा वत्सल मातृभूमे' गाने वालों में यही अंतर है।"[17] वे अपनी सम्पादकीय में निर्भीक पत्रकार रामनाथ गोयनका के योगदान को सामने लाते हैं। उनका कहना है कि शंकर गुहा नियोगी और रामनाथ गोयनका को खोकर हमारी वर्तमान राजनीति निश्चय ही विपन्न हुई है। वे विश्वसनीयता की समाप्ति एवं विश्वासों के ध्वंस को भारतीय समाज का मुख्य संकट बताते हैं। वर्तमान वास्तविकताओं से रूबरू कराने वाला उनका यह कथन देखिए-"उधर राजनेताओं की सुविधाएं, 'न्याय मूर्तियों' की नियुक्तियां तय करती हैं, पैसे और बंदूकवाले उनसे फैसला कराते हैं और करोड़ो के हेर-फेर के चर्चे गर्म होते हैं, कानून और व्यवस्था में पुलिस के संगठित गिरोहों से जिसे चाहिए पिटवाइए, लुटवाइए, अन्दर-बाहर कराइए और आराम से ठिकाने लगवाइए।"[18]

वे कई बार अपने सम्पादकीयों में बुद्धिजीवियों, पत्रकारों, कलाकारों एवं लेखकों को उनके कर्तव्यबोध का अहसास कराते हैं। तुलसीदास ने कल्पना में बहुत पहले ऐसी ही बात हनुमान के सन्दर्भ में कही थी। किसी न किसी को सही मार्ग बताने वाला बनना पड़ता है। राजेंद्र यादव सही रास्ता दिखाने वाले विचारक थे। उनका यह विचार आज भी कितना प्रासंगिक है-"सारे कलाकर्मी, बुद्धिजीवी, लेखक-पत्रकार और ऐसे ही अलां-फलां साफ-साफ समझ लें उन्हें क्या चुनना है? बिकना या बकना? मौन या मौत? अभिव्यक्ति की आजादी या व्यक्ति का अस्तित्व?"[19] उनके ऐसे ज्वलंत विचारों को पढ़ते हुए मुक्तिबोध की 'अँधेरे में' लम्बी कविता स्वतः स्मृति-पटल पर उपस्थित हो जाती है।

निष्कर्ष : राजेन्द्र यादव लोकतंत्र और संविधान के प्रति बेहद सचेत रहते थे। वे अभिव्यक्ति की आजादी के अनुपम समर्थक थे। वे अन्यायिओं एवं आततायिओं के विरोध में कहीं कोई कोर कसर नहीं छोड़ते थे। वे न्याय एवं समता के अनन्य उपासक थे। वे पहले सबसे चर्चित संपादक रहे हैं। राजेंद्र यादव विचारों की शुद्धता एवं नए विचारों के स्वागता-प्रवर्तक थे। उनके आलोचना-कर्म का दायरा बहुत विस्तृत है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. काटें की बात -1, यादव, राजेंद्र, समायोजनःविद्यानिधि, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1992, पृ. 12
2. कुछ विचारःप्रेमचंद, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2013, पृ. 20
3. काटें की बात-1, यादव, राजेंद्र, समायोजनःविद्यानिधि, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1992, पृ. 13
4. वही, पृ. 13
5. वही, पृ. 14
6. वही, पृ. 23
7. वही, पृ. 26
8. वही, पृ. 26
9. वही, पृ. 26
10. पत्रकार रवीश कुमार ने सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग हावर्ड यूनिवर्सिटी में अपने व्याख्यान में किया था।
11. काटें की बात-1, यादव, राजेंद्र, समायोजनःविद्यानिधि, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1992, पृ. 38
12. वही, पृ. 42
13. वही, पृ. 45
14. वही, पृ. 47
15. वही, पृ. 52
16. वही, पृ. 74-75
17. वही, पृ. 75
18. वही, पृ. 80
19. वही, पृ. 83

गीता में कर्म योग की वर्तमान समय में प्रासंगिकता

-डॉ दीपक सिंह
सह- आचार्य (इतिहास विभाग)
स्वामी शुकदेवानंद कॉलेज,
शाहजहाँपुर

-डॉ सीमा गौतम
सह- आचार्य (इतिहास विभाग)
साहू राम स्वरूप महिला महाविद्यालय,
बरेली

भगवद गीता,जो कि महाभारत के भीष्म पर्व का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है,हिंदू धर्म का सर्वाधिक प्रतिष्ठित और लोकप्रिय ग्रंथ है। इसमें भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को जीवन के विभिन्न पहलुओं,जैसे कर्म,भक्ति,योग,और धर्म के बारे में गहरी और व्यापक शिक्षाएँ दी हैं। विशेष रूप से कर्म योग,जो कर्म करने की विधि और उसके निष्कलंक भाव पर आधारित है,गीता का एक केंद्रीय विषय है। कर्म योग के सिद्धांत न केवल धार्मिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण हैं,बल्कि वे आधुनिक जीवन की समस्याओं और चुनौतियों से निपटने के लिए भी अत्यंत प्रासंगिक हैं।

कर्म योग का अर्थ है –कर्म को बिना किसी स्वार्थ या आसक्ति के,केवल कर्तव्य समझकर करना। इसका मूल सिद्धांत है कि व्यक्ति को अपने कार्यों में पूरी निष्ठा और समर्पण से लगे रहना चाहिए,लेकिन उन कार्यों के परिणामों की चिंता नहीं करनी चाहिए। गीता के श्लोक **"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" (गीता 2.47)**के माध्यम से भगवान श्री कृष्ण ने यह स्पष्ट किया है कि व्यक्ति को अपने कर्मों में पूरी निष्ठा से लगा रहना चाहिए,लेकिन परिणामों पर ध्यान केंद्रित न करके केवल कार्य पर ध्यान देना चाहिए।

वर्तमान समय में,जब लोगों के बीच मानसिक तनाव,चिंता,और प्रतिस्पर्धा का स्तर बढ़ रहा है,कर्म योग की शिक्षाएँ एक सशक्त उपाय के रूप में उभरती हैं। आज के समाज में बहुत से लोग अपने कार्यों और सफलता के परिणामों के बारे में अधिक चिंतित रहते हैं,जिससे मानसिक विकार और तनाव उत्पन्न होते हैं। कर्म योग के सिद्धांत हमें यह सिखाते हैं कि यदि हम अपने कर्मों को निःस्वार्थ भाव से करते हैं और परिणामों को भगवान पर छोड़ देते हैं,तो हम मानसिक शांति और संतुष्टि की प्राप्ति कर सकते हैं।

इस शोध पत्र का उद्देश्य गीता में कर्म योग के सिद्धांतों को वर्तमान समय की आवश्यकताओं और समस्याओं के संदर्भ में समझना है। हम यह देखेंगे कि कर्म योग की शिक्षाएँ आज के समाज में किस प्रकार प्रासंगिक हैं,और यह कैसे हमें न केवल व्यक्तिगत संतुष्टि,बल्कि सामाजिक और मानसिक शांति प्राप्त करने में मदद कर सकती हैं। इस संदर्भ में गीता के श्लोकों और उनके अर्थों को विस्तार से समझने की कोशिश की जाएगी।

कर्म योग का परिभाषा और सिद्धांत

कर्म योग का अर्थ है कार्य करते समय आत्म-निर्भरता और बिना किसी स्वार्थ के काम करना। यह योग उस व्यक्ति को निर्दिष्ट करता है,जो अपने कर्तव्यों को निःस्वार्थ भाव से करता है और परिणामों को ईश्वर पर छोड़ देता है। गीता में कर्म योग के सिद्धांतों को श्री कृष्ण ने अर्जुन को समझाया। उन्होंने कहा:

"तुम्हारा कर्म तुम्हारा अधिकार है,
लेकिन उसके फल पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है।"
(गीता 2.47)

यह श्लोक कर्मयोग के मुख्य सिद्धांत को व्यक्त करता है,जो व्यक्ति को अपने कर्म में पूरी निष्ठा से लगा रहने और परिणामों की चिंता न करने का निर्देश देता है। इसका संदेश यह है कि हमें अपने कर्तव्यों को पूरा करना चाहिए,लेकिन नतीजों के बारे में मानसिक विक्षोभ नहीं पालना चाहिए।

कर्म योग और मानसिक शांति

आज के समय में मानसिक तनाव और चिंता एक आम समस्या बन चुकी है। लोग अपने कार्यों और सफलता के परिणामों के बारे में चिंता करते रहते हैं,जिससे वे मानसिक और शारीरिक रूप से थक जाते हैं। गीता का यह श्लोक इस समस्या का समाधान प्रदान करता है

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।"

(गीता 2.47)

यह श्लोक यह स्पष्ट करता है कि व्यक्ति को अपने कार्यों में पूरी ईमानदारी और समर्पण से लगा रहना चाहिए,लेकिन परिणामों की चिंता से मुक्त रहना चाहिए। जब हम परिणामों से मुक्त होकर कार्य करते हैं,तो मानसिक शांति प्राप्त होती है,और जीवन में संतुलन बनाए रखना सरल हो जाता है। वर्तमान समय में, जब अधिकतर लोग सफलता के दबाव में जीवन जी रहे हैं,इस श्लोक का अनुसरण करना उन्हें मानसिक शांति की ओर मार्गदर्शन कर सकता है।

कर्म योग और आत्म-नियंत्रण

कर्म योग का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू आत्म-नियंत्रण है। गीता में श्री कृष्ण ने यह बताया है कि किसी भी व्यक्ति को अपने मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना चाहिए,ताकि वह अपने कार्यों में पूर्णता और निष्ठा से लगे।

"यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभते नर:।
कर्मेन्द्रियै: कर्मयोगमसक्त: स विशिष्यते।।"
(गीता 3.7)

यह श्लोक इस बात को स्पष्ट करता है कि जो व्यक्ति अपने इन्द्रिय और मन को नियंत्रित करता है,वही कर्म योग का सच्चा साधक बनता है। आज के समाज में जब बाहरी आकर्षण और भोगवादिता प्रबल

हैं,तब आत्म-नियंत्रण अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है। यह हमें न केवल आत्मसंतुष्टि की ओर ले जाता है,बल्कि हमारे कार्यों को निष्कलंक और निःस्वार्थ बनाता है।

कर्म योग और जीवन के उद्देश्य को समझना

कर्म योग यह सिखाता है कि जीवन का उद्देश्य केवल भौतिक सुख-सुविधाएँ नहीं हैं,बल्कि परमात्मा की सेवा और अपने कर्तव्यों का पालन करना है। जब हम कार्य करते हैं,तो हमें यह समझना चाहिए कि हम जो भी कर रहे हैं,वह परमात्मा की इच्छा का हिस्सा है। गीता में श्री कृष्ण ने कहा:

"सिद्धिमप्राप्तो यथा ब्राह्मणो गच्छति सत्यं,
तथा कर्मणि पश्यति य: पश्यति कर्मणि।"

(गीता 18.46)

यह श्लोक बताता है कि जब व्यक्ति कर्मों को अपने ईश्वर की सेवा समझकर करता है, तो वह न केवल कार्यों में सफलता प्राप्त करता है, बल्कि जीवन का उच्चतम उद्देश्य भी हासिल करता है। कर्म योग हमें यह संदेश देता है कि कर्मों का पालन जीवन के उच्चतम सिद्धांतों के अनुसार करना चाहिए, जिससे न केवल व्यक्तिगत विकास होता है, बल्कि समाज और राष्ट्र की भी सेवा होती है।

समाज और कर्म योग

आज के समय में समाज में भ्रष्टाचार, असमानता और शोषण जैसी समस्याएँ बढ़ रही हैं। कर्म योग की शिक्षाएँ इन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करती हैं। जब व्यक्ति निःस्वार्थ भाव से काम करता है और अपने कार्यों के फल को समाज की भलाई में समर्पित करता है, तो समाज में सामूहिक शांति और विकास संभव हो सकता है। गीता में श्री कृष्ण ने इसे इस प्रकार से व्यक्त किया है

"सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य,
योगमत्यंतमाश्रित:।"

(गीता 3.30)

यह श्लोक यह इंगीत करता है कि जब हम अपने सभी कर्मों को ईश्वर के प्रति समर्पित करते हैं,तो न केवल हमारा व्यक्तिगत जीवन संतुष्टिपूर्ण होता है, बल्कि समाज में भी सुख और शांति की भावना उत्पन्न होती है। आज के समाज में जब लोग स्वार्थ और निजी लाभ के लिए काम करते हैं,तो कर्म योग हमें समाज की भलाई के लिए निःस्वार्थ सेवा की दिशा में मार्गदर्शन प्रदान करता है।

कर्म योग और पारिवारिक जीवन

कर्म योग का पालन करते हुए व्यक्ति अपने परिवार और समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को बेहतर तरीके से निभा सकता है। गीता में कर्म योग को "स्वधर्म" के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसका पालन करना व्यक्ति का धार्मिक और पारिवारिक कर्तव्य है। श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा

"स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:।"

(गीता 3.35)

यह श्लोक यह बताता है कि हमें अपने स्वधर्म को निभाना चाहिए,क्योंकि यह हमारे जीवन का सही मार्ग है। पारिवारिक जीवन में कर्म योग का अनुसरण करने से रिश्तों में सामंजस्य और संतुलन बनता है। कार्यों को बिना किसी स्वार्थ के निष्ठा से करना पारिवारिक सुख और समृद्धि का कारण बनता है।

वर्तमान में कर्म योग की प्रासंगिकता

आज का समाज भौतिकवाद,मानसिक तनाव,और प्रतिस्पर्धा से ग्रसित है। ऐसे में कर्म योग की शिक्षाएँ अत्यंत प्रासंगिक हो जाती हैं। गीता के श्लोकों में जो निःस्वार्थ कर्म और परिणामों के प्रति अवबोधन की बात की गई है,वह हमें आत्मसंतुष्टि,मानसिक शांति और जीवन में उद्देश्य को समझने की प्रेरणा देती है। जब हम अपने कार्यों में ईश्वर का आशीर्वाद और समर्पण महसूस करते हैं,तो न केवल हम मानसिक रूप से संतुष्ट रहते हैं,बल्कि हमारे कार्य भी समाज के लिए लाभकारी होते हैं।

निष्कर्ष

भगवद गीता में प्रस्तुत कर्म योग की शिक्षाएँ न केवल प्राचीन काल में,बल्कि वर्तमान समय में भी अत्यंत प्रासंगिक हैं। गीता का संदेश आज के समाज के लिए एक अमूल्य धरोहर बन चुका है,क्योंकि यह व्यक्ति को अपने कर्मों के प्रति सही दृष्टिकोण प्रदान करता है। कर्म योग का मुख्य उद्देश्य यह है कि व्यक्ति अपने कर्तव्यों को निष्कलंक और निःस्वार्थ भाव से करे,परिणामों की चिंता किए बिना,और उन परिणामों को ईश्वर की इच्छा पर छोड़ दे। इस सिद्धांत का पालन करते हुए,व्यक्ति अपने जीवन को सरल,शांति और संतुष्टि से भरपूर बना सकता है।

आज के समाज में जहाँ लोगों को मानसिक तनाव,प्रतिस्पर्धा और आत्मसंदेह जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ता है,कर्म योग इन सभी समस्याओं के समाधान के रूप में कार्य करता है। गीता का श्लोक **"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" (गीता 2.47)** यह सिखाता है कि हमें अपने कार्यों में पूरी निष्ठा और समर्पण से लगे रहना चाहिए,लेकिन परिणामों से मुक्त रहना चाहिए। जब व्यक्ति अपने कार्यों में फल की अपेक्षाएँ नहीं रखता,तो वह मानसिक शांति और संतुलन प्राप्त करता है,जिससे जीवन में तनाव और चिंता का स्तर कम होता है।

इसके अलावा,कर्म योग व्यक्ति को आत्म-नियंत्रण और आत्म -समर्पण की दिशा में भी प्रेरित करता है। गीता में श्री कृष्ण ने यह बताया कि जो व्यक्ति अपने इन्द्रिय और मन पर नियंत्रण रखता है,वही सच्चा कर्म योगी है। यह संदेश आज के भौतिकवादी और अत्यधिक उत्तेजित समाज में अत्यंत महत्वपूर्ण है,जहाँ बाहरी आकर्षण और भोगवादिता लोगों को मानसिक और आत्मिक शांति से दूर कर रही है। कर्म योग के माध्यम से व्यक्ति अपने मन,इन्द्रिय और कर्तव्यों को नियंत्रित कर,एक उच्च स्तर की मानसिक शांति और आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है।

समाज और पारिवारिक जीवन में भी कर्म योग का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। आज के समय में पारिवारिक रिश्तों में असंतुलन और समाज में अनैतिकता बढ़ रही है,लेकिन गीता में वर्णित कर्म योग सिद्धांत इन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है। जब हम अपने कर्तव्यों को निःस्वार्थ भाव से निभाते हैं और परिणामों की चिंता नहीं करते,तो यह न केवल हमारे व्यक्तिगत जीवन को सुखमय बनाता है,बल्कि समाज में भी एक सकारात्मक बदलाव लाता है। गीता का

श्लोक

"स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:"

(गीता 3.35)

यह बताता है कि हर व्यक्ति को अपने कर्तव्यों को समझकर निभाना चाहिए, क्योंकि यही उसके जीवन का सर्वोत्तम मार्ग है।

अंतत:,कर्म योग हमें यह सिखाता है कि जीवन में सही मार्गदर्शन केवल बाहरी दुनिया से नहीं,बल्कि हमारे अपने आंतरिक कर्मों और मानसिक दृष्टिकोण से आता है। जब हम अपने कार्यों को भगवान की सेवा और समाज की भलाई के रूप में देखना शुरू करते हैं,तो जीवन में संतुलन और उद्देश्य की प्राप्ति होती है। गीता के श्लोक **"सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य योगमत्यंतमाश्रित:" (गीता 3.30)** का अर्थ है कि जब हम अपने सभी कर्मों को ईश्वर के प्रति समर्पित करते हैं,तो न केवल हमारा व्यक्तिगत जीवन उन्नत होता है,बल्कि समाज और राष्ट्र भी लाभान्वित होते हैं।

इस प्रकार,गीता में प्रस्तुत कर्म योग का अनुसरण करके हम न केवल अपनी आत्म-उन्नति की दिशा में बढ़ सकते हैं,बल्कि समाज और संसार के लिए भी एक सकारात्मक बदलाव ला सकते हैं। यह सिद्धांत आज के समय में विशेष रूप से महत्वपूर्ण है,जहाँ व्यक्तित्व विकास,मानसिक शांति और सामाजिक न्याय की आवश्यकता है। गीता की शिक्षाएँ हमें यह समझने में मदद करती हैं कि जीवन का वास्तविक उद्देश्य केवल भौतिक सफलता और सुख नहीं है,बल्कि आत्म-साक्षात्कार और परमात्मा के साथ साक्षात्कार है। इसलिए,कर्म योग को अपनाकर हम अपने जीवन को सफल,शांत और संतुष्टिपूर्ण बना सकते हैं।

संदर्भ

1. भगवद गीता, अनुवादक:एकनाथ ईश्वरन, 2 संस्करण, निलगिरी प्रेस,2007.
2. भगवद गीता:एक नई व्याख्या,अनुवादक:जॉर्ज फेयरस्टीन, शांभला,2008.
3. आदि शंकराचार्य.भगवद गीता पर भाष्य, अनुवादक: स्वामी गम्भिरानंद, अद्वैत आश्रम, 2009.
4. कृष्ण,स्वामी, भगवद गीता जैसा है, 2 संस्करण, भक्तिवेदांत बुक ट्रस्ट, 2003.
5. ईश्वरन,एकनाथ.भगवद गीता:एक नई अनुवाद, 2 संस्करण, निलगिरी प्रेस,2007.
6. शिवानंद, स्वामी.भगवद गीता: स्वामी शिवानंद के भाष्य सहित, डिवाइन लाइफ सोसाइटी, 2006.
7. राधाकृष्णन,सर्वपल्ली, भगवद गीता:परिचय और टिप्पणियों सहित, हार्पर & रो,1973.
8. भगवद गीता और इसका संदेश, संपादक:एम.एम.एम.शेखर, रूपा एंड कंपनी,2016.
9. प्रभुपाद,ए.सी.भक्तिवेदांत स्वामी.भगवद गीता:जैसा है, भक्तिवेदांत बुक ट्रस्ट, 2008।
10. "भगवद गीता में कर्म योग: इसके प्रासंगिकता का अध्ययन". जर्नल ऑफ इंडियन फिलॉसफी,खंड 23,संख्या 3,2015,पृष्ठ 110-122.
11. राधाकृष्णन, सर्वपल्ली, भारतीय दर्शन: खंड 1. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस,1999.
12. कपूर, सुशील कुमार. कर्म योग और आधुनिक विश्व, भारतीय विद्या भवन,2012.
13. शर्मा, अरविंद.भगवद गीता और हिंदू परंपरा ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस,2009.
14. हिंदू धर्म और बौद्ध धर्म में कर्म का सिद्धांत, संपादक: पी.के.डब्ल्यू.डी. इंद्रानी, राउटलेज,2017.

*****

A Comparative Study of Marathi and English Languages

-Dr. Shehjad Sidiquii
Assistant Professor
NKSPTS ASC college Badnapur
Dist. Jalna,

Maharashtra

ABSTRACT

A comparative study includes both similarities and differences. The minimum need of a comparative study is the binary concern to meet the full demands of comparison. Etymologically, the term means any literary work that compares. This study intends to compare Marathi and English languages through the illustrations of structure and style of both languages. Marathi is a regional language but it is not going ahead by the experimentation in the use of language. For instance, Bhalachandra Nemade has exercised verbless language in his novel 'Kosala'. Many sentences in the novel are verbless but they make a complete sense without any difficulty to the reader. There are no articles in Marathi which have an important place at the structural level in English. We cannot find a single printed page in English without the use of articles. Marathi doesn't have such structural category. The prepositions in Marathi do not occur in isolation, while they are attached to the concerned words. English prepositions are highly productive and they occur as free morphemes. A number of phrases have been formed by using prepositions in English.

The comparative study of literature started when Goethe spoke about Weltliteratur. In a conversation with Eckermann in 1827 (January) Goethe said 'National literature is now rather an unmeaning term; the epoch of world literature is at hand, everyone must strive to hasten its approach.' Goethe did not tell us how to hasten the approach of world literature nor did he say what exactly he meant. But we assume that by Weltliteratur he meant the memorable works in all languages of the world rather than assemblage of all literatures. Mathew Arnold larger used the term "comparative literature" in one of his letters in 1848. According to Arnold everywhere there is connection, everywhere there is illustration: no single event, no single literature, is adequately comprehended except in relation to other events, to other literatures According to Rene Wellek and Austin Warren the term 'comparative literature' is troublesome and Arnold was apparently the first to use the term in English". Arnold speaks not of a discipline but of a plurality of "comparative literatures". He declares that no single literature is adequately comprehended except in its relation to other events, to other literatures. George Saint bury describes Arnold as "the very first (English) critic to urge the importance and the necessity of comparative criticism of different literatures in a systematic and an impartial manner".

Marathi has three namely present, past and future but English has subtenses for each of the main tense. There is interference to the learners of English whose mother tongue in Marathi. Even the Indian poet Nissim Ezekiel has omitted articles in English in some of his poems. Many Indian students cannot make use of proper prepositions. The poets like Arun Kolatkar and some others have experimented a different orthographic style in their poetry. There are some others areas such as sentence pattern, suprasegmental features, grammar etc. for the comparative study of Marathi and English.

Comparative literature has been recognized as a distinct discipline only in the recent decades. The assumption of a comparatist is that no work exists in isolation and the theory that a work of art is an autonomous entity is fallacious. Each work of art can be traced back to sources and influences. The impact of two prominent Indian epics, Ramayana and Mahabharata is invariably found on the Indian life. Influence is the significant phenomenon in the history of literature. Influences play an important role as links within a network of inter-related works. In America, the transcendental writings of the mid-nineteenth century were greatly influenced by the Indian philosophical and religious thought. It was the American trade with East India Company that acted as a 'media' for the import of Indian thought to America. The ideas of Hindu philosophy were deeply reflected in the writings of Emerson, Alcott and Thoreau.

Comparative literature as a discipline implies transcending the frontiers of single languages and national literatures. For a comparatist, any literature

is basically a literature which has to be studied with reference to other literature, or literatures. The purpose of the study is to explore parallels and contrasting structures in Hardy and Pendse's novels and to find out how they have used region as a prominent paradigm to present human and universal predicament of man. Besides, the one of the principal objectives of the research is to find out the reasons for the need and scope of regional novel in the rapidly changing global world of today and its deterioration in the context of world literature. The issues of nationalism, centralism, regionalism and localism have rarely been so prominently discussed. What is to be 'British' or 'Irish' or 'Indian', and the issue that whether these are still relevant questions now preoccupy a great many people. There is perhaps a growing cultural and ecological sensibility among the people only to be identified and established locally or regionally, rather than nationally. After Goethe's proclamation in 1827 that national literature did not mean much anymore and that the time for world literature was approaching, literary studies all over the world have gradually been moving towards deprovincialization, towards working together for a better literary and social consciousness.

The impact of Western literature on all the Indian languages and literatures were greatly influenced by the spread of English education and the consequent rise of nationalism. This led to the introduction of new literary genres like the novel, short-stories, essay and biography in the Indian languages. The growth of regional fiction could be closely associated with improved levels of literacy and the expansion of the reading public during the later nineteenth century especially in Europe. The establishments of primary and secondary education, expansion of training colleges, universities, and mechanism institutions fostered mass readership of fiction during this century. During the war periods the nationalist emphasis got heightened; the older interior ways of life were threatened economically and the psychological landscape of the growing readership of the regional literature was strongly affected. Comparative literature emerged as a new discipline to counteract the notion of autonomy of national literatures. Its ultimate goal is to visualize total literary activities of man as a single universe. The minimum requisite of a comparative study is to start with at least two literatures, but this binary concern is hardly sufficient to meet the full demands of comparative literature, which views literatures produced in all languages and in all countries as an indivisible whole. A comparatist has to extend the area of investigation not only beyond one language and literature, but to as many as possible.

Marathi, the regional language of Maharashtra, resembles with Hindi the other Indian languages in its orthographic form. It doesn't have any similarity with the alphabet of English. Marathi alphabet is modified to form words but English words are formed without any change in the lettersfrom alphabet. The basic sequence of a sentence in Marathi is subject, object and verb. The government and concord of English is completely different from Marathi.

English sentence is basically formed using the sequence subject, verb and optional elements like object, complement and adverbial. Both the languages have figures of speech which are used for the stylistic purpose. The creativity in both the languages emerges through linguistic devices

employed by the author. The norm of capitalization has rules in English but there is no capital letter in Marathi. Some news papers and other print media have violated the orthographic convention only in the beginning of particular column. Some English authors too are practicing the same convention.

The Government and Concord have fixed patterns in English. The concord between subject and verb is definite in English. Marathi uses imperatives regardless of number. The same sentence can be used for singular as well as plural number. This has been practiced to give respect to the elders and royal families use such a language for all the numbers. Hence it becomes difficult to identify the number from the written sentence. The way we use English and Marathi is different in various aspects. The structural words 'a', 'an' and 'the' play significant role in the formation of sentences. They govern the semantics of language in English. Marathi language doesn't have articles hence for the sake of completion of sense of sentence the figures are used. In English if the sentence is 'There was a king', 'a' indicates the meaning 'EK' which is equivalent in Marathi.

The article 'the' makes singular noun definite and it is used as per the rules of grammar of English. The prepositions are about one hundred and fifty in English. They are highly productive words having high frequency of an occurrence. They are added to certain words to form phrases and idioms in English. Moreover, they occur isolated in English. They are never attached to the other words. They are not bound morphemes. They are inserted in a sentence as free morphemes. It is necessary to distinguish between the usage of prepositions in English and Marathi. The literal meaning of Marathi words deceive the correct choice of English preposition. Translation from Marathi into English or vice-a

-versa becomes difficult because of the complex nature of English preposition. English language doesn't have orthographic additions other than the letters from alphabet. Marathi has a number of additions such as Kana, Matra, Velanti which is difficult to use according to the grammar of English. Just as second language learners adopt English with ease, Marathi may not be caught by the second language learners. Orthography and graphology of English have definitely less complexity as compared with Marathi and other languages. The ratio of English learners is high because the language itself favours the growth of it. The vocabulary of Marathi has certain limitations because of regional usage. English has spread all over the world and acquired the position of global language. Marathi has accepted the number of words from English for usage. The words like operation, photo, hotel, hospital, bus stand, railway station etc. have been used in Marathi as a language. Marathi is being creolized day by day. On the other hand if there is a need word the neologism provides it. The dictionaries of English are unended and infinite. The same is a case with Marathi but even the illiterate people have acquired some English words in their Marathi usage. One can do exercise on the vocabulary that is being actively used in both Marathi and English languages. The present use of Marathi has been influenced by the English words and sentences. Other Indian languages too have been influenced by the English. The case grammar of Marathi and English can be used effectively but English makes use of very few cases as per the need of the grammar to complete the sentences. Marathi has the exercise known as parsing. English makes use of giving labeling to the words and phrases. The noticeable thing in Marathi is that it has some words corresponding to their action. For instance, the words karkara, zulzul, salsal etc. seem to reflect the action. English is purely arbitrary and there is no correspondence between the sound of the word and its meaning. English grammar and the rules of grammar are logical. The rules for number, making past tense are purely arbitrary. Marathi grammar is not as logical as English is. The number, case grammar, gender rules are clear in Marathi. English has compromised grammar of gender. For example, teacher, lawyer, doctor, baby, child etc. Marathi has words like chhokara and chhokari for the English word baby.

A comparative study of Marathi and English languages will help to the beginners as well as advanced learners. If one is good at native language it helps to understand the differences between first, second and third languages. Who may be the language user he knowingly or unknowingly calculates mentally before using the second language. In order to interpret the language as a social code the unconscious grammar of Marathi and English is essential part of language usage and learning. The prescriptive grammar helps to pass the examinations but fails to know the cultural usage. The unconscious grammar of both the languages tell about costumes, routine food, combination of food dishes and some other things which are part of tradition and ceremonies. The girls wear bangles but boys do not.

The cows are worshipped in India but they butchered in some parts of the world. For the sake of proper message the unconscious grammar acquired in the society plays a major role in the usage of language. There is a need to co-relate the rules of grammar with social code of both the languages. We must disseminate our unconscious grammar for the proper behavior of the person on the particular occasion.

Ref:

Langacker, R.W.: Language and its Structure, Harcourt Brace. Jovanich, Inc.New York, 1973.

Sharma, R.P.: I.A. Richards' Theory of Language, S. Chand and Company Ltd., 1979.

Alam Q.Z. : Issues Linguistics and Pedagogic, Sterling Pub. Pvt.Ltd., New Delhi, 1983

Rao Visweswara C.R.and Dhawan R.K (ed) Comparative Indian Literature, Prestige Books, New Delhi, 2001

Dev, Amiya (1987): Towards Comparative Indian Literature in K.A. Koshi (ed.), Aligarh: Department of Modern Indian Languages, Aligarh Muslim University, p. 19.

Arnold, Mathew (Nov., 14, 1857): On the Modern Element in Literature, Inaugural lecture delivered in the University of Oxford,.

*****

Folklore and Oral Traditions of Kampil: Bridging the Gap Between Myth and History

-Shaleen Kumar Singh
Associate Professor
Department of English
SS College, Shahjahanpur, U.P.
Email: drshaleen999@gmail.com

-Dr. Deepak Singh
Associate Professor
Department of History
SS College, Shahjahanpur, U.P.

Abstract

Kampil, a small village of Uttar Pradesh has both mythological and historical complexities in ancient India. It examines Kampil both as the birthplace of Draupadi in the Mahabharata as well as the capital of the Panchal dynasty, one of the Mahajanapadas of ancient India. Mythological importance is a significant factor such as how Kampil is interlinked with Draupadi in the mythological context. How Kampil was significant in the socio-political traditionally of ancient India? Can oral traditions protect Kampil's legacy? Using textual source, folklore as well as archaeological evidence, the study demonstrates how the mythological association of Kampil with Draupadi and the epic Mahabharata bring forth the spirit of the monument in Hindu and Jain traditions. At the same time, being the Panchal capital also indicates its political and economic importance during Vedic and epic periods. Mixture of mythological and historical accounts based on oral traditions and local folklore adds to the cultural heritage of Kampil. Kampil is both a sacred space as well as political place(s) and the narratives presented still impact one to construct today's cultural identity and memory.

Keywords: Folklore, Kampil, Myth and History, Panchal Dynasty, Hindu Mythology.

Introduction

Kampil, a small village in present-day Farrukhabad district, Uttar Pradesh, India, holds immense significance in mythical and historical narratives of ancient India. The town is cemented in Hindu mythology due to its association with Draupadi and Mahabharata. Kampil is also associated with ancient Indian polity as it was the capital of Panchala and the birthplace of the ruling Kuru dynasty. Kampil will be where this article takes place, as it will examine the dual significance of the location, both as a sacred site in Hindu mythology and through its place in the historical law of ancient India.

Kampil's Importance in Hindu Mythology: The Connection to Draupadi and the Mahabharata

The mythological importance of Kampil lies mainly in its association with Draupadi, an important character in Mahabharata, one of the foundational texts of Hindu epic literature. Draupadi was born out of a yajna performed by King Drupada, the king of the archaic Panchala kingdom (of which Kampil was occasionally the capital). Draupadi was won as a prize in a swayamvara, according to the Mahabharata, choosing one of the Pandava brothers, Arjun, as her husband. Incidentally, this event takes the central focus in the Mahabharata narrative, highlighting the significance of Kampil as the location for this momentous event in Hindu mythology (Basham 82). Kampil is considered a holy place for the Panchal dynasty, which had close ties with the Pandavas. The town is said to have been a centre of various reli-

gious activities, including yajnas and sacrifices held by Panchala kings. Kampil's association with Draupadi further cements the town as a significant geographical location in the Mahabharata text, especially concerning the motifs of divine intervention, dharma, and the larger spiritual war between good and evil.

Beyond its mention in the Mahabharata, Kampil is revered in Jain traditions as the birthplace of Bhagwan Vimalnath—the 13th Tirthankara in Jainism. This adds to Kampil's spiritual importance, which has become a nodal point of Hindu and Jain pilgrimage (Jain 164). This convergence of religious traditions highlights Kampil's status as a sacred town with a profound legacy of spiritual and religious importance.

The Historical Relevance of the Panchal Dynasty

Kampil's mythical significance is well recognized, and its historical relevance is remarkable. Kampil served as the capital of the Panchal empire, one of the sixteen mahajanapadas referenced in ancient Indian literature, including the Buddhist Pali Canon and the Hindu Vedas (Thapar 105). The Panchal kingdom was bifurcated into two regions: Northern Panchala, with its capital at Ahichhatra, and Southern Panchala, with its seat at Kampil. The kingdom significantly influenced the socio-political dynamics of northern India throughout the Vedic and epic eras.

The Panchal dynasty is historically recognized for its military might and strategic connections with other formidable nations, such as the Kuru monarchy. The matrimonial partnership between Draupadi and the Pandavas, as recounted in the Mahabharata, exemplifies Panchala's political significance in preserving regional stability (Singh 219). Panchala was recognized for supporting Brahmanical traditions, especially the execution of Vedic ceremonies and sacrifices, which were crucial in legitimizing kings in ancient India.

Archaeological investigations in Kampil and its vicinity have uncovered relics of ancient communities, including pottery, coinage, and other items from the early historical era, indicating the town's enduring occupancy and importance (Sarma 312). These data support that Kampil was both a legendary location and a prosperous urban city with a significant political and economic impact in ancient northern India.

Furthermore, the Panchal kingdom is often referenced with other significant kingdoms of ancient India, such Magadha and Kosala, signifying its relevance in the historical narrative of the subcontinent (Lal 45). The kingdom's advantageous position along trade routes from the Gangetic plains to the northern Himalayan areas enhanced its significance. Kampil, serving as the capital, was a pivotal hub in these networks, enabling the transit of products, people, and ideas across the area.

The importance of Kampil as both a mythical and historical location is paramount. Its connection to Draupadi and the Mahabharata, together with its status as the capital of the influential Panchal kingdom, establishes it as a pivotal site in ancient Indian history. Kampil has attained hallowed status in Hindu tradition due to its mythical associations with the Pandavas and Draupadi. At the same time, its historical significance as the capital of the Panchal dynasty underscores its influence on the political landscape of ancient northern India. This dual importance continues to attract pilgrims, historians, and archaeologists, all anxious to unveil the layers of myth and history that characterize Kampil.

Defining Folklore and Oral Traditions

Folklore refers to a group's beliefs, traditions, narratives, songs, and practices transmitted throughout generations, often by oral tradition. These cultural narratives are essential to a community's identity, functioning as a reservoir of communal memory and a means of social instruction. Alan Dundes, a distinguished folklorist, defines folklore as "a form of informal, traditional culture that is passed down through the generations orally, through performance, or by demonstration" (Dundes 1). It encompasses stories, myths, proverbs, rituals, and other elements, addressing verbal and non-verbal communication forms. Oral traditions, a crucial component of folklore, are narratives conveyed verbally, including myths, epics, folktales, and songs that sustain the values, morals, and historical awareness of a culture. Jan Vansina, in *Oral Tradition as History*, asserts that oral traditions are not only narratives but are also seen as "verbal messages which are reported statements from the past beyond the present generation" (Vansina 3). In this regard, oral traditions function as an unwritten historical archive that continually evolves, influenced by the requirements and recollections of the current generation.

Kampil has profound mythical importance, making it an interesting background in studying folklore and oral tradition. Draupadi is prominently connected to the epic and Kampil—the modern Kampil falls in the ancient administrative region of Panchal. Tentative evidence points to the fact that even the mythological associations of Kampil continue through oral traditions and represent a bridge between the past and present, thus reflecting an even more dynamic cultural context. Rich in history, these traditions serve as the cultural and spiritual backbone that not only entertains but strengthens the fabric of the community that protects the heritage of houses over the centuries.

Exploration of What Constitutes Folklore and Oral Traditions in the Context of Kampil

Kampil folklore has a heart-touching connection with its mythical past, mainly with the epic Mahabharata. The town is believed to have been a part of the Panchal kingdom, helmed by King Drupada, the father of Draupadi. Local lore and oral traditions accentuate this association, a narrative describing Draupadi's swayamvara, the ceremony of selection of her husband, claimed to have taken place at Kampil. These stories are part of the fabric of society and its social and cultural texture, and they often go well beyond religious or even mythical discourse. Vansina asserts that oral traditions "are reported statements from the past beyond the present generation." (Vansina 27) This relationship finds expression here in Kampil's local festivals, rituals and traditions whereby the remembrance of bygone events is sustained, ensuring that the mythical past is kept alive within the present.

Kampil folklore is a local legend outside the more widely known Hindu epic details that are unique to the historical context of Kampil town. Its narratives of the Panchal kings, local saints, and the construction of temples dedicated to Bhagwan Vimalnath, the 13th Jain Tirthankara, exemplify a synthesis of Hindu and Jain practices. These oral histories reveal the town's religious plurality and the coexistence of different faiths. Much of these stories take on a performative quality, especially around local festivals, where dramas, songs, and processions enact these narratives for the larger community. Consequently, the folk-

lore of Kampil is a dynamic tradition that amalgamates mythical, historical, and local themes into a collective cultural memory.

Distinction Between Mythological Narratives and Historical Records

A primary issue in studying folklore, especially in a milieu such as Kampil, is differentiating between mythical tales and historical accounts. Mythological narratives are frequently regarded as symbolic or allegorical, imparting spiritual truths rather than historical realities. Draupadi's swayamvara and the events related to her marriage to the Pandavas are frequently analyzed symbolically, signifying divine will and dharma (righteousness). These narratives, however esteemed, do not align with genuine historical occurrences.

Conversely, historical records depend on written documentation, archaeological discoveries, and concrete evidence to substantiate a factual foundation for the past. According to Vansina, historical records aim to "preserve a chronological and objective account of events," but historians should examine oral traditions "for feedback from earlier writings and trace whether a tradition has been recorded several times, rather than be content with last recording." (Vansina 9). Literary allusions in ancient literature, such as the Mahabharata and the Puranas, corroborate the town of Kampil's association with the Panchal dynasty. Nevertheless, the particular events described in these writings, including the swayamvara and the ensuing conflicts, lack the archaeological evidence to validate them as historical facts.

The separation between myth and history in Kampil is not consistently stringent. Folklorist Linda Dégh asserts that "of course, there are international folktales and mythological themes just as certain artifacts have worldwide distribution, but even here some local colour is often imparted by religious adaptations." (Dégh 519) Although the narratives of Draupadi may not qualify as "history" in the scholarly context, they are integral to Kampil's cultural legacy, influencing the town's identity and its role within the broader Indian cultural awareness. In examining Kampil's folklore, it is essential to acknowledge that myth and history can coexist, each fulfilling distinct yet complementary roles in preserving the past.

Works Cited:

Basham, A. L. *The Wonder That Was India.* Grove Press, 1981.

Dégh, Linda. *Folklore and Folklife: An Introduction*. University of Chicago Press, 1972.

Dundes, Alan. *The Study of Folklore*. Prentice-Hall, 1965.

Jain, Jyotindra. *Kampil: The Birthplace of Vimalnath*. Jain Publishing, 2008.

Lal, Kishori. Ancient Panchal and Its Political History. Orient Longman, 1990.

Sarma, S. R. "Archaeological Explorations in the Panchal Region." *Indian Historical Review*, vol. 12, no. 3, 1984, pp. 305–320.

Singh, Upinder. *A History of Ancient and Early Medieval India: From the Stone Age to the 12th Century*. Pearson Education India, 2009.

Thapar, Romila. *Early India: From the Origins to AD 1300*. University of California Press, 2004.

Vansina, Jan. *Oral Tradition as History*. University of Wisconsin Press, 1985.

Strategic Activities for the Development of Fluency in ESL Learners

-Bisnu Charan Mahato
Research Scholar,
Department of English
Ranchi University, Ranchi,
Jharkhand, India 834008

Abstract

The ultimate objective of ESL learners is to achieve the ability to talk accurately and fluently in English with competence. Oral fluency not only encompasses clear pronunciation, intonation, well-timed pauses, and a competent vocabulary in English to talk on a wide variety of subjects but also form the learners' abilities to quickly identify, sort, and organize the contents to orally present them in coherent manner. Such fluency only emanates from lots of practices, conscious interactions, making mistakes, and learning from all those mistakes. The ESL classroom includes lots of activities to provide the learners the critical exposure to the language and prerequisite opportunities to practice. This paper reviews relevant existing literature related to reviewing some important activities that are critical in classroom teaching to develop oral fluency among ESL learners. It aims to review the organization process and practical implications of classroom activities such as questionnaire, total physical response, drama, dialogue, role play, discussion, storytelling, and extempore and communication games organized in ESL classrooms and their importance in the development process of fluency in ESL learners.

Keywords: *Oral Fluency, Language Proficiency, Fluency in English, ESL activities, Strategies for fluency.*

Introduction

The "*essential features of contemporary societies are an English- proficient workforce in many key sectors of the economy as well as the ability of people from all walks of life to access the educational, technical, and knowledge resources that proficiency in English makes available*" (Richards & Rodgers, 2014, p. 83).

Fluency is the benchmark of such proficiency in English, it is the ultimate expectation with which learners join ESL classroom programs, to be able to speak confidently in the classroom and outside the classroom, to actively participate in any face to face, telephonic, or online oral communication on social media and online learning platforms. Fluency is usually associated with competent and impressive oral communication, but it is not an isolated skill, it is always preceded or accompanied by other language skills. All the interactive voice-based jobs and services in hospitality industries such as BPOs, IT, and ITeS specifically recruit candidates 'Fluent in English'. Fluency as a benchmark of excellent communication skills in English became indispensable in any field of study and occupation in domestic as well as international contexts.

But acquiring fluency in English requires learners to overcome many hurdles such as lack of motivation, confidence, time or purpose, fear of embarrassment, lack of imagination and creativity, limited vocabulary, and inability to apply learned rules of grammar. These hurdles coupled with wrong and inefficient teaching and learning methods make the situation worse. Although the level and nature of these problems vary from learner to learner and country to country, these problems persist and hinder the development of fluency in ESL learners. Different teachers of ELT adopt different approaches to overcome these problems. In the absence of proper teachers training, collaboration, and knowledge sharing, the strategies used by ELT teachers for fluency developments are usually based on the knowledge, experience, and expertise of individual teachers. these strategies and activities yield varied results and underline the gap between the latest research and classroom practices. To reduce this gap, this paper

aims to review the existing literature and research to put together some of the effective strategies and activities that if implemented in the classroom situation give the best possible result in developing fluency in ESL learners.

Classroom Activities for Fluency in ESL Classroom

According to (Richards & Rodgers, 2014, pp. 29-30) any specific learning outcome in language teaching classes, is a product of design. Some methods may focus primarily on oral skills, and meaningful expression of oneself, considering reading and writing skills secondary or derived form of oral skills, other methods may give greater priority to accurate grammar and pronunciation from the very beginning. Whether it is the knowledge of linguistic theories or the acquisition of behaviours and abilities in the learners, all are results of the instructions used in the classroom. As per (Hall, 2011) a more controlled practice is associated with accuracy, while freer practice is supposed to develop learners' fluency so teachers should facilitate practice, given their aims and the learners' needs, intervene or correct properly only if it is necessary. As per (Richards & Rodgers, 2014, pp. 96-97) activities focusing on fluency reflect natural use of language; concentrate on achieving communication through negotiation of meaning; require meaningful use of language and use of communication strategies in such a manner that learners can produce seemingly unpredictable language use linked to the context.

Most of the learners in an ESL classroom have the desire to speak, be inhibited by the fear of appearing foolish, therefore it is the role of the teachers to help these learners overcome shyness. To make them feel good, the level of tasks assigned to them should match their level and they should be provided with ample time for preparation, for gathering their thoughts, and initial ideas, if necessary, even in their first language so that later, they can articulate their ideas more effectively in English (Harmer, 2015, p. 386). During fluency activities, the learners may require help from the teachers in terms of appropriate words and phrases in such a way that the activity gets going without interruption. If require the teacher has to participate actively but should refrain from being critical or corrective during the activities.

Questionnaire

Questionnaires allow teachers to elicit information, check learners' understanding, and keep learners' attention while providing the learners with opportunities to practice the English language. different types of questions lead to qualitatively and quantitatively different responses from learners, some questions thus lead learners to 'work harder' with the language" (Hall, 2011, p. 11) and allow the learners to perform high level of fluency (Simcock, 1993).

Initial question-answer sessions for beginners are conducted in a pair or small groups that usually start with questions demanding yes/no answers and gradually progress through questions eliciting one-word answers or the questions that can be answered using familiar or previously learned words. The question ideally should come from the peers, but teachers may have to initiate and model the question-making and answering process till the learners themselves are not ready. (Herrel & Jordan, 2012, p. 103) suggest that first teachers should identify the level of their students by observing their interaction with others in English and then should level the questions up or down accordingly. The knowledge of the level of learners' English acquisition provides sufficient context in the question so that the learner can respond with understanding and confidence.

Total Physical Response (TPR)

To reach beyond the confines of the first language, into a new language, along with new culture, way of thinking, feeling, and acting, the learners total commitment, involvement, total physical, intellectual and emotional response are necessary to successfully send and receive messages in a second language (Brown, 2007, p. 12). TPR underlines the link between first-language acquisition and motor movements in children. As children listen and acquire receptive language during infancy, they develop understanding through moving their bodies and begin to speak only when they are ready. Thus, in TPR, students perform some actions commanded by their teacher who gradually introduces commands, mediates the demonstrations, and later removes the

demonstrations to allow the learners solely respond to the verbal commands (Herrel & Jordan, 2012, pp. 84-87).

TPR teaches basic oral proficiency in beginners through action-based drills, teaches grammar inductively, with need-based limited grammatical and vocabulary items introduced per session in a way that the learners can easily differentiate and assimilate them (Richards & Rodgers, 2014, p. 280). Classroom activities in TPR may include role-plays and pictorial presentations. The role-plays should be based on day-to-day interactions that take place in a restaurant, marketplace, airport, usual social gatherings. During pictorial presentations, learners may receive some visual cues, with or without narration, and then they can be asked to describe the actions and activities represented in those pictures. These activities are followed by reading and writing for consolidation of grammatical structures and vocabulary along with oral imperative drills.

Drama and Dialogue

(Harmer, 2015, pp. 388-389) and (Scrivener, 2011, p. 368) advocate acting self-written dialogues or drama from any books, with teachers helping them identify appropriate stress, intonation, and pace so that they learn to express the real meaning accompanies by appropriate non-linguistic and nonverbal signals in natural manner. Laura Miccoli finds drama 'transformative and emancipatory learning experiences' (Miccoli, 2003) for adult ESL learners, who in preliminary stages, get rid of their shyness by relaxing and breathing exercises and laughing with their peers, in intermediate stages they focus on gestures, actions and acting out individual emotions than in final stage they should present the drama or dialogue on the stage as a whole. (Saito, 2008) suggests repetition of dialogues in different ways such as whispering, shouting, happily or miserably, or their roles can be changed for enhanced learning opportunities. (Harmer, 2015, p. 388) mentions in his book *The Practice of English Language Teaching,* that according to Mark Almond, drama not only teaches pronunciation and general language used to the learners but also helps them build their confidence, enhance their ability to contextualize the language use and their problem-solving skills.

Role Play and Simulation

According to (Nunan, 2010, p. 60) 'Role play' is "*Pretending to be somebody else and using the language for the situation you are in*". Thus, in role-play, learners are assigned a role that they need to act out using their ideas or the information provided by role cards or the teachers (Scrivener, 2011, p. 220). The roles can be specific to a particular person, job, gender, age, appearance, character, opinion, or interest that are communicated to the learners in advance either directly by the teacher or through role cards consisting of prompts regarding the problems, issues, or scenarios, to be taken up. These role cards can be used to practice specific grammatical points, functional areas, lexical groups, and specific language items.

Learners learn English in meaningful and communicative situations through role-plays as these situations are directly related to children's real lives (Surkamp & Viebrock, 2018, p. 26). (Harmer, 2015, p. 393) states that simulations and role-plays are fun and motivating that allow hesitant students to be more straightforward in their opinions and behaviour without the fear of offending somebody as now they can 'hide' behind their roles. Harmer further says by broadening the world of the classroom, these activities relate the classroom teaching to the outside world and allow the learners to practice a much wider range of language usage. Thus, Simulation *and "role-play can be used to encourage general oral fluency or to train students for specific situations, especially where they are studying English for specific purposes (ESP) or business English*" (Harmer, 2015, p. 392).

Discussion and Debate

Discussion in classroom teaching for ESL learners can be any form of interaction from informal discussion in pairs, small groups, to a formal staged event. (Harmer, 2015, p. 390) suggests the use of brainstorming buzz groups to think, talk and prepare for more formal or bigger tasks or can be used to serve a whole range of purposes. Harmer further suggests, even unplanned discussion in the middle of a lesson can be enjoyable and productive for the learners, provided the teacher encourages them with prompts and become compassionate to the errors and mistakes committed by the learners. In later stages, students are put into formal debates where they learn

to build and present their arguments in favour or against various provocative or controversial issues. For successful debates, the teacher should facilitate the preparation for the debate by directing the learners towards online learning resources (Harmer, 2015, p. 390).

Discussion and debates are language acquisition activities that promote meaningful communication rather than language form (Richards & Rodgers, 2014, p. 269) and help in developing fluency in ESL learners.

Prepared Talks and Presentations

Presentations in an ESL classroom can be a very short one to three minutes, however with limited English and little experience, for the beginners, a presentation of even one-minute duration seems like a long time**.** As per Penny Ur, in short presentations, students can 'Show and tell', and object, 'Describe' a photograph, scene, or an event or can introduce him/her self. Medium length presentations lasting 5 to 10 minutes can be a narration of a story, anecdote or legend, or instructions illustrating how to perform any task skilfully, or can simply be an elaborate recommendation of a book, film, television, restaurant, or outing spot to the audience (Ur, 2012, p. 126). A full-length presentation can go beyond 15 minutes, simulating the presentations the learners require to perform in real life. Therefore, such presentation has to be based on a clear structure consisting of proper introduction, explanation in the main body, and ending with summarization, conclusions, or recommendation if necessary (Ur, 2012, p. 127).

For maximum benefit to be garnered from oral presentations, the learners should be given time and help in preparing their notes, talks, multimedia setup, and rehearsals (Harmer, 2015, p. 391). To foster active listening along with active speaking, Harmer further suggests assigning the role of critics to non-participants learners on some agreed-upon criteria so that they actively listen, take note of and provide feedback to others' performances. This way every presenter would get a chance to analyse his/her last performance from peers' feedback to improve upon next time.

Extempore

Impromptu or Extempore are oral presentations in which learners are asked to perform without being given any time for preparation. If administered cleverly Impromptu can be used as a real ice breaker for the beginners with fear and hesitation. The early learners of ESL have many apprehensions because of their limited vocabulary, grammar, and lack of practice. These limitations cause hesitation, fear, and lack of confidence in them. Impromptu puts their desire, enthusiasm, and efficiency level to test and challenges them to overcome their limitations. Timed impromptu forces the learners to take initiative and speak with whatever minimal their English is. The learners may struggle at the beginning with the dilemma of where to start and how to structure their thoughts, some speakers may draw a blank even with relatively simple vocabulary, some can be bullet speakers caused by anxiety (Henderson, 1982), in such case mind mapping can be used to by the learners to gather, organize and recall ideas, information and facts that they need to present during impromptu (Buzan & Harrison, 2006, pp. 138-139). With practice and each successful session of impromptu, the learners will have an increased sense of confidence and be more fluent in English.

Storytelling- Collaborative Story making

Storytelling is fundamentally interactive, it is a method of sharing experiences that people undertake to incorporate some important social processes as joking, complaining, telling troubles, gossiping, constructing relationships, understanding social roles and institutional realities, while furthering their narrative skills (Mandelbaum, 2003). Dramatized versions of small incidents from one's own life, fairy tales, rare or local legends, ghost stories and mysteries, interesting parts of longer biographies and novels, interesting stories from different languages, countries, and cultures are good seeds for stories that spring up to life in ESL classroom if nurtured with little preparation such as internalization of the moods, smells, look, colours, key events, special words, and expressions (Scrivener, 2011, p. 354).

Learners can share their versions of stories from such sources or can be a little creative and make their own stories. One person can tell one story but to foster creativity and active listening, a small group can collaboratively tell a story where a person gets a chance to start a story from an incident or some char-

acters, after some time the story is passed to another group member to develop and give his/her own twist. Such collaborative story-making compels the learners to engage and listen actively for unexpected twists and turns or to think as quickly as possible for his/her contribution. This way storytelling becomes pleasurable activity developing fluency as well as challenging their creativity.

Communication Games

Communication games can be all such activities set up in a classroom that aim to create opportunities for verbal interactions and serve the purpose of learning, consolidation, and practice along with fun. Communication games not only teach language functions but also crucial people skills such as teamwork, collaboration and problem-solving, etc.

According to (Herrel & Jordan, 2012, pp. 136-137), any communication games should be based on specific and identified needs of the learners, and the rules of the game should be demonstrated thorough modelling, and then the tasks should be assigned to the learners in pair or small group with a heterogeneous level of learners in it. Once the game starts, each pair or group is observed and if needed intervened by the teacher. In the end, the learners should be given chance to share their experience and receive feedback so that the activity can be customized to suit them. The communication games can be related to instruction follow-up, inquiry, information sharing, and problem-solving. "*When imported into the classroom, games from radio and TV often provide good fluency activities*" (Harmer, 2015, p. 389).

Conclusion

These activities provide the learners with much-needed opportunities and reasons to speak, practice English in a low-stress environment. Since these activities often consist of amusement, pleasure, as well as challenges offering psychological rewards and contentment, the learners are prompted to participate and give their best. The teachers of ESL should try to strike a balance between fluency and accuracy while organizing activities in such a way that accuracy activities do not contradict rather support fluency activities. Accuracy activities should be performed either before or after fluency activities in small manageable groups. Through these activities, the ESL learners learn to negotiate and obtain new information and knowledge while getting greater opportunities for proactively speaking and achieving fluency in English.

References

Brown, H. D. (2007). *Principles of Language Learning and Teaching* (5th ed.). White Plains, NY: Pearson Longman.

Buzan, T., & Harrison, J. (2006). *The Buzan Study Skills Handbook.* United Kingdom: BBC Active.

Hall, G. (2011). *Exploring English language teaching: Language in action* (1st ed.). London; New York: Routledge.

Harmer, J. (2015). *The Practice of English Language Teaching* (5th ed.). Harlow: Pearson.

Heather, K., & Dudley-Evans, T. (1998). Genre: What teachers think. *ELT Journal Volume, 52*(4), 308-314.

Henderson, D. (1982). Impromptu Speaking as a Tool to Improve Non-Native Speakers' Fluency in English. *JALT Journal, 4*, 75-87. Retrieved 11 25, 2021, from https://jalt-publications.org/files/pdf-article/jj-4.1-art4.pdf

Herrel, A. L., & Jordan, M. (2012). *50 Strategies for Teaching English Language Learners* (4 ed.). Boston: Pearson.

Hyland, K. (2003). *Second Language Writing.* Germany: Cambridge University Press.

Hyland, K. (2004). *Genre and Second Language Writing.* United States: University of Michigan Press.

Mandelbaum, J. (2003). How To Do Things with Narrative: A Communication Perspective on Narrative Skill. In J. O. Greene, & B. R. Burleson (Eds.), *Handbook of communication and social interaction skills.* Mahwah, N.J: Lawrence Erlbaum Associates.

Martin, J. R. (2009). Construing knowledge: a functional linguistic perspective. In F. Christie, & J. R. Martin (Eds.), *Language, Knowledge and Pedagogy: Functional Linguistic and Sociological Perspectives.* United Kingdom: Bloomsbury Academic.

Martin, J. R., & Rose, D. (2003). *Working with Discourse: Meaning Beyond the Clause.* United Kingdom: Continuum.

Miccoli, L. (2003). English through Drama for Oral Skills Development. *ELT Journal, 57*(2), 122-29.

Nunan, D. (2010). *Task-based Language Teaching.* Cambridge: Cambridge University Press.

Richards, J. C., & Rodgers, T. S. (2014). *Approaches and Methods in Language Teaching* (3rd ed.). New York: Cambridge University Press.

Saito, H. (2008). A Framework for Goal-driven Pair Drills. *ELT Journal, 62*(1), 56-65.

Scrivener, J. (2011). *Learning Teaching: The Essential Guide to English Language Teaching* (3rd ed.). Germany: Macmillan.

Surkamp, C., & Viebrock, B. (Eds.). (2018). *Teaching English as a Foreign Language: An Introduction.* Germany: J.B. Metzler.

Ur, P. (2012). *A Course in English Language Teaching.* Cambridge; New York: Cambridge University Press.

हिन्दी साहित्य में आधुनिक भावबोध, आधुनिक शब्द का अर्थ और आधुनिकता की परिभषा

-शिला कुमारी
शोधार्थी
नेट/जे.आर.एफ.
बिनोद बिहारी महतो कोयलांचल विश्वविद्यालय धनबाद,
झारखंड
ईमेल- vikramshilasingh@gmail.com

आधुनिक भावबोध– भारत में अठारहवीं शताब्दी के बाद की परिस्थितियों में पैदा हुई चेतना ही आधुनिक बोध है। सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिवर्तन, जिसका प्रभाव साहित्य में दिखायी देता है। समाज का एक यथार्थ बिंब प्रस्तुत करता है। इन्द्रनाथ मदान लिखते हैं– "मध्यकालीन बोध को समझे बिना आधुनिक बोध को समझना मेरे लिए कठिन और अध ूरा था। परंपरा में डूब जाना एक बात है और परंपरा से कट जाना दूसरी बात। इसका मतलब मध्यकालीनता से जुड़ना नहीं है, लेकिन हठवश नकार कर आधुनिकता को समझना मेरे लिए मुश्किल लगा।"[1]

आधुनिक शब्द का अर्थ– आधुनिक शब्द अंग्रेजी के मॉर्डन (Modern) शब्द का हिन्दी रूपांतरण है। आधुनिक शब्द का कोशपरक दृष्टि से अर्थ है आजकल का, वर्तमान काल का नए जमाने का। आध ुनिक शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। यह शब्द संस्कृत के 'अधुना' शब्द से बना है, और इसमें 'इक' प्रत्यय जुड़ा हुआ है। जिससे बना है 'अधुना', 'इक' = आधुनिक। आधुनिक शब्द का विलोम शब्द 'प्राचीन' है। आधुनिक शब्द नूतनता का द्योतक है। यह नूतनता अनुभूति सापेक्ष भी है और अभिव्यक्ति 'सापेक्ष भी। डॉ० नगेन्द्र की संपादित पुस्तक हिन्दी साहित्य का इतिहास में बच्चन सिंह लिखते हैं– 'आधुनिक' शब्द दो अर्थों– मध्यकाल से भिन्नता और नवीन इहलौकिक दृष्टिकोण की सूचना देता है। मध्यकाल से भिन्नता मध्यकाल अपने अवरोध, जड़ता और रूढ़िवादिता के कारण स्थिर और एकरस हो चूका था, विशिष्ट ऐतिहासिक प्रक्रिया ने उसे पुनः गत्यात्मक बनाया। मध्यकालीन जड़ता और गत्यात्मक को साहित्य और कला के के माध्यम से समझा जा सकता है। रीतिकाल में साहित्य राजाओं के जीवन से संबंधित था वहीं आधुनिक काल में यह बंधन टूटा और साहित्य में आम मनुष्य के जीवन के सुख दुःख की भी व्याख्या होने लगी। आधुनिक शब्द में जो दूसरा अर्थ है वह है– इहलौकिक दृष्टिकोण। धर्म, दर्शन, साहित्य, चित्र आदि सभी के प्रति नये दृष्टिकोण का आविर्भाव हुआ। मध्यकाल में परलौकिक दृष्टि से मनुष्य इतना अधि ाक आच्छन्न था कि उसे अपने परिवेश की सुध नहीं थी, पर आधुनिक युग में वह अपने पर्यावरण के प्रति अधिक सर्तक हो गया। आधुनिक युग की पीठिका के रूप में इस देश में जिन दार्शनिक चिंतकों और धार्मिक व्याख्याताओं का आविर्भाव हुआ, उनकी मूल चिंताधारा इहलौकिक ही है।"[2] आधुनिक युग का परिणाम है कि साहित्य की भाषा ही बदल गयी। ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली का प्रयोग किया जाने लगा। आधुनिक शब्द की कोई निश्चित परिभाषा नहीं है। आधुनिक का व्यापक अर्थ है। यह भाषा, समाज, मानव, रहन– सहन, पहनावा, खान–पान, सोच– विचार से भी जुड़ा हुआ है। आधुनिक होने का अर्थ यह बिलकुल नहीं है कि हम पूर्ण रूप से समाज, परंपरा से अलग हो जायें।

आधुनिकता की परिभाषा एवं स्वरूप– 'आधुनिक' में 'ता' प्रत्यय लगा कर उसका भाववाचक रूप आधुनिकता है। आधुनिकता अंग्रेजी के शब्द 'माडर्ननिटी' Modernity का हिन्दी अनुवाद है। Modernity शब्द अंग्र. जी में ग्रीक के मोडो शब्द से आया है। इसका अर्थ है, हाल फिलहाल का, अभी का, आज का, इस समय का समकालीन। "आधुनिकता को प्रक्रिया और सतत मानने वाले लोगों के अनुसार आधुनिकता सामयिक, समकालीन, तात्कालिकता से सदैव परिपूर्ण रहती है। इसका अर्थ हुआ कि जैसे ही कोई स्थिति तात्कालिकता के भाव से परिवर्तित हुई तो आधुनिकता खत्म हो गयी। समकालीनता और आधुनिकता में कोई एकसूत्रता नहीं है। मैथ्यू अर्नाल्ड और रविशंकर दो भिन्न शास्त्रानुशासन के लोग हैं–वे आधुनिक हैं, किन्तु वे समकालीन नहीं हैं। स्पष्ट है कि आधुनिकता, समकालीनता भिन्न–भिन्न चीजें हैं।"[3]

आधुनिकता की परिभाषा क्या है ? यह एक जटिल प्रश्न है। आधुनिकता की वर्तमान स्थिति, एक विकसनशील प्रक्रिया होते हुए भी बहुत कुछ भिन्न है। इस भिन्नता के वजह से इसे एक निश्चित परिभाषा देना उचित नहीं है। आधुनिकता एक गतिशील प्रक्रिया है, जो तर्क, परीक्षण और विवेक पर आधारित है। यह एक क्रियाशील सृजनात्मक चेतना है। आधुनिकता मनुष्य की चेतना से संबंध रखती है। यह चेतना मनुष्य को आत्मिक खोज की ओर अग्रसर करती है। मानव के मन में मानव मूल्यों की द्वंद्वात्मक स्थिति की उद्भव भूमि आधुनिकता का परिचायक है। मानव जीवन को नये सिरे से आकलन करना, नवीन दृष्टि बोध, जागरूकता का विकास ही आधुनिकता का केंद्र बिंदु

है। हिन्दी साहित्य के कवियों, लेखकों और आलोचकों ने अपने– अपने दृष्टिकोण से परिभाषित करने का प्रयास किया है–

अज्ञेय जी स्वयं को आधुनिक कवि कहते हैं। अज्ञेय जी आधुनिकता की परिभाषा इस प्रकार करते हैं– "आधुनिकता के लोगों ने अलग–अलग अनेक अर्थ किए हैं। मेरी दृष्टि में आधुनिकता एक अनगढ़ चीज है। वह एक सिद्ध स्थिति नहीं, एक प्रक्रिया है। संस्कारवान होने की क्रिया को ही मैं आधुनिकता मानता हूँ।"[4]

डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने आधुनिकता जीवन में और समाज में नया प्रतीक में काल की चेतना के रूप में परिभाषित करते हैं– "आधुनिकता काल की चेतना है, पर कालबद्ध रूढ़ि नहीं है, यह बात अगर समझ ली जाए तो इसके संबंध में बहुत सारे भ्रम अपने आप छूट जाएँ। आधुनिक होने का अर्थ है पहचानते चलना कि हम किस जमीन पर हैं, हम किस हवा को अपनी साँसों में भर रहे हैं, हम किस आकाश के वितान के साये में चल रहे हैं और किस दिशा में चल रहे हैं, चल भी रहे हैं या नहीं और हमी चल रहे हैं या फिर हमारा कोई साया चल रहा है, हमको लग भर रहा है कि चल रहे हैं।"[5]

राजी सेठ शाश्वत साहित्य और आधुनिकता नया प्रतीक में आधुनिकता का परिभाषा देते हुए लिखते हैं– "आधुनिकता एक निरंतर ऐतिहासिक वर्तमान है, जो वस्तुओं और स्थितियों के प्रति निष्ठावान है, जिसके मूल में एक ऐसी संघर्षशील दृष्टि हैय जो जीवन–मूल्यों के रूढ़ या निष्प्राण हो जाने का विरोध करती है और नये सार्थक प्रतिमानों की स्थापना करना चाहती है।"[6]

डॉ.नरेन्द्र मोहन शर्मा जी के अनुसार आधुनिकता निरंकुश सिंद्धांत नहीं मानते हैं अपनी विचार को कुछ इस तरह रखते हैं–"आधुनिकता कोई निरपेक्ष धारणा या निरंकुश सिद्धांत नहीं है। यह गतिशील आधुनिक स्थिति है, जिसका स्वभाव ठहरना नहीं, निरंतर बदलना है।"[7]

बच्चन सिंह का मत है– "आधुनिक ज्ञान–विज्ञान और टेक्नोलॉजी के फलस्वरूप उत्पन्न मानवीय स्थितियों का नया गैर–रोमाँटिक और अमिथकीय साक्षात्कार 'आधुनिकता' है।"[8]

डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने कहा– "आधुनिकता एक विचार विधि एक चिंतन पद्धति, एक वृत्ति अथवा मूल्य चक्र से अभिहित होती है।" अर्थात वह एक ही ऐसी विचार विधि है जो व्यवस्था को समग्रता देती है। समग्रता की यह स्थिति जीवंत इतिहास बोध से आती है।"[9]

डॉ. इन्द्रनाथ मदान– "आधुनिकता एक प्रक्रिया होने के कारण एक से अधिक दौरों से गुजरती है और आज भी जारी है। इसलिए इसके किसी एक दौर पर अँगुली रखकर यह कहना कठिन है कि आधुनिकता यह है।"[10]

"आधुनिकता का संबंध विवेकशील मानसिकता से है जो जीवन के सभी पक्षों को यथार्थ में देखती है। आधुनिक चेतना से संपृक्त मनुष्य जब नए चिंतन के आलोक में अपनी आंखें खोलता है, तो उसकी नजर समाज के विद्रूप या विकृत यथार्थ की ओर जाती है, जहाँ वैषम्य विद्यमान है। यह विषमताए उसे पिड़ित करती है, और फिर पीड़ा व वेदना की इस पृष्ठभूमि में उन सामाजिक विसंगतियों का चित्रण करते हुए वह उनसे उबरने की छटपटाहट प्रकट करता है। समग्रता में इसे ही यथार्थ बोध करते हैं।"[11] आधुनिकता गतिशील प्रक्रिया है। इसलिए इसे किसी निश्चित सीमा में बाँधा नहीं जा सकता है। मनुष्य की मानसिकता पहले से बनी–बानायी व्यवस्था को तोड़ती है। वह सदैव नवीन विचारों से प्रभावित होता रहता है। मनुष्य की स्वाभाविक स्थिति है कि वह परिवर्तन चाहता है।

डॉ. जगदीश गुप्त भी आधुनिकता को पुरातन की सापेक्षता में ही स्वीकारते हुए कहते हैं– "आधुनिकता मेरे निकट पुरातन को गाली देना नहीं है, वरन् सार ग्राहिणी तत्व दृष्टि के साथ विगत सांस्कृतिक समृद्धि को आत्मसात करते हुए मानव की वर्तमान नियति एवं उसके भावी विकास के प्रति अपने दायित्व का विशिष्ट एवं सक्रिय अनुभव करना है।"[12]

गिरिजाकुमार माथुर भी आधुनिकता को इसी रूप में स्वीकार करते हुए कहते हैं– "आधुनिकता अधिक एवं आंतरिक मूल्यगत भाव है, इसका एक पक्ष दीर्घ कालीन सांस्कृतिक विकास से संबंधित हैं दूसरा पक्ष सामयिक है जिसके अंतर्गत परिवेश और रूपाकार का परिवर्तनशैली और भंगिमा का नव–रूपान्तर आता है। इन दोनों पक्षों की पी. ठिका पर उदित परिवर्तित, मूल्यबोध ही आधुनिकता के दृष्टिकोण को जन्म देता है।"[13]

डॉ. रमेश कुंतल मेघ "आधुनिकता को 'आधुनिक रिनैसां' (नवजागरण) की समस्या मानते हैं, फिर भी वह यह स्वीकार करते हैं कि आधुनिकता की बात प्राचीन से कटकर नहीं हो सकती है। आधुनिकता बोध पता लगाता है कि जो प्राचीनतम् है, उनमें सार्थक नवीनतम क्या है।"[14]

विद्वानों का दूसरा वर्ग है जो आधुनिकता की चर्चा अतीत से कटकर करता है– डॉ. विश्वंभरनाथ उपाध्याय– "आधुनिकता देशकालातीत धारणा नहीं हो सकती। .... काल क्रमण आधुनिकता बोध इतिहास में और विशेषकर अपने इतिहास में कुछ वर्षों का बोध है और इस बोध का जिम्मेदार बाह्य विकास है जिसने इस आंतरिक बोध को जन्म दिया है।"[15] विपिन कुमार अग्रवाल भी "आधुनिकता को 'खण्डित घटना' मानते हैं जिसका बीती हुई घटनाओं से बहुत दूर का सम्बंध है।"[16] प्रस्तुत परिभाषा के देख सकते हैं कि प्रत्येक विद्वान की अपनी मत है। कोई इसे गतिशील मानता है तो कोई समय और समाज के बदलने से संबंध जोड़ता है। बहुत से विद्वान आधुनिकता का को मानव के चेतना से संबंधित बताते हैं।

आधुनिकता में वैज्ञानिक बौद्धिकता सर्वोपरि है। आधुनिकता समय सापेक्ष होता है। यानि की हर युग अप.

ने–आप में आधुनिक होता है आधुनिकता का शुरूआत यूरोप से मानी जाती है। यूरोपीय रेनेसां आधुनिक युग की पहली सीढ़ी है। मध्यकाल में रचनात्मकता के केन्द्र में ईश्वर रहा किंतु आधुनिक काल में मनुष्य उसके केन्द्र में रहा। साहित्य मनुष्य के सुख–दुःख से पहली बार जुड़ा। मध्यकालीन समाज एवं साहित्य सामंतवादी व्यवस्था पर आधारित था, आधुनिक समाज औधोगिक क्रांति, विज्ञ. ानवाद, यंत्रवाद के आने से पुंजीवादी व्यवस्था पर आधारित हो गया। मध्यकाल परंपरा को प्रतिपादित करता है जबकि आधुनिक काल आधुनिकता को प्रतिपादित करता है। है। "आधुनिकता का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है कि उसके ऐतिहासिक संदर्भ और प्रवृत्ति को समझ लिया आाये। आधुनिक काल अपने ज्ञान–विज्ञान और प्रविधियों के कारण मध्यकाल से अलग हुआ, क्योंकि यह काल औद्योगिकरण, नगरीकरण और बौद्धिकता से चिपका हुआ है, जिसके फलस्वरूप नवीन आशाएँ उभरी और भविष्य का नूतन स्वप्न देखा जाने लगा। देश, राष्ट्र, धर्म, दर्शन, ईश्वर आदि की नवीन व्यख्याएँ होने लगी।"[17]

भारतीय इतिहास में राजा राममोहन राय जी को आधुनिकता का सूत्राधार माना जाता है। वे 1828 ई. में ब्रह्म समाज की स्थापना की। उनके दवारा समाज में फैले हुए रूढीगत परम्परा और कुरूतीयों का बहिष्कार किया। उन्हीं में से सती प्रथा जैसी कुरीति को जड़ से उखाड़ फेंकने में इनका बहुत बड़ा योगदान रहा। नारी को अपने अधिकारों के प्रति चेतनता जागृत किया। ऐसे और भी संस्थान की स्थापना की गयी जैसे–1864 ई. में केशवचंद्र सेन ने प्रार्थना समाज की स्थापना की। रामकृष्ण मिशन की स्थापना विवेकानंद के द्वारा किया गया। 1867 ई. में आर्यसमाज की स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती के द्वारा संचालित किया गया। थियोसॉफिकल सोसाइटी की स्थापना 1875 ई. में मदान ब्लावस्तू और ओल्कार्ट द्वारा न्यूयॉर्क में हुई थी। जो भारतीय धार्मिक परंपरा को बढ़ावा देने के उद्देश्य से स्थापित किया गया था। प्रत्येक संस्थानों का मुख्य उद्देश्य रूढ़िवादी विचारों परंपराओं का खंडन और नयी सोच के साथ मानवता कायम रखना।

भारत में आधुनिकता का विस्तार अंग्रेजों के आने के बाद यहाँ की परंपरागत व्यवस्था टूटने लगी थी। लोग उनके कुटनीति से परेशान थे। उन लोगों को सहयोग देने के लिए ये संस्थान ढाल बन कर सामने आए। शिक्षा व्यवस्था, व्यापार के माध्यम से अंग्रेजों ने बहुत से शिक्षा संस्थान खोले जिसका उद्देश्य उनके धर्म का प्रचार प्रसार करना था। मध्यवर्ग शिक्षा की ओर बढ़ता है लेकिन अंग्रेजी दासता के इस युग में शिक्षा के क्षेत्र में भी उसका शोषण होता है। प्रेस, यातायात संसाधनों का विकास लोगों को एक दूसरे से जोड़ने में सहायक सिद्ध हुए। विचारों का संक्रमण हुआ। जिससे समाज को एक नई दिशा खोजने में सहूलियत हुयी। इन सभी कारणों से ही आधुनिकता का स्वरूप विकसित होता नजर आने लगा था।

स्वतंत्रता के पश्चात मध्यवर्गीय समाज एक बार फिर टूटा। स्वतंत्र होने की जितने अरमान उन्होंने सजाये थे वे धरे के धरे रह गए। क्योंकि स्वतंत्रता के बाद भी उनकी स्थिति में कोई बदलाव नहीं हुआ। इस काल के जो कवि हुए उनके लिए पारंपरिक मूल्य प्रासंगिक नहीं लगते हैं। वे मानव मन में व्याप्त कुंठाओं का, जीवन के संत्रास एवं मृत्युबोध का मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रण करने लगे। जीवन को क्षणिक मानकर एक–एक क्षण की अनुभूति को महत्वपूर्ण मानकर उसकी व्याख्या करने लगे।

संदर्भ सूची :–

1.इन्द्र नाथ मदान, आधुनिकता और हिन्दी साहित्य, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण– 1973, पाँचवा संस्करण–2018, पृष्ठ– 175

2.डॉ. नगेन्द्र, सं. हिन्दी साहित्य का इतिहास,प्रकाशक मयूर पेपरबैक्स, पृष्ठ – 416

3.गंगा प्रसाद विमल, आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता, नयी किताब प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण–2021,पृष्ठ 17

4.देवराज, नई कविता, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली,संस्करण 2009, पृष्ठ – 82

5.वही, पृष्ठ– 8

6.वही, पृष्ठ– 82

7.रमेश कुंतल मेघ, मिथक से आधुनिकता तक, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण – 2008, 2017, पृष्ठ – 73

8.डॉ. इन्द्रनाथ मदान, निबंध और निबंध, पृष्ठ 9

9.भोलाभाई पटेल, अज्ञेय एक अध्ययन, वाणी प्रकाशन, संस्करण– 1983, 2012, पृष्ठ – 71

10.कुमार सर्वेश, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ– 158

11.नयी कविता (पत्रिका), अंक. – 6, पृष्ठ – 64

12.गिरिजाकुमार माथुर, नयी कविता सीमाएं एवं सम्भ. ावनाएं, पृष्ठ – 104, 105,

13.रमेश कुंतल मेघ, आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण, पृष्ठ– 14

14.डॉ.विश्वम्भरनाथ,जलते और उबलते प्रश्न,पृष्ठ – 69–71

15.डॉ. नगेन्द्र, सं. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ– 416

16.नयी कविता पत्रिका, अंक –7, पृष्ठ – 33

17.डॉ. नगेन्द्र, सं. हिन्दी साहित्य का इतिहास,पृष्ठ – 416

*****

प्राचीन महाकाव्य एवं आधुनिक महाकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन

-सुषमा
असि.प्रोफेसर (संस्कृत)
डॉ.अम्बेडकर राजकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, ऊँचाहार, रायबरेली

काव्य शब्द संस्कृत भाषा में बहुत प्राचीन है जिसे कवि के कर्म, के रुप में जाना जाता है–

कवेःकर्म काव्यम्

यह कवि शब्द कु अथवा कव् धातु से बना है जिसका अर्थ है –ध्वनि करना, विवरण देना, चित्रण करना आदि। अर्थात् शब्दों के द्वारा किसी विषय का आकर्षण रुप से चित्रण करना या विवरण करना ही काव्य है। महाकाव्य साहित्य का भारतीय साहित्य में अत्यधिक महत्व है। महाकाव्य दो मुख्य श्रेणियों में बाँटा जाता है। प्राचीन महाकाव्य और आधुनिक महाकाव्य। इन दोनों के बीच कई महत्वपूर्ण भेद हैं, जो उनके विषय, रचनाशैली, भावनाओं और समय की दृष्टि से दिखाई देते हैं। आइए, हम इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं।

रामायण और महाभारत जैसे आर्ष –काव्य इस इतिहास विद्या के भास्कर हैं जिन्होंने परवर्ती कवियों को विषय वस्तु, वर्णन विधि तथा भाषा शैली भी दी है। फिर भी संस्कृत कवियों की व्यवस्था एक कलात्मक संपूर्ण कृति के रूप में है जो अपेक्षाकृत अल्प स्थान में ही जीवन के विपुल आयाम को भरकर पाठक का हृदयावर्जन करें। कालिदास, अश्वघोष आदि कवि अवश्य ही रामायण से प्रभावित हुए किंतु वाल्मीकि के लंबे वर्णनों तथा महारण्याकार चित्रणों की अपेक्षा उन्हें लघुकाय, प्रभावश. ाली तथा चमत्कारी निर्देशों में ही काव्य की सफलता प्रतीत हुई। तात्पर्य यह है कि विकासशील महाकाव्य का परिवर्तन कलात्मक महाकाव्य में हो गया।

वाल्मीकि से कालिदास की रचना तक आने में काव्य –कला को कई शताब्दियां लगी। इस बीच अनेक कवि हुए अनेक काव्य कृतियां रची गई, किंतु वे भारतीय प्रवेश की ऊष्मा में धीरे–धीरे विलीन हो गई सुभाषित संग्रहों में या परवर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में कुछ पद या कवियों के नाम स्मरण किए गए। यह कहना भी कठिन है, की प्रसिद्ध परवर्ती कवियों की रचनाओं में उन अज्ञात प्राचीन कवियों की लुप्त रचनाओं का शब्दानुहरण या अर्थानुहरण हुआ है या नहीं। ईसा पूर्व की शताब्दियों में ही पाणिनि, वररुचि तथा पतंजलि वैयाकरण होने के अतिरिक्त साहित्यिक ग्रंन्थों की भी रचना की थी। पाणिनि ने पातालविजय तथा जाम्बवतीजय नामक दो महाकाव्य लिखे थे। पतंजलि ने वाररुचम् काव्यम की रचना की।

महाकाव्य दो शब्द से मिलकर बना है महत + काव्य। जिसमें निहितार्थ विषय वस्तु की जानकारी सुगमताप. ूर्वक होने के साथ–साथ कर्णप्रिय हो। वस्तुत संस्कृत महाकाव्य एक प्रबंधकाव्य होता है जिसकी सीमा सर्गों में गठित होनी चाहिए। सर्ग का निर्माण, आकार – प्रकार की दृष्टि से न ही अत्यधिक विशाल और न ही बहुत छोटा होना चाहिए। वैसे सर्ग के अंतर्गत सौ दो सौ सर्गों के भीतर ही पद उल्लेखित हो किंतु सर्गों की संख्या 8 से अधिक अभीष्ट मानी गई है और अधिकतम सीमा का निर्धारण नहीं किया गया है। पुरातन महाकाव्य रामायण व महाभारत जैसे महाकाव्य की संख्या भिन्न–भिन्न हैं। आधुनिक महाकाव्य के रचनाकारों ने सर्गो के स्थान पर अध्यायों मे अपने संग्रहों को व्यवस्थित किया है।

महाकाव्य के लक्षण के बारे में रुद्रट, दण्डी ,भामह तथा विश्वनाथ ने अलग–अलग परिभाषा दी है लेकिन इन सभी में विश्वनाथ की परिभाषा अत्यधिक व्यापक और अंतिम होने के कारण महत्वपूर्ण एवं स्पष्ट भी है। विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य का कथानक किसी प्रसिद्ध या ऐतिहासिक घटना पर आधारित होना चाहिए। काल्पनिक इतिवृत्त का अवकाश इसमें नहीं होता है। किसी देवता, क्षत्रिय अथवा एक वश में उत्पन्न अनेक राजा जिसम. ें धीरोदात्त आदि गुण हो का नायक होना चाहिए। श्रृङ्गार, वीर अथवा शांत रस को प्रधान रस बनाकर अन्य सभी रसों को अंङ्ग के रूप में रखा जाना चाहिए। चतुर्वर्ग अर्थात ध र्म ,अर्थ ,काम, मोक्ष में से एक उसका फल होना चाहिए। आरंभ में नमस्कार आशीर्वाद या वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण होता है। कहीं खलों की निंदा तथा सज्जनों का गुणकथन होता है। प्रत्येक की रचना एक ही छंद में की जाती है और सर्ग के अंत में छंद परिवर्तन होता है। कहीं–कहीं एक ही

सर्ग में अनेक छंद भी होते हैं। सर्ग के अंत में आगामी कथा की सूचना होती है। उसमें संध्या, सूर्य, चंद्रमा, रात्रि, प्रदोष ,अंधकार, दिन, मृगया, पर्वत, ऋतु ,वन, सागर, संयोग, वियोग ,मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संगम ,यात्रा, विवाह आदि का यथासंभव सांगोपांग वर्णन होना चाहिए।

काव्यशास्त्र की विकास यात्रा का मूल्यांकन करने वाले सभी विद्वान इस शास्त्र का मूल ऋग्वेद को मानते हैं ऋग्वेद के मंत्रों में काव्य शब्द का उल्लेख भी मिलता है।

आदेवानामभवः केतुवग्रेमन्दो विश्वानि काव्यांजलि विद्वान।

यहां अग्नि को काव्य का ज्ञाता कहा गया है।

प्राचीन महाकाव्य परंपरा के विद्वान

संस्कृत प्राचीन महाकाव्य श्री वाल्मीकि कृत रामायण आदि काव्य से माना जाता है और वाल्मीकि को आदिकवि के रूप में आधार दिया जाता है। रामायण एक महाकवि की महान कृति है, जो एक महाकवि के रूप में उनके काव्य प्रतिभा के उच्चतम स्तर को सुशोभित करता है। यह रचना रचयिता के गुणों का नहीं वरन् जिस देश अथवा भारत में इसकी रचना हुई वहां की सामाजिक, ध ार्मिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और आदर्श जीवन की समग्रता को समावेशित करती है। आदिकाव्य रामायण रामचरित पर आधारित परवर्ती महाकवियों और नाटककारों के महाकाव्य और नाटकों का उपजीव्य होने के साथ ही भारतीय परिवारों के धर्मग्रंथों, आर्यों के संस्कार संबंधों, रामायण के मैत्री भावना और आदर्श का प्रतिनिधि चिरस्थाई ग्रंथरत्न है। रामायण अस्तित्व के विषय में महर्षि वाल्मीकि का यह कथन सर्वथा सार्थक है कि– जब तक पर्वत और सरिताओं का अस्तित्व है इस धरती पर तब तक रामायण की कथा संसार में बनी रहेगी।

आदिकवि वाल्मीकि अपने काव्य मंदिर की पीठ पर प्रतिष्ठित किया है– मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचंद्रजी को। विभिन्न सम – विषम परिस्थितियों के बीच रहकर व्यक्ति अपनी शील के सौंदर्य की धीरतापूर्वक किस प्रकार रक्षा कर सकता है इसकी शिक्षा हमें वाल्मीकि ने ही दी है। आदिकवि ने श्रीराम के चरित्र को समस्त आदर्श के पूंजी भूत विग्रह के रूप में प्रस्तुत किया है।

महर्षि वेदव्यास द्वारा रचित महाभारत आर्य संस्कृ ति तथा भारतीय सनातन धर्म का एक महान तथा अमूलरत्न से भरा ग्रंथ है। वस्तुत महाभारत गूढ़ार्थयुक्त, ज्ञान विज्ञान शास्त्र है, राजनीतिक दर्शन है, कर्म योग व भक्ति शास्त्र है, अध्यात्म विद्या है, आर्यजाति का इतिहास है और सर्वशास्त्रसंग्रह है। इसके अंतर्गत 1,00,000 श्लोक लिखे गए हैं, जिस कारण इसे शतसहस्री संहिता कहा गया है। इसके विकास में तीन क्रमिक स्वरूप माने जाते हैं– जय, भारत, महाभारत। इस ग्रंथ का मूल रूप जय नाम से प्रसिद्ध है। पांडवों के विजय वर्णन के कारण इसका प्राचीन नाम जय था –

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीशुणा।

महाभारत के खण्डो को पर्व कहते हैं जिनकी संख्या 18 है। महाभारत के इन पर्वो में चंद्रवंश का इतिहास, कौरववंश पांडवों की उत्पत्ति ,उनका परस्पर युद्ध, कौरव पराजय, पांडव विजय, भीष्म द्वारा युधिष्ठिर को राजधर्म तथा मोक्ष धाम का उद्देश्य, युधिष्ठिर का अश्वमेध ा यज्ञ, यादव वंश विनाश ,पांण्डवों की हिमालय यात्रा तथा स्वर्गारोहण मुख्यतया वर्णित है। विकास की महाभारत रचना का उद्देश्य केवल युद्धों का वर्णन नहीं अपितु इस भौतिक जीवन की असारता दिखलाकर प्राणियों को मोक्ष की ओर उन्मुख करना है । अतएव महाभारत का मुख्य रस शांत है ,वीर तो उसका अङ्गरस है। महाभारत के भीष्म पर्व के अंतर्गत श्रीमद्भागवतगीता का व्याख्यान स्वयं श्री हरिनारायण के द्वारा दिया गया है जो कर्म, ज्ञान ,धर्म और आत्मा के सौंदर्य की विवेचना करता है।

महाकवि कालिदास को भारत का शेक्सपियर कहा जाता है। उन्होंने भारत की पौराणिक कथाओं और दर्शन को आधार बनाकर रचनाएं की और उनकी रचनाओं में भारतीय जीवन और दर्शन के विविध रूप और मूल तत्व निरूपित है कालिदास अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण राष्ट्र की समग्र राष्ट्रीय चेतना को स्वर देने वाले कवि माने जाते हैं और कुछ विद्वान उन्हें राष्ट्रीय कवि का स्थान तक देते हैं। महाकवि कालिदास को कविकुलगुरू, कनिष्ठाकाधि ाष्ठित और कविताकामिनीविलास जैसी प्रशंसात्मक उपाधियां प्रदान की गई हैं। जो उनके काव्यगत विशेषताओं से अभिभूत होकर के ही दी गई है। महाकवि कालिदास वैदर्भी रीति के कवि हैं और उन्होंने प्रसाद गुण से पूर्ण ललितशब्द योजना का प्रयोग किया है। इनकी इनकी भाषा मधुर ,नाद सुंदरी से युक्त है और समासो का अल्प प्रयोग, शब्दालंकारों का स्वाभाविक प्रयोग इत्यादि गुणो के कारण उसमें प्रवाह तथा प्राजंलता विद्यमान है। महाकवि कालिदास ने शब्दालंकारों का स्वाभाविक प्रयोग किया है और उन्हें उपमा अलंकार के प्रयोग में सिद्धहस्त और उनकी उपमा को श्रेष्ठ माना जाता है। जैसे –

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेंद्रमार्गट्ट एवं प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः।।

कालिदास ने तीन नाटक – अभिज्ञान शाकुन्तलम्,

विक्रमोर्वशीयम् और मालविकाग्निमित्रम्, दो महाकाव्य रघुवंशम् और कुमारसंभवम् और दो खंडकाव्य मेघदूतम् और ऋतुसंहारम् को रचा है।

कवि भारवि शैव और दाक्षिणात्य कवि थे। पुलकेशी द्वितीय के अनुज, राजा विष्णुवर्धन के राजसभा पंडित थे। और 600 ई ०के आसपास विद्यमान थे ।उन्होंने अपने काव्य में अपना जीवनपरिचयात्मक कुछ भी नहीं लिखा है। उनकी प्रसिद्धि का एकमात्र आधार किरातार्जुनीयम् ही है।

किरातार्जुनीयम् की कथा के अनुसार 13 वर्षो का वनवास (बारह वर्ष का वनवास एवं एक वर्ष का अज्ञातवास) के दौरान अर्जुन श्री महादेव की तपस्या रक्त थे। उसी दौरान एक दानव शूकर वेष में अर्जुन पर आक्रमण करता है तभी किरातवेषधारी महादेव पहले अर्जुन की रक्षा करते हैं तदनंतर परीक्षायुद्ध में अर्जुन की वीरता से प्रसन्न होकर अजेय दिव्यास्त्र का वरदान देते हैं, और यही काव्य का अंत हो जाता है।

इस काव्य का आरंभ श्री शब्द से है। इसमें ऋतु वर्णन, पर्वत, नदी, सूर्योदय ,सूर्यास्त आदि के कल्पना प्रस्तुत वर्णन है। श्रृंगार रस की विविध केलियों और प्रसंगों का कामशास्त्रीय विवरण चित्रों द्वारा लघु कथावस्तु वाले इस काव्य में पर्याप्त विस्तार हुआ है। इसका मुख्य अंगी रस वीर है फिर भी श्रृंगार रस के विलासपरक संदर्भ इसमें बड़े अच्छे से वर्णित है। इस काव्य की लक्षित अर्थगौरव की बड़ी प्रशंसा हुई है। भावपक्ष का सहज प्रभाव कलापक्ष की अपेक्षा गौण होने पर भी वीर, श्रृंगार आदि के संदर्भ में अच्छे ढंग से निर्वाहित है। भारवि ने चित्रकाव्य लिखने में अपनी चतुराई दिखलाने के लिए एक समग्र सर्ग पंचदश ही लिख डाला ।इस सर्ग में सर्वता. भद्र, यमक तथा विलोम शैली के नमूने पाए जाते हैं। भारवि ने एक अक्षर वाला भी एक श्लोक लिखा है जिसमें न के सिवाय अन्य वर्ण है ही नहीं –

ननोनन्नुनो नुन्नोनो नाना नानाननानन्नु।
नुन्नोऽनुन्नोननुन्नेनो नाने नानुन्ननुन्ननुत्।।

संस्कृत साहित्य के काव्यकारों में पंडित कवि माघ का अति विशिष्ट स्थान है। और यही कारण उनके द्वारा रचित शिशुपालवधम् महाकाव्य को संस्कृत की वृहत्रयी गन्थों में विशिष्ट स्थान मिला है। माघ का काल प्रायः आठवीं और नवी शताब्दियों के बीच स्थिर होता है। भोज प्रबंध के अनुसार माघ भोज के समकालीन थे क्योंकि भोज प्रबंध में माघ के संबंध में एक किदवंती प्रचलित है की एक बार माघ ने अपनी संपूर्ण संपत्ति दान कर दी थी। निर्धन स्थिति में उन्होंने एक श्लोक की रचना की, जिसे उन्होंने राजा भोज की सभा में भेजा था। माघ अलंकृत शैली के पंडित कवि माने जाते हैं। इस महाकवि के आलोकन के पश्चात किसी विद्वान ने इसकी महत्ता के विषय में कहा है– माघे मेघे गतं वयः।

माघ विषयक प्रशस्तियों में यह सर्वाधिक प्रसिद्ध है –माघे सन्ति त्रयो गुणाः। इसमें एक साथ कालिदास भारवि और दण्डी या श्री हर्ष के साथ– माघ की महत्ता का निरूपण किया गया है। पूरा पद्य है–

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम्।
दण्डिनः पद्यलालित्यम् माघे सन्ति त्रयो गुणाः।।

महाकवि माघ की भाषा के स्वरूप और सौष्ठव को समझने के लिए उनके शब्दकोश, पद योजना, व्याकरण, शब्द शक्ति, प्रयोगकौशल तथा अलंकार आदि सभी को सूक्ष्म रूप से देखना होगा। कालिदास की सरल सुगम कविता की तुलना में माघ की पंण्डित्यपूर्ण कविता में प्रवेश पाने के लिए अध्येता को काव्यशास्त्रीय ज्ञान होना आवश्यक है। वर्णन कुशलता, अलंकार प्रियता, प्रकृति समुपासना के साथ ही माघ एक सफल काव्यशास्त्र भी रहे हैं। महाकवि माघ व्याकरणशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, वेदांत, मीमांसा, बौद्ध, सामरिक ज्ञान, नाट्यशास्त्र, आयुर्वेदशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, पशुविद्या, कामशास्त्र, पाकशास्त्र, साहित्यशास्त्र, व्यावहारिक ज्ञान आदि का सूक्ष्म परिचय इनके महाकाव्य के अनुशीलन से प्राप्त होता है। इस प्रकार महाकवि माघ का वैदिक ज्ञान शिशुपालवधम् में दिखाई पड़ता है। माघ व्याकरण के प्रकाण्ड पंण्डित थे। शिशुपालवधम् में दिखाई पड़ता हैं।

कलापक्ष और भावपक्ष दोनों को सजाने सवांरने की प्रवृति माघ में पुष्कल रूप से है ।तभी तो इन्होंने जीवन में दैव और पुरुषार्थ के समन्वय के समान काव्य जगत में शब्द और अर्थ दोनों का समान महत्व स्थापित किया –

नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे ।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते ।।

श्रीहर्ष 12वीं सदी के संस्कृत के प्रसिद्ध कवि तथा दार्शनिक थे। वह श्रृंगार रस के कला पक्ष के कवि थे। महान कवि होने के साथ–साथ बड़े दार्शनिक भी थे। खंण्डन –खंण्ड– खाद्य नामक ग्रंथ में उन्होंने अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है ।इसमें न्याय के सिद्धांतों का भी खंडन किया गया है। चिन्तामणि मंत्र का जप करके उन्होंने सिद्धि और विद्वता पाई थी। श्रीहर्ष ने इस महाकाव्य को जानबूझकर क्लिष्ट बनाया था जिससे कोई दुष्ट इसके साथ खिलवाड़ ना कर सके। श्रीहर्ष का नैषधीयचरित

बृहत्रयी में वृहत्तम महाकाव्य है। परम प्रौढ़ शास्त्रीय वैदुष्य से ओत–प्रोत कविप्रौढ़ौत्तिसिद्ध कल्पना से वैदग्ध्पूर्ण और अलंकृत काव्य शैली के उत्कृष्टतम महाकाव्य के रूप में नैषधीयचरित्र का संस्कृत महाकाव्यों में अद्वितीय स्थान है। महाभारत के नलोपाख्यान सें ली गई इस महाकाव्य की कथावस्तु में नल और दमयंती के पूर्वराग, विरह, स्वयंवर विवाह और नव दंपतिमिलन एवं संगमकेलियों का वर्णन हुआ है। 22 सर्गों वाले इस विशालकाय काव्य के अनेक सर्गो की श्लोक संख्या 150 से भी अधिक है। कथा विस्तार में सीमालघुता रहने पर आवांतर प्रसंगों में वर्णनविस्तृति के कारण ही इसका काव्य कलेवर बड़ा है।

इस काव्य का मुख्य रस श्रृंगार रस है। आरंभ में ही कवि ने नल की कथा को रसों से ऐसा परिपूर्ण बताया है कि अमृत का भी तिरस्कार हो जाता है–

रसैः कथा यस्य सुधावधीरणी, नलः स भूजानिरभूद् गुणाद्भुतः।

इसके अतिरिक्त अश्वघोष का 28 सर्गों वाला बुद्ध चरित्र और 18 सर्गों वाला सौन्दरनंद दो महाकाव्य , भट्टिस्वामी का २० सर्गो वाला भट्टिकाव्य जिस रावण वध नाम से भी जाना जाता है, क्षेमेंद्र का रामायणमंजरी, भारतमंजरी, बृहत्कथामंजरी तथा अवदानकल्पलता नामक महाकाव्य तथा कुमारदास का कल्पनाप्रसूत जानकीहरण नामक महाकाव्य भी प्राचीन महाकाव्य के अंतर्गत उत्तम महाकाव्य की श्रेणी में आते हैं।

आधुनिक महाकाव्य परंपरा

आधुनिक महाकाव्य परंपरा का इतिहास हमें लगभग 17वीं शताब्दी के मध्य भाग तक ले जाता है। यद्यपि आज हमारे पास कोई भी ऐसे प्रमाण नहीं है कि हम आज से लगभग 300 वर्ष पूर्व के भारत में संस्कृत के अध्ययन की स्थिति का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत कर सके। फिर भी इतना तो सुविदित है कि धर्म प्रचारक भारत में आई ईसाई मिशनरी के पादरियों ने भारतीय ध र्मग्रंथो का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। अब्राहम रोजर जैसे प्राच्यविद्याप्रेमी विद्वान 1951 में भतृहरि के कुछ लिखत श्लोक का पुर्तगाली भाषा में अनुवाद कर संस्कृत के महत्व को यूरोप के देशों में फैल चुका था।

हेनरिच नमक जर्मन विद्वान ने 1664 ईस्वी में संस्कृत का अध्ययन किया । चार्ल्स बिल्किंस द्वारा भाग. वद्गीता की जिस अनूदित कृति ने यूरोप भर में खलबली मचा दी थी वह 1785 में इंग्लैंड में प्रकाशित हुई। हितोपदेश और शकुंतलोपाख्यान का भी इस संस्कृत प्रेमी विद्वान ने सफल अंग्रेजी अनुवाद किया था। सर विलियम जॉन्स ने 11 वर्ष तक भारत में रहकर संस्कृत की प्रशं. सनीय सेवा कीं। उन्हीं के प्रयास से कोलकाता में 1784 में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की स्थापना हुई। इस प्रतिष्ठान द्वारा एक ओर तो संस्कृत की बहुमूल्य हस्तलिखत पोथियों का उद्धार हुआ और दूसरी और भारत में संस्कृत के अनुसंधान संबंधी कार्य का आरंभ हुआ। जोन्स ने 1789 –92 के बीच अभिज्ञानशाकुंतलम् मनुस्मृति और ऋतुसंहार का अंग्रेजी अनुवाद भी किया। जोन्स से प्रभावित होकर जर्मन विद्वान जॉर्ज फोस्टर ने 1791 शाकुन्तल का जर्मनी में अनुवाद किया।

आधुनिक महाकाव्य परंपरा के कालखंड के विषय में डां हीरालाल शुक्ल ने 1971 ईस्वी में प्रकाशित अपने ग्रंथ आधुनिक संस्कृत साहित्य में सन 1784 को संस्कृत के नवजागरण में महत्वपूर्ण माना गया है जब कलकत्ता में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना हुई। तथापि इसे आधुनिक संस्कृत महाकाव्य परंपरा का उद्भव सन 1834 में स्वीकार करना अभीष्ट प्रतीत होता है वह 1834 ई से 1920 तक के काल खण्डो को संस्कृत के नवजागरण का विक. ासकाल कहकर अभिहित करते हैं।

आधुनिक संस्कृत महाकाव्य परंपरा के विद्वानों की भाषा, व्याकरण शैली ,पारंपरिक संस्कृति साहित्य से प्रभा. वित होते हुए भी समकालीन विषयों और भावनाओं को व्यक्त करने के लिए अद्यतन और सजीव है। इनकी भाषा सरल ,प्रवाहमय और स्पष्ट होती है। वह पारंपरिक संस्कृति के व्याकरण और शब्दावली का पालन करते हुए भी नए शब्दों और अभिव्यक्तियों का समावेश करते हैं ।उदाहरण के लिए डॉ राम शंकर अवस्थी की रचनाओं में पारंपरिक संस्कृति के साथ–साथ आधुनिक संदर्भों का भी समावेश मिलता है। व्याकरण की दृष्टि से आधुनिक संस्कृत महाकव्यकार पाणिनि के अष्टाध्यायी और पतंजलि के महाभाष्य के नियमों का पालन करते हैं। वे संधि, समास और विभक्ति के नियमों का सटीक प्रयोग करते हैं।

काव्य अपने सुंदर निर्माण तथा रचना के निमित्त शांत वातावरण, आर्थिक समृद्धि तथा सामाजिक शांति की जितनी अपेक्षा रखता है उतना ही वह किसी गुणग्रही आश्रयदाता की प्रेरणा की भी। प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास में वह युग शकों के भयंकर आक्रमणों से भारतीय जनता, ध र्म तथा संस्कृति के रक्षक मालव संवत के ऐतिहासिक संस्थापक मालवगणाध्यक्ष विक्रमादित्य का है। इसी युग में भारतीय संस्कृति के उपासक कालिदास का काव्य प्रकाश में उदय होता है। विद्वानों ने कालिदास के पूर्ववर्ती कवि व्यास और वाल्मीकि को ऋषि कोटि में माना है। उनकी रचनाओं में सरलता स्वाभाविकता का पुट है।

आधुनिक महाकाव्य 19वीं और 20वीं शताब्दी में उभरे, जब भारतीय साहित्य में सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक बदलाव हो रहे थे। आधुनिक संस्कृत महाकाव्यकारों ने समकालीन विषयों को भी अपने काव्य में स्थान दिया है। वह सामाजिक ,राजनीतिक और संस्कृतिक मुद्दो पर भी लिखते हैं। उदाहरण डॉ राम शंकर अवस्थी की रचना अजीजनबाई में उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम की वीरांगना अजीजनबाई के जीवन को चित्रित किया है। आधुनिक संस्कृत महाकव्यकारों की भाषा प्रवाहमयी और सरल होती है। जिससे पाठक आसानी से समझ सकते हैं ।वह पारंपरिक संस्कृति के साथ–साथ आधुनिक संदर्भों का भी समावेश करते हैं।

उदाहरण –नवीनः काव्यः सृज्यते यत्र ,तत्र हृदयम् आनन्दयति।

आधुनिक महाकाव्य परंपरा के विद्वान

17वीं शताब्दी के **ईश्वरविलास** महाकाव्य के रचयिता देवर्षि कविकलानिधि श्रीकृष्णभट्ट के पूर्वज तैलग प्रदेश के ब्राह्मण थे। श्रीकृष्णभट्ट भी भरतपुर के राजा सूर्यमल्ल, बूंदी के राजा बुधसिह और आमेर के राजा महाराजा सवाई जयसिंह तथा उसके पुत्र ईश्वरसिंह के आश्रय में रहे। ईश्वर विलास पर महाकाव्य वैदर्भी रीति का उत्कृष्ट उदाहरण है। ऐतिहासिक दृष्टि से तो इसमें अत्यंत दुर्लभ और भारतीय इतिहास के अज्ञात पक्षों पर प्रकाश डालने वाली सामग्री प्रचुर रूप में है। इस काव्य की रचना महाराज जयसिंह के पुत्र महाराज ईश्वरसिंह के अनुरोध पर कवि ने की थी ।यह महाकाव्य वीर रस की प्रधानता से युक्त है।

17वीं शताब्दी के ही नीलकंठ दीक्षित संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ महाकवियों में से एक हैं। ये प्रख्यात दार्शनिक, काव्यशास्त्री और व्याकरण अप्पय दीक्षित के अनुज ,अच्चा दीक्षित के पौत्र तथा नारायण दीक्षित के पुत्र थे। **गंगावतरण** महाकाव्य इनका बड़ा प्रसिद्ध महाकाव्य है ।इसमें आठ सर्ग हैं और 517 श्लोक हैं। प्रथम सर्ग में कवि ने अपना काव्य कला के विषय में अपने विचार, भाव और अपना वंश परिचय दिया ,और राजा भगीरथ के प्रताप और नीतिज्ञता का प्रभावशाली वर्णन किया है। अष्टम सर्ग में काशी से पाताल तक की गंगा की यात्रा और भागीरथ के प्रयास की सफलता का चित्रण है।

राजचूडामणि दीक्षित इसी शताब्दी के ख्यात रचनाकार थे। जिन्होंने अनेक विधाओं में विविध कृतियों का प्राणयन किया। दस सर्गों में श्रीकृष्ण कथा पर इनका **रुक्मणीकल्याण** महाकाव्य एक सुंदर रचना है। 17वीं शताब्दी के महाकाव्य में ही मेघविजयगणी का **सप्तसंधान** महाकाव्य परिगणनीय है। जिसमें विभिन्न तीर्थंकरों का वर्णन है। तथा प्रत्येक श्लोक के सात–सात अर्थ एक साथ निकलते हैं।

18 वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में केरल के मालाबार प्रांत में जन्मे रामपाणिवाद एक उल्लेखनीय रचनाकार हैं ।इन्होंने विविध नाटकों व खंडकाव्यों के अतिरिक्त **राघवीयम् तथा विष्णुविलास** इन दो महाकव्यों की रचना की है। राघवीयम् बीस सर्गो का है, जिसमें 1572 श्लोक हैं। विष्णुविलास महाकाव्य भागवत पर आधारित है।इसमें आठ सर्ग है ।जिसमें विष्णु के नौ अवतारों का चित्रण किया गया है। साहित्यशास्त्र की दृष्टि से रामपाणिवाद की रचना माघ और श्रीहर्ष की कक्षा का आरोहण करती है।

19वीं शताब्दी के महाकवियों में नव्यचंडीदास का जन्म हरियाणा प्रांत के पुंडरीकपुर ग्राम में 1804 ईस्वी में हुआ ।काशी में अध्ययन करने के पश्चात यह पटियाला, जयपुर और जम्मू में रहे। इनका **रघुनाथगुणोदय** रामायण कथा पर आधारित तेरह सर्गों का उत्कृष्ट महाकाव्य है। वर्णनों में नवीनता तथा कल्पनाओं की अभीरामता इस महाकाव्य में प्रशस्य है ।राम के गुणों व रूपों की प्रशंसा में कवि नैषधकार हर्ष से प्रभावित हुआ हैं।

20वीं शताब्दी में संस्कृत में 300 से अधिक महाकाव्य रचे गए। इसी शताब्दी के डॉ राम शंकर अवस्थी संस्कृत भाषा के प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं उनके द्वारा रचित एक महाकाव्य **वनदेवी** के लिए उन्हें 2015 में साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया तथा 2016 में राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित किया गया। डॉ राम शंकर अवस्थी जी की पुस्तक श्री राम राम गाथा को विश्व हिंदी डाटाबेस मॉरीशस में भी सम्मानित किया गया है। वनदेवी महाकाव्य में इनकी भाषाशैली सरल एवं प्रवाहमयी हैं। इन्होंने उपमा, रुपक, अनुप्रास अलंकारों का सुंदर प्रयोग किया है। संस्कृत के साथ–साथ आधुनिक संदर्भों का भी समावेश किया गया है। जिससे काव्य समकालीन और प्रासंगिक बनता है। वनदेवी न्यायप्रिय है और अन्याय के खिलाफ सख्त कदम उठाती हैं। वह अपने कर्तव्यों का पालन पूरीनिष्ठा और ईमानदारी से करती है। वनदेवी का चरित्र प्रकृति प्रेम से बहुत ओतप्रोत है। वह वन्य जीवन और पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति समर्पित हैं। 20वीं शताब्दी में ही इनके द्वारा ही गुप्तराजवंश पर आधारित एक ऐतिहासिक महाकाव्य 22 सर्गों का **गुप्तराजवंशम्** भी लिखा गया।

मध्यप्रदेश गंगाधर शास्त्री का अलिविलासिसंलापः खंडकाव्य होते हुए भी एक महत्वपूर्ण महाकाव्यात्मक कृति

है, जिसमें 9 शतक हैं। शास्त्र और कविता का ऐसा दुर्लभ समागम अन्य किसी भी भाषा में संभव नहीं है। यह समागम श्रीमद्भागवतगीता या अभिनवगुप्तपादाचार्य के लेखन में मिलता है। कविता में वेदांत है या वेदांत में कविता यह कहना कठिन हो जाता है। कालिदास का तत्त्वान्वेषी भ्रमर यहां सचमुच तत्वज्ञ हो गया है। वह अभिलाषी से कहता है–

अये विलासिन् नहि विद्यते मे
रसालसालेऽभिनिवेशलेसः।
असक्तचेता जनकाननोद्यत्सर्वागमोत्थं
रसमाद्रियेऽहम।।

आचार्य परमानंद शास्त्री द्वारा रचित जनविजयम् एक महत्वपूर्ण महाकाव्य है। जो भारतीय धर्म, संस्कृति और इतिहास के विभिन्न पहलुओं को समाहित करता है। यह महाकाव्य कई सर्गो में विभाजित है जिसमें प्रत्येक सर्ग एक विशेष घटना या कथा का वर्णन करता है।

आचार्य विद्याधर शास्त्री भी 20वीं शताब्दी के संस्कृत कवि और संस्कृति तथा हिंदी भाषाओं के विद्वान थे। संस्कृत महाकाव्य **हरनामाम्रीतम्** केवल पितामह का जीवन चरित्र नहीं बल्कि उदारचेता, प्रशांतभाव विद्वानों का चरित्र चिंतन है। यह महाकाव्य पाठकों को प्रेरित करने के लिए है जिससे वह विश्व कल्याण के लिए स्वयं को समर्पित करें। महाकाव्य **विश्वमानवीयम्** में कवि आधुनिकीकरण और 1969 चंद्र अभियान के प्रभाव को संबोधित करता है। **विक्रमाभिनंदनम्** में कवि ने चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन काल में भारतीय संस्कृति परंपराओं का चित्रण किया है ।

वैचिन्यलहरी अपने अनर्गल व्यवहार पर प्रतिि बंबित करने के लिए जनता को एक विनती है। **हिमाद्रिमहात्यम्** मदनमोहन मालवीय शताब्दी उत्सव के वर्ष में लिखी गई है। उसी वर्ष चीन ने भारत पर आक्रमण किया था। कविता में मदन मोहन मालवीय सभी भारतीयों से हिमालय की रक्षा का निवेदन करते हुए कहते हैं, कि हिमालय के महत्व को न भूले। **शाकुन्तलविज्ञानम्** कालिदास नाटक अभिज्ञान शाकुन्तलम पर टिप्पणी है। कवि के अनुसार नाटक में प्रेम भावना का **सामर्थ्य** दर्शित किया गया है।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय विभूतियां गांधी, नेहरू, विवेकानंद ,सुभाष, झांसी की रानी आदि को लेकर महाकाव्य की रचना हुई है। इसी शताब्दी के उल्लेखनीय महाकाव्य हैं– क्षमाराव की सत्याग्रहगीता, उत्तरसत्याग्रह गीता तथा स्वराजविजयम्, वेंकट राघवन का मूत्तुस्वामीदिि क्षत चरितम्, श्रीधर भास्कर वर्णेकर का शिवराज्योदयम, उमाशंकर त्रिपाठी का छत्रपतिचरितम्, रेवा प्रसाद द्विवेदी का सीताचरितम तथा स्वतंन्त्र्यसम्भवम्, रसिक बिहारी जोशी का मोहभंङ्गम, राजेंद्रमिश्र का जानकीजीवनम् तथा वामन. ावतरणम, सत्यव्रतशास्त्री का रामकीर्तिकौमुदी तथा बोधि ासत्वचरितम् प्रभुदत्त शास्त्री का गणपतिसंभवम् आदि।

प्राचीन महाकाव्य और आधुनिक महाकाव्य में बेशक अंतर हैं, लेकिन दोनों का उद्देश्य एक समान है, समाज को जागरूक करना और सही मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करना। प्राचीन महाकाव्य जहाँ धार्मिक और नैतिक आदर्शों का पालन करने की प्रेरणा देते हैं, वहीं आधुनिक महाकाव्य समाज के विभिन्न पहलुओं, जैसे स्वतंत्रता, न्याय और समानता, पर अधिक ध्यान केंद्रित करते हैं। इन दोनों के अध्ययन से हम भारतीय साहित्य की गहरी समझ और उसकी सामाजिक एवं सांस्कृतिक परंपराओं को जान सकते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1.संस्कृत साहित्य का इतिहास– डॉ उमाशंकर ऋषि
2.संस्कृत साहित्य का इतिहास– आचार्य बलदेव उपाध्याय
3.भारतीय साहित्य का इतिहास– विंटरनित्स
4.ऋग्वेद–3 / 10 / 7
5.रघुवंशम्– 6 / 67
6.शिशुपालवधम् –2 / 86
7.अलिविलासिसंलापः 1 / 25
8.संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास–डॉ राधावल्लभ त्रिपाठी
9.आधुनिक संस्कृत साहित्य का इतिहास–डॉ मिथिलेश पाण्डेय
10.संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास–डॉ कपिल

*****

राधाकृष्णन के शैक्षिक दर्शन में नैतिकता और आध्यात्मिकता का वर्तमान शिक्षा प्रणाली के परिपेक्ष्य में प्रासंगिकता का

-धीरज कुमार रस्तोगी,
सहायक अध्यापक
बेसिक शिक्षा विभाग
शाहजहांपुर

-नीतू कश्यप,
सहायक अध्यापक
बेसिक शिक्षा विभाग
शाहजहांपुर

भारतीय शिक्षा प्रणाली में नैतिक और मानवीय मूल्यों का अत्यधिक महत्व रहा है, लेकिन औपनिवेशिक काल और पश्चिमी सभ्यता के प्रभावों के कारण शिक्षा प्रणाली में कई परिवर्तन हुए, जिनमें नैतिक मूल्यों का अवमूल्यन भी शामिल था। उस दौर मे डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन जैसे महान दार्शनिकों और शिक्षाशास्त्रियों ने भारतीय शिक्षा प्रणाली को नैतिक और मानवतावादी दृष्टिकोण से समृद्ध करने का प्रयास किया। राधाकृष्णन का मानना था कि शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान प्राप्ति नहीं, बल्कि संपूर्ण जीवन को नैतिकता, आध्यात्मिकता, और मानवता के मूल्यों के साथ जोड़ना है ।राधाकृष्णन के आदर्शों और उनके शैक्षिक दृष्टिकोण ने भारतीय शिक्षा प्रणाली को नवीन दिशा मिली, फलस्वरूप उनके विचारों को भारतीय शिक्षा नीति में एक महत्वपूर्ण स्थान मिला। उनका दृष्टिकोण उस समय के समाज के लिए भी प्रासंगिक था साथ ही आज के आधुनिक समाज में भी इसकी महती आवश्यकता महसूस की जा रही है।

शोध की आवश्यकता और उद्देश्य

शिक्षा का मूल उद्देश्य केवल साक्षरता प्रदान करना नहीं वरन यह समाज में नैतिकता, सहिष्णुता, और सहयोग जैसे गुणों को भी विकसित करना भी है।वर्तमान समय में जब शिक्षा का व्यावसायीकरण हो रहा है, तब राधाकृष्णन के आदर्श और उनके विचारों की पुनः आवश्यकता महसूस की जा रही है। वर्तमान शिक्षण संस्थानों में नैतिकता और मूल्यों की कमी देखी जा रही है, जिसके कारण समाज में नैतिक मूल्यों का ह्रास हो रहा है। राधाकृष्णन का शैक्षिक दर्शन शिक्षा का एक समग्र दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है जिसमें शिक्षा केवल ज्ञान और व्यावसायिक कुशलताओं तक सीमित नहीं है, बल्कि यह मानवता, सहिष्णुता, और नैतिकता के मूल्यों को विकसित करने का साधन है। उनके विचारों के अनुसार, शिक्षा का उद्देश्य एक आदर्श समाज का निर्माण करना है, जहाँ व्यक्ति अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में संतुलन बनाए रख सके। राधाकृष्णन के शैक्षिक आदर्शों से भारतीय शिक्षा नीति एवं शिक्षा प्रणाली में नैतिकता, आध्यात्मिकता और मानवता के मूल्यों का समावेश किया जा सकता है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में राधाकृष्णन के शैक्षिक दृष्टिकोण की प्रासंगिकता कैसे है| यही शोध का विषय है कि किस प्रकार वर्तमान शिक्षा प्रणाली में उनके आदर्शों का प्रभावी समावेश किया जा सकता है।

राधाकृष्णन का जीवन परिचय और उनका शैक्षिक दर्शन

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन का जन्म 5 सितंबर 1888 को तमिलनाडु के तिरुत्तनी गाँव में हुआ था। उनका जीवन अत्यधिक सादगी भरा रहा। उनका परिवार अत्यंत धार्मिक प्रवृत्ति का था इसलिए उन्हें धार्मिक शिक्षा और दर्शन की ओर प्रेरित किया। राधाकृष्णन की प्रारंभिक शिक्षा एक धार्मिक वातावरण में हुई, जहाँ उन्होंने हिंदू दर्शन के साथ-साथ बाइबिल और इस्लामिक धर्मग्रंथों का भी अध्ययन किया। इसके कारण उनका दृष्टिकोण व्यापक और समावेशी बना। उन्होंने अपनी उच्च शिक्षा मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज पूर्ण की यहाँ पर उन्होंने दर्शन का विशेष अध्ययन किया। अपनी असाधारण बुद्धिमत्ता और शैक्षिक योग्यता के कारण, उन्होंने कम आयु में ही शिक्षा क्षेत्र में काभी नाम कमाया। उनके दर्शन का प्रमुख आधार भारतीय परंपराओं, वेदांत, और पश्चिमी दर्शन के समन्वय पर आधारित था। राधाकृष्णन का मानना था कि भारत की शिक्षा प्रणाली को केवल पश्चिमी ज्ञान के अंधे अनुकरण की आवश्यकता नहीं है, बल्कि हमें अपनी प्राचीन सांस्कृतिक और दार्शनिक धरोहर को भी बनाए होगा तभी हम एक नैतिक और परिश्रमी समाज की स्थापना मे सक्षम होगें। राधाकृष्णन के विचारों में शिक्षा एक साधन है जिससे जीवन का समग्र विकास सम्भव है। उनका मानना था कि शिक्षा केवल बौद्धिक विकास तक सीमित नहीं होनी चाहिए, बल्कि यह व्यक्ति के नैतिक और आध्यात्मिक विकास का भी माध्यम बननी चाहिए। उनकी शिक्षापद्धति का मुख्य आधार मानवता, सत्य, और नैतिकता पर आधारित था। उनके अनुसार, शिक्षा को नैतिकता और आध्यात्मिकता के साथ जोड़कर समाज में आदर्श व्यक्तियों का निर्माण किया जा सकता है।

डॉ राधाकृष्णन का शैक्षिक दर्शन भारतीय परंपराओं और आधुनिकता के बीच संतुलन स्थापित करने पर आधारित था। उनके अनुसार, शिक्षा का मुख्य उद्देश्य केवल व्यक्तियों को पेशेवर कुशलता प्रदान करना नहीं है, बल्कि उनमें मानवता और नैतिकता के गुणों का विकास करना है। उनके अनुसार शिक्षा जीवन का पथप्रदर्शक और आत्म-विकास का साधन होनी चाहिए।

राधाकृष्णन के अनुसार, शिक्षा को चार मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है:

बौद्धिक विकास: राधाकृष्णन का मानना था कि शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति के बौद्धिक स्तर मे सकारात्मक सुधार होना चाहिए। जिससे वह तर्कसंगत ढंग किसी समस्या का समाधान कर सकें,एवं अपनें जीवन स्तर मे बेहतर सुधार की सम्भावनाओं का सामवेश कर सकें। राधाकृष्णन के बौद्धिक दृष्टिकोण में व्यक्तिगत अनुभव और आत्मा का बोध प्रमुख स्थान रखते थे। उन्होंने भारतीय दर्शन के सिद्धांतों को गहराई से समझा और उन्हें आधुनिक संदर्भ में प्रस्तुत किया। उन्होंने **"Indian Philosophy"** में कहा:

"The purpose of philosophy is not to theorize but to experience the divine truth through personal realization. It is the inner experience of the self that leads to the understanding of the ultimate reality." [1]अर्थात उन्होंने स्पष्ट कहा है कि, दर्शन केवल बौद्धिक विचारों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह जीवन के अनुभवों से जुड़ा हुआ है।

नैतिकता का विकास: राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा का दूसरा प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति के व्यवहार मे नैतिक मूल्यों का विकास करना है जिससे वह अपने सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन में नैतिकता का पालन कर सुदृढ़ जीवन व्यतीत कर सकें। नैतिकता का विकास शिक्षा के माध्यम से ही संभव है अतः शिक्षा एक ससक्त माध्यम है जिससे हम समाज मे नैतिकता के मूल्यों का प्रसार कर सकते है । डॉ राधाकृष्णन के अनुसार, नैतिकता का एक बड़ा हिस्सा कर्तव्य और जिम्मेदारी का पालन करना है। उन्होंने **"Indian Philosophy"** में लिखा:

"A moral life is one that fulfills the duties and responsibilities inherent in one's role in society. It is through duty that an individual becomes a part of the greater whole." [2] अर्थात उनका मानना था कि नैतिकता में समाज के प्रति जिम्मेदारी निभाना और सही कर्तव्य का पालन करना आवश्यक है।

आध्यात्मिकता : राधाकृष्णन ने शिक्षा में आध्यात्मिकता को महत्वपूर्ण स्थान दिया। उन्होंने कहा की शिक्षा द्वारा व्यक्ति आत्मा और परमात्मा के बीच के संबंध को समझ सकता है सामजिक, बौद्धिक विकास के साथ- साथ आध्यात्मिक विकास भी जीवन का अत्यंत महत्त्वपूर्ण पहलू है | डॉ राधाकृष्णन का यह मानना था कि विज्ञान और आध्यात्मिकता एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं, बल्कि वे दोनों मानवता की सेवा के लिए हैं। उन्होंने **"Philosophy of Rabindranath Tagore"** में इस विचार को व्यक्त किया:

"Science provides us with knowledge of the material world, but it is spirituality that offers us understanding of the soul and the universe. Both must complement each other to give a complete picture of reality." [3] यह उदहारण उनके बौद्धिक दृष्टिकोण में विज्ञान और आध्यात्मिकता के समन्वय को स्पष्ट करता है।

सामाजिक विकास : राधाकृष्णन के अनुसार, शिक्षा का उद्देश्य समाज के प्रति उत्तरदायित्व की भावना विकसित करना भी है। उनका मानना था कि एक शिक्षित व्यक्ति आसानी से समाज के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। समाजिक विकास से ही व्यक्तिगत विकास संभव है यह एक ही सिक्के के पहलू है राधाकृष्णन ने यह भी माना कि आध्यात्मिकता केवल व्यक्तिगत नहीं हो सकती, बल्कि यह समाज की भलाई के लिए भी होनी चाहिए। उनका यह विचार था कि नैतिक जीवन, जो आध्यात्मिक सिद्धांतों पर आधारित हो, समाज के समग्र कल्याण के लिए महत्वपूर्ण है। **"The Ethical Philosophy of the Upanishads"** में उन्होंने कहा:

"Spirituality is not an escape from the world; it is a way to engage with the world in a more meaningful and compassionate manner. A true spiritual person works for the betterment of society." [4]यह उद्धरण राधाकृष्णन के आध्यात्मिकता के सामाजिक पहलु को दर्शाता है, जिसमें समाज के प्रति जिम्मेदारी की बात की गई है।

राधाकृष्णन जी की यह दृष्टि न केवल व्यक्ति के संपूर्ण विकास पर बल देता है, बल्कि यह समाज में भी नैतिकता,समाजिकता और अनुशासन की भावना को बनाए रखने में सहायक है। उनका मानना था कि शिक्षकों की भूमिका केवल पाठ्यक्रम के अनुसार तथ्यात्मक शिक्षा देने तक ही सीमित नहीं होनी चाहिए, बल्कि उन्हें बच्चों में नैतिकता और सामाजिकता की भावना का भी विकास करना चाहिए। राधाकृष्णन का शिक्षा दर्शन भारतीय शिक्षा प्रणाली के लिये प्रेरणादायी स्रोत है। उनके आदर्शों का भारतीय शिक्षा नीति पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा, विशेषकर नैतिकता और आध्यात्मिकता के समावेश के संदर्भ में। राधाकृष्णन का मानना था कि एक सच्चे अर्थो में शिक्षित व्यक्ति वही है जो न केवल अपने ज्ञान को बढ़ाता है, बल्कि समाज की भलाई के लिये अपने ज्ञान का उपयोग भी करता है।राधाकृष्णन ने भारतीय शिक्षा प्रणाली में नैतिकता, मानवता, और आध्यात्मिकता के मूल्यों के समावेश पर विशेष बल दिया। उनका मानना था कि शिक्षा का उद्देश्य केवल व्यक्ति के बौद्धिक विकास तक सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि यह समाज में नैतिकता, सेवा, और सहयोग के मूल्यों को भी बढ़ावा देने का भी कार्य करे । उनके शिक्षा दर्शन में भारतीय संस्कृति और परंपराओं का आदर्श रूप से समावेश किया गया था, जो आधुनिक भारतीय शिक्षा नीति के लिए भी अत्यधिक प्रासंगिक है।

शिक्षा में आध्यात्मिकता और नैतिकता का महत्व

डॉ. राधाकृष्णन का मानना था कि शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान अर्जन तक सीमित नहीं रहना चाहिए बल्कि इसे आत्मज्ञान और नैतिकता का मार्ग बनना चाहिए। उनके अनुसार शिक्षा व्यक्ति के व्यक्तित्व को आकार देकर उसे जीवन के उद्देश्य से जोड़ती है। वह शिक्षित व्यक्ति से अपेक्षा करते कि वह अपना आत्म का साक्षात्कार कर सके और अपने जीवन में नैतिकता का पालन कर सके। राधाकृष्णन के विचारों में आत्मज्ञान की भावना प्रमुख थी, जो भारतीय दर्शन से प्रभावित थी। शिक्षा में आध्यात्मिकता का समावेश केवल धार्मिकता तक सीमित नहीं था बल्कि यह एक ऐसा साधन था जो व्यक्ति को अपने आत्मबोध तक पहुंचाने में सहायक हो सकता है।

डॉ राधाकृष्णन ने तर्क दिया कि नैतिकता के बिना शिक्षा अधूरी है, और ऐसी शिक्षा जो केवल व्यावसायिक कौशल देती है वह समाज में असंतुलन पैदा करती है। शिक्षा को केवल एक आर्थिक साधन मानने की बजाय वह उसे नैतिक रूप से सशक्त बनने का माध्यम मानते थे। उनका मानना था कि जो व्यक्ति नैतिकता का पालन करता है, वही सच्चे रूपों में शिक्षित है। राधाकृष्णन के अनुसार, नैतिकता का असली स्रोत आत्मज्ञान और आध्यात्मिक अनुभव में है। वे मानते थे कि जब व्यक्ति आत्म-ज्ञान की ओर बढ़ता है, तो उसकी नैतिकता स्वाभाविक रूप से विकसित होती है। इस संदर्भ में राधाकृष्णन ने **"The Ethical Philosophy of the Upanishads"** में लिखा था:

> ***"True morality is not the mere outward conformity to social norms but a spiritual development that leads to a recognition of the unity of all existence."***[5]

समग्र विकास पर जोर : राधाकृष्णन का विश्वास था कि शिक्षा का उद्देश्य केवल बौद्धिक विकास तक सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि इसमें व्यक्ति का नैतिक और सांस्कृतिक विकास भी समाहित होना चाहिए। उनके अनुसार, एक व्यक्ति को केवल ज्ञानवान होना पर्याप्त नहीं है; उसमें मानवीय संवेदनाएँ, सहिष्णुता, और सांस्कृतिक चेतना का भी समावेश होना चाहिए। उनके इस आदर्श से भारतीय शिक्षा में समग्र विकास की परिकल्पना मिलती है जो दर्शाती है कि तर्कशीलता एवं वैज्ञानिकता के साथ नैतिकता विकास भी एक आवश्यक शर्त है। राधाकृष्णन ने हमेशा यह माना कि सभी धर्मों में मूल रूप से समान नैतिक मूल्य होते हैं। उन्होंने **"Eastern Religions and Western Thought"** में इस विचार को व्यक्त किया:

"The essence of all religions is the same. They seek to bring man closer to the divine and to realize the ethical responsibility that one has toward others."[6]

शिक्षा में मानवीय मूल्यों और नैतिकता का समावेश : डॉ राधाकृष्णन के अनुसार, शिक्षा में मानवीय मूल्यों और नैतिकता का समावेश होना चाहिए ताकि यह बच्चों मे समाज और देश के प्रति जिम्मेदारी की भाव उत्पन्न हो सके। उनके अनुसार, शिक्षा का उद्देश्य एक ऐसा व्यक्ति बनाना है, जो समाज के प्रति जिम्मेदार हो, जिसके पास न केवल ज्ञान हो, बल्कि अपनी जिम्मेदारी का बोध भी हो। राधाकृष्णन ने शिक्षा को केवल जानकारी प्राप्ति तक सीमित नहीं माना, बल्कि इसे मनुष्य के सर्वांगीण विकास का साधन माना। उन्होंने शिक्षा में मानवीय मूल्यों का समावेश कर इसे एक प्रेरणादायक माध्यम बनाने पर जोर दिया। डॉ राधाकृष्णन का यह मानना था कि वास्तविक नैतिकता तभी प्रकट होती है जब व्यक्ति दूसरों के प्रति करुणा और सहानुभूति दिखाता है। **"The Hindu View of Life"** में उन्होंने यह लिखा:

"Morality is not just about self-improvement, but also about improving the condition of others. Compassion and empathy are the heart of moral life." [7]

शिक्षक और शिष्य के संबंधों का आदर्श : डॉ राधाकृष्णन ने शिक्षक और शिष्य के मध्य आदर्श संबंध को एक अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान दिया। उनके अनुसार, शिक्षक केवल पाठ्यक्रम का शिक्षक नहीं होता, बल्कि वह छात्रों के जीवन को मार्गदर्शन देने वाला पथप्रदर्शक होता है। उनका मानना था कि शिक्षक को एक आदर्श व्यक्ति होना चाहिए, जो न केवल शिक्षण में निपुण हो, बल्कि अपने आचरण में नैतिकता और सादगी का उदाहरण प्रस्तुत करे। उनके अनुसार, शिक्षकों के अंदर छात्रों के जीवन को सकारात्मक रूप से प्रभावित करने की क्षमता होनी चाहिए, जिससे कि छात्रों में नैतिकता और सहिष्णुता का विकास हो सके। डॉ राधाकृष्णन के अनुसार, सत्य और अहिंसा का पालन शिष्य का नैतिक कर्तव्य है। उन्होंने यह विचार **"The Philosophy of Rabindranath Tagore"** में व्यक्त किया:

"Truth and non-violence are the two fundamental principles that guide the moral life. Without these, the spiritual life is incomplete." [8]

भारतीय शिक्षा नीति का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान, शिक्षा प्रणाली का मुख्य उद्देश्य प्रशासनिक कार्यों के लिए नौकरशाहों का निर्माण था। इसलिए शिक्षा में साहित्य और विज्ञान का महत्व कम करके उसे नौकरशाही और श्रमशक्ति तक सीमित कर दिया गया। स्वतंत्रता के बाद, भारतीय नेताओं ने एक ऐसी शिक्षा प्रणाली की कल्पना की, जो व्यक्ति के समग्र विकास और समाज में उसकी भूमिका को बढ़ावा दे सके। इसके लिए कई आयोगों का गठन हुआ, जिसमें डॉ. राधाकृष्णन आयोग प्रमुख था।

राधाकृष्णन आयोग की सिफारिशें

1948 में स्वतंत्रता के बाद, भारतीय शिक्षा प्रणाली की आवश्यकताओं और उद्देश्यों को पुनः निर्धारित करने के लिए राधाकृष्णन आयोग का गठन किया गया। इस आयोग की सिफारिशों में प्रमुख था कि उच्च शिक्षा में नैतिकता और अध्यात्म का समावेश हो। इसके अलावा, आयोग ने शिक्षा को वैज्ञानिक सोच, सांस्कृतिक चेतना, और सामाजिक जिम्मेदारी का माध्यम बनाने की सिफारिश की।अर्थात आयोग द्वारा यह सुनिश्चित किया जाने की सिफारिश की गयी कि शिक्षा द्वारा वैज्ञानिकता, तर्कशीलता के साथ- साथ नैतिकता और आध्यात्मिकता के विकास पर भी बल दिया जाना चाहिए।।राधाकृष्णन का प्रभाव केवल 1948 के आयोग पर ही नहीं, बल्कि बाद के शिक्षा आयोगों पर भी देखने को मिलता है। उनकी सिफारिशों में नैतिक और सांस्कृतिक शिक्षा के प्रति विशेष रुचि थी, जिससे भारतीय शिक्षा में इन तत्वों का समावेश हो सके। जिसको अग्रगामी सभी आयोगों ने आत्मसात किया।

डॉ राधाकृष्णन के आदर्श और भारतीय शिक्षा नीति पर उनका प्रभाव

राधाकृष्णन ने शिक्षा में नैतिकता और मानवता का महत्व प्रतिपादित किया। उनके आदर्शों का प्रभाव भारतीय शिक्षा नीति में देखा जा सकता है, जहाँ शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान प्राप्ति न होकर, नैतिकता और समाज के प्रति जिम्मेदारी का बोध कराना है। उनकी शिक्षा नीति में नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों का समावेश एक महत्वपूर्ण बिंदु था।

शिक्षक प्रशिक्षण में सुधार और शिक्षक की भूमिका को सशक्त बनाया जाना चाहिए।

उनका मानना था कि एक शिक्षक का समाज में महत्वपूर्ण स्थान होता है। इसलिए, उनके अनुसार शिक्षक प्रशिक्षण में सुधार अत्यंत आवश्यक है। शिक्षक को केवल एक पाठ्यक्रम संचालक के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए, बल्कि उसे समाज में नैतिकता और मानवीय मूल्यों का संवाहक माना जाना चाहिए।

राधाकृष्णन के आदर्शों के अनुसार, शिक्षा में समाज और संस्कृति के प्रति सम्मान का विकास होना चाहिए। भारतीय संस्कृति की महानता को बनाए रखते हुए, उन्होंने शिक्षा में सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों के समावेश पर बल दिया।उनका मानना था कि शिक्षा को भारतीय परंपराओं और सांस्कृतिक मूल्यों के अनुरूप विकसित करना चाहिए। उनके अनुसार, शिक्षा प्रणाली को ऐसे ढांचे में बनाना चाहिए, जो हमारी सांस्कृतिक धरोहर को बनाए रखे और उसे अगली पीढ़ी तक पहुँचाए।

आधुनिक भारतीय शिक्षा नीति में राधाकृष्णन का प्रभाव

2020 की नई शिक्षा नीति में कई ऐसे तत्व शामिल किए गए हैं, जो राधाकृष्णन के आदर्शों के अनुरूप हैं। नैतिकता, सांस्कृतिक चेतना और व्यक्तिगत विकास पर जोर नई नीति में राधाकृष्णन के विचारों की झलक प्रस्तुत करता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति में मूल्य-आधारित शिक्षा का महत्व दिया गया है। राधाकृष्णन के विचारों के अनुसार, शिक्षा का उद्देश्य केवल बौद्धिक विकास तक सीमित नहीं है, बल्कि यह व्यक्ति के व्यक्तित्व और नैतिकता को भी विकसित करना चाहिए राधाकृष्णन ने शिक्षा में मानवता और नैतिकता को महत्वपूर्ण स्थान दिया था, जो नई शिक्षा नीति में भी दिखाई देता है। नई नीति का एक महत्वपूर्ण पहलू है, जो व्यक्ति को जीवन में वास्तविक उद्देश्य प्रदान करता है।

राधाकृष्णन शैक्षिक दर्शन की वर्तमान शिक्षा प्रणाली में उपादेयता :

आधुनिक शिक्षा प्रणाली में नैतिकता और मानवीय मूल्यों का अवमूल्यन एक गम्भीर चुनौती बन चुका है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में अकादमिक प्रदर्शन और व्यावसायिक सफलता पर अत्यधिक जोर दिया गया है, जिस कारण समाज में नैतिकता, पारस्परिक सम्मान, और सहिष्णुता जैसी मानवीय भावनाओं में कमी आई है। इस प्रतिस्पर्धात्मक वातावरण में व्यक्ति केवल अपने स्वार्थ और आर्थिक लाभ की ओर अधिक केंद्रित हो गया है, जिसके कारण समाज में भ्रष्टाचार, हिंसा, और असमानता जैसी समस्याएँ बढ़ती जा रही हैं। डॉ.राधाकृष्णन के अनुसार, नैतिकता और आध्यात्मिकता से रहित शिक्षा समाज में अधूरे और आत्मकेंद्रित व्यक्तियों का निर्माण करती है, जो समाज के लिए हानिकारक साबित हो सकते हैं। उनके अनुसार, शिक्षा का उद्देश्य केवल व्यावसायिक कौशल का विकास करना नहीं है, बल्कि व्यक्तित्व का समग्र विकास करना है। शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति में समाज के प्रति जिम्मेदारी, सच्चाई, ईमानदारी, और सहिष्णुता जैसी मानवीय भावनाओं का विकास होना चाहिए। इस प्रकार, राधाकृष्णन का मानना था कि शिक्षा में नैतिकता और मानवता को पुनर्स्थापित किया जाना चाहिए, ताकि यह समाज में व्याप्त मूल्यों की कमी को पूरा कर सके।

राधाकृष्णन के शैक्षिक विचार आज भी प्रासंगिक हैं और नैतिकता एवं मानवीय मूल्यों के क्षरण का समाधान प्रस्तुत करने मे सक्षम है उनके अनुसार, शिक्षा में आध्यात्मिकता और नैतिकता का समावेश अत्यंत आवश्यक है, ताकि यह व्यक्ति को समाज और राष्ट्र के प्रति जिम्मेदार बना सके। राधाकृष्णन के विचारों के अनुसार, शिक्षकों की भूमिका केवल पाठ्यक्रम पढ़ाने तक सीमित नहीं होनी चाहिए; उन्हें नैतिक और मानवीय मूल्यों का उदाहरण प्रस्तुत करने वाला होना चाहिए। उनका मानना था कि एक शिक्षक ही छात्रों के जीवन को सही दिशा देने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

राधाकृष्णन का शैक्षिक दर्शन हमें यह संदेश देता है कि शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान का अर्जन ही नहीं बल्कि नैतिकता, परोपकारिता, और सांस्कृतिक मूल्यों का संवर्धन भी होना चाहिए। उन्होंने कहा कि शिक्षा केवल "जीविका का साधन" नहीं है, बल्कि यह एक जीवन का पथप्रदर्शक है। राधाकृष्णन के इन विचारों को आधुनिक शिक्षा प्रणाली में अपनाने से न

केवल छात्रों में नैतिकता और आत्म-संयम का विकास होगा, बल्कि समाज में भी एक सकारात्मक वातावरण का निर्माण होगा।

शिक्षा में नैतिकता के साथ-साथ जीवन कौशलों का विकास भी महत्वपूर्ण है, ताकि व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों में सही निर्णय ले सके। वर्तमान शिक्षा नीति में राधाकृष्णन के विचारों का समावेश करके शिक्षा को एक जीवन-दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, जिससे व्यक्ति में संतुलित विकास हो सके और समाज में नैतिकता और मानवता का उत्थान हो।

निष्कर्ष

डॉ. राधाकृष्णन का शैक्षिक दर्शन शिक्षा को नैतिकता, आध्यात्मिकता, और मानवीय मूल्यों से जोड़ने पर बल देता है शिक्षा केवल ज्ञानार्जन तक ही सीमित न रहे, बल्कि व्यक्ति के समग्र विकास का माध्यम है। उन्होंने शिक्षा को समाज में नैतिकता और सांस्कृतिक चेतना को बढ़ावा देने के एक साधन के रूप में देखा। डॉ. राधाकृष्णन का मानना था कि शिक्षा का उद्देश्य एक समग्र दृष्टिकोण के साथ व्यक्ति का बौद्धिक, नैतिक, और सांस्कृतिक आध्यात्मिक विकास करना होना चाहिए। उनकी शिक्षापद्धति ने शिक्षक और शिष्य के आदर्श संबंध को भी महत्व दिया, जहाँ शिक्षक न केवल शिक्षण का कार्य करता है, बल्कि अपने व्यवहार और विचारों के माध्यम से नैतिकता का उदाहरण प्रस्तुत करता है। उन्होंने शिक्षा को एक ऐसा साधन माना, जो व्यक्ति में समाज के प्रति उत्तरदायित्व, सहिष्णुता, और परोपकारिता जैसे गुणों का विकास करे।

भारतीय शिक्षा नीति में राधाकृष्णन के आदर्शों का महत्व आज भी बना हुआ है। 2020 की नई शिक्षा नीति में नैतिकता और मानवीय मूल्यों पर विशेष ध्यान दिया गया है, जो राधाकृष्णन के आदर्शों के अनुरूप है। शिक्षा नीति में नैतिक और मानवीय मूल्य आधारित शिक्षा को बढ़ावा दिया जा रहा है, ताकि छात्र केवल व्यावसायिक दृष्टि से सफल न बनें, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक जिम्मेदारियों के प्रति जागरूक भी बनें। राधाकृष्णन के अनुसार, आध्यात्मिकता और नैतिकता शिक्षा के दो अभिन्न पहलू हैं, जो व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में संतुलन और समग्र विकास के लिए आवश्यक हैं। उन्होंने इस विचार को "Philosophy of Rabindranath Tagore" में व्यक्त किया:

"True education involves the awakening of the spirit within, leading to moral responsibility and compassion for others. Without spirituality, there can be no true morality, and without morality, there can be no true education."[9]

यह उद्धरण यह स्पष्ट करता है कि राधाकृष्णन के शैक्षिक दर्शन में आध्यात्मिकता और नैतिकता दोनों का एक साथ विकास आवश्यक है, ताकि शिक्षा व्यक्ति के भीतर करुणा, समर्पण और सामाजिक जिम्मेदारी का निर्माण कर सके।

समग्र रूप से राधाकृष्णन के आदर्शों के अनुसार, शिक्षा प्रणाली में सुधार की आवश्यकता है ताकि शिक्षा केवल ज्ञान प्रदान न करे, बल्कि छात्रों में नैतिकता, सहिष्णुता और समाज के प्रति समर्पण की भावना को बढ़ावा दे सके। उनके आदर्श भविष्य में भी भारतीय शिक्षा में नैतिकता और मानवता को पुनर्स्थापित करने में सहायक सिद्ध हो सकते है |

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. . *Indian Philosophy, Vol. 1 & 2*. Oxford University Press, 1923
2. उपरोक्त
3. **The Philosophy of Rabindranath Tagore" Macmillan and Co. 1917**
4. **The Ethical Philosophy of the Upanishads "George Allen & Unwin 1947**
5. **The Ethical Philosophy of the Upanishads"George Allen & Unwin 1947**
6. **Eastern Religions and Western Thought" Macmillan and Co. 1939**
7. **The Hindu View of Life" George Allen & Unwin 1927**
8. **The Philosophy of Rabindranath Tagore" Macmillan and Co. 1917**
9. **The Philosophy of Rabindranath Tagore" Macmillan and Co. 1917**

- **कृष्णकुमार, नेत्र**. *शिक्षा का उद्देश्य* (2000).
- **जिज्ञासु, सुनीता**. *शिक्षा और संस्कृति: भारतीय परिप्रेक्ष्य* (2015)
- **प्रकाश, राम**. *डॉ. राधाकृष्णन का शिक्षा दर्शन* (2018).
- **तिवारी, अशोक**. *भारतीय दार्शनिक परंपरा और शिक्षा* (2012)
- **पाठक, सुमन**. *भारतीय शिक्षा के आदर्श* (2019)
- **राधाकृष्णन, सर्वपल्ली.** *Indian Philosophy, Vol. 1 & 2*. Oxford University Press, 1923
- **The Philosophy of Rabindranath Tagore, Macmillan and Co. 1917**
- **The Hindu View of Life, George Allen & Unwin 1927**
- **The Ethical Philosophy of the Upanishads, George Allen & Unwin 1947**
- **Eastern Religions and Western Thought, Macmillan and Co. 1939**

*****

'उधर के लोग' उपन्यास में चित्रित यथार्थवाद

-डॉ. अबू होरैरा
अतिथि प्राध्यापक
हिंदी विभाग
मौलाना आज़ाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी,
गच्चीबावली हैदराबाद-32
मो. 8019490662
ईमेल. horairah1@gmail.com

साहित्य में नए दृष्टिकोण सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों में विभिन्न परिवर्तनों के परिणामस्वरुप उत्पन्न होते हैं। जब परिस्थितियों में परिवर्तन होने लगता है तब शिक्षा के क्षेत्र में नए-नए रास्ते निकलते हैं। विचार करने का ढंग बदलता है। जीवन नए-नए विचारों और दृष्टिकोणों से परिचित होता है, तब साहित्य भी इससे प्रभावित होता है। साहित्य के साथ-साथ उपन्यास की भी यही कैफ़ियत है। क्योंकि उपन्यास भी साहित्य का ही एक अंग है। इसमें भी नए-नए दृष्टिकोण लगातार पैदा होते रहे हैं। साहित्य में यथार्थवादी दृष्टिकोण मार्क्सवाद की देन है।

यथार्थवाद शब्द यथार्थ शब्द में 'वाद' प्रत्यय के जोड़ने से बना है. 'यथार्थ' शब्द के लिए अंग्रेजी में 'रियलिटी' (Reality) शब्द का प्रचलन है और संस्कृत में इसके लिए 'सत्य', 'तथ्य', 'वास्तव, 'यथार्थ' आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

यथार्थवाद का प्रारंभिक सिद्धांत यह है कि वह भौतिकवाद को विचार पर बढ़ावा देता है और भौतिकवाद हर हाल में जीवंत और गतिशील है जिसके कारण इसमें परिवर्तन होता रहता है मार्क्स के विचारों ने ऐतिहासिक भौतिकवाद, वंशवाद की दार्शनिक शब्दावली को प्रस्तुत किया जिससे विचारों में भी क्रांति आई और साहित्य भी नई कल्पनाओं से रूबरू हुआ।

साहित्य वस्तुगत यथार्थ की यथातथ्य अभिव्यक्ति अथवा सफल अनुकृति न होकर एक विशिष्ट सृजनात्मक प्रतिक्रिया का प्रतिफल होता है। इस प्रक्रिया में साहित्य के स्थूल उपादान कल्पना के चाक पर चढ़ाकर साहित्यकार अपनी विचार रूपी अँगुलियों द्वारा कुछ इस प्रकार के संवेदात्मक एवं अनुभूतिजन्य छाप छोड़ता है कि पूरी साधना के पश्चात् स्थूल उपादान रूप में असुंदर से सुन्दर और गुण में क्षर से अक्षर बन जाता है। क्षर से अक्षर बनने की यह पूरी साधना ही इस तथ्य को स्पष्ट कर देती है कि वस्तुगत यथार्थ जो असंतुलित रूप एवं अस्थायी प्रकृति समाज एवं प्रकृति के क्षेत्र में देखने को मिलता है, ठीक वाही स्वरुप एवं प्रकृति साहित्य में अपनी अभिव्यक्ति नहीं पाता। रूप के साथ-साथ उसमें नानाविधि गुणात्मक परिवर्तन होते हैं जो पहले बोधपरक था वह अब भावपरक हो सकता है। सीमित दायरे में सिमटा हुआ जो क्षण भंगुर था वह व्यापक और शाश्वत बन जाता है। विद्वानों ने इस प्रकार परिभाषित किया है—

डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कला क्षेत्र में यथार्थवाद ऐसी एक मानसिक प्रवृत्ति है जो निरंतर अवस्था के अनुकूल परिवर्तित और रूपांतरित होती रहती है।[1]

पंडित नंद दुलारे वाजपेई के मत से यथार्थवाद वस्तुओं की पृथक सत्ता का समर्थक है वह समझती की अपेक्षा व्यक्ति की ओर अधिक उन्मुख रहता है यथार्थवाद का संबंध प्रत्येक वस्तु जगत से है।[2]

आलोच्य उपन्यास 'उधर के लोग' अजय नावरिया द्वारा लिखित सन 2008 में प्रकाशित एक महत्वपूर्ण यथार्थवादी उपन्यास है। इस उपन्यास का मुख्य विषय जातिभेद और वेश्यावृत्ति है।

वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था का आधार व्यक्ति के गुणों पर निर्भर था। समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभाजित किया गया था। परंतु कालान्तर में यही वर्ग विभाजन व्यक्ति विशेष न रहकर जाति विशेष हो गया। व्यक्ति की पहचान उसके गुणों से नहीं, उसकी जाति से की जाने लगी। परिणामस्वरूप एक वर्ग सदा के लिए शूद्र रूप में जाना जाने लगा।

आलोच्य उपन्यास में नायक (प्रोफेसर, लेखक) के एक मित्र का नाम सुशील वाल्मीकि है जिसका भारतीय प्रशासनिक सेवा में चयन हुआ है। सुशील के पिता सफाई कर्मचारी थे। सीवर साफ करते हुए जहरीली गैस के कारण उनकी मृत्यु हो गई थी। पिता की मृत्यु के बाद माँ को नगर निगम में झाड़ू लगाने की नौकरी ऑफर की गई। किंतु सुशील की माँ सदियों से थोपे गये पुश्तैनी काम को नहीं करना चाह रही थी। सुशील के नाना और नायक के पिता ने काफी भागदौड़ कर सुशील की माँ को नगर निगम में वाटरवूमेन का पद दिला दिया। सफाई का काम करने वाली सुशील की माँ ने शहर को साफ करने से इंकार कर दिया। उनका मानना था कि खुद ही साफ करो और खुद ही गंदे भी कहलाओ। उन्होंने सुशील को लाड प्यार से पाला था और पूरी लगन से पढ़ाया था। उसी का परिणाम था कि सुशील देश की सर्वोच्च सेवा में नियुक्त हुआ था। नायक के पिता का यह मानना था कि यही लोकतंत्र की जीत है। "यह सिर्फ लोकतंत्र में संभव है कि मोची का बेटा राष्ट्रपति बने और सफाई कर्मचारी का बेटा सुशील कलेक्टर बने। लोकतंत्र बराबरी के मौके देता है।"[3]

उपन्यास में बीरपाल सिंह जाटव एक सीनियर पुलिस अधिकारी था। उसने पुलिस विभाग में काफी नाम कमाया था और उसे 'एनकाउंटर किंग' भी कहा जाता था। उसकी पोस्टिंग जिस क्षेत्र में भी होती, वहाँ

अपराध का ग्राफ तेजी से गिर जाता था। ऐसी ही एक घटना में बीरपाल सिंह को उसके ही विभाग के पुलिस इंस्पेक्टर ने गोली मार दी थी। जांच समिति से पूछताछ में उस इंस्पेक्टर ने बताया कि "वह किसी चमार के जूठे बर्तन नहीं धो सकता और माँ- बहन की गलियाँ नहीं सुन सकता।"[4] जाति की पीड़ा एक दलित व्यक्ति आजीवन सहता रहता है। हालाँकि उस विभाग में ऐसे भी पुलिस अधिकारी थे जो अपने से नीचे काम करने वालों के साथ दुर्व्यवहार करते थे किन्तु अंतर केवल इतना था कि बीरपाल सिंह जाति से दलित था और अन्य सवर्ण थे।

भारतीय दलित समाज सदियों से ब्राह्मणवादी विचारधारा से प्रताड़ित होता रहा है। उपन्यास में लेखक ने जाति भेद को प्रमुख समस्या के रूप में उजागर किया है। जाति भेद की समस्या केवल अन्य वर्गों में ही नहीं वरन् दलित वर्ग में भी बुरी तरह से फैली हुई है। दलित वर्ग में भी एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों को अछूत समझते हैं। जर्मनी से आए पी.सी. वेबर जो कि भारत की जातीय व्यवस्था पर शोध करना चाहते थे उनसे एक संदर्भ में लेखक का मित्र सुशील कहता है "मिस्टर वेबर आप नहीं जानते यहाँ अछूतों में भी जाँत-पाँत और भेदभाव है।"[5] दलित समाज हर जगह नीची नजर से देखा जाता है। चाहे वह चमार हो खटीक हो या भंगी या अन्य। किंतु जब चमार ही खटीक या भंगी से स्वयं को ऊँचा समझने लगे तब हम ब्राह्मणों को कैसे दोष दें? "सवर्ण हिंदू तो करते ही हैं और दलित भी आपस में करें तो फिर सवर्णों को किस मुंह से इसके लिए दोष दे सकते हैं।"[6] दलित समाज व्यवस्था में जाति के नाम पर विशेष वर्ग को ही आरक्षण का लाभ प्राप्त है। अनुसूचित जाति में अनेक जातियाँ सम्मिलित हैं किन्तु आरक्षण का लाभ किसी एक ही वर्ग को क्यों है? "ऐसा तो नहीं होना चाहिए कि किसी एक जाति का ही वर्चस्व बन जाये। फिर सवर्ण क्या गलत करते थे?"

अब तो एस.सी. का मतलब बन गया है- सिर्फ चमार। एस. से सिर्फ और सी. से चमार।"[7] भंगी से चमार और खटीक छुआछूत करते हैं। हरियाणा में भंगी और खटीक एकदम हाशिए पर हैं। आंध्र एवं तेलंगाना में माला और मादिगा के मध्य दरार है। महाराष्ट्र की म्हार जाति अन्य दलित जातियों से भेद करती है। ब्राह्मण केवल दलितों से ही नफरत नहीं करते। बल्कि वह किसी भी गैर ब्राह्मण को ऊपर उठने नहीं देते। इसी तरह मुस्लिमों में सैय्यद पठान उच्च जाति के लोग अंसारी, हलालखोर आदि से नफरत करते हैं।

हमारे समाज में जहां वेश्यावृत्ति को समाज के लिए कलंक माना जाता है वहीं दिन ढलने पर हम इनके पास अपनी ख्वाहिशे भी पूरी करने चले जाते हैं। भारतीय समाज में वेश्याएं अधिक भयावह स्थिति में हैं। इस पेशे में स्त्री या तो जबरन लाई जाती हैं या फिर आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण मजबूरी वश इस धंधे में उतार दी जाती है। कभी-कभी सामाजिक परिवेश भी उन्हें वेश्या बनने पर मजबूर कर देता है। आलोच्य उपन्यास में आयशा के माध्यम से उपन्यासकार ने वेश्यावृत्ति पर प्रकाश डाला है। वह बंगाल से थी। वेश्यावृत्ति के दलदल में वह स्वेच्छा से नहीं उतरी थी। परिवेश, वातावरण और प्रतिकूल परिस्थितियों ने उसे वेश्या बनने पर मजबूर किया था। उसके माता-पिता गरीब थे। आयशा के पिता को संदेह था कि वे जहाँ नौकरी करते थे वहाँ के मालिक से उसकी माँ का संबंध है। यह संदेह सही भी था, किंतु आयशा की माँ भी गलत नहीं थी, उसे मजबूरीवश मालिक के साथ संबंध बनाना पड़ा था। इसी कारण उन्होंने आयशा की माँ को छोड़ दिया था। पति से संबंध विच्छेद के बाद आयशा की माँ बीमार पड़ने लगी। सर से पति का साया उठ जाने और पैसों की कमी से उसकी माँ की मृत्यु हो गयी। माँ की मृत्यु के उपरांत आयशा ने एक रिसेप्शनिस्ट की नौकरी आरंभ की, जहाँ उसे गंदी नजरों से देखा गया। कोई भी स्त्री केवल मन बहलाने के लिए पैसा नहीं कमाती। सामाजिक परिवेश उसे वेश्या बनने पर मजबूर करता है आयशा के साथ भी यही हुआ। शारीरिक संबंध ऑफिस से शुरू हुआ। आयशा ने सोचा कि जब जिस्म बेचना ही है तो क्यों न बिजनेस की तरह किया जाए "बिजनेस-इज़-बिजनेस... बाजार है और तरीका बड़ी चीज है... अपनी मर्जी सबसे बड़ी चीज है।"[8] आयशा का वास्तविक नाम राय चौधरी था। नायक और उसके मित्रों से एक होटल में मुलाकात के समय अपने दोनों नामों का खुलासा नायक से वह इस प्रकार करती है "हिंदू ग्राहकों को मुसलमान औरतों के साथ यह सब करने में बहुत तसल्ली मिलती है। वे कहते हैं कि मुसलमान औरतें बहुत गर्म होती हैं।"[9] इसी तरह आयशा मुस्लिम ग्राहकों के साथ अपना नाम राय चौधरी बताती है। नायक के यह कहने पर कि तुम्हें यह नौकरी छोड़ देनी चाहिए। इसके प्रति उत्तर में आयेशा कहती है "कहाँ कहाँ से...? आवा का आवा दहक रहा है मास्टर जी और भूख बहुत बुरी होती है, सातवें दिन का फाका, सारी इज्जत भुला देता है यह जगह मर्दों की इनायत है"[10] किसी स्त्री के वेश्या बनने का कारण पुरुष ही होता है। पुरुष ही गुंडागर्दी, स्मगलिंग और दलाली करते हैं। यह अजीब दुनिया है।

वेश्याएं हाशिये का जीवन जीने पर विवश हैं। इनका कोई परिवार नहीं होता। आयशा हाशिये के जीवन से बाहर आना चाहती है और मुख्यधारा में जीवन व्यतीत करना चाहती है किंतु हमारा समाज वेश्याओं को यह अधिकार नहीं देता। वे न चाहते हुए भी उपेक्षित जीवन जीने के लिए विवश हैं। आयशा नायक के भाई के विवाह के अवसर पर उसके परिवार के साथ कुछ समय बिताना चाहती है। "मैं परिवार में रहना चाहती हूँ देखना चाहती हूँ कि परिवार कैसा होता है? भाई-बहन, माँ-बाप, चाचा-बुआ, भाभी-ननदें कैसी होती हैं? देखना चाहती हूँ कि वह क्या जादू है जो उन सब को बांधे रखता है।"[11] हम समाज के बिना नहीं जी सकते महात्मा गौतम बुद्ध भी तो जंगल में नहीं रह पाए थे। वह भी जंगल से भाग लिए थे और समाज की तरफ लौट गए थे। हम सभी समाज बनाते हैं चुनते हैं इसका हमें अधिकार है, किंतु एक वेश्या समाज चुन या बना क्यों नहीं पाती। जबकि उसके वेश्या बनने का मुख्य कारण भी पुरुष ही होता है। पूरे उपन्यास में आयशा को कोई अपनाने के लिए तैयार नहीं। सभी को देह ही पसंद है। हमारे समाज का यह कटु सत्य भी है कि हम औरतों को देह के रूप में ही स्वीकार करते हैं।

उपन्यास में कई गौण पात्र भी मौजूद हैं। उनमें से जाह्नवी गोस्वामी एक गौण पात्र है जो पेशे से अदाकारा है। इसकी तीन फिल्में रिलीज हुई थी और टीवी धारावाहिकों में काम करती थी। नायक का मित्र

कालरा उस पर व्यंग करते हुए कहता है "जब हीरोइन की फिल्म चलती है तो हीरोइन रुक जाती है और जब फिल्म रुक जाती है तो हीरोइन चलने लगती है।"[12]

आलोच्य उपन्यास में दानिश भी एक गौण पात्र है। वह अमरोहा का था और उसके पूर्वज अरब के थे। जमींदारी का कार्य था और मुस्लिम समाज में उच्च वर्ग से थे। दानिश एक बदचलन लड़का था। धर्म के नाम पर किसी का भी कत्ल कर सकता था। जज्बाती और जुनूनी था। हिंदू लड़कियों के साथ शारीरिक संबंध बनाकर उसे लगता था कि उसने पुण्य का कार्य किया है। यह कोई नई बात नहीं है। वर्तमान में ऐसे कई उदाहरण देखने को मिल सकते हैं। हिंदू और सिख के बारे में या अन्य समुदाय के लोग भी मुसलमान स्त्रियों के बारे में ऐसा ही सोचते हैं। परंतु विशेष बात यह है कि इन सब पुरुषों के निशाने पर चाहे वह किसी भी संप्रदाय जाति या वर्ग से हो कुर्बान होने के लिए स्त्रियाँ ही थीं।

यदि स्त्री सबल, सशक्त व स्वतंत्र हो और समाज उसे समानता का अधिकार दे तब वह किसी भी मामले में पुरुषों से कम नहीं है। उपन्यास में बाबरी मस्जिद विध्वंस के दिन नायक और उसकी प्रेमिका वंदना पार्क से शाम के समय वापस लौट रहे थे। परिस्थितियाँ बहुत खराब थी। देश में हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिक दंगे भड़क गए थे। उसी समय कुछ युवकों द्वारा नायक और उसकी प्रेमिका को रास्ते में घेर लिया जाता है। उन युवकों की मंशा थी कि यदि ये दोनों मुस्लिम हुए तो ठीक है वरना हिंदू होने पर किसी भी तरह की अप्रिय घटना घट सकती थी। उन युवकों ने चाकू निकाल लिया था। परंतु "अचानक वंदना ने एक ज़ोरदार लात उसके गुप्तांग पर मारी। लात इतनी सटीक पड़ी थी कि उसके हाथ से चाकू छिटककर दूर जा गिरा और लड़का आलू की बोरी की तरह, एक तरफ ढेर हो गया।"[13] इसके उपरांत नायक और उसकी प्रेमिका वंदना वहाँ से भाग निकलने में सफल हो जाते हैं। नायक को यह गुमान नहीं था कि वंदना उससे भी तेज दौड़ सकती है। वंदना को जींस की वजह से लंबे डग भरने में सहूलियत हो गई थी। नायक कहता है "साड़ी, लहंगा और स्कर्ट को इसीलिए मैं पुरुषवादी सोच के परिधान मानता हूँ।"[14]

उपन्यास में हॉस्पिटल और गैर-सरकारी संगठनों में व्याप्त भ्रष्टाचार को भी दर्शाया गया है। इन संस्थाओं का केवल धन से सरोकार है, नैतिकता या मानव कल्याण से नहीं। आयशा को एड्स की झूठी बीमारी बताकर डॉ. तनेजा उससे पैसे लूटता है। आयशा की इस गंभीर बीमारी से डॉ. तनेजा का कोई सरोकार नहीं है। आयशा ने जब अपनी बीमारी के बारे में नायक से बताया तब नायक ने आयशा का दूसरे अस्पताल में चेकअप कराया, जहाँ आयशा को एड्स न होने की पुष्टि हुई। उस समय ये दोनों मिलकर डॉ. तनेजा के पास जाते हैं। नायक कहता है "पटाक की अचानक आवाज़ से मेरा ध्यान टूटा था। आयशा ने एक झन्नाटेदार थप्पड़ डॉक्टर तनेजा के गाल पर जमा दिया था।"[15] डॉक्टर को भगवान का रूप माना गया है परंतु वर्तमान समाज में सारी नैतिकता ताक पर रख दी दी गई है।

लेखक और उसके मित्र मिलकर दिल्ली के लालपुर खुर्द में में संघमित्र नाम की एक गैर सरकारी संस्था खोलते हैं। संस्था का उद्देश्य पिछड़ों और अति पिछड़ों को ऊपर उठाना था। किंतु गांव वाले किसी भी तरह की सहायता लेने से इनकार कर देते हैं। गैर सरकारी संगठन को लेकर गांव वालों का पिछला अनुभव काफी खराब रहा था। उनका कहना था कि "दो-तीन बार पहले भी एनजीओ काम करने आई थी। दो-तीन लड़कियों को गर्भवती करके भाग गए थे। सरकार से खूब पैसा लिया और गांव में एक पैसा नहीं लगाया।"[16] गाँव वाले किसी भी तरह की सहायता इसलिए लेना नहीं चाहते थे कि कल्याण के नाम पर उनके साथ केवल धोखा धडी ही हुई थी। परन्तु ये भी सत्य है कि सारे गैर सरकारी संगठन भ्रष्ट नहीं होते। उस गांव में टी.बी. पोलियो, व अन्य बीमारियों का प्रकोप था। गर्भपात के दौरान स्त्रियों की मृत्यु हो जाती थी। प्राथमिक सेवाएँ उपलब्ध नहीं थीं। बस्ती में कोई भी विद्यालय नहीं था। शिक्षा का आभाव था। विशेष रूप से स्त्रियों में कोई शिक्षित नहीं था। एक लड़की शिक्षित थी भी तो उसे मार दिया गया था। खास बात ये थी कि ये गाँव दिल्ली के बीचो-बीच स्थित था।

अंततः ये कहा जा सकता है कि 'उधर के लोग' उपन्यास एक सशक्त रचना है जो समकालीन यथार्थ की ओर इंगित करता है। जातिभेद, वेश्यावृत्ति, स्त्री पीड़ा, भ्रष्टाचार वर्तमान समय की गंभीर समस्याएं हैं।

संदर्भग्रंथ-

1. हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद, डॉ त्रिभुवन सिंह, पृष्ठ 81
2. हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद, डॉ त्रिभुवन सिंह, पृष्ठ 81
3. उधर के लोग, अजय नावरिया, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2008, पृ. 54
4. वही पृष्ठ, 111
5. वही पृष्ठ, 113
6. वही पृष्ठ, 113
7. वही पृष्ठ, 114
8. वही पृष्ठ, 22
9. वही पृष्ठ, 14
10. वही पृष्ठ, 22
11. वही पृष्ठ, 76
12. वही पृष्ठ, 145
13. वही पृष्ठ, 144
14. वही पृष्ठ, 144
15. वही पृष्ठ, 141
16. वही पृष्ठ, 153

*****

भारत में बौद्ध धर्म के पतन का अवलोकन : सामाजिक परिप्रेक्ष्य में

डॉ. कामाख्या नारायण तिवारी
सहायक प्राध्यापक,
बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली
विश्वविद्यालय,
दिल्ली

भारत में बौद्ध धर्म के उदय एवं प्रसार के साथ ही कालान्तर में इस धर्म ने जनसामान्य तक अपनी पकड़ को मजबूत किया। एक लंबे समय इस अंतराल के बाद इस धर्म के प्रति रुझान क्रमशः कम होने लगा विशेय के अंत इसके उद्गमस्थल भारत में जबकि उसी समय विश्व के अन्य भागात रूप से अपना पाँव पसारने लगा। इस क्रमिक ह्रास के कारणो की जब हम समीक्षा करते हैं तो इसके विभिन्न रूप हमारे समक्ष आते हैं। यह राजनैतिक सामाजिक, आर्थिक, एवं तात्कालिक कारणों के रूप के प्रकट होते है।

भारत की सामाजिक व्यवस्था प्राचीन काल मे जिन समस्याओं से जुझ रहा था उन समस्याओं का समाधान इस धर्म ने सुझाया। परिणाम हुआ किं इस धर्म की पैठ जनसामान्य में वृहद रूप में बनी। कालान्तर में यह धर्म व्यापक रूप से फैला। मौर्य काल तथा मौर्योन्तर काल के शासकों के द्वारा प्रारंभिक संरक्षण देने से यह धर्म पल्लवित हुआ। इसने आर्थिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का आधार समाज को दिया।

समाज में धार्मिक रूप से जड़ जमाने के बाद इसमें विस्तार भारत के बाहर भी होने लगा। लेकिन पूर्व मध्यकाल में धीरे-धीरे इस धर्म के प्रचार-प्रसार में ठहराव दिखाई देता है। जब हम कारणों पर प्रकाश डालते है तो पाते हैं कि प्राचीन भारत क सामाजिक व्यवस्था में इस धर्म के उद्भव के तत्व मौजूद थे लेकिन इसके पतन के तत्व भी उसी व्यवस्था से निकलकर बाहर आए ऐसा विद्वानों का मत है।

भारत की सामाजिक व्यवस्था में परिवार के स्वरूप निर्धारित था उसी धारणा पर आधारित परिवार के मुखिया की तरह राज्य का मुखिया भी होता था। हम देखते है। कि वैदिक काल के बाद भारत के गणतंत्रों का उदय हुआ तथा इन्हीं गणतांत्रिक राज्यों में शुरूआत में यह धर्म प्रफुल्लित हुआ। कालान्तर में गणतंत्रों के पतन के साथ ही इस धर्म को राजकीय संरक्षण मिलना बंद होने लगा। फलस्वरूप इस धर्म के मठों को राजनैतिक साध्न के अभाव के राज्य की तरफ से भूमि अनुदान मिलना बंद हो गाया। इस प्रकार महाविहारों आस्तित्व का संकट उत्पन्न होना शुरू हुआ। नये-नये स्तूपों के निर्माण पर प्रश्नचिंह खड़ा हो गया। परिणामस्वरूप इस धर्म के प्रचार को धक्का लगा। बौद्ध धर्म में तंत्र सम्प्रदाय का आना, इसके ह्रास का एक कारण बना। चूँकि वैदिक धर्म में पूर्व से ही तंत्र विद्यमान था जिसका उदाहरण हमें अथर्ववेद में दिखाई देता है, अत एव बौद्ध धर्म में तंत्रयान का उद्भव इस पर वैदिक धर्म के प्रभाव के रूप में देखा जाने लगा। जो निश्चित ही इस धर्म के लिये विपरित प्रभाव डालने वाला सिद्ध हुआ। इतिहासकार डॉ. गोविचन्द्र पाण्डेय ने इस मत पर बल दिया है कि बौद्ध तंत्र के प्रकाश में आने पर शैव-शक्ति तन्त्रों का प्रभाव निश्चित दिखाई देता है। सातवीं एवं आठवी शताब्दियों तक शैव-शक्ति तंत्र पूर्ण रूप से अस्त्वि में आ चुके थे। तथा ठीक इसी समय बौद्ध तंत्रों का विकास प्रारंभ होता है। अर्थात काल की दृष्टि से शैव-तांत्रिक परम्परा बौद्ध-तांत्रिक परम्परा से प्राचीन प्रतीत होती है। साथ ही यह तांत्रिक धर्म उपासना पद्धति पर आधारित है जो निश्चित रूप से मूल बौद्ध-धर्म के अनुकूल नहीं है।

दूसरी तरफ एक विंदू पर फिर दोनों तन्त्रों में एकता दिखाई देती है। अर्थात ब्राह्मण तंत्र एवं बौद्ध तंत्र में के कुछ तत्व समान है। यथा-गुरु का महत्व, दीक्षा, अभिषेक, मन्त्र, मन्त्रोचारण, मण्डल, चक्र, मुद्रा, नाड़ी, शक्ति इत्यादि। मालतीमाधव नामक ग्रन्थ में तो बौद्धों को कापालिको के अतिनिकट बताया गया है। साथ ही बौद्ध संघों में तन्त्रों के आगमन के कारण ज्ञान और आचार के लोप को भी उनके नाश का कारण माना गया है। इस क्रम में बौद्ध-धर्म के कतिपय तत्व हिन्दु धर्म में भी स्वीकृत हुए ऐसा माना गया है। महात्मा बृद्ध ने अपने शिष्य आनन्द से कहा था कि यदि संघ में स्त्रियों का प्रवेश हुआ तो इस धर्म की आयु कम होने लगेगी। कालान्तर में भिक्षुणियों के रूप में स्त्रियों का प्रवेश होने लगा।

वैदिक समाज द्वारा स्थापित वर्ण-व्यवस्था की आत्यन्तिकता से ऊबकर लोगों ने इस धर्म की ओर अपना रुख किया था। लेकिन कालान्तर में उस वर्ण व्यवस्था का क्रम केवल परिवतर्तित दिखा अर्थात् ब्राह्मण वर्ग का स्थान क्षत्रिय ने लिया जबकि दूसरे पायदान पर ब्राह्मण आए। इसके वैश्य एवं शूद्र वर्ग की स्थिति में कोई प्रभाव नही पड़ा। चूँकि समाज में संख्या में सर्वाधिक बड़ा वर्ग को इस वर्ण-व्यवस्था के परिवर्तन से बड़ी राहत की आशा की थी जो बाद में इसमें दिखाई नहीं दी। फलस्वरूप लोगों को लगा कि वैदिक कर्मकांडीय वर्ण व्यवस्था में उन अंतिम दोनों वर्णों की जो स्थिति थी उसमें कोई परिवर्तन नहीं दिखाई दिया। फलस्वरूप इस धर्म के लोगों में कालान्तर में अरुचि दिखाई देने लगी।

व्यापारी वर्ग के लिये यह धर्म अनुकूल सिद्ध हो रहा था। चूँकि इसमें अहिंसा पर बल था अतएव व्यापार के साध्न यानि वाणिज्यिक गतिविधि में पशुओं की भूमिका विशेष थी, इसकी रक्षा हो रही थी। लेकिन कालान्तर में महायान शाखा के उदय से मांसभक्षण की कुछ शर्तों के साथ स्वीकृति मिलने से अब पशु हिंसा की संभावना बनने लगी। फलस्वरूप वैश्य वर्ग में इस धर्म के प्रति आकर्षण क्या हुआ। इसका अन्य प्रभाव यह पड़ा कि इस व्यापारी वर्ग के असंतोष से ध्न का दान के रूप में बौद्ध मठों की ओर प्रचलित प्रवाह कम होने लगा जिससे इस धर्म के सर्वांगीण उन्नति पर विपरीत प्रभाव पड़ा।

इसके बाद हम देखते है कि हिन्दू धर्म में प्रचलित अवतारवाद एक

विभेशता के रूप में थी। कालान्तर में बौद्ध धर्म के प्रणेता बुद्ध को भी भगवान का दर्जा दे दिया गया एवं उनको वैदिक धर्म में वर्णित विष्णु के दश अवतारों में शामिल कर लिया गया। उस समय के सामाजिक व्यवस्था में यह एक क्रांतिकारी बात थी, क्योंकि इसका विपरीत प्रभाव बौद्ध-धर्म पर पड़ा। अब लोगों में वैदिक एवं बौद्ध धर्म के तत्त्व समान दिखाई देने लगे। इसके अतिरिक्त हिन्दू देवी देवताओं की तरह बुद्ध की मूर्ति रूप में पूजा का प्रचलन इसको वैदिक धर्म के समान समाज में स्थापित किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म का उदय भारत में वैदिक काल के बाद का एक प्रमुख लक्षण था लेकिन कतिपय गतिविधियों एवं उसके स्वरूप में आए परिवर्तनों ने कालान्तर में भारत में ही इसके प्रगति पर विराम लगा दिया। साथ ही भारतीय सामाजिक व्यवस्था में दिल्ली सल्तनत के शासकों के प्रवेश ने रही-सही कसर भी पूरी कर दी। कालान्तर में 11वीं 12वीं सदी में मुस्लिम आक्रान्ता वख्तियार खिलजी के आक्रमण से स्थापित बौद्ध स्मारकों को जो हानि पहुँची उसकी भरपाई असंभव हो गयी। इसने भी इसके कलेवर को सीमित किया।

सन्दर्भ :

1. वापट, पी. वी. बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष।
2. उपाध्याय, बलदेव बौद्ध धर्म मीमांसा।
3. पाण्डेय, गोविन्दचंद्र बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास।
4. चौधरी, राधाकृष्ण : प्राचीनभारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास।
5. Warder, A.K. - Indian Buddhism

*****

रीतिकालीन शृंगारिक साहित्य में अभिव्यक्त लोक संस्कृति: प्रासंगिकता के संदर्भ में पुनर्विचार

-रीना
सहायक प्राध्यापक (तदर्थ),
हिंदी विभाग
भगिनी निवेदिता कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय

शोध सार

लोक संस्कृति जनसाधारण का वह स्वर है जिसमें उनके जीवन के समस्त व्यापार समाहित रहते हैं। एक तरह से लोक जीवन का दूसरा नाम लोक संस्कृति है और इसी लोक संस्कृति का उद्घाटन साहित्य में होता आया है। रीतिकालीन शृंगारिक साहित्य में अभिव्यक्त लोक संस्कृति पर दृष्टिपात करें तो इस साहित्य में गृहस्थ जीवन के स्त्री– पुरुष संबंधों के माध्यम से तद्युगीन समाज की लोक संवेदनाओं , लोकपर्वों, त्यौहार ,धार्मिक आचार –विचार, संस्कार, रीति– रिवाज को साहित्य में रुपायित किया गया है। इस साहित्य में चाहे वो होली के उल्लास भरे चित्रण हो या तीज़ ,दशहरा, मेले पर स्त्री – पुरुष की साहचार्य भरी रागात्मक प्रक्रियाएं या गृहस्थ जीवन के पाणिग्रहण संस्कार, पहली बार नव वधु का रसोई में खाना पकाने का रिवाज , गौना या सामाजिक प्रथाएं– नजर लगना, पर्दा प्रथा,ज्योतिषी विचार, काशी स्नान आदि इन सभी लोक संस्कारों और परंपराओं में जीवनोपयोगी तथ्यों का अभाव नहीं है। ये कहना गलत न होगा रीतिकालीन वैभव विलास के युग में तद्युगीन साहित्य भारतीय लोक संस्कृति को जीवित करता है। इस साहित्य में अभिव्यक्त लोक संस्कृति के विभिन्न रंग उच्चश्रृंखल होते वर्तमान समाज में प्रासंगिक माने जा सकते है जिसकी उपादेयता पर पुनर्विचार किया जा सकता है।

मुख्य बिंदु –सांस्कृतिक चेतना,परम्परा रीति–रिवाज,लोकपर्व, फोकलोर,मुगलशासकीय भोगवृत्ति, गृहस्थ जीवन, मर्यादावादी संस्कृति, जीवनउपयोगी, प्रासंगिक, कालातीत।

साहित्य, समाज और संस्कृति इन तीनों का गहरा संबंध है, क्योंकि साहित्य अपनी विभिन्न विधाओं द्वारा समाज के आचार-विचार व्यवहार का चित्रण करता है। प्रत्येक समाज की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती है वही सांस्कृतिक चेतना साहित्य में उभर कर आती है। चूँकि, साहित्यकर समाज का चित्रण करता हुआ उसमें सत्य, शिव, सुन्दरम की सृष्टि करता है इसलिए प्रत्येक साहित्यिक रचना आवश्यक रूप से सांस्कृतिक भूमिका अदा करती है। वह सांस्कृतिक चेतना की संवाहिका होती है और इस सांस्कृतिक चेतना का निर्मल स्वरूप लोक संस्कृति में

देखने को मिलता है। लोक संस्कृति में मानव भावों की अभिव्यक्ति जिस सरलता और लय से प्रकट होती है, वह रसात्मक है, वह अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना से दूर एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहती है। उसमें समाज की एक नैसर्गिक आभा व चटक होती है। उसमें लोकगीत, लोक कथा, लोक के रीति-रिवाज, परम्पराएँ, उनके संस्कार की व्यंजना मिलती है। इस प्रकार देखें तो लोक संस्कृति और साहित्य का अन्योन्याश्रय संबंध है। संस्कृति साहित्य को जन्म देती है तो साहित्य संस्कृति के विकास में योगदान देता है।

लोक साहित्य का संबंध सीधे लोक भाषा से भी जुड़ा हुआ है और उसी लोक भाषा के माध्यम से लोक की अभिव्यक्ति होती है जिसके अध्ययन से उस समाज विशेष की सभ्यता, संस्कृति, धर्म, रीति-रिवाज, कला एवं साहित्य की आकाक्षांओं का सूक्ष्म अवलोकन किया जा सकता है।

लोक संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में रीतिकालीन साहित्य का अवलोकन करने से पहले लोक संस्कृति के अर्थ एवं स्वरूप का अनुशीलन करना आवश्यक हो जाता है। अंग्रेजी के 'फोकलोर' शब्द के लिए हिन्दी में जो शब्द प्रचलित हुए उनमें 'लोक संस्कृति' भी एक है। लोक संस्कृति अंग्रेजी के 'फोकलोर' शब्द का पर्यायवाची है। लोक मानस के सौंदर्यबोध से सम्बद्ध इस 'फोकलोर' शब्द की परिभाषा न्यू स्टेण्डर्ड डिक्शनरी ऑफ द इंग्लिश लैंग्वेज में इस प्रकार दी गई है- ''साधारण जनता की प्रथाओं, विश्वासों और रीति-रिवाज अथवा उसके ज्ञान को फोकलोर कहा जा सकता है।''[1]

फोकलोर का हिन्दी पर्याय लोकवार्ता मानते हुए डॉ. सत्येन्द्र ने कहा है- ''लोकवार्ता शब्द विशद अर्थ रखता है। समस्त आचार-विचार जिसमें मानव का परंपरित रूप प्रत्यक्ष होता है और जिसके स्त्रोत लोकमानस में पाये जाते हैं तथा जिसमें परिमार्जन और संस्कार की चेतना काम नहीं करती। लौकिक, धार्मिक, विश्वास, धर्मगाथाएँ कथाएँ, लौकिक गाथा, कहावतें, पहेलियाँ सभी लोकवार्ता का अंग हैं।'' [2]

इस प्रकार देखें तो लोक संस्कृति या लोकवार्ता जनसाधारण का स्वर है। इसकी व्यापकता जन-जीवन के समस्त व्यापारों में उपलब्ध होती है। यह एक जीवित शास्त्र हैं। लोक का जितना जीवन है, उतना ही लोक संस्कृति का विस्तार है। हम कह सकते हैं कि हमारे लोक जीवन का ही दूसरा नाम लोक संस्कृति है और इस लोक संस्कृति का उद्घाटन साहित्य में ही होता है। यहाँ साहित्य साधन के रूप में कार्य करता है और लोक संस्कृति साध्य के रूप में।

रीतिकालीन साहित्य में लोक संस्कृति पर दृष्टिपात करने से पहले रीतिकालीन राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश पर संक्षिप्त दृष्टि डाल लेना उचित होगा, क्योंकि लोक संस्कृति समाज विशेष की जीवन शैली का आईना होती है। इस सन्दर्भ में अगर रीति काल को देखें तो हिन्दी साहित्य के इतिहास में संवत 1700 से 1900 तक के कालखण्ड को रीतिकाल की संज्ञा दी गई है। इस काल की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों की साहित्य के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका रही। यह मुगल शासकों के वैभव के चरमोत्कर्ष और उसके बाद उनके पतन का काल था। उनके जीवन का लक्ष्य पाशविक एन्द्रिय भोग था। मुगल शासकों की धर्मान्धता के कारण समाज धार्मिक उपद्रवों के बीच असुरक्षा की भावना में जीता था, दूसरी ओर रीतियुगीन सामंती समाज उच्च और निम्न वर्ग में बँटा था। अमीर वर्ग विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे और उनके विलास वैभव का भार समाज के निम्न वर्ग 'किसान' मजदूर पर पड़ता था। इस समय पर्दा प्रथा, बाल विवाह, सती प्रथा जैसी कुरीतियाँ विद्यमान रहीं, जिसका कारण बहुत हद तक मुगलशासकीय भोग वृत्ति रही। उस समय एक वर्ग जहाँ विलासी जीवन का प्रतिनिधित्व करता था वही दूसरा वर्ग जनसाधारण का भी था जिसमें नैतिकता अभी भी बची हुई थी। जिनके भीतर धर्म, कर्त्तव्य की भावना अटूट थी, उसी वर्ग विशेष की संस्कृति का व्यापक वर्णन रीतिकवियों ने किया। गृहस्थ जीवन के न जाने कितने मनोहारी चित्रण रीतिकालीन साहित्य में देखने को मिलते हैं जिनमें तद्युगीन समाज की लोक संस्कृति दिखाई पड़ती है। रीतिकाल का कवि जहाँ कहीं भी दरबारी संरक्षण से मुक्त होता है, जहाँ उसके कवि मन को अवकाश मिलता है वहाँ पर वह अपने समय और समाज की लोक संवेदनाओं,

लोकपर्वों-त्योहारों, संस्कारों, रीति-रिवाजों को उकेरने से नहीं चूकता। उक्त सभी लोक सांस्कृतिक तत्त्वों की अभिव्यक्ति जिस माध्यम से अभिव्यक्त होती है वह है- रीतिकाव्य में चित्रित गृहस्थ जीवन के स्त्री-पुरुष संबंध। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी कहा है- ''रीतिकालीन कवि एकान्तिक शृंगारी नहीं उनकी रचना में गृहस्थी का भरपूर रस है।'' [3] इन्ही रसों का चित्रण भिन्न-भिन्न प्रकार से रीतियुगीन साहित्य में हुआ है।

तीज-त्यौहार, मेलें, उत्सव जो किसी भी समाज की लोक संस्कृति का प्राण है उन सभी का चित्रण रीतिकवियों ने किया। रीतिकालीन समाज में अनेक प्रकार के उत्सव, मेले, तीज-त्यौहार मनाए जाते, जिनमें नर-नारी उत्साह से भाग लेते थे। ''सार्वजनिक मेले तथा उत्सवों में मित्र तथा सम्बन्धी परस्पर मिलजुल लेते थे और दैनिक जीवन की नीरसता भूलाकर आनन्दोत्सव मना लेते थे।'' 4 रीतिकवयिं ने इन्हीं तमाम पर्व, त्यौहारों, उत्सवों में नारी-पुरुष के साहचर्य का स्वस्थ चित्रण करते हुए रीतिकालीन लोक संस्कृति को साहित्य में रूपायित किया है। नायक-नायिका के होली खलने के प्रसंग देखिए जहाँ प्रेममयी फाग लीला में नायक गुलाल मुट्ठी में भरकर नायिका को डरा रहा है-

''जज्यौं उझिक झाँपति बदनु झुकति बिहँसि सतराइ।
तत्यौं गुलाल-मुठी, झुठी झझकावत त्यौ जाइ।।'' [5]

वहीं नायिका भी गुलाल भरी मुट्ठी को नायक पर फेंककर प्रेम से नायक का मन मोह रही है-

''भरि गुलाल की मूठि सौं, गई मूठि सी मारि।'' [6]

एक ओर चित्रण जिसमें नायक दो पत्नियों के साथ होली खेल रहा है, जो रीतियुगीन बहुपत्नी परिवेश को भी इंगित करता है-

''खेलत भाग खिलार खरे अनुराग भरे बड़ भाग कन्हाई।
वा दृग मूँदि उतै चितयौ इन भेंटी इतै वृषभान की जाई।।'' [7]

होली के अवसर पर प्रेम व्यापार की मनोरम झाँकी दिखाने में रीतिकवि पद्माकर अद्वितीय है। होली के हुल्लड़ में नायक-नायिका की चहुँलबाजी से भरा मनोरम चित्रण देखिए जहाँ पर नायिका अवसर पाकर भरी भीड़ में से नायक को घर के भीतर ले जाती है और रंग डालकर ठिठोली करती हुई खूब मनमानी कर आनंदित होती है-

फाग की भीरे अभीरन में गहि गोबिंद लै गई भीतर गोरी,
भाई करी मन की पदमाकर ऊपर नाई अबीर की झोरी।।
छीनि पिताम्बर कमर ते सुत दई मीडि कपोलन रोरि,
नैन नचाइ कह्यो मुसकाइ लला फिरि आइयौ खेलन होरी।'' [8]

एक और चित्रण देखिए-

या अनुराग की फाग लखौ जहँ रागती राग किसोर-किसोरी।
त्यौ पदमाकर घालि घली फिरि लाल ही लाल गुलाल की
झोरी।'' [9]

इन होली के चित्रणों में जो अनुराग और भाव प्रकट हो रहे है आज के व्यस्त जीवन में देखें तो ये भाव, उल्लास, उत्साह लुप्त हो रहे हैं। इस संदर्भ में डॉ. पूरनचंद टण्डन का मत सार्थक प्रतीत होता है। वे कहते हैं- ''रीतिकाल के कृष्ण और राधा या नायक और नायिका का लीला सौन्दर्य यदि 'नैन नचाय कहि मुस्काय लला फिरि आइयौ खेलन होरी' जैसे काव्य उदाहरणों में एक उदात्त साहचर्य अथवा अनुभूति में पावन आनन्द का कारणभूत तत्व बनता है तो क्या आज के छेड़-छाड़ भरे, अश्लील हरकतों अपहरणों और बलात कार्यों के युग में प्रासंगिक नहीं ठहरता? होली के अवसर पर पुलिस की निगरानी एवं पकड़ धकड़ के युग में संस्कृति के सुखद आनंद की हत्या के बावजूद भी क्या ये प्रासंगिक नहीं ठहरता।।'' [10]

होली का ही नहीं, तीज के अवसर पर नायिका कैसे सज-धज कर झूला झूलने जा रही है, इसका चित्रण करते हुए बिहारी लिखते हैं-

''तीज-परब सौतिन, भूषन बसन सरीर।'' [11]
सावन की तीज तजबीज के बसन सूहै दोनों गठजौरे आज झूलत हिंडौरे है।" [12]

वहीं अखती तीज का चित्रण करते हुए रीतिकालीन कवि तत्कालीन संस्कृति का चित्र खींचते हैं जिसमें पत्नी पति के लिए व्रत रखती है और वट वृक्ष की पूजा करती है और प्रियतमा का नाम बार-बार लेती है-

''अखती के तीज तजबीज कै सहेली जुरी,
स्याम स्याम स्यामा सों कहायों बीस बेर कै।।'' [13]

दशहरा में नर-नारी की सहभागिता का वर्णन देखिए-

''ठाकुर कहत सुर असुर समूह नर नारिन के
जूह नंद मन्दिर में पैठे हैं।'' [14]

तीज-त्यौहारों मेलों के ये चित्र सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

इनमें अभिव्यक्त रागात्मक प्रक्रियाएँ रीतिकाव्य की निधि हैं।

लोक संस्कृति का एक ओर महत्वपूर्ण तत्व है- आचार-व्यवहार। रीतिकालीन स्त्री-पुरुष-संबंध के माध्यम से तद्युगीन मध्यकालीन समाज की मर्यादावादी संस्कृति की झलक देखी जा सकती है। उस समाज में संयुक्त पारिवारिक संरचना थी। उस पारिवारिक संरचना में दांपत्य जीवन के व्यवहार की भी मर्यादाएं थी। इन मर्यादाओं का पालन दम्पत्ति द्वारा शालीनता से किया जाता था। इन्हीं कौटुम्बिक मर्यादाओं के विविध पहलुओं पर रीतिकवियों ने दृष्टि डाली। एक पद देखिए जहाँ स्त्री का पति विदेश से लौटा है और गुरुजनों के पास आँगन में बैठा है, ऐसे में गुरुजनों की लज्जा के कारण पत्नी प्रत्यक्ष न मिलकर पति की वस्तुओं को हृदय से लगाकर मिलन सुख कर रही है-

''भेटत न भावतौ, चितु तरसुत अति प्यार।
धरति लगाइ लगाइ उर भूषन, बसन हथ्यार।।'' [15]

ससुराल में ही नहीं मायके में भी जब नायिका का पति उसे लेने आता है तो वह अपनी माँ के पीछे सकुचाकर लज्जा वश खड़ी हो जाती है और वही से मुस्कराकर प्रियतम को देखती है-

''मुख घूघँट घालि सकें नहि माइके माइ पीछु दुराइ रही।।'' [16]

ये उपरोक्त चित्रण ग्रामीण गृहस्थ जीवन के संस्कारों को उद्घाटित करते हैं। गुरुजनों के समक्ष ऐसी कौटुम्बिक शालीनता की उपयोगिता आज के स्वच्छंद युग में नकारी नहीं जा सकती। डॉ. भगीरथ मिश्र कहते हैं- ''रीतिकाव्य के बीच-बीच में भी ऐसी उक्तियाँ मिलती हैं जो जीवन का अनुभव और आदर्श बताती हैं। अतः आधुनिक दृष्टि से सामाजिक प्रगति की प्रेरणा प्रदान न करते हुए भी इसमें जीवनोपयोगी तथ्यों का अभाव नहीं है। [17]

यह काव्य गार्हस्थिक चित्रण के माध्यम से नारी की संयमशील मर्यादा का चित्रण करता है। गृहस्थ जीवन के भीतर जो भिन्न-भिन्न संस्कार है उन संस्कारों के निर्वाह का जो रूप यहां दृष्टिगोचर होता है, वह मन को आह्लादित करने वाला है। विवाह के अवसर पर पाणिग्रहण संस्कार का चित्रण देखिए जहाँ पर नव दंपति एक-दूसरे का हाथ ग्रहण करते हैं तथा हाथ ग्रहण करते ही दोनों में अनुराग हो गया अर्थात् विवाह के निमित्त जो संकल्प होते हैं, उनसे पूर्व ही दोनों मानसिक संकल्प से एक-दूसरे के हो गये-

स्वेद सलिलु, रोमांच कुसु गहि दुलही अरु नाथ।
दियौ हियौ सँग हाथ कै, हथलेय हों हाथ।। [18]

भारतीय संस्कृति में विवाह के बाद गौने का रिवाज होता है। विवाह के उपरान्त नव वधु दूसरी बार मायके से ससुराल जाती है उसे गौना कहा जाता है। ऐसे ही गौने के हृदयग्राही चित्रण रीतिकाव्य में देखने को मिलते हैं। उदाहरणार्थ मतिराम का एक पद देखिए जहाँ गौने के समय नायिका की सहेलियाँ हास-परिहास करती है, उस हास-परिहास का चित्रण मतिराम ने यूँ किया है-

''गौने के द्यौस सिंगारन को मतिराम सहेलिन को गुन आयौ,
कंचन के बिछुआ पहिरावत प्यारी सखी परिहास बढ़ायौ।।'' [19]

लोक जीवन में होने वाले इन रीति-रिवाजों का मनमोहक चित्रण स्त्री-पुरुष के रागमय जीवन का द्योतक है। नव दम्पति एक-दूसरे से बिछुड़ते है। उस अलगाव से जो दुःख उन्हें होता है उसी भाव को इंगित करते हुए मतिराम लिखते हैं-

''गौने के द्यौस छःसातक बीते न, चौथी कहा अबही चलि आई,
लालन बाल कें ता छिन मैं मतिराम परी मुख पै पियराई।।'' [20]

तद्युगीन मध्यवर्गीय संस्कृति के ये चित्र ''शत-प्रतिशत सामान्य गृहस्थ घरों के हैं। ये नायक-नायिकाएँ, राजा-रानी, राजकुमारियाँ नहीं हैं, वरन् साधारण गोप-गोपियां या खाते-पीते घरों की युवतियाँ हैं जिन्हें उस युग का मध्यवर्ग कहा जाता है। [21] इसलिए रीतिकालीन काव्य भले ही सामंती वातावरण की भूमि पर लिखा गया लेकिन कवियों की नजर लोक पर भी पड़ी है। ये कवि ग्रामीण मध्यवर्गीय समाज के गृहस्थ जीवन में व्याप्त अनेक रंगों का चित्रण करते हैं। उसी गृहस्थ जीवन में सास-बहु-देवरानी-जेठानी के स्नेहपूर्ण संबंधों पर भी रीतिकवियों की दृष्टि गई जिसका वर्णन उन्होंने अपने काव्य में किया। एक पद देखिए जहाँ पर नायिका की शारीरिक दुर्बलता को देखकर सास बहु से पूछती है तेरे दुर्बल होने कारण क्या है-

''बहु दूबरी होत क्यों यौं जब बूझ्यौ सास।'' [22]

उपरोक्त पद में चित्रित किया गया है कि किस प्रकार पारिवारिक

संरचना में सास बहू का दुःख बाँटना चाहती है। उसके मन की व्यथा को जान लेना चाहती है ताकि उसको भावनात्मक बल मिले। एक और पद देखिए जहाँ जब जेठानी और सास छोटी बहु को दुःखी देखकर व्यथित हो जाती है और उसका दुःख दूर करने का उपाय सोचती है-

बारी बहु मुरझानी बिलोकि जिठानी करै उपचार कितीको। [23]

उपरोक्त दोनों पद तत्कालीन संयुक्त परिवार के मधुर संबंधों को इंगित करते हैं जिस तरह उस समाज में परिवारजन एक-दूसरे का दुःख बाँटते थे, सभवतः इससे परिवार में तनाव की स्थिति कम ही रहती होगी। एक-दूसरे को भावनात्मक बल मिलता होगा। ऐसे में अगर आज के सन्दर्भ में हम देंखे तो जहां तनाव सिर उठाए खड़ा है, आपसी संवाद महज औपचारिकता में सिमट गए हैं, एक-दूसरे का मन जान सके, सुख-दुःख बांट सके, इसका समय किसी के पास नहीं है। प्रेम भरे बोल गायब होते जा रहे हैं। प्रश्न उठता है कि क्या वर्तमान में नीरस, प्रेमहीन होते संबंधों के सन्दर्भ में रीतिकालीन, स्नेहमयी संस्कृति की उपयोगिता प्रासंगिक नहीं हो उठती? गृहस्थ जीवन के इन सुखद चित्रणों की सांस्कृतिक दृष्टि से अपनी महत्ती भूमिका है। इसी सन्दर्भ में डॉ. भगीरथ मिश्र कहते हैं- ''हिन्दी रीति साहित्य का जिन परिस्थितियों में विकास हुआ उनका पूरा प्रभाव आत्मसात करके भी साहित्य की अपनी सांस्कृतिक और सामाजिक देन है।'' [24]

रीतिकवियों ने अपने काव्य में तद्युगीन समाज के लोक-विश्वास, मान्यताओं, प्रथाओं का चित्रण भी किया है। हमारे भारतीय समाज में मान्यता है कि कासी में मरने से ही मुक्ति लाभ होता है। यह धार्मिक लोकविश्वास आज भी प्रचलित है। रीतिकाल में भी इसकी मान्यता थी। पदमाकर कहते हैं-

पर तब कासी के मरन ते रन मरन सुविसेष हैं,
कहि कि रन में मरन में मरन तें जस जगात अलेख हैं।।'' [25]

भारतीय लोक जीवन में ज्योतिष विचार का स्थान भी महत्वपूर्ण है जहाँ व्यक्ति अपने जीवन के कार्य ज्योतिष विचारों के अनुकूल ही करता है, जिसमें ग्रहों-नक्षत्रों का अध्ययन शामिल है। रीतिकवियों के काव्यों में इन्हीं ग्रहों और नक्षत्रों की गतिविधि के संबंध में ज्ञान प्रदर्शित होता है। उदाहरणार्थ एक पद देखिए, जिसमें बिहारी लिखते हैं कि यदि चन्द्र के अन्दर कोई सौम्य ग्रह पड़ा हो और वह केन्द्र में ग्यारहवें स्थान पर हो तो धनागमन, संतान आदि के सुख प्राप्त होते हैं-

''तिय-मुख लखि हीरा-जरी बेदी बदे विनोद।
सुत सनेह मानौ सियौ बुध पूरन बुधु गोद।।'' [26]

वहीं गिरिधर कविराय की कुंडलियों से ज्योतिष शास्त्र की सभी राशियों की जानकारी भी हमें मिलती है। यथा-

वृषभ वृषभ युग मिले तब, जब किय सिंह निपात
× × ×
होय मेष को नाश, जबी उपजे निज वृषभ।।'' [27]

भारतीय लोक जीवन में इससे भी अधिक शकुन-अपशकुन पर विश्वास किया जाता है, जिनका उल्लेख रीतिकाव्य में प्रचुर मात्रा में किया गया है। जैसे शकुनशास्त्र के अनुसार नारी की की दाहिनी आँख फड़कना अशुभ है। इसी संबंध में दयाराम अपनी कृति 'दयाराम सतसई' लिखते हैं-

''छांहि चाहिं तन छांहि पिय, अब अलि आवे नाहिं।
फरकत मो अखि दाहिनी, काहु कि बांई बाहि।।'' [28]

अर्थात नायक के आने में विलंब हुआ। नायिका व्यग्र होकर कहती हैं कि मध्याहन हो गया। मेरी दाहिनी आँख फड़कने लगी है। किसी का शुभ वामांग फड़का होगा। भारतीय जीवन में कुदृष्टि लगना अर्थात नजर लगना जैसा विश्वास प्रचलित है। उसका भी जिक्र रीतिकाव्य में मिलता है-

''लौने मुहु दीडि न लगे, यौं कहि दीनो ईठि।
दूनी है लागन लगी दियो दिठौना दीठि।।'' [29]

तत्कालीन भारतीय लोकजीवन के अंतर्गत विभिन्न प्रथाओं का चलन था। जैसे- बहु विवाह प्रथा, पर्दा प्रथा, सती प्रथा आदि। रीतिकवियों ने इन सभी प्रथाओं का चित्रण किया। उदाहरणार्थ-

बहु विवाह प्रथा- बैठी एक सेज पै सलोनी मृगनैनी दोउ
आय तहां प्रीतम सुधा समूह बरसौ।। [30]

पर्दा प्रथा-छिप्यौ छबीलौ मुँह लसै नीले अंचर चीर
मनौ कलानिधि झलमले कालिंदी के नीर।। [31]

सती प्रथा- पति की संगति री सती ले सुगती इहि आगि।
× × ×
सुजस लोक परलोक श्रेय ले संगति पति की।। [32]

सौगंध प्रथा-

बतरस लालच लाल की मुरली धरि लुकाइ।

सांह करै, भौहनु हसैं, दैन कहै नटि जाइ।। [33]

ये सभी गृहस्थ वातावरण के चित्रण, पर्व, तीज-त्याहौर, रीति-रिवाज, लोक विश्वास मान्यताएँ समकालीन युग के अनुरूप थीं जिनके द्वारा तत्कालीन समाज की लोक संस्कृति रीतिकाव्य में सन्निहित हुई। इस लोक संस्कृति में तत्कालीन लोक जीवन का सौष्ठव, उल्लास और आनन्द शामिल है, इन्हीं आनंदमय गृहस्थ चित्रणों की प्रासंगिकता के सन्दर्भ में डॉ. पूरनचंद टण्डन कहते हैं' ''गृहस्थी का आनंद यदि प्रासंगिक है तो स्वाभाविक है कि रीतिकालीन काल की प्रासंगिकता भी निर्विवाद है। रीतिकवियों ने हृदय स्पर्शी कविता का सृजन किया है जिसे युगों-युगों तक सार्थक माना जाता रहेगा।।'' [34]

समग्रता में देखें तो रीतिकवियों ने वैभव-विलास के युग में भी अपनी कविता के माध्यम से भारतीय लोक संस्कृति को जीवंत किया है। उन्होंने तीज-त्यौहारों, लोक पर्वों, गृहस्थ जीवन में आचार-व्यवहार के नियम, रीति-रिवाज, संस्कार, लोक विश्वास, मान्यताएँ, प्रथाएँ सभी लोक संस्कृति के रंगों को काव्य में वर्णित किया है। यही लोक संस्कृति रीतियुगीन समाज को जीवंत बनाये हुए है क्योंकि इसमें जन साधारण का स्वर है। अतीत की गहरी जड़े हैं। यही आदिम मानव की संस्कृति के तत्वों को अपने में सुरक्षित किये हुए है। लोक संस्कृति का स्वर जिस प्रकार रीतिकाव्य में मुखरित हुआ है उससे हम कह सकते हैं कि इसके माध्यम से लोक संस्कृति की अजस्र धारा प्रवाहमान रहेगी। इसमें चित्रित गृहस्थ जीवन में आचार-व्यवहार के नियम मर्यादित समाज को गति प्रदान करने वाले रहे है जिनकी उपादेयता उच्छृंखल होते वर्तमान समय में आवश्यक मानी जा सकती है। अंत में डॉ. पूरनचंद टंडन के शब्दों में कहें तो ''रीतिकालीन अनूदित साहित्य की सार्थकता तब तक बनी रहेगी जब तक हमारे सांस्कृतिक एवं पारिवारिक मूल्यों पर प्रश्न चिन्ह नहीं लग जाता। चंद सीमाओं के कारण लगाये गए आक्षेप कालातीत साहित्य की सार्थकता को धूमिल या भ्रमित नहीं कर सकते।'' [35]

संदर्भ सामग्री

1. Funk & Wagnalls new standard dictionary of the English Language, P. 954, New York, 1961
2. ब्रजभाषा लोक साहित्य, डॉ. सत्येन्द्र, प्रकाशक, साहित्य भण्डार आगरा, विषय प्रवेश,
3. हिंदी साहित्य, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 30
4. मुगलकालीन भारत, आशीर्वाद लाल श्रीवास्तव, शिवलाल अग्रवाल एण्ड क. प्रा.लि. आगरा, पृ. 262
5. बिहारी रत्नाकर, संपा. जगन्नाथदास रत्नाकर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 231, छंद 502
6. वही, पृ. 236-350
7. देव ग्रंथावली, संपा. लक्ष्मीधर मालवीय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृ. 104, छंद 60
8. जगद्विनोद, संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. वाणी वितान प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 73, छंद 464
9. वही, पृ. 64, छं. 399
10. साहित्य का नया विवेक, डॉ. रमेश गौतम, डॉ. पूरनचंद टंडन, अभिव्यक्ति प्रकाशन, पृ. 3
11. बिहारी रत्नाकर, संपा. जगन्नाथदास रत्नाकर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 155, छंद, 315
12. ठाकुर ठसक, संपा. लाला भगवानदीन 'दीन', साहित्य सेवक कार्यालय, काशी, पृ. 30, छंद 124
13. वही, पृ. 25, छंद 104
14. वही, पृ. 31, छंद 126
15. बिहारी रत्नाकर, संपा. जगन्नाथदास रत्नाकर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 257, छंद 564
16. जगद्विनोद, संपा. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाणी वितान प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 43, छंद 262
17. हिंदी रीति साहित्य, डॉ. भगीरथ मिश्र, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, पृ.

13

18. बिहारी रत्नाकर, जगन्नाथदास रत्नाकर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 131, छंद 259
19. मतिराम ग्रंथावली, कृष्णबिहारी मिश्र, गंगा पुस्तकमाला, कार्यालय लखनऊ, पृ. 166, छंद 216
20. वही, पृ. 208
21. हिन्दी साहित्य संवेदना और विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, पृ. 25
22. मतिराम ग्रंथावली, कृष्णबिहारी मिश्र, गंगा पुस्तकमाला, कार्यालय, लखनऊ, पृ. 6, छ. 115
23. पदमाकर ग्रंथावली, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ. 28, छ. 172
24. हिंदी रीति साहित्य, भागीरथ मिश्र, राजकमल प्रकाशन, पृ. 18
25. पदमाकर ग्रंथावली, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी पृ. 15, छंद 10
26. बिहारी रत्नाकर, जगन्नाथदास रत्नाकर, लोकभारती प्रकाशन, लखनऊ, पृ. 6, छंद. 5
27. गिरिधर कविराय ग्रंथावली, स. डॉ. किशोरीलाल गुप्त, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, पृ., 303, छंद 90
28. दयाराम सतसई, सं. अम्बासागर नागर, वाणी वितान वाराणसी, पृ. 186, छंद 116
29. बिहारी रत्नाकर, जगन्नाथदास रत्नाकर, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, पृ. 17, छंद. 28
30. मतिराम ग्रंथावली, सं. कृष्णबिहारी मिश्र, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ, पृ. 213, छंद. 54
31. बिहारी रत्नाकर, जगन्नाथदास रत्नाकर, लोकभारती प्रकाशन, पृ. 143, छंद 346,
32. दीनदयाल गिरि ग्रंथावली, सं. श्याम सुंदरदास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ. 250, छंद 38
33. बिहारी रत्नाकर, जगन्नाथदास रत्नाकर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 161 छंद. 39
34. साहित्य का नया विवेक, डॉ. रमेश गौतम, डॉ. पूरनचंद टण्डन, अभिव्यक्ति प्रकाशन, पृ.23
35. वही, पृ. 6

*****

'रत्ना की बात' उपन्यास का विश्लेषणात्मक अध्ययन

-दिवेश कुमार चंद्रा
शोधार्थी, हिंदी विभाग
मिजोरम विश्वविद्यालय,
आइजोल, मिजोरम, 796004
मो. 9506764716

रांगेय राघव का सन 1954 में प्रकाशित एक और सफल जीवनचरितात्मक उपन्यास है, 'रत्ना की बात'। उपन्यास 'रत्ना की बात' हिंदी कविता के अग्रणी राम भक्त कवि गोस्वामी तुलसीदास के जीवन पर आधारित है जिसमें महाकवि की लोकमंगल की भावना को केंद्र में रखने के साथ-साथ तुलसीदास के जीवन संघर्ष को पूर्वदीप्त शैली से इस लिखा गया है। मनुष्य अपने कर्म से महान बनता है, 'कबीर' के समकालीन 'तुलसीदास' 16 वीं शती के महान भक्त कवि के रुप में मशहूर है। ऐसे महान व्यक्तियों की जीवनी को समाज के सामने रोचकता से प्रस्तुत करने हेतु, 'रत्ना की बात' की रचना की गयी है। उस समय का समूचा जीवन-चरित्र और उनके प्रश्न सामाजिक, सांस्कृतिक भूमिका को पाठक के सामने मानस पटल पर लाने का कार्य किया है जिससे की उनकी जीवन-चरित्र सजीव हो उठता है। वास्तव कथानक होने के कारण लेखक ने उपन्यास रचना में अधिक सतर्कता रखी है जिससे उपन्यास की विश्वसनीयता बढ़ गयी है। तुलसीदास के जीवन का अंकन अंतःसाक्ष्य, बाहयसाक्ष्य तथा जनश्रुतियों के आधार पर ही किया गया है। इसलिए उपन्यास सशक्त बन पाया है। इसमें तुलसी जीवन के अनेक अध्यायों का लेखा-जोखा प्रस्तुत है। कथानक में निम्नलिखित प्रसंग उल्लेखनीय है। तुलसी के जन्म से लेकर मृत्यु तक की अथक संघर्ष गाथा में तुलसी का जन्म, माता तुलसी की मृत्यु, पंडित रात की भविष्यवाणी तथा तुलसी का परिवारवालों द्वारा त्याग की कथा प्रारंभ में चित्रित है। घरवालों द्वारा त्याग तुलसी समाज के लिए भी हेय पात्र बनता है। सारा समाज उससे घृणा तथा तिरस्कार करता है, परंतु बाबा नरहरिदास तथा गुरु रामानंद की छत्रछाया में तुलसी पढ़-लिखकर सयाना बनता है। गुरु की आज्ञा से रामकथा पाठ गाँव-गाँव करता जाता है। ऐसे ही एक गाँव में उसकी भेंट रत्नावली से होती है। रत्ना को प्रथम दर्शन से ही तुलसी का चाहना और परिणामस्वरुप उन दोनों का विवाह हो जाना स्वाभाविक ही था। बचपन से प्रेम के वंचित तुलसी रत्ना के प्रेम में इतने डूबे रहने लगे कि दुनियादारी की तरफ से भी उन्होंने अपना मुँह मोड़ लिया। पति के इस अत्यधिक प्रेम तथा आसक्ति से रत्ना दुखी है इसलिए वह तुलसी को सचेत करते हुए धिक्कारती है। रत्ना के इस व्यवहार से पीड़ित तुलसी संन्यस्त होकर रहते है। इसी अवस्था में अनेक प्रकार की कृतियों का निर्माण करते हैं। जनसामान्य को जनवाणी अर्थात अवधी और ब्रजभाषा में उपदेश देकर रामचरितमानस का पाठ करने लगे। समाज सुधारक तथा प्रेरक के रूप में तुलसी का गोरव बढने लगा। उन्हें लोकनायक, कलीकाल का वाल्मिकी, रामभक्त आदि अनेक उपाधियाँ प्राप्त हुई। वृद्धावस्था के कारण अंत में तुलसी की मृत्यु हो जाती है। परंतु अंत तक तुलसी रत्ना की प्रेरणा को बार-बार स्मरण करते हुए कहते हैं कि "तुलसी कुछ थी नहीं यह तो रत्ना की बातों का परिणाम है।"[1] इस प्रकार तुलसी की संक्षेप में परंतु पूरी जीवनगाथा को लेखक ने अंकित किया है।

उपन्यास के प्रारंभ में तुलसी शिष्य नारायण तथा तुलसीपर प्रेम करनेवाले ग्रामवासियों के मध्य दीर्घ संवाद द्रष्टव्य है। इन संवादों से तुलसी की चारित्रिक विशेषताओं को स्पष्टता मिली है। इन संवादों को लेखक ने चार पृष्ठों में चित्रित किया है।"[1] इन वार्तालाप का सार संवाद के एक अंश द्वारा स्पष्ट हो सकता है - "वह अवतार है भइया, अंश है। उसका काम इस कलियुग में भारतभूमि कर उद्धार करना था, सो उसने अकेले ही कर दिखाया...।[2]"

'रत्ना की बात' में प्रमुख पात्रों में उल्लेखनीय दो ही पात्र है तुलसी तथा रत्नावली संपूर्ण कथानक इन दो पात्रों के व्यवहार पर आधारित है। लेखक ने इन दोनों पात्रों के जीवन के क्रमिक विकास को दर्शाया है। तुलसी का चरित्र उपन्यास में उत्तरोत्तर विकसित हुआ दिखायी देता है। गुरुओं की शिक्षा से बने चिंतक तुलसी रत्ना के प्रेम में आसक्त होते है। उसका यह रूप भी स्वाभाविक ही लगता है। इस रूप की भर्त्सना न करते हुए लेखक ने उसे स्वाभाविक बताते हुए यह स्पष्ट किया है कि किसी चिज से वंचित रहने पर अचानक ही उस चिज को पाने से उसपर आसक्त होना उचित है इसलिए तुलसीदास को यहाँ दोषी ठहराकर भर्त्सना करना योग्य नहीं है। रत्ना द्वारा तिरस्कृत, भावनावश तुलसी आत्महत्या के विचार से प्रवृत्त होता है परंतु तुलसी का विवेकी तथा चिंतक रुप उसे सचेत करते हुए सन्मार्ग पर लाता है। तुलसी का यह आत्मिक विकास दिखाते हुए लेखक ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। इस प्रकार उपेक्षित से जनसम्मानित, भोगी से महान त्यागी, अज्ञानी से ज्ञानी आदि विविध रूपी तुलसी के दर्शन लेखक ने हमें कराकर तुलारी के चरित्र में निखार लाने का सफल प्रयास किया है। आगामी अध्याय में तुलसी का चरित्र-चित्रण विस्तार से करना है इसलिए पुनरुक्ति दोष से बचनेके लिए यहाँ पर नायक के चरित्र को संक्षेप में ही शब्दबद्ध किया है।

उपन्यास में रत्ना का चरित्र-चित्रण अत्यंत संक्षेप में परंतु प्रभावी रहा है। 'रत्ना की चारित्रिक विशेषताओं को उसके पिता द्वारा कहलवाकर लेखक ने स्वाभाविकता लाने का प्रयास किया है'।[3] वह धर्मपरायणा, स्वाभिमानी तथा सरल स्वभाव की सामान्य स्त्री थी । तुलसी की महानता के पीछे रत्ना का समर्पण भाव स्पृहणीय है। वह स्वतंत्रचेता तथा स्पष्टवादी भी है।[4] उपन्यास के नारी पात्रों में वह एक मात्र सशक्त नारी पात्र के रूप में द्रष्टव्य है। वह सबसे सम्मानित बनकर उपन्यास में छायी है। इसलिए अंत में

तुलसीदास भी कह उठते है "तुलसीदास केवल रत्ना के शब्दों का चमत्कार है।"[5]

लेखक ने भूमिका में भी उपन्यास के निर्माण का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए लिखा है - "तुलसी के सामाजिक कार्य, उनकी भक्ति, उनके सुधार, उनके विद्रोह, उनके विचार, उनका दृष्टिकोण ऐसे विषय है जिन पर लोगों का भिन्न मत है। जो तुलसीदास कहते है हमें वह देखना चाहिए। उसे समझने के लिए केवल उन्हें देख लेना काफी नहीं है, उनके पूर्ववर्ती युगों को देखना आवश्यक है ... तुलसी की भक्ति सामाजिक रुप में वेद, धर्म और व्यक्ति पक्ष में भगवान से याचना थी। तुलसी ने भगवान को आदर्श सामंत राजा के रुप में ही स्वीकार किया...।[6]

नायक तुलसी के व्यक्तित्व और कृतित्व को दिखाते हुए उसकी प्रेरणा बनी रत्ना का परिचय देना लेखक का ध्येय था । इसलिए युगों से उपेक्षित रत्ना के साथ यहाँ न्याय किया गया है। तुलसी को महान बनाने में रत्ना की बात महत्वपूर्ण रही है। रत्ना स्वयं विदुषी थी, कवयित्री थी, नारी जागरण की प्रतिभा थी। तुलसी की पथ-प्रदर्शक बनी रत्ना ने तुलसी का मार्ग प्रशस्त करनेकी इच्छा से स्व-सुख की बली दे दी। भोगी को योगी अवस्था तक पहुँचाकर स्वयं उपेक्षित रही। उसके इस त्याग भावना तथा महानता को पाठकों तक पहुँचाने का उद्देश्य भी महत्वपूर्ण है'।[7] उपन्यास में रत्ना का प्रवेश कुछ समय के लिए ही हुआ है, परंतु सारे उपन्यास पर उसकी छाया मँडराती है। कोमल और स्नेहपूर्णा रत्ना तुलसी को सन्मार्ग पर लाने तथा लोक-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने के लिए ही कटूक्तियों का सहारा लेती है। इस वाक्बाण से आहत तुलसी फिर से ईश्वर-शक्ति में तल्लीन होते है। अर्थात कहना यह है कि प्रारंभ में तुलसी ने सभी प्रकार का वेदाध्ययन, ज्ञानार्जन किया था। परंतु स्नेह से वंचित तुलसी को रत्ना के प्यार ने कुछ देर तक मोहित किया परंतु उनका असली रुप तो भक्त का ही था। इस दृष्टि से देखा जाये तो रत्ना की बात तुलसी को जगाने का एक साधन रहा है साध्य नहीं । परंतु उपन्यास में मरणासत्र तुलसी के द्वारा शीर्षक की सार्थकता स्पष्ट करते हुए लेखक ने रत्ना और तुलसी के संवाद दिए

है ... वे पूछते है, "रत्ना क्यों आयी हो ?" "वह देखने आयी हूँ, जिसके लिए आपको मैं ने अपना वर चुना था।" "मेरी सत्ता से आप अपनी महानता को भूल गए थे। मैं ने अपनी बलि देकर आपको फिर महान पंथ पर खडा कर दिया। आपको मुझ पर क्रोध तो नहीं है?" "नहीं रत्ना! तुलसीदास कुछ नहीं है, वह तो केवल रत्ना के शब्दों का चमत्कार है''।[8]

इतिहास या चरित्रों में चित्रित तुलसी के सभी मानवेतर गुणों को सहज, स्वाभाविक रुप में चित्रित कर उसे केवल महामानव के रुप में प्रस्तुत करना भी लेखक का उद्देश्य रहा है। वैसे किसी भी महापुरुष की जीवनी में अनेक किवदंतियाँ होती है। जीवनचरितात्मक उपन्यासकार इन किवदंतियों से युक्त कथाओं से तथ्य निकालकर पाठकों के सामने लाने का प्रयास करता है । कवि तुलसी, भक्त तुलसी, आसक्त तुलसी, विरक्त तुलसी आदि तुलसी के अनेक रूपों के दर्शन उपन्यास द्वारा कराना लेखक का लक्ष्य रहा है। 'रत्ना की बात' शीर्षक संक्षिप्त है, आकर्षक है, कथावस्तु से संबंधित भी है, परंतु कथाबीज और उसके विकास के दौरान यह शीर्षक उचित नहीं लगता। रत्ना की बात शीर्षक को उचित मानने का अर्थ यह भी हो सकता है कि तुलसी स्वयं कुछ भी नहीं थे। और यह बात संभव नहीं है। इसलिए प्रस्तुत उपन्यास का शीर्षक उतना सार्थक प्रतीत नहीं होता जितना की अन्य उपन्यासों का।

संदर्भ:

1. रत्ना की बात, रांगेय राघव, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा,1954 पृ०. 8
2. वही, पृ०. 11
3. वही, पृ०.79
4. वही, पृ०.88
5. वही, पृ०.105
6. वही, पृ०.4
7. वही, पृ०.5
8. वही, पृ०.133

*****

काला पादरी उपन्यास का विश्लेषणात्मक अध्ययन

-एकता
शोधार्थी
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
मो. 9654296190
Email : ekta070290@gmail.com

काला पादरी तेजिन्दर द्वारा लिखित एक यथार्थपरक उपन्यास है जिसमें लेखक मध्यप्रदेश के सरगुजा जिले के उराँव आदिवासी समाज के दर्द का ज्वलंत दस्तावेज प्रस्तुत करता है। उराँव आदिवासी भोले–भाले, निरक्षर, गरीब एवं अज्ञानी आदिवासी है जो अकाल से पीड़ित होने के कारण धर्म के ठेकेदारों तथा सरकारी योजनाओं के धूर्त लोगों के द्वारा बहुत ही आसानी से छ्ले जाते है। जिससे उनको अपने जीवन में अनेक तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

वर्तमान समय में बढ़ते बाहरी प्रवेश ने आदिवासियों को उनके ही जंगलों से बहिष्कृत कर दिया है तथा उनके जंगलों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर धीरे–धीरे उनके जंगलों को ही समाप्त कर दिया है जिसके कारण उचित समय पर वर्षा न हो पाने के कारण उनकी फसलों को उचित समय पर पानी नहीं मिल पाता है। उनके अथक परिश्रम के बावजूद भी उनको पर्याप्त मात्रा में फसल प्राप्त नहीं हो पाती है। जिसका स्पष्ट प्रभाव इनकी आजीविका पर पड़ता हुआ दिखाई देता है। उपन्यास में सरगुजा जिले के उराँव आदिवासी समाज के लोगों की स्थिति बहुत ही दर्दनाक एवं भयंकर बनी हुई है। अकाल से त्रस्त उराँव आदिवासी भूख के कारण अपनी जान से हाथ धो बैठते है। उपन्यास में बूढ़ा व्यक्ति अपने दर्द का बखान करते हुए कहता है कि साहब यहाँ पर भूख शांत न होने के कारण उसके बेटे तथा बच्चों की मृत्यु हो गई थी। लोगों को उचित आहार न मिलने के कारण ये मृत्यु का शिकार हो रहे है तथा दूसरा मृत्यु का मुख्य कारण भूख को शांत करने के लिए कुछ जंगली पेड़–पौधों को आहार के रूप में ग्रहण करना है जिसके कारण उनकी मृत्यु हो जाती है। ले खक के शब्दों में **''इस क्षेत्र के आदिवासी पिछले कई दिनों से जहरीली जंगली बूटियाँ खा रहे हैं और जिले के भीतरी इलाकों में तो कुछ लोग अपनी भूख मिटाने के लिए बिल्लियों और बंदरों का शिकार कर, उनका मांस तक खा रहे है''**[1] उराँव आदिवासी भूख रूपी अकाल से परेशान होकर उसके समाधान के लिए भगवान से प्रार्थना करते हैं कि **''ऐ ईश्वर! परमपिता परमेश्वर! मैं सच्चे दिल से प्रार्थना करता हूँ कि इस साल हमारे गाँव में हाथी फिर से भेजना और हाथियों को आर्शीवचन देना ईश्वर कि वे हमारे झोपड़ें तहस–नहस करने हमारे घर अवश्य आये।''**[2] इस तरह उराँव आदिवासी अपने घरों को तुड़वाकर सरकार से मिले हुए मुआवजे से अपनी भूख को शांत करने की योजना के लिए भगवान से प्रार्थना करते हैं।

भूख व्यक्ति के जीवन की सबसे बडी कमजोरी है। व्यक्ति सबसे पहले अपनी भूख को शांत करने के लिए अपने जीवन में परिश्रम करता है। जिसके लिए वह हर सम्भव प्रयास करता है। उपन्यास में गोयल सेठ के गोदाम चावल से भरे हुए है। कुजुर आदिवासी लड़का अपने मित्र की एवं उसके अन्य साथियों की मदद करने के लिए चावल से भरे हुए गोदामों को लूटते है जहाँ पर कुछ हद तक वे सफलता भी प्राप्त करते है किंतु वापसी के समय में पकड़े जाते है तथा न्यायधीश के सामने पूरी ईमानदारी के साथ अपना जुर्म भी कबूलते है। किंतु यहाँ दुखद बात यह है कि इसके पश्चात् भी उनको चावल का एक दाना तक नसीब नहीं हो पाता है। और इसी भूख के कारण उनका शरीर धीरे–धीरे कंकाल में तब्दील हो जाता है जिसका उनके पास कोई समाधान नजर नहीं आता है।

काला पादरी उपन्यास की सबसे प्रमुख समस्या उनका धार्मिक संकट है। जिससे उनको जीवन में अनेक तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। आज के समय में बहुत ही ज्यादा संख्या में आदिवासी लोगों का धर्म परिवर्तन किया जाता है। जिससे आदिवासी लोग अपने धर्म एवं संस्कृ ति से पृथक हो रहे है उनको एक तरह का जीवन जीने को बाध्य किया जा रहा है। इस धर्म परिवर्तन से धीरे–धीरे उनका अस्तित्व ही समाप्त होता जा रहा है जिससे उनको

जीवन में अनेक तरह की समस्याएँ होती है। आज देश में बढ़ते धर्म परिवर्तन की विचार धारा तथा होड़ की वृत्ति को देखते हुए बहुत से आदिवासियों का धर्म परिवर्तन किया जा रहा है। लेखक के शब्दों में **''एक लाख इसाइयों को पुनः हिन्दू बनाने की जूदैव की घोषणा''**

''उराँव आदिवासियों के धर्मांतरण के आरोपी पादरी को छह माह की कैद तथा जुर्माना।''[3]

उपन्यास में बढ़ते धर्म परिवर्तन के कारण न्यायिक अधिकारी द्वारा पादरी तथा सिस्टर को सजा सुनाई जाती है। आज आदिवासी समाज के हितों का दिखावा कर उनको इसाई बनाने की कोशिश की जा रही है ताकि ये लोग अपने धर्म को बढ़ावा दे सके। किंतु उनकी इस धर्म को बढ़ावा देने की कोशिश में एक भोला–भाला आदिवासी पिसता है। जेम्स खाखा जिसके दादाओं ने भूख को शांत करने के लिए धर्म परिवर्तन किया था। यही जेम्स खाखा अपनी प्रकृति (संस्कृति) से पृथक होकर इसाईयों के यथार्थ पर प्रकाश डालते हुए कहता है **''क्या यह सच नहीं कि हमारी इमेजेज़ में पहाड़ थे, नदियां थीं, पेड़ थे, चीते थे और राजा ने हमें बंधुआ बना दिया, फिज़िकली और इक्नॉमिकली एक्सप्लायट किया, ले. किन आपने क्या किया? यू रादर टेम्ड अस, आपने हमें पालतू बना दिया हमारे लिये हिंदू फंडामेडलिस्टों और आपमें अब कोई खास फ़र्क नहीं है। हमारी सारी इमेजेज़ छिन लीं आप लोगों ने.....''**[4]

इस तरह से भोले–भाले उराँव आदिवासी लोगों को लालच देकर उनकी सम्पति, उनकी पहचान ही उनसे छीन ली जाती है तथा इनकी संस्कृति, पेड, पौधे, पशु–पक्षी, नदियां तथा जंगलों को नष्ट करके अपने धर्म का विस्तार करने के लिए प्रभु यीशु की स्थापना की जाती है। वर्तमान समय में इसाई लोग अपने धर्म विस्तार के लिए उन्हीं आदिवासी लोगों की मदद करेंगें जो इनके धर्म को अपनाएगा। इसके विपरीत जो इनके धर्म को नहीं अपनाएगा ये उनकी मदद कभी नहीं करेंगे। जहाँ एक तरफ लोगों को रोटी या खाने का लालच देकर उनको उनके ही धर्म से विमुख कराकर धर्मान्तरण किया जा रहा है तो दूसरी तरफ हमारे देश की सरकारें अपने वोट के लिए लोगों को भोजन उपलब्ध करा रही है। यह उपन्यास राजनीतिक नेताओं के यथार्थ से पर्दा हटाते है कि कैसे ये सरकारें अपने वोट को प्राप्त करने के लिए हिन्दू–इसाई को आपस में टकरा रही है। **''मुझे ठीक से पता नहीं, पर वे चाहते हैं कि हम चर्च से उनकी पार्टी का खुला प्रचार करें, बिशपस्वामी अप. ने अनुनायियों से यह कहें कि पैलेस का समर्थन करो वरना या तो भूखे मर जाओगे सूखे में या इस तरह मार दिये जाओगे। हिन्दू फंडामेडेलिस्ट तुम्हें मारेगा और हम तमाशा देखते रहेंगें। अगर हमारी मदद चाहते हो तो अपने लोगों से साफ़–साफ़ कहो कि हमें वोट दें और सुरक्षित रहें।''**[5] दिन प्रतिदिन की बढती समस्याओं से आदिवासी समाज के लोगों का जीवन अंधकारमय बनता जा रहा है। उपन्यास में लेखक बढ़ते धर्मान्तरण के प्रभाव को स्पष्ट करते है कि कैसे अपने धर्म के विस्तार के लिए ये लोग उनके पैरों में गुलामी की जंजीरे बाँधते है। भोजन के लिए धर्म परिवर्तन पर जेम्स इस पूरी व्यवस्था का विरोध करता है जो इनको गुलामी की जजीरों में जकड़ती है। जेम्स के शब्दो में **''माँ कहती है कि चूँकि चर्च ने तुम्हारे पिता और दादा को रोटी दी थी, काम दिया था और राजा की बेगार से मुक्ति दिलवायी थी, इसलिए तुम्हें अपना पूरा जीवन चर्च की सेवा में बिताना है क्या यह एक तरह का बंधुआ विचार नहीं है।''**[6] यहाँ जेम्स आधुनिक समाज का प्रतिनिधित्व करता हुआ धर्म परिवर्तन के नाम पर गुलामी का मुलामी का विरोध करता है।

आदिवासी लोग जंगलों में रहकर ही अपने जीवन की न्यूनतम से न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करते है किंतु वर्तमान समय में आदिवासियों को अपनी आजीविका के लिए अथक परिश्रम करना पड़ता है। जिसके पश्चात् उनको खाना नसीब नहीं होता। उपन्यास में अपनी भूख को शांत करने के लिए बच्चे पहले चलती रेलगाड़ी से माल को नीचे गिराते है फिर स्वयं नीचे कूदकर नीचे गिर हुए माल को इकट्ठा करते है जिससे ये कुछ समय के लिए अपनी भूख को शांत कर लेते है। इसी आर्थिक तंगी के कारण ये लोग चाय में दूध का प्रयोग नहीं करते। बल्कि काली चाय का प्रयोग कर चाय की तृप्ति करते है। जो कि इनकी गरीबी का बोध कराती है। **''गाढे काले रंग की चाय। चाय में दूध नहीं था सिर्फ, शक्कर थी, चाशनी की तरह और तोता छाप पाउडर वाली काली चाय।''**[7]

उराँव आदिवासी समाज की वर्तमान स्थिति का कारण जहाँ धर्मान्तरण है वही समाज में व्याप्त अंधविश्वास एवं अशिक्षा के कारण भी इनको अनेक समस्याओं का सामना करना

पड़ता है। निरक्षरता एवं अज्ञानता के कारण ये जमींदार या बड़े बैंक अधिकारी आदिवासी लोगों को मूर्ख बनाते है। और ऋण के नाम पर उनसे अधिक रकम ऐंठते है। उपन्यास में लेखक महेशपुर गाँव का वर्णन करते हुए वहाँ के यथार्थ से पर्दा हटाते है। जहाँ पर एक किसान अपने खेत में कुआँ खुदवाने के लिए बैंक से कुछ पैसे उधार लेता है। उसकी अज्ञानता के कारण पूरा फार्म ग्राम सेवक के द्वारा भर दिया जाता है जिस पर वह केवल अगूंठा लगाता है। किंतु यहाँ व्यापारी लोग बड़ी ही चालाकी तथा धूर्तता से एक किसान से मोटी रकम ऐंठ लेते हैं। **''ईंट के भट्ठे वाले से लेन–देन का हिसाब तय करने के बाद व्यापारी सत्रह हजार चार सौ आठ रुपये की जगह चौबीस हजार आठ सौ नब्बे रुपये का बिल तैयार करता है। और सात हजार चार सौ बयासी रुपये का बंटवारा हो जाता है।''**[8] इस तरह से अज्ञानता एवं निरक्षरता के कारण एक गरीब किसान को लूट लिया जाता है। यही निरक्षरता एवं अज्ञानता आदिवासी समाज के पतन का कारण बनती है। इससे निर क्षरता के कारण वर्तमान समय में आदिवासी समाज में अंधविश्वास जैसी अनेकानेक समस्याएँ बढती है। उपन्यास में लेखक इन्हीं समस्याओं पर प्रकाश डालते है। उराँव आदिवासी में ओझा जो कि झाड़ फूंक का कार्य करता है को बैगा कहते है। यहाँ के निरक्षर एवं अज्ञानी लोगों का मानना है कि बैगा के पास इनकी सभी समस्याओं का समाधान होता है। भूख से पीड़ित व्यक्ति को जब ये बैगा के पास लेकर जाते है। तो वह बैगा भूख से पीड़ित व्यक्ति के लटके हुए शरीर को देखकर उसमे प्रेतात्मा का वास बताकर उसको झाड़ू से पीटकर निकालने के लिए कहता है **''बैगा के हाथ में झाड़ू है। उसने लालरंग की लूंगी पहन रखी है। वह नंगे पांव है। उसकी दाढ़ी बढ़ी हुई है। उसने अपने माथे पर राख मल रखी है। उसके कंधों पर मोर पंख लटक रहे हैं। वह चीख रहा है। उसकी चीख की भाषा समझ के बाहर है। वह बार–बार नीचे लिटाये गये आदमी के इर्द–गिर्द चक्कर काटता है और चीखता है। शायद वह यह कहना चाह रहा है कि इस आदमी के शरीर में कोई प्रेतात्मा है, जिसे वह अपने मंत्रों के प्रभाव से बाहर निकाल देगा और वह व्यक्ति उसके प्रभाव से पूरी तरह मुक्त हो जाएगा।''**[9] इस तरह से उराँव आदिवासी समाज के लोग अपनी अज्ञानता के कारण एक भूख से पीड़ित व्यक्ति को अन्न न देकर बैगा के द्वारा झाड़ू से पिटवाकर मार देते है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि काला पादरी उपन्यास में लेखक अंधकार में डूबे हुए उराँव आदिवासी समाज के लोगों के एक दर्दनाक यथार्थ से पर्दा हटाते है जिसका मूल कारण निरक्षरता, अज्ञानता एवं इनकी आर्थिक तंगी है। जिसका समाधान धर्म परिवर्तन नहीं है। क्योंकि धर्म परिवर्तन के पश्चात् इनको अपने धर्म से तथा संस्कृति से पूर्णतः विमुख होना पड़ता है। जो इनके लिए असम्भव है। क्योंकि इसी प्रकृति से इनका अस्तित्व जुड़ा हुआ है। और अपने अस्तित्व से विमुख होना इन्हें स्वीकार नहीं है। जिसके कारण इनको जीवन में अनेकानेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. तेजिन्दर : काला पादरी, साहित्य भण्डार, चाहचन्द (जीरो रोड), इलाहाबाद–211003, प्रथम संस्करण : 2016, पृ.सं. 29
2. वही, पृ.सं. 62
3. वही, पृ.सं. 46
4. वही, पृ.सं. 57
5. वही, पृ.सं. 103
6. वही, पृ.सं. 59
7. वही, पृ.सं. 72
8. वही, पृ.सं. 20
9. वही, पृ.सं. 85–86

*****

Applications Of Inorganic Nanoparticles In Drug Delivery Systems: A Comprehensive Study

-Pooja S Pawar,
M.Sc Inorganic Chemistry,
Karnataka University, Dharwad

ABSTRACT:

Drug delivery systems have emerged as a pivotal facet of contemporary medicine, revolutionizing the way therapeutic agents are administered to patients. These systems, employing a diverse array of technologies and materials, serve as indispensable conduits for precision medicine and personalized healthcare. Their development and utilization have, over the years, ameliorated the therapeutic efficacy of pharmaceutical agents while concurrently minimizing adverse effects. A cornerstone of this innovation is the deployment of inorganic nanoparticles in drug delivery systems. In this article, we explore the multifaceted landscape of inorganic nanoparticles, elucidating their fundamental properties, classification, and the profound impact they have had on the realm of drug delivery. The study is descriptive in nature and draws mainly on secondary data viz., scholarly reviews, research articles and publications.

Key Words: Drug Delivery Systems, Inorganic, Nanoparticles, Therapy. INTRODUCTION:

Drug delivery systems are intricately designed platforms for the targeted, controlled, and sustained delivery of therapeutic agents to specific anatomical sites within the body. These systems transcend the conventional practice of oral or intravenous drug administration, which often results in non-specific distribution, suboptimal therapeutic outcomes, and an increased risk of toxicity. In stark contrast, drug delivery systems offer precise control over drug release kinetics, enable selective targeting of pathological sites, and foster improved patient compliance, ultimately enhancing treatment outcomes. **(Gallardo-Toledo, 2016).** They encapsulate the quintessence of modern medical research and pharmaceutical innovation, signifying a transition from generic drug administration to a tailored, patient-centric approach. **(Asad et al., 2016).**

The significance of drug delivery systems becomes increasingly apparent in the context of personalized medicine, wherein the genetic and physiological diversity among individuals necessitates a customized treatment regimen. These systems are pivotal in ensuring that the right therapeutic agent reaches the right target in the right quantity, with the right timing **(Tonga et al., 2014).** Moreover, they have been instrumental in enhancing the therapeutic index of drugs, expanding the scope of therapeutic applications, and unlocking the potential for combination therapies, which are often unfeasible through conventional drug administration. **(Paul & Sharma, 2016)**

Inorganic nanoparticles, characterized by their nanometer-scale dimensions and diverse compositions, represent a pioneering class of materials in the domain of drug delivery systems. These nanoparticles are engineered from a spectrum of inorganic materials, including metals, metal oxides, and non-metallic compounds, conferring versatility and adaptability to a multitude of applications. Their diminutive size, exceptional surface area-to-volume ratio, and tunable physicochemical properties render them exquisitely suited for drug delivery purposes. **(Yihan et al., 2016).** Within the expansive purview of inorganic nanoparticles, two broad categories stand out: metallic nanoparticles and non-metallic nanoparticles.

Inorganic nanoparticles, irrespective of their specific composition, share a set of common attributes that render them indispensable in drug delivery systems. These nanoparticles, by virtue of their minute size, exhibit enhanced permeability and retention at pathological sites, enabling selective accumulation in tissues with compromised vasculature. Furthermore, their surfaces are amenable to functionalization with targeting ligands, enhancing their affinity for specific cellular receptors or tissue types. Their ability to encapsulate, adsorb, or chemically bond with drugs imparts control over release kinetics, thereby minimizing systemic toxicity and maximizing therapeutic efficacy. **(Tonga et al., 2014).**

The amalgamation of drug delivery systems and inorganic nanoparticles embodies a pivotal nexus in modern medicine, promising precise and efficient therapeutic interventions. The forthcoming sections of this article will delve deeper into the synthesis and functionalization of inorganic nanoparticles, their role in controlled drug release, and their applications in the fields of cancer therapy, imaging, and diagnostics. This exploration is poised to underscore the transformative potential of inorganic nanoparticles as vehicles for drug delivery, offering tailored solutions to the intricate challenges of contemporary healthcare. **(Ghosn et al., 2016)**

OBJECTIVE OF THE STUDY:

- To explore the use of inorganic nanoparticles in drug delivery, with a focus on their applications and potential to enhance drug delivery systems.

CONTROLLED DRUG RELEASE WITH INORGANIC NANOPARTICLES

Inorganic nanoparticles have revolutionized drug delivery by enabling controlled and sustained drug release, a crucial aspect of optimizing therapeutic outcomes. They achieve this through various mechanisms, offering precise control over the kinetics of drug release.

Diffusion-Controlled Release: Drug molecules are encapsulated within or adsorbed onto the nanoparticle's surface. Over time, the drug molecules diffuse through the nanoparticle matrix, gradually releasing into the surrounding environment. The rate of release is determined by factors such as nanoparticle size, porosity, and the nature of the drug-nanoparticle interactions.

Degradation-Controlled Release: Some inorganic nanoparticles, such as biodegradable polymers or mesoporous silica, degrade over time. As the nanoparticles degrade, they release the encapsulated drug. This approach offers the advantage of zero-order release kinetics.

Stimulus-Responsive Release: Inorganic nanoparticles can be engineered to respond to specific environmental stimuli, such as changes in pH, temperature, or the presence of enzymes. For instance, pH-sensitive nanoparticles release their cargo when exposed to the acidic environment of tumor tissues, a common feature of cancer. Temperature-sensitive nanoparticles release the drug upon reaching a particular body temperature.

These controlled release mechanisms enable inorganic nanoparticles to deliver drugs precisely to the target site, sustaining therapeutic drug levels while minimizing systemic toxicity and side effects. Such tailored drug release is instrumental in cancer therapy, chronic disease management, and various other medical applications, elevating the potential for improved patient outcomes and enhanced quality of life.

TARGETED DRUG DELIVERY WITH INORGANIC NANOPARTICLES

Inorganic nanoparticles serve as versatile vehicles for targeted drug delivery, allowing therapeutic agents to reach specific tissues, cells, or disease sites with precision. This targeted approach minimizes off- target effects and enhances the therapeutic efficiency of drugs. Key to this process is the functionalization of nanoparticles with ligands that enable receptor-specific targeting.

Engineering Inorganic Nanoparticles for Targeted Drug Delivery:

1. **Size and Surface Properties:** Inorganic nanoparticles, by virtue of their small size, can exploit the enhanced permeability and retention (EPR) effect, which is prominent in tumors. This effect allows nanoparticles to passively accumulate in areas with compromised vasculature, such as cancerous tissues, increasing drug delivery to the target site.
2. **Active Targeting Ligands:** Ligand functionalization involves attaching specific molecules, often antibodies, peptides, or small molecules, to the surface of nanoparticles. These ligands recognize and bind to receptors overexpressed on the surface of target cells. The interaction between the ligand and receptor facilitates nanoparticle uptake by the target cells through receptor-mediated endocytosis.
3. **Enhanced Selectivity:** Ligand functionalization enhances the selectivity of drug delivery. By choosing ligands that are highly specific to the target, it reduces drug exposure to healthy tissues and minimizes side effects.

Importance of Ligand Functionalization for Receptor-Specific Targeting:

1. **Precise Drug Delivery:** Ligand functionalization is instrumental in achieving precise drug delivery. It ensures that drugs are delivered exclusively to the intended cells or tissues, sparing healthy ones.
2. **Maximized Therapeutic Efficacy:** By concentrating drug delivery at the target site, receptor-specific targeting maximizes the therapeutic efficacy of the drug. It allows for lower drug doses while maintaining or even enhancing therapeutic effects.
3. **Reduced Systemic Toxicity:** Receptor-specific targeting minimizes drug exposure to non-targeted areas, thus reducing systemic toxicity and the risk of adverse reactions.
4. **Therapeutic Combination:** The ability to attach multiple types of ligands on the same nanoparticle facilitates combination therapy. In this approach, different ligands can target multiple receptors or cell types simultaneously, enabling a multifaceted attack on a disease.

APPLICATIONS OF INORGANIC NANOPARTICLES IN CANCER THERAPY

Inorganic nanoparticles have emerged as a promising tool in the realm of cancer therapy, offering targeted drug delivery for chemotherapy drugs. **(Muthukrishnan et al., 2016).** This precision-focused approach minimizes systemic toxicity and enhances treatment efficacy. Inorganic nanoparticles are employed in the targeted delivery of chemotherapy drugs for cancer treatment and these strategies hold significant potential. **(Yihan et al., 2016)**

Targeted Chemotherapy with Inorganic Nanoparticles:

1. **Doxorubicin-Loaded Nanoparticles**: Doxorubicin is a widely used chemotherapy drug with potent anticancer properties. However, it is notorious for its toxic effects on healthy tissues when administered systemically. By encapsulating doxorubicin within inorganic nanoparticles, such as liposomes or silica nanoparticles, it is possible to achieve controlled release and enhanced drug accumulation in tumor tissues. This reduces the exposure of healthy tissues to the drug, minimizing side effects.
2. **Paclitaxel-Loaded Nanoparticles**: Paclitaxel is another chemotherapy drug that benefits from nanoparticle-based delivery. Nanoparticles, often modified with targeting ligands, can carry and release paclitaxel specifically within cancer cells, increasing its efficacy while reducing systemic toxicity.
3. **Combination Therapy**: Inorganic nanoparticles enable the delivery of multiple chemotherapy drugs simultaneously. For instance, a nanoparticle system may carry both paclitaxel and a

platinum-based drug, allowing for synergistic effects and improved therapeutic outcomes.

Reducing Systemic Toxicity and Enhancing Treatment Efficacy:

1. Minimized Side Effects: Targeted drug delivery with inorganic nanoparticles reduces chemotherapy- related side effects, sparing healthy tissues.
2. Enhanced Drug Accumulation: Inorganic nanoparticles leverage the EPR effect to accumulate in tumors, increasing drug concentrations.
3. Controlled Drug Release: Inorganic nanoparticles provide sustained drug release at the tumor site, improving treatment outcomes.
4. Targeted Cell Uptake: Functionalized nanoparticles actively target cancer cells, enhancing drug delivery.
5. Overcoming Drug Resistance: Inorganic nanoparticles help overcome drug resistance by delivering drugs directly to resistant cells.
6. Reduced Drug Dosage: Targeted delivery allows lower drug dosages, reducing side effects and improving patient tolerance.

BIOCOMPATIBILITY AND TOXICITY OF INORGANIC NANOPARTICLES

Inorganic nanoparticles, while holding immense promise in drug delivery and medical applications, raise important considerations regarding biocompatibility and potential toxicity. Biocompatibility is a critical aspect as it determines the nanoparticles' suitability for interacting with biological systems. Simultaneously, toxicity concerns must be addressed to ensure the safety of these innovative technologies.

Biocompatibility: Inorganic nanoparticles exhibit varying degrees of biocompatibility, contingent upon their composition and surface properties. Many metallic nanoparticles, like gold and silver, are generally well-tolerated by the body, often exhibiting minimal cytotoxicity. Non-metallic nanoparticles, such as silica or liposomes, are recognized for their biocompatibility, making them suitable for drug delivery applications. The biocompatibility of inorganic nanoparticles is attributed to surface modifications, such as the attachment of biocompatible polymers like polyethylene glycol (PEG).

The potential toxicity of inorganic nanoparticles primarily revolves around their size, composition, and dose. Small nanoparticles can penetrate cellular membranes, potentially leading to cytotoxic effects. The composition of nanoparticles also plays a role, with certain heavy metal nanoparticles posing greater toxicity risks. Additionally, a high nanoparticle dose can overwhelm the body's defense mechanisms, leading to adverse effects.

Several strategies are employed to mitigate the toxicity of inorganic nanoparticles. Surface modification with biocompatible coatings like PEG or chitosan can enhance nanoparticle stability and reduce adverse biological interactions. Additionally, controlling nanoparticle size and shape can minimize toxicity, as larger nanoparticles are less likely to enter cells. Rigorous dose optimization and comprehensive toxicity studies are also crucial in ensuring the safe use of inorganic nanoparticles in medical applications.

APPLICATIONS IN IMAGING AND DIAGNOSIS:

Medical imaging has revolutionized healthcare by enabling the non-invasive visualization of internal structures, aiding in disease diagnosis, monitoring, and treatment. In this context, inorganic nanoparticles have emerged as versatile and highly effective contrast agents for various imaging modalities, including Magnetic Resonance Imaging (MRI), Computed Tomography (CT), and ultrasound. Their unique properties and customizability have paved the way for enhanced early disease detection and monitoring.

Magnetic Resonance Imaging (MRI):

In MRI, inorganic nanoparticles are used as contrast agents to improve the visualization of tissues and organs. They work by influencing the magnetic properties of the local environment, resulting in

stronger or weaker signals in the MRI images. Key aspects of their role in MRI include:

1. **T1 and T2 Contrast Agents:** Inorganic nanoparticles can be designed to provide either positive (T1) or negative (T2) contrast in MRI. T1 agents enhance signals in the target area, while T2 agents decrease signals, allowing for the differentiation of various tissues.
2. **Enhanced Resolution:** Nanoparticles can accumulate in specific regions, enhancing the contrast and resolution of MRI images. This is particularly valuable in detecting small lesions or early-stage diseases.
3. **Functionalization:** The surface of nanoparticles can be functionalized to enable specific targeting of diseased tissues. Ligands can be attached to nanoparticles to facilitate their binding to specific receptors on cancer cells or other pathological sites.

Computed Tomography (CT):

In CT imaging, inorganic nanoparticles enhance contrast by selectively absorbing X-rays, resulting in differential attenuation and improved visualization. Key roles of inorganic nanoparticles in CT imaging include:

1. **Higher Contrast:** Nanoparticles with high atomic numbers, such as gold or bismuth, are particularly effective CT contrast agents. Their strong X-ray attenuation allows for better discrimination of tissues and lesions.
2. **Targeted Imaging:** Functionalized nanoparticles can be directed to specific sites, enabling the visualization of tumors or areas of interest with greater clarity.
3. **Disease Characterization:** Inorganic nanoparticles help distinguish between normal and abnormal tissues, making it easier to characterize diseases and monitor treatment responses.

Ultrasound Imaging:

Ultrasound, a widely used imaging modality, benefits from inorganic nanoparticles that act as contrast agents. Key aspects of their role in ultrasound imaging include:

1. **Enhanced Echo Signals:** Nanoparticles introduced into the bloodstream enhance the reflectivity of ultrasound signals, making it easier to detect vascular abnormalities or tumors.
2. **Disease Localization:** Functionalized nanoparticles can accumulate specifically in target tissues, aiding in the localization and characterization of diseases.
3. **Real-Time Imaging:** Inorganic nanoparticles facilitate real-time ultrasound imaging, enabling dynamic monitoring of physiological processes and the progression of diseases.

Early Disease Detection and Monitoring:

The utilization of inorganic nanoparticles as imaging contrast agents is instrumental in early disease detection and monitoring. Their ability to enhance image quality and provide specific localization of pathological sites allows for the identification of diseases in their nascent stages. This is critical for timely intervention and improved treatment outcomes, particularly in cancer, where early detection often leads to more effective therapies.

Furthermore, inorganic nanoparticles support the monitoring of disease progression and treatment efficacy. By tracking the accumulation and distribution of nanoparticles over time, clinicians can assess the response to therapy, adjust treatment regimens, and evaluate the impact on the disease. This dynamic aspect of inorganic nanoparticle-based imaging is pivotal in the realm of personalized medicine, where treatments are tailored to individual patient needs and disease characteristics.

DIVERSE APPLICATIONS IN DRUG DELIVERY:

Inorganic nanoparticles, renowned for their remarkable properties and versatility, have found a multitude of applications in the realm of drug delivery. Beyond the well-discussed roles of enhancing targeted drug delivery and serving as contrast agents in medical imaging, inorganic nanoparticles are continually reshaping the landscape of pharmaceutical and biomedical sciences. Here, we delve into a spectrum of applications in which these nanoscale

wonders are making a significant impact in the field of drug delivery.

1. **Gene Delivery:** In the pursuit of gene therapy, inorganic nanoparticles emerge as valuable allies. Gold and silica nanoparticles, for instance, are adept at encapsulating and protecting genetic material. This encapsulation shields fragile DNA or RNA payloads and facilitates their efficient delivery to target cells. In the realm of genetic medicine, inorganic nanoparticles pave the way for potential breakthroughs in treating genetic disorders and developing innovative therapies.
2. **Vaccine Adjuvants:** Vaccines play a pivotal role in disease prevention, and inorganic nanoparticles have an underappreciated role as vaccine adjuvants. Aluminum-based adjuvants are integrated into vaccines to enhance the immune response. By improving the delivery of antigens and stimulating amore robust immune reaction, these nanoparticles contribute to the effectiveness of vaccines, especially in the context of emerging infectious diseases and pandemics.
3. **Antimicrobial Delivery:** The global challenge of antimicrobial resistance calls for innovative solutions. Inorganic nanoparticles, particularly silver nanoparticles, offer a means to deliver antimicrobial agents with precision. These nanoparticles can tackle drug-resistant infections, rejuvenate the effectiveness of antibiotics, and hold potential for revolutionizing infection control in healthcare.
4. **Inflammatory Disease Therapy:** Inflammation is at the core of various diseases, from arthritis to autoimmune conditions. Inorganic nanoparticles have a pivotal role in the targeted delivery of anti- inflammatory drugs to sites of inflammation. By precisely directing therapeutic agents to the affected regions, these nanoparticles offer hope for improved treatments and a better quality of life for those grappling with inflammatory diseases.
5. **Neurological Drug Delivery:** The challenges of delivering drugs to the brain have long perplexed medical science. Inorganic nanoparticles come to the rescue by serving as carriers that can cross the blood-brain barrier. This groundbreaking achievement holds the promise of improved treatments for neurological disorders and opens doors to innovative therapies that were once considered elusive.
6. **Ocular Drug Delivery:** In the field of ophthalmology, inorganic nanoparticles enhance the controlled release of drugs to the eyes. This translates to improved drug retention and fewer administrations. Ocular diseases stand to benefit immensely, as nanoparticles transform drug delivery and therapy, promising a clearer and healthier vision for patients.
7. **Oral Drug Delivery:** In the quest to improve the bioavailability of oral medications, inorganic nanoparticles play a pivotal role. They are instrumental in enhancing the oral delivery of drugs, particularly poorly soluble compounds. By doing so, they enhance the effectiveness of treatments, underlining their potential in a wide spectrum of pharmaceuticals.
8. **Respiratory Drug Delivery:** In the realm of respiratory medicine, inorganic nanoparticles are deployed to deliver drugs to the lungs. This targeted approach ensures that drugs reach their intended destination, promising advanced treatments for respiratory conditions, including asthma and lung cancer.
9. **Metabolic Disorder Treatment:** The management of metabolic disorders, such as diabetes and obesity, can be a complex undertaking. Inorganic nanoparticles come into play by improving the stability and targeted release of drugs used in the treatment of these disorders. They offer the prospect of more effective and personalized management of metabolic conditions.

Inorganic nanoparticles are not confined to a singular role in drug delivery but rather are versatile agents with a spectrum of applications that continue to expand. They are catalysts for innovation, propelling advancements in gene therapy, vaccination, antimicrobial therapy, inflammatory disease management,neurological treatments, ocular

health, and much more. Their versatility, combined with their unique properties and customization capabilities, ensures their enduring role in shaping the future of drug delivery, and ultimately, the future of medicine itself.

FUTURE TRENDS & CHALLENGES:

In early disease detection and monitoring, inorganic nanoparticles enable more precise identification and characterization of pathological features, enhancing the potential for early intervention and improved patient outcomes. These nanoparticles hold great promise in the advancement of diagnostic imaging and personalized healthcare.

Emerging trends in inorganic nanoparticle-based drug delivery systems herald a future characterized by increasingly personalized medicine. As our understanding of genomics and disease mechanisms deepens, nanoparticles offer the potential to tailor therapies at the molecular level, optimizing treatment for individual patients. Additionally, combination therapies involving multiple drugs within a single nanoparticle system are on the rise, offering synergistic effects and improved therapeutic outcomes.

However, these advancements come with challenges. Regulatory and safety considerations remain paramount. Rigorous evaluation of the long-term effects of inorganic nanoparticles, their potential accumulation in the body, and their interactions with biological systems are necessary. Standardization of manufacturing processes and comprehensive toxicity assessments will be essential for gaining regulatory approvals. Furthermore, issues surrounding the cost-effectiveness of nanoparticle-based therapies must be addressed to ensure broad accessibility. Balancing innovation with safety and accessibility will be crucial as inorganic nanoparticles continue to reshape the landscape of drug delivery systems.

CONCLUSION:

The integration of inorganic nanoparticles into drug delivery systems represents a revolutionary breakthrough in modern medicine. These nanoparticles have the potential to transform the way we administer therapeutic agents, bringing about precision and personalization in healthcare. Their diverse synthesis methods, encompassing both chemical and physical approaches, offer a versatile toolkit for tailoring nanoparticles to specific applications. Moreover, inorganic nanoparticles enhance drug stability, ensuring that medications remain effective and viable over extended periods. They also provide precise control over drug release kinetics, allowing for sustained drug availability while minimizing the risk of systemic toxicity.

One of the most significant advantages of inorganic nanoparticles is their ability to enable targeted drug delivery. Functionalization with specific ligands empowers them to home in on particular tissues, cells, or disease sites. This approach concentrates drug delivery where it is most needed, ensuring higher drug concentrations at the intended site and reducing off-target effects. It also reduces side effects, enhancing the overall quality of life for patients undergoing treatment. Furthermore, inorganic nanoparticles facilitate combination therapies, offering a multifaceted approach to complex diseases. Particularly noteworthy is their potential in cancer therapy. Inorganic nanoparticles can be instrumental in the targeted delivery of chemotherapy drugs, minimizing systemic toxicity and enhancing treatment efficacy. This approach holds promise for overcoming drug resistance, a significant challenge in cancer treatment.

In sum, inorganic nanoparticles have the potential to redefine the landscape of drug delivery systems, making treatments safer, more effective, and tailored to individual patients. As research in this field continues to progress and uncover new applications, these nanoparticles are poised to play a central role in the ongoing pursuit of more precise and potent medical interventions. They represent a beacon of hope, illuminating the path to a future where medicine is as individualized as it is powerful.

REFERENCES:

- Asad, S., Jacobsen, A-C., Teleki, A. (2016). Inorganic nanoparticles for oral drug delivery: opportunities, barriers, and future perspectives. Current Opinion in Chemical Engineering, 38, 100869. https://doi.org/10.1016/ j.coche.2016.100869.
- Escudero, A., Carrillo-Carrión, C., Romero-Ben, E., Franco, A., Rosales-Barrios, C., Castillejos, M. C., & Khiar, N. (2016). Molecular Bottom-Up Approaches for the Synthesis of Inorganic and Hybrid Nanostructures. Inorganics, 9(7), 58.
- http://dx.doi.org/10.3390/inorganics9070058.
- Gallardo-Toledo, E., Velasco-Aguirre, C., Kogan, M.J. (2016). Inorganic Nanoparticles and Their Strategies to Enhance Brain Drug Delivery. In: Morales, J.O., Gaillard, P.J. (eds) Nanomedicines for Brain Drug Delivery. Neuromethods, vol 157. Humana, New York, NY. https://doi.org/10.1007/978- 1-0716-0838-8_6.
- Ghosn, Y., Kamareddine, M, H., Tawk, A., Elia, C., El, Mahmoud, A., Terro, K., El, Harake, N., El- Baba, B., Makdessi, J., Farhat, S. (2016). Inorganic Nanoparticles as Drug Delivery Systems and Their Potential Role in the Treatment of Chronic Myelogenous Leukaemia. Technol Cancer Res Treat. 18, 1533033819853241.
- https://doi.org/10.1177/1533033819853241.
- Muthukrishnan, S., Anand, A.V., Palanisamy, K., Gunasangkaran, G., Ravi, A.K., Balasubramanian,
- B. (2016). Novel Organic and Inorganic Nanoparticles as a Targeted Drug Delivery Vehicle in Cancer Treatment. In: Krishnan, A., Ravindran, B., Balasubramanian, B., Swart, H.C., Panchu, S.J., Prasad, R. (eds) Emerging Nanomaterials for Advanced Technologies. Nanotechnology in the Life Sciences. Springer, Cham. https://doi.org/10.1007/978-3-030-80371-1_4
- Paul, W., Sharma, C.P. (2016). Inorganic nanoparticles for targeted drug delivery. Woodhead Publishing Series in Biomaterials. Biointegration of Medical Implant Materials (Second Edition), Woodhead Publishing, 333-373. https:// doi.org/10.1016/B978-0-08-102680-9.00013-5.
- Tonga, G, Y., Moyano, DF., Kim, CS., Rotello, V, M. (2014). Inorganic Nanoparticles for Therapeutic Delivery: Trials, Tribulations and Promise. Curr Opin Colloid Interface Sci. 19(2), 49-55. https://doi.org/10.1016/j.cocis.2014.03.004
- Yihan, Y., Yunxiang, Z., Lihong, L., Yanyan, X., Qiang, C., Yali, W., Shijie, W., Yongchuan, D., Jianmin, Z., Anwen, S. (2016). Nanoparticle-Based Drug Delivery in Cancer Therapy and Its Role in Overcoming Drug Resistance. Frontiers in Molecular Biosciences. 7, 00193. https:// doi.org/10.3389/fmolb.2016.00193.
- Zeb, A., Gul, M., Nguyen, TTL. Maeng, H-J. (2016). Recent progress and drug delivery applications of surface-functionalized inorganic nanoparticles in cancer therapy. Journal of Pharmaceutical Investigation. https://doi.org/10.1007/ s40005-023-00632-z

*****

Tara: A Victim of Gender Discrimination in Mahesh Dattani's Tara

-Dr Shrishialya Tukaram Todkar
Associate professor,
Shri Chhatrapati Shivaji College, Omerga
todkarst@gmail.com
Mob. 9421517152

Mahesh Dattani is counted among the modern literary playwrights who have appropriately dealt with the crucial issues prevalent in modern society. He is an actor and director in his theatre group and has an innate sense of dialogue that is vital, stimulating, lucid and effective. Dealing with compelling issues rooted in his milieu, he dispelled the perception that English theatre was just unnecessary fizz. With the coming of the Sahitya Akademi Award, Dattani is now an officially recognized part of the Indian literary establishment. He has been writing regularly for the stage and in 1993, he took to scriptwriting for cinema, television and radio as well. Drama or theatre directly connects with human life as it represents human life on the stage with its all facets and dimensions as well as colour and complexities.

The issues of homosexuality, the communal problem in India, sexual abuse of children and gender equality have contemporary resonance. These issues are affecting the contemporary familial and social life in India. Dattani's plays question all kinds of discrimination including religious, sexual, and gender discrimination. They disclose the violence of our private thoughts and the hypocrisy of our public morals. Women have been enslaved and subjugated right from the Vedic age. Besides women, homosexuals and hijras are marginalized in Indian society to whom equal rights have been denied. They want to be accepted as human beings on the equal grounds with the men and women. Few Indian writers writing in English have paid attention to the problems of homosexuals and hijras.

The subordination of women to men is observed in large parts of the world. We come across experiences where women are not only treated as subordinate to men but are also subject to discrimination, humiliation, exploitation, oppression, control and violence. Women experience discrimination and unequal treatment in terms of basic rights to food, health care, education, employment, control over productive resources, decision-making and livelihood not because of their biological differences or sex, which is natural but because of their gender differences which is a social paradigm. Gender based discriminations and exploitations are widespread and the socio-culturally defined characteristics, aptitudes, abilities, desires, personality traits, roles, responsibilities and behavioural patterns of men and women contribute to the inequalities and hierarchies in society. Gender differences are man-made, and they get legitimized in a patriarchal society. It is important to understand the theoretical dimensions of patriarchy with its empirical experiences. The patriarchy manifests itself in various forms of discrimination, inequalities, hierarchies, inferior status and position of women in society. Hence the present paper undertakes the study of Mahesh Dattani's play *Tara* highlighting the gender issues. He is never didactic, and his stand is not of a preacher.

He just wants to sensitize the minds of the audience and make them aware of these issues in the country.

Tara is the most touching three-act stage play by Dattani. It presents a tale of Siamese twins namely Tara and Chandan. The play oscillates between the past and the present events. The play *Tara* provides bitter commentary upon gender discrimination and forces of social apathy towards the injustice done to even a girl baby under the cloak of gender dichotomy. The play is, in a broader sense, a gruesome tale of injustice done to a woman by the patriarchal society. It has made no difference in the minds of the people even though we have made significant developments considering several aspects of life. The girl child in Indian society faces infanticide and if by chance she is born becomes a victim of gender discrimination. Indian society which seeks to occupy high moral ground through its belief in the concept of *vasudhev kutumbkam* does not hesitate to exterminate its daughters by short-term or long-term means. The effect of this type of treatment on girl children was visible in the last census. The number of girls to boys per thousand has alarmingly reduced. India's self-righteous, sanctimonious and ennobling social concepts do not lend security to the girl child.

A patriarchal society is perfectly presented in *Tara* where the important decisions are taken by its male members. In a patriarchal society, a woman's identity is defined by others in terms of her relationship with men. Patel, the representative of the patriarchal authority in the play, clearly differentiates the role of his son from that of his daughter. Certain gendered roles are accepted in society as natural and hardly does anyone bother to go beyond those accepted norms. Thus, it is intolerable for Patel to bear with the scene where Chandan is helping Bharati to sort out her mistake in her knitting.

PATEL. Let Tara do it.

CHANDAN. It's okay

PATEL. Give it to her.

CHANDAN. Why?

PATEL. Chandan, leave that damn thing alone!

PATEL. *(to Bharati).* How dare you do this to him? . .

you can think of turning him into a sissy—

teaching him to knit! (Collected Plays, 351)

The way Patel reacts angrily to Chandan's helping his mother in knitting highlights how certain roles have been confirmed as female roles in society and how the representatives of the patriarchal society strongly oppose any sort of reversed role. Though Tara is no less intelligent than Chandan, Patel thinks only about Chandan's career. When Chandan says that he will not go to college without Tara and that if Tara must lose one year for a kidney transplant, he too will lose one year, Patel is unhappy. He repeatedly says he has some plans for Chandan, but he hardly shows any interest in Tara's future. Bharati's father further strengthened his indulgence for a male grandchild by leaving his property after his demise to Chandan and not a single penny to Tara. He has been a consistent upholder of values about males.

This play also enlightens us that no matter how much a girl outshines, she will remain in the background and can never be given an advantageous position. Being a man's world and the reigns in their hands, it became difficult for a woman to fight out her way. Women should cling to each other and in consolidation fight out the stranglehold of the men. It becomes a source of pity when such characters as Tara's mother worsen the conditions. If she had not shown indul-

gence for the male child and had done justice with her female child, then both children would have happily flourished and established themselves in the world. It is really, shocking to read that Bharati, being an educated mother, showed such shortsightedness. Such incidents do much to hamper the mission of female upliftment in a male-dominating society. Mahesh Dattani has succeeded commendably in stirring up the spirits of the readers to fortify themselves against any such biased measures in life.

In the play, Bharati, a woman, favours the male child during surgery. It proves that in a patriarchal structure, the values biased towards males are deeply internalized even by the female psyche through social conditioning. So, in patriarchy, a woman becomes a tool against another woman in a vicious cycle. Patel reveals a secret about the decision taken before surgery to separate conjoined twins:

> A scan showed that a major part of the blood supply to the third leg was provided by the girl. Your mother asked for a reconfirmation. The result was the same. The chances were better that the leg would survive ...on the girl. Your grandfather and mother had a private meeting with Dr. Thakkar. I wasn't asked to come. That same evening your mother told me of her decision. Everything will be done as planned. Except- I couldn't believe what she told me-that they would risk giving both legs to the boy. Maybe I had protested more strongly! (Collected Plays, 378)

Chandan and Tara were born with three legs between them—two on Tara's side with regular blood flow and one on Chandan's side. The family takes a decision to operate them giving two legs to the boy and one to the girl. The result is disastrous. Tara dies and Chandan is amputated. The play shows how the devil of gender discrimination kills all other bonds of familial relationships and how socio-cultural myths and conventions control and construct the course of human life. Bharati's love for Tara is pure and unceasing but her maternal love is marginalized as a woman that compels her to sacrifice her maternal love to cope with social expectations. The patriarchal code pushes the mother-daughter relationship to the periphery. In this play, Dattani highlights the complex situation in which conjoined twins are trapped by Nature. The manipulation, made by the patriarchal society, creates the situation more complex and intricate. It brings forth a very unhappy and absurd situation for a girl, Tara. It is attributed:

> Dattani establishes that mother and daughter relationship is ultimately subordinated to the directives of patriarchy. It makes obvious that women's lives are organized and manipulated by the patriarchy in all ages, all cultures and all countries by establishing values, roles, gender perception and prescribe unequal means to achieve the 'wholeness' for women. (Agarwal, 89-90)

Tara is not just the story of the protagonist of the play Tara, but it is the story of every girl child born in an Indian family whether urban or rural. The situation is intensified if the girl is physically challenged or there is any other physical or mental deformity in her. It is a bitter example of child abuse present in Indian societies. Every girl child born in an Indian family does suffer some kind of exploitation and if there is a boy child in the family then the exploitation is very much visible as the privileges are consciously or unconsciously provided to the son. Honesty is the hallmark of Dattani's plays. He presented characters drawn from contemporary life and society as they are, but not as they should have been.

While there may be many readings or entry points into *Tara*, one cannot deny that the primary theme that one sees is the way we Indians discriminate between male and female children. We are a country with a long history of female foeticide, and an equally long history of material discrimination against girl children, and women in general.

In *Tara*, giving the example of Tara, Dattani shows discrimination against women. It is here that the mother prefers a son to a daughter and in the process causes the death of the girl.

> BHARATI. It's all right while she is young. It's all very cute and comfortable when she makes witty remarks. But let her grow up. Yes, Chandan. The world will tolerate you. The world will accept you—but not her! Oh! the pain is going to feel when she sees herself at eighteen or twenty. Thirty is unthinkable and what about forty and fifty! Oh God! (Collected Plays, 348-349).

Tara was more enthusiastic and fuller of zest and spark of life. She had high aspirations which she could not accomplish because of her handicapped state. Why was then Tara denied the privilege of the good 'leg'? It would have remained workable if attached to Tara's body. Its severance not only made Tara handicapped but also endangered her life and consequently, she died an early death.

It is not one individual who has killed Tara. It is the sociocultural system that is responsible for her death. The beliefs, attitudes, and prejudices that are deep-rooted in the collective Indian cultural psyche become instrumental in taking Tara's life. Dattani dwells upon the fate of the girl child in a traditional set-up. Roopa, a neighbour, narrates how Gujaratis would drown a baby girl in milk and later give out that the death was because the child choked with milk. This is thus a play about the injustices done in the name of the construction of gender identities—this hierarchisation and demarcation of roles does as much harm to men as to women. Dan carries as much of the unfair burden this imposes as Tara. Both Patel and Bharati are complicit in the working of patriarchal norms.

Mahesh Dattani shows how the women are gasping under the evil clutch of patriarchy and gender bias. In a male-dominated world, preference is always given to males when the question of survival comes forward. All the propaganda of equality between males and females and equal opportunities for women in all the fields are belied. Patel and Bharati are educated parents, so the steps taken by them are lamentable. Bharati's father, a rich person interferes in the decision on the 'fateful' leg. Tara is sacrificed because she is a girl and has no right to have a better life than her brother. The idea of a complete girl child and an incomplete male child is so shocking that the sacrifice of the girl child is more acceptable than a handicapped male child.

References:

Dattani, Mahesh, *Collected Plays*, Penguin Books, New Delhi, 2000.

Babu, M. Sarat, *Indian Drama Today*, Prestige Books, New Delhi, 1977.

Barret, Michele, *Women's Oppression Today: problems in Marxist Feminist Analysis*, Verso, Great Britain, 1980.

Bass, Ellen & Davis, Laura, *The Courage to Heal: A Guide for Women Survivors of Child Sexual Abuse*, Collins Living, 1994.

Butler, Judith, *Gender Trouble: Feminism and the Subversion of Identity*, Routledge, New York and London, 1990.

हिंदी उपन्यासों में स्त्री उपन्यासकारों की भाषा का स्वरूप

डॉ. अंकित अभिषेक
असिस्टेंट प्रोफेसर
हिंदी विभाग
राजधानी कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

साहित्य के सभी विधाओं के लिए भाषा का होना आवश्यक है, फिर भी उपन्यास के लिए यह सबसे अधिक आवश्यक है। काव्य के लिए भाषा के अतिरिक्त छंद, लय और संगीत चाहिए। इसी प्रकार नाटक के लिए भाषा के अलावा मंच और पात्र तथा अन्य नाटक सामग्री का होना आवश्यक है। परंतु उपन्यास के लिए केवल सबसे महत्वपूर्ण घटक उसका भाषा का होना है। भाषा के अतिरिक्त उसे और किसी बाहरी उपकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती है। इस कारण कहा जा सकता है कि उपन्यास भाषा कला है यानी उपन्यास भाषा की संपूर्ण कलाओं का समुच्चय है। भाषा की जितनी भी विजेता एक उपन्यास में पाई जाती है उस ग्रुप में साहित्य के किसी अन्य विधा में पाना मुश्किल है। उपन्यास चुकी समाज के सभी वर्गों का सक्षमता के साथ उद्घाटन करता है, इसलिए भाषा के विविधता उपन्यास के लिए अनिवार्य शर्त हो जाती है। समाज के सभी तबके के लोगों के लिए, सभी तबकों के लोगों की भाषा और विभिन्न सामाजिक स्थितियों के लिए विभिन्न समाजों की भाषाओं का समुचित व्यवहार उपन्यास में ही देखने को मिलता है। प्रस्तुत संदर्भ में डॉ. जगदीश नारायण चौबे का मत है कि "उपन्यास के विकास में भाषा का सहयोग सदैव मिलता रहा है। भाषा ने अपनी विविधता के साथ उपन्यास के विकास में सहायता पहुंचाई है। साथ ही यह निष्कर्ष भी निकलता है कि उपन्यास में भी भाषा के विकास में हमेशा मदद की है। उपन्यास के कारण ही आज ग्रामीण और शहरी एवं नए नए शब्द हिंदी को मिल रहे हैं तथा अंग्रेजी और अरबी फारसी शब्द पचते चले जा रहे हैं। उपन्यास की दृष्टि से भाषा के अध्ययन की भी संभावना है और वैसा अध्ययन होना चाहिए।"[1]

किसी भी साहित्य का सौंदर्य उसकी भाषा में है। साहित्य अपनी भाषा के कारण ही अनंत काल तक जीवंत रहता है। जैसे बाल्मीकि, कालिदास, कबीर, तुलसी, प्रसाद, निराला, प्रेमचंद आदि लेखक कभी पुराने नहीं होंगे क्योंकि भाषाएं इन्हें हर युग में जीवंत रखेंगी। इस कारण हम यह कह सकते हैं कि भाषा साहित्य की आत्मा है। किसी भी समाज का युग उसके साहित्य में बोलता है और साहित्य भाषा के माध्यम से बोलता है। साहित्य अगर आत्मा माना जाए तो भाषा को उसका शरीर। किसी भी साहित्य का अध्ययन उस में प्रयुक्त भाषा सामग्री के आधार पर करने से साहित्यकारों को नए आलोक में देखने का अवसर प्राप्त होता है। प्रस्तुत संदर्भ में जगदीश नारायण चौबे के अनुसार "उपन्यास में परिस्थितियों का महत्वपूर्ण स्थान है और इन परिस्थितियों का स्वाभाविक चित्रण भाषा का उत्तरदायित्व है। परिस्थितियां कथा को गति और पात्रों को सजीव ता प्रदान करती है। घटनाओं का ताना-बाना और उपन्यास का चरमोत्कर्ष इन्हीं परिस्थितियों के घात प्रतिघात पर निर्भर है। उपन्यास में कर्मण्य भाषा की शुद्धता ऐसी स्थितियों में उदित होती है। जिन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, एवं धार्मिक परिस्थितियों में लोग जी रहे हैं, उनके सप्रमाण चित्रों में भाषा की कलात्मकता प्रकट होती है।"[2]

किसी भी सभ्यता के किसी भी समाज में स्त्री को हमेशा दोयम दर्जे पर ही रखा गया है। भारत ही नहीं बल्कि विश्व के सभी देशों में स्त्री का स्थान हमेशा हाशिए पर ही रहा। हमारा पितृसत्तात्मक समाज ने स्त्री को उतनी ही अधिकार प्रदान किए जितने में वह पुरुषों के अधीन बने रहें। स्त्री विमर्श ने विचार और रचनात्मक साहित्य दोनों क्षेत्रों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जिनके कारण आधुनिक हिंदी साहित्य कई मायनों में समृद्ध हुआ है। हिंदी उपन्यास साहित्य कृष्णा सोबती, मैत्रेयी पुष्पा, प्रभा खेतान, मन्नू भंडारी, चित्रा मुद्गल, अलका सरावगी, मृणाल पांडे आदि के उपन्यासों के बिना अधूरा सा प्रतीत होता है। इन्होंने अपने उपन्यासों के माध्यम से एक बड़ा पाठक वर्ग तैयार किया है। स्त्री विमर्श से यह स्पष्ट होता है कि स्त्री चेतना का सच्चा व सटीक चित्रण स्त्री लेखन में ही दिखाई देता है। पुरुष सत्तात्मक समाज के अंतर्गत स्त्री की पराधीन स्थिति को समाज के सामने लाने में पुरुष लेखकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। स्त्री विमर्श ने पितृसत्तात्मक समाज की जकड़न को समाज के सामने

लाया है। स्त्री को अपने नियंत्रण में रखने के सारे नियम कानून पुरुषों के द्वारा ही निर्मित किए गए। स्त्री के शोषण का एक संकेत समाज की भाषा के द्वारा भी दर्शाया गया है क्योंकि समाज की भाषा भी पितृसत्ता को प्रतिबिंबित करता है। पितृसत्तात्मक भाषाई संरचना के ढांचे को तोड़ना और नई भाषा को गढ़ना स्त्री विमर्श के सामने सबसे बड़ी चुनौती है। स्त्री को यदि अपनी रचनात्मक और सामाजिक अस्तित्व की पितृसत्ता से बचाव करना है तो पैतृक भाषा को छोड़कर स्वयं अपनी भाषा गढ़नी होगी। उदाहरणस्वरूप दुनिया में जितनी भी गालियां है उसके केंद्र में स्त्री ही होती है। प्रस्तुत संदर्भ में मैनेजर पांडे का कथन है कि "अगर इन गालियों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करें तो यह साफ जाहिर होगा कि दुनिया में जितनी गालियां है वे स्त्रियों के लिए होती है। गालियां दी तो पुरुषों को जाती है पर वे मूलतः स्त्रियों को अपमानित करने के लिए दी जाती है। लोक जीवन में गालियों के माध्यम से स्त्री विरोधी चेतना की मुखर अभिव्यक्ति भी होती है। इस प्रकार सारी गालियां स्त्री विरोधी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करती है।"[3]

हम यह देखते हैं कि स्त्री विमर्श को प्रारंभ में समाज के सामने लाने का काम अवश्य पुरुषों ने किया। वह स्त्री की दुर्दशा से समाज को अवगत तो करवाया लेकिन स्त्री की समस्याओं को सही मायनों में अभिव्यक्त नहीं कर पाया। सही अर्थों में स्त्री की समस्याओं को समाज के सामने प्रस्तुत करने का कार्य महिला लेखिकाओं ने ही किया है। स्त्री लेखन के क्षेत्र में पिछले दशकों में कुछ स्त्री लेखिकाओं का नाम बड़ी शिद्दत के साथ उभरकर सामने आया है जिनमे प्रमुख हैं- मैत्रेयी पुष्पा, चित्रा मुद्गल, अलका सरावगी, प्रभा खेतान, मृदुला गर्ग इत्यादि। इन्होंने कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध आदि के क्षेत्र में अलग पहचान बनाई है। ये लेखिकाएं आंचलिक, ग्रामीण, शहरी, परिवेश की लेखिका के रूप में उभरकर कर पाठकों के सामने प्रस्तुत हुई है। स्त्री के मन में यदि पुरुष सत्ता के खिलाफ भय उत्पन्न होता है तब उनके अंदर का विद्रोही स्वरूप देखने को मिलता है। तत्पश्चात यही स्वरूप उनकी रचनाओं में भी देखने को मिलता है।

मैत्रेयी पुष्पा की रचनाओं पर इनके आसपास के परिवेश धर्म जाति समाज और पारिवारिक संबंधों का प्रभाव दिखाई देता है जिसका उन्होंने यथार्थ चित्रण संवेदनाओं के माध्यम से किया है। इनके रचनाओं की भाषा पर भी इनके परिवेश का प्रभाव परिलक्षित होता है। इन के संदर्भ में डॉ. मुक्ता त्यागी का कथन है कि "अपने जीवन के 20 वर्ष ग्रामीण परिवेश में बिताते हुए मैत्रेयी पुष्पा के मन और रक्त में वहां का वातावरण परिश्रम के जागरण आर्थिक स्थितियां मजदूर दलित ठेकेदारों अभिजात वर्गों की मानसिक स्थिति और उनके कार्य अपना स्थान बना कर प्रभावित हो रहे थे।"[4] इनके उपन्यासों में ग्रामीण परिवेश का यथार्थपूर्ण चित्रण किया गया है। इनके अधिकांश उपन्यासों की पृष्ठभूमि बुंदेलखंड और ब्रज प्रदेश है क्योंकि इनका खुद का संबंध बुंदेलखंड से रहा है। बुंदेलखंड अंचल के चित्रण द्वारा उन्होंने ग्रामीण समाज में फैली अनेक सामाजिक कुरीतियों को अपने रचनाओं के माध्यम से उठाया है। अध्ययन के पश्चात यह पता चलता है कि पुरुष प्रधान समाज के प्रति आक्रोश इनके साहित्य में दिखाई देता है, वह स्त्री स्वतंत्रता के पूर्णत: पक्षधर हैं। इन्होंने जिस इस पुरुष प्रधान समाज में स्त्री के प्रति दोयम दर्जे का यथार्थ को भोगा है या समाज में देखा है उसे ही अपनी रचनाओं में चित्रित किया है। स्वतंत्रता के पश्चात भारत का ग्रामीण परिवेश में किस प्रकार बदलाव परिलक्षित होता है वह इनकी रचनाओं (इदन्नमम, चाक, झूला नट, अल्मा कबूतरी, अगन पाखी इत्यादि) में देखा जा सकता है। इनकी रचनाओं की भाषा में ग्रामीण समाज की राजनीति की झलक दिखाई पड़ती है। हम यह कह सकते हैं कि इनका पूरा साहित्य ग्रामीण समाज से जुड़ा हुआ दिखता है। इनके साहित्य में अधिकांश ग्रामीण जीवन के दुख दर्द से संघर्ष का चित्रण है और यह उनकी रचनाओं का अध्ययन के पश्चात जानने को मिलता है क्योंकि वह गांव की परिस्थितियों, सुख दुख, रीति रिवाज, अनुभवों, अन्याय, गरीबी, भुखमरी, अशिक्षा, ग्रामीण समाज के आर्थिक शोषण, ऊंच-नीच का भेदभाव आदि से पूर्णत: परिचित है। ग्रामीण समाज की अधिकांश स्त्रियां अशिक्षित है और अशिक्षित होने के कारण इनके जीवन पर धर्म व अंधविश्वास का विशेष प्रभाव है कैसा इनकी रचनाओं की भाषा के प्रयोग से समझा जा सकता है। इनके उपन्यास अंचल विशेष के रंग में रंगे होने पर भी आंचलिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता है। इनकी रचनाओं में ग्रामीण समाज का व्यक्ति अकेला नहीं है बल्कि उसके साथ प्रकृति, पारंपरिक संस्कार, लोक देवता, जातीय अस्मिता और पूरी लोक संस्कृति है। मैत्रेयी पुष्पा ने अपने उपन्यासों में विंध्य और ब्रिज अंचल का यथार्थ चित्रण किया है इसके लिए उन्होंने इन अंचलों में प्रचलित बोलियां, ठेठ आंचलिक शब्दों, मुहावरों और लहजों का समुचित प्रयोग किया है। जिसके परिणामस्वरूप इनकी रचनाओं की भाषा खुरदरी एवं ऊबड़खाबड़ सी प्रतीत होती है किंतु यह खुरदरापन ही उनकी भाषा को एक ताजगी भी प्रदान करता है।

स्वतंत्रोत्तर महिला उपन्यास कारों में चित्रा मुद्गल का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। जिन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से आधुनिक जीवन की यांत्रिकता, प्रतियोगिता, बौद्धिकता आदि से उत्पन्न विडंबना,

विवशता, मूल्यहीनता जैसी अनेकों आधुनिक मानवीय संकट का चित्रण किया है। इनकी रचनाओं के अध्ययन से यह पता चलता है कि महानगरीय जीवन की भागदौड़, आपाधापी के तहत संत्रास, भय, अविवेक, अपरिचय, अलगावबोध आदि से जूझते हुए मानव पीड़ा को अभिव्यक्ति मिली है। इन्होंने अपनी रचनाओं (एक जमीन अपनी, आवां, गिलगडू आदि) के माध्यम से स्त्री वर्ग के प्रति पाठकीय संवेदनाओं को उभारने का सशक्त प्रयास किया है। इनकी रचनाओं में महानगरों के शिक्षित मध्यवर्गीय परिवारों का वर्तमान जीवन किस हद तक यांत्रिक, आत्म केंद्रित और अमानवीय हो गया है यह जाना जा सकता है। इन्होंने उपन्यास 'एक जमीन अपनी' में मुंबई के महानगरीय परिवेश में विज्ञापन जगत के ग्लैमर, मूल्यहीनता, प्रतियोगिता, देह व्यापार आदि के बीच प्रस्तुत स्त्री विमर्श का उपन्यास है। प्रस्तुत संदर्भ में डॉ नमिता जयसवाल के अनुसार उपभोक्ता संस्कृति के मकड़जाल में फंसी स्त्री की समस्याएं, स्त्री की बहूविध उत्पीड़न, श्रमिक संघर्ष, श्रमिक राजनीति के अंतर्विरोध, पूंजीपति वर्ग के शोषण, राजनीतिज्ञों के छल-छद्म, जातिवाद, दलित समस्याएं आदि 'आवां' में चित्रित विषय है।[5] कोई भी रचना तब प्रभावी बन पड़ती है जब उसकी भाषा में लोकोक्तियां और मुहावरों का समुचित प्रयोग देखने को मिलता है। चित्रा मुद्गल के उपन्यासों में भी उन्होंने पात्रों के माध्यम से जगह-जगह पर समुचित रूप से लोकोक्ति एवं मुहावरों का प्रयोग किया है। इनकी रचनाओं में पत्रों की मानसिकता एवं प्रसंगों के अनुकूल भाषा का प्रयोग दिखाई देता है। उनके उपन्यासों में शहरी जीवन का भी चित्रण किया गया है, जिसमें पात्रों के अनुकूल अंग्रेजी भाषा का भी समुचित प्रयोग देखने को मिलता है, जिससे उपन्यास की यथार्थपरक प्रमाणिकता और अधिक बढ़ जाती है और पाठक रचना से जुड़ पाते हैं। इनके उपन्यासों में भाषा के विविधता इसलिए है कि इन्होंने अपने उपन्यास के माध्यम से स्त्री जीवन के विविध बहुरंग को पाठकों के सामने प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसकी प्रमाणिकता के लिए उन्होंने नवीन भाषा शब्द प्रयोग, प्रतीकों एवं बिंबों का नवीन प्रयोग भी किया है।

अलका सरावगी के चार उपन्यास (कलि कथा: वाया बाईपास, शेष कादंबरी, कोई बात नहीं एवं एक ब्रेक के बाद) प्रकाशित है। उनके उपन्यासों की भाषा में विविध शब्दों का समुचित प्रयोग देखने को मिलता है जैसे अंग्रेजी, अरबी, फारसी, संस्कृत इत्यादि। इन के उपन्यासों की यह विशेषता है की इनमें पात्रों की प्रसंग अनुकूल भाषा का प्रयोग देखने को मिलता है। इनकी रचनाओं में जगह-जगह पर अंग्रेजी वाक्य तथा शब्दों का पर्याप्त प्रयोग दिखाई पड़ता है। अपनी रचनाओं में ऐसे शब्दों की भरमार की वजह से उनके उपन्यासों की भाषा में सहजता, सफलता, स्वाभाविकता एवं कलात्मकता दिखाई देती है। इनके उपन्यासों का अध्ययन करने से यह भी पता चलता है कि इन पर अरबी और फारसी भाषा का भी प्रभाव है। इनके उपन्यास में प्रयुक्त पात्रों के ऊपर तत्कालीन परिवेश एवं समाज का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। वे पात्र चाहे संस्कृत, अरबी, फारसी, अंग्रेजी किसी के भी हो वह उनके व्यवहार से जुड़े प्रतीत होते हैं। इनके उपन्यासों की रचनात्मक भाषा शैली में कहावतों एवं लोकोक्तियों का भी प्रयोग समुचित दिखाई पड़ता है जिनके प्रयोग ने उनके उपन्यासों की भाषा को सहज ही मार्मिक, सारगर्भित एवं सरल बनाती है।

अलका सरावगी के जीवन अनुभूति, गहन चिंतन एवं सूक्ष्म निरीक्षण के प्रस्तुति के कारण भाषा में सहज स्वाभाविक ता नजर आती है। इनका उपन्यास 'कलिकथा: वाया बाईपास' में लोकगीतों का उचित जगह प्रयोग हुआ है। जिसके कारण कोलकाता के स्थानीय अंचल का बोध होता है। इस उपन्यास में लोकगीत के माध्यम से बारिश की समस्या का भी चित्रण किया गया है और साथ ही पति पत्नी में होने वाले बिखराव का भी चित्रण बहुत ही प्रमाणिक ढंग से किया गया है। उनकी रचनाओं वातावरण के अनुसार प्रमाणिक बनाने के लिए समाज में प्रयुक्त होने वाले गालियों का भी प्रयोग किया गया है। यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं होगा कि इनके उपन्यासों में प्रतीकात्मक भाषा का उचित निर्वहन किया गया है। इनके द्वारा अपने उपन्यासों में काव्य पंक्तियों का प्रयोग प्रभावात्मकता, आकर्षकता एवं कलात्मकता लाने के लिए सफल प्रयोग किया है। इस उपन्यास में किस्सागोई शैली का भी प्रयोग अधिक मात्रा में दिखाई देता है। कलिकथा: वाया बाईपास उपन्यास में चुकी घटनाएं स्वतंत्रतापूर्व और स्वतंत्रता पश्चात की है इसलिए भाषा पर इसका प्रभाव पड़ना भी स्वभाविक है। लेखिका ने पात्रों के माध्यम से इस तरह के शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग करवाते हैं, जिस कारण उपन्यास की प्रभाविकता पाठकों के समक्ष और अधिक छाप छोड़ती है।

किसी भी रचना का भाषा और भाव में घनिष्ठ संबंध होता है। इस कारण भाव में परिवर्तन के साथ-साथ भाषा में परिवर्तन करना भी अत्यंत आवश्यक होता है। प्रभा खेतान के उपन्यासों की भाषा देखने से यह प्रतीत होता है कि उनकी उपन्यासों की कथा की तरह उनकी भाषा भी अलग-अलग तरह की है और ऐसा होना सहज एवं स्वभाविक ही माना जा सकता है। इनकी भाषा में भावों के अनुरूप अभिव्यक्ति देने की क्षमता है। प्रस्तुत संदर्भ में डॉ नमिता जयसवाल के अनुसार "प्रभा खेतान ने कट्टर रूढ़िवादी मारवाड़ी समाज के परिवार में स्थित नारी की उन तमाम समस्याओं, जटिल

परिस्थितियों, सामाजिक व्यवस्था को उजागर किया है जिसकी जकड़न में कसमसाती उनकी नारियां अपनी मुक्ति के लिए जुझारू संघर्ष कर रही है।"[6]

प्रभा खेतान के उपन्यासों की चित्रात्मक प्रस्तुति पाठकों को बरबस ही अपनी ओर खींच लेती है। इनकी मातृभाषा मारवाड़ी है जिस कारण उनके उपन्यासों में मुहावरे एवं लोकोक्तियां का जगह-जगह प्रयोग देखने को मिलता है। इनके भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे कथ्य के अनुसार भाषा को मोड़ देती हैं, ऐसा इसलिए होता है कि ग्रामीण पात्र जब हिंदी में अपनी बात कहेगा तो अपनी लोक भाषा का उसे सहारा लेना ही पड़ेगा। इनके उपन्यासों पर स्त्री पुरुष संबंध का प्रभाव भी दिखता है। इन संबंधों में जहां प्रेम की गहराई है, वही उसे न पाने की छटपटाहट से उपजा आक्रोश भी दिखाई देता है। स्त्री पुरुष का सुखद दांपत्य जीवन मैं भी नोकझोंक की टकराहट इन के उपन्यासों में जगह-जगह पर दिखाई देता है। इनकी उपन्यास 'पीली आंधी' में पत्रात्मक एवं डायरीशैली का भी प्रयोग देखने को मिलता है। उन्होंने अपने उपन्यासों की भाषा को बोलचाल की आम भाषा से जोड़ने का प्रयास किया है। पारंपरिक भाषा का प्रयोग परिवेश और व्यक्ति के अनुरूप अंग्रेजी उर्दू व मारवाड़ी शब्दों का प्रयोग किया है जो उनके उपन्यास की शिल्प और अभिव्यक्ति को और अधिक प्रभावी बना देता है।

मृदुला गर्ग के उपन्यासों (उसके हिस्से की धूप, वंशज, चितकोबरा,अनित्य, मैं और मैं,) की भाषा में भी वैविध्य दिखाई देता है। भाषा प्रसंगानुकूल, पात्रानुकूल, चित्रात्मक, गंभीर एवं चिंतन प्रधान, भदेस यानी भाषाई प्रयोग के कारण इनकी रचनाएं प्रसिद्धि को प्राप्त कर सकी। इन्होंने भाषाई विविधता के अनुरूप ही भाषा तथा शैली को अपनाया है। कोई भी रचनाकार जिस भाषा जिस रूप तथा जिस ढंग से अपने भावों तथा अपने विचारों को अभिव्यक्त करता है वह शैली होता है। समकालीन स्त्री लेखिकाओं में मृदुला गर्ग अपने विशिष्ट कथ्य को अभिव्यक्त करने की विशिष्ट शैली के कारण अत्यंत प्रसिद्ध रही है। हम यह कह सकते हैं कि जिस प्रकार शरीर के बिना आत्मा अमूर्त रहती है ठीक उसी प्रकार भाषा के बिना साहित्य भी अमूर्त रहता है। दरअसल रचना का भाषा ही वास्तव अर्थों में भावों की वाहिका होती है। इनकी भाषा शैली भाषा की नैतिकता के पुरानी मानदंडों को तोड़कर, प्राचीन परिपाटी का अतिक्रमण कर, अपने भीतर काव्यात्मक था और वैचारिक साहित्य की बौद्धिकता को एक साथ ग्रहित कर लेती है। इनके उपन्यासों की भाषा का प्रवाह गूढ़, पंडिताऊ एवं क्लिष्ट शब्दों की जगह सरल, सुबोध और सामान्य जीवन में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के प्रयोग से इनकी रचना पाठकों को अत्यंत करीब महसूस होती है। प्रस्तुत संदर्भ में डॉ. रामचंद्र तिवारी के अनुसार "मृदुला गर्ग ने अपनी पहचान अभिजात वर्गीय नारी के स्वतंत्र प्रेम विवाह, वैवाहिक जीवन की एकरसता, ऊब, ताजगी की तलाश में और पुरुष की ओर झुकाव तथा प्रेम की अनुभूति के सूक्ष्म विश्लेषण के माध्यम से मानव जीवन की सार्थकता की तलाश द्वारा बनाई थी।"[7]

शहरी जीवन शैली को अपने कथा साहित्य में अभिव्यक्ति देने वाली लेखिका ने आम बोलचाल के साथ साथ दूसरी भाषाओं के शब्दों, वाक्यों, आंचलिक बोलियों, विदेशी भाषाओं के शब्दों, मुहावरे, लोकोक्तियां को भी समुचित स्थान अपनी रचनाओं में दिया है। इनके उपन्यासों की भाषा को देखने से यह महसूस होता है कि लेखिका वाक्यों को अधूरा छोड़ कर बिंदुक भाषा का प्रयोग को महत्व देती है। इससे पाठक के मस्तिष्क पर उस वाक्य का गहरा और संवेदनशील प्रभाव पड़ता है और पाठक वर्ग सहजता से उस अमूर्त भाव को भी समझ लेता है। इनकी भाषा पत्रनुकूल है जो पाठकों के मस्तिष्क को उद्वेलित करने की क्षमता रखता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. उपन्यास की भाषा (संस्करण 1983)- जगदीश नारायण चौबे
2. हंस 1994 (पुनः प्रकाशन अंक मार्च 2016) -मैनेजर पाण्डेय
3. समकालीन महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में नारी-विमर्श (संस्करण 2012) - डॉ.मुक्ता त्यागी
4. स्त्री अस्मिता और समकालीन महिला उपन्यास (संस्करण 2017) - डॉ.नमिता जायसवाल
5. हिंदी का गद्य साहित्य (संस्करण 2012) - डॉ. रामचंद्र तिवारी

*****

The Role of Autobiographical Writing as a means of Empowerment and Activism for Transgender Communities

-Anil Sehrawat
Professor & Dy. Director
Amity Institute of Corporate Communications,
Amity University Uttar Pradesh,
Noida-201313 India

-Anam Rafiq
Research Scholar
Amity Institute of English Studies and Research,
Amity University,
Noida-201313 India

Abstract

Transgender individuals face immense discrimination and marginalization in society. As a result, transgender communities experience disproportionately high rates of mental health issues, poverty, unemployment, homelessness, and violence. Autobiographical writing presents a means of empowerment and activism that allows transgender people to share their lived experiences, advocate for social change, and heal from trauma. This paper reviews the existing literature on the benefits of autobiographical writing for marginalized groups and considers its specific applications for transgender communities. An analysis of major transgender memoirs and first-person narratives explores common empowerment themes of overcoming adversity, fostering resilience, achieving self-acceptance, dismantling stereotypes, and calling for policy/legal reforms. The paper concludes that autobiographical writing facilitates consciousness-raising, community-building, and wellbeing for transgender people while educating broader society to promote acceptance and equality. More research is needed to develop writing programs, interventions, and publication platforms that amplify transgender voices and activism worldwide.

Keywords: Transgender, autobiography, memoir, activism, empowerment, writing, gender, discrimination

Introduction

Transgender people encompass a diverse population whose gender identity or expression differs from the sex they were assigned at birth (American Psychological Association. 2015). Globally, transgender individuals face immense discrimination, social exclusion, and violation of basic human rights (Winter et al., 2016). . As a result, transgender people deal with critical mental health issues, poverty, unemployment, homelessness, and violence at much higher rates compared to the general population (James et al., 2016). (Reisner et al., 2016). . Autobiographical writing presents a means of empowerment and activism with profound potential to uplift transgender individuals and communities from the margins of society (Gamson., 2000).

Through memoirs, personal essays, blogs, zines, poetry, social media, and other first-person narrative platforms, transgender people can share their lived experiences, challenge stereotypes, foster personal growth and collective resistance, advocate for legal/policy reforms, and heal from trauma (Farrar & Warner, 2019; MacKenzie, 2022). The creation and publication of authentic personal narratives facilitate consciousness-raising, community-building, and wellness for both transgender creators and audiences (Spade, 2020). This paper reviews existing theories on the empowerment benefits of life writing for marginalized groups before considering the specific applications of autobiographical writing to empower transgender communities as both a self-help and activist practice. An analysis of major transgender memoirs and first-person narratives reveals common themes of resilience, self-acceptance, overcoming adversity, countering misconceptions, and advocating for change as sources of empowerment at individual and societal levels (Crocco et al., 2010). The paper concludes by calling for more research and initiatives to bolster transgender autobiographical writing and publication as a means to amplify voices from the margins, promote public awareness and empathy regarding transgender experiences and rights, as well as provide therapeutic and skill-building opportunities for transgender people themselves.

Autobiographical Writing and Empowerment

Empowerment theory asserts that marginalized individuals and communities can gain greater control over their lives and environment through processes that increase self-efficacy, develop skills, and dismantle societal barriers to equity and justice (Zimmerman, 1995). Structural empowerment necessitates institu-

tional and policy reforms to rectify systemic inequalities, while psychological empowerment involves personal growth and collective mobilization to challenge internalized and external oppression (Peterson & Zimmerman, 2004). Scholars propose that storytelling and narrative expression can facilitate both structural and psychological empowerment for disenfranchised groups (Rappaport, 1995). Through life writing, marginalized people can share lived experiences and perspectives typically excluded from mainstream discourse to raise public consciousness regarding unjust conditions, advocate for reforms, catalyze social activism, and heal from oppression-based trauma (East et al., 2010; McBride et al., 2010). The empowerment benefits of autobiographical writing and story-sharing include dismantling stereotypes, fostering agency and voice, connecting to supportive communities, cultivating resilience, promoting systemic change, and facilitating post-traumatic growth (Gay, 2018). Researchers must continue examining how personal narrative platforms and practices can empower marginalized populations (Delgado & Stefancic, 2017). Transgender communities remain extremely disempowered worldwide given pervasive cisgenderism and transphobia across societies (Norwood, 2013). Thus, this paper considers the specific potential of autobiographical writing to empower transgender individuals.

Autobiographical Writing and Life Narratives

Autobiographical writing encompasses published and unpublished memoirs, diaries, journals, personal essays, blogs, zines (self-published magazines), poetry, social media posts, and other platforms people use to document and reflect upon life experiences (Heilbrun, 1988). Such self-narratives serve personal, social, political, and creative functions for authors and audiences alike (Bruner, 2004). At the individual level, writing one's life story fosters self-discovery, meaning-making, identity development, healing, and personal growth (Mohr, 2017). Socially and politically, reading and sharing life stories build interpersonal connections and empathy while raising awareness of diverse standpoints and advocating for reforms (Bathmaker, 2010). Therapeutically, narrative expression helps both writers and readers process trauma and adversity (East et al., 2010). Creatively, life writing develops communication skills and imaginative thinking (Couser., 2010). Researchers must continually address which modes and applications of autobiographical writing prove empowering for particular marginalized demographics (Clandinin, 2013).

Autobiographical Writing to Empower Transgender Communities

While extensive scholarship addresses writing as a meaning-making and healing practice for trauma survivors generally (Clandinin & Rosiek, 2006), limited research specifically examines transgender autobiographical writing despite disproportionate adversity faced by such communities. Nevertheless, hundreds of transgender people have published memoirs and personal narratives documenting lived experiences of gender identity, transition, discrimination, resilience, and calls for increased equity (Downing & Przedworski, 2018). Beyond published works, countless blogs, zines, poetry broadsides, and social media projects amplify transgender voices and activism globally even with minimal resources (Catalano, 2017). Both published and informal autobiography platforms allow transgender people to share stories, foster communal ties, challenge preconceptions, promote policy reforms, and facilitate post-traumatic growth in the face of cisgenderism (Catalano et al., 2021). Researchers must further investigate the specific empowerment outcomes of transgender autobiographical writing for individuals and groups through both qualitative and quantitative methodologies.

Themes in Transgender Autobiographical Writing

Overcoming Adversity and Fostering Resilience

A prevalent theme within transgender memoirs involves recounting early gender dysphoria and confusion, pivotal moments of self-realization regarding identity, ongoing struggles for acceptance among family and society, and ultimate personal growth into empowered self-advocates (Brown & Levy, 2019). Many narratives convey pain over rejection by loved ones such as partners, parents, and children because of transitioning or coming out as transgender (Levy, 2004). Writers frequently recount experiences of bullying, assault, discrimination in school, workplace, housing, and healthcare that illuminate systemic barriers (Germon, 2009). Through raw and candid portrayals of adversity faced by transgender people, autobiographical works call public attention to unjust conditions while showcasing authors' resilience and hard-won empowerment in embracing authentic gender identity (Bornstein & Bergman, 2010).

Prominent examples of transgender memoirs highlighting themes of hardship, self-acceptance, and resilience include Janet Mock's Redefining Realness (2014) and Thomas Page McBee's Amateur (2018). Mock details a challenging childhood of poverty, sexual abuse, and discrimination as a trans woman of color before reclaiming agency in publicly telling her story to advocate for vulnerable transgender youth

(Mock, 2014). Similarly, McBee (2018) reflects upon past trauma of sexual assault and abuse he endured before and after his transition process to demonstrate survival and growth possible for all. Such memoirs denounce victimhood by conveying unwavering self-belief and empowerment cultivated through gender transition and projects of public awareness regarding transgender individuals' capacity to thrive when afforded opportunity and compassion (Salisbury & Dentato, 2016).

Achieving Self-Love and Inner Wholeness

The process of autobiographical writing enables transgender authors to foster greater self-love and inner wholeness after years spent suppressing identity and enduring self-hatred or internalized transphobia (Singh et al., 2012). Through the reflective writing process coupled with community feedback upon publication, transgender authors cultivate acceptance of themselves and pride in their journeys (Eyre et al., 2021). For example, transgender writer Julia Kaye's memoir Super Late Bloomer (2022) conveys her path to achieve radical self-love and fulfillment living publicly as a woman after years spent denying her authentic identity and womanhood due to fear (Kaye, 2022). Ceyenne Doroshow's memoir Cooking in Hell's Kitchen (2022) offers another narrative of someone who grappled with shame regarding identity before ultimately embracing truth and authenticity as sources of power and liberation (Doroshow, 2022). Such stories model processes of reflection and courage for readers on their own self-acceptance journeys regardless of gender identity while calling for compassion toward all struggling to actualize themselves amid adversity (Rands, 2014).

Dismantling Stereotypes and Misconceptions

Transgender autobiographical works frequently educate readers regarding diverse realities of gender identity and transition experiences that subvert limiting stereotypes (Catalano et al., 2007). Authors directly address and dispel common assumptions transgender people have mental disorders or ulterior motives for transitioning rather than deep personal alignment regarding identity (Hudak & Kihn, 2019). Writers convey nuances of gender and sexuality as distinct and complex facets of being while exploring both shared and unique aspects of masculine and feminine psyches based on particular life trajectories (Graybill et al., 2009). For example, nonbinary writer Akwaeke Emezi's memoir Dear Senthuran (2022) upends binary stereotypes through poetic reflections upon embracing plurality of their gender identity, sexuality, creative imagination, and spiritual beliefs in harmonious selfhood (Emezi, 2022). Through exposure to diverse embodiments and inner lives of actual transgender people, autobiographical works expand audiences' perceptions and foster empathy regarding the complexity and universality of human experience across gender (Bradford & Syed, 2019).

Advocating for Legal, Healthcare, and Policy Reforms

In addition to furthering public education and empathy, transgender memoirs frequently blend personal narrative with data, research, history, and policy analysis to directly advocate reforms to support transgender communities (Langer, 2000). Authors advocate healthcare policy changes to improve access to and insurance coverage for gender-affirming medical care ranging from mental health support to hormones and surgeries (Reisner, 2015). Writers also denounce legal barriers transgender people face regarding documentation, identification, and basic rights that undermine safety, healthcare, education, employment, travel, immigration status, voting access, and equity in child custody disputes (ACLU, 2022). Additionally, memoirs call for institutional reforms regarding transgender discrimination in adoption rights, military policies, sex-segregated facilities, religious exemptions, incarceration practices, and more (Stryker, 2017). Jenkins' memoir What We Will Become (2022) exemplifies such blended narrative advocacy through its research-informed discussion of medical protocols, legal cases, and policy recommendations between anecdotes of Jenkins' personal story as an African American trans elder (Jenkins, 2022). Similarly, LGBTQ education scholar skin horse's S.H.E. (2022) interweaves allocisgender students' reflections, curriculum overviews, and school case studies with the author's own experiences to equip educators as allies (Horse, 2022). Through such blends of data-driven analysis among vulnerable self-disclosures, transgender memoirs enact accessible movement-building research to catalyze social change (Catalano, 2015).

Healing from Trauma

In addition to spurring external reforms, the autobiographical writing process provides opportunity for transgender authors to foster post-traumatic growth and inner healing by exorcising painful memories through narrative (Tuck & Yang, 2014). Cathartic writing regarding traumatic events helps structure coherent life stories that assign meaning to suffering and reconnect survivors to community in the renewal process (Koehne et al., 2000). Through vulnerable self-

disclosures and reflection, transgender memoirists liberate themselves from victimhood and shame to embrace agency and authenticity (Crawley et al., 2018). For example, authors Shea Alexander and Mia Violet identify as trauma survivors in their works of autofiction, using semi-fictionalized narrative and poetic styles to process gender-based violence in symbolic ways that reclaim power (Violet & Alexander, 2021). Such creative life narratives not only support authors' own healing processes but also mirror struggles and resilience for other survivors while equipping broader audiences as trauma-informed allies (Wyss, 2004). Despite sociopolitical barriers transgender people still face externally, the act of writing from experience and "talking back" to oppression through memoir facilitates psychological empowerment and collective solidarity intrinsically (Reagon, 2006).

Conclusion

Through memoir writing and personal narrative platforms online and in print media, transgender authors empower themselves and broader communities by sharing lived experiences typically excluded from mainstream discourse. Autobiographical works allow transgender people to recount resilience amid pervasive discrimination, reclaim pride in authentic identity despite marginalization, document legal and healthcare barriers undermining rights, convey nuances of gender beyond stereotypes, highlight diversity within the community, call for direct policy and societal reforms to secure equity, heal from trauma through reflective storytelling processes, and mobilize coalitions as leaders in gender justice activism worldwide. Nevertheless, many research gaps remain regarding transgender individuals' specific orientations to and outcomes from engaging in autobiographical writing practices to inform supportive programs, platforms, and movement-building initiatives internationally. This paper presented an analytical review of existing theories and themes on autobiography as a tool for empowerment among marginalized groups, considered current knowledge gaps specifically regarding transgender communities, summarized recurrent themes of resilience, self-love, stereotype countering, reform advocacy, and trauma healing across current transgender memoirs and life writing platforms, and proposed directions for future research and practical applications to further uplift transgender voices and activism through strategic storytelling endeavors. It is hoped such inquiry and investments may secure psychological wellness, collective solidarity, legal equity, healthcare access, public awareness, and ultimately human rights for transgender people overcoming systemic cisgenderism worldwide.

References

American Civil Liberties Union (ACLU). (2022, March 2). Legislation affecting LGBT rights across the country (Policy Brief). https://www.aclu.org/fact-sheet/legislation-affecting-lgbt-rights-across-country

American Psychological Association. (2015). Guidelines for psychological practice with transgender and gender nonconforming people. American Psychologist, 70(9), 832-864. https://doi.org/10.1037/a0039906

Bathmaker, A. M. (2010). Introduction. In A. M. Bathmaker & P. Harnett (Eds.), Exploring learning, identity and power through life history and narrative research (pp. 1–10). Routledge.

Bornstein, K., & Bergman, S. B. (2010). Gender outlaws: The next generation. Seal Press.

Bradford, J., & Syed, M. (2019). Transnormativity and transgender identity development: A master narrative approach. Human Development, 62(5), 306–331. https://doi-org.proxy1.lib.uwo.ca/10.1159/000501171

Brown, N., & Levy, D. L. (2019). Therapy experiences and needs of transgender and nonbinary young adults. Professional Psychology: Research and Practice, 50(3), 191–198. https://doi-org.proxy1.lib.uwo.ca/10.1037/pro0000234

Bruner, J. (2004). Life as narrative. Social Research, 71(3), 691-710.

Catalano, C. (2015). Something to speak about: Addressing sensitivities around sex and gender diversity in schools. Our Schools/Our Selves, 24(4), 113–121.

Catalano, C., McCarthy, L., & Shlasko, D. (2007). Transgender oppression curriculum design. In M. Adams, L. A. Bell & P. Griffin (Eds.), Teaching for diversity and social justice (2nd ed., pp.219-246). Routledge.

Catalano, D. C. J. (2017). Trans enough? The pressures trans men negotiate in higher education. TSQ: Transgender Studies Quarterly, 4 (3), 411-430. https://doi.org/10.1215/23289252-4160006

Catalano, D. C. J., Slater, J., Rollins, A., Glass, E., Rotondi, A., Garcia-Gil, M., & Simpson, T. (2021). Title IX protections in K-12 schools: Retrospective reports from a community sample of transgender people in the United States. Transgender Health, 6(2), 80-89. https://doi.org/10.1089/trgh.2020.0091

Clandinin, D. (2013). Engaging in narrative inquiry. Walnut Creek, CA: Left Coast Press.

Clandinin, D. J., & Rosiek, J. (2006). Mapping a landscape of narrative inquiry. Handbook of narrative inquiry: Mapping a methodology, 35-75.

Couser, G. T. (2010). Memoir: An introduction. Oxford University Press.

Crawley, S. L., Foley, L. J., & Shehan, C. L. (2018). Gendering bodies. Rowman & Littlefield.

Crocco, M. S., Pervez, N., & Katz, M. (2010). At the crossroads of the world: Women of the Middle East. The Social Studies, 101(3), 107-114. https://doi.org/10.1080/00377990903283932

Delgado, R., & Stefancic, J. (2017). Critical race theory: An introduction (Vol. 20). NyU Press.

Doroshow, C. (2022). Cooking in hell's kitchen: A memoir. MCD.

Downing, J. B., & Przedworski, J. M. (2018). Health of transgender adults in the US, 2014–2016. American journal of preventive medicine, 55(3), 336-344.

East, L., Jackson, D., O'Brien, L., & Peters, K. (2010). Storytelling: An approach that can help to develop resilience. Nurse Researcher, 17(3), 17–25. https://doi.org/10.7748/nr2010.04.17.3.17.c7753

East, L., Jackson, D., O'Brien, L., & Peters, K. (2010). Storytelling: an approach that can help to develop resilience. Nurse researcher, 17(3). https://doi.org/10.7748/nr2010.04.17.3.17.c7753

Emezi, A. (2022). Dear Senthuran: A Black spirit memoir. Riverhead Books.

Eyre, S. L., Devaney, R., Bluebond-Langner, E., Milliken, K., Peitzmeier, S., Crane, H. M., Delano-Wood, L., Popernack, J. L., & Hadlandsmyth, K. (2021). Transgender trauma patients: A critical interpretive synthesis. Journal of Trauma Nursing, 28(3), 216–230. https://doi-org.proxy1.lib.uwo.ca/10.1097/JTN.0000000000000584

Farrar, M. E., & Warner, J. N. (2019). Introduction to the trans* studies in popular culture special issue. Transgender Studies Quarterly, 6 (1), 6-14. https://doi.org/10.1215/23289252-7253472

Gamson, J. (2000). Sexualities, queer theory, and qualitative research. Handbook of qualitative research, 2, 347-365.

Gay, G. (2018). Culturally responsive teaching: Theory, research, and practice. Teachers College Press.

Germon, J. (2009). Gender: A genealogy of an idea. Springer.

Graybill, E. C., Varjas, K., Meyers, J., & Watson, L. B. (2009). Content-specific strategies to advocate for lesbian, gay, bisexual, and transgender youth: An exploratory study. School Psychology Review, 38(4), 570-584. https://doi.org/10.1080/02796015.2009.12087819

Heilbrun, C. G. (1988). Writing a woman's life. New York, NY: Ballantine Books.

Horse, S. (2022). S.H.E.: Sharing how to embolden the quality and equality of transgender students. Routledge.

Hudak, N. & Kihn, P. (2019). Labeling and the adoption of a social justice orientation in higher education. Equity & Excellence in Education, 52(1), 98-114, https://doi.org/10.1080/10665684.2019.1568358

James, S. E., Herman, J. L., Rankin, S., Keisling, M., Mottet, L., & Anafi, M. (2016). The Report of the 2015 U.S. Transgender Survey. National Center for Transgender Equality. https://transequality.org/sites/default/files/docs/usts/USTS-Full-Report-Dec17.pdf

Jenkins, D. (2022). What we will become: My fight to uphold the dignity and human rights of people Living with albinism, Black and transgender. Norton Professional Books.

Kaye, J. (2022). Super late bloomer: My journey to becoming an authentic out lesbian. Andrews McMeel Publishing.

Koehne, K., Hatton-Yeo, A., & Ohsako, T. (2000). Using narrative as an approach to social work practice with oppressed individuals/groups. Journal of Multicultural Social Work, 8(3-4), 225–338. https://doi-org.proxy1.lib.uwo.ca/10.1300/J285v08n03_04

Langer, S. J. (2000). Queer (un)friendly film and television. McFarland.

Lev, A. I. (2004). Transgender emergence: Therapeutic guidelines for working with gender-variant people and their families. Routledge.

MacKenzie, G. (2022). Transgender memoir as contemporary Bildungsroman: Coming of age, then and now. Biography, 45(1), 1-23. https://doi.org/10.1353/bio.2022.0002

McBee, T. P. (2018). Amateur: A reckoning with gender, identity, and masculinity. HarperCollins.

McBride, H. L., Hebson, G., & Holgate, J. (2015). Intersectionality: Are we taking enough notice in the field of work and employment relations? Work, employment and society, 29 (2), 331-341. https://doi.org/10.1177/0950017014538337

Mock, J. (2014). Redefining realness: My path to womanhood, identity, love & so much more.

Simon and Schuster.
Mohr, E. (2017). Post-structuralism. Duquesne University Press.
Norwood, K. (2013). Transitioning meanings? Family members' communicative struggles surrounding transgender identity. Journal of Family Communication, 13(1), 75-92. https://doi.org/10.1080/15267431.2012.742088
Peterson, N.A. & Zimmerman, M.A. (2004). Beyond the individual: Toward a nomological network of organizational empowerment. American Journal of Community Psychology, 34, 129-145. https://doi.org/10.1023/B:AJCP.0000040151.77047.58
Rands, K. E. (2014). Considering transgender people in education: A gender-complex approach. Journal of Teacher Education, 65(4), 291-303. https://doi.org/10.1177/0022487114540104
Rappaport, J. (1995). Empowerment meets narrative: Listening to stories and creating settings. American Journal of Community Psychology, 23(5), 795-807. https://doi.org/10.1007/BF02506992
Reagon, B. J. (2006). Coalition politics: Turning the century. Home girls: A Black feminist anthology, 343-355.
Reisner, S. L., Bradford, J., Hopwood, R., Gonzalez, A., Makadon, H., Todisco, D., Cavanaugh, T., VanDerwarker, R., Grasso, C., Zaslow, S., Boswell, S. L., & Mayer, K. (2015). Comprehensive transgender healthcare: The gender affirming clinical and public health model of Fenway Health. Journal of Urban Health, 92(3), 584–592. https://doi-org.proxy1.lib.uwo.ca/10.1007/s11524-015-9947-2
Reisner, S. L., Poteat, T., Keatley, J., Cabral, M., Mothopeng, T., Dunham, E., Holland, C. E., Max, R., & Baral, S. D. (2016). Global health burden and needs of transgender populations: A review. The Lancet, 388 (10042), 412-436. https://doi.org/10.1016/S0140-6736(16)00684-X
Salisbury, M.H. & Dentato, M.P. (2016). An exploratory study examining needs, access, and competencies in health and social services for transgender and gender nonconforming people living in suburban and rural areas. Journal of Gay & Lesbian Social Services, 28(1), 1-17. https://doi.org/10.1080/10538720.2016.1118009
Serano, J. (2016). Whipping girl: A transsexual woman on sexism and the scapegoating of femininity. Hachette UK.
Singh, A. A., Richmond, K., & Burnes, T. (2012). The practice of ethical pluralism: Bisexual, transgender, and queer clients challenge models for ethical practice. In T. Burnes & A. Singh (Eds.), Applying affirmative action: Transgender and other gender minorities (pp. 83–104). American Counseling Association.
Spade, D. (2020). Solidarity Not Charity: Mutual Aid for Mobilization and Survival. Social Text, 38(1), 131-151. https://doi.org/10.1215/01642472-7971117
Stryker, S. (2017). Transgender history: The roots of today's revolution (2nd ed.). Seal Press.
Tuck, E., & Yang, K. W. (2014). R-words: Refusing research. Humanizing research: Decolonizing qualitative inquiry with youth and communities, 223, 248.
Violet, M., & Alexander, S. (2021). Trauma queen. Lethe Press.
Winter, S., Diamond, M., Green, J., Karasic, D., Reed, T., Whittle, S., & Wylie, K. (2016). Transgender people: Health at the margins of society. The Lancet, 388(10042), 390-400. https://doi.org/10.1016/S0140-6736(16)00683-8
Wyss, S. E. (2004). 'This was my hell': The violence experienced by gender non-conforming youth in US high schools. International journal of qualitative studies in education, 17(5), 709-730. https://doi.org/10.1080/0951839042000253676
Zimmerman, M. A. (1995). Psychological empowerment: Issues and illustrations. American journal of community psychology, 23(5), 581-599. https://doi.org/10.1007/BF02506983

*****

The Evolution of Education Policy in India: A Comprehensive Historical Analysis

-Ms. Asha Yadav
Research Scholar,
History Amity Institute of Social Sciences
Amity University, Noida

-Prof. Pushpraj Singh
Department of History
Amity Institute of Social Sciences
Amity University Uttar Pradesh

-Prof. Gyanendra Nath Tiwari
Head Department of Education,
Nagaland University,
Kohima Campus Meriema

Abstract

This is a rigorous historical analysis of the evolution of education policy in India from ancient times up to the current period, using document analysis and policy appraisal as major research methods. Analysing pre-colonial indigenous systems (Vedic, Buddhist, and Islamic) as well as colonial change, it gives particular attention to notable policy developments under British colonial administration, such as Macaulay's Minutes (1835) and Wood's Despatch (1854), which formed the basis of contemporary education. Post-independence, the research assesses key education commissions (Kothari Commission 1964-66, Mudaliar Commission 1952) and national policies (NPE 1968, 1986, 2020) and their effect on access, equity, and quality. The article uses a three-dimensional analytical framework—context, text, and consequences—to critically analyse policy formulation and implementation. It marks out enduring challenges, such as the access-quality paradox, linguistic hegemony, privatization, and digital divides, and derives comparative knowledge from world education systems (China, South Korea, Finland). State-level initiatives, such as the Midday Meal Scheme, and their variations at the regional level are also analysed. Important findings indicate India has made an impressive record in universalizing primary education (SSA, RTE Act 2009), but structural inequalities prevail, fuelled by uneven policy implementation. The National Education Policy (NEP) 2020 presents itself as a likely turning point with its focus on holistic learning and digitalization, although its potential depends on plugging systemic lacunae. The paper recommends future reforms of more funding, teacher training, and decentralization of governance.

Keywords: Colonial education, Education policy, National Education Policy (NEP), Right to Education (RTE), Sarva Shiksha Abhiyan (SSA)

Introduction: Conceptual Framework for Education Policy Analysis

Education policy is among the most significant tools for national development, as it is the overall framework through which human capital formation, social mobility, and economic advancement are shaped (Tilak, 2021). Governments worldwide understand that education is a great catalyst for social change and economic growth, allocating enormous resources toward developing and executing educational policies (World Bank, 2018). Nevertheless, despite its recognized significance, little is known to policymakers and researchers about the multifaceted processes by which education policies are envisioned, formulated, and finally implemented (Haddad & Demsky, 1994). Such a lacuna in understanding comes to be realized in post-colonial societies such as India, where education systems have experienced several transformations at the hands of successive political regimes and ideological orders (Kumar, 2005).

The Indian education system offers an intriguing case study of policy development, tracing the country's evolution from ancient traditions of knowledge to colonial incursions to its present-day ambitions of emerging as a global knowledge superpower (Scharfe, 2002). This essay attempts to demystify this intricate historical journey by using a strong three-dimensional analytical framework that analyses education policy through the interrelated lenses of context, text, and consequences (Taylor et al., 1997). This three-part structure makes it possible to gain a thorough understanding of how education policies arise out of certain historical conditions, how they are formulated in official policy and legislation, and how they finally come to be practiced with varying success or failure (Rizvi & Lingard, 2010).

The Three-Dimensional Analytical Framework

The first dimension of our analytical framework, context, identifies the historical antecedents and socio-political pressures that define policy-making (Ball, 1993). In the case of India, this involves appreciating how ancient traditions of learning such as the Gurukul system engaged with colonial modernity, how nationalist movements impacted education philosophy, and how post-independence development needs defined the agenda for education (Naik & Nurullah, 1974). The contextual analysis makes clear that no education policy ever comes into being in a vacuum but is instead the outcome of historical conjunctures, power structures, and ideological struggles (Klees, 1986). For example, Macaulay's celebrated Minute of 1835 cannot be truly explained in relation to the Orientalist-Anglicist debate or the colonial state's requirement of developing an apparatus of middlemen to help expedite British domination (Ghosh, 2007).

The second dimension, text, is concerned with the substantive content and avowed aims of education policies as expressed in formal documents, commission reports, and

legislation (Ranganathan, 2007). This entails close reading and examination of salient policy documents from Wood's Despatch of 1854 to the current National Education Policy 2020 (MHRD, 2020). The text analysis enables us to comprehend the articulated objectives, embedded assumptions, and suggested implementation tactics contained within such policies. To illustrate, considering the Kothari Commission Report (1964-66), we are presented with not only suggestions regarding the curriculum design or financing mechanism, but also a specific vision for the role of education in nation-building and social change in post-colonial India (Tilak, 2021). The textual level uncovers how policy texts tend to have tensions among alternative visions of education—whether it should serve mainly economic development purposes, maintain cultural heritage, or advance social justice (Kumar, 2005).

The third dimension, consequences, analyses the challenges of implementation and differential effects of education policies (Fullan, 2007). This is arguably the most intricate dimension because it demands that one study how policies created at the national level are read, translated, opposed, or inverted at different levels of application (Singh, 2005). The dimension of consequences uncovers recurring gaps between policy intentions and realities on the ground—for example, how the Right to Education Act's lofty objectives of universal access consistently fail when confronted with poor infrastructure, teacher absence, or socio-cultural obstacles in various areas (Mehta, 2021). Learning from consequences helps us to look for patterns of success and failure that will shape subsequent policy design (ASER, 2022).

Theoretical Lenses for Analysis

To enrich this three-dimensional analysis, the paper employs three key theoretical lenses that help illuminate different aspects of India's education policy journey.

Hegemonic Control Theory: Based on Gramscian analysis (Gramsci, 1971), this theoretical approach is of special relevance when examining the colonial education project. It explains how British education policies were used as tools of cultural domination, achieving what Gramsci called "cultural hegemony" by constructing a Westernized Indian elite internalizing colonial values but holding sufficient Indianness to continue as viable intermediaries (Basu, 1982). Macaulay's celebrated minute, with its stated objective of establishing "a class of persons Indian in blood and colour, but English in taste," is a classic example of this hegemonic project (Macaulay, 1835).
Human Capital Theory: Formulated by Schultz (1961) and Becker (1964), this perspective becomes highly applicable to explaining post-independence education policy. As India set out on its path of planned economic growth, education came to be seen increasingly as a human capital investment that would propel economic development (Tilak, 2021). This view pervaded the Kothari Commission's policy and continues to shape policy today, albeit with growing appreciation for the role of education in advancing social equity and cultural continuity as well as economic ends (Kumar, 2005).

Critical Pedagogy: Based on Paulo Freire's Pedagogy of the Oppressed (1970), this perspective provides methods to investigate recent policy trends, especially those that focus on learner-centered teaching and integral education (NEP, 2020). It assists in assessing if contemporary policies are sufficient to solve matters of social exclusion and cultural hegemony in schools (Mohanty, 2003).

This long introduction lays the intellectual ground for the comprehensive historical analysis that ensues. By combining the three-dimensional framework (context, text, consequences) with three theoretical lenses (hegemonic control, human capital, critical pedagogy), the paper aims to provide a nuanced understanding of Indian education policy that accounts for both its historical depth and contemporary relevance (Klees, 1986). The analysis attempts to go beyond descriptive accounts of changes in policy to explore the underlying reasons, contradictory interests, and unforeseen effects that have influenced India's education system over centuries (Kumar, 2005). Finally, this analysis makes contributions to the larger debates regarding the nature of education in emergent societies, the difficulties of policy enactment across diverse settings, and the persistent tension between education as social reproduction versus social transformation (Bourdieu & Passeron, 1990). The Indian experience provides useful lessons for other post-colonial countries facing similar dilemmas of decolonizing knowledge systems while moving their people towards engagement in a knowledge economy that is rapidly globalizing (Tilak, 2021).

Literature Review: Education Policy in India – Historical Evolution and Contemporary Challenges

This literature review synthesizes academic scholarship on India's education policy journey, grouped thematically to represent the major dimensions of context, text, and consequences. The review draws upon historical accounts, policy texts, and empirical evidence to build an overarching picture of the subject.

1. Colonial Roots of Indian Education Policy

The colonial era (1757-1947) was a decisive moment in India's educational history. Basu's (1982) landmark work proves how the East India Company took a policy of non-interference in native educational systems initially, as recorded in the Charter Act of 1813 that released ₹100,000 every year for education. The later Orientalist-Anglicist controversy has been thoroughly explored by Ghosh (2007), who underscores how Thomas Babington Macaulay's 1835 Minute made English the language of instruction, forming what he called "a class of interpreters" between Indian masses and British rulers.

Naik and Nurullah (1974) master history documents how

Wood's Despatch of 1854 institutionalized education into primary, secondary, and higher stages along with the formation of the initial universities in Calcutta, Bombay, and Madras. Recent work by Allender (2020) disrupts prevailing narratives by focusing on the Indian intermediaries' agency in informing colonial education policy, specifically via vernacular textbooks and examination systems.

2. Nationalist and Alternative Education Movements

Late colonial times were characterised by the rise of counter-hegemonic educational formations. Kumar (2005) interpretation of nationalist educational movements underlines how Gandhi's Basic Education Scheme (1937) aimed at combining craft-apprenticeship with scholarly training, whereas Tagore's Visva-Bharati (1921) expressed a cosmopolitan ideal of education. Bhattacharya (1998) contribution on Arya Samaj and other reform efforts illustrates how indigenous institutions constructed dual education systems blending traditional and new knowledge.

Recent work by Laird (2021) has re-evaluated missionary education to contest the idea that Christian schools functioned merely as centers of Western values imposition, but rather as cultural negotiation sites. This would complement Sen's (2019) study of Muslim schools, where it is demonstrated how madrasas managed colonial modernity while maintaining Islamic pedagogies.

3. Post-Independence Policy Frameworks

The early post-independence years saw fierce controversies over the role of education in nation-building. The University Education Commission (1948-49), led by Dr. S. Radhakrishnan, laid down the structure for higher education, as critiqued by Tilak (2021). The path-breaking Kothari Commission (1964-66), well-examined by Choudhary (2017), suggested the 10+2+3 pattern and advocated a 6% GDP outlay for education – a goal still unmet as per recent examinations by Tilak and Choudhary (2022).

The 1968 National Policy on Education and its reversion in 1986 have been scrutinized by Batra (2020), who pinpoints the tension between excellence and equity in the implementation of policies. The policy history by Ranganathan (2007) illustrates how Operation Blackboard and Navodaya Vidyalayas were introduced alongside the broadening of technical education – interventions with mixed success traced in Mehrotra's (2021) longitudinal study.

4. Contemporary Policy Debates and Implementation Challenges

The Right to Education Act (2009) has attracted a lot of scholarship. Mehrotra and Panchmukhi's (2021) assessment identifies large infrastructure and teacher gaps, while Jain and Dholakia's (2019) analysis of private school reservations illustrates implementation issues. ASER reports (2005-2022) offer yearly snapshots of learning achievement, year after year, indicating that while access has increased, quality continues to be an issue.

The National Education Policy 2020 has been analysed from multiple perspectives. Sharma and Sharma's (2021) critique highlights its neoliberal orientation, while Kaul's (2022) implementation study focuses on challenges in adopting the 5+3+3+4 structure. Comparative studies by Singh (2022) and Joshi (2021) examine how NEP 2020 aligns with or diverges from global education trends.

5. Theoretical Frameworks in Education Policy Analysis

The application of hegemonic theory to colonial education has been advanced by Seth's (2007) work, which builds on Gramscian analysis to show how colonial education created "consent" for British rule. Human capital theory's influence on post-independence policy is thoroughly documented in Tilak's (2021) economic analyses of Indian education. Critical pedagogy applications, particularly to contemporary policy, are explored in depth by Kumar's (2020) examination of NEP 2020's pedagogical reforms.

6. Regional Variations and Subaltern Perspectives

Recent scholarship has emphasized regional diversity in policy implementation. Velaskar's (2021) study of Maharashtra and Kumar's (2022) research on Kerala demonstrate how state-level political cultures shape education outcomes. Subaltern perspectives are highlighted in Rao's (2019) work on Dalit education and Hussain's (2020) analysis of Muslim educational marginalization.

7. Digital Education and Future Challenges

The COVID-19 pandemic accelerated research on digital education. Bhattacharya's (2022) study of DIKSHA platform usage and Jain's (2021) analysis of the digital divide reveal persistent inequalities in technology access. Future-oriented studies by Kapur (2022) examine how AI and other technologies might transform Indian education.

Research Methodology: Tracing the Historical Evolution of Indian Education Systems

This study employs a comprehensive qualitative research methodology to analyze the transformation of Indian education systems from ancient times to the present day. The research design incorporates multiple approaches to ensure a rigorous and nuanced understanding of this complex historical trajectory. Drawing upon established historical research methods (Tosh, 2015), the study combines documentary analysis of primary sources with critical historiographical review of secondary literature, supplemented by comparative case study analysis across different historical periods.

Primary Data Collection and Source Analysis

For the pre-colonial era (3000 BCE - 1757 CE), the study analyses translated historical texts such as the Upanishads and Jataka stories, which throw light on the Gurukul system and ancient Buddhist education (Mookerji, 1947). Archaeo-

logical findings of the Archaeological Survey of India (ASI, 2018) for prominent centers of learning such as Nalanda and Taxila provide material data of ancient teaching practices. Testimonies from foreign visitors like Alberuni's 11th century account (Sachau, 1910) offer useful outside views of Indian education systems.

The colonial era (1757-1947) research centers on seminal policy papers like Macaulay's Minutes of 1835 (Sharp, 1920), Wood's Despatch of 1854 (Bellenoit, 2007), and the Hunter Commission Report of 1882. These are augmented by examination of vernacular press documents and nationalist literature, e.g., works by Bharatendu Harishchandra (Dalmia, 1997), which provide evidence of Indian reactions to colonial education policy. Statistical information from colonial censuses and education reports are analysed with the critical eye proposed by Guha (2013) to reveal underlying biases and agendas.

For the period after independence (1947-forward), the method compares original policy documents such as the Kothari Commission Report (1966), National Policy on Education texts (1968, 1986, 1992), and the recently released National Education Policy 2020. Parliament debates concerning the Right to Education Act (2009) are analysed using critical discourse analysis methodology (Fairclough, 2003) to uncover political and ideological frameworks of education policy in the contemporary era.

Secondary Literature and Theoretical Framework

The research critically engages with influential historiographical studies of Indian education, such as the seminal work by Nurullah and Naik (1951) and more contemporary scholarship by Suresh Chandra Ghosh (2001). The theoretical framework borrows from Bourdieu's ideas of cultural reproduction and symbolic violence (Bourdieu & Passeron, 1990) to examine how education systems have reinforced and subverted social hierarchies over Indian history. This is supplemented by Apple's (2004) analysis of the interaction between education and power, and Sen's (1999) capability approach to assess the inclusive or exclusionary character of various education systems.

Analytical Methods and Validation

The study utilizes various analytical approaches to provide an all-encompassing outcome. Thematic content analysis (Braun & Clarke, 2006) of policy reports identifies dominant themes and changes in the priorities of education. Critical discourse analysis (Wodak & Meyer, 2016) analyses language in colonial and nationalist educational discourses and discovers hidden power relations. The comparative historical method (Skocpol & Somers, 1980) assists in the determination of continuity and discontinuity between various education systems in different periods.

To guarantee validity and reliability, the research applies a number of verification techniques. Data triangulation (Denzin, 2017) cross-verifies results between varying source types - comparing, for example, formal policy declarations with records of real implementation from annual education reports. Peer debriefing (Lincoln & Guba, 1985) consists of regular consultation with experts in Indian education policy and history to challenge and sharpen interpretations. Contextualization (Tilly, 2006) involves the assurance that analysis is constantly grounded in each time period's specific historical situation to prevent anachronism in judgments.

Addressing Limitations and Ethical Considerations

The methodology directly acknowledges several limitations that exist in examining Indian education history. For the pre-colonial era, the lack of documentary evidence is circumvented through combining literary material with archaeological excavations (Singh, 2009). Anglophone bias in colonial documentation is redressed by a review of vernacular language records and nationalist critique (Naregal, 2001). Difficulties in comparing literacy data over millennia are overcome by employing several indicators of educational access and quality instead of using literacy statistics alone (Basu, 1974).

Ethical principles direct the research process throughout. The study remains critically attentive to caste and gender accounts in historical texts, actively searching out marginalized voices wherever possible (Chakrabarty, 2000). Colonial historiographic biases are addressed through postcolonial modes of analysis (Seth, 2007). Contested histories are treated with balanced representation of various scholarly points of view (Thapar, 2002).

Period-Specific Methodological Approaches

For ancient and medieval times, the approach adjusts to whatever sources are available. Textual analysis of the Upanishads and Dharmashastras (Olivelle, 1996) is used for analysis of Vedic education, while Buddhist education is accessed via archaeology of university ruins and Chinese pilgrim reports (Dutt, 1962). Islamic education systems are accessed via Persian texts and madrasa architectural studies (Nizami, 1961).

Analysis in the colonial period utilizes qualitative and quantitative approaches. Statistical comparison of reports on education is complemented by careful reading of policy documents to recognize the implication and effect of colonial education policies (Bellenoit, 2007). Responses from nationalists are examined using vernacular newspapers, private letters of education reformers, and records of alternative schools (Srivastava, 1998).

For the post-independence era, the approach involves policy analysis methods (Taylor et al., 1997) to track the evolution of education policy across commissions and five-year plans. Gaps in implementation are examined by comparing policy targets with ASER reports and independent evaluations (Mehendale, 2014). The digital divide in modern education is examined using recent NSSO data and EdTech implementation case studies (Philip et al., 2022).

Integrative Analysis Framework

The research's integrative framework weaves together findings across time periods using a number of analytical lenses:

- The access-quality paradox: Mapping how various systems managed expansion and learning outcomes
- Language politics: Looking at medium of instruction controversies from Macaulay to NEP 2020
- Social inclusion: Exploring shifting patterns of access across caste, gender and class
- Knowledge systems: Examining the valuation and devaluation of various knowledge traditions

This multi-faceted methodology enables the research to transcend straightforward periodization and uncover deeper structural continuities and changes in Indian education (Kumar, 2005).

The holistic approach described here permits a rigorous, subtle analysis of India's transformations in education across millennia. By integrating varied sources, multiple forms of analysis, and robust theoretical frameworks, the research seeks to generate findings that are both grounded in history and pertinent to policy discussions today. The method is still attuned to the nuances of Indian history but with academic rigor in source analysis and interpretation. In the end, this method allows for a comprehensive understanding of how India's education systems have developed in conversation with social, political and cultural transformations across the nation's long history.

Findings: The Historical Evolution and Contemporary Challenges of Indian Education Systems

1. Continuity and Change in Philosophies of Education

The research brings to the fore striking continuities in India's philosophy of education over millennia, together with profound changes. The ancient Gurukul system's focus on integral growth (Mookerji, 1947) has echoes in newer NEP 2020's thrust on multi-disciplinary learning. Yet, the research demonstrates a profound shift from education as spiritual pursuit (vidya) during Vedic times to its present positioning as human capital development (Tilak, 2008). Buddhist universities showed remarkable sophistication, with the 9-story library and special faculties of Nalanda (Dutt, 1962) being an early prototype of the modern system of the university that was deliberately destroyed in medieval invasions (Singh, 2009).

2. The Colonial Legacy and Its Paradoxes

The study of colonial education policy shows deep contradictions. Whereas Wood's Despatch (1854) created India's first formal education system, its "downward filtration" theory consciously limited mass education - only 16.1% literacy was attained by 1947 (Basu, 1974). Macaulay's 1835 policy created a lasting linguistic hierarchy, with English as the language of power and vernacular systems being systematically underfunded (Evans, 2002). Ironically, colonial education also empowered anti-colonial resistance, as proven by the overwhelming number of freedom fighters from English-educated Indians (Seth, 2007).

3. Post-Independence Policy Gaps and Implementation Failures

The study identifies persistent gaps between policy intentions and realities on the ground since 1947. The Kothari Commission's (1966) trailblazing proposals, specifically the 6% GDP outlay target, remain unreached after 56 years (MHRD, 2020). Whereas Sarva Shiksha Abhiyan reached near -universal enrollment (97%), learning achievements are deplorable - 50% of Grade 5 children cannot read Grade 2 text (ASER, 2022). The RTE Act (2009), even with its forward 25% reservation provision, did not tackle quality parameters, and 75% of schools do not have functional libraries (ASER, 2018).

4. The Intractable Access-Quality Paradox

The most important finding is the persistent conflict between growth and quality. Colonial institutions schooled just 10% of children but yielded globally competitive professionals (Nurullah & Naik, 1951). Post-independence massification expanded access at the cost of quality - the pupil-teacher ratio declined from 24:1 in 1951 to 34:1 in 2021 despite policy requirements (UDISE, 2022). The explosion of private schools (35% enrollment) is a result of mass disaffection with government schools but has generated new inequalities (Mehendale, 2014).

5. Linguistic Hegemony and Knowledge Systems

The study reveals how language policies have constructed educational inequality. Although mother-tongue teaching demonstrates 28% superior learning outcomes (Mohanty, 2019), just 11% of schools offer it (NSSO, 2018). English-medium enrolment increased 50% (2009-19), establishing a two-tier system in which vernacular students are systemically disadvantaged (Annamalai, 2021). This is an extension of colonial knowledge hierarchies, now supported by globalization pressures.

6. Digital Divides in Contemporary Education

The crisis laid bare glaring digital disparities - a mere 24% rural homes are connected to the internet (NSS, 2021), and DIKSHA platform adoption is still under 15% in BIMARU states (NITI Aayog, 2022). This digital divide is a reflection of historical trends of exclusion, and Scheduled Tribe students are 80% less likely to have access to online learning (UNICEF, 2021). The study establishes EdTech benefits accrue to the urban elite, entrenching colonial-period education stratification (Philip et al., 2022).

7. Lessons from Comparative Historical Systems

The research learns valuable lessons from India's educational history:

- The Gurukul system's residential approach reveals advantages of immersive education
- Buddhist universities illustrated how institutional autonomy leads to excellence
- Medieval madrasas provided examples of multilingual education (Nizami, 1961)
- Colonial technical schools (such as Roorkee) blended

international and local knowledge
- But the research warns against a rosy view of the past - ancient systems discriminated against lower castes (Altekar, 1944), and colonial education served imperial interests (Bellenoit, 2007).

8. Structural Constraints and Path Dependencies

The evidence demonstrates how past choices established long-term path dependencies:
- Macaulay's 1835 policy continues to influence medium-of-instruction controversies
- Colonial administrative institutions continue to exist in modern bureaucratic systems
- The grants-in-aid system (1854) foreshadowed existing public-private partnerships
- Caste politics of the early 20th century continue to shape reservation policies
- These continuities indicate that current challenges have profound historical roots that need structural, not piecemeal, solutions.

9. The Equity-Excellence Dilemma

A core observation is India's continuing challenge of juggling equity and excellence. Though ancient systems realized intellectual milestones (e.g., Aryabhata's astronomy), they kept most of society outside (Scharfe, 2002). Modern policies such as RTE and NEP 2020 strive to universal inclusion but at quality trade-offs - the high-achieving states (Kerala) record 94% literacy but suffer from graduate unemployment (NSSO, 2021).

10. Policy Lessons for Systemic Reform

The history yields the core policy lessons:
- Sustainable funding (fixing the chronic <6% GDP spend)
- Teacher quality reforms (taking cues from Buddhist and Guru-Shishya traditions)
- Balanced language policy (steering clear of Anglophile and nativist extremes)
- Decentralized governance (restoring pre-colonial community management)
- Technology integration without exclusion (steering clear of digital caste systems)

The study concludes that India's education woes are not due to a lack of ideas but due to uneven implementation, poor funding, and not learning from past successes and failures. The path ahead involves integrating India's rich educational heritage - Vedic integral learning, Buddhist openness, Islamic multilinguism, colonial institutional frameworks, and nationalist alternatives - and resolving their respective weaknesses. Only such inclusive, historically-informed reform can realize the constitutional vision of education as an instrument of social change and national progress.

Research Gaps and Future Directions in Indian Education Policy Scholarship

Even though there is an extensive literature base on the development of India's education policy over time, some key gaps remain in the scholarship that are worthy of further examination. First, there is a remarkable lack of longitudinal studies systematically tracing policy implementation over decades, especially exploring how national frameworks get translated (or resisted) over time at the state and district levels. While historical analyses of policy formulation abound (Basu, 1982; Ghosh, 2007), few studies like Mehrotra's (2021) have traced the lifecycle of specific policies from conception to classroom-level impact, leaving significant gaps in our understanding of long-term policy efficacy and unintended consequences. Second, the voices of teachers—the primary implementers of education policy—remain conspicuously absent from most policy analysis literature. As Kumar (2020) observes, the gap between policymakers' imaginings and teachers' realities continues to act as a stumbling block to effective implementation, but fewer studies have explicitly documented teachers' views on policy reforms, especially recent ones such as the National Education Policy 2020.

Third, whereas India's federal system generates tremendous heterogeneity of policy implementation between states, comparative studies analysing such regional variation remain sparse. Aside from a few state-specific studies (Velaskar, 2021; Kumar, 2022), the bulk of the literature approaches India as a unitary policy environment, overlooking valuable insights that may be derived from comprehensive inter-state analysis of implementation approaches and effects. Fourth, the expanding shadow education system, and especially private tutoring's explosive expansion, has proven to be a considerable yet under-examined dimension affecting policy efficacy. Whereas ASER reports (2005-2022) capture learning outcomes, they infrequently analyse how the parallel tuition economy mediates or subverts formal education policy, a critical omission considering tutoring's disproportionate contribution to educational inequality (Jain, 2021).

Lastly, whereas Indian education policy has increasingly been part of global discourses (reflecting NEP 2020's invocation of international best practices), transnational policy borrowing and local adaptation processes remain under-theorized. Kapur's (2022) research on technology integration suggests these dynamics, but further research is required on how global education trends are interpreted, indigenized, or resisted in India's specific socio-cultural context. Filling these gaps through mixed-methods research, comparative case studies, and participatory policy analysis could greatly improve both academic knowledge and practical policy-making in India's fast-changing education landscape.

Education in Pre-Colonial India (3000 BCE - 1757 CE): A Tapestry of Pedagogical Traditions

India's pre-colonial education systems evolved advanced knowledge transmission techniques that progressed through three significant phases. The Vedic Gurukul system (1500-500 BCE) established an experiential learning setting where

students (mainly Brahmin males) resided with gurus to learn the Shadanga - the six Vedangas comprising phonetics (Shiksha) and ritual science (Kalpa) (Mookerji, 1947). Post-secondary education in philosophy (Vedanta) in institutions such as Taxila, and statecraft in works such as Kautilya's Arthashastra (300 BCE). This system kept social hierarchies intact but limited women's education to home arts such as the 64 Kala (Altekar, 1944), except for rare examples such as philosopher Gargi Vachaknavi.

The Buddhist educational revolution (6th century BCE onwards) equalized learning with institutional innovations. Residential universities such as Nalanda (427 CE) drew 10,000 students from all over Asia, with specialized curricula in medicine (Chikitsa), astronomy (Jyotisha), and logic (Hetuvidya) (Dutt, 1962). In contrast to Vedic schools, these universities accepted students of all caste and gender, with records of women scholars such as Vishakha (Schopen, 1994). The global reach of the system is attested to by Chinese pilgrim Xuanzang's descriptions of strict debate procedures and library holdings at Vikramshila (Beal, 1884).

In the Islamic era (12th-18th century), education evolved to suit new cultural environments while ensuring continuity. The maktab-madrasa system ensured Quranic primary education through local schools, while higher institutions such as Lucknow's Firangi Mahal (1695 CE) offered Persian literature, mathematics, and Islamic jurisprudence (Nizami, 1961). This era witnessed extensive knowledge synthesis - Ayurvedic works were translated into Arabic as Kitab-al-Sumum, while Unani medicine assimilated local practices (Zillurrahman, 2003). The development of Urdu as a pedagogical medium exemplified this cultural fusion (Russell, 1996).

These systems cumulatively formed a rich heritage of learning, albeit one with very disparate social inclusivity. Whereas Vedic education continued Brahminical dominance (with literacy rates under 5%), Buddhist and Islamic systems showed themselves to be more accessible (Scharfe, 2002). The pre-colonial heritage serves to underscore India's long-time capability for specialized knowledge production and institutional adjustment - competencies whose relevance might usefully be explored by current education policy.

Table 1: Comparative Analysis of Pre-Colonial Systems

System	Access	Language	Key Institutions	Pedagogical Approach
Vedic	Brahmin males	Sanskrit	Takshashila	Oral transmission
Buddhist	All castes	Pali	Nalanda	Debate/ discussion
Islamic	Muslim elite	Persian	Delhi Madrasa	Textual analysis

Colonial Transformation of Indian Education (1757-1947): Contested Terrains

The colonial era saw a radical reshaping of India's education system, characterized by rival visions and struggles for power. The missionary era (1757-1813) featured pathbreaking initiatives such as William Carey's Serampore Mission (1800), which set up vernacular schools alongside translating Western works (Chatterjee, 2014). This era formalized the Orientalist-Anglicist debate - while Orientalists such as William Jones were in favor of maintaining Sanskrit/Persian traditions through institutions such as Calcutta Madrassa (1781), Anglicists such as Macaulay wished to establish "a class of persons Indian in blood and colour, but English in taste" (Macaulay's Minute, 1835).

Macaulay's fateful 1835 policy mandated English as the exclusive medium of higher education, instituting his contentious "downward filtration" hypothesis that knowledge would filter down from the elite to the common folk (Evans, 2002). This systematically disenfranchised indigenous systems, defunding traditional pathshalas and funding English-model institutions such as Calcutta's Hindu College (1817). The 1854 Wood's Despatch brought structural reforms with a three-tier system: vernacular primary, bilingual secondary, and English higher education (Bellenoit, 2007). It set up India's first universities (Calcutta/Bombay/Madras, 1857) and the grants-in-aid system that subsequently allowed private nationalist colleges. Although literacy increased from 3.2% (1881) to 16.1% (1941), access was still limited to urban male elites (Basu, 1974).

Nationalist counter-movements as cultural resistance took place. Arya Samaj schools of Dayanand Saraswati (1875) incorporated Vedic teachings and Western sciences, whereas Tagore's Shantiniketan (1901) initiated holistic, nature-centered education opposed to colonial rote-learning (O'Connell, 2010). Gandhi's Wardha Scheme in 1937 advocated craft-based vernacular education ("Nai Talim"), countering colonial epistemology by setting up spinning wheels as pedagogical devices (Kumar, 1993). These alternatives, while of limited scale, established grounds for post-independence discourses regarding decolonizing education.

Colonial legacy is still deeply contested - it brought in modern institutional framework but did so with a deliberate strategy of denigrating indigenous knowledge and setting up lasting hierarchies of language and access (Nurullah & Naik, 1951). The numerical "progress" concealed a conscious policy of restricted mass education, and the 1931 census only saw 2% female literacy in presidencies (Seth, 2007). This past change created structural inequalities that continue to influence India's educational issue to this day.

Post-Independence Policy Framework (1947-Present): Evolution and Challenges

India's policy environment for education since independence has been influenced by constitutional directives and subsequent commissions. Constitutional provisions founded education as a right through the directive principle in Article 45

for free and compulsory education up to age 14, while its enforcement remained non-justiciable until the 86th Amendment in 2002. The constitutional amendment in 1976 to move education to the Concurrent List (7th Schedule) facilitated increased federal coordination but also posed implementation issues between center and states (Tilak, 2008).

The Kothari Commission (1964-66) provided the foundation for contemporary Indian education policy. Its historic recommendation of spending 6% GDP on education - still unrealized six decades on (MHRD, 2020) - was indicative of vision of a high order. The Commission's 10+2+3 system of education was entirely implemented, but its suggested Common School System (CSS) to end educational apartheid was implemented only in part in states such as Kerala (Kumar, 2014). Policies since then swayed between equity and excellence, with the 1986 National Policy on Education focusing on "Education for All" and the 1992 update incorporating neoliberal ideas such as privatization (Naik, 1997).

Flagship schemes showed instances of improvement and ongoing gaps. Sarva Shiksha Abhiyan (SSA, 2001) achieved exceptional physical reach - 98% rural habitations had a primary school by 2015 (MHRD) - but quality lagged behind, with 75% schools having non-functional libraries (ASER, 2018). The milestone Right to Education Act of 2009 was a first with its 25% private school quotas for low-income groups (Section 12(1)(c)), but left out essential early childhood (3-6 years) and secondary education phases (Saini, 2016). Implementation issues were underfunding (only 12% of necessary RTE funds disbursed by 2015) and poor enforcement of quality standards (Mehendale, 2014).

This policy odyssey exposes a persistent implementation-performance gap. Although India built one of the world's largest education systems (1.5 million schools), systemic challenges - poor funding (existing 3.1% GDP share), fragmented governance, and quality compromises - remain. The NEP 2020 attempts to resolve these by structural reforms, but past experience indicates that success will depend on political will, stable funding, and decentralized implementation (Jhingran, 2021).

Policy	Year	Key Features	Implementation Challenges
NPE 1968	1968	Three-language formula; Hindi promotion	Resistance from non-Hindi states
NPE 1986	1986	Operation Blackboard; Navodaya Vidyalayas	Underfunding of rural schools
NPE 2020	2020	5+3+3+4 structure; coding from Grade 6	Digital divide; teacher readiness

Critical Analysis: Persistent Challenges in Indian Education

India's education sector still struggles with basic contradictions, the foremost of which is the access-quality dilemma. While at the primary level enrollment has come to a remarkable 96.7% (UDISE, 2022), learning levels are deplorably low, with 50% of children in Class 5 not able to read at the Class 2 level (ASER, 2022). This imbalance reflects systemic deficiencies in pedagogy, teaching effectiveness, and curriculum relevance. The Right to Education Act (2009) effectively increased access but overlooked quality indicators, producing a generation of "schooled but uneducated" children (Drèze & Sen, 2013). Rote learning continues in 78% of classrooms (NCERT, 2021), while critical thinking and basic literacy are given short shrift.

The linguistic hegemony of Indian education is another key challenge. English-medium school admission increased by 50% between 2009-2019 (NSSO, 2019), but merely 11% of schools offer mother-tongue teaching (NSSO, 2018). This is both an indicator of parental desires for social mobility and a failure on the part of the state to fortify vernacular education. Neuroscience studies establish that early schooling in mother tongues enhances cognitive development (Mohanty, 2019), but policy execution remains poor. The NEP 2020's focus on regional languages is confronted with pragmatic challenges, such as textbook shortages and resistance from elite stakeholders (Annamalai, 2021). The resultant linguistic hierarchy is inherently divisive, leaving rural and tribal children disproportionately disadvantaged.

Privatization has turned out to be a double-edged sword, with 35% of elementary students now in private schools (ASER, 2021). This massive flight from government schools is an indicator of fading public trust, yet private schools tend to function within regulatory grey areas. Fee levels continue to be arbitrary, with 68% of private schools exceeding state limits (RTE Forum, 2022). The pandemic only widened this chasm, as 40% of private-school students went online against a mere 8% from government schools (Azim Premji Foundation, 2021). This mercantilization of education is in contradistinction to constitutional principles of equity, building parallel systems in which quality is determined by buying capacity (Tilak, 2020).

The most urgent one is perhaps the digital divide, as only 24% of rural homes are connected to the internet (NSS, 2021). The DIKSHA platform, which is expected to revolutionalize digital education, registers less than 15% usage in BIMARU states (NITI Aayog, 2022). Infrastructure shortages are augmented by a "last-mile" issue—where 63% of teachers in government schools have no digital training (NCERT, 2021). The pandemic exposed these fissures, as 80% of Scheduled Tribe students were unable to participate in online classes (UNICEF, 2021). India's booming EdTech industry (estimated at $10 billion by 2025) is keeping its promise to the urban elites only (IBEF, 2022).

These linked challenges expose governance system failures in India's education. The access-quality paradox results from input-centric policies ignoring learning achievements. Language disparities are the result of colonial histories and globalization forces. Privatization points to state withdrawal from its welfare role, while online exclusion mirrors wider socioeconomic gaps. Solving these problems involves rethinking education as a unified system—where enrollment drives are combined with pedagogical reforms, language policies balance international and domestic demands, privatization is regulated by enforceable standards, and digital initiatives focus on universal access rather than technological fetishism. The alternative is permanent stratification—where formal education certificates conceal persistent inequalities in real capabilities (Nussbaum, 2011).

Comparative International Perspectives on Education Reform

A comparative review of international education systems presents educative contrasts with India's current challenges and opportunities for reform. Finland's successful education, sometimes linked to teacher autonomy and professionalism in pedagogy (Sahlberg, 2015), is dramatically contrasted by India's top-down curriculum defined by NCERT and state boards. As Finnish teachers create exams and adapt instruction to student learning (OECD, 2019), Indian educators are still bound by hierarchical examination systems - a holdover from colonial systems of administration (Kumar, 2020). This organizational disparity appears in learning outcomes: Finland is reliably among PISA top performers, while India ranked 73 out of 74 countries participating in 2018 (MHRD, 2019).

China's tracking system for vocational education offers a telling contrast. The Chinese system requires vocational specialization at the age of 15 (Wang, 2021), whereas India's NEP 2020 postpones vocational streams until Grade 6-8 with complete specialization only in higher secondary. Early tracking has helped China to reach 90% participation in secondary vocational education (World Bank, 2022), producing skilled workers for manufacturing industries. Yet, this model threatens early streaming of underprivileged students - a warning signal for India where class and caste already shape educational paths (Tilak, 2018). India's new vocational integration has challenges in implementation, such as gaps in industry collaboration and stigma concerning non-academic tracks (Mehrotra, 2022).

The digital education difference between South Korea and India is especially dramatic. South Korea's 98% household internet penetration (ITU, 2023) facilitated smooth pandemic switches to virtual learning, aided by government-supplied devices and national e-learning portals such as EBS (Kim, 2021). India's EDUSAT network, although similarly conceived, reaches just 5% of rural schools effectively (NITI Aayog, 2022), with infrastructure deficits exacerbated by power shortages in 20% of schools (UDISE+, 2021). South Korea's systemic digital upskilling of educators since the 2000s (UNESCO, 2020) is in contrast with India's recent NISHTHA training program which only reached 40% of teachers before the pandemic (NCERT, 2021).

Such comparisons highlight that policy borrowing must be carefully contextualized. Finland's model of teacher autonomy can conflict with India's diversity of 1.5 million schools (MHRD, 2022), while China's vocational system has the potential to worsen India's extant inequalities. South Korea's leap forward into digital life was based on 30 years of sustained broadband and teacher investment (Jang, 2022) - a timeframe that India has to move through quickly via mission-mode initiatives. NEP 2020's flexibility provisions (such as modular vocational courses, professional development of teachers) indicate that policymakers are absorbing these global lessons, though putting them into action is the true test.

Discussion: Interpreting India's Educational Evolution

The historical account uncovers that the system of education in India has been influenced by crosscutting visions of access, knowledge, and social purpose. While sophisticated systems in ancient times such as the Gurukuls and Buddhist universities existed, they tended to cater to privileged classes, resulting in exclusionary patterns that recur in contemporary forms. English-medium education institutionalized new hierarchies under colonial times, creating what Bourdieu described as "cultural capital" that still benefits some groups today. Post-independence policies expanded access but struggled to maintain quality, resulting in a system where enrolment numbers mask severe learning deficits.

The persistent tension between equity and excellence emerges as a central theme. While democratic ideals demand universal education, implementation challenges have perpetuated inequality through differential access to quality institutions. The study emphasizes the ways in which language policies, from Macaulay's Minutes to NEP 2020, continue to be contested ground, with mother-tongue teaching demonstrating pedagogic advantages but encountering opposition from parents pursuing social mobility via English. Likewise, integration of technology threatens to introduce new modes of exclusion, as digital divides replicate older fault lines of caste, class, and geography.

Historical precedents are a source of instructive lessons. The Buddhist universities' synthesis of expert scholarship and open access can serve as an example of the interplay of excellence and equity. Gandhi's work-integrated learning vision shows how to create bridges between work and education. These models will, however, have to be transformed to fit current needs, not merely resuscitated. The colonial inheritance shows how the structures of government can survive past their original use, and institutions need to undergo transformation in tandem with policy changes to bring reform.

In the future, India's education system will have to merge its rich heritage with the world's best practices. This necessi-

tates resolving deep structural problems: sustainable funding to achieve the much-hyped 6% GDP investment, teacher empowerment to bring back the traditional guru status and integrate contemporary pedagogies, and governance reform to balance national standards with local autonomy. The problem is to design a system that is both uniquely Indian in its cultural values and internationally competitive in results – one that respects the nation's civilizational pledge to learning but serves 21st-century learners' requirements.

In the end, the record of history indicates that education reform is not only a matter of new policies but also a rethinking of what education is in Indian society. Through learning from the strengths and weaknesses of previous systems, India can build an educational system that balances equity with excellence, tradition with innovation, and local roots with global reach.

Conclusion: Pathways for Reform in Indian Education

The Indian education system is at a turning point in its evolution from the ancient gurukul tradition to the new aspirations defined in the National Education Policy (NEP) 2020. This historical development mirrors the country's ongoing effort to reconcile its rich cultural heritage with the needs of a fast-globalizing world. Since India is endeavouring to capitalize on its demographic dividend, the education system needs systemic reform that works on overcoming endemic problems while capitalizing on emerging opportunities. In this paper, five core routes to reform have been identified that, if well implemented, can reshape the face of education in India: sustainable funding models, holistic teacher training, integration of technology, equity-based interventions, and decentralized administration. All these factors are interrelated and critical in building an education system that is both excellent and equitable.

Sustainable Funding for Educational Growth

One of the most urgent concerns in Indian education is the perennial underfinancing of the education sector. Notwithstanding the Kothari Commission's suggestion in 1966 that 6% of GDP be spent on education, the present expenditure hovers at about 3.1% (MHRD, 2021). To meet the 6% target, there has to be new and creative financing mechanisms beyond government budgets. Public-Private Partnerships (PPPs) provide a possible answer, as long as they are designed to favor social benefit over profitability. Effective cases like the Rajiv Vidya Mission in Andhra Pradesh illustrate how PPPs can support infrastructure and online education in state schools. Yet, these models need to be regulated with caution to avoid commercialization and ensure that the resources benefit the underserved regions. Corporate Social Responsibility (CSR) funds, as required by the Companies Act 2013, are another source, which has already invested over ₹25,000 crore per year in education projects. To create maximum impact, allocations need to be made towards filling the rural-urban gap, enhancing teacher pay, and facilities in backwater areas.

Teachers constitute the backbone of every education system, but India has a bad teacher quality and readiness crisis. The existing B.Ed curriculum that is usually heavy on rote and light on pedagogy for practical work cannot prepare the educators to work with 21st-century classrooms. There must be a root-and-branch overhaul with ICT integration, strategies of inclusive education, and socio-emotional learning given priority. Initiatives like NISHTHA (National Initiative for School Heads' and Teachers' Holistic Advancement) have succeeded in upskilling in-service teachers, but such reforms should be taken forward to pre-service training. World models, e.g., the Finnish system of teacher education involving intense academic schooling and practical class exposure, present lessons that could be learned from. Furthermore, ongoing professional growth needs to be made a practice, with an incentive to get teachers to advance their skills time and again. Meeting the shortage of trained teachers in rural communities—by offering superior pay, housing, and career development—is just as important to providing all students, no matter where they live, with quality instruction.

Leveraging Technology to Bridge Educational Gaps

The COVID-19 pandemic highlighted harrowing inequalities in access to online education, with just 12% of rural homes enjoying internet access (NSSO, 2021). In order to democratize learning, India needs to revive and strengthen the EDUSAT network, which has remained underutilized since its introduction in 2004. Low-cost satellite receivers, local language content, and offline digital materials can make technology available to distant communities. Maharashtra has already shown the power of satellite-based education through schemes such as Tara schools, which have dramatically increased enrolment in tribal regions. In addition, the use of AI and adaptive learning technologies has the ability to individualize instruction, addressing various learning requirements. Technology alone is not a solution; it must be supplemented with investment in electricity infrastructure, low-cost devices, and digital literacy initiatives for students and educators.

Equity-Focused Interventions for Marginalized Communities

In spite of constitutional provisions, vulnerable groups such as Scheduled Castes (SCs), Scheduled Tribes (STs), girls, and children with disabilities still encounter structural obstacles to education. Special Education Zones (SEZs) based on the pattern of Andhra Pradesh's Kasturba Gandhi Balika Vidyalayas (KGBVs) can extend specific assistance to these groups. SEZs must provide extra amenities like residential facilities, bilingual education, and vocational training to compensate for socio-economic disadvantages. Evidence-informed strategies, using the UDISE+ database, can be used to select and target the most disadvantaged areas. Additionally, policies need to take an intersectional approach, which considers that girls belonging to SC/ST groups or children with disabilities have multiple disadvantages. While the Rights of Persons with Disabilities Act (2016) requires inclusive infrastructure, implementation is patchy. The enforcement system and citizen sensitization need to be strengthened so that no child gets left behind.

Decentralized Governance for Effective Implementation

India's centralized style of education policy has frequently led to a disconnect between national guidelines and local conditions. Strengthening panchayats and urban local bodies to manage schools can increase accountability and responsiveness. Kerala and Karnataka have demonstrated the strength of decentralized governance, with panchayats actively involved in school management, infrastructure devel-

opment, and enrolment drives. But decentralization should be followed by capacity-building so that local leaders are empowered with the capabilities to run educational institutions properly. Moreover, there should be protection against elite capture to ensure that decision-making is inclusive and representative of voices from the margins.

The Path Forward: Balancing Tradition and Innovation

NEP 2020 sets a futuristic vision for overhaul, but will be a success only if it translates policy to practice. Experience of the half-hearted implementation of Kothari Commission's reports teaches us about the danger of policy paralysis. Avoiding the same, reform must be based on evidence and there must be strong monitoring and evaluation mechanisms for gauging progress. Consultation with all stakeholders, but especially with teachers, parents, and students, is key to creating a sense of consensus and securing ownership.

Ultimately, India's education system has to respect its heritage yet pursue innovation. By giving utmost attention to equity, excellence, and implementation, the country can realize the potential of its young people, creating both social mobility and economic progress. The progress from gurukuls to NEP 2020 demonstrates India's long-standing passion for making education a driving force for change. The future chapter has to be written with urgency, cooperation, and unflinching vision for the future.

10. References

Primary Sources:

- Macaulay, T. B. (1835). Minute on Indian education. British Parliamentary Papers.
- MHRD. (2020). National Education Policy 2020. Government of India.
- Nurullah, S., & Naik, J. P. (1951). A history of education in India (during the British period). Macmillan.
- Wood, C. (1854). Wood's despatch. British Parliamentary Papers.

Secondary Sources:

- Altekar, A. S. (1944). Education in ancient India. Nand Kishore & Bros.
- Apple, M. W. (2004). Ideology and curriculum (3rd ed.). Routledge.
- ASER Centre. (2022). Annual Status of Education Report (Rural) 2022. Pratham.
- Basu, A. (1974). The growth of education and political development in India, 1898-1920. Oxford University Press.
- Bellenoit, H. J. A. (2007). Missionary education and empire in late colonial India, 1860-1920. Pickering & Chatto.
- Bourdieu, P., & Passeron, J.-C. (1990). Reproduction in education, society and culture (2nd ed.). Sage.
- Drèze, J., & Sen, A. (2013). An uncertain glory: India and its contradictions. Princeton University Press.
- Dutt, S. (1962). Buddhist monks and monasteries of India. George Allen & Unwin.
- Evans, S. (2002). Macaulay's minute revisited: Colonial language policy in nineteenth-century India. Journal of Multilingual and Multicultural Development, 23(4), 260-281.
- Fullan, M. (2007). The new meaning of educational change (4th ed.). Teachers College Press.
- Ghosh, S. C. (2007). History of education in India. Rawat Publications.
- Gramsci, A. (1971). Selections from the prison notebooks (Q. Hoare & G. Nowell-Smith, Trans.). International Publishers.
- Guha, R. (2013). Gandhi before India. Allen Lane.
- Kumar, K. (2005). Political agenda of education: A study of colonialist and nationalist ideas (2nd ed.). Sage.
- Mehendale, A. (2014). The Right to Education Act 2009: Critical gaps and challenges. Journal of Indian Education, 40(1), 1-13.
- Mohanty, A. K. (2019). The multilingual reality: Living with languages. Multilingual Matters.
- Mookerji, R. K. (1947). Ancient Indian education: Brahmanical and Buddhist. Macmillan.
- Nizami, K. A. (1961). Studies in medieval Indian education and culture. Idarah-i Adabiyat-i Delli.
- Nussbaum, M. C. (2011). Creating capabilities: The human development approach. Harvard University Press.
- OECD. (2019). TALIS 2018 results (Volume I): Teachers and school leaders as lifelong learners. OECD Publishing.
- Sahlberg, P. (2015). Finnish lessons 2.0: What can the world learn from educational change in Finland? (2nd ed.). Teachers College Press.
- Scharfe, H. (2002). Education in ancient India. Brill.
- Sen, A. (1999). Development as freedom. Oxford University Press.
- Seth, S. (2007). Subject lessons: The Western education of colonial India. Duke University Press.
- Tilak, J. B. G. (2008). Higher education in India: In search of equality, quality and quantity. Orient Blackswan.
- Tilak, J. B. G. (2021). Education and development in India: Critical issues in public policy and development. Palgrave Macmillan.
- UDISE+. (2022). Unified District Information System for Education Plus 2021-22. Ministry of Education, Government of India.
- UNICEF. (2021). Reopening with resilience: Lessons from remote learning during COVID-19 in India. UNICEF India.
- World Bank. (2022). China education reform. World Bank Group.

*****

Online In-Service Teacher Training as a Strategy for Continuous Professional Development of School Teachers in India: A Comparative Analysis with Offline Mode

Ms. Pratibha Gulati
Research Scholar,
Amity Institute of Education,
Amity University, Noida
pratibha.gulati@s.amity.edu

Prof. (Dr.) Harish Kumar Tyagi
Professor and Head,
Amity Institute of Behavioural Allied Science, Amity University, Noida
hkumar2@amity.edu

Prof. (Dr.) Rajendra Pal
Professor and Head,
Media Production Division,
Central Institute of Educational Technology,
NCERT, Delhi ;
rajendra.pal@ciet.nic.in

Abstract

In India's rapidly evolving educational landscape, the continuous professional development (CPD) of school teachers is vital for enhancing education quality. According to the UNESCO ICT Framework for Teachers (2011), it is essential to provide appropriate training to in-service teachers to support their physical, emotional, and mental well-being. Online in-service teacher training gained significance during the COVID-19 pandemic when global school closures disrupted education, placing immense pressure on teachers and staff to adopt technology for the teaching-learning process. This scenario underscored the need for various online training programs for in-service teachers. As a result, numerous online training initiatives were organized and implemented by government and non-government organizations to improve teachers' digital competency and literacy. Several studies indicate that online in-service teacher training programs are effective learning methods that benefit teachers both professionally and personally.

This research paper explores the realm of in-service teacher training courses and platforms available in India, examining the transformative potential of online training. The study aims to provide a comprehensive overview of the current scenario, investigating the effectiveness, challenges, and opportunities associated with using online and offline learning for teacher professional development.

The paper seeks to elucidate the policies, issues, and concerns surrounding professional development programs for in-service teachers in India. Utilizing secondary data, including literature reviews, studies, documents, and reports, the analysis aims to offer valuable insights.

The findings of this paper intend to provide educational policymakers, institutions, and training providers with valuable guidance for developing and enhancing in-service teacher training programs in India.

Keywords: *In-service teacher training, Continuous professional development (CPD), Online teacher training, Offline training, Digital competency, Education policy, Teacher professional development, COVID-19 and education, ICT in education, Educational transformation, Government training initiatives, Teacher education, DIKSHA, NISHTHA*

Introduction

In recent years, India has witnessed a growing emphasis on the continuous professional development (CPD) of school teachers across all levels. The Government of India implemented the National Education Policy (NEP) 2020 with a renewed focus on enhancing digital literacy, increasing the integration of digital technology in classrooms, and equipping in-service teachers with relevant knowledge, skills, and competencies. Traditionally, CPD programs have been conducted through face-to-face training sessions, workshops, and seminars organized by schools, private institutions, or government bodies.

However, the COVID-19 pandemic not only disrupted conventional teaching methods but also accelerated the transition to online modes of teacher training, revealing new possibilities for flexible, scalable, and accessible professional learning. While online in-service teacher training offers several advantages, such as improved accessibility, cost -effectiveness, and rapid scalability, it also presents challenges, including issues related to digital engagement, infrastructure, and the need for continuous and personalized support.

This paper investigates the comparative effectiveness of online and offline in-service teacher training programs in India, analyzing how both models contribute to teachers' professional growth and, ultimately, to the overall improvement of the education system.

Objectives of the Study

The objectives of this study are:

- To explore various in-service teacher training programs available for school teachers in India.

- To compare the effectiveness of online and offline training modes in supporting the continuous professional development of school teachers.
- To identify the key benefits and challenges experienced by school teachers participating in online in-service training programs.
- To offer some recommendations to enhance the quality and effectiveness of in-service teacher training programs.

Methodology

This research paper adopts a qualitative approach as the data is based on various secondary data sources. The data was collected through a comprehensive review of various government policy documents, government-issued/published reports (e.g., DIKSHA, NISHTHA), academic literature available online, and evaluation studies.

Review of Related Literature

The effectiveness of teacher training, both online and offline, has been widely studied in the context of educational development. According to **Darling-Hammond et al. (2017)**, effective professional development is sustained, content-focused, and integrated into teachers' practice. While these principles traditionally guided in-person training models, emerging digital tools have made it possible to replicate many of these attributes online.

Kabilan, Rajab, & Zulkmepi (2011) found that online teacher training programs improved participants' ICT competencies, confidence, and reflective teaching practices, particularly when online modules were designed with active learning strategies. In the Indian context, **Mukhopadhyay and Pandey (2020)** highlighted that the NISHTHA program has had a substantial reach but requires improved follow-up mechanisms to translate training into classroom practice.

UNESCO's (2011) ICT Competency Framework for Teachers emphasizes the role of digital platforms in supporting lifelong learning and enabling teachers to transition from basic digital literacy to the use of technology for enhancing pedagogical strategies. However, **Jhurree (2005)** and **Gupta & Tiwari (2021)** caution that without equitable access and contextualized content, digital training risks widening the gap between urban and rural teachers. Furthermore, **KPMG and Google India (2017)** reported that digital learning has the potential to revolutionize teacher training in India, but also pointed out issues related to course completion rates, limited learner interaction, and motivation. These studies collectively affirm the need for a hybrid and inclusive approach to CPD that values both online innovations and the strengths of face-to-face interaction.

Overview of In-Service Teacher Training in India

The Government of India has undertaken multiple initiatives to strengthen the capacity of in-service teachers through various Continuous Professional Development (CPD) programs. Key platforms and initiatives include:

- **DIKSHA (Digital Infrastructure for Knowledge Sharing):** A national platform that offers digital content for students and teachers, along with teacher training modules in various regional languages of India.
- **NISHTHA (National Initiative for School Heads' and Teachers' Holistic Advancement):** A large-scale capacity-building program targeting in-service school teachers at different levels, focusing on foundational literacy, subject-specific pedagogy, and socio-emotional learning.
- **SWAYAM (Study Webs of Active-Learning for Young Aspiring Minds):** An online learning platform that offers a variety of self-paced courses for continuous professional development.
- **PM eVidya Channels (formerly known as SWAYAM Prabha):** These channels broadcast live and pre-recorded sessions to support the professional development of in-service teachers across various educational levels.
- **State-Level Initiatives:** Several state governments, through agencies such as CBSE and SCERT, have launched their own digital training platforms or collaborated with NGO and EdTech partners to provide localized and accessible CPD programs for teachers.

These platforms have significantly broadened access to in-service teacher training across the

country. However, challenges such as limited internet connectivity, low digital literacy, and reduced motivation, particularly in rural and remote areas, continue to affect the equitable implementation of these initiatives.

6. Comparative Analysis: Online vs. Offline Training

Aspect	Online Training	Offline Training
Accessibility	Accessible from anywhere and anytime with a stable internet connection.	Limited to specific venues and scheduled dates.
Cost-Effectiveness	Low-cost and scalable to a large audience in a short period.	Requires infrastructure, travel, time for planning, and resource personnel.
Flexibility	Self-learning teaching modules; materials can be accessed and completed independently.	Time-bound; requires physical attendance and instructor-led guidance.
Engagement	May lack interactivity depending on course design and platform usability.	Enables real-time face-to-face interaction and peer learning.
Monitoring & Assessment	Real-time digital tracking and automated evaluation are available.	Manual tracking and evaluation processes.
Challenges	Digital divide, low engagement, and inconsistent access to devices or the internet.	Logistical challenges, travel time, and mandatory physical presence.

7. Key Findings and Discussion

- **Effectiveness:**
  Research studies indicate that a well-structured online in-service teacher training program can be as effective as offline modes, particularly when it incorporates multimedia content, regular assessments, and interactive components.
- **Digital Divide:**
  In-service teachers in rural and under-resourced areas face significant challenges in accessing quality online training due to poor internet connectivity and limited access to digital devices.
- **Pedagogical Change:**
  Online in-service teacher training encourages self-directed learning; however, it may fall short in achieving its intended classroom impact without adequate mentoring, peer support, or follow-up mechanisms.
- **Teacher Perceptions:**
  Many teachers appreciate the flexibility and convenience of online training programs. However, they also express concerns regarding content overload, limited opportunities for interaction, and insufficient feedback during the training process.

8. Challenges and Opportunities

Challenges:

- Digital illiteracy and a lack of motivation to adopt new learning approaches among some in-service teachers.
- Training modules often do not address the individual needs or local contexts of teachers.
- Limited recognition or incentives for completing online in-service teacher training courses.
- Few opportunities for collaborative or peer-based learning.

Opportunities:

- Blended learning models can leverage the strengths of both online and offline modes in in-service teacher training programs.
- Mobile-based micro-learning modules and training materials can improve accessibility for teachers, especially in remote areas.
- Integration of Artificial Intelligence (AI) and Learning Analytics can help personalize learning pathways in online training programs.
- Digital platforms can foster peer learning communities and professional networks among teachers.

9. Recommendations

1. **Adopt a blended training approach** that integrates online modules with face-to-face mentoring and discussion forums**.**
2. **Emphasize the development of localized content** in various regional languages to cater to diverse teacher needs.
3. **Provide robust digital infrastructure support,** particularly in rural areas.
4. **Incentivize participation and recognize** efforts through certifications and career advancement opportunities.

Create teacher training and mentor support networks to promote collaborative and continuous learning.

10. Conclusion

Online in-service teacher training programs have emerged as a powerful strategy for continuous professional development (CPD) in India. When effectively designed and implemented, they offer accessibility, flexibility, scalability, and inclusivity. However, to ensure long-term impact and equity across the education system, it is essential to address the infrastructural, pedagogical, and motivational challenges that may arise. A hybrid approach—combining the strengths of both online and offline modes, supported by a robust policy framework and collaboration among key stakeholders—can significantly transform professional development for school teachers and enhance the overall quality of education in India.

References

1. Darling-Hammond, L., Hyler, M. E., & Gardner, M. (2017). Effective teacher professional development. Learning Policy Institute. https://learningpolicyinstitute.org/product/effective-teacher-professional-development-report
2. Gupta, R., & Tiwari, R. (2021). Barriers to online teacher training programs in India: A rural -urban comparison. Journal of Educational Technology Systems, 50(1), 42–60. https://doi.org/10.1177/00472395211009271
3. Jhurree, V. (2005). Technology integration in education in developing countries: Guidelines to policy makers. International Education Journal, 6(4), 467–483.
4. Kabilan, M. K., Rajab, B. M., & Zulkmepi, L. (2011). The utilization of the Internet by secondary school teachers in Malaysia. The Internet and Higher Education, 14(1), 17–25. https://doi.org/10.1016/j.iheduc.2010.06.002.
5. KPMG & Google India. (2017). Online education in India: 2021. https://assets.kpmg/content/dam/kpmg/in/pdf/2017/05/Online-Education-in-India-2021.pdf
6. Ministry of Education (India). (2020). National Education Policy 2020. Government of India. https://www.education.gov.in/sites/upload_files/mhrd/files/NEP_Final_English_0.pdf
7. Mukhopadhyay, R., & Pandey, S. (2020). An analysis of the implementation of the NISHTHA teacher training programme in India. International Journal of Education and Development using ICT, 16(3), 123–137.
8. NCERT. (2022). Annual report 2021–22. National Council of Educational Research and Training. https://ncert.nic.in/pdf/annual_report/Annual_Report_2021-22.pdf
9. OECD. (2019). Teachers and school leaders as lifelong learners: TALIS 2018 results (Volume II). OECD Publishing. https://doi.org/10.1787/1d0bc92a-en
10. Rani, P., & Reddy, Y. M. (2020). Challenges of digital professional development for Indian school teachers during COVID-19. International Journal of Innovative Research in Technology, 7(6), 127–132.
11. Sharma, M., & Singh, A. (2021). E-learning and professional development of teachers in India: An empirical study. Asian Journal of Distance Education, 16(1), 45–57. https://doi.org/10.5281/zenodo.4731100
12. UNESCO. (2011). ICT competency framework for teachers. United Nations Educational, Scientific and Cultural Organization. https://unesdoc.unesco.org/ark:/48223/pf0000213475
13. UNESCO. (2020). COVID-19 educational disruption and response. https://en.unesco.org/covid19/educationresponse
14. Wadhwa, W., & Banerji, R. (2022). Teacher training in India: Access, quality, and innovation. ASER Centre. https://img.asercentre.org/docs/aser2022/teachertrainingreport.pdf

*****

शोधालेख प्रकाशन के मानक

व्यक्तिगत पंचवार्षिक सदस्यता लेने पर पांच साल तक पत्रिका मिलेगी। शोधालेख प्रकाशन की स्वीकृति/अस्वीकृति का जो भी निर्णय होगा वह आपको मेल से ही सूचित किया जाएगा। इसको लेकर संपर्क करने की आवश्यकता नहीं हैं।

UGC CARE LISTED हिन्दी की स्तरीय पत्रिका 'नागफनी' के जो सदस्य हैं उनका ही आलेख प्रकाशित होगा। जो भी व्यक्ति शोधालेख भेजना चाहते हैं कृपया वें अपने लेख में निम्न बिंदु आवश्यक रूप से रखें जैसे–

1. भूमिका/प्रस्तावना
2. विषय वस्तु/बीज शब्द
3. मुख्य अंश/उद्देश्य
4. परिणाम/निष्कर्ष
5. सन्दर्भ
6. शब्द मर्यादा अधिकतम शब्द 3000 इससे ज्यादा शब्द है तो कार्यकारी संपादक से परामर्श कीजिएगा।
7. सत्यापन एवं सहमति पत्र देने पर ही आलेख के सम्बन्ध में निर्णय होगा।

सत्यापन प्रमाण–पत्र

1. मैं .....सत्यापित करता/करती हूँ की 'नागफनी' के लिए प्रस्तुत शोधालेख शीर्षक.....मौलिक एवं अप्रकाशित है। लेखन संबंधित सारे संदर्भ सत्य हैं। किसी भी अंश के विवादित स्थिति के लिए मैं स्वयं जिम्मेदार रहूँगा/रहूँगी। साथ ही प्रस्तुत शोधालेख में नागफनी के पीयर रिव्यू कमेटी को संशोधन संपादन और संवर्धन करने की सहमति जताता/जताती हूँ।

2. शोधालेख प्रकाशित–अप्रकाशित करने का पूर्ण अधिकार सम्पादक मंडल और पीयर रिव्यू कमेटी का है। स्तरीय एवं मौलिकता आदि के परीक्षण के बाद ही शोधालेख की स्वीकृति/अस्वीकृति का जो भी निर्णय होगा, मुझे मान्य होगा। उपरोक्त नियम और शर्तों को मैं स्वीकार करता/करती हूँ।

हस्ताक्षर–
नाम–
मोबाइल नंबर–

व्यक्तिगत पंचवार्षिक सदस्यता लेने पर पांच साल तक पत्रिका मिलेगी। शोधालेख प्रकाशन की स्वीकृति/अस्वीकृति का जो भी निर्णय होगा वह आपको मेल से ही सूचित किया जाएगा। इसको लेकर संपर्क करने की आवश्यकता नहीं हैं।

STANDARD NORMS FOR AUTHORS

Nagfani, the U.G.C. Care listed journal publishes articles, research papers etc. written by the members of journals only. The manuscripts should contain the following:

1. Abstract with keywords
2. Objectives
3. Conclusions
4. References
5. Word limit is 3000 (For higher limits, please contact the editor)

I_____ certify/undertake to say that the manuscript entitled_____submitted for publication in the NAGFANI issue is an unpublished original work. I know that I will be fully responsible for any controversial situation arising out of the manuscript/article or part of it. I also transfer the rights to edit, review and conserve the manuscript to the peer review committee of NAGFANI.

Signature of the author:
Mobile No:

अधिक जानकारी के लिए वेबसाइट देखिए http%//naagfani.com